हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास

[समस्त हिन्दी कहानी साहित्य की प्रवृत्तियों एवं
कृतियो का प्रथम मौलिक एवं शोधपूर्ण विवेचन]

लेखक
डॉ० सुरेश सिनहा
एम्० ए०, डी० फिल्०

प्रकाशक

मूल्य	२० रुपये
©	सुरेश सिनहा, इलाहाबाद, १९६५
संस्करण	प्रथम, १९६७
प्रकाशक	अशोक प्रकाशन, नई सडक, दिल्ली ।
मुद्रक	अशोक प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली ।
कला पक्ष	गुलशन जौहर

HINDI KAHANI : UDBHAVA AUR VIKAS Dr SURESH SINHA . A BOOK ON LITRARY CRITICISM : 1967

श्री और श्रीमती आर० एल० अरोडा को,
उनके अमित स्नेह एव,
विराटता के बोध के लिए,
तथा कलकत्ते मे साथ व्यतीत,
एक अविस्मरणीय शाम के नाम ।

विज्ञप्ति

'सुविज्ञो' का कहना है, हिन्दी कहानी अभी प्रेमचन्द और जैनेन्द्र से आगे नही बढ़ी है। एक 'प्रबुद्ध जानकार' का तो नई कहानी की मीमाँसा करते समय यहाँ तक कहना है कि हिन्दी कहानी जैनेन्द्र और अज्ञेय से पीछे गई है—इससे वे इतने दुखी है कि १९४७ के पश्चात् स्वातत्र्योत्तर काल मे लिखी गई कहानियों को पढने की भी आवश्यकता नही समझते ! आज के युग मे अर्थात् प्रजातन्त्र के युग मे जब राजनीतिक नेताओ को सकटकाल मे भी भाषण देने और 'जनता' को सुबह-शाम दो नारे देने की स्वतन्त्रता है, तो सामयिक भाव-बोध एव युग-बोध को समझ पाने का दावा करने वाले 'प्रबुद्ध जानकार' को फतवे देने की स्वतन्त्रता क्यो न हो। अस्तु !

कहानी का वास्तविक सम्बन्ध युगीन जीवन से होता है। कहानी मानवीय सवेदना की हार्दिक अभिव्यक्ति है। कहानी जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है। कहानी मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश मे देखने और तदनुसार चित्रित करने की सशक्त माध्यम है। कहानी जीवन, समाज, युग-बोध और भाव-बोध के परस्पर सम्बन्धो एव फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया चित्रण है। पूर्ण कल्पना मे कहानी की मृत्यु है और कटु यथार्थ मे उसकी जिन्दगी। मूल्यो की स्थापना अथवा मानव सम्बन्धो का उद्घाटन की कलात्मक अभिव्यक्ति ही कहानी की प्राण चेतना है। कहानी मनुष्य के मात्र अस्वस्थ पक्षों को ही पहचानने का लक्ष्य नही बनाती, उसके स्वस्थ पक्षो को उजागर कर जिजीविषा, आस्था एव सकल्प को सशक्त अभिव्यक्ति भी देती है।

प्रस्तुत दृष्टिकोण के आधार पर ही पूरी हिन्दी कहानियो के विवेचन करने का प्रयास किया गया है, पर प्रत्येक शास्त्रीय मान्यताओ की परीक्षा भी स्वातत्र्योत्तर काल की कहानियो पर ही करने का प्रयत्न हुआ है। एक 'ज्ञानीजन' देखकर बोले, क्या प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय को छोडकर अब धर्मवीर भारती, मोहन राकेश

कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव तया निर्मल वर्मा आदि की कहानियाँ मूल्यांकित की जाएगी—उन पर तरस खाने के सिवाय किया ही क्या जा सकता है, फिर भी उनकी 'साहित्यिक मान्यताओ' के प्रति अटूट आत्म विश्वास देखकर ईर्ष्या होती है। अस्तु !

इस बार नवीनतम प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे एक लम्बी भूमिका देने का विचार था, पर स्नीनो की अस्वस्थता के कारण ऐसा सम्भव न हो सका। यह भूमिका भी आज बडी कठिनाई से लिखी जा पा रही है। पुस्तक का अधिकाश भाग दिल्ली प्रवास के दिनो मे भाईश्री डॉ० सत्यपाल चुघ के निवास स्थान पर लिखा गया। वहाँ उन्होने तथा सुभाषिनी भाभी ने जिस प्रकार सारी सुविधाएँ दी—उसका आभार नही स्वीकारा जा सकता। वे दोनो जानते है, साक्षी है कि मन को शब्दो मे अभिव्यक्त कर पाना कितना कठिन है मेरे लिए। अस्तु !

सर्वश्री विष्णु प्रभाकर, भैरवप्रसाद गुप्त, अमरकात, शैलेश मटियानी, दूधनाथ सिह, ज्ञानरजन, डॉ० गगाप्रसाद विमल, सुधा अरोडा, अवधनारायण सिह, तथा [illegible] रा यात्री के सहयोग के लिए हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना अनिवार्य है। प्रेस कॉपी तैयार करने का कार्य आनन्द पटवर्द्धन ने किया है। वह मेरे आशीर्वाद का पात्र है। उसके श्रम का आभारी हू।

उन सबका आभारी हू, जिन्होने सुझाव देकर पुस्तक को उपयोगी बनाने मे सहायता दी है।

४ अक्टूबर १९६६ —सुरेश सिनहा

कल्पना,
१६ पुरुषोत्तमनगर, हिम्मतगज,
इलाहबाद

अनुक्रम

१
पूर्व-पीठिका

कहानी परिभाषा एव सूत्र

कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है वह मानव जीवन के सघर्ष के किसी सवेदनाजन्य पक्ष को प्रकट करती है और जीवन के प्रगतिशील तत्त्वो को समाहित करते हुए नवीन मानव मूल्यो की ही स्थापना अथवा अन्वेषण नही करती, वरन् वह उन पुराने मूल्यो की खोज भी करती है, जो आज किन्ही कारणो से विघटित हो चुके है, पर जो परिवर्तनशील परिस्थितियो मे भी मानवीय भावधारा के उत्थान के लिए आवश्यक प्रतीत होते है। प्रत्येक युग सक्रान्ति का होता है, जिसे हम क्राइसिस कह सकते हैं। इस क्राइसिस मे पुराने प्रतिमान टूटते है, नवीन निर्मित होते है। प्राचीन मे सबका सब अव्यावहारिक नही होता और नवीन मे सभी कुछ व्यावहारिक नही होता। इसका उपयोगी एव सतुलित स्तर ही प्रगतिशीलता है। कहानी इसी प्रगति शीलता को उपस्थित करती है। इसी प्रकार कहानी का एक मानवतावादी दृष्टिकोण होता है। यह साहित्य की अन्य विधाओ मे भी हो सकता है, पर कहानी आज के व्याप्त जीवन मे इस दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने के लिए सर्वाधिक सशक्त, माध्यम है। आज कहानियो की अन्य साहित्यिक विधाओ की तुलना मे अतिशय लोकप्रियता इसका प्रमाण है। कहानियो के इस मानवतावादी दृष्टिकोण का सम्बन्ध उस आदर्श-वाद से नितान्त रूप से भी नही है, जिससे आज के साहित्य मे हम परिचित है। कहानी का काम किसी युटोपिया का निर्माण करना नही है। यात्रिक परिवेश मे यत्र परि-चालित कठपुतली जैसे पात्र प्रस्तुत करना भी कहानी का उद्देश्य नही है। किसी याँत्रिक समाधान मे चीजो को फिट भर कर देने की प्रवृत्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत कर देना भी कहानी का लक्ष्य नही होता। कहानी का सम्बन्ध जीवन के यथार्थ से होता है। उसी की सत्य अनुभूति का वह सहज प्रस्तुतीकरण मात्र होती है।

प्रश्न उठता है, कहानी क्या है! विभिन्न विद्वानो ने भिन्न-भिन्न ढंग से इसकी परिभाषाएँ दी है। एक विद्वान् ने उसकी अवधि नियत्रित करने का प्रयत्न किया है और आध घटे से लेकर घटे दो घटे तक मे समाप्त हो जाने वाली गद्य विधा

कहा है ।[१] एक दूसरे सुविज्ञ ने उसे बीस मिनट मे ही समाप्त हो जाने वाली बताया है ।[२] एक अन्य विद्वान् ने लिखा है कि कहानी का सम्बन्ध एक पात्र, अनेक भावनाओ या एक स्थिति से होता है ।[३] एक दूसरे सुविज्ञ ने कहानी मे चरमोत्कर्ष को ही महत्व दिया है ।[४] कहानी का विषय कुछ भी हो सकता है । उसका विस्तार गद्य और कविता से लेकर व्यापक होता है ।[५] वस्तुत कहानी गद्य साहित्य का अन्यतम रूप है । आधुनिक साहित्य मे इसका एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया है । इसकी अत्यधिक बढती हुई लोकप्रियता का सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज का मानव जीवन अत्यधिक व्यस्त है । लोग अवकाश खोजते हैं, पर वह उन्हे अत्पाँश मे ही प्राप्त हो पाता है और इस क्षणिक अवकाश मे जब वे कुछ मनोरंजन के लिये पढना चाहते है, तो उपन्यास की ओर चाहते हुये भी हाथ इसलिये नही बढा पाते, क्योकि वे जानते है कि इस क्षणिक अवकाश मे उपन्यास को समाप्त करना दुर्लभ है । इसीलिए कहानियाँ पढना वे अधिक रुचिकर समझते हैं, क्योकि उसका आकार लघु होता है और वे कम-से-कम समय मे पढी जा सकती है । प्राय यह कहा जाता है कि कहानिया उपन्यास का नवीन

१. "A shorty story is a prose narrative requiring from half an hour to one or two hours in its perusal"

—नैथेनल हौदॉर्न · द् वर्क्स एडगर एलन पो (चौथा भाग)

२. "H. G Wells has suggested that a story should be of no greater length than enables it to be read in some twenty minutes"

—ए० सी० वार्ड : फॉउन्डेशन्स ऑव इग्लिश प्रोज, पृष्ठ १२२

३ "A short story deals with a single character or a series of emotions called forth by a single situation The short story must be an organic whole" —ब्रेण्ड रमैथ्यू

४ "It is a series of crisis, relative to other and bringing about a climax" —जॉन फॉस्टर

५. "The short story can be any thing from the prose-poem painted rather than written to the piece of straight report as in which style, colour and elaboration have no place , from the piece, which catches like a cab-wel the light subtle isidescence of emotions that can never be really captured or measured to the solid tale in which all emotions all action, all reaction is measured, fixed, glazed and finished like a well build have with tree coats of shinning and indusing pain."

—एच० ई० बेट्स , द मॉडर्न शॉर्ट स्टोरीज, पृष्ठ १६

रूप हैं और वे शीघ्र ही उपन्यास का स्थान ले लेगी। यह भी कहा गया है कि उपन्याम और छोटी कहानी मे आकार के अन्तर के अतिरिक्त कोई और अन्तर नही है। इस सम्बन्ध मे कहानी के प्रारम्भ और अन्त के सम्बन्ध मे भी व्याख्या की गई है।[१] इसके साथ ही कहानी का लोगो एव परिस्थितियो के सन्दर्भ मे भी विश्लेषण किया गया है। लेकिन जो लोग कहानी और उपन्यास के अन्तर को मिटा देना चाहते है, उनके तर्को को वैसे ही नही स्वीकारा जा सकता। यह करना उतना ही हास्यास्पद है, जितना कि तर्कहीन है। उपन्यासो मे मानव जीवन के बहुविधिय पक्षो का एक व्यापक परिवेश मे चित्रण होता है। वहाँ आकार की कोई सीमा नही होती, पर कहानियो मे ऐसी सीमा का निर्धारण रहता है। कहानी अधिक से अधिक पन्द्रह-बीस पृष्ठो की ही होती है या हो सकती है। जिसे पन्द्रह-बीस मिनट मे पढा जा सके। कहानी मे मानव जीवन के किसी एक ही पक्ष या घटना का अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया जाता है। कहानी इस प्रकार कभी भी उपन्यासो का स्थानापन्ना नही बन सकती, जैसाकि दावा किया जाता है क्योकि उपन्यासो मे मानव जीवन की जिस सम्पूर्णता का चित्रण होता है, कहानियो मे आकार-सीमा के कारण उसकी कोई सम्भावना नही रह जाती। यद्यपि कहानी और उपन्यास के मूल तत्वो मे रूपगत समानता है और उनमे परस्पर-सामंजस्य भी है, किन्तु जहाँ तक दोनो साहित्य रूपो के शिल्प विधान का प्रश्न है, दोनो मे यथेष्ट अन्तर है। उपन्यास मे एकाधिक सवेदनाओ का विकास होता है, आधिकारिक कथा के साथ अनेक अवांतर कथाए चलती है, जिससे सम्पूर्ण मानवीय जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित हो सके। पात्रो का जमघट सा लगा रहता हैं और उनके चरित्र चित्रण के लिये उपन्यासकार को यथेष्ट अवसर एव अवकाश रहता है। इसके विपरीत कहानी मे एक ही मानवीय सवेदना को अत्यन्त तीव्रतर रूप मे उपस्थित किया जाता

१ Tchechov held that a story should have neither beginning nor end but reminded authors that if they described a gun hanging at the wall on page one, sooner or later than gun must go off"
—एच० ई० बेट्स द मॉडर्न शॉर्ट स्टोरीज, पृष्ठ १५-१६

२ "But in the short story we meet people for a few minutes and see them in a few relationships and circumstances only, and while it is indeed true that concentration of attention upon a particular aspect of character may result in a very powerful impression, still, as a rule, such impression is not exactly comparable with that left by an ampler, more detailed, and more varied representation"

—विलियम हेनरी हुडसन : इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर (मार्च १९६०), लन्दन, पृष्ठ ३३६-३३७

है। पात्रो की सख्या भी एक दो से अधिक नही रहती, उनका चरित्र चित्रण भी थोडे मे ही करना पडता है, इसीलिए कहानी का एक-एक शब्द सार्थक, समर्थ एव प्राणवान् होता है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कह सकते है कि कहानी का सम्बन्ध युगीन जीवन से होता है। कहानी मानवीय सवेदना की हार्दिक अभिव्यक्ति होती है। कहानी जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है। कहानी जीवन, समाज, युग-बोध और भाव-बोध के परस्पर सम्बन्धो एव फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया चित्रण है। पूर्ण कल्पना मे कहानी की मृत्यु है और कटु यथार्थ मे उसकी जिन्दगी। मूल्यो की स्थापना अथवा अन्वेषण और कलात्मक अभिव्यक्ति आपस मे सम्बन्धित होते हुये भी दो बिल्कुल अलग-अलग चीजे है। जिन्हे कथाकार को बडे सन्तुलित रूप मे निकट लाना पडता है। इसके असन्तुलन मे कई प्रश्न उठ खडे होते है, जिनके उत्तर के लिए या तो दुराग्रहो का आश्रय लेना पडता है या फिर झट कोई नया आन्दोलन प्रारम्भ करने की आवश्यकता पड जाती है, क्योकि जो चुपचाप अपनी सृजन-प्रक्रिया को ईमानदारी से संवारता रहे, वह भी भला कोई लेखक ठहरा।

जब भी युग करवट लेता है, तो परिवर्तनशीलता के लक्षण कई आयामो मे परिलक्षित किए जा सकते हैं। इस परिवर्तनबोध का प्रभाव उस युग की नई पीढी पर गहन् रूप से पडता है और सर्जनात्मकता को जीवन का लक्ष्य मानकर कुछ प्रबुद्ध एव बौद्धिक लोगो की नई पीढी ही तैयार हो जाती है, जो परम्परा से अलग हटकर नए मूल्यो को आक्रोश, असन्तोष एव घृणा की मोटी सतहो के नीचे से अपनी अणुवीक्षक दृष्टि से पहचानकर और पूरी क्षमता से उभारने का प्रयत्न करती है। इस प्रक्रिया मे स्पष्ट है, पुराने अव्यावहारिक मूल्यो से उसका सघर्ष होता है, जिसे नकारने की कोशिश करते हुए विशृंखलित एव सडी-गली परम्पराओ की लाश को बडे गर्व एवं सन्तोष से होने वाले तथाकथित 'उदारमना एव मौलिक' लोग हेय दृष्टि से देखते हैं और नई पीढ़ी पर बचकाने ढग से साहित्य मे गतिरोध उत्पन्न करने का लाँछन लगाकर दायित्व से मुक्ति पा जाते हैं। ऐसी स्थिति मे तनाव का जो वातावरण निर्मित हो जाता है, उसमे कोई तत्व न होने के बावजूद उसे बराबर बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है। परिणामस्वरूप एक आन्दोलन का जन्म होता है, जिसमे कुछ 'डफर्स' और अवसरवादी लोग बहती गंगा मे हाथ धोने के लिहाज से साथ आ मिलते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि उस आन्दोलन मे एक काफी बडी भीड नजर आने लगती है और कुछ 'अध्यवसायी', 'मौलिक' और 'समझदार' लोगो को इस बात का सन्देह होने लगता है कि कही यह आन्दोलन 'मिडियॉकरो' का तो नही है और उन्हे भय लगने लगता है कि कहीं यह आन्दोलन जोर न पकड़ ले, क्योकि इससे

उन्हे अपनी सत्ता छिन जाने की आशका होने लगती है। उनके इस विश्वास का कारण यह होता है कि 'मिडियॉकर' लोग लिखते तो कूडा हैं, अर्थात् दूसरे और तीसरे दर्जे का, पर हीनता की ग्रन्थि से जबर्दस्त ग्रसित होने के कारण वे आन्दोलन बडे उत्साह एव चातुर्य से चलाते हैं, ताकि क्षणिक ही सही, उन्हे 'आइडेण्टिटी' तो मिल जाए। यह विचार मैं जानता हू, बेबुनियाद है और कोई विशेष अर्थ नही रखता, पर मुझे जाने क्यो इस पर हसी नही आती। शायद इसका कारण यह हो कि पिछले दो-दो कहानी आन्दोलनो का मैं द्रष्टा रहा हू और दोनो के साथ इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप मैने देखे और सुने है।

बहुत मोटे तौर पर ही सही, एक बात की ओर मैं अवश्य ही सकेत करना चाहूगा कि आन्दोलनो की आवश्यकता 'आइडेण्टिटी' के लिए नही होती। जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे मूर्खता के स्वर्ग मे ही विश्वास रखते हैं। होता दरअसल यह है कि प्रत्येक युग मे पुरानी आस्थाएँ टूटती हैं और नई जन्मती हैं। हर युग विशेष की नई पीढी जब यह देखती है कि दुराग्रहो, परम्पराओ एव रूढिगत विश्वासो का बोझ उस पर इस सीमा तक लाद दिया जाता है कि उसका सॉस लेना भी कठिन हो जाता है, तो वह विद्रोह करने के लिए बाध्य हो जाती है, क्योकि जीने की उत्कट प्यास और अस्तित्व रक्षा की तीव्र भावना किसमे नही होती? इसे स्पष्टता से कहू कि अपने विश्वासो की रक्षा एव आस्थायुक्त मान्यताओ के स्पष्टीकरण के लिए ही आन्दोलन की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दो मे वैचारिकता की प्यास बुझाने के लिए आन्दोलन रूपी जल की आवश्यकता अनुभव की जाती है, ताकि बातो को खुले और स्पष्ट ढग से कहा और सुना जा सके। इस दृष्टि से देखें, तो किसी भी साहित्यिक आन्दोलन का चलाया जाना अवॉछनीय नही प्रतीत होता। पर जब आन्दोलन के इस व्यापक उद्देश्य को भुलाकर बातो को व्यक्तिगत सम्बन्धो एव वैयक्तिक स्तर पर अनुभव किए जाने वाली कटुताओ एवं सुखानुभूतियो तक सीमित कर दिया जाता है, तो आन्दोलन कुछ लोगो के अह की तुष्टि के लिए प्रचारवादी प्रवृत्तियो एव साहित्य की दृष्टि से विघटनकारी शक्तियो का निर्जीव खिलौना मात्र बन जाता है। दुर्भाग्य से पिछले कई आन्दोलनों की यही नियति रही है, क्योकि कुछ व्यक्तियो का उभरना कुछ 'लेखको' (!) की सहनशीलता की सीमा से परे होता है। उनके मस्तिष्क मे फिर 'सीनियर' होने, 'अधिक' लिखने और मुगालते के तौर पर 'अच्छा' लिखने की बाते जन्मती है और विशृंखलता तथा अविश्वास की दरारे गहरी होती है। हिन्दी कहानियो के कई आन्दोलनो की गति इससे भिन्न नही रही है।

इस सम्बन्ध मे १९५० से १९६५ तक की अवधि पर ही दृष्टिपात करें—मै समझता हू कि ये पन्द्रह वर्ष हिन्दी कहानी मे सर्वाधिक विवादग्रस्त रहे है। इन वर्षों मे हिन्दी कहानी ने अनेक वैचारिक स्तर स्पष्ट किए और अनेक दिशाएँ ग्रहण की, जो

किसी गतिरोध की नही, वरन् इस बात की सूचक है कि इस नई पीढी मे परिवर्तित मानदण्डों मे अपना सही रास्ता पहचानने की कितनी अकुलाहट और बेबसी रही है और नए उभरने वाले मूल्यो को उचित सगति मे चित्रित करने तथा सत्यान्वेषण की कितनी बेबसी रही है। यहाँ मैं कुछ उन 'अध्यवसायी', 'प्रबुद्ध', 'सीनियर' और 'अधिक' लिखने वाले लेखको की बात छोड देता हू लिखना जिनके लिए पेशा है और जिन्हे घडी देखकर पन्द्रह-सोलह घण्टे लिखना जरूरी है। उनके इस कार्यक्रम मे कुछ घण्टे उपन्यास, कुछ घण्टे कहानियाँ, कुछ घण्टे आलोचना और शेष समय फिल्मी जगत, क्रीडा जगत, बाल-जगत, विज्ञान जगत और काम-शास्त्र (मार्केट मे जिसकी माँग हो!) लिखना सम्मिलित रहता है। वस्तुत उनके लिए जीने की यह एक अनिवार्य शर्त होती है, क्योकि साहित्य उनके लिए साधना या उसके माध्यम से व्यक्तित्व निर्मित करने की चीज नही, धन कमाने का एक पेशा होता है। साहित्य से उनका सम्बन्ध बस सफरी होता है। एक विशेष यात्रा की अवधि तक दोनो चलते है और अपने गतव्य स्थान पर पहुँचकर कन्धे झाडकर इस प्रकार चल देते है कि मुड-कर बेचारे साहित्य को देखने की भी आवश्यकता नही समझते और उसके लिए अनजान एव अपरिचित बन जाते है। इसे यो भी कह सकते है कि साहित्य उनके लिए टिकट होता है, जिसके माध्यम से वे किसी ऊँची कुर्सी पर पहुचने, आकर्षक पत्नी पाने या अनुकूल स्थिति बनाने की दिशा मे यात्रा करते है और यात्रा समाप्त कर टिकट फिर वापस कर देते है और अपने कही जमकर बैठ जाते है।

लेकिन इस सीमितता से अलग हटकर व्यापक सन्दर्भों की चर्चा की जाए, तो गत चौदह वर्षों मे ऐसे अनेक सफल लेखको की पीढी सामने आई है, जिसने अपने युग की क्राइसिस मे बमुश्किल तमाम स्वय अपनी बोझिल जिन्दगी ही नही जी, अपने आस-पास के लोगो को भी जीने और शक्ति की प्रेरणा दी। उनकी आँखे खोलकर और विषमताओ, दुर्बलताओ एव विकृतियो के यथार्थ से परिचित कराकर उनका हौसला बढाया। ऐसे लेखको मे धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, नरेश मेहता, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, अमरकान्त, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियवदा, शिवानी, शशिप्रभा शास्त्री, श्रीमती विजय चौहान, हरिशकर परसाई, विजय चौहान, रामकुमार, कृष्णा सोबती, फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्मसाहनी, रामनारायण शुक्ल, प्रयाग शुक्ल, ज्ञानरजन, कुलभूषण, जगदीश चतुर्वेदी, अनन्त, धर्मेन्द्रगुप्त, ममता अग्रवाल, विनीता पल्लवी, रवीन्द्र कालिया, अवधनारायण मुद्गल आदि प्रमुख हैं। इन सभी लेखको का अपना-अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है, जिसका उनके द्वारा लिखी जाने वाली कहानियो पर गहरा प्रभाव है। उनके सोचने-समझने के ढग और उनकी दृष्टि मे भी काफी अन्तर है। यहाँ तक कि उनके फॉर्म, कथ्य और कथन मे भी काफी भिन्नता लक्षित होती है। यह सब इस बात का प्रतीक है

कि गत पन्द्रह वर्षों मे हिन्दी कहानी ने अनेक भावभूमियाँ ग्रहण की हैं और जीवन के बहुविधिय पक्षो का संस्पर्श कर सामाजिक सन्दर्भों मे उनका यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया है। ऐसी स्थिति मे किसी एक नजरिए—मेरा अभिप्राय किसी एक निश्चित मानदण्ड से इन लेखको की कहानियो की नाप-तौल करना कोई अर्थ नही रखेगा, उसके लिए अलग-अलग मानदण्डो की आवश्यकता है। मैं इसे हिन्दी कहानी की बहुत बडी उपलब्धि स्वीकारता हू।

यह बात किसी अजूबे के रूप मे नही स्वीकारा जाना चाहिए। यह युग परिवर्तन मे सजग एव सचेत रहकर नवीन मूल्यो एव बदलती आस्थाओ को सहजता से स्वीकार लेने की अनिवार्य माँग थी, जिसका दायित्व वहन करने मे नई पीढ़ी कही भी किसी भी रूप मे पीछे नही रही। हालाँकि इसके सूत्र कुछ और रूपो मे पीछे भी खोजे जा सकते है, जहाँ हमे तत्कालीन युग की परिवर्तनशीलता को सामाजिक सन्दर्भों के भीतर ही स्वीकार करते और चित्रित करते अनेक लेखक मिलते हैं। उन लोगो ने भी तब के दायित्व का पूरा-पूरा निर्वाह किया। इस सम्बन्ध मे कोई दो राय हो ही नही सकती। 'पुराने' दौर के इन लेखको मे प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', वृन्दावनलाल वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सुदर्शन, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, चतुरसेन शास्त्री प्रकाश पण्डित, राँगेय राघव आदि के नाम लिए जा सकते है। लिखी गई इनकी कहानियो मे अपने समय की आधुनिकता, नवोन्मेष और परिवर्तित भावबोध के सूत्र सरलता से खोजे जा सकते हैं। इस सन्दर्भ मे यह कहना आवश्यक है कि इन लेखको ने हिन्दी कहानी को दशा और दिशा प्रदान करने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इधर पिछले दिनो दृष्टि और दिशा की बात कई लोगों को काफी परेशान करती रही है। कहानीकार की दृष्टि और दिशा के सम्बन्ध मे कोई फतवा देना इसलिए बेमानी लगता है, क्योकि यह बात स्पष्ट है कि कहानीकार के सम्बन्ध मे कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती। मोटे तौर पर यदि कहना चाहे, तो कह सकते हैं कि परिवर्तित परिस्थितियो की सहजता को बिना किसी कुण्ठा या आस्थाहीनता को स्वीकार कर लेना एक बड़ी चीज है। दृष्टि के स्वस्थ होने और दिशा के आस्थापूर्ण होने का अर्थ यह नही है कि किसी यन्त्र-पारिचालित यूटोपिया का निर्माण होना है। उसका अर्थ इतना ही होता है कि अस्वस्थ पक्षो का उद्घाटन करने, विकृत मन.स्थितियो का चित्रण करने और गदगियो को शब्दार्थ देने मे दृष्टि का स्वस्थ रहना और दिशा का निर्माणकारी होना अनिवार्य हो जाता है। मैं समझता हू, कहानी मे सोद्देश्यता और सामाजिक दायित्व-निर्वाह की पूर्णता इन्ही बातो से सम्भव हो सकती है।

यही लेखक की तटस्थता एव नि सगता की जाँच भी की जा सकती है।

प्रायः शिकायत की जाती रही है कि गत पन्द्रह वर्षों मे सामने आने वाले अनेक कहानीकार अपनी वैयक्तिकता को सामाजिक दायित्व निर्वाह के नाम पर चित्रित करने की दृष्टि से जैनेन्द्र-अज्ञेय स्कूल के कथाकारो से भी आगे बढ गए हैं और उनकी आत्मपरकता जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय या इलाचन्द्र जोशी से भी कही अधिक गहरी है। उन्ही लोगो की यह भी शिकायत है कि अपनी व्यक्तिगत कुण्ठाओ, वर्जनाओ एव फ्रस्ट्रेशन के चित्रण को छिपाने की प्रयत्नशीलता मे ही इन हिन्दी कहानियो मे दुर्बोधता, साँकेतिकता, अमूर्तता एव जटिलता का आधिक्य हुआ है, जिससे हिन्दी कहानी एक विशिष्ट वर्ग के पाठको तक ही सीमित रह गई है। इस आरोप एव शिकायत मे वही तक सत्यता है, जहाँ तक कहानी मे जटिलता का प्रश्न है। इस दृष्टि से इधर कुछ नए लोग एक जगह एकत्रित होकर कहानी मे सहजता लाने और फॉर्म के लिहाज से उसे सरलीकृत करने का जो प्रयत्न कर रहे है, वह एक महत्वपूर्ण एव श्लाघनीय प्रयास कहा जाएगा, हालाँकि उनके प्रयत्नो को अभी साकार रूप ग्रहण करने मे समय लगेगा और अभी से इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कदाचित् अर्थहीन होगा। कहानी जीवन की शास्त्रीय आलोचना नही सहज व्याख्या है—इस बात को जब सभी लोग सर्वमान्य ढग से स्वीकारते हैं, तब सचमुच आरोपित प्रतीको, दुर्बोधता, जटिलता एव अमूर्त साँकेतिकता की बात समझ मे नही आती। मै समझता हू, लेखक अपने युगीन सामाजिक परिवेश मे कभी तटस्थ, निर्वैयक्तिक और नि सग रह ही नही सकता, पर जब इसी परिवेश की समस्याओ और प्राप्त अनुभवो को वह अपनी कहानियो मे चित्रण का माध्यम बनाता है, तो उसका अलग पर्यवेक्षक के रूप मे रहना वाँछनीय ही नही अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति मे सहजता की विराट् सम्भावनाएँ अधिक स्वीकारी जानी चाहिए।

एक बात और! कहानी मे चित्रण का मूलाधार मानवतावादी ही होना अधिक कल्याणकारी होता है। इस कल्याणकारी का अर्थ रामराज्य और सुख-सम्पन्नता से जोडकर भ्रान्तियाँ नही उत्पन्न होनी चाहिए। वास्तव मे सार्वभौमिक मानवता को कहानियो मे आधार प्रदान कर हम उसकी सर्वजनीनता मे ही वृद्धि नही करते, समूचे विश्व को एक इकाई स्वीकार कर मानव की समग्रता का निर्माण भी करते है। मनुष्य की सम्पूर्णता ही उसका वास्तविक प्रतिमान हो सकता है। प्रत्येक मानव मे पाशविकता के साथ दिव्यता भी है। इन दोनो के मध्य मे कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य है, जो मानवीय है, जिसे नैतिकता, श्लीलता, संस्कृति, दिव्यता, कला एव सौन्दर्यबोध से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। इस मानवीयता का यथार्थ चित्रण ही वस्तुत: मानवतावाद है। मानवतावाद वास्तव मे स्थिर न रहकर परिवर्तनशील रहता है। वर्तमान मनुष्य को विकास की एक कडी स्वीकार कर भावी मनुष्य को विकास की अगली कडी के रूप मे स्वीकारा जा सकता है। अरविन्द ने भी स्वीकारा

है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा मे जैसे पशुता से मनुष्यता की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएगे। वास्तव मे हमे यह स्वीकार लेना चाहिए कि वर्ग विभाजन के कारण अभी तक मनुष्यता के पूर्ण गुणो का सर्वांगीण विकास नही हो पाया है और यदि हुआ भी है, तो वह एकाँगी और अपूर्ण है। वर्गहीन समाज मे ही मनुष्य के आन्तरिक गुणो का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है। मनुष्य के समस्त आन्तरिक विकास का केन्द्र सामाजिकता ही स्वीकारी जा सकती है और जब कहानियाँ इसी सामाजिकता का चित्रण करती हैं, तो यह बात आवश्यक हो जाती है कि प्रत्येक कहानीकार मानवतावादी दृष्टिकोण के प्रति आस्थावान् होकर मानवीय गुणो को पहचाने और चित्रित करे। इसे तथाकथित आदर्शवाद से सम्बन्धित करके देखना दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ भी सज्ञा नही दी जा सकती।

यो आधुनिकता की चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी, यहा सक्षेप मे इसी सदर्भ मे कुछ महत्वपूर्ण बातो की ओर सकेत भर कर देना असगत बात न होगी आज के कुछ तथाकथित 'प्रगतिशील' कहानीकार, जो विदेश हो आए है, वहाँ के पार्को, सडको, टॉवरो, शराबो और नामो का चित्रण भारतीय वातावरण मे करने को आधुनिकता समझते है। उन्ही की देखा-देखी कुछ दूसरे कहानीकारो ने प्राय: कल्पना से (वह भोडी और अविश्वसनीय चाहे जितनी ही क्यो न हो !) विदेशी वातावरण एव सस्कृति (जिसका अर्थ भी वे नही समझते और उसे शराब तथा नारी के सौन्दर्य और सेक्स के साथ जोड देते है) के चित्रण को ही आधुनिकता का वास्तविक अर्थ स्वीकार लिया है। वस्तुत सत्यता आज इतनी ही नही है। आज हिन्दी कहानियाँ आधुनिकता के प्रति आग्रहशील अवश्य है, पर यह आधुनिकता स्थायी नही है। समय की परिवर्तनशीलता के साथ आधुनिकता के अर्थ भी बदल जाते है। एक समय की आधुनिकता दूसरे समय की ऐतिहासिकता बन जाती है। कहा जा सकता है कि परिवर्तित भाव-बोध नवीन वातावरण मे जीव सम्बन्धी यथार्थताओ के मध्य मे अपना सामजस्य न कर पाने एव विशाल ऐतिहासिक घटना चक्र से साम्य स्थापित न कर पाने के कारण मानसिक कुण्ठाएँ वैज्ञानिक मानवतावाद के प्रति गहन आस्था और परम्पराजनित प्रतिमानो, मान्यताओ एव नैतिकता मे आस्थाहीनता सूक्ष्मता और अमूर्तता, समानियत एव गढनशीलता के स्थान पर आडम्बरहीनता एव बौद्धिकता, अक्षितिज विचारो के बदले गहनता, पूर्वाग्रहो से मुक्त पूर्व निश्चित गति का अभाव, नए आध्यात्मिक (न्यू कॉस्मोलॉजी) और नई 'ह्यू मन एजीनियरिंग' की खोज, वास्तविक जीवन के किसी लघु तथा सीधे-सादे बिन्दु पर आधारित व्यापक प्रसार दैनिक स्थूल जीवन से लिए गए विषय-वस्तु पर ध्यान देने के स्थान पर अभिव्यक्ति की प्रमुखता, फलत· पुरानी भाषा की असगता और नई भाषा नई शब्दावली और रूप ही आज की हिन्दी कहानियो की वास्तविक

आधुनिकता है। इसे चित्रित करने मे स्थानीय रग विघटित न होने पाए और प्रगतिशीलता कुण्ठित न होने पाए, इसका ध्यान रखना, मेरे विचार मे प्रत्येक कहानीकार के लिए वर्तमान समय मे अत्यन्त आवश्यक है। पर आज की नई कहानी की अपनी सीमाएँ भी हैं। वह जीवन के बहु-विधिय पक्षो के चित्रण पर बल अवश्य देती है। पर इसमे पलायनवाद भी कम नही है। पिछले दौर मे वह व्यक्तिपरक ढग का पलायनवाद था। आज वह सामाजिक परिवेश मे होता है, यही युग का अन्तर है। अत वर्तमान क्राइसिस को यथार्थ एव पूर्ण ढग से आज की कहानी अभिव्यक्त कर सकी है, इस प्रकार का दावा मिथ्या एव अहकारपूर्ण होगा। अत मैं कहानी मे दृष्टि की सजगता एव सूक्ष्मता के साथ युगीन भाव-बोध को गहराई से पहचानकर पूर्ण समर्थता से अभिव्यक्त करने को आवश्यक समझता हू। कहानी चाहे वह 'पुरानी' हो या 'नई' हो या 'सक्रिय' हो या 'अ-कहानी' हो, बदल नही जाती—अपने मूल रूप मे वह कहानी ही रहती है और उसके प्राणत्व की रक्षा होनी ही चाहिए।

प्रसंग से हटकर यह स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता इसलिए पडी कि कहानी से प्रतिमान निरन्तर परिवर्तित हो रहे है और होते रहेगे। यह तो केवल एक पक्ष का उद्घाटन इस महत्वपूर्ण तथ्य का आभासमात्र देने के लिए ही हुआ। अत कहानीकार के लिए परिभाषा एव विषय विस्तार की सीमाएँ निर्धारित करने की बात मुझे बडी अनर्थक लगती है। वह कभी बन्धुओ को स्वीकार कर ही नही सकता फिर परिभाषा आदि प्रश्नो के समाधान जटिल हो जाते है। वैसे भी कहानी की एक निश्चित परिभाषा देनी कठिन है। कहा गया है कि कहानी मे किसी एक छोटी घटना का वर्णन होना चाहिए कि उसे एक ही बैठक मे पूर्णत पढा जा सके पर उसका प्रभाव पूर्ण और अन्तिम होना चाहिए।[1] यह भी कहा गया है कि कहानी मे केवल एक ही सूचना होनी चाहिए और उसे तर्क पूर्ण ढग से एक ही उद्देश्य की पूर्णता के लिए अग्रसर होना चाहिए।[2] एक सुविज्ञ का कहना है कि कहानी मे

---

१ "A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting, writter to make an impression complete and final in itself"

—एडगर एलेन पो।

२ "A short story must contain one and only one informative idea and that the idea must be worked out to its logical connections with absolute singleness of aim and directness of method"

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्सन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर मार्च १९६० लन्दन, पृष्ठ ३३६।

एक कथा होनी चाहिए, अप्रत्याशित रूप से चरमोत्कर्ष होना चाहिए, घटनाओं एवं स्थितियो का पूर्ण विवरण होना चाहिए और सबसे महत्वपूर्ण बात इसके पश्चात् सतोष की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।[१] एक दूसरे जानकर का मत है कि कहानी बिलकुल घुडदौड के समान होती है, जिसमे प्रारम्भ एव अन्त का अत्यधिक महत्व होता हैं।[२] एक भारतीय विद्वान का कहना है कि कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौडने के सामान होता है। कुछ सुप्रसिद्ध भारतीय हिन्दी कहानीकारो ने कहानी को इस ढग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है।

प्रेमचन्द—कहानीकार का उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नही वरन् उसके चरित्र का एक अग दिखाना है। वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है। वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। सबसे उत्तम कहानी वह होती है। जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।

जयशकर प्रसाद—आख्यायिका मे सौन्दर्य की एक झलक का चित्रण करना और उसके द्वारा इसकी सृष्टि करना ही कहानी का लक्ष्य होता है।

जैनेन्द्रकुमार—कहानी बस कहानी होती है।

इलाचन्द्र जोशी—जीवन का चक्र नाना परिस्थितियो के सघर्ष से उलटा सीधा चलता रहता है। इस सुबृहत् चक्र के किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी होती है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी—कहानी जीवन रहस्य की अभिव्यजना है। रहस्य व्यक्ति के मानस मे निवास करते है और उनका उद्घाटन घटनाओ द्वारा

१. "A short story should be story, a record of things happening full of incidents and accidents swift movement, unexpected development leading through suspense to a climax and satisfying denowment,"

—सर ट्यू पोल

२ "A short story is just like a horse race It is the start and finish which count most"

—एलरी

३ डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय हिन्दी साहित्य का इतिहास (पाँचवाँ संस्करण) इलाहाबाद, पृष्ठ ३२४

होता है। व्यक्ति समाज का अग होता है। इस प्रकार प्रत्येक कहानी प्रकारान्तर से समाज की कहानी हुआ करती है। जब तक कहानी मे किसी चरित्र विशेष की सृष्टि नही होती, किसी व्यक्ति की अन्तरात्मा का यथार्थ विशिष्ट प्रतिबन्ध नही झलकता, उसके जीवन के रागात्मक उच्छ्वास शब्दो की काया नही ग्रहण करते, तब तक कोई भी कहानी सही अर्थो मे कहानी नही होती।

राय कृष्णदास—आख्यायिका चाहे किसी लक्ष्य को सामने रखकर लिखी गई हो व लक्ष्य विहीन हो, मनोरजन के साथ-साथ अवश्य किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है।

विनोदशकर व्यास—आधुनिक कहानियो का ध्येय है मनोरहस्यो का उद्घाटन करना इनमे अनियन्त्रित और अप्रासगिक भावुकता के प्रदर्शन का अवकाश नही•• वही कहानियाँ सफल समझी जाती हैं, जिसमे कहानी लेखक निर्लिप्त भाव से एक ऐसी दुनियाँ की सृष्टि कर दे जो वास्तविक जगत से परे न हो। ••कहानी मे इतनी शक्ति होनी चाहिए कि थोडी दर के लिए पाठक सब कुछ भूल कर उसके पात्रो की भावनाओ के साथ बहने लगे।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार—घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है। साहित्य के सभी अगो के समान रस उसका आवश्यक गुण है।

अज्ञेय—इतना ही कहा जा सकता है कि कहानी नामक साहित्य प्रकार मे एकान्त प्रभाव ही साहित्यकार का उद्देश्य होता है और उसके द्वारा चुनी गई वस्तु उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन। वह प्रभाव और उस प्रभाध की एकान्तिकता ही मुख्य है।

भैरवप्रसाद गुप्त—कहानियाँ केवल 'शिल्प' रगीन वर्णन, कला की कलाबाजी के बल पर खडी नही होती, उनका निर्माण जीवन्त वस्तु शिला पर होता है और इसीलिए वे पत्थर की तरह ठोस और कक्रीट की तरह शक्ति सम्पन्न होती हैं। उनमे आपको बडे बोल नही मिलेगे, घुमाव फिराव या बाल की खाल निकालने वाली बारीकी नही मिलेगी, मिलेगी एक सरलता, एक सहजता एक सादगी और एक सीधापन लक्ष्य भी सीधा और अचूक होता है।•• कहानी की कोई एक बात या कोई एक विशेषता हमारे मन मे नही बसती, बल्कि पूरी कहानी हमारे स्मृति पट पर चित्रित रहती है। इसका कारण यह है कि (कहानीकार) एक बात विशेष या या एक चरित्र विशेष के इर्द-गिर्द कथानक के जाल नही बुनते बल्कि जीवन का एक जिन्दा टुकडा ही उठाते हैं और उसे ही अपनी सहज कला से गढकर सामने रख देते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—कहानियां वही जानी-मानी जाएगी और याद रखी जाएंगी जो चाहे आत्मपरक हो अथवा समाजपरक पर जो व्यक्ति के चित्रण से समाज को

अथवा समाज के चित्रण से व्यक्ति को समझने मे पाठको का सहायता देंगी ''कई बार कहानी एक अमूर्त सत्य को सफलतापूर्वक साकार किए जाने के कारण याद रह जाती है।'''वह सत्य काल्पनिक हो, जिन्दगी से कटा हुआ हो, आरोपित हो, इससे गरज नही। एक अमूर्त विचार जब मूर्त रूप मे सफलता पूर्वक रख दिया जाता है, तो मन को प्रभावित करता है। सोच-विचार कर हम भले ही उसे नकार दें, पर वह असर जरूर डालता हैं। ' फिर जब लेखक अपने जीवन से अनुभूतियाँ लेकर कोई ऐसी कहानी लिखता है कि हम उसके दर्शक ही नही, भोक्ता भी बन जाते हैं, तो कहानी याद रह जाती हैं।

मोहन राकेश—आज कुछ लोग कहानी का सम्बन्ध एक विशेष तरह के शिल्प या वस्तु के साथ जोडकर उसका मूल्यॉकन करना चाहते हैं। हमारी रचना का क्षेत्र नि.सीम है और रचना की वास्तविक सिद्धि इसके प्रभाव की व्यापकता मे है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो और उसकी रचना उसके और पाठक के बीच एक घनिष्टता की स्थापना कर सके। इसके लिए अभिव्यक्ति मे जिस स्वाभाविकता की आवश्यकता है, वह जीवन की सहज अनुभूतियों से जन्म लेती हैं और वह स्वतः ही रचना को सहज सवेद्य बना देता है। ये अनुभूतियाँ हमे जीवन के हर पक्ष और हर पहलू से प्राप्त हो सकती हैं।

नरेश मेहता—कहानी अभिव्यक्ति होती है। घटना मात्र नही। आज की कहानी फॉर्मूला या सोद्देश्य कहानी कला से आगे बढ चुकी है। प्राय आक्षेप सुनने मे आता है कि व्यक्तिवादिता ने कुण्ठा को जन्म दिया, फलस्वरूप कहानी सिर्फ शैली रह गई। लेकिन यह भी तो उतना ही सच है कि सोद्देश्यता, कहानी को कुरुप, भाषण या नारेबाजी बना दिया। भूल यही है कि इस सशक्त माध्यम को व्यक्तियों दलो, वर्गों के स्वार्थ साधन के लिए सौपना नही चाहिए।

इन सभी कथनो मे पर्याप्त वैषम्य है, जो विभिन्न लेखको की अपनी-अपनी विचारधाराओ के अनुरूप है। इसकी आगे यथास्थान मीमासा की जाएँगी, यहां यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कहानीकार के लिए परिभाषा की बाध्यता निरापद होती है। वह वही लिखता है- जो उसका दृष्टिकोण होता है अत इस विवाद में पड़ना ही नही चाहिए कि कहानी की परिभाषा क्या हो और क्या न हो। मैं ऊपर कह ही आया हू कि कहानी का वास्तविक सम्बन्ध युगीन जीवन से होता है। कहानी मानवीय सवेदना की हार्दिक अभिव्यक्ति होती है। यह मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश मे देखने की प्रक्रिया है। वह जीवन के यथार्थ का प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रस्तुती-करण है। कहानी जीवन, समाज, युग बोध और भाव बोध के परस्पर सम्बन्धो एवं फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया चित्रण है। पूर्ण कल्पना मे कहानी की मृत्यु है और कटु यथार्थ मे उसकी जिन्दगी। मूल्यों

की स्थापना अथवा अन्वेषण और कलात्मक अभिव्यक्ति आपस मे सम्बंधित होते हुए भी दो बिल्कुल अलग-अलग चीजे है, जिन्हे कहानीकार को वडे सन्तुलित रूप मे निकट लाना पडता है। इस प्रकार कहानियो का वास्तविक लक्ष्य जीवन के किसी रहस्य का मार्मिक उद्घाटन होता है। कहानियो का लक्ष्य जीवन के किसी सत्य से हमे परिचित करना होता है। कहानी जीवन की एक सवेदना होती है, जिसका परिवेश सीमित होते हुए भी भावानुभूति की गहनता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। कहानियो के आकार के सम्बन्ध मे भी कोई प्रतिबन्ध नही लगाया जा सकता। हाँ इतनी बडी नही होनी चाहिए कि वह लघु उपन्यास का रूप धारण कर ले और उतनी सक्षिप्त भी नही होनी चाहिए कि वह विज्ञप्तियो का रूप धारण कर ले। लघुता मे विराटता का बोध देना ही कलात्मक अभिव्यक्ति स्वीकारी जा सकती है।

उपन्यास और कहानी

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपन्यास और कहानी मे क्या सम्बन्ध है वास्तव मे उपन्यास मे भी कोई न कोई कथा होती है और कहानी मे भी किसी कथा को ही आधार बनाया जाता है। अत. इसी कथा साम्य के कारण लोग कहानी और उपन्यास को एक ही समझ बैठते है और यदि कोई अन्तर समझते भी है, तो मात्र इतना ही कि उपन्यास का आकार विस्तृत होता है और कहानी का आकार सीमित इसके आगे कुछ और स्वीकारने को वे प्रस्तुत ही नही होते। यह बात तो खैर है ही, पर इसके अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से कारण है, जिसके कारण कहानी और उपन्यास मे बडा अन्तर क्या है ? उपन्यास मे मानव जीवन के बहुविधिय पक्षो का चित्रण अपनी पूर्णता एव विराटता का बोध लिए हुए होता है, पर कहानी मे मानव जीवन के किसी एक पक्ष का एक घटना का या किसी एक सवेदना का चित्रण होता है। उपन्यास मे लेखक को चरित्र चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश होता है और वह अनेक प्रमुख गौण पात्र लेकर उनका चरित्र चित्रण सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ मे कर अपने उद्देश्य की पूर्णता सिद्ध करता है। पर कहानी मे कहानीकार को इतनी स्वतन्त्रता नही रहती। उसे कम-से कम समय मे पात्रो का चरित्र चित्रण स्पष्ट करना पडता है, इसलिए उसे सकेतो का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। उपन्यास मे इसी कारण से जहाँ पात्रो की बहुलता रहती है। वहाँ कहानी मे पात्रो की न्यूनता रहती है और कहानीकार को एक या दो पात्रो से ही अपना काम चला लेना पडता है। उपन्यास मे प्रमुख कथा के साथ अवान्तर कथाओ को रखकर व्यापक मानव जीवन के चित्रपट को प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकार स्वतन्त्र रहता है, पर कहानीकार के लिए इस दृष्टि से बाध्यता रहती है। कहानी मे इसीलिए एक-एक शब्द का एक-एक शब्द का अत्यधिक महत्व हो जाता है। वे सभी विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं। इस प्रकार

कहा जा सकता है कि कहानी सभी उपन्यासो के स्थानापन्न रूप मे सामने नही आ सकती। उपन्यास और कहानी के शिल्प विधान मे भी अन्तर है। उपन्यास मे यदि बहुत कुछ तराशा न जाए, तो भी कभी-कभी काम चल जाता है और उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। पर कहानी मे यदि यह न हो, तो बहुधा जीवन का बहुत बडा सत्य लिये हुये भी कहानी अस्पष्ट ही रह जाती है। कहानी और उपन्यास मे प्रभावान्विति का भी अन्तर होता है।[१] पो ने इसे पूर्णता का प्रभाव स्वीकार है। कहानी का शिल्प और उसके प्रस्तुतीकरण का ढग इसीलिए महत्वपूर्ण हो जाता है। उपन्यास यदि एक महासागर है, तो कहानी एक छोटी नदी है। उपन्यास यदि भाव तरगो का समूह है। तो कहानी उस भाव-तरंगो के समूह की मात्र तरग है। उपन्यास यदि स्वतन्त्र क्षेत्र मे व्यापक, कलात्मक, अभिव्यक्ति है। तो कहानी सीमित क्षेत्र मे संकुचित कलात्मक अभिव्यक्ति है। पर इसका यह अभिप्राय नही है कि कहानी का महत्व उपन्यासो की तुलना मे किसी प्रकार कम होता है। कुशल कहानीकार उन्ही मानवीय सवेदनाओ या घटनाओ को चुनते हैं। जिनसे वे व्यापक मानवीय भाव एव अनुभूतियो का चित्रण कर सके। इस प्रकार आकार सीमित एव अपूर्ण सी प्रतीत होते हुए भी कहानी पूर्ण होती है और उपन्यासो के समान ही महत्व रखती है।

कुछ लोग कहानी को उपन्यासों का स्थानापन्न मानते है, वे भूल करते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कहानी गद्य साहित्य का अन्यतम रूप है। आधुनिक साहित्य मे इसका एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। ईसकी अत्यधिक बढती हुई लोकप्रियता का सर्वप्रमुख कारण यह है कि आज का मानव जीवन अत्यधिक व्यस्त है। लोग अवकाश खोजते हैं। पर वह उन्हे अल्पाँश मे ही प्राप्त होता है और इस क्षणिक अवकाश मे जब वे कुछ मनोरजन के लिए पढना चाहते है, तो उपन्यास की ओर चाहते हुए भी हाथ इसलिए नही बढा पाते, क्योकि वे जानते है कि इस क्षणिक अवकाश मे उपन्यास को समाप्त करना दुर्लभ है। इसीलिए वे कहानियाँ पढना

१ "Brander Matthews, in his "Philosophy of the short-story", lays great stress on this Unity of Impression—what Poe calls the 'effect of totality'—as the mark of distinction between the short story and novel And can by, carrying the distinction still further, says that it is the deliberate and conscious use of impressionistic methods, together with the increasing emphasis on situation that distinguishes the short story of today from the tale or simple narrative and makes it seem a new work of art."

—एवलिन मे अलब्राइट . द शॉर्ट स्टोरी ; इट्स प्रिंसिपुल्स एण्ड स्ट्रक्चर

अधिक पसन्द करते हैं क्योकि उनका आकार लघु होता है और कम-से-कम समय मे पढी जा सकती हैं। इस प्रकार कहानियो का अपना अलग एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। जिसका उन्मीलन उपन्यास के स्वत्व मे नही किया जा सकता। प्राय. यह भी कहा जाता है कि कहानियाँ उपन्यास का नवीन रूप है और वे शीघ्र ही उपन्यासो का स्थान ले लेगी। यह भी इसी सदर्भ मे कहा जाता है कि कहानी और उपन्यास मे आकार के अन्तर के अतिरिक्त किसी और अन्तर की कल्पना भी नही की जा सकती। पर यह सोचना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि तर्क हीन है। ऊपर मै कह चुका हू कि उपन्यासो मे मानव जीवन के बहुविधिय पक्षो का एक व्यापक परिवेश मे चित्रण होता है। वहाँ आकार की कोई सीमा नही रहती पर कहानियो मे ऐसी सीमा का निर्धारण रहता है। कहानी अधिक से अधिक पन्द्रह पृष्ठो की ही हो सकती है। जिसे पन्द्रह-बीस मिनटो मे पढा जा सके। कहानी मे मानव जीवन के किसी एक पक्ष या घटना का अत्यन्त सूक्ष्मता का साफ चित्रण किया जाता है। कहानी इस प्रकार कभी भी उपन्यासो का स्थानापन्न नही बन सकती, जैसा कि दावा किया जाता है, क्योकि उपन्यासो मे मानव जीवन की जिस सम्पूर्णता का चित्रण होता है, कहानियो मे आकार सीमा के कारण इसकी कोई सम्भावना नही रह जाती। यद्यपि कहानी और उपन्यास के मूल तत्वो मे रूपगत समानता है और उनमे परस्पर सामञ्जस्य भी है, किन्तु जहाँ तक दोनो साहित्य रूपो के शिल्प-विधान का प्रश्न है, दोनो मे यथेष्ट अन्तर है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इस सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि उपन्यासो की भाति कहानियाँ भी कुछ घटना प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊचा समझा जाता है। कहानी मे बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नही होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्यो को चित्रित करना नही। वरन् उसके चरित्र का एक अग दिखाना है। यह परम आवश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्व निकले। वह सर्वमान्य हो और इसमे कुछ बारीकी हो...जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते है कि पाठक उनको अपने स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी मे आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रो के प्रति पाठक मे यह सहानुभूति नही उत्पन्न की, तो वह अपने उद्देश्य मे असफल है। उन्होने एक अन्य स्थान पर कहा है कि कहानी एक रचना है, जिसमे जीवन के किसी एक अग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते है। उपन्यास की भाति उसमे मानव जीवन का सम्पूर्ण तथा बृहत् रूप दिखाने का प्रयास नही किया जाता। न इसमे उपन्यास की भाँति सभी रसो का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नही, जिसमे भाँति-भाँति के फूल, बेल, बूटे सजे हुए है,

बल्कि एक गमला है, जिसमे एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार कहानी और उपन्यास का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। 'कहानी और उपन्यास की भिन्नता एक उदाहरण के द्वारा सरलता से समझाई जा सकती है। यदि बन्द दरवाजे के भीतर से एक छोटे से छिद्र के सहारे, बाहर के किसी उपवन मे ताका जाय, तो गुलाबो का एक राजा अपनी हरी-हरी डाल पर मस्ती से झूमता दिखाई पडेगा। वह अपनी उत्फुल्लता और कोमल रमणीयता मे अपूर्ण खिला मिलेगा। उसके उपरान्त यदि दर्वाजा पूरा खोल दिया जाए, तो विशाल उपवन का मनोहर दृश्य सामने खुल पडेगा। अवश्य ही उस उपवन के व्यापक प्रसार मे वह गुलाब भी एक तरफ दिखाई पडेगा। इस उदाहरण मे छिद्र के माध्यम से दिखाई पडने वाला गुलाब, कहानी के रूप मे कहा जाएगा और उपवन की दिव्य सामूहिकता उपन्यास की प्रतिनिधि मानी जाएगी। दोनो ही अपने दो रूपो मे सर्वथा पूर्ण है। इस उदाहरण के आधार पर यह आशका उठाई जा सकती है कि उसमे सदृश्य तो कुछ उसी प्रकार का है। जैसे खण्डकाव्य और महाकाव्य का सम्बन्ध अथवा जीवन के एक अश के साथ सम्पूर्ण आयु का विस्तार पर इस प्रकार भी शंका के लिए वस्तुतः कोई स्थान नही है। खण्ड जीवन को देख लेने के बाद आगे की बात जानने की आकाक्षा उठती है। खण्डकाव्य के किसी कथानक को जान लेने पर भी उसके नायक के और अधिक व्यापक स्वरूप को समझने की इच्छा होती है। पर उदाहरण का गुलाब अपने मे सर्वथा पूर्ण था। छिद्र मे जब उसके दर्शन हुए। तब उसके स्वरूप बोध, सौन्दर्य और उत्फुल्लता को समझने मे और किसी प्रकार की आकाक्षा नही रह गई थी। इसलिये वह अपने मे सर्वथा पूर्ण और स्पष्ट है। इस बात की आकाक्षा नही थी कि वह व्यापक उपवन के दृश्य के बीच मे रहे, तभी उसकी सुन्दरता और उत्फुल्लता ठीक से समझी जा सकती है। इसी तरह कहानी मे जो विषय का एकत्व मिलता है, वह अपने मे ऐसी समग्रता भरे रहता हैं कि एक विशेष प्रकार का सवेदन उत्पन्न करने मे सफल होता है और उसके पूर्वापर को जानने का कोई आग्रह उपस्थित नही होता। अब इस प्रसंग मे उपवन के सामूहिक दृश्य का विचार करने से यह प्रकट होगा कि उसमे हमारे चित्त को आह्लादित करने वाले हमारी दृष्टि को उलझाने वाले अन्य अनेक रमणीय और आकर्षक स्थल और विषय हो सकते हैं। किसी ओर सुमनो से लदी हुई मालती की लता झूमती दिखाई पडेगी, किसी ओर भिन्न-भिन्न रग और आकार-प्रकार वाले गुलदाउदी के गमले सजाए मिलेंगे, किसी ओर जंलाशय की हरीतिमा मे विहार करने वाले कमल और हस सामने आएगे। इस प्रकार उस उपवन के विस्तार मे विषय की विविधता भरी मिलेगी। अब यदि अलंकार शैली से पृथक होकर वस्तुस्थिति का यथार्थ

विचार किया जाय तो थोडे मे कहा जा सकता है कि कहानी मे जो विषय का एकत्व प्रतिपाद्य होता है। इससे सर्वथा पृथक उपन्यास मे विषय का वैविध्य लक्ष्य होता है। एक मे केन्द्र का एक ही बिन्दु रहता है और दूसरे मे अनेकानेक आलोक पु ज किसी क्रम विशेष से दिखाई पडते है।' इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध आलोचक डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कहना है कि प्रारम्भ मे कहानी और उपन्यास मे कोई अन्तर नही समझा जाता था। किन्तु ज्यो-ज्यो कहानी कला का विकास होता गया, त्यो-त्यो दोनो को अलग-अलग समझा जाने लगा। कहानी ने अपने उपकरण जुटाए और अब उसकी स्वतन्त्र सत्ता समझी जाने लगी है। कहानी और उपन्यास मे आकार का अन्तर है, विशेषत आज के सघर्षपूर्ण युग मे अवकाश की कमी के कारण कहानी की लोकप्रियता बढती जा रही है। आकार का यह भेद तात्विक नही, वरन् समय या परिस्थिति से उत्पन्न हुआ है। वास्तव मे दोनो मे प्रकार का अन्तर है। कहानी मानव जीवन की एक झलक मात्र है और उपन्यास जीवन का एक विशद चित्र। कहानी किसी एक घटना को लेकर चलती है, उपन्यास मे घटनाओ का बाहुल्य रहता है। कहानी मे पात्रो की सख्या बहुत कम रहती है, उपन्यास मे अधिक। उपन्यास मे कथानक का होना अनिवार्य है। आधुनिक कहानी मे कथानक का होना आवश्यक होते हुए भी अनिवार्य नही है, लेखक उसमे एक प्रभाव मात्र की सृष्टि करता है। कहानी मे केवल एक ही कथा होती है, प्रासगिक कथाए नही होती। उसमे जीवन का व्यापक वर्णन नही, वरन् जीवन के किसी अग विशेष पर प्रकाश डाला जाता है। वह दृश्य चित्रण (Landscape painting) न होकर एक स्नैपशॉट मात्र है। कहानीकार किसी एक कोने मे झाँकता है। कहानी मे विशद चरित्र चित्रण नही होता, कहानी लेखक तो चरित्र के किसी एक पक्ष विशेष को स्पर्श करता है। बहुत-सी कहानियो मे तो चरित्र-चित्रण होता ही नही। उपन्यास मे चरित्र-चित्रण के लिए व्यापक क्षेत्र है। उसी प्रकार शैली की दृष्टि से कहानीकार किसी भी प्रकार के विस्तृत वर्णन मे सलग्न नही हो सकता। उपन्यासकार के लिए ऐसा कोई नियंत्रण नही है। कहानी की शैली बहुत गठी होनी चाहिए। थोडे मे बहुत कहना कहानीकार की विशेषता है। आधुनिक कहानी मे प्रभाव की अन्विति (unity of impression) बहुत महत्वपूर्ण है, जो विशेष साधनो द्वारा सम्पन्न होती है। कहानी मे कल्पना का योग भी रह सकता है और उपन्यास यथार्थ सापेक्ष होता है। आदर्श या उद्देश्य की दृष्टि से भी कहानी और उपन्यास मे अन्तर होता है। उपन्यास की विविध घटनाओ और पात्रो से हम शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। कहानी के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही होती; उसमे तो प्रभाव ही प्रधान होता है। शैली की दृष्टि से आधुनिक कहानी निबध, एकाँकी आदि के समीप है। इसके अतिरिक्त कहानीकार उत्सुकता, बहुत कम पात्रो, बहुत कम चरित्र, बहुत कम घटनाओ और प्रसगो द्वारा कथानक चरित्र प्रभाव,

वातावरण आदि की सृष्टि करता है। व्यर्थ की बातो या कथोपकथन का उसमे कोई स्थान नही होता। वास्तव मे कहानी लिखना रेल की पटरी पर दौडना है।

कहानी और नाटक

कहानी और नाटक मे घटनाओ के आधार पर साम्य स्थापित किया जाता है। कहानी मे कुछ घटनाओ एव स्थितियो का सगुफन कर नाटकीयता उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है, उसी प्रकार नाटक मे भी नाटककार का उद्देश्य कुछ घटनाओं एव स्थितियो का सगुफन कर नाटकीयता उत्पन्न करना होता है। रसोद्रेक करना दोनो का लक्ष्य होता है। कथोपकथन एव पात्रो की सयोजना कहानी मे भी होती है, नाटक मे भी। चरित्र चित्रण की पद्धतियाँ भी दोनो मे समान ही होती हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार कहानी किसी एक पात्र के जीवन के परिवर्तनशील बिन्दु का सक्षेप मे पूर्ण नाटकीयता के साथ प्रतिनिधित्व करती है।[१] शब्दो का महत्व जिस प्रकार कहानी मे होता है, उसी प्रकार नाटको मे भी। चूकि नाटको मे कथोपकथनो का अधिक महत्व होता है, इसलिए उनका सक्षिप्त एव चुस्त होना अनिवार्य होता है। वहाँ शब्दो की प्रमुखता बढ जाती है। कहानी भी, यहाँ स्पष्ट करना अप्रासगिक न होगा कि वही श्रेष्ठ होती है, जिसमे वर्णनात्मकता कम और कथोपकथनों के माध्यम से साकेतिकता, फलस्वरूप नाटकीयता अधिक होती है। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि आधुनिक कहानी के कला रूप मे इतने विकसित होने का समस्त श्रेय नाटक को ही दिया जाना चाहिए।[२] डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार कहानी

१ "Short story is a representation, in a brief, dramatic form, of a turning point in the life of a single character "—जेम्स डब्ल्यू०लीन

२ "The story writer, like the dramatist, is compelled by lack of space to present his situation, effectively in a few strong strokes and to render his main characters prominent in their true relations to each other and to their whole environment without the aid of many groups of lessen characters and without the back ground of a long series of minor events which prepare for and emphasize the climax The artificial isolation of a limited number of people and events, the artistic heightening of dialogue the concentration on a single issue, the vivid picturing of a scene that is significent, are essentially dramatic In a world, the drama is largely responsible for the brilliant technique which is one of the distinguishing features of modern story telling " —एलविन मे अलब्राइट

मे नाटकीयता विद्यमान रहती है, किन्तु चरित्र चित्रण और कथानक विस्तार, अक-विभाजन, आत्म-विश्लेषण आदि की दृष्टि से कहानी और अनेकाँकी नाटक मे अन्तर है। कुछ पाश्चात्य आलोचको का मत है कि कहानी उपन्यास की अपेक्षा नाटक से अधिक सम्बन्धित है। नाटक एकाँकी हो या अनेकाँकी, उसकी अपनी सीमाएँ है। दोनो रूप कुछ नियमो के बन्धनो से जकडे रहते हैं—घटना-विस्तार, चरित्र-चित्रण, प्रभाव, समय और स्थान की दृष्टि से। वास्तव मे कहानी को उपन्यास और नाटक के बीच मे रख सकते है।

यहाँ संक्षेप मे साहित्य मे नाटको के महत्व और स्वरूप का स्पष्टीकरण कर ले, तो कहानी से उसका साम्य या वैषम्य स्पष्ट हो जायेगा। साहित्य मे नाटक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाटको को यदि उचित रगमचो का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो जाये, तो वे सभी साहित्य रूपो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेते है। साहित्य की अन्य सभी विधाएँ केवल पढी भर जा सकती हैं, उनका दृश्य आस्वादन नही किया जा सकता। 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी', और 'साकेत' चाहे जितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ हो, पर उन्हे सिर्फ पढा भर जा सकता है और उनमे जो भी सौन्दर्यतत्व अन्तर्निहित रहते है उनका साधारणीकरण या अन्य माध्यमो से केवल मन मे एक अनुभव किया जा सकता हैं। उन साहित्य रूपो मे हमे कल्पना का माध्यम ही अधिक ग्रहण करना पडता है। किसी कहानी को पढते समय बहुधा हम कल्पना के माध्यम से ही यह जान सकते हैं कि अमुक पात्र ने ऐसा किया होगा, अमुक पात्र की मृत्यु ऐसी हुई होगी या अमुक पात्र ने अपने मुख या क्रोध का एक विशेष भाव लाकर यह बात कही होगी। उसी प्रकार 'साकेत' पढते समय हम कैकेयी का विलाप, राम की भाव-प्रवणता, हनुमान जी की वाक् चतुरता एव भरत की भक्ति का कल्पना द्वारा अनुमान लगा सकते हैं, पर नाटको मे यह अभाव नही होता। नाटको की इस दृष्टि से द्विमुखी विशेषताएँ होती हैं। उन्हे कहानी या अन्य साहित्य रूपो मे जो विशेषता नही है, उसके विपरीत नाटको मे अभिनेयता के गुण होने के कारण हम उन्हे रगमच पर अभिनीत कर प्रत्यक्षत देख भी सकते हैं। इस दृष्टि से नाटक कहानी से विशेष महत्व प्राप्त कर लेता है। सस्कृत आचार्यों ने 'अवस्थानुकृतिनार्टय रूपं दृश्यतयोच्यते' कहकर नाटको का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है, अर्थात् वह साहित्य रूप, जिसे अभिनीत किया जा सके। आँखो से देखा जा सके—नाटक की सज्ञा से अभिहीत किया जाता है। सस्कृत आचार्यों मे नाटक का सर्वाधिक महत्व था। नाटकशास्त्र मे उसे पाँचवाँ वेद स्वीकार करते हुए कहा गया है :

न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरवेद पंचम सर्ववार्णिकम्॥

नाटकों का सामाजिक रूप ही अधिक महत्वपूर्ण होता है। जो चीज पठनीय

है, वह तो एकान्त मे पढी जा सकती है, पर जो अभिनेय है, वह एकान्त की बात नही हो सकती। अपने कमरे मे केवल अपने लिये हम किसी नाटक को रंगमच पर अभिनीत नही करवाते। नाटक जब भी अभिनीत होता है, उसके देखने वाले कुछ लोग होते हैं। नाटक मे अनेक कलाओ का पूर्ण समावेश हो जाता है, यथा स्थापत्य-कला, सगीत कला, मूर्तिकला; नृत्य-कला, चित्रकला, आदि। इसीलिये वह प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण माना जाता है। भरत मुनि के अनुसार :

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यत्र दृश्यते।
सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥

अर्थात् योग कर्म सभी शास्त्र एव विविध कार्यो मे कोई भी ऐसा नही है, जिसका समावेश नाटक मे न हो जाये। नाटक की मूल मनोवृत्तियाँ चार हैं—अनुकरण, पारस्परिक परिचय, जाति रक्षा और आत्माभिव्यक्ति। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान अनुकृति का ही है। भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानो ने नाटक की मूल मनोवृत्तियो मे प्रमुखता अनुकृति ही की स्वीकारी है[1] जबकि कहानी मे भी ऐसा ही होता है। वह भी मानव जीवन से यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है और लोक जीवन, संस्कृति, जीवन सत्य एव परम्पराओ की अभिव्यक्ति होती है। नाटको मे कोमल ललित पद होते हैं। अर्थ की अभिव्यजना होती है, गूढ शब्दार्थ होते हैं, जो विद्वानो के लिए सुखदायक होते है, एवं बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका अभिनय करता हैं, इसमे अनेक रसो का समावेश होता है; तथा सन्धियो का उचित निर्वाह होता है। भरत मुनि के अनुसार वही नाटक सर्वश्रेष्ठ होता है .

मृदुललित पदार्थं गूढ़शब्दार्थहीन।
बुधजन सुखयोग्य बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम॥
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवाते जगति योग्य नाटक प्रेक्ष्यकाणाम्॥

नाट्यशास्त्र ··अध्याय १७

कहानियो मे ऐसा नही होता। इस प्रकार दोनो के शिल्प मे थोडे से साम्य को छोडकर पर्याप्त वैषम्य है।

कहानी और एकॉकी

नाटक की अपेक्षा कहानी और एकाँकी नाटक मे पर्याप्त अशो मे समानता है। नाटको के क्षेत्र मे जो स्थान एकॉकी का है, वही कथा-साहित्य मे कहानी का। दोनो का आकार सीमित होता है। जीवन के एक भाव या सवेदना को कहानी मे

1. 'Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

—निकल . थ्यूरी ऑव ड्रामा

जिस प्रकार महत्व दिया जाता है, उसी प्रकार एकाँकी नाटक मे भी। एक आलोचक ने लिखा है कि कहानी और एकाँकी नाटक दोनो कलाओ का चरम लक्ष्य इस एक सन्धि बिन्दु समान है कि क्षणिक अवकाश मे हम अधिक-से अधिक आनन्द और मनोरजन प्राप्त कर सके। वस्तुत इस लक्ष्य बिन्दु पर कहानी और एकाँकी नाटक-कला मे कथा-वस्तु, पात्र और सवाद आदि तमाम तत्वो के होते हुए दोनो कला वस्तुएँ अपने रूप विधान मे भिन्न है। एकाँकी दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है। कहानी श्रव्य काव्य के अन्तर्गत एकाँकी से आनन्द और मनोरजन के लिए उन समस्त शिष्टाचारो को पूरा करना होगा जो एक सम्पूर्ण नाटक से आनन्द लेने की दिशा मे करना होता है। अर्थात् इस कला का सम्पूर्ण प्रभाव और इसकी स्वय की सम्पूर्णता रगमच की समस्त आवश्यकताओ की अपेक्षा करता है। इसमे से किसी भी अंग के अभाव से एकाँकी नाटक की आत्मा मारी जाती है और इसमे सम्पूर्ण प्रभाव की सृष्टि नही हो सकती। लेकिन कहानी-कला इन समस्त मान्यताओ से निरपेक्ष और स्वतत्र है। यह प्रत्येक रूप और दिशाओ से सर्वजन सुलभ है। इसमे एकाँकी नाटक की भाँति किसी की बाह्य स्थिति का प्रतिबन्ध नही है, परन्तु मूल तत्वो की दिशा मे एकाँकी नाटक कहानी-कला के बिलकुल समीप है। दोनो की तत्वगत मान्यताओ मे पूर्ण समानता है। दोनो कलाएँ एक ही सवेदना के धरातल से चलती हैं। दोनो ही कथा-वस्तुओ मे एक भाव और उस भाव से सम्बन्धित अनेक अनुभूतियाँ उसमे घनीभूत रहती हैं। ये अनुभूतियाँ घटना और पात्रो द्वारा व्यक्त होती रहती है। लेकिन एकाँकी कला मे अपेक्षाकृत घटना से अधिक शक्तिशाली पात्र होते हैं। क्योकि पात्रो के ही माध्यम से उनकी गति-शीलता, कार्य-व्यापार से नाटक की घटनाएँ और घटनाओ से सम्बद्ध सारी अनुभूतियाँ व्यजित होती हैं। सम्भाषण एकाँकी कला का मूल तत्व है। इसी से एकाँकी की संवेदना और उसकी सारी गति निर्धारित होती है। कहानी-कला मे एकाँकी के वे सारे तत्व तो होते ही है, इनके अतिरिक्त इस कला मे वर्णन, विवेचन और चित्रण के अन्य अधिकार प्राप्त हैं। एकाँकी कला अपनी शिल्पगत मान्यताओ मे सीमित होकर अपने चरम-लक्ष्य तक पहुचती है। कहानी-कला उसी धरातल से पूर्ण स्वतत्र और अधिक-से-अधिक शिल्पगत अधिकारो के साथ अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है। अतएव कहानी-कला मे एकाँकी कला की अपेक्षा पूर्ण सुगमता और सरलता के साथ एकान्त प्रभाव, मनोरजन और आनन्द प्रस्तुत करने की क्षमता अधिक है। आधुनिक कहानी-कला और एकाँकी-कला उत्तरोत्तर एक दूसरे के समीप होती जा रही है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि रगमच और अभिनय के अभाव से कहानी की भाँति एकाँकी भी पढने के लिए अधिक लिखे जा रहे हैं।

कहानी की भाँति एकाँकी भी मुख्यत पश्चिम की देन है, क्योकि सस्कृत आचार्यों ने उनका कही उल्लेख नही किया है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता

है कि एकाँकी नाटको के माध्यम से जीवन के किसी एक पक्ष, घटना, चरित्र, कार्य या भाव को कलात्मक रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वे सामाजिको के मन मे सहज ही घर कर जाते हैं और उन पर अपनी तीव्रानुभूति की प्रतिक्रिया छोड जाते हैं। एकाँकी नाटक मे आकार की सीमाएँ होती हैं। नाटक के समान होते हुए भी वे सीमित हैं, उनका एक प्रकार का लघुतम रूप है। इसमे केवल एक ही अक होता है। कहानी मे भी लगभग इन्ही तत्वो का समावेश करने का यथासंभव प्रयत्न किया जाता है। एकाँकी नाटक मे भी कहानी की भाति अधिकाँशत केवल एक आधिकारिक कथावस्तु होती है। इसमे दुरूहता या जटिलता का समावेश करने का प्रयत्न नही होता और प्रयास यही किया जाता है कि कथा का विकास सरल किन्तु तीव्र रूप मे हो। कहानी के अनुरूप इसमे भी प्रासगिक कथा का यथासभव बहिष्कार करने का प्रयत्न होता है। केवल एक ही घटना मुख्य होती है, जो अनेक सहायक घटनाओ की सहायता से अन्तिम परिणति की दिशा मे तीव्रतर रूप मे गतिशील होती है। स्पष्ट है कि सीमा की सीमितता के कारण इसमे अधिक पात्रो का समावेश नही हो सकता, अत' कम-से-कम पात्रो को लेकर कथा का निर्वाह करने का प्रयत्न किया जाता है। कहानी की भाति एकाकी मे भी प्राय मुख्य पात्र ही रखे जाते है, जिनका कथावस्तु से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। गौण पात्र या तो होते ही नही और अगर होते भी हैं, तो उनका मुख्य कथावस्तु मे महत्वपूर्ण स्थान होता है और मुख्य पात्रो से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पात्र किसी भी वर्ग से हो सकते है, पर एकाकी और कहानी दोनो मे उनका चरित्र-चित्रण यथार्थवादी ढग से ही होता है। दोनो का लक्ष्य विषय का एकत्व और समष्टि प्रभाव प्रतिपादित करना होता है। जिस प्रकार कहानीकार का उद्देश्य होता है कि जिस विषय को वह उठाए, उसे इस प्रकार प्रस्तुत करे कि अन्त मे कहानी पाठको के मन और मस्तिष्क पर तीखा और अमिट प्रभाव छोड जाए, इसी भाति एकाकीकार का उद्देश्य भी अपने एकाकी के अन्त को अधिक-से-अधिक प्रभावशाली बनाकर पाठको के हृदय-स्थल को झकझोर देना होता है।

एकाकी नाटको का सम्बन्ध मुख्यतया जीवन के यथार्थ से होता है, कहानियो का सम्बन्ध भी मुख्यतया जीवन से ही होता है। दोनो ही सामाजिक परिवेश से सूत्रों को लेकर प्राण ग्रहण करते है। एकाँकी का मुख्य लक्ष्य एकोन्मुखता को सुरक्षित रखना होता है, कहानी का भी सर्वप्रमुख उद्देश्य यही होता है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है कि जीवन के केवल किसी एक कोने मे झाँकने, उत्सुकता और कुतूहल, प्रभाव की अन्विति, सक्षिप्ति, स्वाभाविक तथा व्यावहारिक कथोपकथन, घटनाओ की नाटकीयता, चरम सीमा आदि की दृष्टि से कहानी एकाकी नाटक के बहुत समीप है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कहानी मे दृश्य परिवर्तन एकाकी

की अपेक्षा अधिक सम्भव है। कहानी मे पात्र आत्म-विश्लेषण कर सकता है। एकाकी मे यह सम्भव नही, क्योकि वह कार्य-प्रधान होना चाहिए। घटना, कथोपकथन, मार्मिक दृश्यो का चित्रण, घटनाओ और कथोपकथन द्वारा चरित्र चित्रण, चरम सीमा आदि की दृष्टि से कहानी और एकाकी नाटक मे समानता है।

कहानी और निबंध

पहले कहानी और निबध मे कोई विशेष समानता नही सिद्ध की जा सकती थी। कहानियो मे आग्रह सरसता एव सहजता की ओर होता है, पर निबधो मे विचारात्मकता और बौद्धिकता को। यो आज की नई कहानी भी अधिक बौद्धिक और विचार प्रधान होती है, इस दृष्टि से कहानी और निबध मे अधिक सामीप्य आया है। निबध शब्द हिन्दी मे सस्कृत से ग्रहण किया गया है। निबध गद्य का अन्यतम बौद्धिक रूप-विधान है, जिसमे पूर्ण स्वच्छन्दता सम्बद्धता एव प्रवाह के साथ सुगठित शैली मे किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है तथा जिस पर लेखक के व्यक्तित्व की अमिट छाप रहती है। एक सुविज्ञ के अनुसार निबध उस गद्य को कहते हैं, जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य लेखको के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए, जिसमे व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह अभिप्राय नही कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय। भावो की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाए, जो उसकी अनुभूति का प्रकृति या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे। निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर छूटी हुई सूत्र-शाखाओ पर विचरता हुआ चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार निबन्ध से तात्पर्य सच्चे साहित्यिक निबन्धो से है, जिसमे लेखक अपने आपको प्रकट करता है, विषय को नही। विषय तो बहाना मात्र होता है। निबधकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है, इसलिए सामाजिक परिस्थितियो का जैसा सीधा और स्पष्ट प्रभाव निबधो पर दिखाई पडता है, वैसा अन्य साहित्यिक रूपो पर नही। निबधकार बाह्य जगत् से प्राप्त अपनी सवेदनाओ को शीघ्र ही कम-से-कम परिवर्तित रूप मे यथासम्भव अन्य साहित्यिक रूपो की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से अपनी रचनाओ द्वारा प्रस्तुत करता है। उसका और पाठक का इतना सीधा सम्बन्ध होता है कि शैलीगत साज-सज्जा और कलात्मकता प्रदर्शित करने का उसे अधिक अवसर नही मिलता। अवश्य ही यह बात नैसर्गिक निबन्ध लेखक के लिए कही जा

सकती है।' एक विद्वान् ने निबन्ध को गति की प्रतिकृति' स्वीकारा है। एक अन्य विचारक ने निबन्ध को गद्य का असगठित एवं अव्यवस्थित रूप स्वीकारा है।[२] मन की उच्छृखल स्थिति की निबन्ध-साहित्यिक अभिव्यक्ति करता है। एक जानकार ने निबन्ध को ऐसी रचना-शैली के रूप मे स्वीकारा है, जिसमे पाठको को श्रोता समझ-कर निबन्धकार वार्तालाप करता है।[३] एक अन्य विचारक के अनुसार निबन्ध किसी विषय का सक्षिप्त विश्लेषण ही नही होता, बल्कि विषय से सम्बन्धित क्षणो मे लेखक के मानसिक भावो का प्रकाश मे भी—उसमे पाते हैं। वैयक्तिकता इसकी सर्वप्रमुख विशेषता होती है।[४] इन सभी परिभाषाओ पर विचार करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि निबन्ध मे लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। लेखक अपने वैयक्तिक भावो का चित्रण करता है, जिसमे उसे पूर्ण स्वच्छन्दता होती है। निबन्ध का (Subjective) होना आवश्यक होता है। निबन्ध के लिए सुगठित शैली, स्पष्ट विचार-प्रवाह, गम्भीर बौद्धिक चेतना एव विषय वस्तु का पूर्ण ज्ञान आवश्यक होता है।

यदि इस दृष्टि से कहानी को देखे, तो हमे पर्याप्त वैषम्य दिखाई पड़ेगा। कहानी मे गम्भीर बौद्धिक चेतना को सरसता एव सहजता के शिल्प मे ढालना पडता है। कहानी मे लेखक का व्यक्तित्व इतना स्पष्ट नही हो पाता, जितना सामाजिक यथार्थ। यह सत्य है कि उस यथार्थ की व्याख्या-विश्लेषण एव चित्रण वह अपनी

---

१ "The essays as a literary form resembles the lyric in so for as it is moulded by some central mood, whimsical serious on saterical. Give ihe mood and the essay from the first sentence to the lost, grows around it is the coceon grows around the silk worm "

—एलेक्जेण्डर स्मिथ · ऑन द राइटिंग ऑव ऐसे नामक लेख मे

२ "A loose sallv of mind, an irregular ineigested piece. not a regular and orderly performance "

—डॉ० जॉनसन

३. "It is an intimate confessional style of composition where the writer takes the reader in to confidence and talks as if to any one listener , talks to about things after essentially trivial and yet making them for the moment interesting by the charm of speakers manner "

—डब्ल्यू० एल० फैलप्स

४ "The essay proper or literary essay is not merely short analysis of a subject, nor a mere epitone, but rather a picture of wandering minds affected for the moment by the subject with which he is dealing its most distinctive feature is the egoistical element "

—हॉलवर्ड एव हिल

भावधारा के अनुरूप ही करता है, पर निबन्ध की भाँति कहानीकार का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन नही होता, वरन् जीवन और समाज को सशक्त अभिव्यक्ति देना। निबन्धो मे पात्र, कथोपकथन, घटनाएँ आदि नही होते, मात्र विचार ही विचार होते है और उनका शुष्क एवं बौद्धिक प्रस्तुतीकरण होता है। इसके विपरीत कहानी का सगुफन ही इस प्रकार होता है कि उसका लक्ष्य चरम उत्कर्ष पर पहुचते-पहुचते प्रभावशाली एव नाटकीय ढग से अभिव्यक्त हो सके। कहानी मे चरम उत्कर्ष को अधिक-से-अधिक रोचक एवं नाटकीय बनाने के लिए कहानीकार निरन्तर प्रयत्नशील होता है, जबकि निबन्ध मे न कोई चरम उत्कर्ष होता है और न इस प्रकार की कोई प्रयत्नशीलता ही। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि किसी विषय अथवा समस्या को लेकर उस पर अपनी ओर चिन्तन, व्याख्या और विश्लेषण करने की व्याख्या को निबन्ध कहते हैं। इसमे एक भाव अथवा एक ही समस्या मुख्य होती है और उस पर व्यक्तिगत विचार प्रस्तुत करना निबन्ध कला की शोभा है। इस तरह निबन्ध कला व्यक्तित्व प्रधान होती है। यह तत्व वस्तुत कहानी के तत्व के समान है। अर्थात् निबन्ध और कहानी का भाव-पक्ष प्राय समान होता है। लेकिन उसका प्रतिपादन और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति दोनो कलाओ मे विभिन्न रूप से होती है। कहानी-कला उस भाव अथवा समस्या के चित्रण विश्लेषण के लिए उसके अनुरूप एक कथा-वस्तु ढूँढेगी और उसे आकर्षण इतिवृत्ति मे बाँधेगी। पात्रो और घटनाओ के माध्यम से उसमे आश्चर्यजनक सजीवता और गति पैदा होती है। कौतूहल जिज्ञासा वृत्ति से समूचे कहानी के कार्य-व्यापार मे आकर्षण उपस्थित होता है और अन्त मे कहानी अपने सामूहिक प्रभाव के साथ लक्ष्य के चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। इस प्रकार हमे सजीव और व्यावहारिक रूप से उदाहरण सहित किसी भी विषय और समस्या का हल, उस पर कलाकार का दृष्टिकोण ज्ञात हो जाता है। निबन्ध मे इन कलागत तत्वो का अभाव रहता है इसमे केवल विषय समस्या से सम्बन्धित बौद्धिक विश्लेषण सूखे ज्ञान, तर्क और व्याख्या के अश होते हैं। इसके विपरीत डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की धारणा है कि कल्पना, आदि-अन्त, सक्षिप्ति, प्रभाव, स्वाभाविकता आदि की दृष्टि से कहानी और निबन्ध मे समानता है। किन्तु निबन्धकार कुछ-कुछ विचारात्मकता की ओर झुका रहता है। वास्तव मे कहानी और निबन्ध मे बहुत थोडी सी समानता के अतिरिक्त और कोई समानता नही है। दोनो की दिशाएँ भिन्न-भिन्न हैं, दोनो की जातीय विशेषताएँ भिन्न हैं और दोनो मे रूपगत समानताएँ भी कुछ विशेष नही है। दोनो की शैलियो मे भी बहुत वैषम्य है।

कहानी और कविता

कहानी मे पाठको के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र घटनाओ का सगुफन और चरमोत्कर्ष होते हैं, जबकि कविता भावो के प्रति अधिक आग्रहशील होती हैं।

कविता का आनन्द उठाने के लिए मानसिक परिष्कार की आवश्यकता होती है, कहानी के लिए इस प्रकार की कोई बाध्यता नही होती। कहानी और कविता के शिल्प मे भी यथेष्ट अन्तर होता है। कविता मे रचना-विधान, भाव-विधान, छन्दो अलकारो आदि का विधान कुछ दुरुह एव जटिल होता है जबकि कहानी का शिल्प इतना जटिल नही होता। कविता कल्पनाशील होती है, इसीलिए जीवन से पलायन होती हैं, कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है अत वहाँ पलायन का प्रश्न ही नही खडा होता साहित्य मे काव्य का अन्यतम महत्व है। सस्कृत आचार्यों ने तो काव्य को इतना महत्व प्रदान किया कि काव्य एव साहित्य को पर्यायवाची शब्द स्वीकार लिया है। उन्होने वस्तुत काव्य एव साहित्य मे कोई मूलभूत अन्तर नही माना है। इसीलिए जो परिभाषा उन्होने काव्य की दी है, वही साहित्य का भी। इन आचार्यो मे राजशेखर, मुकुलभट्ट और मखक आदि प्रमुख हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास के अनुसार भिन्न-भिन्न काव्य कृतियो का समष्टि सग्रह ही साहित्य है। इसी विचार से सग्रह रूप मे जो साहित्य है। मूलरूप मे वही काव्य है। किसी देश विशेष मे किसी काल विशेष मे अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे जाते हैं वे ही उस देश के उस काल के साहित्य कहलाते हैं। साहित्य और काव्य मे केवल व्यवहारिक भेद मानना चाहिए। स्पष्ट है काव्य साहित्य का व्यष्टि रूप है। इसे और भी स्पष्ट रूप मे कहना चाहे तो कह सकते हैं कि काव्य साहित्य का व्यापकतम रूप है। किसी देश मे काव्य–कृतियो का निर्माण होता रहता है और यही सृजन प्रक्रिया अपने सग्रहीत रूप मे आगे चलकर साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं। यह काव्य सृजन कभी गद्य रूप मे होता है तो कभी पद्य रूप मे। यह लेखनीय माध्यम का स्वरूप है। काव्य का स्वरूप अत्यन्त ही विस्तृत होता है, जब कि कहानी का रूप सक्षिप्त होता है। काव्य मे श्रव्य काव्य एव दृश्य-काव्य दोनो का ही समावेश हो जाता है, कहानी मे ऐसा नही होता। समझा जाता रहा है कि काव्य और साहित्य समानार्थी हैं। काव्य ग्रन्थो का प्रणयन ही साहित्य सृजन का प्रारम्भिक स्वरूप है। प्राय भ्रमवश काव्य को अपने-अपने अर्थो मे तोड मरोड कर उसके महत्व को न्यून करने की चेष्टा की जाती है, पर उसे दुराग्रह के अतिरिक्त कुछ और नही कहा जा सकता। अब प्रश्न उठता है कि काव्य का स्वरूप क्या है? अर्थात् काव्य की परिभाषा क्या हो? श्रीमद–भागवतगीता मे कहा गया है।

अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित चयत्।
स्वाध्याभ्यसन चैव वाङमय तप उच्यते।

—गीता १७-१५

अर्थात् काव्य अनुद्वेगपूर्ण होता है, एवं उसमे सत्य, शिवम् एव सुन्दरम् की भावना का समावेश होता है। भामह ने काव्य को शब्दार्थौसहितोकाव्यम् कहा है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे काव्य के सम्बन्ध में कहा है।

> **मृदुललित पदाढ्य गूढशब्दार्थहीन,**
> **जनपदसुखबोध्य मुक्तिमभृत्योज्यम् ।**
> **बहुकृतरसमार्ग सन्धिसन्धामयुक्त,**
> **स भवति शुभकाव्यं नाटकपेक्षकाणाम् ।।**

अर्थात् काव्य मृदु एव ललित पदो से मुक्त होता है। गूढ एव दुरूह शब्द एव अर्थ का इसमे समावेश नही होता है। काव्य सबके लिए आनन्ददायक होता है। वह रस की ऐसी अविकल धारा का प्रवाह करता है, जिसका नृत्य मे सफलतापूर्वक प्रयोग होता है तथा वह सन्धियो के सन्धान से पूर्ण होता है। जिस काव्य मे इन सभी विशेषताओ का समावेश होता है, उसे ही श्रेष्ठ काव्य की सज्ञा से विभूषित किया जा सकता है काव्य के इस स्पष्टीकरण से कहानी के साथ उसके सम्बन्धो को स्पष्टतया समझा जा सकता है। दोनो मे जातिगत एव रूपगत समानताएँ कुछ विशेष नही प्राप्त होती हैं। कहानी गद्य विद्या है, जबकि कविता पद्य-बद्ध रचना है। कविना भाव जगत की उन सचित अनुभूतियो का मूर्त रूप है, जिनकी अभि-व्यक्ति मे कल्पना प्रमुख भाग लेती है। कहानी जीवन के किसी विशिष्ट सत्य के प्रकाशन के उद्देश्य से लिखी जाती है, इसलिए उसमे कविता की अपेक्षा चिन्तन और मनन का अश प्रधान रहता है। कविता केवल भाव या दृश्य चित्रण पर जीवित रह सकती हैं कहानी नही।.कहानी का भावात्मक अश कविता ही है। पर कविता मे सम्भाव्य सत्य की प्रधानता रहती है और कहानी मे सामान्य दैनिक जीवन की सजीव सत्यता। कविता मुक्तक काव्य हैं। अत घटनाओ की असम्बद्धता का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु कहानी को सगठित रूप मे एक निश्चित परिणाम पर पहुचना चाहिए। कल्पना भाव और बुद्धितत्व से समन्वित होने पर भी कविता में बुद्धि तत्व कहानी की अपेक्षा कम ही होता है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुनने वाला किसी भाव मे मग्न रहता है और कभी-कभी बार–बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना जानने के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है जरा फिर तो कहिए' कहानी सुनने वाला कहता है 'हाँ, तब क्या हुआ ?'इस 'जरा फिर तो कहिए' और 'हाँ, तब क्या हुआ'से ही कविता और कहानी का सारा अन्तर स्पष्ट हो जाता है। साथ ही हमे यह नही भूलना चाहिए कि कहानी मे घटना की और विशेष ध्यान दिया जाता है, रमणीयता की ओर अपेक्षाकृत कम बहुत सी कहानियाँ ऐसी देखने मे आई हैं। जिनके विशेष स्थलो को हम पढ तो जाते हैं, लेकिन उनके मन को तृप्ति नही मिलती। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ कहानी मे कौतूहलवृत्ति की प्रधानता रहती है, वहाँ कविता मे रमणवृत्ति का

ध्यान रखा जाता है। कहानी मे रमणवृत्ति गौण रहती है।

कविता मे रस का साधारणीकरण होता है और यह उसकी प्रमुख विशेषता होती है। कहानी मे सहजता तथा सरसता रखने की भरसक चेष्टा की जाती है[1] पर आज की नई कहानी मे रस का साधारणीकरण जैसी कोई बात सोची जा सकती—इस दृष्टि से स्थिति मे बहुत परिवर्तन हो गया है। प्रेमचन्द काल मे कहानियो मे भी एक विशेष प्रकार का रसोद्रेक आवश्यक समझा जाता था, पर आज की नई कहानी इस सीमा से आगे बढ आई है और इसे अनिवार्य नही समझती कहानी मे चरमोत्कर्ष होता है, नाटकीयता होती है, पर कविता मे न तो चरमोत्कर्ष होता है और न नाटकीयता की ही कोई विशेष आवश्यकता समझी जाती है।

कहानी और खण्ड-काव्य

कहानी और कविता मे जितनी असमानता है, कहानी और खण्डकाव्य मे इतनी ही समानता है। खण्डकाव्य मे भी कहानी की भाँति किन्ही संवेदनाओ पर बल दिया जाता है, कुछ पात्रो को लेकर एक कथावस्तु का निर्माण होता है, जिसमे कुछ घटनाएँ और स्थितिया होती हैं और उनमे कहानी की ही भाँति परस्पर सगुफन इस प्रकार करने की चेष्टा की जाती है कि प्रभावित (unity of impression) बनी रही लण्ड-काव्य मे भी एक प्रकार का चरम उत्कर्ष होता है। ठीक कहनियो की भाँति और कौतूहलता तथा प्रवाह को बनाए रखने की प्रयत्नशीलता होती है, पर प्रधानत शैलियो को लेकर कहानी और खण्ड-काव्य मे विभिन्नता भी लक्षित होती है। खण्ड-काव्य मे उपन्यास या महाकाव्य की भाँति जीवन के विस्तृत पक्षो का चित्रण नही होता और न उसका परिवेश ही उतना व्यापक होना है। साहित्य दर्पण काव्य मे लिखा है; 'खण्ड-काव्य' भवेत्काव्यस्यमैकदेशातुसारि च अर्थात् देश की किसी प्रधान घटना का खण्ड-काव्य मे चित्रित होता है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार तन्तु घटना प्राधान्यात खण्ड-काव्यमिति स्मृतम् अर्थात् खण्ड काव्य किसी घटना विशेष को लेकर लिखा जाता है। खण्ड-काव्य मे इस प्रकार एक ही घटना की प्रधानता रहती है और मानव जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण होता है।

1 "The story-teller has found a warm welcome and an eager audience in all ages and all countries Young and old the cultured and the illiterate—every one succumbs to the spell which the story-teller casts upon us The craving for a story is ingrained in us It is in consequence of this that the story-telling tradition has suffered no break at any time and flourishes alike in the East and West ?"

—आर० के० लागू. इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न फ्रॉम ईस्ट एण्ड वेस्ट

यह महाकाव्य का सीमित रूप होता है। महाकाव्य के जिन लक्षणो को अनिवार्य समझा जाता है, खण्ड काव्य मे वे अत्यन्त सीमित रूप मे स्वीकार किए जाते हैं। खण्ड काव्य मे रस सम्बन्धी कोई अनिवार्य नियम नही है। उसमे किसी भी एक रस का परिपाक प्रधान रूप से ही दिखाया जा सकता है। खण्ड-काव्य के लिए यह आवश्यक नही है कि वे सर्गबद्ध ही हो। वे सर्गबद्ध हो भी सकते है, नही भी। छन्द योजना सम्बन्धी अनिवार्यता खण्ड-काव्य मे नही है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त मे छन्दो मे परिवर्तन हो ही जाए। खण्ड-काव्य मे एक प्रभावान्विति (unity of impression) होती है।

खण्ड काव्य की इन प्रमुख प्रवृतियो की कहानी की प्रवृतियो से परस्पर तुलना की जाए, तो साम्य और वैषम्य अधिक स्पष्ट हो जाता है। खण्ड-काव्य पद्य बद्ध रचना होती है, जबकि कहानी गद्य की विधा है। खण्ड-काव्य मे रस-छन्द अलंकार पिगल आदि का होना अनिवार्य होता है, जबकि कहानी का शिल्प इससे नितान्त भिन्न होता है। खण्ड-काव्य मे भावना और कल्पना को ही अधिक प्रश्रय दिया जाता है, जबकि कहानी जीवन के यथार्थ को लेकर चलती हैं। इन वैषम्यो के अतिरिक्त कहानी और खण्ड-काव्य मे कुछ साम्य भी है, जिनमे से कुछ की चर्चा ऊपर की गई है। खण्ड काव्य के समान ही कहानी मे भी किसी एक घटना या सवेदना पर बल दिया जाता है और दोनो मे ही प्रभाव की अन्विति (unity of impression) का होना अनिवार्य समझा जाता है।

कहानी और रेखाचित्र

रेखाचित्र किसी चित्रकार की तालिका द्वारा खीचे गए चित्र के समान होता है। जिसमे किसी अनुभूति के माध्यम से रेखाओ के जाल मे अन्तर्हित मार्मिक सजीवता लिए हुए एक शब्द चित्र अकित किया जाता है। रेखाचित्र किसी वस्तु, व्यक्ति, या घटना का चित्राकन है। भावमय रूपविधान है, जिसमे व्यग अनुभूति एव शाब्दिक चित्रो की प्रधानता रहती है। रेखाचित्र मे एक-एक शब्द का अपना महत्व होता है। कोई शब्द इसमे निरर्थक नही होता वे सभी समर्थ, प्राणवान एव अनूठे अर्थों की मार्मिक अभिव्यजना करने वाले होते हैं। रेखाचित्र लिखने के लिए कलाकार की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि हृदय का सवेदनशील एव भाव-प्रवण होना अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी व्यक्ति का रेखाचित्र सफल कलात्मक ढग से लेखक ज्यो-का-त्यो इस प्रकार खीच देता है कि पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह व्यक्ति हमारे नेत्रो के सम्मुख खडा है। इसमे लेखक के शिल्प का बडा महत्त्व होता है। वह प्रकृति की जड अथवा चेतन किसी भी वस्तु को अपने शब्द-शिल्प से सजीव कर देता है। जिस आदमी को जीवन के विविध अनुभव प्राप्त नही हुए, जिसने आँख खोलकर

दुनिया को नही देखा, जिसे कभी जीवन-सग्राम मे जूझने का अवसर नही मिला। जो ससार के भले-बुरे आदमियो के ससर्ग मे नही आया, मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों का जिसने अध्ययन नही किया और जिसने एकान्त मे बैठकर जिन्दगी मे भिन्न-भिन्न प्रश्नो पर विचार नही किया, भला वह क्या सजीव और यथार्थ चित्रण कर सकता है। रेखाचित्र कला की चरम अभिव्यक्ति है।

कहानी और रेखाचित्र मे बहुत कुछ अशो तक समानता है। बहुधा आज की नई कहानी भी रेखाचित्र ही बन जाती है। एक प्रकार से रेखाचित्र कहानी शिल्प का सहायक बनकर ही आता है और रेखाचित्रो के शिल्प से कहानीकार प्राय. सहायता लेते है। रेखाचित्रो की ही भाँति कहानी को भी सवेदनशील होना पडता है। और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण को लेकर गतिशील होना पडता है। कथावस्तु की पूर्ति, चरित्राकन एव अनुकूल वातावरण के निर्माण मे रेखाचित्र की बहुत सी विशेषताओ का समाहार हो जाता है।

इन अनेक साहित्य रूपो से तुलना करके कहानी विधा का महत्व सिद्ध किया जा सकता है। वह आधुनिक गद्य विकास की सभी भाषाओ मे अनन्यतम देन है और जिसके लिए उच्चकोटि के कलात्मक कौशल की आवश्यकता होती है। एक आलोचक के अनुसार[१] पुराने लेखक उन सिद्धान्तो से पूर्णतया अपरिचित थे, जो कहानी कला के रूप को नियत्रित करते हैं। उसने अपना कार्य अपार सफलता एव दक्षता के साथ सम्पन्न किया होता, किन्तु वह नितान्त रूप से असफल रहा क्योकि उसने उसके कारण रूप की उपेक्षा करके दायित्वहीन ढंग से दिशोन्मुख होने की चेष्टा की थी। कहानियो मे जिस मनोरंजक सामग्री एव नित्य-प्रति के जीवन की जिन समस्याओ का वर्णन रहता है, उसे पढ कर हम उल्लसित होते हैं, इनसे भी अधिक हम उस ज्ञान तथा सत्य से परिचित होने के लिए उन्हे पढते हैं जिनका वे वाहक

---

1 "In a word, the old writer was entirely unconscious of the principles which control the short story form He might have accomplished his word with superb success, but he did it without worrying about the formal, technical side of his art We enjoy these old stories for their delightful subject-matter, the quips and quirles, which flash through them and best of all, for the teaching of knowledge and experience which is enshrined in them. The modern story-teller is conscious of his art to his finger-tips He deliberately plans certain emotional, intellectual and humorous effects and strains every nerve to attain them"

—आर० के० लागू इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न स्टोरीज फॉर ईस्ट एण्ड वेस्ट

होती हैं। आधुनिक कहानीकार कहानी शिल्प को सर्वाधिक महत्व प्रदान करता है और अपनी सूक्ष्म अन्तंदृष्टि तथा पूर्ण सावधानी के साथ भावुकता, बौद्धिक एव हास्य-व्यग्य अशो को कुशलतापूर्वक सगुफित करके उस कला का निर्वाह करता है। कहानी आज के युग मे उपन्यासो से भी अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। इसका प्रमाण हिन्दी मे ही अनेक कवियो के कहानियो के क्षेत्र मे आगमन से दिया जा सकता है। आज की नई कहानी भी सर्वाधिक लोकप्रिय एव अन्य साहित्यिक विधाओ की तुलना मे अपार सफलता इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत करते है कि कहानी आगत की कितनी सम्भावनाओ को लेकर गतिशील हो रही है।

२

कहानी-शिल्प और प्रकार

शिल्प का स्वरूप

कहानी लिखने के लिए कहानीकार को कही भटकना नही पडता। वह जो जीवन जीता है। उसी से कहानियो की प्रेरणा भी लेता है। उस जीवन से किसी सवेदनशील घटना को चुन लेता है और इसे शब्दो मे अत्यन्त सूक्ष्मता एव कुशलता से बाँधने का प्रयत्न करता है। इसके लिए अनेक उपकरण जुटाने पडते हैं जिनका एक प्रकार से कहानी शिल्प मे समाहार हो जाता है। ये विभिन्न उपकरण ही वस्तुत. कहानी के तत्व होते है, जिनसे मिलकर एक कहानी की रचना होती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कहानीकार कहानी लिखते समय इन तत्वो का पहले गहन् अध्ययन कर फिर कहानी लिखने की दिशा मे अग्रसर नही होता, वरन् श्रेष्ठ कहानी मे ये सभी तत्व तो स्वयमेव आ जाते हैं और कहानी-शिल्प का स्वरूप निर्धारित हो जाता है। कहानियाँ मानव जीवन से असम्पृक्त होकर नही जीती। कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है अत. उसके सम्बन्ध मे कोई निश्चित नियम बना लेना अत्यन्त कठिन होगा। वस्तुत भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव मन की अभिव्यक्ति सरलता से हो जाती है और वह किसी नियम की अपेक्षा नही करती, पर तब भी समीक्षा-शास्त्रियो ने कहानी लिखने के शिल्प का स्वरूप निश्चित कर दिया है, जो कमोबेश सभी कहानियो मे आ जाता है। साधारणतया कथानक, कथोपकथन पात्र एव चरित्र-चित्रण; देशकाल अथवा वातावरण; भाषा शैली एव जीवन-दर्शन आदि कहानी शिल्प के प्रमुख तत्व स्वीकारे जाते है। पर यह आवश्यक नही है कि जब तक इन तत्वो का पूर्ण समावेश किसी कहानी मे न किया जाय, तब तक उसे कहानी की सज्ञा से अभिहित नही किया जा सकता। आज केवल कुछ चरित्रो को लेकर ही कहानी की रचना की जाती है। कुछ रेखाएँ या विचार मात्र ही कहानी का स्वरूप धारण कर लेती है। विचारोत्तेजक रेम्बलिग या बिना कथानक के भी कहानी रची जाती है। मात्र वातावरण को ही फुलाकर कहानी का रूप देना आज लोकप्रिय है ही। इस प्रकार स्पष्ट है कि कहानी लिखने

मे कोई नियम विशेष बना कर कहानीकार को उन नियमो की परिधि मे नही बाँधा जा सकता, फिर भी कहानियो मे अधिकाँशत. ऊपर गिनाए गए शिल्प-तत्वो का किन्ही-न-किन्ही रूपो मे समावेश हो ही जाता है।

कहानीकार के शिल्प ज्ञान से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है कि वह जीवन यथार्थ से परिचित हो। प्रश्न उठता है कि क्या इस बात के लिए कहानीकार अपने पास एक नोटबुक रखे ? कुछ विद्वानो ने इसकी उपयोगिता सिद्ध की है[1] पर मैं समझता हू, आधुनिक युग मे शायद ही कोई कहानीकार नोटबुक रखता है। कहानी लिखने के कई नियम बताए गए है[2], पर नोटबुक रखने वाली बात कुछ बहुत उपयोगी नही प्रतीत होती। हालाकि प्रेमचन्द ने भी इसकी महत्ता स्वीकारते हुए एक स्थान पर लिखा है, 'लेखको के लिये नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियो के लेखक ने कभी नोट-बुक नही रखी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक मे दर्ज कर लेने से बडा काम निकलता है।···यदि लेखक चाहता

1. "The student would do well, therefore, to keep a note-book in which he should jotdown not only ideas on the theory of the short-story and impressions of stories which have especially interested him, but more particularly all the material he has on hand for original work names, traits, features, faces, characters , places suitable for story setting , interesting situations, incidents, anecdotes illustrative of character , bits speech that have dramatic force , ideas for the construction of ingenious plotes , or ideas and impressions which will serve as central themes for stories "

—ई० एम० अलब्राइट : द शॉर्ट स्टोरी, (१९२०) पृष्ठ २४-२५

2. 'There are, so far as I know, three ways and three ways only of writing a story You may take a plot and fit characters to it, or you may take a character and choose incidents and situations to develop it, or lastly you must bear with me while I try to make this clear—(here he made a gesture with his hand as if he were trying to shape something and give it outline and form)—you may take a certain atmosphere, and get actions and persons to realise it. I will give you an example—'The Merry Men ' There I began with the feeling of one of those Islands on the West Coast of Scotland, and I gradually developed the story to express the sentiment with which that coast affected me "

—ग्राहम बाल्फोर : लाइफ़ ऑव स्टीवेन्सन (भाग दो) पृष्ठ १६९

है कि उसके दृश्य सजीव हो, उसके वर्णन स्वाभाविक हो, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पडेगा।' यह ठीक है कि कहानीकार को अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से उन चीजो की भी परख करनी पडती है, जो साधारणत उपेक्षणीय समझे जाते हैं। उसकी दृष्टि वास्तव मे सूर्य की रश्मियो की भाँति होती है, जो वहाँ भी पहुचती है, जहाँ कवि भी पहुँचने मे समर्थ नही होता। अपने चारो ओर के लोग, समाज उनकी परिस्थितियाँ, समस्याएँ, विशेषताएँ अथवा विकृतियाँ यदि उसका ध्यान आकर्षित नही कर पाती, तो वह लेखक दायित्वहीन ढग से पलायनवादी बन जाता है। महान लेखक जीवन-सघर्षो से तप कर ही बनते है और उन्ही सघर्षों के यथार्थ को अपनी कहानियो मे मुखरित करता है।

कहानी के लिए कल्पना, प्रेम, सौन्दर्य, हास्य-व्यग्य आदि का भी विधान करने का प्रयत्न किया जाता है, पर ऐसी बाध्यताएँ अर्थहीन होती है। कहानीकार किसी एक घटना से कुछ प्रभाव ग्रहण करता है और उसे कहानी का रूप दे देने का प्रयत्न करता है।[1] ऐसी सभी घटनाओ का कोई उद्देश्य होता है[2], जिन्हे कहानीकार अपनी कहानियो के लिए चुनता है। हालाँकि सोद्देश्यता भी कहानी की रचना-विधान मे अनिवार्य नही समझी जाती और हिन्दी मे ही ऐसे अनेक कहानीकार है, जो उद्देश्यहीन कहानियाँ लिखकर ही अपना उद्देश्य पूरा कर लेते हैं, पर इस सम्बन्ध मे मेरा निश्चित मत है कि कहानी मे सोद्देश्यता का होना वाँछनीय ही नही, उसके शाश्वत गुणो की दृष्टि से अनिवार्य भी होता है। कहानीकार अपने समाज का भोक्ता भी होता है और दृष्टा भी। उसे विषमताओ एव परिस्थितियो से ऊपर उठकर

---

1 "Plot starts most commonly with an idea originating in the impression made by a single incident, in a situation experienced or invented in a chance mood or fancy, or in a conception of character The starting point for the plot may be called the story theme, the idea, the plotgerm,or the motive,is meant whatever in the material has served as the spur of stimulus to write the moving force of a story in short its reason for existence"

—ई० एम० अल्ब्राइट, द शॉर्ट स्टोरी, (१९२०), पृष्ठ २८

2 "A dramatic incident or situation , a telling scene, a phase of character , a bit of experience , an aspect of life, a moral problem —any one of these, and innumerable other motives which might be added to the list, may be made the nucles of a thoroughly satisfactory story"

—विलियम हेनरी हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (मार्च १९६०)। लन्दन, पृष्ठ ३३१

अपने चारो ओर के परिवेश और लोगो को यथार्थ वाणी देनी पड़ती है और जब तक उसकी प्रतिबद्धता सोद्देश्यता को साथ लेकर गतिशील नही होती, इस महती दायित्व का निर्वाह वह नही कर सकता। इसी सदर्भ मे यह बात भी मैं स्पष्ट कर दू कि कहानीकार के पास एक निश्चित जीवन दृष्टि होनी चाहिए और यथार्थ को पहचानने की क्षमता होनी चाहिए, नही तो वह अपने युग बोध एव भाव-बोध के विभिन्न आयामो को उचित सगति एव यथार्थ परिप्रेक्ष्य मे सशक्त अभिव्यक्ति दे सकने मे कभी भी समर्थ नही हो सकेगा।

शिल्प का वर्गीकरण

कहानी-शिल्प का वर्गीकरण अनेक प्रकार से करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि मैने ऊपर सकेत किया है, अन्य बातो के अतिरिक्त कुछ लोग कल्पना, प्रेम, सौन्दर्य, हास्य-व्यग्य आदि को भी शिल्प-अग के रूप मे स्वीकारना चाहते हैं, पर यह पूर्णतया भ्रामक है। कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है, वह काल्पनिक हो ही नही सकती। आवश्यक नही है कि प्रेम के बिना कहानी लिखी ही न जा सके। प्रेमचन्द काल से नई कहानी तक अनगिनत कहानियो के उदाहरण दिये जा सकते है, जो प्रेम कहानियाँ नही है। सौन्दर्य की भी निश्चित परिभाषा देनी कठिन है और न उसे कहानी के लिए बाध्यता के रूप मे ही स्वीकारा जा सकता है। यही बात हास्य-व्यग्य के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। हास्य-व्यंग्य वाली कहानियो की एक अलग कोटि हो सकती है, पर प्रत्येक कहानी मे इसे अनिवार्य रूप मे खोजा नही जा सकता। कुछ कहानीकार सामाजिक विकृतियो पर व्यग्य शैली मे प्रहार करते है, पर यह उनकी अपनी व्यक्तिगत विशेषता होती है, इसे कहानी-शिल्प का अनिवार्य अग नही स्वीकारा जा सकता। प्रमुख रूप से शिल्प का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है :

१. कथानक
२. पात्र एवं चरित्र-चित्रण
३. कथोपकथन
४. वातावरण
५ जीवन-दर्शन
६. भाषा शैली

यहाँ कहानी-शिल्प के तत्वों का विवेचन शास्त्रीय मान्यताओ के आधार पर किया गया है। प्रत्येक युग में शिल्प का रूप किस प्रकार परिवर्तित होता रहा है, इसका विवेचन प्रत्येक युग की शिल्पगत प्रवृत्तियो मे आगे यथानुसार किया गया है। यहाँ युग के आधार पर कोई विशेषण नहीं है। जैसे नई कहानी मे कथानक का ह्रास लक्षित होता है, यहाँ की व्याख्या को नई कहानी पर लागू नही करना चाहिये।

कथानक

कथावस्तु कहानी की रीढ़ है। कहानी मे कोई न कोई कथा होती है। कहानी मे जो भी विषय लिया जाए, उसका स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिये कि उसे कम-से-कम समय मे अपनी पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया जा सके। कथावस्तु के लिये अधिक विस्तृत विषय लेना इसलिये उचित नही होता क्योकि उसका विस्तार हो जाने का भय रहता है। और यदि उसे सूक्ष्म बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो उसमे भावो का पूर्ण प्रकाशन और कथावस्तु का स्वाभाविक विकास नही हो पाता। इस विषय निर्वाचन की कसौटी के सम्बन्ध मे पाठको की रुचि-अरुचि का भी ध्यान रखना चाहिये। इसे दूसरे शब्दो मे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि ऐसी कथावस्तु न चुनी जानी चाहिये, जिसके सम्बन्ध मे इस बात की सम्भावना हो कि वह पाठको के लिये अरुचिकर सिद्ध होगी। कहानीकार का महत्वपूर्ण दायित्व होता है। वह वही जीवन जीता है, जो साधारण मानव जीते हैं। वह उन्ही साधारण मानवो के बीच रहकर उनके कार्य-व्यापारो, उनके मनोविज्ञान एव गतिविधियो आदि का अध्ययन करता है और उन्हे अपनी कहानियो मे यथार्थ ढग से चित्रित करता है। अच्छा यही होता है, जब कहानीकार मानव-जीवन के ही किसी पक्ष को कथावस्तु के लिये लेता है और उसमे किसी मानवीय संवेदना को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। कथावस्तु का सुस्पष्ट होना, सतुलित होना और विषय प्रतिपादन से पूर्ण होना आवश्यक होता है। यहाँ भ्रम नही उत्पन्न हो ा चाहिये कि कहानी मे किसी एक ही पक्ष या घटना का चित्रण करना अन्तिम रूप से आवश्यक होता है। इनमे किसी चरित्र के एक पक्ष या अनुभव या किसी घटना का भी चित्रण हो सकता है। मुख्य बात यह होती हैं कि कहानीकार का शिल्प किस प्रकार का है अर्थात् इन सब बातो को वह प्रस्तुत किस प्रकार करता है? कथावस्तु मे जब मानवीय अन्तर्द्वन्द्व एव मनोवैज्ञानिक भावो का चित्रण होता है, तब उसमे और भी सूक्ष्मता आ जाती है।

कहानी मे कथानक के महत्व को कुछ ने अस्वीकारा है[1], पर कुछ ने इसे बहुत महत्व प्रदान किया है। वास्तव मे कथानक का स्वरूप एक नदी की भाँति होता

1. "With or without your kind permission I will kick the word 'plot' right into the sea, hoping that it will sink and never re-appear It is the most deceptive word in the Targon of the art, craft, or what would you As a noun it usually means nothing more or less than story-outline or synopsis. As a verb it means to shape or plan. I note ambiguities, and so I am substituting 'story outline' for the noun, and 'devise' for the verb"

—फ्रान्सिस विवियन : क्रिएटिव टेकनीक इन फिक्शन (१६४६), पृष्ठ ४२-४३

है, जिसमे पात्र, घटनाएँ आदि इस प्रकार सहज, पर कलात्मक ढग से प्रवाहित होती हैं कि बिना किसी अवरोध या गतिरुद्धता के पाठक सहज ढग से अन्त मे जाकर रुक पाता है और तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी सत्य या यथार्थ की तीखी प्रतिक्रिया अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढग से जैसे उसे उद्वेलित कर रही है और वह अपने को उसके प्रभाव मे अवश-सा पाता है। कहानियो का यह सर्वथा साधारण, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व होता है, जिसमे घटनाओ का, जो साधारणतया जीवन के यथार्थ को प्रतिध्वनित करती हैं, कुशल ढंग से सगुफन होता है। पहले यह बात सर्वमान्य ढंग से स्वीकार कर ही आगे कहा जाता था कि कहानी का मूलभूत आधार कथानक ही होता है, जिसके बिना सत्य तो यह है कि कहानियो का अस्तित्व सम्भव ही नही होता। यहाँ कहा जा सकता है कि आज के सर्वथा अति-आधुनिक युग की कहानियो मे कथानक का एक प्रकार से ह्रास ही लक्षित होता है और प्राय चरित्रो, मन स्थितियो पडने वाले इम्प्रेशनो, विचारोत्तेजक रेम्बलिंग आदि बातो को महत्व दिया जाता है। पर यदि इस तथ्य की गहराई से जाँच की जाए, तो सरलतापूर्वक यह तथ्य प्रतिपादित किया जा सकता है कि चाहे चरित्रो को महत्व दिया जाये, चाहे मन स्थितियो को चाहे प डने वाले इम्प्रेशनो को महत्व दिया जाये या विचारोत्तेजक रेम्बलिंग को—अभिप्राय यह है कि महत्व चाहे जिस तत्व को दिया जाए, कहानी मे कथानक का कोई-न-कोई अश निश्चित रूप से होगा। चाहे वह कितना ही गौण एव उपेक्षणीय क्यो न हो। वस्तुतः कथा का तत्व कहानी के साथ अन्योन्याश्रित ढग से सयुक्त रहता है और बिना किसी कथा के कहानी रचना हो ही नही सकती भले ही कथानक का क्षीण-से-क्षीण आधार क्यो न चुना जाए। जैनेन्द्र कुमार की 'एक रात', अज्ञेय की 'हीलीबोन की बत्तखे', इलाचन्द जोशी की 'रोगी', मोहन राकेश की 'पाँचवे माले का फ्लैट', धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिये नही', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', कमलेश्वर की 'माँस का दरिया', राजेन्द्र यादव की 'पुराने नाले पर नया फ्लैट', निर्मल वर्मा की 'अन्तर', उषा प्रियवदा की 'मछलियाँ', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी' कृष्ण सोबती की 'सिक्का बदल गया', श्रीमती विजय चौहान की 'एक बुतशिकन का जन्म', फणीश्वरनाथ रेणु की 'रस प्रिया', आदि सभी नई-पुरानी कहानियो मे कथानक के सूत्र किन्ही-न-किन्ही रूप मे प्राप्त होते है—वे चाहे जितने विश्रृखलित हो, साकेतिक हो, उन्हे सगुफित किया जा सकता है, स्पष्ट किया जा सकता है।

इसके बाद दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न होता है कि किसी कहानी के कथानक के स्वरूप को निर्धारित करते समय किन-किन बातो का ध्यान रखना चाहिए, अर्थात् कहानी के कथानक की प्रमुख प्रवृत्तियाँ क्या हो। इसका उत्तर मैं निस्सकोच यही दूँगा कि कहानी के कथानक की प्रथम और अन्तिम प्रवृत्ति बस जीवन और समाज

के यथार्थ से ही सम्बद्ध होती है। अच्छी और श्रेष्ठ कहानी वही स्वीकारी जाती है, जो जीवन के यथार्थ को स्पष्ट करती है। कहानी सार्वभौमिक मानवतावाद का ही दूसरा रूप होती है। उसकी दृष्टि भविष्य मे गडी होती है और वह अधिक स्वस्थ एवं पुष्ट होती है। कॉफी हॉउसो या टी-हॉउसो मे हवा मे मुक्के फेंकते हुए या घर मे पत्नी पर दुनिया-जहान को सुधारने का लेक्चर झाडते हुए तथाकथित आत्म-रत, पर सामाजिक यथार्थ का असत्य दावा करने वाले पलायनवादियो की अपेक्षा सजग कहानीकार अपनी कहानी मे सहज एव मानवीय पात्रो को ही स्थान देने का प्रयास करता है, जिससे उसका युग-बोध एव भाव-बोध दोनो ही पूर्ण यथार्थता तो स्पष्ट हो सके। सामाजिक यथार्थ से परिचित कहानीकार के सम्मुख यह समस्या नही होती कि जीवन का कौन सा तत्व ले या कौन सा तत्व छोड दे, दूसरे शब्दो मे कथानक का स्वरूप निश्चित करते समय वह दिग्भ्रमित नही होता। उसकी दृष्टि स्पष्ट होती है, क्योकि वह जीवन सत्यो से परिचित होता है और उन्हे ही अभिव्यक्त करना उसका लक्ष्य होता है। सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने वाला कहानीकार इस प्रकार अपनी विचारधारा मे उलझा हुआ नही, अधिक स्पष्ट होता है। वह यह तो स्वीकारता है कि आज के जीवन मे जटिलता और दुर्बोधता की अतिशयता है, पर उसके पास सहज अनुभूति और तादात्म्य कर देने की क्षमता से परिपूर्ण ऐसा शिल्प भी है कि वह कहानी को सच्चाई और सादगी से उपस्थित करने मे सफल होता है। यदि नई कहानी को भी ले, तो वह अपनी तमाम आधुनिकता के बावजूद जीवन के यथार्थ को झुठलाती नही, वरन् उसे मूल्य और मर्यादा प्रदान करती है। चूँकि हमारा आज का जीवन जटिल, दुर्बोध एवं विश्रृखलित है, इसलिए कहानियो मे भी उसी अनगढता, बिखराव और जटिलता का आ जाना स्वाभाविक है, पर इसका अभिप्राय यह नही है कि वह जीवन और समाज से अपने को असम्पृक्त कर लेती है। श्रेष्ठ कहानी प्रत्येक जीवन सत्य को स्वानुभूति के स्तर पर लाकर प्रस्तुत करती है और जब कोई बात स्वानुभूति के स्तर पर आ जाती है, तो फिर वह सहज ही होती है, उसके जटिल एव दुर्बोध होने का प्रश्न ही नही उठता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कहानी कभी जीवन पथ से विरत नही होती। वह सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को अर्थ की गरिमा देने का प्रयत्न करती है। इसके लिए दृष्टि का स्वस्थ होना और मानवतावादी आस्था का क्रियाशील होना अनिवार्य होता है। अत कथानक मे दृष्टि का स्वस्थ होना और आत्म-विश्वास की दृढता होनी आपेक्षित होती है। केवल आधुनिकता के नाम पर आधुनिकता लाने और आरोपित करने का कार्य न कर कोई भी अच्छी कहानी आधुनिक सचेतना के उन्ही मूलभूत तत्वो को ग्रहण करती है, जो हमारे आस-पास के परिचित परिवेश मे उपलब्ध है और जो स्थानीय वातावरण की उपज है। इस प्रकार कथानक को जीवन के यथार्थ

से उभरना चाहिए, जिसमे भाव-स्पन्दन, मानव-चेतना और आधुनिकता का अभूतपूर्व सम्मिश्रण हो, जिसके कारण वह अधिक सजग एव बोधगम्य प्रतीत हो सके—कुण्ठा एव निराशा से पिसकर जटिल नही। वास्तव मे प्रत्येक दृष्टिकोण से कहानी का सम्बन्ध जीवन के यथार्थ से ही होता है और वह उसी को सत्य ढग से प्रतिबिम्बित करती है। कहानी के कथानक के स्वरूप निर्माण पर युगबोध का भी यथेष्ट प्रभाव पडता है और वह समकालीन जीवन को सामाजिक, साँस्कृतिक एव राजनीतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य मे ही देखने और समझने का प्रयत्न करती है।

स्पष्ट है कि यह सारी प्रक्रिया विकास की है। साहित्य मे जब-जब विकास का चरण उपस्थित होता है, उसमे नवीनता होती है। उसके अर्थ नवीन होते है, उसकी भावधारा नवीन होती है। युग के साथ ही कथ्य एव कथन मे भी परिवर्तन आता है। यही स्थिति भाव-बोध की भी होती है। आज १९४८ के पश्चात् स्वाधीनता प्राप्ति से हमारे सामने सर्वथा नवीन समस्याएँ उठ खडी हुई है। प्रारम्भ मे विभाजन और उसकी हिंसापूर्ण विध्वसात्मक प्रतिक्रिया तथा उसके पश्चात् नव-निर्माण की समस्याएँ तथा उसी से सम्बन्धित अधिकार-प्राप्ति की लालसा मे चूर अचानक बदल गए नेताओ के राजनीतिक हथकण्डे, उनसे प्रोत्साहन पाकर फूलने वाले अफसर तथा नौकरशाही, घूसखोरी, भ्रष्टाचार आदि इस काल के क्राइसिस के मुख्य अग थे। इसके साथ ही कुछ और बाते थी, जिसने इस क्राइसिस मे जीने वाले लेखको को नई सामाजिक चेतना दी और व्यक्तिपरक पलायनवादी धारा से अपना सम्बन्ध तोडकर सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने और कला की यथार्थ सार्थकता सिद्ध करने पर विवश किया। आज की कहानी मे इस प्रकार सहजता अधिक छाई, सादगी आई। अब कहानी किसी चमत्कृत कर देने वाले वाक्य या घटना से नही प्रारम्भ होती थी और न व्यक्ति को अस्वस्थ समझ कर उसका उसी रूप मे अस्वस्थ चित्रण किया जाने लगा। चौका देने काला भावुक, या पीड़ा उत्पन्न करने वाले या झूठ-मूठ-दार्शनिक चिन्तन मे डूबे हुए समाधानो से आज की कहानी ने अपने को भरसक बचाने का प्रयत्न किया और सम-सामयिकता एव प्रगतिशीलता से अपना नाता जोड दिया। यह एक बड़ी चीज थी।

पर आज की कहानी की अपनी सीमाएँ भी है। वह जीवन के विविध पक्षो के चित्रण पर बल देने का आग्रह अवश्य करती है, लेकिन उसमे पलायनवाद भी है। पिछले दौर मे वह व्यक्तिपरक ढग का पलायनवाद था। आज वह सामाजिक परिवेश मे होता है। अतः वर्तमान क्राइसिस को यथार्थ एव पूर्ण ढग से आज की कहानी अभिव्यक्त कर सकी है। इस प्रकार का दावा मिथ्या एव अहकारपूर्ण होगा। भ्रष्टाचार, भ्रष्ट अफसरो, राजनीतिक नेताओ, मन्त्रियों से भरी राजनीतिक व्यवस्था मंदी एवं विषम सामाजिक व्यवस्था आज के युवक वर्ग को आगे बढने एव मनचाही

(जिसके लिए वे सर्वथा योग्य भी होते हैं) नौकरियाँ, भाई-भतीजवाद वाली डेमोक्रेसी मे न मिलने के कारण उत्पन्न विषम परिस्थितियाँ, साम्प्रदायिकता का विष, नौकरशाही, बढती हुई कीमते, बदलने मे टैक्सो का दिन-प्रतिदिन बढता भार जीने की जटिलताएँ आदि बहुत कम कहानीकारो द्वारा यथार्थ ढग से चित्रित हुए है। बडे नगरो को आधार बनाकर उच्चस्तर पर जीने वाले तथाकथित उच्च मध्यवर्ग तथा मध्य-मध्यवर्ग के लोगो को दिखावे के जीवन, विवाह, प्रेम और परिवार मे न एडजस्ट कर पाने की परिस्थितियो का चित्रण तो आज की कहानी मे बहुतायत से मिलता है पर निम्न मध्य-वर्ग से जिससे सारा देश अधिकाश रूप से भरा पडा है, सघर्ष उत्पीडन एव विशेषताओ का चित्रण व्यापक एव विराट रूप मे उसकी तमाम यथार्थताओ के साथ अभी भी होना शेष है। इसके कारण स्पष्ट है। व्यावसायिकता ने कहानी लेखक को इतनी भिन्न दशा दे दी है कि आज के अधिकाश नए कहानीकारो मे निष्ठा का अभाव है। उसमे आगे बढकर सबको चकाचौध कर देने की प्रवृत्ति जितनी है, उतनी परिश्रम एव युगीन समस्याओ के ऐतिहासिक, सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक कारणो को पहचानने की नही है। इस क्राइसिस ने जिसमे हम जी रहे है। विभिन्न जटिल समस्याओ को पहचानने के लिए जिस यथार्थ दृष्टि की आवश्य-कता होती है, उसके ये लेखक उतने धनी नही है, जितने होने चाहिए। वे केवल व्यावसायिक पत्रिकाओ की माग पूरी करने के लिए व्यावसायिक ढग से लिखते हैं, कहानी लिखने के लिए नही—यह कहने मे मुझे कोई सकोच नही।

इस सम्बन्ध मे एक मजेदार बात यह है कि जो प्रतिभा सम्पन्न हैं भी, वे दूसरे स्तर पर जीवन जीते हैं, जिसका प्रभाव अपनी कहानियो मे वे किसी भी रूप मे हास्यास्पद और अस्वाभाविक रूप मे सामने आये है। कारण उन्होने सुनी-सुनाई बातो या पढे तथ्यो के आधार पर बिना भोगे आरोपित चित्रण करने का प्रयत्न किया है। आज के कितने लोग हमारे कुछ कहानीकारो की भाँति ५५५ सिगरेटें पीते है? या महगी शराबो मे ही अपना जीवन लीन किए रहते है? या कॉफी-हाउसो तथा टी हाउसो मे किसी प्रेमिका (!) की प्रतीक्षा मे सुबह से शाम चाय या कॉफी के प्यालो पर व्यतीत कर देते है? समाज मे ऐसे मूर्ख और दिशाहारा की भाँति भटकने वाले युवको की सख्या होगी और निश्चित रूप से होगी, पर ऐसो की सख्या पूरे परिवेश के सन्दर्भ मे शायद नही के बराबर होगी, पर आज की अधिकाश कहानियो मे पात्र इसी स्तर पर रचे गये, इसका कारण रचनाकारो के अपने दिमागी फितूर ही रहे है। इन कहानियो के कथानक का जीवन के यथार्थ से कोई परिचय नही, इसलिए वे निर्जीव एव कृत्रिम कहानियाँ प्रतीत होती हैं, जो अर्थ हीन है।

आज का सामान्य युवक वर्ग अभावग्रस्त है। अनुकूल नौकरी पाकर सहज

सहज ढग से जीवन जीने और दोनो समय चिन्तामुक्त होकर खाना खा सकने की उसकी लालसा होती है। सुखी परिवार, सन्तोषप्रद जीवन न मिलने के कारण अनेक विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनके माथे पर शर्म की लकीरें खिच आती हैं। थके हारे उनके पाँव कहाँ-कहाँ नही जाते ? इसका चित्रण अगुलियो पर गिनी जा सकने वाली कहानियो मे हुआ है। क्योकि आज का लेखक जब लिखता है, तो अपने टेबुल पर बुद्धिवाद को जन्म देता है, जो बच जाते है उनकी कहानियाँ कॉफी हाउसो मे सिगरेट के जहरीले धुओ के बीच सोची जाती है। ये सभी दूसरे स्तर का जीवन जीते है। उसी वातावरण मे साँस लेते हैं। वे युगीन यथार्थ का फर्स्ट हैण्ड ज्ञान प्राप्त करने की पूरी कोशिश नही करते, इसीलिए उस यथार्थ का कन्विसिंग चित्रण कर पाना उनके लिए कठिन होता है। इसके परिणाम मे हुए है कि या तो जानबूझ कर जटिलता उत्पन्न करने की चेष्टा हुई है या शिल्प प्रयोग के नए-नए चक्कर सामने आये हैं या बातो को गोल-मोल ढग से यथार्थ का एव समसामयिक 'आधुनिकता' का जामा पहन कर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पर बात वही की वही रह जाती है। अधिकाश कहानियो के कथानक जीवन की किसी यथार्थता का आभास भी नही देते।

इसी सन्दर्भ मे यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि यह सब कहने का अभिप्राय हिन्दी कहानी को शक्तिहीन सिद्ध करना नही है। स्वातन्त्र्योत्तर काल मे ही धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, नरेश मेहता, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, अमरकान्त, मार्कण्डेय, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियवदा, कृष्ण सोबती, श्रीमती विजय चौहान, फणीश्वरनाथ रेणु आदि ऐसे अनेक कहानीकार सामने आये है। जिन्होने जीवन के यथार्थ को भिन्न-भिन्न ढग से अपनी कहानियो मे प्रस्तुत किया है। इन सभी लेखको मे सामाजिक जवाबदेही और सजग सामाजिक चेतना के साथ यथार्थ चित्रण की प्रवृति मिलती है। पिछले और के भी ऐसे अनेक लेखक हैं। जा १९५० के पश्चात् उभरने वाले कहानियो के इस स्कूल के साथ चलने मे प्रयत्नरत दिखाई पड़ते है। यद्यपि उन्होने अपने को इन नई परिस्थितियो मे ढालने की पूरी कोशिश की है, पर उनकी अपनी सीमाएँ रही हैं, जो बहुत अच्छी कहानियाँ लिखने के बावजूद नही टूट पाई है। ऐसा कदाचित् पिछले दौर के प्रभाव और व्यक्तिगत लेखकीय प्रतिबद्धता के कारण ही है। ऐसे लेखको मे यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, भैरव प्रसाद गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, विष्णुप्रभाकर, अमृतराय, बलवन्तसिंह तथा अमृतलाल नागर आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार आज की कहानी की अपनी सम्भावनाए भी हैं, असामर्थ्य भी आज हर कहानीकार मानवतावादी दृष्टिकोण को यथार्थ के धरातल पर चित्रित कर नवीन मानव-मूल्यो को उभारने के लिए जितना आकुल है उसमे सामाजिकता की जितनी सशक्त भावनाएँ है एवं कलागत

ईमानदारी है। उससे हिन्दी कहानियो के उज्ज्वल भविष्य के प्रति किसी भी प्रकार के सन्देह की सम्भावना नही रह जाती।

यहाँ इस चर्चा का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि कहानी मे कथानक जब तक जीवन के यथार्थ को लेकर प्राण चेतना नही ग्रहण करता, वह न तो सजीव बन पाता है, न शाश्वत गुणो से ही अपने को आत्मसात् कर पाता है। कथानक की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति उसकी नाटकीयता होती है। यह एक प्रकार से चित्र बनाने की उस प्रक्रिया के समान है, जिसमे कुशल शिल्पी अपने अनुभवो को अपनी कला के साथ सामजस्य कर एक चित्र मे समेटकर साकार कर देता है। कहानीकार भी जीवन के अपने गहन अनुभवो और दूसरो की तुलना मे अपने अधिक विषद ज्ञान के आश्रय से जीवन के किसी एक यथार्थ को प्रस्तुत करता है और हमारे नेत्रो के सम्मुख एक के पश्चात् एक मर्मस्पर्शी स्थितियाँ उपस्थित करना अपने अन्तिम लक्ष्य या चरम उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता है। हम उसको मोहपाश से ऐसा बाँध सा जाते हैं कि वह कथानक हमे अपने बहाव मे बहाए लिए चलता है, जैसे-जैसे कहानी का चरम उत्कर्ष निकट आता जाता है, कथानक के सारे बिखरे सूत्र आपस मे सगुफित होने लगते हैं और कहानीकार जो प्रभाव या उद्देश्य अपने पाठको तक साधारणीकरण के माध्यम से पहुँचाना चाहता है वह अधिक स्पष्ट रूप मे उभरने लगता है और फिर अचानक एक विस्फोट सा होता है। जैसे पारा अपनी चरम सीमा पर पहुचकर झनझनाकर टूट जाता है। यह वस्तुतः चर्मोत्कर्ष की तीखी प्रतिक्रिया ही होती है। इस प्रक्रिया मे कहानीकार अधिक-से-अधिक रोचकता और कौतुहलता बनाए रखने की चेष्टा करता है, जिसके अभाव मे कहानी नीरस बन जाती है। यह उल्लेखनीय है कि रोचकता और कथानक के सुसगठन मे कोई सम्बन्ध नही है। यह आवश्यक नही है कि कहानी के कथानक अत्यन्त सुसगठित हो, तभी उसमे रोचकता उत्पन्न की जा सकती है। प्रायः कुशल कहानीकार विश्रृखलित कथानक को भी इस कलात्मक के साथ प्रस्तुत करते है कि उसमे रोचकता बराबर बनी रहती है। जैनेन्द्रकुमार की 'पाजेब', अज्ञेय की 'पठार का धीरज', मोहन राकेश की 'फौलाद का आकाश', नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' तथा कमलेश्वर की 'दुखो के रास्ते' आदि ऐसी ही कहानियाँ है, जिनमे कथानक के नाम पर कुछ भी नही है। केवल कुछ चरित्रो के माध्यम से उन्ही को प्रकाशित करने के लिए ही कथानक का ताना-बाना संगुफित किया गया है। फिर भी इन कहानियो मे इतनी रोचकता है कि पाठको को कही भी नीरसता का अनुभव नही होता। यहाँ रोचकता के प्रतिमानो पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। वस्तुत रोचकता के स्तर विभिन्न होते है। एक ही कथानक कुछ लोगो को रोचक प्रतीत होता है, कुछ को नीरस। अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार या इलाचन्द्र जोशी की कहानियाँ एक वर्ग के पाठको के लिए इतनी

रोचक हैं कि पढते समय वे पूर्ण तन्मयता के साथ उनमे खोये रहते हैं, पर फुटपाथ की कथाकृतियाँ पढने वाले अधिकाँश पाठको के लिए इनसे अधिक नीरस कहानियाँ हो ही नही सकती। कहा गया है कि कहानियो की रोचकता का स्तर इन दोनो वर्गों के बीच निर्मित होना चाहिए अर्थात् कहानियो मे कथानक का सगठन इस प्रकार होना चाहिए कि वह दोनो ही वर्गों के लिए रोचक हो। सत्य तो यह है कि कहानियाँ किसको रोचक प्रतीत होती है। किसको नीरस, इसका निर्णय कर तदनुसार उनकी रचना-प्रक्रिया मे सलग्न होना कठिन होता है। इसके लिए कहानीकारो से बस इतनी ही बात की माँग की जा सकती है कि अपनी कहानियो के कथानक मे अत्यन्त आवश्यक घटनाओ का ही सगुफन करे और शेष को छोड दे। आवश्यक से अभिप्राय उन घटनाओ से ही है। जिनको सगुफित किए बिना कहानीकार के उद्देश्य की पूर्ति ही न हो। कहानीकार का कार्य इस दृष्टि से बडी सतर्कता आपेक्षित करता है।

कहानी मे कथानक को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से ही देखा जा सकता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। कहानियो का मूलभूत आधार कथानक ही होता है। इस कथानक मे विवरण-त्मक घटनाओ का सगुफन समय का ध्यान रख कर किया जाता है। इन घटनाओ के सम्बन्ध मे थोडी और स्पष्ट चर्चा उचित होगी। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि कहानीकार ऐसी घटनाओ, ऐसे स्थानो और ऐसे चरित्रो का वर्णन कर रहा है। जिसको उसने स्वय अपनी आखो से देखा है, अनुभव किया है। उन पात्रो के वार्तालाप उसने अपने कानो से सुने है। वह अपना यह दायित्व समझता है कि वह जो कुछ भी और जिसके सम्बन्ध मे वर्णन कर रहा है, इनका पूर्णतया वास्तविक चित्र पाठको के सम्मुख प्रस्तुत कर सके। ऐसी स्थिति मे वह उन्ही घटनाओ को चुनकर प्रस्तुत करता, जो यदि हम आप स्वय उस स्थान पर होते, तो हमारे अन्तस को स्पर्श करने मे सफल होते। कहानीकार का प्रमुख उद्देश्य यही होता है कि वह उस स्थान की कुछ चुनी हुई घटनाओ और चुने हुए लोगो का ऐसा चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करे कि हमे ऐसा अनुभव हो कि हम जीवन की यथार्थता का ही अवलोकन कर रहे हो। पर इसी बीच एक ऐसा स्थल भी सहसा आ जाता है, जहा प्रत्येक बात मे एक अप्रत्याशित (अयथार्थ नही) दिशा आ जाती है और हमारे लिए यह आवश्यक सा हो जाता है कि उस स्थान और वहाँ के लोगो के सम्बन्ध मे जितना हम जानते हैं या सुनते हैं, उससे भी अधिक कुछ और जाने या सुने। तभी कहानीकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पाठको की तुलना मे अपने अधिक विशद ज्ञान एव गहन अनुभवो से पाठको को वहाँ के और लोगो के सम्बन्ध मे और अधिक बातें बताकर उनकी जिज्ञासा शान्त करे। ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिन्हे यदि कहानीकार आपको न बताए, तो हम और आप उन्हे जानते या

सुनते ही भी नही समझ सकते। कथानक ने यह दिशा क्यो ग्रहण की या वह दिशा क्यो ग्रहण की या इस पात्र ने आत्महत्या क्यो कर ली, या वह पात्र अचानक ही इतना द्रवित क्यो हो गया या ऐसे विचित्र व्यवहार क्यो करने लगा—आदि ऐसी बाते है जिन्हे कहानीकार ही कुशलतापूर्वक हमे समझा जा सकता है। इसके लिए वह धरातल के नीचे डुबकी लगता है और पात्रो के अन्तर मन मे जा बैठता है और उनके कहे गये शब्दो को सुनने या कहे जाने की प्रतीक्षा किए उनकी आन्तरिक भावनाओ को स्पष्ट कर हमारे सम्मुख एक के बाद एक रहस्य की गुत्थियाँ खेलता जाता है। जैनेन्द्रकुमार की 'एक रात' अज्ञेय की 'कोठरी की बात' मोहन राकेश की 'जख्म' कमलेश्वर की 'ऊपर उठता हुआ मकान' राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद हे' 'नरेश मेहता की निशा ऽऽजी' धर्मवीर भारती की यह मेरे लिए नही' तथा अमरकान्त की जिन्दगी और जोक ऐसी ही कहानिया हैं, जिनमे विभिन्न पात्रो की मन स्थितियो को परिस्थितियो के विशेष सन्दर्भ मे बडी सूक्ष्मता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यदि उस सूक्ष्म साँकेतिकता या कलात्मकता का आश्रय इन कहानियो मे न लिया जाता तो अनेक बाते अस्पष्ट एवं रहस्यमय ही रह जाती और कहानियो का सारा प्रभाव शून्य हो जाता। अत कहानी के कथानक की स्वाभाविकता सत्यता और यथार्थता अनिवार्य आवश्यकताएँ होती है।

कहानियो मे सरसता और सहजता के साथ चर्चा करते समय प्राय रस की भी बात उठाई जा सकती है, जिसे हम इस प्रकार भी कह सकते है कि कहानी के कथानक मे व्यास मानवीय सवेदनशीलता भी एक सर्वप्रमुख विशेषता के रूप मे मूल्याकित होती है। कहानी एक के पश्चात् एक बाते कहने के अतिरिक्त कुछ और चीजे हमसे सयुक्त करती हैं, क्योकि उसका निकट सम्बन्ध एक विशेष ध्वनि से होता है। कहानीकार का व्यक्तित्व (यदि सचमुच कोई है!) इसके पात्रो, कथानक या जीवन के विविध पक्षो पर व्यक्त किए गए उसके विचारो से ही प्रस्फुटित होता है। इस महत्वपूर्ण स्थिति मे कथानक विशेष कार्य यह करता है कि वह पाठको को श्रोताओ के रूप मे परिणत कर देता है जिससे वही 'ध्वनि' अप्रत्यक्ष रूप से वार्तालाप करती है,जो एक बीच गुफा मे छिप कर एक के पश्चात् एक तब तक करती चली जाती है, जब तक पाठक पूर्णतया रस विभोर होकर डूब नही जाता। हम नही जानते है कि कहानी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और उसके सूत्र हम अपने साहित्य के प्रारम्भ से ही खोज सकते है। यही कारण है कि हम अपनी रुचि के अनुकूल कहानियो के प्रति पूर्वाग्रह निर्मित कर लेते हैं और उसे न चाहने वालो के विरुद्ध एक भिन्न दिशा ग्रहण कर लेते है। उदाहरण के लिए मोहन राकेश के एक और जिन्दगी मे प्रकाश अपनी कथा कहता चला चलता है, पर उसके साथ ही स्वय कहानीकार के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एव उसकी आधुनिक दृष्टि, यथार्थ एवं

परिवर्तित भावबोध को पहचानने की क्षमता से भी परिचय प्राप्त होता चलता है और अन्त मे उस कहानी के हम इतने कायल हो जाते है तथा उसकी सवेदना हमे उतनी गहनता से स्पर्श कर जाती है कि हम चाहने लगते है कि हमारी ही भाति दूसरे लोग भी उस कहानी की प्रशसा करे। इस प्रकार रोचकता के सम्बन्ध मे कोई निश्चित प्रतिमान नही निर्धारित किया जा सकता।

कहानी के कथानक मे सघर्ष का भी महत्व स्वीकारा गया है। इससे कहानी का महत्व बढ जाता है। 'सघर्ष और द्वन्द्व साहित्य का वह साधन है, जिसका प्रयोग रचना के सभी प्रकारो मे समान रूप से होता है। एक प्रकार से द्वन्द्व के ही आधार पर कथाश को गति प्राप्त होती है, उसी को परिणाम मानकर कार्य और उसके हेतु का सजीव चित्रण महाकाव्य नाटक, उपन्यास सभी मे होता है, परन्तु कहानी मे आकर यही द्वन्द्व अथवा संघर्ष ऐसा सवेदनशील रूप धारण करता है कि उसका अपना एक चमत्कार स्वय मे तैयार हो जाता है। जिन कहानियो मे द्वन्द्व चित्रण ही प्रतिपाद्य बन जाता है, अथवा जहाँ उसी से कहानी-रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है, वहा इसका प्रभाव वस्तु विन्यास मे बहुत अधिक दिखाई पडता है। यह द्वन्द्व तीन प्रकार का हो सकता है[१] (१) मनुष्य का भौतिक जगत से (२) मनुष्य का मनुष्य से (३) एक ही मनुष्य मे दो भावो का।(१) पहले मे पात्र अपने चतुर्दिक फैले हुए वातावरण, परिस्थितियाँ, समाज, धर्म राजनीति, प्रकृति किसी से भी युद्ध करता दिखाया जा सकता है, या तो वह अपने चरित्र प्रभाव से इनकी किसी उदण्डता पर विजय प्राप्त करता है। अथवा इनके सामने सिर झुकाता और समझौता करता दिखाया जाता है। दादी नानी की कहानी से लेकर आजकल की मनोविज्ञान प्रधान कहानियो तक मे इसका विस्तार भिन्न-भिन्न रूपो मे दिखाया जाता है। कही कोई राजकुमार घर से निरवलम्ब निकल कर कमलवन की परी से दोस्ती करके कोई कोहनूर खजाना प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के उपाय करता है, और मार्ग मे आने वाले सघर्षों का वीरतापूर्वक सामना करता है। इसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान का कोई मशीन-रूप-मानव आज मानसिक द्वन्द्व मे पडा या तो कल की कोई अवाँछित परम्परा से लडाई ठान लेता है अथवा समाज की किसी रूढि परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देता है, और अपने चारित्र्य बल से उस लडाई का सामना करता है। (२) दूसरे मे मनुष्य अपने समानधर्मा अन्य किसी मानव से युद्ध करता दिखाया जाता है। मनुष्य के साथ उसकी परिस्थितिया और प्रकृति भी युद्ध करती है। पात्र के जीवन की अपनी परिस्थितिया होती हैं, चरित्र की अपनी वृत्तियाँ होती हैं, जहाँ कही भी दो पात्रो की ये वृत्तियाँ और परिस्थितियाँ विषम हुई, वही एक पात्र दूसरे पात्र से विरोध करता है और सघर्ष अथवा द्वन्द्व का रूप उमड़ आता है राम-रावण के द्वन्द्व से लेकर प्रसाद की सलीम कहानी के नन्दराम और

१. बी० पिटकिंग : द आर्ट एण्ड द विजनेस ऑव स्टोरी राइटिंग, (१९१९) पृष्ठ ६४

कट्टर मुसलमान, अथवा प्रेमचन्द के 'सुजान' भगत और भोला तक यह द्वन्द्व देखा जा सकता है। (३) जहाँ मनुष्य के अन्त.करण मे दो विरोधी भाव एक ही प्रसग अथवा धारा मे आ जाते है, वहा इनके संघर्ष का बडा ही प्रभावशाली रूप दिखाई पडता है। किसी एक निश्चित परिस्थिति ने जहाँ कही एक भाव अपना स्वरूप सगठित करके मानसलोक मे अधिष्ठित हो जाता है, वही यदि भिन्न परिस्थितियो से प्रेरित होकर कोई दूसरा भाव भी अपने सम्पूर्ण प्रभावो को लेकर स्वतन्त्र रूप मे खड़ा हो जाए, तो दोनो की एक ही आभोग-भूमि होने से बडा चमत्कारपूर्ण सघर्ष उत्पन्न होता। एक ही धारा मे बहने वाले ये दोनो भाव यदि विरोध मूलक सिद्ध हुए, तब तो अन्त करण कठोर रस्साकशी का अखाडा बन जाता है। यहाँ द्वन्द्व एव संघर्ष को स्पष्ट करने के लिए मैं तीन विभिन्न कहानिय का उदाहरण दे रहा हू, जिसमे द्वन्द्व या सघर्ष परिलक्षित किया जा सकता है।

(१) 'और उस एक क्षण के लिए प्रकाश के हृदय की धडकन जैसे रुकी रही। कितना विचित्र था वह क्षण—आकाश से टूटकर गिरे हुए नक्षत्र जैसा! कोहरे के वक्ष मे एक लकीर—सी खीचकर वह क्षण सहसा व्यतीत हो गया। कोहरे मे से गुजर कर जाती हुई आकृतियो को उसने एक बार फिर ध्यान से देखा। क्या यह सम्भव था कि व्यक्ति की आँखे इस हद तक उसे धोखा दे? तो जो कुछ वह देख रहा था, वह यथार्थ ही नही था? कुछ ही क्षण पहले जब वह कमरे से निकल कर बालकनी पर आया था, तो क्या उसने कल्पना मे भी यह सोचा था कि आकाश के ओर छोर तक फैले हुए कोहरे मे, गहरे पानी की निचली सतह पर तैरती हुई मछलियो जैसी आकृतियाँ नजर आ रही है, उनमे कही वे दो आकृतियाँ भी होगी? मदिर वाली सडक से आते हुए दो कुहरीले रंगो पर जब उसकी नजर पडी थी, तब भी क्या उसके मन मे कही ऐसा अनुमान जागा था! फिर भी न जाने क्यो उसे लग रहा था। जैसे बहुत समय से, बल्कि कई दिनो से, वह उनके वहाँ से गुजरने की परीक्षा कर रहा हो जैसा कि उन्हे देखने के लिए ही वह कमरे से निकलकर बालकनी पर आया हो और उन्ही को ढूँढती हुई उसी की आँखे मदिरवाली सडक की तरफ मुडी हो।—यहा तक कि उस धानी आँचल और नीली नेकर के रग भी जैसे उसके पहचाने हुए हो और कोहरे के विस्तार मे उन दो रगो को खोज रहा हो।'[1]

(२)' और तब अधेरे मे बैठे-बैठे उसके सामने जैसे सत्य उजागर होता गया था वह अब तक किन परछाइयो तक पर विश्वास करती आयी ··देवा के पिताजी पर···पर वह कितनी बडी प्रवचना थी ··कितना बडा धोखा वह देते आ

१ मोहन रा श : एक और जिन्दगी, (१९६१), दिल्ली, पृष्ठ १५८-१५९

रहे हैं। कितनी सफाई से सारी जिम्मेदारी टाल गये थे और कितनी खूबसूरती से उसके नारीत्व और पत्नीत्व को तृप्त कर गये थे ''इसलिए कि वह कुछ और न सोच सके'''वह सिर्फ यही तो चाहते थे कि वह इसी तरह लगडाती घसटती और और अधूरी रहकर भी पति के आकाशी आदर्श की गरिमा मे अपने को धन्य मानती रहे'''वह नीचे उतरकर धरती का स्पर्श न करने पाये'' कहते थे—देवा पर तुम्हारा ही असर पडेगा' और इस बात मे वे उसकी लज्जा को कितनी बडी चुनौती दे गये थे पर ''तब उसकी आँख पर कौन सा पर्दा पडा था ![1]

(३)' ' दूसरे होटल का मन मे निश्चय करके मैं उस दिन एक रोटी कम खाकर उठ गया। इतना गन्दा खाकर तो उल्टा बीमार पड जाऊँगा। यह कमबख्त शादीलाल' दूसरो से ज्यादा नही, तो बुरा भी नही कमाता। पर क्या मजाल कि इस बात की कोशिश भी करे कि ग्राहक नए आएँ। गरजमन्द की बात न्यारी है ' आएगा नही तो जायेगा कहाँ ? पर कुछ अपना भी किया धरा होना चाहिए। बिस्कुट और बन, डबल रोटी तथा मक्खन के लिए एक दो जालीवाली आल्मारियाँ बनवा लेने से होटल करीने के हो गये होते तो फिर सब न कर ले ? अण्डेवाले, दूध वाले, 'छडे' दुकानदार या ऐरे-गैरे नत्थू खैरे आ गये तो बस हो गया काम ' मक्खियाँ चीजो पर उडती रहेगी। टेबले साफ की जाएँगी तो लोगो के कपडो पर जूठन गिरेगी ही गिरेगी जरूरी बात है। चाहे आप सूट पहने हो या तहमद लपेटे हो शादीलाल के यहाँ का तो यही दस्तूर है।[2]

कहानी मे कथानक के तत्व निरूपण के सम्बन्ध मे भी दो-चार बाते कर लेनी चाहिए। कथानक मे तत्व निरूपण से हमारा अभिप्राय उसके कुशल सगठन से है। प्राय. हम देखते हैं कि जीवन का एक विशाल एव व्यापक परिवेश सम्बद्ध करने की आकाक्षा प्रत्येक कहानीकार मे होती है और किसी एक पक्ष एव सवेदना को लेते हुए भी प्रतीको एव सकेतो का माध्यम ग्रहण करते हुए वह विराट्ता का बोध देने का प्रयत्न अपनी कहानियो मे करता है। यह सूत्रबद्धता सक्षेप मे होती है, नही तो क्या कहानियो मे समूचे मानव जीवन की एक-एक बातो का ब्यौरा देना सम्भव होता ? हाँ हो सकता है कि कई सग्रहो मे वह प्रस्तुत किया जाए, तो कहानी न बनकर एक इतिहास बन जाएगा और या तो इतिहास के या समाजशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए ही उपयोगी सम्भव हो सकता है। कहानी पाठको के लिए निश्चित रूप से उसमे किसी रस की उपलब्धि नही होगी। अत कहानी मे आवश्यक घटनाएँ ही सूक्ष्म प्रतीको एव संकेतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती हैं। यह कहानीकार के ऊपर निर्भर होता है

---

१. कमलेश्वर · राजा निरबंसिया, (फरवरी १९५७), इलाहाबाद, पृष्ठ २०-२१
२. नरेश मेहता : तथापि, (दिसम्बर १९६१), बम्बई, पृष्ठ ६४

कि वह किन घटनाओ का निर्वाचन करे और किन्हे छोड दे। हाँ यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि वह ऐसी ही घटनाओ को चुने, जिनसे उसके उद्देश्य की पूर्ति भी हो सके, साथ ही मानव जीवन के यथार्थ को भी प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत कर सके। ऐसी घटनाएँ, जो महत्वहीन हैं, प्रभावशून्य है और कथानक की आवश्यकता की दृष्टि से जिनकी कोई उपयोगिता नही है, उनसे बचना ही कहानीकार को अभीष्ट होता है। हम एक-के-बाद एक दृश्यो के माध्यम से ही कथानक के चरमोत्कर्ष की ओर अग्रसर होते है और अन्तिम परिणति तक पहुचते है, जो वस्तुत. कहानीकार का लक्ष्य भी होता है, जिसके लिए वह सारी कहानी लिखता है। इस प्रक्रिया मे कही अवरोध या गतिरुद्धता आ जाना सफल कथानक की दृष्टि से अनुचित होता है। कथानक का प्रत्येक स्थल कुशलतापूर्वक एव कलात्मक ढग से निर्देशित होना चाहिए। जब एक दृश्य सामने आता है, तो सारी घटनाएँ तब तक परिपक्व हो जाती हैं, सारे शेष कसर मिटा दिए जाते हैं और तब वह दृश्य उपस्थित होकर हमारे सम्मुख नवीन भावभूमियाँ स्पष्ट करता है। नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' मे चारुलता की एकान्तिकता और अपने पति से अजनबी बने रहने की सारी कथा इसीलिए मन पर प्रभाव डालने मे समर्थ होती है और विचित्र सा अवसाद उत्पन्न करती है क्योकि कहानी के विकास के साथ ही कहानीकार ने स्थितियो का सयोजन सतर्कतापूर्वक कर लिया होता है। अमरकान्त की कहानी 'जिन्दगी और जोक' मे भी नौकर की अपूर्व जिजीविषा, लोगो का उसके साथ अमानुषिक व्यवहार एव जीवन की कठोर यथार्थता हमे इसीलिए प्रभावित करती है, क्योकि घटनाओ के संयोजन एव उनकी सूत्रबद्धता मे कहानीकार का कलात्मक कौशल परिलक्षित होता है। धर्मवीर भारती की कहानी 'सावित्री न० दो' मे सावित्री की व्यथा, जीवन के प्रति उसका नैराश्य भाव, कुण्ठा एवं आस्थाहीनता एक विराट् मानवीय सवेदना का परिचय देते हुए इसीलिए महत्वपूर्ण प्रतीत होती है, क्योकि भारती ने उसमे जीवन तत्वो का सगुंफन इस कुशलता से किया है कि सावित्री का अवसाद हमारी मन स्थिति पर विषाद की तीखी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है और सारी कहानी एक अमिट प्रभाव छोड जाती है।

इस प्रकार कहानी मे कथानक का संयोजन एक विशेष प्रकार की सतर्कता की माँग करता है, जिसके प्रति किंचित्मात्र भी असावधानी सारे प्रभाव को शून्य कर देती है और कहानी असफल हो जाती है। इस प्रक्रिया मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य निस्सन्देह कठिन है और वह उस केन्द्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्धित है, जिसके अनुसार कहानीकार के सामने यह समस्या होती है कि कथानक मे ऐसे किस पात्र का वह सृजन करे, जिसमे वह स्वय अपनी आत्मिक अनुभूतियो की प्रतिष्ठापना कर सके और एक बहुरूपिए का रूप धारण कर विविध भाव-विचार अपने पाठको के समक्ष उपस्थित कर सके। वैसे मैं यह स्पष्ट कर दू कि आधुनिक कहानी का इतना अधिक विकास

हो गया है कि इस शिल्प की आवश्यकता नही पडती और कहानीकार स्थितियो के सयोजन मे ही अपनी आत्मिक अनुभूतियो को अधिक प्रौढ शिल्प के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है और कहानी का उद्देश्य सॉकेतिकता मे ही अभिव्यक्त होता है। यह इस कुशलता से होता है कि कहानी की गतिशीलता पर कोई आँच भी नही आने पाती। वस्तुत जीवन के यथार्थ से सम्बन्धित जितनी भी कहानियाँ हम पढते हैं, हम प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकते है कि कहानी के मध्य मे कोई-न-कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य है, जो सारी घटनाओ को अपने हाथ मे समेटे हुए है और हम कथानक के दौरान मे जो भी बाते देखते या सुनते है, उसी केन्द्रीय शक्ति के माध्यम से ही देखते या सुनते है, अमरकान्त की कहानी 'जिन्दगी और जोक' मे वकील साहब ही वह केन्द्रीय पात्र है, जिनके माध्यम से कहानीकार ने अपनी आत्मिक अनुभूतियो का प्रकाशन किया है। मोहन राकेश की कहानी 'एक और जिन्दगी' मे प्रकाश इसी तरह का पात्र है, जो लेखक की विचारधारा का वाहक है। इसी प्रकार धर्मवीर भारती की कहानी 'चॉद और टूटे हुए लोग' मे चाँद, राजेन्द्र यादव की कहानी 'पुराने नाले पर नया फ्लैट' मे स्वय लेखक को सम्बोधित करने वाली पत्र-लेखिका तथा अमृतराय की कहानी 'सईदा के खत' मे सईदा इसी प्रकार के पात्र है, जिनके माध्यम से लेखको ने अपने विचारो को प्रकट किया है। मैं ऊपर कह चुका हू कि यह बडी कलात्मकता एव सूक्ष्म कौशल से किया जाता है, ताकि पूरी कहानी कही से भी आरोपित न प्रतीत हो और कथानक की अपनी स्वतन्त्र सत्ता पर कोई आँच न आए। जहाँ ऐसे केन्द्रीय पात्र नही लिए जाते और लेखक स्थितियो के सगुफन मे अपनी आत्मिक अनुभूतियो का प्रकाशन करता है या बीच-बीच मे कुछ सकेत देता चलता है, वहाँ बौद्धिकता का आग्रह बढ जाता है। निर्मल वर्मा की 'अन्तर', नरेश मेहता की 'निशाऽऽजी' तथा श्रीकान्त वर्मा की 'शवयात्रा' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की है। अतः स्पष्ट है कि कथानक और पात्रो का सामजस्य परस्पर इस प्रकार किया जाना चाहिए कि दोनो एक दूसरे मे घनिष्ठ रूप मे एकाकार हो जाएँ और एक दूसरे पर आरोपित न प्रतीत हो। यशपाल की कहानियो मे इस तरह के पात्रो की भरमार रहती है, जो प्राय. असफल पात्र होते हैं और कहानियो मे अलग से थोपे गये प्रतीत होते हैं। उन आरोपित पात्रो का सृजन केवल लेखक के सैद्धान्तिक मतो के प्रतिपादन मात्र के लिए ही किया गया है, पर जहाँ वह यह कहता है, कथानक एक भिन्न दिशा में जाता प्रतीत होता है। कहानीकार यदि थोडा और कुशलता एव सयम से काम लेता, तो ये सभी पात्र अपने मे प्रभावशाली पात्र होते, वे कथानक को भी उचित दिशा मे ले जाते और पाठको को उन स्थलो पर दिशाहारा की भाति भटकना न पडता। प्रेमचन्द के भी बहुत से पात्र मात्र इसीलिए निर्जीव कठपुतलिया प्रतीत होते हैं और कथानक को अव्यवस्थित करते दृष्टिगोचर होते हैं।

सफल कहानी की दृष्टि से इसके पश्चात् एक महत्वपूर्ण समस्या उठ खडी होती है कथानक सगठन और समय परिवेश का सतुलन, जिसका कहानीकार को बडी सावधानी से ध्यान रखना पडता है। मोहन राकेश की कहानी 'मलवे का मालिक' मे एक ओर तो यदि पाकिस्तानी वर्षो पश्चात् अपनी जमीन को देखकर भावुकता से भर जाता है और कहानीकार उस भावुकता के माध्यम से ही एक बड़े यथार्थ की ओर सकेत करने की दिशा मे गतिशील होता है, यदि उसी समय कोई निर्मल वर्मा टाइप का पात्र बीच मे आकर रोमास की बाते करने लगे और मलवे पर चीयान्ती या वोदका की बोतले खोलकर बैठ जाए और मोहन राकेश उस पाकिस्तानी की भावुकता को छोडकर उस रोमियो के रोमास और उसे लेकर खिड़की-दरवाजो के भीतर होने वाली चेहमेगोइयो का उल्लेख करने लगते, तो आपके ऊपर क्या प्रतिक्रिया होती ? क्या कहानीकार का उद्देश्य उसी यथार्थ एव प्रभावशाली ढग से आप तक पहुचता, जिस रूप मे 'मलवे का मालिक' के वर्तमान रूप मे पहुचता है ? इसका उत्तर नकारात्मक ही है। इसी प्रकार किसी घटना मे सुबह तो शरद् ऋतु का वर्णन हो और सध्या को ग्रीष्म ऋतु का, तो क्या यह हास्यास्पद न प्रतीत होता ? यदि ऐसी भद्दी भूले किसी कहानी मे लक्षित हो, तो मेरा विचार है कि आप कहानी को एक ओर फेक देगे और फिर कभी उस कहानीकार की दूसरी कहानी को हाथ न लगाने की कसम खा लेगे। समय तत्वो के प्रति अतिशय सावधानी इन भूलो का निराकरण करता है और कहानी मे एकता एव संगठन बनाए रखने का प्रयत्न करता है। फणीश्वरनाथ रेणु की 'रसप्रिया', मार्कण्डेय की 'माही', उषा प्रियवदा की 'खुले हुए दरवाजे', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने मे', कृष्णा सोबती की 'डार से बिछडी', आदि कहानिया समय-तत्वो के प्रति सजगता एव प्रभाव अन्विति (unity of impression) के कारण ही आपको प्रभावित करती है।

कहानी के कथानक-सगुंफन के सम्बन्ध मे अब एक अन्तिम बात रह जाती है। प्राय कुछ कहानिया ऐसी लिखी जाती है, जिनमे किसी एक विशिष्ट पात्र के अनुभवो को एकत्रित करके कथानक का सगुफन किया जाता है और वह प्रधान पात्र एक पर्यवेक्षक की भाति सारी घटनाओ पर अपने विचार एव अनुभव प्रस्तुत करता चलता है। यदि ऐसी स्थिति हो, जिसमे किसी के वास्तविक अनुभवो और उसके द्वारा भोगी जाने वाली विपत्तियो या अन्य बातो को कहानी के माध्यम से प्रस्तुत करना उद्देश्य हो, तो उसे उसी रूप मे प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिस रूप मे वह स्वय उन विपत्तियो को भोगता और अन्य बातो का अनुभव करता है। यदि वह स्वय इन बातो को कहने मे असमर्थ है, तो दृष्टि परिवेश मे परिवर्तन आवश्यक है। धर्मवीर भारती की बहु-चर्चित कहानी 'सावित्री न० दो' मे यदि स्वय सावित्री अपने जीवन

की करुण पीडा एवं घुटन के सूत्रो को स्पष्ट करने मे असमर्थ होती, तो किसी दूसरे पात्र मे इतनी सामर्थ्य नही थी कि उसे इतने सफल एव प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत कर पाता। यदि कोई ऐसा करता, तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा ही होती। कहानीकार को इससे बचना चाहिए। यह एक अनिवार्य शर्त है। कहानीकार को इस प्रकार केवल उन्ही बातो को प्रस्तुत करना चाहिए, जो सचमुच ही आवश्यक हो। कहानियो मे इससे बढकर असतोष का विषय और कुछ नही हो सकता कि कहानीकार अपने अधिकार की मर्यादा भग कर कथानक के बीच मे आ कूदे और उस पात्र की अपूर्ण बातो को पूरा करने मे लग जाए। कहानीकार का इस प्रकार स्पष्टतया कथानक के मध्य उपस्थित होना और अपना पर्दाफाश करना कथानक की हत्या ही नही, उसकी नाटकीयता को भी समाप्त करना है। यही कारण है कि आज जब हम पूर्व-प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल की कहानियो को पढते है और बीच-बीच मे लेखको को उपस्थित होकर 'किस्सा' सुनाते हुए पाते है, तो कहानियो को बिना पढे एक तरफ रख देने की इच्छा होती है। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द और जयशकर प्रसाद की कहानियो मे भी बहुत कुछ प्राप्त होती है। जब हम देखते हैं कि अकारण ही बीच मे प्रवेश कर वे घटनाओ या पात्रो का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर देते है। कहानियो के सफल कथानक संगठन की दृष्टि से यह उचित नही होता। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कथानक को आवश्यकता से अधिक नाटकीय बनाने मे भी कथानक को क्षति पहुचती है। कहानी के कथानक को सगुफित करने मे प्राय: बीच का ही मार्ग अपनाया जाना चाहिए और प्रत्येक आवश्यक बातो का सावधानी से पालन कर सफल कथानक प्रस्तुत किया जाना चाहिए। मोहन राकेश की 'मदी', नरेश मेहता की 'चादनी', राजेन्द्र यादव की 'नए-नए आने वाले', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम' तथा निर्मल वर्मा की 'लवर्स' आदि ऐसी ही सफल कहानिया हैं, जिनमे किसी एक विशिष्ट पात्रो के अनुभवो का कुशल सगुफन किए गए हैं।

कहानी में आदि, मध्य और अन्त का भी बड़ा प्रमुख स्थान होता है। अच्छी-से-अच्छी कहानिया भी गलत ढंग से प्रारम्भ किए जाने के कारण प्रभावशून्य हो जाती हैं और पाठको का ध्यान आकर्षित करने मे असफल रहती हैं। कहानी का प्रारम्भ एक नाटकीय ढंग से होता है, जो थोड़ा चौंका देने वाला होता है। इस प्रवृत्ति मे कहानीकार कोई भूमिका नही देता और न अपने पात्रो का कोई परिचय ही देता है। वह तो बस सीधे-सीधे अप्रत्याशित रूप से कहानी प्रारम्भ कर देता है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"जसोदा के दो-दो लाल
बलभादर-गिरधारी"

गाते हुए वह भागी।

—"देख ओ पुत्तरऽऽ।"

"पुत्तर" पंजाबी ढंग से लम्बा करते हुए भरे गालों का वह छोटा सरदार, जिसकी मसें अभी भीगने-भीगने को हो रही थीं और जो इस समय साफा लपेट रहा था, बोला—

"पुत्तर" रोज की तरह आज भी बिगड खड़ा हुआ।

—"ओ खोते! मोअन कैसे तेरी जीभ घिसी जाती है?"[1]

कहानी का दूसरा प्रारम्भ चित्र-विधान प्रणाली के अनुसार होता है, जिसमे कहानीकार किसी स्थिति का चित्र खीचता है और इस प्रकार कहानी का प्रारम्भ होता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी—

"'हर बार पूछना चाहा है, मगर बार-बार चुप रह गयी हूं।"

आज जब माँ को सज-धजकर वह—सावित्री की पूजा के लिए थाल मे सूत और रोली चावल रखकर जाते देखा, तभी से बेहद बेचैनी है कि आज तो यह सवाल तुमसे पूछकर रहूंगी, सत्यवान! जाते-जाते माँ की निगाह मेरी इस गन्दी छ साल से यही पडी रोग शय्या पर पडी और वे ठिठक गई। फिर पूजा की थाली नीचे रख दी। मेरे पास आई। मेरे रूखे मैल भरे बालो पर हाथ फेरकर बोलीं, "सबित्तरा बेटी!" और आँसू पोछते हुए चली गई। सबित्तरा मेरा घर का नाम है—प्यार का (जब मैं प्यार के काबिल थी)—असली नाम है सावित्री! और नही तो सिर्फ नाम के नाते से ही तुमसे पूछती हू सत्यवान कि तुम बताओ कि मैं आखिर करूँ तो क्या करूँ? हर ओर भटक-भटककर रोगी, जर्जर, बरसों से क्षण-क्षण धीरे-धीरे मरती हुई यह सावित्री नाम की लड़की अब बहुत थक गई है। रास्ता क्या है सात्यवान?[2]

किसी विशेष चरित्र को लेकर कहानी का प्रारम्भ करने की भी प्रवृत्ति बहुत प्रचलित है। इसमे प्रधान चरित्र का परिचय पहले ही दे दिया जाता है और उसकी मुख्य रेखाओं के सम्बन्ध मे पाठकों को पहले से ही ज्ञान हो जाता है। प्राय. चरित्र प्रधान कहानियों मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से अपनाई जाती है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

"वह दूर से दिखाई देती हुई आकृति मिस पाल ही हो सकती थी।

'फिर भी विश्वास करने से पहले मैंने अपना चश्मा ठीक किया। निसन्देह, वह मिस पाल ही थी। यह तो खैर मुझे पता था कि वह उन दिनो कुल्लू मे ही कहीं

1. नरेश मेहता. समाधि, (दिसम्बर १९६१), बम्बई, पृष्ठ १३
2. धर्मवीर भारती. सावित्री न० दो (सारिका : जून १९६२), बम्बई, पृष्ठ १२

रहती हैं, मगर इस तरह अचानक उससे भेट हो जाएगी, यह मैंने नही सोचा था। और उसे सामने देखकर भी मुझे यह विश्वास नही हुआ कि वह स्थायी रूप से कुल्लू और मनाली के बीच उस छोटे से गाँव मे ही रहती होगी। जब वह दिल्ली से नौकरी छोडकर आई थी, तो लोगो ने उसके बारे मे क्या-क्या नही सोचा था ![1]

प्रकृति चित्रण से कहानी प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति जयशकर प्रसाद और अज्ञेय में अधिक मिलती है, पर अन्य कहानीकारो ने इसे कुछ विशेष नही अपनाया। इसका कारण कदाचित् यह हो कि प्रकृति चित्रण काव्य से अधिक सम्बन्धित समझा जाता रहा है और जीवन का यथार्थ लेकर चलने वाले कहानीकारो का मन वहा रमा नही। पर इसका पूरा अभाव नही है। नई कहानी मे ही ऐसी अनेक कहानियाँ मिल जाती हैं, जिनमे प्रारम्भ—प्रकृति चित्रण से किया गया है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है

"छज्जे पर भूरी, जलती रेत की परते जम गई हैं। हवा चलने पर अलसाए-से धूल कण धूप मे झिलमिल से नाचते रहते है। लड़ाई के दिनो मे जो बैरक बनाये गये थे, वे अब उखाडे जा रहे है। रेत और मलवे के ढह ऐसे खडे हैं, मानो कच्ची सडक के माथे पर गोमडे निकल आए हो। खिडकी से सब कुछ दीखता है। दिन और शाम के बीच कितने विचित्र रगो की छायाएँ टीलो पर फिसलती रहती हैं। दूर से निरन्तर सुनाई देता है, पत्थर तोडने की मशीन का शोर, दैत्य के घुर्राटो की तरह · घुर्र-घुर्र-घुर्र···[2]

इसके अतिरिक्त आरम्भ करने के और कई ढग है। एक कुतूहलतापूर्ण आरम्भ होता है। जैसे :

"उसकी माँ दरियाँ बुनती थी और वह बेकार था। दरियाँ बुनने का भी कोई ऐसा बँधा हुआ सिलसिला नही था, जिसे काम कहा जा सके। कभी कोई अपनी जरूरत से बुनता लेता और कभी बेजरूरत भी। उसे काम देने की नीयत से दे देता, या बरसो का कोई गद्दा लिहाफ जब जवाब दे जाता, उपलमा और अस्तर फट जाता और बदरग नामा भीतर से झाकने लगता, तो उसे काम से लाने का एक यही तरीका था कि उसे देवा की अम्मा को दे दिया जाए और वह महीने दो-महीने मे दरी बुनकर दे जाए। मेहनत-मजूरी का दाम धीरे-धीरे पटता रहता, क्योकि कोई धन्धा तो था नही कि इस हाथ ले उस हाथ दे। यही क्या कम था कि जरूरत पड़ने पर उसे कही-न-कही से पैसे मिल जाते।[3]

कहानी के मध्य के सम्बन्ध मे भी विद्वानो ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। मध्य का महत्व कहानी की दृष्टि से मैं कुछ विशेष नही समझता। कहानी कोई

१. मोहन राकेश : एक और जिन्दगी, (दिसम्बर १९६१), दिल्ली, पृष्ठ ५८
२. निर्मल वर्मा · जलती झाड़ी, (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ २२
३. कमलेश्वर : राजा निरबसिया, (फरवरी १९५७), इलाहाबाद, पृष्ठ १०

निबन्ध या उपन्यास तो है नही, उसमें जीवन की किसी एक संवेदना का चित्रण होता है या एक घटना का या एक पक्ष का, जिसे खण्डो मे बाटकर नही देखा जा सकता। एक आलोचक ने लिखा है कि यह मध्य बिन्दु वही स्फुट होता है, जहाँ कहानी का आदि और अन्त प्राय सतुलित सा होता दिखाई पडे लेकिन इसकी स्थापना का कोई स्थिर स्थान नही बताया जा सकता। कृतिकार की प्रतिभा इतने नए नए प्रकार के मोड निरन्तर लिया करती है कि इस विषय मे कोई स्थायी सिद्धान्त बनाने से काम नही चल सकता। न जाने कितने लेखक हैं, जो कि इस चरम उत्कर्ष और मूलभाव वाले स्थल को आगे-पीछे बहुत कुछ खसका लेते है, फिर भी सौन्दर्य मे कोई विकृति नही आने पाती। अतएव कहानी के समस्त विस्तारक्रम मे यह मध्य बिन्दु अथवा जिज्ञासा और कौतूहल के पूर्णतया प्रबुद्ध होने का स्थान कहाँ होना चाहिए और कहाँ किस स्थल पर इसकी स्थापना अनुचित हो सकती है—इसका कोई निश्चयात्मक सिद्धान्त नही स्थिर किया जा सकता। श्रेष्ठ कृतिकारो की विभिन्न रचनाओ मे इसके व्यवहार की अपनी-अपनी पृथक् पद्धति मिलती है। इस विषय मे सामान्यत दो बातें कही जा सकती हैं। पहली बात का सम्बन्ध कहानी के कथानक तत्व से है। इसमे आरम्भ और अन्त के बीच का सारा प्रसार चरम सीमा अथवा मध्य बिन्दु का क्रीडा स्थल मानना चाहिए इस बीच की सारी दौड मे कही भी उस मध्य बिन्दु की स्थापना हो सकती है। उचित तो यही है कि आरम्भ और अन्त मे उसका रूप स्फुट हो। आरम्भ से चलकर कहानी का मूल विषय चाहे वह चरित्र हो चाहे घटना और भाव—एक क्रम से और एकनिष्ठ होकर आगे बढता है। इस बढने मे शनैं शनैं; जैसे गति तीव्र होती जाती है, उसी प्रकार प्रभाव भी सिमिट कर घनीभूत होता जाता है। इस विस्तारक्रम मे कथानक जिस समय तीव्रतम गति से पर्यवसान की ओर मोड लेता है, उसी को कहानी का मध्यबिन्दु समझना चाहिए। इसे हम कहानी के मैदान की उच्चतम भूमि कह सकते हैं। जो परिष्कृत बुद्धि वाले सहृदय होंगे वे इसके सच्चे स्वरूप को पहचान कर उसके महत्व का ज्ञान कर सकते हैं। सामान्यत अग्रेजी के लेखक भी इस मध्यबिन्दु के महत्व निरूपण मे कुछ आना-कानी कर गए हैं, लेकिन इससे कथानक के इस अश का महत्व कम नही समझना चाहिए। वस्तुत: यथार्थ तो यही है कि कुशल समीक्षक का ध्यान कहानी के सम्पूर्ण प्रसार मे इसी मोड की ओर आकृष्ट होता है। इस घुमाव अथवा मोड़ के ऊपर खडे होकर हम पूर्व मे वृद्धिक्रम को स्थिर होते भी देखते हैं और साथ ही अन्तोन्मुख निगति का सारा सौदर्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। यदि इस स्थल का सच्चा रूप समझने का योग मिल सके, तो यह स्पष्ट हो सकता है कि इसके पूर्व कथा का क्या और कैसा क्रम रहा होगा और आगे का क्रम कैसा चलेगा। यदि चरित्र से कहानी का आरम्भ हुआ है, तो मध्यविन्दु प्राय: उस स्थल पर आना चाहिए जहाँ पहुचकर वह चरित्र अपने पूर्व के

सम्पूर्ण संचित बल को लेकर विद्युतगति से लक्ष्य की ओर टूटता है अथवा मुड़ता है।

जहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि ऐसी बाध्यताएँ शास्त्रीय ही है, जिन्हे आधुनिक कहानीकार अपनाना आवश्यक नही समझता। यो तो आदि और अन्त को छोड़कर पूरी कहानी ही मध्यविन्दु है और जैसा कि एक आलोचक ने कहा है[1], उसे कूडे-कचडे से नही भर दिया जाता पर आज की कहानी मे मध्यविन्दु जैसी कोई चीज नही होती। कहानी कई मोड लेती है और यह निश्चय करना कि उन कई मोडो मे से मध्यविन्दु का मोड कौन-सा है, पाठको के लिए तो दरकिनार, स्वय कहानीकार के लिए ही कठिन होता है।

कहानी का अन्त अवश्य ही बहुत महत्वपूर्ण होता है। पहले युग की कहानी-कला को ले, तब चरम-उत्कर्ष के पश्चात् भी उपसहार देने की प्रवृत्ति प्रचलित थी और यह कहानी के सारे प्रभाव को समाप्त कर देती थी। वास्तव मे कहानी का अत कहाँ हो, किस प्रकार हो, किस पात्र के माध्यम से हो—ये समस्याए इतनी महत्वपूर्ण है, जो प्रत्येक कहानीकार का ध्यान आकर्षित करती है और पर्याप्त सावधानी की अपेक्षा करती है, क्योकि प्राय अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ भी दुर्बल अन्त के कारण प्रभावशून्य हो जाती हैं। अन्त के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखने की बात है कि बिना नाटकीयता पर क्षति पहुचे लेखक का लक्ष्य प्रभावशाली ढंग से स्पष्ट हो जाना चाहिए। पहले तो बडी चिर-परिचित प्रणाली प्रचलित थी—'और वह पछाड खाकर गिर पडी!'—या 'और वह घर के बाहर निकल गया' या 'और वह सूने आकाश की ओर देखने लगा।' आदि। इस तरह के अन्त प्रायः सभी कहानीकारो ने अपनाए है, यहाँ तक कि जैनेन्द्र-अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि मनोवैज्ञानिक कहानीकारो ने भी—स्थूलता छोडकर सूक्ष्मता अपनाने और अभिनय शिल्प-प्रयोग करना जिनका प्रमुख धर्म था। लेकिन आज की कहानी इस तरह के पिटे-पिटाए अन्त करने वाली प्रणाली से आगे आ चुकी है और उसका तिरस्कार करती है। यह विकास का नया चरण ही समझा जाना चाहिए। 'अन्त' इस प्रकार का होना चाहिए कि जहाँ कहानी समाप्त हो, वहाँ से एक नई कहानी पाठको के मन में जन्मे—कहानी कला की मैं यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता स्वीकारता हू।

'अन्त' का उद्देश्य कहानी के लक्ष्य को स्पष्ट करना होता है, पात्रो के सम्बन्ध मे अन्तर्निहित सारे रहस्य सूत्रो को खोलना होता है और साथ ही कहानीकार की विचारधारा का भी अप्रत्यक्ष ढग से पाठको को एक संकेत दे देना चाहिए। 'अन्त' मे आकर पाठक और लेखक का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है[2] और यही आकर

---

१. मैकोन्शी : द क्राफ्ट ऑव द शार्ट स्टोरी, (१९३६), पृष्ठ २०

२. बैरेट : शॉट स्टोरी राइटिंग, पृष्ठ १७१

कहानी के सारे सूत्र सगुफित भी हो जाते हैं। ऊपर जिस चिर-प्रचलित कहानी का अन्त का उल्लेख मैंने किया है उसका अनुसरण यत्र-तत्र आधुनिक कहानी मे भी प्राप्त होता है .

'जार्ज खडा हो गया। उसने एक बार भी मुझे नही देखा और दूसरे क्षण भीड के संग वह भी ट्यूब की तरफ भागने लगा। ट्यूब के ऑटोमेटिक दरवाजे क्षण-भर के लिए खुले और भीड को अपने भीतर निगलकर दूसरे क्षण ही बन्द हो गए।

पहियो की भडभडाती आवाज धीरे-धीरे मन्द पडती गई और फिर सब पूर्ववत शान्त हो गया। पुरग के जिस अधेरे को ट्यूब को हेडलाइट ने पीछे खिसका दिया था, वह फिर वापस लौट आया।

सिर्फ प्लेटफॉर्म की खुली छत के परे न्यू एक्टन की रोशनियाँ अधेरे मे चुपचाप झिलमिलाती रही।

खम्भे की आड मे युवक ने कहा—अगली गाडी से—और उसे चूम लिया। लडकी की आँखे मुद गई।

उसने देखा भी नही···

और मुझे लगा, जैसे मुद्दत से मैंने सिगरेट नही पी।'[1]

कहानी का एक अन्त प्रश्नचिन्ह छोडकर समाप्त हो जाता है। कहानीकार समस्याओ का कोई समाधान नही देता और न पात्रो की नियति के सम्बन्ध मे ही कुछ निश्चित बातें बताता है। वह मात्र कुछ रंग और सकेत भर छोड़ जाता है, जिन्हे पाठको को स्वयं ही अपने मस्तिष्क से कल्पना करके उन संकेतो के माध्यम से रग भरने पडते हैं। स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया तीव्र बौद्धिकता की माँग करती हैं और आज की कहानी जब सश्लिष्ट चरित्रो एव जटिल समस्याओ को लेकर चलती है। इस तरह की बौद्धिकता बहुत ही सहज एव स्वाभाविक जान पडती है। यद्यपि समाधान न देने और कहानी का 'अन्त न. करने की प्रवृत्ति का विरोध भी किया जाता है ?[2] पर यदि कहानी कला के विकास के साथ

१ निर्मल वर्मा . जलती झाडी, (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ १४०-१४१

२. "The story should conclude unless there is special reason why it must not But it should not be carried far past the climax and smoothed down into dulness and conventionality "And so they were married and lived happily ever after" Has gone out of date, but he practices still surrive in endings such as these 'Indeed, the whole family were delighted to have Robert in their home, and he never forgot the debt of gratitude he owed to them"

—ई० एम अल्ब्राइट . द शॉर्ट स्टोरी, पृष्ठ ८१

सीधे-सादे अन्त न देकर सकेतो के माध्यम से स्वय पाठको को कहानी का अन्त समझ लेने की प्रवृत्ति विकसित होती है तो इस प्रकार के विरोध समझ मे नही आते हैं। प्रश्न चिन्ह छोडकर समाप्त हो जाने वाली कहानियो का अन्त इस प्रकार होता है .

'मैंने थाली नही छुई। (क्षमा करना सावित्री बहन!) बहाने से आँख मूदकर तकिए से टिककर लेट गई, तो ऐसा लगा, मानो मेरे चारो ओर लोग चुपचाप इन्तजार मे खडे हैं कि मेरी मृत्यु की घडी टलती क्यो जा रही है। सबके चेहरो पर शोक भी है इन्तजार भी, अधीरता भी। सब चुप है सिर्फ दीवार पर लगी मेरी शादी की घडी टिक-टिक कर रही है। उस पर बना गुलाब बोलता है। गुड नाइट, गुड नाइट, गुड नाइट! कमरे भर मे मोगरे की तेज महक है। मगर इस सबसे भी मौत की महक दबती नही। मृत्यु की यह दूसरी गाथा है, सावित्री बहन! तुम्हारी गाथा से बिल्कुल पृथक। सब बिना कहे, बिना बोले इन्तजार कर रहे हे। मै भी इन्तजार कर रही हू। मेरे लिए किसी का कुछ अर्थ नही रहा। न मै माँ की बेटी रही, न सित्तो की बहन। न इनकी पत्नी, न राजाराम की सिर्फ यह खिडकी मेरे लिए एक चौकोर दुनिया है। पार्क मे खिलते गुलमोहर, अमलतास के रग हैं, सामने की खिडकी मे अठखेलियाँ करती लडकी के आकार है, खेलते बच्चो की हसी की आवाजे हैं। एक दिन अदृश्य हाथ आकर इन चौकोर स्लेट पर अकित आकारो को मिटा देगा, आवाजे बन्द हो जायेगी और मैं थककर लेट रहूगी, लेकिन कब?[१]

कहानी का एक 'अन्त' नाटकीय होता है। यह कहानी कला के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। एक उदाहरण इस प्रकार है .

पादरी आगे निकल गया तो भी कुछ देर हकीम के चेहरे पर वह मुस्कुराहट बनी रही। "मेरे लिए उबला हुआ अण्डा अभी तक क्यो नही आया?" सहसा जॉन क्रोध के साथ बडबडाया। अनिता स्लाइस पर मक्खन लगाती हुई सिहर गई। किरपू ने एक प्लेट मे उबला हुआ अण्डा लाकर जॉन के पास रख दिया।

"छीलकर लाओ!" जॉन ने उसी तरह कहा और प्लेट को हाथ मार दिया। प्लेट अण्डे समेत नीचे जा गिरी और टूट गई।

उधर गिरजे की घण्टियाँ बजने लगीं डिंग डॉंग! डिंग डॉंग! डिंग डॉंग![२]

इसके अतिरिक्त कहानी का एक अन्त ऐसा होता है, जो उपसहार का आभास देता है, पर वास्तव मे वह उपसहार न होकर कहानीकार का शिल्प-कौशल होता है कि ऐसा भ्रम उत्पन्न कर वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, जैसे .

"कमरे के ये जनवरी के टहलते बादल, गीले बादल, मेरी स्नायुयो मे चेतना मे भी सायास घिर रहे हैं या अनायास ही यह सब घट चुका है?

निशा के वे लाल लाल जूते, हवा मे हिलते कनटोप का फुन्दा, पहाडी सुनसान मोडो पर मुलायम सी वह बुलबुली पदाहट—

१. धर्मवीर भारती · सावित्री नम्बर दो, (सारिका जून १९६२), बम्बई, पृष्ठ ३५
२. मोहन राकेश : जानवर और जानवर, (१९५८), दिल्ली पृष्ठ १६०

खट् खट् ।

खट् खट् खट्······

निशा का खरगोश जो ऊंघ रहा था। टहलते बादलो के नीचे-नीचे फुदकता गौरा के पैरो के पास बादलो भीगा काँपता बैठ गया।

मेरे सामने बैठी उदास बादल सी इस गौरा को क्या कहू ?

स्वय मेरे पास कहने को क्या है ? केवल लौट जाने के मार्ग पर एक यात्रा है, जबकि यहाँ एक ऐसा दु ख है, बादलो मे डूबा, गौरा भीगा—एक दु ख !"[1]

किसी दृश्य या स्थिति के वर्णन से कहानी का अन्त करने की प्रवृत्ति भी आज लोकप्रिय है, जैसे "मै पत्र आगे न पढ सका । घुरन, बेबसी, धुआँ,ठहराव, खामोशी और उसमे ऊबती हुई आत्मा ! वे बेबस उठे हुए हाथ और पानी भरी आँखें, जैसे चारो ओर थी । हर तरफ थी ।[2]

इन कुछ उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कहानी के कथानक मे अन्त का कितना महत्व होता है। ऊपर जिन कहानियो की चर्चा की गई है, वे प्रत्येक दृष्टि से सफल कहानियाँ है। जिनमे कथा-सगठन की सफलताएँ परिलक्षित की जा सकती है। कथावस्तु के स्वरूप की दृष्टि से उसके तीन भाग हो सकते हैं।

१—घटना प्रधान कथानक

२—चरित्र प्रधान कथानक

३—भाव-प्रधान कथानक

घटना-प्रधान कथानक मे घटनाओ का बाहुल्य होता है, जिसमें लेखक का उद्देश्य अधिक-अधिक घटनाओ को रखकर अधिक व्यापक जीवन प्रसगो को समेटना होता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के कथानको के निर्वाह मे स्थूलता अधिक रहती है और यदि उनके निर्वाह मे जरा भी शिथिलता या असावधानी बरती जाए तो सारी कहानी प्रभाव शून्य हो जाती है। इस प्रकार के कथानको मे संयोग तत्वो (chance elements) की प्रधानता होती है। रोमाँचकारी, शिकारी या जासूसी कहानियाँ इसी श्रेणी मे आती हैं। प्रेमचन्द काल की अधिकाँश कहानियाँ भी इसी कोटि की होती हैं। प्रेमचन्द की 'आलग्योझा', जयशकर प्रसाद की 'देवरथ', वृन्दावन लाल वर्मा की 'शरणागत,' यशपाल की 'फूलो का कुर्ता', आदि कहानियाँ घटना प्रधान कहानियाँ ही है ' नई कहानी मे भी फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम,, अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोक' आदि कहानियाँ भी इसी श्रेणी की है।

चरित्र-प्रधान कथानक मे घटना को उतना महत्व नही दिया जाता, जितना किसी चरित्र को। इस प्रकार के कथानको मे कोई विशेष चरित्र चुन लिया जाता

१ नरेश मेहता · तथापि , (दिसम्बर १९६१), बम्बई ४३

२. कमलेश्वर . राजा निरबंसिया, (फरवरी १९५७), इलाहाबाद, पृष्ठ ९३

है और उन्ही के व्यक्तित्व के प्रकाशन के लिए सारे कथा सूत्रो की व्यवस्था की जाती है प्रधानता उसी विशेष चपित्र की होती है,और उसके विविध पक्षोका उद्घाटन किया जाता है आधुनिक कालमे इस प्रकारकी कहानियो मे मनोवैज्ञानिक तत्वो एवं मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के आधार पर किसी चरित्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न होता है। प्रेमचन्द की बूढी काकी, यशपाल की 'कलाकार की आत्महत्या', जैनेन्द्रकुमार की 'मास्टर जी', धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', मोहन राकेश की 'मिस पाल', कमलेश्वर की 'देवा की माँ', नरेश मेहता की 'दुर्गा', राजेन्द्र यादव की 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', फणीश्वरनाथ रेणु की 'टेबुल', अमरकात की 'खलनायक', मन्नूभण्डारी की 'एक कमजोर लडकी की कहानी', मार्कण्डेय की 'हसा जाई अकेला, आदि कहानिया इसी कोटि की है। ,

भाव-प्रधान कथावस्तु मे न तो घटनाओ को महत्व प्रदान होता है, न किसी चरित्र को वरन् किसी अनुभूति को ही प्रमुखता प्रदान होती है। इसमे कथावस्तु का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एव अमूर्त होता है, इसमे भावुकता की प्रधानता हो जाती है। प्रसाद की 'आकाशदीप', अज्ञेय की 'हीलीबोन की बतखें', जैनेन्द्रकुमार की 'नीलम देश की राजकन्या, मोहन राकेश की जख्म', नरेश महता की 'निशाऽऽ जी', कमलेश्वर की 'पीला गुलाब', उषा प्रियवदा की 'चाँदनी मे बर्फ पर' आदि कहानिया इसी प्रकार की हैं, जिनमे कोई कथानक नही हैं, केवल भावो को ही प्रधानता दी गई है। ऊषर मैने भावुकता का उल्लेख किय है , उसका अर्थ यह न निकाला जाय कि इन कहानियो मे भावुकता लेखको द्वारा आरोपित की गई है। वह भावुकता पात्रो की होती है, जिसमे लेखक इन्वाल्व नही होते और उनकी निर्वैयक्तिकता और तटस्थता इन कहानियो की प्रभावशीलता बढती है।

अन्त मे चरम सीमा के सम्बन्ध मे भी दो चार बाते कह देना उचित होगा। चरम सीमा मे जिज्ञासा एव मूल समस्या बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, साथ ही कहानीकार का उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। चरम सीमा की स्थिति कहानी मे अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। जैसे पारा अपनी अन्तिम सीमा पर जाकर झनझना कर टूट जाता है, वैसे ही चरम सीमा पर आकर कहानी के सभी रहस्यो का एक साथ ही पर्दाफाश हो जाता है। चरम सीमा पर कहानी का कुछ भी रहस्यमय नही रह जाता। अच्छी कहानियो को चरम सीमा पर ही समाप्त हो जाना चाहिए। पहले कथावस्तु मे चरम सीमा के बाद उपसहार देने की भी प्रथा थी। प्रेमचन्द काल मे तो इसका बहुत ही प्रचलन था, पर बाद मे उपसहार का पूर्ण तिरस्कार किया जाने लगा और कहानिया चरम सीमा पर ही समाप्त होने लगी। कथावस्तु मे पूर्ण एकता भी इसी चरम सीमा पर आकर स्पष्ट होती है। कहानी मे चरम सीमा का विशेष महत्व नही है और अधिकाँश कहानीकार इसकी बाध्यता नही स्वीकारते। अमरकान्त की कई कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमे चरम सीमा की पूर्ण उपेक्षा लक्षित होती है।

भीष्म साहनी और रेणु की भी कई कहानियाँ इसी श्रेणी की है। कथावस्तु मे पूर्ण एकता होनी आवश्यक होती है। एकता से अभिप्राय उद्देश्य, कार्य व्यापार एव प्रभाव की परस्पर एकता से है। इस एकता की उपलब्धि प्राप्त करना कहानी कला की सबसे कठिन वस्तु होती है, किन्तु जिन कहानियो से इस एकता की उपलब्धि होती है। उनसे विचारवान पाठको को एक स्वर्गीय आनन्द की सी प्राप्ति होती है।[1] वास्तव मे यह एकता कहानियो की प्रभावशीलता मे वृद्धि करती हैं।

कथानक सगठन के प्रमुख तत्वो एव समस्याओ पर विचार करने के पश्चात् कथानक के सगठन के प्रस्तुतीकरण को विभिन्न शैलियो पर विचार कर लेना चाहिए, जिन्हे कहानीकार अपनी आवश्यकतानुसार एव कथानक के अनुरूप अपनाता है, जिससे वह कहानी मे अधिक से अधिक अपील और प्रभाव उत्पन्न कर सके। वस्तुत कुशल कहानीकार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करता है, जिससे पाठक केवल पाठक ही नही रह जाता, वह स्वय अपने को कहानी का पात्र जैसा ही समझ लेता है, उसके सुख-दु.ख को अपना समझ लेता है और दोनो के बीच की दूरी जितनी ही कम हो जाती है, कहानी उतनी ही मफल समझी जाती है।[2] कहानीकार ऐसी ही

1. "A skilful literary artist having conceived, with deliberate care, a certain unique or single effect to be wrought out, he then invents such incidents, he then combines such invents—as may best aid him in establishing this preconceived effect If his very initial sentence not to the out bringing of this effect, then he has failed in his first step In the whole composition then should be no word written of which tendency, direct or indirect is not to the one-pre-established design And by such means, with such care and skill, a picture is at lenth pointed which leaves in the mind of him who contemplates it with a kindened art, a sense of the fullest satisfaction The idea of the tale has been presented unblemished because undisturbed , and this is an end unattainable by the novel"

—एडगर एलेन पो

2. ' fiction on the other hand, calls for the personal participation of the reader in one or many dramatic enterprises , contradiction are created and the protagonist sets forth to resolve then, and the reader joins in these struggles The reader participates, and there by is the unique secret of the art of the story tellers his ability to project his audience into the dramatic situation he has evoked The measure of his art is how well he does this The stature of his art depends upon the type of dramatic comprehension and lordship he can offer his audience, the quality of his art depends upon his own relationships to the masses of people"

—ब्रैण्ड ह्विटलॉक

प्रणालियो को अपनाता है, जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही स , साथ ही चरित्रो का स्वाभाविक विकास हो सके। इसी की एक प्रकार से पाठक और लेखक के सम्बन्ध के रूप मे भी देखा जा सकता है। एक प्रणाली मे पाठक पूर्णतया लेखक के ऊपर ही निर्भर रहता है और जो कुछ वह कहता है, वही वह सुनता है, दूसरी प्रणाली मे वह लेखक से कोई सम्बन्ध नही रखता, वरन् मात्र कहानी से ही अपना सम्बन्ध बनए रखता है। स्टेज पर जो ड्रामा अभिनीत किया जाता है, उसमे दर्शको का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक से होता है, नाटककार से नही। उस प्रक्रिया मे लेखक अदृश्य होता है। उसके शब्दो एव विचारो को अभिनेता अपने मुख से एव क्रिया कलापो से अभिव्यक्त करते है और दर्शक अपने-अपने ढग से बातो को समझते और ग्रहण करते है। पर जब हम नाटककार और कहानीकार की स्थिति पर विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट ही है कि कहानी मे इस दृष्टि से नाटक जैसी कोई चीज नही होती। यह ठीक है कि कहानीकार अपने शब्दो एव विचारो का कथोपकथनो के माध्यम से पात्रो से कहलवा सकता है, पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह यह बताए कि ये पात्र कहा से आए, अभी तक जहाँ थे और अभी तक क्या रहे थे। और एक बार उपस्थित होकर भी उनकी नियति क्या होगी और ऐसी क्यो हुई— और यह भी असफल, जिसमे न तो तर्कों का कोई आधार होता है और न कोई स्वाभाविकता।

कहानी के कथानक मे कहानीकार को सामान्यत ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है, जहां अनेक कारणो से साधारण प्रभाव की तुलना मे कुछ अधिक की आवश्यकता होती है, जहा पाठक स्वय अपने से बन लेता, यदि वह उस स्थान पर होता और सारी घटनाओ को अपनी आँखो से देखता होता। यह अनेक बातो के सामान्य विवरण से सामान्यत. सम्बन्धित होता है, या कुछ विशिष्ट वास्तविकताओ से सम्बन्धित होता है जो आन्तरिक ज्ञान एव अनुभवो पर आधारित होता है और पाठको के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। उदाहरणार्थ पात्रो को यदि इस प्रकार उपस्थित किया जाए कि उनकी भावुकताएँ पाठको को सारी कथा बता दे, तो इसमे एक लम्बी प्रक्रिया होगी या एक प्रकार से यह असम्भव सा ही होगा। उनके निर्माता को बहुत सी बातें अपनी ओर से निश्चित रूप से कहनी होगी। कहानीकार यह कभी नही भूल सकता कि अपने पात्रो कि जिन मन स्थितियो का वह वर्णन कर रहा है। वह स्वयं अपनी हैं। लेखक को अपने पात्रो के सम्बन्ध मे अधिक से अधिक ज्ञान रहता है, जबकि पाठक उनके सबध में बहुत सारी बातो से अनभिज्ञ रहता है। लेखक को अपनी विचारधारा को निश्चित रूप से उपन्यासो मे प्रकट करना चाहिये, पर इस रूप मे कि वह कथानक का एक अंग ही बन जाए, अलग से उस पर आरोपित न प्रतीत हो। लेखक को इस बात का

प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना चाहिए, जिससे उसकी कहानी पूर्ण सत्यता का आभास प्रदान कर सके। इसके लिये कहानीकार प्राय. प्रथम पुरुष मे ही सारी कथा कहता चलता है। कहानियो का 'मैं' साधारणतया सामान्य अर्थों मे कहानीकार के 'मैं' का प्रतीक समझ लिया जाता है। इस प्रणाली मे पाठक सारी कहानी उस 'मैं' के ही माध्यम से देखता या सुनता है। इस प्रणाली के अनेक लाभ होते है। यह कहानीकार की वस्तु संगठन के सम्बन्ध मे सुविधादायक प्रतीत होता है। वह अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे वाँछित वस्तु सगठन कर सकता है, क्योकि इस प्रणाली मे नायक या नायिका या कोई अन्य प्रमुख पात्र स्वय कहानी कहता और एकता प्रदान करता चलता है। इसे साधारणतया आत्म-कथात्मक शैली कहा जाता है। यद्यपि यह बहु प्रचलित शैली बन गई हैं,पर जहाँ विदेशी कहानियो मे हम इसका प्रचलन सामान्य रूप से देखते हैं, वही हिन्दी कहानियो मे बहुत ही कम प्रयुक्त होता देखते हैं। इसके कारण स्पष्ट है। अभी हिन्दी कहानियो का इतिहास बहुत प्राचीन नही है। जितनी उपलब्धियो पश्चिमी कहानी साहित्य ने शताब्दियो मे प्राप्त की हैं, हिन्दी कहानियो ने उतनी अर्द्ध शताब्दी से भी कम समय मे प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। मनोविज्ञान का वास्तविक प्रारम्भ हम प्रेमचन्द की कहानियो से स्वीकार कर सकते हैं। यह पूर्णतया भ्रामक तथ्य है कि जैनेन्द्रकुमार हिन्दी के प्रथम मनोवैज्ञानिक कहानीकार है। यह हमारे अध्ययन के हलकेपन और पूर्वाग्रहो की सीमाओ मे बधे रहने का द्योतक है। प्रेमचन्द की अधिकाँश कहानियो, विशेषत अन्तिम चरण की कहानियो मे मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'कफन', पूस की रात', 'बूढी काकी', 'बडे भाई साहब', 'मनोवृत्तियो' या 'नशा' मे क्या मनोविज्ञान नही है ? यहां मनोविज्ञान की चर्चा का उद्देश्य मात्र इतना ही समझना चाहिये कि आत्म-कथात्मक शैली का मनोविज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। कथा कहने वाला मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ से पूर्णतया परिचितरहता रहता है और वह विभिन्न पात्रो की मानसिक गुत्थियो एव चारित्रिक आरोह एव अवरोहो से हमे परिचित कराता चलता है। जैनेन्द्रकुमार का 'पाजेब' कहानी मे पाजेब की चोरी और सम्बन्धित पात्रो की मन.स्थितियो एव उस घटना के पड़ने वाली प्रतिक्रियाओ का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कथानायक बडी कुशलता से करता है। वह पात्रो के एक-एक भाव की सूक्ष्म दार्शनिक व्याख्या करता चलता है और उनकी आन्तरिक भावनाओ को हमारे सामने स्पष्ट करता चलता है। पर आत्म-कथात्मक शैली का सबसे बडा दोष यही है कि उसमे कथा कहने वाले के ऊपर ही सारा दायित्व रहता है। यदि उसने दायित्व निर्वाह मे किंचित मात्र भी असावधानी दिखाई, तो सारी कहानी प्रभावशून्य हो जाती है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि कहानी मे कथा कहने वाला एक प्रकार से हमारा (कहानीकार का) ही प्रतिनिधित्व कर रहा है और उसका चरित्र प्रारम्भ मे ही स्पष्ट हो जाना चाहिये, जिससे पाठको को बाद मे अविश्वासनी-

यता की शिकायत करने का अवसर ही न मिले। धर्मवीर भारती की 'सावित्री न० दो', मोहन राकेश की 'वासना की छाया मे', नरेश मेहता की 'चाँदनी', कमलेश्वर की आत्मा की आवाज', राजेन्द्र यादव की नए-नए आने वाले', निर्मल वर्मा की'लवर्स' आदि कहानियाँ आत्म-कथात्मक शैली को लेकर लिखी गई सफल कहानिया है।

कहानी यो तो किसी भी तरह प्रस्तुत की जा सकती है और वस्तुत कहानीकार आज कई शैलियो का मिश्रण करके भी कहानिया प्रस्तुत करता है, पर कथानक प्रस्तुत करने की वर्णनात्मक शैली भी कहानियो मे अधिक प्रचलित हैं। इस शैली का का प्रचलन हिंदी कहानियो के प्रारम्भिक युग से ही प्राप्त होता है। इसमे कहानीकार एक तटस्थ व्यक्ति की भाति सारी घटनाओ, पात्रो एव स्थितियो के सम्बन्ध मे वर्णन करता चलता है और बीच-बीच मे अपने विचार तथा अपनी समीक्षाये एव मान्यताये भी प्रकट करता चलता है। इसमे कहानीकारो की विवरणात्मक प्रतिभा ही अधिक मुखरित होती है और मनोविज्ञान, दर्शन या कहानी शिल्प की अत्याधुनिक प्रणालियो से अपरिचित कहानीकार के लिये भी यह प्रणाली अत्यन्त सहज होती है और वह अपनी बात बिना कही उलझे हुये या कठिनाई का अनुभव किये सरलता मे अभिव्यक्त कर सकता है। कहा जा सकता है कि इस प्रणाली मे कहानीकार को अधिक स्वतन्त्रता रहती है। आत्म-कथात्मक शैली की भाति उसे मुख्य कथा कहने वाले का स्वरूप पहले ही निश्चित नही कर देना पडता। वह कभी भी किसी भी रूप मे कुछ भी कहने के लिये स्वतन्त्र रहता है। पर इसका यह तात्पर्य नही है कि वह ऐसी अप्रासागिक बाते भी कह जाये या चित्रित करे, जिनका पहले से कोई आधार न हो और बाद मे वे अयथार्थ प्रतीत हो। यह तथ्य सदैव ही स्मरण रखना होगा कि अपने दायित्वो को उचित रूप मे निर्वाह न कर सकने की क्षमता के कारण कभी कोई कहानीकार सफल नही हो सकता और श्रेष्ठ कहानी की रचना करने मे सफल नही हो सकता। यह सत्य है कि इस प्रणाली मे कहानीकार को अपने आपको अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, पर इस स्वतत्रता का दुरुपयोग कई खतरे उत्पन्न कर सकती है। प्राय. अपनी बात को अधिक सशक्त रूप मे कहने के लिये कहानीकार इस प्रणाली का उपयोग करता है और पहले ही तैयार किये गये विवरणो को कथानक मे फिट करने का प्रयास करता है। स्पष्ट है पहले से ही तैयार विवरणो को कथानक मे इस प्रकार सगुफित करने के लिये अत्यधिक कलात्मक कुशलता आपेक्षित होती है, क्योकि ऐसे पूर्व सयोजित विवरण जब तक कथाँश नही बन जायेंगे, वे ऊपर से आरोपित प्रतीत होगे। यशपाल की कई कहानियाँ इसी कारण असफल हुई हैं। यह दोष प्रेमचन्द और विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानियो मे भी लक्षित होता है। अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोक'या 'एक असमर्थ हिलता हाथ',मोहन राकेश की 'काला रोजगार',नरेश मेहता की 'वह पर्व थी', धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिये नही', राजेन्द्र यादव की 'टूटना' तथा

फणीश्वर नाथ रेणु की 'तीसरी कसम', आदि कहानियाँ इस प्रकार के शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सफल कहानियाँ है । इसके विपरीत असफल कहानियो के कारणो पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नही है । क्योकि अपनी नीरसता एव कलात्मकहीनता की कहानिया वे स्वय कहती है । वस्तुत वर्ण्य-विषय की अपनी सीमाये होती है, जिनका पालन करना कहानीकार के लिये आवश्यक होता है ।

कथानक प्रस्तुत करने की कुछ अति—आधुनिक शैलियाँ भी प्रस्तुत हैं । आजकल कहानियो मे कथानक को प्रस्तुत करने की एक नवीनतम शैली पत्रात्मक शैली है । इसमे कुछ चुने हुए पत्रो या केवल एक पत्र के माध्यम से कथानक का ताना-बाना सगुंफित किया जाता है । ये पत्र प्राय नायक-नायिका के बीच लिखे जाते हैं, पर यह कोई सर्वमान्य नियम नही है । यह पत्र व्यवहार प्रधान पात्रो या गौण पात्रो के मध्य भी हो सकता है या किसी पात्र की ओर से स्वय लेखक को भी लिखे गए पत्र के आधार पर सारी कहानी लिखी जा सकती है । पर प्रमुख रूप से ये पत्र प्राय· प्रधान पात्रो के मध्य लिखवाए जाते हैं । यहाँ 'लिखवाए' शब्द मैंने सायास रूप से प्रयुक्त किया है, क्योकि पत्रो को प्रस्तुत करने मे इस शब्द का विशेष महत्व होता है । स्पष्ट है कि सभी पत्रो के पत्र स्वय लेखक को ही लिखने पडते हैं, पर वे इस रूप मे प्रस्तुत होने चाहिए, जिनसे सम्बद्ध पात्रो की चित्तवृत्तियो एब अन्य चारित्रिक विशेषताओ का स्वाभाविकता से स्पष्टीकरण हो सके और उनकी लेखन-शैली, शब्दो का प्रयोग तथा भावधारा आदि उनके व्यक्तित्व के पूर्ण अनुरूप हो । उदाहरणार्थ यदि किसी कहानी मे दो से अधिक पात्र पत्र लिखते हैं और उनके पत्रो की शैली एक है, भाषा-शैली भी एक सी है, शब्दो का प्रयोग भी एक-सा ही है, तो यह पूर्णतया अस्वाभाविक प्रतीत होगा और कहानीकार की कलात्मक अकुशलता का परिचायक होगा । हम अपने दैनिक जीवन मे भी देखते हैं कि विविध लोगो के पत्र लिखने की शैली पूर्णतया भिन्न होती है । कोई अपने पत्रो मे हास्य-व्यग्य शैली अपनाता है, कोई भावुकता मे डूबी हुई शैली का उपयोग करता है । कोई सक्षिप्तता की सीमा मे बँधा रहता है, तो कोई वर्णनात्मकता की शैली अपनाता है । व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य यह विविधता वस्तुतः व्यक्तियो के व्यक्तित्व की विभिन्नता का द्योतक होती है । इस शैली के प्रयोग मे यह सतर्कता सदैव आपेक्षित रहती है । दूसरी बात जो अत्यन्त आवश्यक होती है, वह यह कि ये पत्र हमारे साधारण जीवन मे लिखे जाने वाले पत्रो से सर्वथा भिन्न होते हैं । हमारे दैनिक जीवन मे जो पत्र लिखे जाते है, उनमे पत्र लिखने वालो का यह ध्येय नही होता कि वे कोई कहानी कह रहे हैं या किसी कथा को गतिशील करने मे सहयोग दे रहे हैं । पर कहानियो मे लिखे जाने वाले पत्रो का इस दृष्टि से विशेष महत्व होता है, क्योकि सभी पत्र प्रस्तुत की जाने वाली कथा की आवश्यक कड़ियाँ होती हैं और उस कथा को सुसम्बद्ध ढग से अग्रसर करते हैं । अत इन पत्रो

का स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया जाना चाहिए, जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही, साथ ही वे मुख्य पात्रो के चरित्रो को भी सहज एव स्वाभाविक ढग से प्रस्तुत कर सके। इस शैली का सबसे बडा लाभ यह होता है कि मुख्य पात्रो की व्यक्तिगत भावनाओ की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति हो सकती है और सम्बन्धित पात्र अपने चरित्रो को कहानीकार की कलात्मक कुशलता की आधारशिला पर खडे होकर स्वय ही स्पष्ट कर सकते हैं। इस दृष्टि से वर्णनात्मक शैली अथवा आत्म-कथात्मक शैली की तुलना मे पत्रात्मक शैली अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी होती है क्योकि वर्णनात्मक शैली मे पात्रो की भावनाओ एव अन्य विशेषताओ का वर्णन स्वय पात्र न कर एक बाहरी व्यक्ति (निश्चित रूप से जो स्वय कहानीकार ही होता है) करता है और आत्म-कथात्मक शैली मे एक पात्र बीती हुई घटनाओ को याद करके सस्मरणात्मक रूप मे ही कहता चलता है। इन दोनो शैलियो मे विभिन्न पात्रो के चरित्र एव आन्तरिक भावनाएँ उस रूप मे स्वतन्त्र ढग से स्पष्ट नही हो पाती, जिस रूप मे पत्रात्मक शैली मे। इस शैली का प्रचलन यद्यपि हिन्दी कहानियो मे बहुत बाद मे हुआ है, पर इस शैली मे लिखी गई कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ प्राप्त होती हैं। अमृतराय की 'सईदा के खत', नरेश मेहता की 'दूसरे की पत्नी के पत्र' तथा राजेन्द्र यादव की 'पुराने नाले पर नया फ्लैट' इसी शैली मे लिखी गई कुछ उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। इनमे अतिम कहानी मे एक पाठिका द्वारा राजेन्द्र यादव को लिखे गए पत्र पर पूरी कहानी आधारित है।

आधुनिक युग मे कहानियो के कथानक को सगुफित करने की जो दूसरी अभिनव शैलियाँ प्रस्तुत है उनमे डायरी शैली अपेक्षाकृत अधिक नवीन है। इसमे एक या दो पात्रो की डायरी के माध्यम से सारी कहानी की रचना की जाती है। इस शैली मे प्राय पात्रो की सख्या बहुत ही कम होती है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर मनोविश्लेषणात्मक शैली अपनाने वाले कहानीकारो की यह प्रिय शैली है क्योकि इसमे उन्हे अपने पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व सुलझाने का स्वतन्त्र अवसर मिलता है। वे एक तटस्थ पर्यवेक्षक की भाँति उनकी भाव-ग्रन्थियो का विश्लेषण और मानसिक ग्रन्थियो का समाधान प्रस्तुत करते चलते हैं। इसमे कहानीकार निर्वैयक्तिक भाव से स्वयं दूर हट जाता है और सारा उत्तरदायित्व सम्बन्धित पात्रो पर आ पडता है। पर इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से कई खतरे उत्पन्न हो सकते हैं। प्राय साधारण मानव-जीवन मे डायरी लिखने वाले लोग एक या दो पैरे से अधिक की डायरी नही लिखते। बहुत ही विशेष अवस्थाओ मे यह पूरा पृष्ठ तक हो पाता है। पर इससे अधिक पृष्ठ की डायरी लिखने का न किसी को अवकाश रहता है और न कोई डायरी लिखता ही है। इस सीमा का पालन कहानियो मे भी होना चाहिए, जिससे स्वाभाविकता बनी रहे। पर प्रायः होता यह है कि कहानीकार अपनी भावधारा की झोक मे एक ही

तिथि मे दो-ढाई पृष्ठो तक की डायरी लिख डालते हैं और अपनी वर्णनात्मक प्रतिभा का लोभ सवरण नही कर पाते है—डायरी शैली का आग्रह शिल्प की आधुनिकता लाने के लिए तब एक बहाना मात्र बन जाती है। यह सब कुछ उसी रूप मे होता है, जैसे कि उनके पात्रो के लिए दिन-भर जीवन मे कोई और काम नही, बस डायरी लिखना ही है। यह सीमोल्लघन कहानियो को शिथिल बना देता है और उनका सारा प्रभाव नष्ट हो जाता है। डायरी शैली का उपयोग करते समय दूसरी सावधानी रखने की आवश्यकता यह होती है कि डायरी के रूप मे जो कुछ भी लिखा जा रहा है, उसका सम्बन्धित पात्रो के व्यक्तित्व से पूर्ण तादात्म्य हो। हमारे भारतीय जीवन मे अभी डायरी लिखना बहुत सामान्य प्रचलित बात नही है। कम शिक्षित लोगो की बात तो छोड़िए, उच्च शिक्षित लोगो मे भी डायरी लिखना अभी बहुत लोकप्रिय नही हो पाया है। लोग डायरी रखते भी है, तो केवल दिन-भर के खर्च और आमदनी का हिसाब-किताब रखने के लिए ही। अत डायरी लिखने वाले पात्र का व्यक्तित्व बहुत सोच-समझकर और सावधानी क साथ निश्चित करना चाहिए। डायरी में जो कुछ भी पात्र लिखे, उसी के अनुरूप उसका आचरण और चरित्र हो। एक डॉक्टर या वैज्ञानिक का साहित्यिक बाते करना (जब कि प्रारम्भ मे ही यह सकेत-सूत्र न दे दिया जाए कि उसकी साहित्य मे रुचि है) एव साहित्यिक भाषा-शैली मे डायरी लिखना बहुत तर्कसगत नही सिद्ध किया जा सकता। उसी तरह छात्र जीवन से सम्बन्धित पात्र द्वारा अपनी डायरी मे किसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की भाँति बाते करना भी अनुचित होगा। डायरी शैली मे वस्तुत पर्याप्त सावधानी की अपेक्षा होती है। इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'अन्ना' तथा नरेश मेहता की 'तिष्यरक्षिता की डायरी' इस शैली मे लिखी गई कुछ सुन्दर कहानियाँ हैं।

इधर जब से आचलिक कहानियो की लोकप्रियता मे वृद्धि हुई है; एक नई कहानी शैली विकसित हो रही है, जिसका उपयोग अब आचलिक शैली मे लिखी गई कहानियो के अतिरिक्त दूसरी कहानियो मे भी होने लगा है। यह शैली चित्रात्मक (Photographic) है, जिसमे कहानीकार एक फोटोग्राफर का रूप धारण कर लेता है और किसी स्थान-विशेष के रीति-रिवाजो, सस्कृति, सभ्यता, लोक-जीवन, आचार-व्यवहार, राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियो, धार्मिक रूढियो, नए अकुरित होने वाले प्रगतिशील तत्वो, नारी और पुरुष की दृढ़ इच्छाओ, उद्देश्यो, सघर्षो, पराजय—एव विजय, अतृप्त इच्छाओ एव वासनाओ आदि के स्नैपशाट्स प्रस्तुत करता चलता है। इस प्रकार की कहानिया एक एल्बम की तरह होती हैं, जिनमे कई छोटे-बड़े स्नैपशाट्स होती है और आपस मे असम्पृक्त सी प्रतीत होने पर भी कुल मिलाकर वे विराट्ता का बोध देती है। इस शैली के प्रयोग की भी सीमाएँ हैं। जिस प्रकार

कैमरे से अनेक शाट्स लेकर चित्रकार किसी स्थान का पूर्ण चित्र-प्रतिबिम्ब उपस्थित कर देता है, उसी प्रकार कहानीकार को भी किसी अचल विशेष का पूर्ण चित्र अपनी कहानी मे उपस्थित करना पडता है। इसमे उसे लघुता की सीमाओ मे आबद्ध रहते हुए भी अत्यन्त व्यापक परिवेश अपनाना पडता है और कई पात्रो का समावेश करना पडता है। अत जिस प्रकार कैमरामैन अपने कैमरे का एगिल सावधानी से निश्चित करता है कि उसके उतारे गए चित्र मे पूर्णता हो, साथ ही अनावश्यक दृश्यो का बहिष्कार भी हो, कहानीकार को भी इस प्रकार केवल वही स्नैपशॉट प्रस्तुत करने चाहिए, जो कहानी की पूर्णता के लिए आवश्यक हो, साथ ही जिनसे उस अंचल विशेष की भी पूर्णता का आभास हो। इस शैली की काफी आलोचना भी हुई है, जिनमे कहा गया है कि इस शैली के अपनाने से कहानियो मे प्रवाहमयता नही रह पाती और पाठक को अनावश्यक रूप से रुक-रुककर चलना पडता है, जिसके कारण वह उस आनन्द तत्व की उपलब्धि नही कर पाता, जो कहानियो की प्रमुख विशेषता समझी जाती है और जिसका वह अधिकारी है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि इस शैली मे कोई पात्र कथानक के वातावरण से ऊपर उठ नही पाता और न ही वह कथानक का सूत्र सचालन कर पाता है। फलस्वरूप इस शैली मे लिखी जाने वाली कहानियो मे नायक-नायिका तो दूर कोई प्रधान पात्र भी नही बन पाता। सूक्ष्म परीक्षण से ये सभी आरोप निराधार सिद्ध होते है। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम' मे क्या कोई नायक-नायिका नही हैं? हिरामन और हीराबाई क्या हैं? क्या इस कहानी मे प्रवाहमयता नही है? फणीश्वरनाथ रेणु की कुछ दूसरी कहानिया 'तीन बिंदिया', 'सिरपचमी का सगुन' तथा 'रसप्रिया' इस शैली मे लिखी गई अत्यन्त सफल कहानिया है। मार्कण्डेय, शैलेश मटियानी तथा शानी आदि ने भी इस शैली मे कुछ सुन्दर कहानिया लिखी हैं। रेणु की एक कहानी का उदाहरण यहां प्रस्तुत है—

"गाड़ीवानो के दल मे तालिया पटपटा उठी थी एक साथ। सभी की लाज रख ली हिरामन के बैलो ने। दुमककर आगे बढ गए और बाघगाडी मे जुट गए—एक-एक करके। सिर्फ दाहिने बैल ने जुतने के बाद ढेर-सा पेशाब किया था। हिरामन ने दो दिन तक नाक से कपडे की पट्टी नही खोली थी। बडी गद्दी के बडे सेठ जी की तरह नकबन्धन लगाये बिना बघाइन गन्ध बरदाश्त नही कर सकता कोई।"

... बाघगाड़ी की गाड़ीवानी की है हिरामन ने। कभी ऐसी गुदगुदी नही लगी पीठ में। आज रह-रहकर उसकी गाडी मे चम्पा का फूल महक उठता है। पीठ मे गुदगुदी लगने पर वह अगोछे से पीठ झाड लेता है।

हिरामन को लगता है, दो वर्ष से चम्पानगर मेले की भगवती मैया उस पर

प्रसन्न हैं। पिछले साल बाघगाड़ी जुट गई। नगद एक सौ रुपये भाडे के अलावा बुताद, चाह-बिस्कुट और रास्ते-भर बन्दर-भालू और जोकर का तमाशा देखा सो फोकट मे!

और, इस बार यह जनानी सवारी। औरत है या चम्पा का फूल! जब से गाडी मे बैठी है, गाडी मह-मह महक रही है।

कच्ची सडक के एक छोटे से खड्ड मे गाडी का दाहिना पहिया बेमौके हिचकोला खा गया। हिरामन की गाडी से एक हल्की 'सिस' की आवाज आई। हिरामन ने दाहिने बैल को दुआली से पीटते हुए कहा—साला! क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या?

—अहा! मारो मत!

अनदेखी औरत की आवाज ने हिरामन को अचरज मे डाल दिया। बच्चो की बोली जैसी महीन, फेनूगिलासी बोली?[१]

हिरामन की गाडी मे हीराबाई के बैठने के पश्चात् उसके भाव दशा का यह एक स्नैपशाट् रेणु ने बडी सुन्दरता से उतारा है। मनोवैज्ञानिक ढग से कथानक प्रस्तुत करने की एक अभिनय शैली चेतना प्रवाह पद्धति (Stream of consciousnsress) है। इस शब्द का प्रथम प्रयोग कदाचित् १९१८ मे डॉरथी रिचार्ड्सन के उपन्यासो की मेसिक्लेपर द्वारा की गई समीक्षा मे किया गया था। इस शैली मे[२] पात्रों के मस्तिष्क मे प्रत्येक क्षण जो विचार उठते रहते हैं, कहानीकार उन्हे उसी रूप मे चित्रित करता जाता है। पश्चिमी साहित्य मे इसका सूत्रपात डॉरथी रिचार्ड्सन जेम्स ज्वायस, रोम्या रोला और वर्जीनिया वुल्फ आदि कथाकारो द्वारा किया गया है। हिन्दी कहानियो मे इसे लाने का श्रेय अज्ञेय को है। प्रभाकर माचवे, निर्मल वर्मा आदि की कहानियो मे भी इसका प्रयोग लक्षित होता है। इस प्रकार की शैली मे कहानीकार पात्रो के चेतन मन मे प्रविष्ट कर जाता है और उसका मध्यस्थ रूप गायब हो जाता है। पूर्व—प्रेमचन्द काल या प्रेमचन्दकाल मे प्राय इतिहासकार या रिपोर्टर के रूप मे कहानीकार सामने आता था, पर इस शैली के प्रचलन से पाठक पात्रो की चेतना के

---

१ फणीश्वरनाथ रेणु : ठुमरी, (१९५९), दिल्ली, पृष्ठ १३०-१३१

2 "Every definite image in the mind is steeped and dyed in the free water that blows round it The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surrounds and escorts it consciousness does not appear to itself chopped it in bits it is nothing jointed , it blows let us call it the stream of thought, of consciousness, or of subjective life"

—विलियम जेम्स प्रिंसिपुल्स ऑव साइकोलॉजी, (१८९०), पृष्ठ ८६

अत्यधिक निकट आ गया और उसकी चेतना मे उठने वाली लहरो से बराबर उसका क्षण-क्षण पर सम्पर्क स्थापित होता रहता है। चेतना मे उठने वाली लहरे विभिन्न दिशाओ मे प्रवाहित होती हैं। एक ही समय मे एक व्यक्ति मानसिक रूप मे परेशान हो उठता और अपने प्रेम, परिवार घृणा, सत्य, निराशा, सफलता असफलता और समाज एवं राष्ट्र की अनेक बातो को सोचता है। कभी-कभी वह निरर्थक बाते भी सोचता रहता है। कहानीकार उसकी चेतना के एक कोने मे चुपचाप बैठा सारे भावो को कागज पर अकित करता रहता है और एक कहानी की रचना हो जाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी :

"आने वाले दिन अधेरे मे टटोलकर बाबू ने टेबल लैम्प जलाया। वहाँ अब कोई नही था। सिर्फ एक सरसराहट थी--खिडकी का पर्दा हवा मे डोलता हुआ सुराही को छू लेता था; ढक लेता था इस मौन को, जो दो साँसो के बीच सिमट आता था। अब उन्हे कोई नही देख रहा। दबे कदमो से आलमारी के पास आए। सबसे नीची दराज मे वह रखा था—रजिस्टर। बहुत पुराना और जर्द। दस वर्ष पहले, जब रिटायर हुए थे, इसे खरीदा था। अँगुलियाँ फिरती है एक एक पन्ने पर। जब रिटायर हुए थे, तो नन्हे ने बी० ए० किया था (सब-कुछ दर्ज है रजिस्टर मे)। तब नौकरी कर लेते। तो आज···लेकिन · वैसे देखो तो हमारे नन्हे सबसे अलग हैं। दो पात्रो के बीच आँखे थिर रह जाती है·· नितिन, नन्हे और मुन्नी की जन्मतिथियाँ। कौन-से दिन वे रिटायर हुए। किस दिन मकान खरीदा। नितिन की नौकरी। किस वर्ष और किस डिवीजन मे नन्हे ने बी० ए० पास किया। (अखबार का वह पन्ना आज भी रजिस्टर मे रखा है, जिसमे नन्हे का रिजल्ट निकला था और नन्हे के नाम के नीचे पेसिल की रेखा खीची गई है।) और तब आँखे सहसा टिक जाती है··· १६ जुलाई लूसी, जिसे दो महीने पहले नन्हे अपनी साइकिल की टोकरी मे लाए थे, आज शाम से बीमार है। बार-बार उलटी करती है। पीडा असह्य है। जान पडता है, सुबह तक नही बचेगी। बस इतना ही· फिर उन्होने नीद की गोलियाँ पानी के सग निगल ली। उन्हे कैसे मालूम, नीद की सीमा पर एक अजीब सा विचार एक जिद्दी मक्खी-सा भिनभिनाता रहा। उन्हे कैसे मालूम की पीडा असह्य है। एक हल्का-सा झटका लगता है, जैसे कोई फुसफुसाता हुआ उनके कानो मे कह रहा हो— 'बच नही सकेगी'। आदमी 'बचता' कैसे है ?[१]

कहानी प्रस्तुत करने की एक अन्य शैली नाटकीय है, जिसमे नाटको की प्रवृत्तियाँ लेकर कथोपकथनो के माध्यम से सारी कहानी कहने का प्रयत्न किया जाता है। इसमे वर्णनात्मकता अथवा विवरणात्मक प्रवृत्तियो का उपयोग नही होता। ये कहानियाँ बौद्धिक होती हैं और इनमे सकेतात्मकता तथा व्यजना की प्रधानता होती

१. निर्मल वर्मा . जलती झाड़ी, (१६६४), दिल्ली, पृष्ठ ५६-५७।

है। कथोपकथनो के लिखने मे बडी कुशलता की अपेक्षा होती है, क्योकि उन्ही के माध्यम से न केवल पात्रो के व्यक्तित्व, उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तथा अन्तस की प्रवृत्तियो को स्पष्ट किया जाता है, वरन् सारी कहानी ही गतिशील होती है। इसके दो रूप होते हैं। एक सलाप शैली, दूसरा एकाँकी नाटक शैली। सलाप शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"भोजन की थाली पर बैठे छोटे राजकुमार ने पूछा, माँ वह महल लाल पन्ने का है न ?

रानी ने कहा—कौन-सा महल बेटा ? यह तुम कुछ खा नही रहे हो। खाओ।

राजकुमार ने कहा—माँ सात समुद्र पार जो नीलम के देश की छोटी-सी रानी है। उसका महल लाल पन्ने का तो है न ?

माँ ने कहा—हाँ बेटा, लाल पन्ने का है, और उसमे हीरे भी लगे हैं और उस महल का फर्श···पर वह तो कहानी रात को होगी। अब तुम खाना खाओ।[1]

एकाँकी नाटक शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"हलकी डरी निशा के चेहरे पर आश्वस्तता आयी और उसने चूहे जैसे लटके बिल्ली के बच्चे को लद्से जमीन पर पटक दिया। बच्चा 'म्याऊँ' बोला और भाग गया। निशा भागते बच्चे को कुछ क्षण तो देखती रही फिर सहसा राघव की टाँग पर हाथ टिका झूलती हुई बोली :

"पापा जी, यहाँ बत्ते तो हैं नही हम किछके छात खेलें ?"

"आइए हमारे साथ खेलिए।"

"हिश्ट्।।"

"आप कब तक हैं यहाँ ?"

"अभी एक दो दिन तो हूं ही।"

"कल वैसे आपका क्या कार्यक्रम है ?"[2]

अन्त मे मिश्रित शैली का भी उल्लेख कर दू। कुछ कहानियाँ इस ढंग से प्रस्तुत की जाती है, जिसमे पत्रात्मक, डायरी, आत्मकथात्मक, चित्रात्मक, सलाप आदि शैलियो का मिश्रित रूप अपनाकर कथानक के सूत्र सगुफित किए जाते हैं। इसमे कहानीकार अपने उद्देश्य को अत्यधिक प्रभावशाली ढग से स्पष्ट कर सकता है,क्योकि स्थिति की आवश्यकतानुसार वह किसी भी शैली का उपयोग कर सकता है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे इस शैली मे अधिक सूक्ष्मता आती है और वे पूर्णता के साथ प्रस्तुत किये जा सकते है। अज्ञेय की 'कैसेन्ड्रा का अभिशाप', जैनेन्द्रकुमार की

---

१. जैनेन्द्रकुमार . एक रात, दिल्ली, पृष्ठ १२३

२. नरेश मेहता : तथापि : (दिसम्बर १९६१), बम्बई, पृष्ठ ३०-३१

'एक रात' तथा उपेन्द्रनाथ अश्क की 'पिंजरा' आदि कहानियाँ इसी शैली मे लिखी गई हैं।

पात्र एवं चरित्र-चित्रण

कथानक के पश्चात् पात्रो का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान कहानी मे होता है। जब कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया है, तो स्पष्ट है कि ये पात्र भी हमारे सामाजिक जीवन से ही लिए जाएगे और उनका उसी यथार्थता से चित्रण भी किया जाएगा। कहानी मे चित्रित पात्रो की यथार्थता प्राय इतनी सफल होती है कि पाठक उन विशेषताओ एव प्रवृत्तियो से सम्पन्न व्यक्ति को तो जानता है, पर उसके परिचित का वह नाम नही है, जो कहानी के पात्र का नाम है। केवल नाम का अन्तर हो सकता है, पर मूलभूत सत्य यही है कि कहानी के पात्रो और मानवीय जीवन के पात्रो मे विशेष अन्तर नही होता। कहानीकार मानव जीवन ही जीता है, कोई दैवी जीवन नही। हमारे मध्य ही वह रहता है। हमारी जीवनगत विषमताओ एव दुरुहताओ से स्वय उसका भी साक्षात्कार होता है और उसकी कटुता का पान उसे भी करना पडता है। अत स्वाभाविक है कि वह उस जीवन की उपेक्षा नही कर सकता और उसी से प्रेरणा ग्रहण कर अपने पात्रो का स्वरूप निर्धारित करता है। यह बात दूसरी है कि कहानी के पात्र बराबर हमारी आँखो के सामने न रहे और हमारा उनका साक्षात्कार बराबर न होता रहे, पर मात्र इतने से ही हम उन्हे पूर्णतया कल्पित या निराधार नही कह सकते। हमारे अपने जीवन मे भी तो कितने ऐसे परिचित हैं, जिनसे रोज तो क्या, कदाचित् वर्षों भी नही मिल पाते और कुछ अर्थों मे तो हम उनसे कभी भी जीवन पर्यन्त नही मिल पाते। फिर भी हम उनके जीवन की प्रक्रियाओ, क्रिया-कलापो एव उनकी विशेषताओ से परिचित होते रहते है। तो क्या उन्हे हम पूर्णतया कल्पित और इस सृष्टि मे उनके अस्तित्व निराधार मान लेते है? कहते हैं, कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष और केन्द्रीय सरकार मे वर्तमान श्रम मन्त्री श्री डी० संजीवैया ने अपने जीवन मे गाँधी जी को कभी नही देखा था, तो क्या उनके लिए गाँधी जी का अस्तित्व निराधार है? नही। कहानी के पात्रो का स्वरूप भी बहुत कुछ इसी प्रकार का होता है।

इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय बात यह है कि जीवन और कला दो नितान्त भिन्न चीजे हैं और एक के अस्तित्व का दूसरे के अस्तित्व से कोई विशेष सम्बन्ध नही होता। जीवन मे एक व्यक्ति तब तक बना रहता है, जब तक उसकी मृत्यु नही हो जाती, दूसरे शब्दो मे मृत्यु के बिन्दु तक जीना उसकी बाध्यता होती है, जबकि कहानी मे व्यक्ति का होना या न होना कला की आवश्यकतानुसार होता है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कहानीकार जेम्स ओपेनहेम ने एक बार यह पूछे जाने पर, क्या वे जीवन के यथार्थ से पात्रो को लेकर वैसे ही चित्रित कर देते हैं, कहा था कि जीवन के यथार्थ

से लिए गए पात्रों को कहानी मे प्रस्तुत करते समय कल्पना और प्रतिभा के योग से वस्तु की आवश्यकतानुसार ढालकर प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् किसी-न-किसी रूप मे उसका सस्कार कहानीकार द्वारा अवश्य हो जाता है।[1] वास्तव मे पात्रो की सजीवता ही कहानी का आधार होता है।[2] इस सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने भी लिखा है कि कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नही। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका मापदण्ड भी जीवन के मापदण्ड से अलग है। जीवन मे बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है, जब यह वाँछनीय नही होता। जीवन किसी का दायी नही है, उसके सुख-दु ख, हानि-लाभ जीवन-मरण मे कोई क्रम, कोई सम्बन्ध नही ज्ञात होता, कम से-कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्यकारचा हुआ जगत है और परिमित होनेके कारण सम्पूर्णत हमारे सामने आ जाता है और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय बुद्धि का, अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा मे अगर किसी को सुख प्राप्त होता है, तो उसका कारण बताना होगा, दु ख भी मिलता है, तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नही सकता जब तक कि मानव न्यायबुद्धि उसकी मौत न मागे। स्रष्टा को जनता की अदालत मे अपनी हर एक कृति के लिए जवाब देना पडेगा। कला का रहस्य भ्राति है पर, वह भ्राति जिस पर यथार्थ का आवरण पडा हो।

कहानी के पात्रो की मेरे विचार से सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यही होती है कि वे जीवन के स्थानापन्न बन कर ही आते है और मानवीय सवेदनशीलता को यथार्थ अभिव्यक्ति देते हैं। जब कोई कहानीकार उनके माध्यम से मानव सम्बन्धो का स्पष्टीकरण एवं मानव-मूल्यो की प्रतिष्ठापना करने मे असमर्थ रहता है, तो एक प्रकार से वह अपने उद्देश्य मे असफल रहता है। कहानीकार कुछ शब्द जाल आत्माभिव्यक्ति करता हुआ बुन देता है, उसे नाम देता है, उसमे प्राण सचारित करता है, स्त्री-पुरुष का भेद प्रदान करता है, उन्हे अनुभाव देने के साथ ही उनसे

1 'When you build a story around a character do you use the character about as you find him in real life ?"

Practically never, things and people as they are in real life won't do for short stories. They are only starting points, spring board "

—क्लेन क्लार्क : ए मैनूअल ऑव शॉर्ट स्टोरी आर्ट, (१९२६), पृष्ठ ११८

2 "One of the best definitions ever given of the technique of fiction is that action reveals character and that character demonstrates it self in action and action is only another word for incidents."

—सिआॅन ओ फॉओलेन : द शॉर्ट स्टोरी, पृष्ठ १६५

उद्धरण चिन्हो के माध्यम से वार्तालाप भी करवाता है। वे मानव जीवन जैसे व्यवहार भी करने के लिए कहानीकार द्वारा बाध्य किए जाते है—इस प्रकार जब हर दृष्टि से उसमे जीवन के यथार्थ के विभिन्न रग भर दिए जाते हैं, तो वे कहानी के पात्र बन जाते हैं। सत्य तो यह है कि आज हम मानव जीवन के जितने भी स्वरूप देखते है, उनकी प्रतिकृति कहानी के पात्रो मे देखने को मिल जाती है—नाम और रगो मे चाहे जितने ही भेद क्यो न मिले। मेरे विचार से कहानी के पात्र मानव मात्र से भिन्न हो ही नही सकते। वे हो भी नही सकते, क्योकि कहानियो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव जीवन से ही होता है। हम जो जीवन जीते हैं, प्रसन्नता आह्लाद, सुख एव दुख मे हमारी जो मनःस्थितियाँ होती है ये पात्र भी उन्ही से होकर गुजरते है। यदि ऐसा नही है, तो कहानी की वास्तविकता सदिग्ध है—ऐसी कहानियाँ असफल एवं अस्वाभाविक होती है यह भी आवश्यक नही है कि कहानी के पात्र केवल मनुष्य ही हो वे मनुष्येतर जीव प्राणी और पशु पक्षी भी हो सकते है पर चूकि अभी तक उनकी भाषा का अध्ययन नही किया गया है, इसलिए कहानी के पात्रो के रूप मे भी उनको कल्पना सफलतापूर्वक नही हो पाती है। अत वर्तमान परिस्थितियो मे कहानी के पात्रो का क्षेत्र अभी मनुष्यो तक ही विशेष रूप से सीमित है पर स्पष्टत यह अन्तिम सीमा नही हैं।

जब हम कहानी मे पात्रो की यथार्थता के सम्बन्ध मे कोई बात कहते हैं, तो यह स्मरण रखना चाहिए कि तमाम सारी बातो के बावजूद मानव जीवन के व्यक्तियो को ज्यो का त्यो ही अपनी कहानियो मे लेखक नही ला बिठाता। यदि वह ऐसा करता है, तो यह लाभ उसका दुराग्रह ही होगा, क्योकि मानव जीवन मे व्यक्तियो को जीवन के क्षेत्र मे गतिशील होना पडता है, जबकि कहानी के पात्र को कहानियो के ससार मे जो अपनी सारी यथार्थता के होते हुए भी कला का एक अन्यतम स्वरूप मात्र है। अत कहानीकार जीवन के मौलिक व्यक्तियो की हूबहू अनुकृति नही करता।[1] मानवीय जीवन के व्यक्तियो मे केवल बाह्य क्रिया कलापो से ही हम परिचित होते हैं। वे मन मे क्या सोचते है, वहाँ छल कपट है या दया भाव है, स्वार्थ की गहन् भावना है या सहानुभूति की चरम सीमा; इन सब तथ्यो से हम पूर्णतया अपरिचित ही रहते हैं, जब तक कि वह व्यक्ति विशेषकर स्वय हमसे यह न

1. "The writer does not copy his originals , he takes what he wants from them, a few traits that have caught his attention, a turn of mind that has fined his imagination and thereform constructs his character. He is not concerned whether it is a truthful likeness , he is concerned only to create plausible harmony convenient for his own purpose."

—सॉमर सेट मॉम

कहे कि वह ऐसा है। यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि यह संसार कुछ और नही, वाह्य प्रदर्शन का मरुस्थल मात्र है, जहा मानवीय जीवन सवेदनाओ व्यक्ति मूल्यो एव सहानुभूतिपरक दृष्टिकोणों का कोई मूल्य नही, कोई महत्व नही। यहा प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुर्बलताओ एव कुरूपताओ को मन मे ही छिपाकर ऊपर से आदर्शवादिता का ऐसा आवरण डाल लेता है कि व्यक्ति-व्यक्ति को पहचानना नितान्त रूप से कठिन होता है। पर कहानियो के क्षेत्र मे ऐसा नही होता। उस ससार के पात्र हमारे अत्याधिक निकट रहते हैं। उनके समस्त जीवन हमारे सामने रहस्य रहित रूप मे फैला रहता है, उनका कुछ भी हमसे रहस्यपूर्ण नही रहता। किन परिस्थितियो मे उनके मन मे किस प्रकार के भाव जन्म लेते हैं, वे क्या सोचते हैं, अन्दर से ये उजले है या काले आदि सभी बातो से हम पूर्णतया परिचित रहते हैं, इसीलिए उन पात्रो का मूल्याकन करना हमारे लिए कठिन नही होता, पर यह अन्तर केवल आन्तरिक भावनाओ से परिचित होने तक ही सीमित है। जहा तक उनकी चरित्रगत विशेषताओ एव प्रकृतियो का प्रश्न है, मानव जीवन के व्यक्तियो का प्रश्न है वे मानव जीवन के व्यक्तियो से भिन्न नही होते और यथार्थता तथा स्वाभाविकता ही उनके जीवन की मूल सवेदना होती है।

इस प्रश्न पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। पूछा जा सकता है कि मानव जीवन के यथार्थ से चुने गये सजीव पात्र और कहानी के यथार्थ-पात्र आखिर यह कहने का अभिप्राय क्या है? ईश्वर इस मानव-सृष्टि की रचना करता है कहानीकार अपने कहानी ससार की। रचनाकार दोनो ही है, पर दोनो मे तात्त्विक अन्तर होता है। ईश्वर ऐसे जाने कितने व्यक्तियो का निर्माण करता है, जो बिल्कुल ही दिलचस्प नही होते और उनके साथ उठना-बैठना या उनसे निकटता स्थापित करना हम श्रेयस्कर नही समझते। पर कहानीकार, इसके विपरीत ऐसे पात्रो का सृजन करता है, जो दिलचस्प होते है, उनका कहानी के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण स्थान होता है। जबकि ईश्वर द्वारा रचे गये सभी व्यक्ति इस संसार मे महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करें, यह आवश्यक नही, साथ ही सम्भव भी नही। कहा जा सकता है कि कहानियो मे भी तो गौण पात्रो का विधान है। हा पर कहानीकार उन्ही गौण पात्रो का निर्माण करता है, जो कथानक विकास की दृष्टि से अनिवार्य होते हैं, अन्यथा नही। एक प्रकार से कहानीकार का निर्माण क्षेत्र कुछ सीमित होता है। ईश्वर का अत्यन्त व्यापक। उस व्यापकता मे वह महत्वपूर्ण और महत्वहीन दोनो प्रकार के व्यक्तियो को जन्म देता है, पर कहानीकार केवल आवश्यक पात्रो का ही निर्माण करता है। वह आवश्यक पात्रो का भी निर्माण कर सकता है, पर ऐसा करने से उसकी कहानी असफल ही बन पडती है, उसमे वह गठन नही आ पाता, जो अच्छी एव सफल कहानियो के लिए आवश्यक होता हैं। पात्रो के सम्बन्ध मे

एक बात और भी आवश्यक होती है। उनका वास्तविक होना अत्यन्त आवश्यक होता है। अवास्तविक एव अयथार्थ प्रतीत होने वाले पात्र पाठको के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव डालने मे असमर्थ होते है, वे क्षण भर को अपनी भावुकता या किन्ही चमत्कारो के कारण आकर्षित भले ही कर ले। पर प्रभाव के स्थायित्व और आकर्षण की क्षणिकता मे बडा अन्तर है। प्रभाव की प्रतिक्रिया आन्तरिक होती है, आकर्षण का बाह्य। प्रभाव मन को उद्वेलित करता है, आकर्षण केवल जिज्ञासा उत्पन्न करता है, वह वासनात्मक होता है। यह वासना का आशय व्यापक अर्थो मे ही ग्रहण किया गया है। अत जब भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन पात्रो की क्रियाएँ, आचरण एव व्यवहार अमानवीय हैं, इस सृष्टि के नही, अपितु कल्पना जगत के हैं या आध्यात्मिक धरातल के है, वही वे पात्र असफल हो जाते हैं। वास्तव मे कहानी रचना किसी निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर होती हैं। केवल मनोरजन या कल्पना लोक का निर्माण करना आज के कहानीकार का दायित्व नही है। आज उसका दायित्व सत्यान्वेषण, मूल्य निर्माण और दिशा-निर्देशन का है। अपने अनुभवो को कहानी के माध्यम से पाठको तक पहुचाना है उसका उद्देश्य होता है और इसकी पूर्ति उसके यथार्थ पात्र ही सशक्त ढग से कर सकते है अत॰ इन पात्रो का स्वाभाविक, सजीव एव यथार्थ होना आवश्यक होता है, क्योंकि तभी कहानीकार का उद्देश्य भी सफल होता है। यही कारण है कि धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुश का बेटा', मोहन राकेश की 'मन्दी', नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', कमलेश्वर की 'मर्दों की दुनियाँ', राजेन्द्र यादव की 'जहा लक्ष्मी कैद है', निर्मल वर्मा की 'लन्दन की एक रात', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम', मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने मे', उषा प्रियवदा की 'खुले हुए दरवाजे', मार्कण्डेय की 'हसा जाई अकेला' तथा भीष्म साहनी की भीफ की 'दावत' के पात्र हमारे अत्यन्त निकट प्रतीत होते हैं। उनमे वास्तविकता और जीवन के प्रति सच्चाई है। आस्था एव सकल्प के साथ विषमताओ से संघर्ष के प्रति ईमानदारी है और सबसे बडी बात यथार्थता है। पर इसके ठीक विपरीत जब इन्ही कहानीकारो की क्रमश 'मरीज', 'जख्म', 'एक इतिश्री', 'तलाश', 'सिलसिला', 'दहलीज', 'सन्त तुलसीदास और सोलहवा साल', 'टेबुल', 'तीसरा आदमी', 'चाँदनी मे बर्फ पर', 'मई', तथा 'भटकती राख' आदि कहानी के पात्रो को देखते हैं, तो आकर्षक व्यक्तित्व और सारे लेखकीय कलात्मक कौशल के बावजूद वे अयथार्थ प्रतीत होते हैं—न वे किसी मानव-सम्बन्धो का उद्घाटन करते हैं, न मानव-मूल्यो की यथार्थता ही स्पष्ट करते हैं।

इस प्रकार यथार्थ होना—कहानी के पात्रो की सफलता असफलता की दो महत्वपूर्ण सीमाएँ हैं। अब दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि कहानी मे पात्रो की सख्या दो-तीन-चार या कितनी हो ? इस प्रश्न की अनिवार्यता के साथ ही उत्तर भी

कहानी की वस्तु एव कहानीकार के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। यदि कहानीकार बहिर्मुखी व्यक्तित्व का है, तो स्वाभाविक है, उसका दायरा भी व्यापक होगा, मित्रो की सख्या अधिक होगी, सामाजिक सम्बन्ध विस्तृत होगे। कहने का अभिप्राय यह होगा कि उसका परिवेश अत्यन्त व्यापक सीमाओ मे आबद्ध होगा। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाले कहानीकार की सीमाएँ सीमित होगी। कमरे की बन्द दीवारो के भीतर ही चिन्तन-मनन एव अपार बौद्धिकता से वह एक नई सृष्टि का निर्माण करता है और वही सृष्टि उसकी कहानियो का सृजन-स्रोत होती है। स्पष्ट है कि उसका सामाजिक सम्बन्ध व्यापक नही होगा, मित्रो एव परिचितो की सख्या अधिक नही होगी, उसका परिवेश सीमित होगा। मैग्डूगल के अनुसार एक अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला युवक था, उसने अपने को समाज से बिल्कुल अलग रखा। वह किसी से मिलता-जुलता नही था। कमरे मे ही बैठा बडी-बडी पुस्तके पढा करता था और उन पर चिन्तन करके स्वय से ही तर्क वितर्क किया करता था। सारे जीवन भर उसका कोई मित्र नही बन सका। अगल-बगल रहने वाले उसके यहा जबर्दस्ती दो एक बार आए भी पर सारी आवभगत के पश्चात् भी उसका व्यवहार उनके प्रति शुष्क ही रहा। वह वापसी मे भी अपने पडोसियो के यहा नही गया फलस्वरूप उसका सम्बन्ध किसी से स्थापित नही हो गया। यहाँ तक कि जब उसकी मृत्यु हुई, तो उसका कोई मित्र नही था। म्युनिसिपैलिटी की गाडी आकर उसका शव ले गई। यहाँ कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि मानव व्यक्तित्व की ये दो प्रवृत्तियाँ कहानी के पात्रो से भी घनिष्ठतम रूप मे सम्बद्ध हैं। बहिर्मुखी व्यक्तित्ववाला कहानीकार सीमित परिवेश से कभी सन्तुष्ट नही होगा। उसकी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उसकी कहानियो की सीमा (convass) भी विस्तृत होगी। वह जीवन की व्यापक सीमाओ को बडी कुशलता से असनी कहानियो मे सगुफित करने का प्रयत्न करेगा। स्वाभाविक है, उसका यह उद्देश्य एक दो पात्रो से नही, बल्कि अनेक पात्रो को रखने से ही पूर्ण होगा। इससे विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्तित्व वाला कहानीकार जीवन की व्यापक सीमाओ की तो कभी बात भी नही सोच सकता। वह एक सीमित परिवेश मे ही आगे बढेगा और अपने आत्मचिंतन, दर्शन एव बौद्धिक आग्रहो को अभिव्यक्ति करने की चेष्टा करेगा। उसकी कहानियो के कथानक व्यापक भावभूमियो पर नही सगुफित होगे, अत उसका काम कुछ इने-गिने पात्रो मे ही चल जाता है। कभी कभी तो वह एक पात्र से ही अपना काम चला लेता है। पहली प्रवृत्ति के उत्कृष्टतम उदाहरण प्रेमचन्द है। जो लोग प्रेमचन्द से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे, वे जानते हैं कि प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कितना बहिर्मुखी था। जनके मित्रो की सख्या कितनी अधिक थी और उनके सामाजिक सम्बन्ध कितने व्यापक थे। यही कारण है कि हमे उनकी सभी कहानियो मे मानव जीवन की व्यापकतम सीमाएँ कुशलतापूर्वक सगुफित प्राप्त होती है और इसीलिए उनकी कहानियो मे पात्रो की सख्या भी अधिक होती

थी। इसके विपरीत जैनेन्द्र कुमार का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी हैं। वे आत्म-चिन्तन को अधिक महत्व देते है, इसीलिए उनकी अधिकाँश कहानिया आकार मे लघु है और उनमे जीवन की वे व्यापक सीमाएँ नही आबद्ध की गई हैं, जैसा प्रेमचन्द ने किया था। फलस्वरूप उनकी कहानियो मे पात्रो की सख्या भी अधिक नही है।

अत कहानी मे पात्र कितने हो और कितने न हो—इस समस्या को दो बाते प्रभावित करती है। एक तो कहानीकार का व्यक्तित्व दूसरे कथानक का स्वरूप कथानक का स्वरूप भी स्पष्ट है। कहानीकार के व्यक्तित्व से ही प्रभावित रहता है। पर पात्रो की सख्या के सबन्ध मे यहाँ एक बात स्पष्ट कर देनी और भी आवश्यक है वह है पात्रो की सख्या और उनका सफल निर्वाह। पात्रो की अधिक सख्या से किसी को भी शिकायत नही हो सकती पर अनिवार्यत उन सभी का सफल निर्वाह भी होना चाहिए। प्राय होता यही है कि अधिक पात्र रख तो लिए जाते है, पर उनका सफल निर्वाह नही हो पाता। कहानी की सीमाएँ होती है, जिनमे सभी पात्रो के चरित्र को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर नही प्राप्त होता और बहुधा वे अस्पष्ट ही रह जाते है। कहानीकार भी साधारण मानव होता है, ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न नही। लघु आकार मे सब पात्रों के चारित्रिक विकास की स्वाभाविकता नही बनाए रख पाता और रख भी नही सकता। अत या तो पात्रो की बीच मे हत्या कर देनी पडती है, या उनकी असमायिक मृत्यु हो जाती है या फिर वे बीच मे ही ऐसा गायब हो जाते हैं कि अन्त तक उनका पता ही नही चल पाता और पाठक उन्हे खोजते ही रह जाते है। प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल और भगवतीचरण वर्मा की कहानियो मे ऐसा बहुत हुआ है। वास्तव मे पात्रो की सख्या बस उतनी ही होनी चाहिए, जिससे कथानक की अनिवार्य आवश्यकताएँ और लेखक का उद्देश्य पूर्ण हो जाए दूसरे कहानी की लघु सीमाओ मे कहानीकार उनके स्वाभाविक चारित्रिक विकास की ओर पूर्ण ध्यान दे सके। पात्रो की सख्या का सम्बन्ध लेखक के उद्देश्य से भी होता है। प्राय कहानीकार अपने किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति कराने के लिए विशेष पात्रो को चुनता है और उन्ही के माध्यम से कहानी मे अग्रसर होता है।

अत स्पष्ट है कि पात्र एव चरित्र चित्रण कहानी शिल्प का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। कथावस्तु यदि मूल भीत्ति है, तो पात्र उसके खेवनदार है और चरित्र चित्रण उसका आधार। यो तो पात्र किस वर्ग से लिए जाएँ, इस सम्बन्ध मे आज के कहानीकार के लिए कोई बन्धन नही है। वह अपने पात्रो को समाज के किसी वर्ग से भी ले सकता है। चाहे वे उच्च-वर्गीय हो, मध्यवर्गीय हो या उपेक्षित निम्न वर्गीय। पात्र दो प्रकार के होते है :

१. ऐतिहासिक-पौराणिक

२ सामान्य

ऐतिहासिक-पौराणिक पात्रो का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित होना चाहिए कि वे इतिहास सम्मत हो और उन्हे तुरन्त ही पहचाना जा सके। इन पात्रो के चरित्र-चित्रण मे अत्यधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। पर कभी-कभी कल्पना की दुरुहता इन पात्रो के स्वरूप को जटिल, साथ ही अस्पष्ट बना देती है। सामान्य पात्रो के साधारणीकरण मे लेखक को कोई कठिनाई इसलिए नही होती, क्योकि वे हमारे अपने बीच के होते है और पाठको को उन्हे पहचानने मे कोई कठिनाई नही होती। 'मनुष्य और उसके जीवन को अपना लक्ष्य बनाने वाला कहानीकार तभी कुशल चित्रकार से सकेगा और अपनी रचना मे सवेदनशीलता की प्राणमयी मूर्च्छना उत्पन्न कर सकेगा। जब वह अपने चतुर्दिक फैले हुए व्यापक मानव जगत को अच्छी तरह देख और समझ चुका रहेगा, जब उसे मानव-जीवन की अधिकाधिक गतिविधियों का अनुभूतिमूलक ज्ञान होगा, और मानव-चरित्र की अधिकाधिक भगिमाओ का साथ ही उनके समस्त उतार-चढाव का पूरा परिचय हुआ रहेगा। मनुष्य स्वय मे एक रहस्यमय प्राणी है। उसके किसी कार्य और भावनाओ मे कितने रूप की शक्तियाँ और भावनाएँ काम कर रही हैं, इसका पूरा बोध और ज्ञान होना चाहिए। इस विषय मे शास्त्र और अनुभव का ज्ञान रखने वाले विचारको ने सकेत दिया है कि भावी कहानीकार अपने चतुर्दिक मिलाने वाले इष्ट-मित्र और परिचितो के स्वरूप, वेश-विन्यास, उनके सास्कृतिक गहन और उनके रहन-सहन, चाल-ढाल बोल-चाल, सबकी बडी बारीकी से देखभाल करता रहे, तभी उसे विविध परिस्थितियो मे पडे हुए मानव को पूर्णतया समझाने के लिए सच्ची पकड मिल सकेगी। जितने उत्तम कहानीकार किसी भी भाषा और साहित्य मे मिलेंगे, उनमे मानव-जीवन के अध्ययन की पूरी सामग्री मिल सकती है। इस स्थान पर एक तात्विक बात का विचार आवश्यक है। एक प्रकार से इसी स्थल पर आकर साहित्य निर्माताओ मे सिद्धान्तगत भेद हो जाता है। कुछ यथातथ्य चित्रण को अपनी कृति का दृष्टिकोण मानते है और कुछ लोग विषय को अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप बनाने के अभिलाषी दिखाई पडते है। एक फोटोग्राफ पैदा करता है दूसरा चित्र तैयार करता है, परन्तु इस प्रकार का भेद-भाव व्यवहारतः बहुत स्थूल होता है। मूल बात तो यही है कि यथातथ्य-चित्रण न तो विषय को इस-दशा तक पहुचा सकेगा और न अनुरजन कर सकेगा। जैसा वस्तुत जीवन मे घटित होता है यदि उसका तद्वत् कथन हम भाषा के माध्यम से कर भी दे तो उसमे सार्वदेशिक और सार्वकालिक सवेदन की सामग्री नही मिल सकेगी। सारांश यह है कि कलाकृति के समस्त आग्रहो के अनुरूप मनुष्य के सम्पूर्ण रूप व्यापारो और अन्य बातो की काट-छाट और सवर्धन-संकोचन करना आवश्यक होता है।' इन पात्रो के चरित्र-चित्रण मे कल्पनाशीलता के स्थान पर

यथार्थता की अनुभूति से काम लिया जाता है।

कहानी के पात्रो का भी हम वर्ग बना सकते है। एक वर्ग मे हम नायक-नायिका को रख सकते हैं। दूसरे वर्ग मे प्रधान पात्रो एव गौण पात्रो को रख सकते है। पात्रो का एक वर्गीकरण उनकी प्रवृत्तियो के अनुसार किया जाता है अर्थात्

(१) स्थिर पात्र (Static characters)

(२) विकसनशील पात्र (Round characters)

कहानी मे आवश्यक नही है कि नायक हो ही, पर प्राय अधिकाँश कहानी मे नायक होते है। उसका कहानी मे महत्वपूर्ण स्थान होता है, वह कथा का संचालन करता प्रतीत होता है। या तो वह कथा स्वय कहता है, या कथा उस पर प्रोजेक्ट करके कही जाती हे। उसे हम अग्रेजी के (Hero) शब्द के अर्थ मे ही ग्रहण कर सकते हैं। नायिका की भाँति कहानी मे फलागम की स्थिति नायक को ही प्राप्त होती है। नायको की अनेक श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं

१ प्रेमी नायक
२ आदर्श नायक
३ दार्शनिक चिंतक नायक
४ गृहस्थ नायक
५. वीर नायक
६ न्यूरोटिक नायक
७. कर्मठ नायक
८. दुर्बल प्रवृत्ति का नायक
९ धूर्त चरित्र का नायक
१०. नेता नायक
११. श्रमिक नायक
१२. किसान नायक

प्रेमी नायको मे मोहन राकेश की 'पाचवे माले का फ्लैट', नरेश मेहता की 'एक इतिश्री', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', मन्नू भण्डारी की एक कमजोर लडकी की कहानी', उषा प्रियबदा की 'सर्दियो मे बर्फ पर' आदि कहानियो के नायको की गणना की जा सकती है। आदर्श नायको मे धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुस का बेटा', अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी' नरेश मेहता की 'एक शीर्षकहीन स्थिति', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक', तथा राजेन्द्र यादव की 'मरने वाले का नाम' आदि कहानियो के नायको की गणना दार्शनिक-चिन्तक नायकों मे होगी। अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' का नायक गृहस्थ नायक है। श्रीमती विजय चौहान की 'वतन' कमलेश्वर की 'दिल्ली में एक

और मौत' (सारिका दिसम्बर ६५) आदि कहानियो के नायक वीर नायक हैं। राजेन्द्र यादव की 'नए-नए आने वाले', मोहन राकेश की 'अपरिचित', नरेश मेहता की 'दूसरे की पत्नी के पत्र' आदि कहानियो के नायक न्यूरोटिक प्रवृत्तियो को लिए हुए नायक है। धर्मवीर भारती की 'चाँद और टूटे हुए लोग' अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोक' मार्कण्डेय की 'हसा जाई अकेला' आदि कहानियो के नायक कर्मठ नायक है। मोहन राकेश की 'सेफ्टीपिन' कमलेश्वर की 'एक रुकी हुई जिन्दगी' नरेश मेहता की 'चाँदनी' राजेन्द्र यादव की 'टूटना', मन्नू भण्डारी की 'तीसरा आदमी' उषा प्रियवदा की 'मछलियाँ' रमेश वक्षी की 'एक आत्महत्या' ज्ञानरजन की 'शेष होते हुए' आदि कहानियो के नायक दुर्बल प्रवृत्ति वाले ही हैं। शेखर जोशी की 'कोशी का घटवार' और 'बदबू' कहानियो के नायक श्रमिक हैं। फणीश्वरनाथ रेणु तथा शैलेश मटियानी की कई कहानियो मे श्रमिक नायक हैं। नायको की अन्य अनेक श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं। उतने ही, जितने कि मानव जीवन मे पुरुषो के रूप प्राप्त होते हैं। उन्हे किन्ही सीमाओ मे नही बाँधा जा सकता। वे कथानक के प्रारम्भ से अन्त तक घटनाओ के विकास क्रम मे उपस्थित रहते है और उन्ही परिस्थितियो मे उनका चरित्र बनता बिगडता रहता है।

नारी पात्रो मे नायिका का महत्वपूर्ण स्थान होता है। उसका कथा संगठन मे प्रमुख स्थान होता है। उसे ही नायक की भाँति फलागम की स्थिति प्राप्त होती है और कथा के सारे सूत्र उसके हाथ मे होते है। नायिका का अर्थ वही लिया जाना चाहिए, जो अग्रेजी के (Heroine) शब्द का होता है। नायिकाओ की अनेक श्रेणियाँ होती है। प्रत्येक कहानीकार नारी को विभिन्न दृष्टिकोण से परखता है। कोई उन्हे वीरांगना के रूप मे, कोई जासूस के रूप मे, कोई केवल माँ के रूप मे। कोई केवल विलासिनी के रूप मे और कोई केवल उन्हे प्रेमिका के रूप मे देखता है और उसी रूप मे चित्रित करता है। नायिका के निर्वाचन मे तत्कालीन युग की परिस्थितियो, सामाजिक मर्यादाओ, नैतिक आदर्शों और स्वय लेखक की अपनी मान्यताओ एवं धारणाओ का अत्यन्त प्रभाव पडता है। उसका स्वरूप एक प्रकार से इन्ही बिन्दुओ के मध्य निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ आज की हमारी परिस्थितियाँ कुछ नवीन प्रकार की हैं। हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति मे जी रहे हैं। आर्थिक दृष्टि से सुदृढता लाने और राष्ट्र का नव-निर्माण करने की प्रमुख समस्या हमारे सम्मुख है। इन परिस्थितियो मे आवश्यक है कि नारियाँ भी इस सामाजिक सघर्ष मे हमारे साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चले और हमे अपने अन्तिम उद्देश्य की अन्तिम सीमा तक पहुँचने मे सहायता दें। आज नारी अपने अधिकारो से वचित नही है। उसे सामाजिक और राजनीतिक सभी अधिकार प्राप्त है, साथ ही वे पुरुषो से भी समानता कर सकती है। वह परिवर्तित परिस्थितियो मे केवल भोग या विलास की

सामग्री मात्र नही रह गई। वह उस सीमा से कही आगे बढ चुकी है। घर का सीमित दायरा अब उसके विकास की राह मे समस्या नही है। यद्यपि इसका दुरुपयोग भी हुआ है और नारियाँ निरन्तर एक मृगतृष्णा के ससार मे अपना जीवन जी रही है। आज की अधिकॉश कहानियो की नायिकाएँ इसी सन्दर्भ मे कल्पित की जाने लगी है। अब किसी भी कहानी की नायिका पूर्ण रूपेण भारतीय परम्पराओ और नारीगत स्वाभाविक मर्यादाओ से ओत प्रोत नही चित्रण की जाती। सत्य तो यह है कि जिस प्रकार मानव जीवन मे विविधता है उसी भॉति हिन्दी कहानियो की नायिकाओ मे भी विविधता। नारी जीवन के जितने रूप हो सकते है। कहानियो मे प्राय उन्ही का चित्रण किया जाता है और किया जा रहा है। क्योकि कहानियाँ जीवन के यथार्थ को ही अभिव्यक्त करती है। उनकी श्रेणियाँ निम्न दो प्रमुख वर्गों मे बन सकती हैं :

१ वासनात्मक

२ अवासनात्मक

वासनात्मक के अन्तर्गत नारी के वेश्या, प्रेमिका, नर्तकी, आधुनिक विलासिनी तथा विवाहिता आदि रूप रखे जा सकते है। अवासनात्मक वर्ग मे नारी के माँ-बहन आदि रखे जा सकते है। इन दो प्रमुख आधारो के अतिरिक्त निम्नलिखित चार तथ्यों को भी कहानियो की नायिकाओ का वर्गीकरण करते समय ध्यान मे रखना चाहिए

१ समाज मे नारी की स्थिति

२ कहानी लेखिकाओ की स्थिति

३. कहानी शिल्प मे प्रयोग और उपलब्धियो की सम्भावनाएँ

४. स्थानीयता

इन आधारो पर कहानी-नायिकाओं की निम्न-श्रेणियां बनाई जा सकती है।

१ सफल प्रेमिकाएँ

२ असफल प्रेमिकाएँ

३ सद्गृहस्थ नायिकाएँ

४. असफल गृहस्थ नायिकाएँ

५ फैशन-परस्त विलासिनी नायिकाएँ

६ विधवा नायिकाएँ

७ कुण्ठाग्रस्थ नायिकाएँ

८. वेश्याएँ

९. नर्तकी नायिकाएँ

१०. राजनीति मे भाग लेने वाली नायिकाएँ

११ वीरागनाएँ
१२ कृषक बालाएँ
१३ मजदूरिने
१४ जासूस नायिकाएँ
१५ आधुनिक नायिकाएँ

सफल प्रेमिकाओ की श्रेणी मे मोहन राकेश की 'जानवर और जानवर' निर्मल वर्मा की 'माया का मर्म' आदि कहानियो की नायिकाएँ आएगी। असफल प्रेमिकाएं निर्मल वर्मा की 'परिंदे', मोहन राकेश की 'पाचवे माले का फ्लैट' नरेश मेहता की 'एक इतिश्री' राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', उषा प्रियवदा की 'कोई नही', मन्नू भण्डारी की 'यही सच है' अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ' की नायिकाएं कही जायेगी। अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' की नायिका सद्-गृहस्थ नायिकाओ की श्रेणी मे आएगी। नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत', मोहन राकेश की'सुहागिने', राजेन्द्र यादव की 'टूटना', मन्नू भण्डारी की 'कील और कसक', उषा प्रियंवदा की 'झूठा दर्पण' आदि कहानियो की नायिकाए असफल गृहस्थ नायि-काएं हैं। राजेन्द्र यादव की 'एक कटी हुई कहानी' की नायिका फैशन-परस्त विला-सिनी नायिकाओ की श्रेणी मे आएगी। कमलेश्वर की 'देवा की मॉ' विधवा नायिका है। इसी प्रकार दूसरी श्रेणियो मे भी अन्य अनेक नायिकाए हिन्दी कहानियो मे चित्रित हुई हैं।

बहुत सी कहानियो मे सह-नायक और सह-नायिकाए भी होती हैं। कुछ ऐसे पात्रो की भी कल्पना की जाती है, जो कथानक की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही होते। वे केवल मुख्य पात्रो के चरित्र की गौरव-प्रतिष्ठा एव उनकी महत्ता प्रतिपा-दित करने के लिए तथा वातावरण की सृष्टि करने के लिए होते हैं। ये पात्र ही वस्तुत. गौण पात्र कहलाते हैं। वैसे इन पात्रो का नाम भर ही गौण पात्र होता है। कहानियो मे इनकी उपादेयता अत्यधिक होती है—विशेषतया ऐसी कहानियो मे, जो राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक या परिवारिक होती है। चरित्र-प्रधान कहानियो मे इनका महत्त्व इसलिए न्यून होता है कि वहा बस एक या दो चरित्रो से ही कहानी-कार का कार्य चल जाता है। ऐतिहासिक कहानियो मे तो इतने अधिक गौण पात्र होते है, कि वे बस रेखाचित्र या नामो तक ही सीमित रह जाते है। वृन्दावनलाल वर्मा या चतुरसेन शास्त्री की ऐतिहासिक कहानियो मे ऐसे पात्रो की सख्या बहुत है। इनमे युद्धो मे, समूह गानो मे, उत्सवो मे या इसी प्रकार के आयोजनो मे वातावरण को यथार्थ रूप देने के लिए इन गौण पात्रो की साधना की जाती है। ये गौण पात्र केवल इसीलिए होते हैं कि कहानीकार इनके चरित्र चित्रण की ओर सजग या प्रयत्न-शील नही होते, क्योकि कहानियो से उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही होता। ऐसे

पात्रो की केवल धूमिल रेखा ही मात्र उभर पाती है और उनके सम्बन्ध मे पाठको को प्राय अनुमान भर कर लेना पडता है। या कभी-कभी तो उनकी स्थिति इतनी नगण्य होती है कि इस प्रकार के अनुमान लगाने की भी आवश्यकता नही पडती। इन गौण पात्रो से कभी-कभी कथानक को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करने का भी कार्य लिया जाता है। इन पात्रो का ऐसी स्थिति मे मात्र इतना ही कार्य होता है कि वे कथानक को एक विशिष्ट दिशा प्रदान कर गायब हो जाते हैं। पाठक यदि उन्हे खोजना या पाना भी चाहता है, तो असमर्थ रहता है। इन गौण पात्रो की कल्पना प्रमुख चरित्रो का चरित्र स्पष्ट करने के लिए भी की जाती है। इन पात्रो का चरित्र सगठन इस प्रकार किया जाता है जिससे प्रमुख पात्रो का चरित्र अधिकाधिक स्पष्ट किया जा सके और उनका चारित्रिक विकास अधिक स्वाभाविक ढग से प्रस्तुत किया जा सके। पात्रो की दो श्रेणियां बनाई जा सकती हैं :

१ स्थिर पात्र (Static character)

२ विकसनशील पात्र (Rounds characters)

स्थिर पात्र (Static people) अपरिवर्तनशील होते है। जीवन के सुख-दु.ख करुणा एव उल्लास, विषम अथवा अनुकूल परिस्थितियो—किसी का भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता, वे समान स्थिति मे ही रहते है। कभी-कभी उन्हे कैरीकेचर (caricatures) और कभी-कभी उन्हे टाइप (Type) कहते हैं। ये वास्तव मे किसी-न-किसी वर्ग के प्रतिनिधि ही बनकर आते हैं। कहानीकार इस वर्ग की सारी प्रमुख विशेषताए इस प्रकार के पात्रो मे भर देता है और इन पात्रो से चरित्र से उस वर्ग के लोगो की समस्त सामान्य विशेषताओ का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। रेणु की प्रसिद्ध कहानी तीसरी कसम' का नायक हिरामन स्वयं अपने मे कोई पात्र नही है। वह एक टाइप हैं। वह भारत के उन असख्य सीधे-सादे धर्म मे गठन-आस्था रखने वाले एव नैतिकता का विशिष्ट मूल्याकन करने वाले ग्रामीणो का प्रतिनिधि है। जो जीवन भर सघर्षरत रहते हैं, जिन्हे परिस्थितियो की विषमता सदैव पराजित करती है और अन्त मे उनकी अत्यधिक सज्जनता एव आदर्शवादिता ही उन्हे ले डूबती है। ऐसे पात्र स्वय नही बदलते। उनके सम्बन्ध मे केवल हमारी धारणा ही परिवर्तित होती है। इन पात्रो की कल्पना से एक लाभ यह होता है कि थोडे से स्थूल परिचय के बाद कहानीकार को बार-बार उन्हे सकेतो के माध्यम से परिचित कराते रहने की आवश्यकता नही पडती। वे जैसे ही सामने आता है, पाठक उन्हे सहज ही पहचान लेते हैं क्योकि वे जानते हैं कि इस पात्र की यह विशिष्ट प्रवृत्ति है। इसमे परिवर्तन होना सम्भव नही है। स्थिर पात्रों की परिकल्पना का लाभ यह होता कि वे बराबर ही पाठको की चेतना मे स्मरणीय रहते हैं। कहानी समाप्त करने के पश्चात् कई छोटी-मोटी घटनाए उन्हे भूल भी जाती है, पर ऐसे पात्र

उन्हे कभी नही भूलते, इसका कारण उनका किसी भी परिस्थिति में परिवर्तित न होना है, जो एक विचित्र प्रकार की भावुकता उत्पन्न करती है। मोहन राकेश की 'मि० भाटिया, मे भाटिया, नरेश मेहता की 'अनबीता व्यतीत' मे डॉ० कानेटकर तथा उषा प्रियवदा की 'वापसी' मे गदाधर बाबू आदि स्थिर पात्र ही हैं।

विकसनशील पात्र अधिक सूक्ष्म कला की माग करते हैं। स्थिर पात्रो के विपरीत विकसनशील पात्र परिवर्तनशील होते है। उन पर परिस्थितियो का गहन प्रभाव पडता है। जीवन के सुख-दु ख, करुणा एव उल्लास तथा निराशा उनके जीवन मे नई दिशाए निर्मित करती हैं। वास्तव मे वे परिस्थितियो के प्रभाव मे ही बहते चलते है और विकास प्राप्त करते रहते हैं। उनमे जो भी परिवर्तन होता है। उनके लिए कहानीकार को पर्याप्त प्रमाण देना पड़ता है। जिससे वे परिवर्तन अनायास न प्रतीत हो और उनकी स्वाभाविकता न नष्ट हो जाय। अमरकान्त की 'जिन्दगी और जीक' मे नौकर एक परिवर्तनशील पात्र ही है। वह एक के बाद एक विषमताओ एव स्थितियो की विकृतियो से जूझता जाता है और प्रत्येक परिस्थिति के अनुसार अपने को ढालकर अपूर्व जिजीविषा भाव से जीवन जीने की दिशा मे प्रयत्नशील होता है। प्रत्येक घटना से उस पात्र मे जो नई दिशा प्राप्त होती है और तदनन्तर उसमे जो चारित्रिक विकास होता है अमरकान्त ने उसके पर्याप्त कारण दिये हैं तथा उसके अन्तरमन की सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जिससे उसकी स्वाभाविकता निरन्तर बनी रहती है। नरेश मेहता की कहानी 'किसका बेटा', धर्मवीर भारती की कहानी 'हरिनाकुस का बेटा', मोहन राकेश की कहानी 'मदी' तथा राजेन्द्र यादव की कहानी 'पास-फेल' के मुख्य पात्र भी विकसनशील पात्र ही हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विकसनशील पात्रो के चरित्रो मे परिवर्तन की स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए पर्याप्त कारण उपस्थित किये जाने चाहिए। स्थिर पात्रो से अधिक समय तक कार्य नही चलाया जा सकता और न ही वे हमारे मन मे कोई विशेष भाव उत्पन्न करने मे ही सफल रहते है। पर विकसनशील पात्र हास्य या अवसरानुकूल कोई कार्य करने के अतिरिक्त किसी भी समय तक उपस्थित रह सकते है, और हमारे अन्दर कोई भी भाव उपस्थित करने मे सफल हो सकते है। विकसन-शील पात्रो की सबसे बडी कसौटी यही होती है कि क्या अत्यन्त स्वाभाविक ढग से वे हमे विस्मय मे डाल देने मे समर्थ होते हैं या नही, तो फिर वे स्थिर पात्र ही हैं, जो केवल विकसनशील पात्र होने का मिथ्या आभास मात्र देते है। पर हमे यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि परिवर्तन आकस्मिक नही होना चाहिए, जिससे वे पूर्णतया अविश्वसनीय प्रतीत हो। यशपाल या भगवती प्रसाद वाजपेयी की कई कहानियो मे ऐसा ही हुआ है। कहानीकारो ने स्थिर पात्रो को विकसनशील पात्र बनाने की चेष्टा अवश्य की है, पर उसमे वह सफल नही हो सके हैं।

पात्रों के स्वरूप एवं गठन पर चर्चा के पश्चात् अब प्रश्न उनके प्रस्तुती-

करण का आता है अर्थात चरित्रांकन का कहानी मे चरित्र चित्रण का बडा महत्वपूर्ण स्थान होता है। पात्र कहानीकार की सृष्टि होते हुए भी अपने मानव होने और ईश्वरीय सृष्टि होने का आभास देते हैं। यद्यपि वे मानव की पूर्ण प्रतिकृति नही होते। उनमे मानवीयता का फिर भी पूर्ण गुण होता है और कहानीकार अपने कौशल से उनमे ऐसे गुण भर देता है कि उनसे हमारा निकटतम तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उनके सुख-दुःख हमारे अपने से प्रतीत होते है। पर इसकी विपरीत अवस्था से कहानीकार को बचना चाहिए, क्योकि वह उसकी कला के महत्व को न्यून कर उसके उद्देश्य को असफल कर देती है। उसे अपने चरित्रो का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए, जिनसे उनकी यथार्थता के सम्बन्ध मे कोई सन्देह न हो और पाठक उन्हे दिव्य या अलौकिक अथवा पूर्णतया अविश्वसनीय कहकर टाल न दे। उनमे इतनी सत्यता तो होनी ही चाहिए कि कहानी समाप्त करने के पश्चात् भी वे हमारी चेतना पर छाए रहे। पात्र निर्माण का यही वस्तुत सर्वप्रमुख आधार होता है। जिन पर उनकी सफलता-असफलता आधारित रहती है। यहाँ हमे पात्रो के मनोविज्ञान का भी ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक पात्रो का अपना मनोविज्ञान होता है, बिल्कुल वैसे ही, जैसे साधारण मानव जीवन मे प्रत्येक व्यक्तियो का। इसी से मानव-मन के बीच स्वाभाविक मित्रता स्थापित होती है और उनका भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व प्रतिध्वनित होता है। जिस प्रकार इस सृष्टि के सृजनकर्ता का मनोविज्ञान उसकी अपनी ही रचना व्यक्तियो के मनोविज्ञान से भिन्न होता है, उसी प्रकार कहानीकार का मनोविज्ञान भी पात्रो के मनोविज्ञान से भिन्न होता है। अत मात्र इस कारण से कि पात्र इसकी रचना है। वह उनका निर्माणकर्त्ता है और वह उन्हे चाहे जिस प्रकार नियन्त्रित कर सकता है, उनके व्यक्तिगत मनोविज्ञान मे चाहे जिस प्रकार हस्तक्षेप कर सकता है, कुछ और नही कहानीकार का अविवेकपूर्ण दुराग्रह ही होता है।

कहानी के पात्र वास्तव मे एक सृष्टि के ही अन्तर्गत दूसरी सृष्टि होते है। यदि उन्हे पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो कदाचित् वे इतनी शक्ति ग्रहण कर लेगे कि कहानी के ही टुकडे-टुकड़े कर देंगे। इसके विपरीत यदि उन पर कठोर नियंत्रण रखा जाए, तो उसकी उन पर कठोर प्रतिक्रिया होती है और या तो स्वयं मृत्यु का आलिगन कर या उसे नष्ट कर वे उसका बदला लेते है। थैकरे का तो यहाँ तक कहना है कि मैं अपने पात्रों के वश मे रहता हू। वे मुझे चाहे जहा अपनी इच्छानुसार ले जा सकते हैं। मैं उन्हे कभी नियत्रित नही करता। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो यह भी विचारो की अतिरजना मात्र है। उसके अनेक पात्रो के सम्बन्ध मे प्रातः हमे यह सोचना पडता है कि क्या वह ऐसा भी कर सकता है? या क्या उसके अन्दर ऐसे भी विचार छिपे हुए थे? इसके कारण स्पष्ट हैं। ऐसा नियंत्रण

न रखने के कारण ही हुआ है। यहाँ नियत्रण से मेरा तात्पर्य उन सीमाओं से है, जो स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अनिवार्य होती हैं। वास्तव मे पात्रों का एक सन्तुलित रूप ही चित्रित किया जाना चाहिए । वे न तो काल्पनिक हो न अलौकिक हो और न अमानवीय, बल्कि प्रत्येक दृष्टि से वे वास्तविक और स्वाभाविक प्रतीत हो। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या कहानीकार को अपने पात्रो पर किंचित मात्र भी नियत्रण नही रखना चाहिए ? इसका उत्तर स्पष्ट है। कहानीकार का इतना ही कर्तव्य है कि वह पात्रो का स्वरूप निर्धारित कर दे, उन्हे रंग दे दे और चरित्रगत विशेषताएँ दे दे। यहा उसकी सीमा समाप्त हो जाती है, और प्राण दे दे स्वय पात्र का अपना वैयक्तिक पथ प्रारम्भ होता है, कहानीकार जिसका निर्वैयक्तिक भाव से मात्र तटस्थ पर्यवेक्षक ही होता है।

ऊपर की चर्चा से प्राय सभी को सहमति होगी। इस सम्बन्ध मे एक आलोचक ने स्वीकार किया है कि चरित्रो की सृष्टि मे यथार्थता का बहुत विचार रखना चाहिए। थोडी सी भूमि मे जिसको ताण्डव नृत्य दिखाना पडे, उसके लिए आवश्यक हो जायेगा कि वह विशेष प्रकार का कौशल प्रयुक्त करे अन्यथा सौन्दर्य सिद्धि सम्भव नही हो सकती। जहाँ 'कहानी के चरित्रो मे पर्याप्त गतिशीलता होनी चाहिए, वही यह भी आवश्यक रहता है कि यथार्थ जीवन के वर्षों मे प्रसारित इतिवृत्त को वह घंटो के इतिवृत्त मे परिणत करता जाय। जो काम यथार्थ जीवन मे कई वर्षो मे संपादित हुआ होगा, और छोटे बडे उपन्यास मे भी सम्भव नही हो पाता, कहानी की कौन कहे। इसी तरह यहां चरित्र के वृद्धि क्रम के विस्तार मे भी घनत्व उत्पन्न करने की विशेष आवश्यकता रहती है। किसी प्रकार की वृत्ति विशेष अथवा चारित्रिक भंगिमा जो किसी पात्र मे वर्षों मे गठित हुई होगी उसे कहानी मे लाकर कुछ थोडे ही समय मे विकसित करना पडता है। यह एक विचार का ऐसा पक्ष है जहा बडे से बडे यथार्थवादी को भी अपने सैद्धाँतिक हिमालय से नीचे उतरना पडता है और यथार्थ और कलाकृति की दूरी को स्वीकार करना पडता है। सामान्यंत जो कहानी-लेखक सर्जना की क्रिया मे सिद्धहस्त नही होते, वे चरित्राँकन मे दो प्रकार की भूले करते दिखाई पडेंगे वे या तो चरित्र चित्रण के स्थान पर रूढियो और सिद्धान्तो के पुतले गढने लगते है या पात्र और घटनाओ की कडियो को ठीक नही मिला पाते। इस विषय मे पहले कहा जा चुका है पर, यहाँ पुन. सक्षेप मे उसका सकेत करना आवश्यक है कि पात्र को सिद्धातो की प्रतिमा बना देने से उसका चारित्रिक सौन्दर्य मुखरित नही हो सकता। उसके लिए तो आवश्यक होगा कि वृत्ति विशेष के समुदाय के अनुरूप पूर्व-योजना निश्चित हो और उसके प्रत्येक उत्कर्षापकर्ष को प्रकट करने के लिए उपयुंक्त सीढियाँ प्रस्तुत हो। यदि ऐसा नही होगा तो सारा चरित्र निर्जीव पत्थर की मूर्ति बन जाएगा। उसमे प्राण डालने वाली सजीवता नही दिखाई पडेगी।

इस प्रकार का दोष यदि दिखाई पडे तो कृतिकार की अपरिपक्वता घोषित होगी। इसी तरह का कौशल उन कड़ियो के सजाने मे भी देखा जायगा, जो चरित्र और घटनाओ को बॉधती हैं। घटना और परिस्थिति के साथ पात्र के चरित्र का अन्योन्य सम्बन्ध होने से उनके सम्बन्ध का स्पष्ट अकन होना चाहिए नही परिणाम यह होगा कि न तो कहानी मे एकरसता उत्पन्न होगी और न प्रभाव ही उत्पन्न हो सकेगा।

वास्तव मे प्रत्येक कहानीकार को एक निर्देशक के समान ही होना चाहिए और अपने पात्रो को दिशोन्मुख कर उन्हे दृश्य से दूर हटकर उनकी गतिविधियो का निरीक्षण करते रहना चाहिए। उसे अपने पात्रो की रहस्यात्मकता को खोलकर सबके सामने प्रस्तुत करना चाहिए पर उन्हे अपने हाथो की कठपुतली न बनाना चाहिए। पात्रो के अन्तर्जगत मे बार-बार अनावश्यक हस्तक्षेप करने से एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और उससे लाभ होने के बजाय हानि ही होती है। पात्रो का स्वरूप स्पष्ट होने के बजाय निरन्तर उलझता ही जाता है। प्राय देखा जाता है कि अपने पात्रो के विचारो पर कहानीकार जबर्दस्ती अधिकार रखना चाहता है। वह उन्हे पग-पग पर निर्देशित करना चाहता है। यह वस्तुत. कहानीकार की अनाधिकार चेष्टा ही होती है। पात्रो के अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ ही स्वतन्त्र विचार भी होने चाहिए। सत्य तो यह है कि स्वतन्त्र अस्तित्व एव स्वतन्त्र विचार एकनिष्ठ है। दोनो का एक दूसरे से परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनो ही एक दूसरे से अलग करके नही रखे जा सकते। इन परिस्थितियो मे यह सिद्धान्त कि पात्रो का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिए जिससे वे अपने सम्बन्ध मे स्वय ही कुछ कहते प्रतीत हो अधिक तर्क सगत प्रतीत होता है। इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। हम पहले भी कह आए है कि कहानियो मे चरित्र चित्रण का विशेष महत्व होता है। कहानी की परिभाषा देते समय भी यह बात स्पष्ट की जा चुकी हैं कि कहानियो का सम्बन्ध प्रमुख रूप से मानव जावन से ही होता है और यहा यह कहने की तो आवश्यकता भी नही है कि मानव जीवन मे व्यक्तियो का महत्व होता है। फिर उसी की अपनी यथार्थ प्रतिच्छाया कहानी मे भी पात्रो का महत्व क्यों न हो? सत्य तो यह है कि बिना पात्रो के कदाचित् कहानी की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कथा चाहे मानव की हो या पशु-पक्षियो की हो या किसी की भी हो। उसमें पात्र अनिवार्य रूप से होगे। पर अभी तक प्रमुखतः मानव जीवन की हीकहानियाँ कहने का प्रयत्न किया गया है, इसलिए अधिकॉश पात्र भी मानवीय होते हैं। इन पात्रो का यदि चरित्र चित्रण कुशलतापूर्वक न किया जाए, तो ऐसी कहानियाँ महत्वशून्य ही होगी, जिनमे ये निर्जीव पात्र होगे। कहानियो मे चरित्र चित्रण की अनेक विधियाँ हैं। उन्हे दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

१ बहिरंग प्रणाली (Objective method)
२ अन्तरंग प्रणाली (Subjective method)

बहिरग प्रणाली मे पात्रो का चरित्र चित्रण कई पद्धतियो से किया जाता है। प्रथम तो उनके नामकरण इस प्रकार किए जाते हैं, जिससे उनके चरित्र का एक हलका आभास पहले ही पाठको को प्राप्त हो जाता है। कहानीकार अपने पात्रो के नाम बहुत चुनकर रखता है। जिससे उसकी प्रवृत्ति रूप स्थूल रूप से स्पष्ट हो सके। कल्याण, सुजान भगत, चाँदनी, सुजाता, प्रशात,श्रद्धा, अपराजिता आदि ऐसे ही नाम हैं। जिनसे इन पात्रो की गम्भीरता एव जीवनगत करूणा का परिचय प्राप्त होता है। दूसरा ढग यह होता है कि कहानीकार अपने ही तरफ से पात्रो के सम्बन्ध मे सब कुछ कह देता है। वहाँ पाठको के सोचने के लिए कुछ भी नही रह जाता। पात्रो की अच्छाई-बुराई का विवेचन कहानीकार स्वय ही करता चलता है और अपना निर्णय भी देता चलता है। इस सम्बन्ध मे कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।"

१ "मिस पाल को इस तरह की हर बात दिल मे चुभ जाती थी और जितनी देर वह दफ्तर मे रहती उतनी देर उसका चेहरा बहुत गम्भीर बना रहता था। जब पाच बजते, तो वह इस तरह अपनी मेज से उठती जैसे कोई घटे की यातना भोगने के बाद उसकी छुट्टी हुई हो। दफ्तर से उठकर वह सीधे अपने घर चली जाती थी और दूसरे दिन सुबह दफ्तर जाने तक वही रहती। शायद दफ्तर के लोगो से तग आने की वजह से वह और लोगो से भी अपना मेल-जोल नही बढना चाहती थी। मेरा घर बहुत पास होने की वजह से, या शायद इसलिए कि दफ्तर के लोगो मे मैं ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने उसे कभी शिकायत का मौका नही दिया था, वह कभी-कभी शाम को हमारे यहा चली आती थी। मैं अपनी बूआ के यहाँ रहता था और मिस पाल मेरी बूआ और उनकी लडकियो से काफी घुल मिल गई थी।[1]

२ "यहाँ के ये सारे पारिवार एक दूसरे से बेतरह जलते थे, कुढते थे, पर वक्त की मार ने उनकी जबानो को कुन्द कर रखा था, हर एक की बेवसी ने एक अनदेखे धागे मे बडे ही आश्चर्यजनक रूप मे उन्हे बाँध रखा था, जिसका कोई सिरा नजर नही आता था। यही वजह थी कि जवान होते हुए भी देवा के बेकार रहने को, लोगो ने बडी निस्सग स्वाभाविकता से स्वीकार कर लिया था। देवा जब अपने चारो ओर नजर घुमाता, तो उसे यह सब खलता। खुद अपनी माँ की बेईमानी चुभती, जो दरियो के लिए रुइड लेते वक्त पन्सेरी पर आधा सेर ज्यादा लेने की नीयत से, मैल के एवज मे साढ़े पाँच सेर के लिए झगडती और इस तरह आधा सेर रुई बचा-

१ मोहन राकेश : एक और जिन्दगी, (दिसम्बर १९६१), दिल्ली, पृष्ठ ६२-६३

बचाकर आठ-दस दरियो के बाद, एक अपनी निजी दरी बनाकर बेच लेती। वह अपने चारो तरफ जब लोगो को देखता तो उसे लगता कि उनके चेहरे एकदम एक से हैं, जिन पर नफरत, प्यार, प्रशंसा या निन्दा—कुछ भी तो नही उभरती। अजीब सी एक रसता थी, जैसे सब शकर से योगी हैं, जो विष पी-पीकर स्थिर मे बैठे हैं, आँखे मूँदे।[१]

३—"वह अपनी बात, आचार, व्यवहार सबमे सकेत करती है। याद नही पडता कि कभी कोई वाक्य भी किसी से पूरा कहा होगा। सादी सी बात होगी, 'चलिए, थोडा घूम आएँ' इतना भी पूरा नही कह सकती। वह तो कहेगी 'चलिए' और सडक पर जाती किसी टैक्सी को रोककर बैठ जाएगी तथा हसती आँखो से आपकी ओर देखने लगेगी। कभी बातो के छोटे-छोटे टुकडो से अधिक गहराई मे जाना नही चाहेगी। फटे बादलो मे से आकाश के जैसे नीले टुकडे दिखते है न बस, वैसा ही उसका बोलना होगा।[२]

इन अशो मे कहानीकारो ने अपने पात्रो की सारी विशेषताओ को स्वय ही खोलकर प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रणाली मे व्याख्या एव विश्लेषण का सारा उत्तर-दायित्व स्वयं कहानीकार पर ही होता हैं। पर इस प्रणाली का सबसे बडा दोष यह है कि पात्रो के क्रिया-कलापो मे पाठको का कोई भाग नही होता। सारी भूमिका कहानीकार को ही निभानी पडती है, जिसके कारण बहुधा कहानियो की रोचकता पर तीव्राघात पहुँचता है। यही कारण है कि अधिकाँशत सभी नए कहानीकार कलात्मक ढग से नाटकीय प्रणाली पर ही अधिक बल देते है।

अन्तरग प्रणाली आधुनिक शिल्प विकास है। 'चरित्र चित्रण के विचार से आज के युग की अपनी विशेष प्रवृत्तियाँ और आकाक्षाएँ है। आज के बौद्धिक युग का पाठक विशेष प्रकार के चारित्र्य से भरे व्यक्ति का स्वरूप समझना चाहता है। अन्तर्जगत मे भावो और विचारो के उदय' विकास और सघर्ष की कहानी सुनने मे उसे विशेष आनन्द का अनुभव होता है। जितना ही अधिक मनोवैज्ञानिक और द्वन्द्व-प्रधान वृत्तियो का चित्रण होगा उतना ही अधिक आधुनिक अध्येता का बौद्धिक अनुरजन होगा। कुछ समय पूव तक स्थिति यह थी कि पाठक और अध्येता मे इतना बौद्धिक परिष्कार नही उत्पन्न हुआ था इसलिए कुतूहल एव जिज्ञासा को जगाने और परितृप्त करने वाले, सामान्य, एकरस मानवो को एक निर्दिष्ट मार्ग से चलाकर एक सुस्थिर और अभीष्ट फल तक पहुचाना ही आरम्भिक कहानियो का लक्ष्य रहता था। धीरे-धीरे जब लिखने-पढने वालो मे विषय और चरित्र को सूक्ष्मता से उपस्थित करने और समझने की कला उत्पन्न होती गई तो व्यक्ति-वैचित्र्य को अधिकाधिक उभाडकर

१. कमलेश्वर : राजा निरबसिया, (१९५७), इलाहाबाद, पृष्ठ ९-१०।
२. नरेश मेहता : तथापि, (दिसम्बर १९६१), बम्बई, पृष्ठ ६।

सामने लाने की चेष्टा होने लगी। आज की कहानी कला इतना विकास पा चुकी है कि अब रचनात्मक सौन्दर्य की आकांक्षा स्वाभाविक हो गई है। आज की स्थिति यह है कि साधारण भौतिक और स्थूल से तृप्ति नही होती, जब तक विशेष और सूक्ष्म चारित्रिक भगिमाओ के पात्र हमारे सामने नही आते तब तक हमारी विवेचना की बुद्धि पूर्णतया जागरित नही होती। इसीलिए आज की कहानियो मे चरित्र की व्यक्ति-वादिनी वृत्तियो की विवृति मे अधिक अभिरुचि बढती जा रही है, जैसे लेखक पात्रो की व्यक्ति विधायिनी मनोवृत्तियो के उदघाटन मे लगा दिखाई पडता है, उसी तरह पाठको की अभिरुचि भी ऐसे विषय के ग्रहण की ओर निरतर बढती जा रही है। आज के समूचे कथा-साहित्य मे और नाटको मे भी व्यक्ति वैचित्र्य को अधिकाधिक उभाडकर सम्मुख लाने की चेष्टा की जा रही है। ऐसा मालूम पडता है कि पात्रो के केवल वेशभूषा, क्रिया कलाप और अन्यान्य स्थूल आचरण भी हमे पूरा-पूरा वह तृप्ति नही दे पाते जो हम चाहते हैं। हमारी आज इच्छा होती है कि हम कृतिकार की सृष्टि के भीतर आए हुए मानवो के मनोलोक मे प्रवेश करें और उनके स्थूल तथा भौतिक ससार के मूल मे निवास करने वाले जो मूल भाव और विचार है उनका आलोडन करें। आधुनिक कहानीकार भी इसी मे अपनी सर्जना-शक्ति की सफलता मानता हैं और पढने वाले भी इसी से अधिक परितृप्त होते हैं। अपने ही समान दूसरे के वाह्य के साथ-साथ अतर की झाँकी भी जब हमे मिलती है तब एक विशेष प्रकार की तुष्टि का अनुभव होता है। यही आज के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण और मनो-विज्ञान तथ्य निरुपण के मूल मे मुख्य प्रेरणा है। प्रेमचन्द ने भी इस सम्बन्ध मे लिखा है कि वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वा-भाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियो की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नही बल्कि अनुभूतिया ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।...सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।...अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना विन्यास से नही लगाते। हम चाहते है, पात्रो की मनोगति स्वय घटनाओ की सृष्टि करे। घटनाओ का स्वतन्त्र कोई महत्व नही रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रो के मनो-भावो को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आज चरित्र चित्रण के लिए मनोवैज्ञानिक आधार ही अधिक वाँछनीय समझा जाता है। इसमे अन्तरग प्रणाली सहयोग देती है। वस्तुत मनुष्य वह नही है, जो हम आप उसे देखते हैं, या स्वय ही देखने मे लगता है। मनुष्य से भी बलवती होती हैं उसकी अन्त प्रेरणाएँ, जो पग-पग पर उसे निर्देशित करती रहती हैं। उसके चरित्र को दिशाएँ देती रहती है और उसका निर्माण करती है। ये अन्त प्रेरणाए उसके प्रत्येक आचरण, प्रत्येक व्यवहार और प्रत्येक बात के मूल में होती

है। बिना इन अन्त प्रेरणाओ को समझे हम कभी भी उस व्यक्ति को भली-भाँति नही समझ सकते हैं, क्योकि मनुष्य का चरित्र उस आइसवर्ग के समान है, जिसका अधिकाश भाग पानी के भीतर रहता है और कुछ ही भाग ऊपर रहता है। बर्फ के उस पूरे भाग को समझने के लिए हमे पानी के भीतर छिपे हुए उस बर्फ के शेष भाग को भी भली-भाँति समझना होगा। केवल ऊपरी भाग के आधार पर कोई निर्णय दे देना बुद्धिमत्तापूर्ण नही होगा, क्योकि वह अपूर्ण ज्ञान पर आधारित निर्णय है। कहानीकार भी अपने पात्रो के सम्बन्ध के पाठको को पूर्ण ज्ञान देने के लिए उनकी अन्त प्रेरणाओ (Internal Motives) को स्पष्ट करता है। यही चरित्र चित्रण की अन्तरग प्रणाली कहलाती है। प्राय व्यक्तियो के सम्मुख उनकी दिशाएँ स्पष्ट नही रहती। वे बराबर इसी उलझन मे रहते है कि यह करे या वह करे। इसे लेकर उनकी चेतना मे बराबर घात-प्रतिघात चला करता है, जिसे हम व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं : "नीलकण्ठ ! मुझे वह शाम याद आती है। उस शाम हम पवेलियन के पीछे टैरेस पर बैठे थे। मेरे रुमाल मे उसकी चप्पले बधी थी और उसके पाँव नगे थे। घास पर चलने से वे गीले हो गए थे और उन पर बजरी के दो-चार लाल दाने चिपके रह गए थे। अब वह शाम बहुत दूर लगती है। उस शाम एक धुँधली-सी आकाँक्षा आई थी और मैं डर गया था। लगता है, आज वह डर हम दोनो का है, गेद की तरह कभी उसके पास जाता है, कभी मेरे पास। वह अपनी घबराहट को दबाने का प्रयत्न कर रही है, जिसे मैं नही देख रहा। मेज के नीचे कुर्सी पर भिंचा मेरा हाथ काँप रहा है, जिसे वह नही देख सकती। हम केवल एक-दूसरे की ओर देख सकते हैं और यह जानते हैं कि ये मरते वर्ष के कुछ आखिरी दिन हैं और बारह दिसम्बर के उन पीले पत्तो मे का शोर है, जो दिल्ली की तमाम सडको पर धीरे-धीरे झर रहे है। मुझे लगता है, जैसे मैं वह सब-कुछ कह दूँ" जो मैं पिछले हफ्ते के दौरान मे, सडक पर चलते हुए बस की प्रतीक्षा करते हुए' रात को सोने से पहले और सोते हुए, पल-छिन सोचता रहा हूँ, अपने से कहता रहा हू। मैं भूला नही हू। कुछ चीजे है, जो हमेशा साथ रहती हैं, उन्हे याद रखना नही होता। कुछ चीजे है, जो खो जाती हैं, खो जाने मे ही उनका अर्थ है, उन्हे भुलाना नही होता।[1]

इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व व्यक्ति के मन मे बराबर चलते रहते है। कहानीकार का कार्य इस अन्तर्द्वन्द्व को भी स्पष्ट करना होता है। इससे पात्रो की आन्तरिक भावनाओ को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। हम अपने जीवन मे सोते समय प्रायः स्वप्न भी देखते हैं। फ्रायडवादियो का विश्वास है कि कोई स्वप्न निरर्थक नही होता। उन सभी के अर्थ होते हैं। इन स्वप्नो से व्यक्ति की मानसिक उथल-उथल और पूर्णता-अपूर्णता का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए कहा-

१ निर्मल वर्मा : जलती झाड़ी, (१९६४), दिल्ली, पृष्ठ १४-१५।

नीकार अपने पात्रो के स्वप्नो का भी अत्यन्त सूक्ष्मता से अध्ययन एव चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्मोहन प्रक्रिया (Hypnotism) का भी प्रयोग किया जाता है, जिससे पात्रो के मन मे छिपी हुई अनेक भावनाओ का अध्ययन किया जा सकता है। इलाचन्द्र जोशी की कई कहानियो मे इस प्रवृत्ति का प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया गया है। इसी प्रणाली के अन्तर्गत कहानीकार अपने पात्रो के चरित्रो को दूसरे पात्रो द्वारा कहे गए कथोपकथनो से स्पष्ट करता है

"लडकी ने छ नम्बर का दरवाजा खटखटाया। कुछ क्षणो मे दरवाजा खुला और वह अन्दर चली गई। दरवाजा बन्द हो गया। कॉमन रुम मे कानाफुसी होने लगी।"

"कौन है यह ?'

"उसकी बहन है।"

"उस हरामी की ··?"

"उसकी बडी बहन है।"

"सगी बहन ?"

"सुना यही है कि सगी बहन है।"

"और माँ-बाप ?"

' माँ-बाप का पता नही। यह बहन ही यहाँ आती है।

' यह कहाँ रहती है ?"

"यह भी पता नही।···सुना हैं टैक्सी है ··"।

कुछ ओठो पर रसात्मक मुस्कराहटें फैल गई। आवाजें और धीमी हो गई।

"यूँ तो काफी दुबली-सी है।"

"पर कट अच्छा है।"

"और उम्र भी ज्यादा नही है। बाईस-तेईस की होगी।"

"अट्ठाईस-तीस का तो वही लगता है।"

' पर वह अभी इक्कीस का भी नही है। वैसे ही अन्दर से खाया हुआ है।"

"वह तो कुछ करता-धरता भी नही है। दिन भर यही पडा रहता है।"

"बहन जो कमाती है।"

मुस्कराहटे और लम्बी हो गई।[1]

इस उदाहरण मे कथोपकथनो के माध्यम से दो पात्रो के चरित्र एक साथ स्पष्ट हुए है, यह सूक्ष्म कलात्मक कौशल ही है। वास्तव मे दूसरे पात्र अपने वार्तालाप मे ऐसी बहुत सी बाते करते हैं, जिनसे पात्रो के चरित्रो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है और कहानीकार को अपनी ओर से कहने की कुछ भी आवश्यकता नही पड़ती। पर

१. मोहन राकेश जानवर और जानवर, (१९५८), दिल्ली, पृष्ठ १३-१४

जब इसी बहाने कथोपकथन लम्बे-लम्बे और बेडौल हो जाते हैं, तो बजाय नाटकीयता उत्पन्न करने के वे बोझिल से प्रतीत होने लगते है :

"मोटेराम बोले—नगरवासियो, व्यापारियो, सेठो और महाजनो ! मैंने सुना है, तुम लोगो ने कॉग्रेसवालो के कहने मे आकर बडे लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हडताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बडी कृतघ्नता है ? वह चाहे तो आज तुम लोगो को तोप के मुह पर उडवा दे, सारे शहर को खुदवा डाले। राजा है, हसी-ठट्ठा नही। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं, और तुम गउओ की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो ? लाट साहब चाहे, तो आज रेल बन्द कर दे, डाक बन्द कर दे, माल का आना-जाना बन्द कर दे। तब बताओ, क्या करोगे ? वह चाहे तो आज सारे शहरवालो को जेल मे डाल दे, बताओ, क्या करोगे ? तुम उनसे भागकर कहाँ जा सकते हो ? है कही ठिकाना ? इसलिए जब इसी देश मे और उन्ही के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क्यो मचाते हो ? याद रखो, तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी मे है। ताऊन के कीडे फैला दे, तो सारे नगर मे हाहाकार मच जाय। तुम झाडू से आँधी को रोकने चले ! खबरदार, जो किसी ने बाजार बन्द किया, नही तो कहे देता हू, यही अन्न-जल बिना प्राण दे दूगा।[1] इस तरह के प्रसग प्रेमचन्द ही नही, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल और रागेय राघव की कहानियो मे भी मिलते है।

पात्रो के चरित्रो को स्पष्ट करने के लिये डायरी शैली का भी प्रयोग किया जाता है, जिसमे कोई पात्र अपनी डायरी लिखता चलता है और अपने मनोभावो को स्वय स्पष्ट करता चलता है। ऐसी बहुत-सी बाते, जिन्हे लोक-लाज या ऐसे ही किन्ही अन्य कारणो से वह दूसरो से नही कह सकता और जो उसके मन को बराबर उद्वेलित किए रहते हैं, वह अपनी डायरी के पृष्ठो मे लिख डालता है, जिससे उसकी छिपी हुई रहस्यजन्य भावनाओ का परिचय मिलता है और उनका वास्तविक रूप पहचानने मे हम सफल होते हैं :

• "श्रावण नवमी मध्य रात्रि

मूर्तिकार, कलिग का एक वृद्ध कलाकार है जो कि कलिग युद्ध मे बन्दी बना लिया गया था। महाराज ने उसे मुक्त कर दिया है। उसने राज-परिवार के सभी लोगो की मूर्तियाँ बनायी है। मैं उसे बराबर टालती आ रही थी। जब उसने बताया कि वह मेरी मूर्ति बनाये बिना कलिंग नही जाएगा तो अगत्या बनवानी ही पडी।... कल यदि मेघाच्छन्न नही रहा तो किसी उपवन की ओर जाना चाहती हू। नयनतारा न होती तो मैं कितनी विवश हो जाती। लगता है सामन्त कुमारसेन नयनतारा के लिए बहुत उत्सुक हैं। मित्रता हो जाए तो अच्छा है न ?"[2]

---

१. प्रेमचन्द : प्रेम द्वादशी, इलाहाबाद, पृष्ठ ७५
२. नरेश मेहता : तथापि, (दिसम्बर १९६१) बम्बई, पृष्ठ ८६

पर कभी-कभी इस प्रणाली के दुरुपयोग से बजाय सफलता के असफलता ही हाथ लगती हैं, विशेषतया जब डायरी के पृष्ठ मतवाद और सिद्धात की तग गली से गुजरते हैं। चरित्र विश्लेषण करने की प्रवृत्ति सर्वथा आधुनिक है। इसमे चरित्र की विकृतियो एव विशेषताओ की एक प्रकार से व्याख्या-मीमाँसा हो जाती है और कहानीकार को अपनी ओर से बिना कुछ कहे भी निष्कर्ष प्रस्तुत करने मे सहायता मिलती है। इसकी तीन पद्धतियाँ हैं ·

१ निरपेक्ष विश्लेषण · अन्य पुरुष द्वारा स्पष्टीकरण।
२. आत्म विश्लेषण . स्वय अपने चरित्र का स्पष्टीकरण।
३ मानसिक ऊहापोह द्वारा विश्लेषण . चिन्तन मनन द्वारा स्पष्टीकरण।

पहली प्रणाली मे किसी चरित्र का अन्य व्यक्ति द्वारा विश्लेषण किया जाता है और उसकी विशेषताओ का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न होता है

"कमरा बन्द करके बलराज बाहर आ गया। दिन के लगभग दो बजे थे और आकाश साफ नही था, यद्यपि हलकी गदली धूप निकली थी। दरवाजे पर सोया हुआ कुत्ता चुपके से सिर उठाकर उदासीन दृष्टि से देखने के बाद खडा होकर उसके पीछे लग गया था। अकेला होने पर वह सदा इसी तरह तेज चलना आरम्भ कर देता था—एक पुराने विचित्र यन्त्र की तरह जब उसका दाहिना कन्धा उचकता था, हाथ भद्दे ढग से झूलने लगते थे, और टाँगे शरीर से उखडने की कोशिश करती प्रतीत होती थी। वह पचास का नही हुआ था और उसके सिर के बाल कपास हो रहे थे। वह ठिगना और दुबला-पतला था। उसकी गरदन छोटी थी और मुह बडा तथा छुहारे की तरह सूखा था, जिस पर घोसले के तिनके की तरह झुरियाँ उभर आयी थी। चश्मे के भीतर से उसकी आँखे झलक रही थी और होठ एक हलकी मुस्कराहट से इस तरह खुल गये थे, जैसे वह दूर से ही किसी आत्मीय को देख रहा हो। इस समय उसको एक लडकी की याद आ रही थी, जिससे उसकी मुलाकात जवानी के दिनो मे हुई थी और जो इसी शहर मे रहती थी।'[1]

आत्म विश्लेषण की प्रणाली मे कोई पात्र आत्मकथात्मक शैली मे अपने चरित्र का स्वय ही स्पष्टीकरण करता चलता है :

"लेकिन मेरे मुहल्ले की इस गली मे आकर हर कथा उलट-पुलट जाती है। तुम बताओ कि तुम क्या करते, अगर शादी के दूसरे साल से सावित्री, अन्दर से हाड़-माँस को कण-कण गलाने वाले रोग से ग्रस्त खाट से लग जाती? इस खिडकी के पास पडी-पडी बस यह जानती रहती कि जिनके गले की वह खिलती-महकती वरमाला थी, अब बरसो से वह उनके गले पडा एक अनावश्यक बोझ है, जिसे न अब वह ढो पाती है, न उतार पाती है। और वह चुपचाप देखती कि रोज एक-एक कण कर पति

१· अमरकात : जनमार्गी (सारिका : नवम्बर १९६२), बम्बई पृ० २१

के मन मे प्यार मरता जा रहा है। रह गया है केवल एक सौजन्य। एक भलमनसाहत कि आखिर जिस औरत को अब जीना नही है, उसका दिल क्यो दुखाया जाय। तुम्हे क्या मालूम कि घृणा मन को उतना नही तोडती जितना यह ठण्डा कृतज्ञता और सौजन्य भरा दिखावा। जो हर क्षण मुझे यह अनुभूति दे जाता है कि असलियत मे तो मैं मर ही चुकी हू। मेरे प्रति मेरे पति का यह आदर-भाव भी वैसा ही है, जैसा मृत शरीर के प्रति होता है।[1]

मानसिक ऊहापोह द्वारा विश्लेषण करके किसी पात्र के चरित्र का स्पष्टीकरण करना आधुनिक कहानी शिल्प है। इसका प्रयोग कहानियो मे बहुत होता है :

"बज्जा का वह आटोप···बन्दरमुंहा कटोप था।···यहाँ मत जाओ, वहाँ मत जाओ, इससे मत बोलो, उससे मत बोलो 'सिर पर आँचल रखकर चलो, ओढनी का ख्याल रखो'' कही कोई तुम्हारी पिडली न देख ले'''कही तुम्हारी देह का उभार न झलक जाय।' क्यो नही, मैं पूछती हू ? सूमके धन की तरह अपना यह शरीर बचाकर मैंने क्या किया ? किस काम आया मेरे ? रखा तो मैंने इसे सात तालो मे जकड कर, पर क्या मिला मुझे ! आज कोई इसका गाहक नही है।[2]

यह सब तो अन्तरग प्रणाली द्वारा किये जाने वाले चरित्र-चित्रण की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हुई। अन्तरग प्रणाली के प्रयोग से, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कहानी की नाटकीयता मे अभिवृद्धि होती है और पाठक को भी कुछ-न-कुछ सोचने-समझने के लिए विवश होना पडता है। दूसरे शब्दो मे वे स्वय भी कहानी की घटनाओ एव स्थितियो मे एक प्रकार से भाग लेने लगते हैं। 'इस प्रकार आज के मानव की युद्ध-भूमि बाहर नही भीतर है। भीतर ही के उथल-पुथल और द्वन्द्व-सघर्षों की बात जितनी अधिक कहानी मे कही जाएगी उतनी ही अधिक समझदार पाठक के विचार और हृदय को स्फूर्ति मिलेगी। इन्हीं आन्तरिक द्वन्द्वो के अनुरूप बाहरी घटनाएँ और क्रिया-व्यापार इस रूप मे सामने आते हैं कि वे मनोवैज्ञानिक फल मालूम पडें। मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन के साथ-साथ कहानीकार से आज के युग की माँग होती है कि पात्र इस रूप मे हमारे सामने आएँ कि हमारे ही समान सुख-दु'ख, हानि-लाभ और उत्कर्ष-अपकर्ष से भरे हो। यथार्थता, वास्तविकता और यथातथ्य सबका यही तकाजा है कि अधिक से अधिक ईमानदारी से आज का कहानीकार अपनी कलाकृति मे मानव की अवतारणा करे। मनुष्य-मनुष्य की तरह हो—अपने सद्-असद् दोनों रूपो में भले ही कोई सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति हो पर यदि परिस्थिति और सस्कार विशेष के कारण उसमे चरित्र विषयक कोई दौर्बल्य भी दिखाई पडता हो तो लेखक को चाहिए कि उसे सच्चाई से वहाँ रहने दे। अच्छा हो यदि वह इसी उच्चावचता को

१. धर्मवीर भारती . सावित्री नम्बर दो (सारिका : जून १९६२), बम्बई पृष्ठ १२
२. अमृतराय : एक साँवली लड़की (सारिका : मार्च १९६३), बम्बई, पृष्ठ २९

उभाड कर सामने लाए, इसी को चरित्र-विषयक अध्ययन का कारण बना दे तथा इसके व्यक्ति-वैचित्र्य को कला के रूप मे परिणत कर दे। इस प्रकार का यथार्थवाद आदर्शवाद के उतना विरुद्ध नही पड़ता जितना रोमाचवाद के। आदर्शवाद तो फिर भी बहुत कुछ सभी युगो मे अपनाया गया है और उसके प्रति लोगो का आदर किसी-न किसी रूप मे बना रहता है सामान्यतः सभी कहानी लेखक एक स्वर से युवक पात्रो को अपनी कहानियो का नायक बनाते है। इसमे बहुत कुछ स्थिति अनुकूल इसलिए हो जाती है कि उस अवस्था मे आकर पात्रो का चारित्रिक गठन अधिक स्पष्ट होने लगता है। वे किस वर्ग के पात्र हो सकते हैं अथवा उनके चरित्र और स्वभाव के कौन से अश उज्ज्वल और काले हैं, इसका ठीक से पता लगने लगता है। इसी अवस्था मे आकर पात्रो मे विवेक-विचार तथा ज्ञान-अज्ञान का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है और उनके क्रिया कलाओ की विविध प्रेरणाओ और भावनाओ की तीव्रता का रूप अधिक स्फुट होने लगता है। पर इस विषय मे उक्त कथन को किसी तथ्य और निर्णय के रूप मे नही स्वीकार करना चाहिए क्योकि प्रसाद का 'मधुवा' और प्रेमचन्द का 'हामिद' भी हमारे आकर्षण और अध्ययन के कम सुन्दर विषय नही है पर वे युवक नही बालक है। इसी तरह कोई वृद्ध भी चरित्र के अनूठेपन को लेकर उपस्थित हो सकता है, जैसे प्रेमचन्द का 'सुजान भगत'। इसलिए यह कहना कि कहानियो के पात्र प्राय युवक होते हैं, आशिक सत्य के रूप में है।' इस प्रकार अन्तरग प्रणाली को उसकी नाटकीयता के कारण ही सर्वोत्कृष्ट प्रणाली स्वीकार किया गया है। आज जबकि मनोविज्ञान का हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया है, हम बिना अपने तर्क की कसौटी पर कसे किसी बात को स्वीकार करने को तत्पर नही होते, ऐसी स्थिति मे इस प्रणाली की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। कहानीकार जब कहता है कि उसका अमुक पात्र दुश्चरित्र है और ऐसे लोगो का समाज मे न होना ही ठीक है, तो एकदम हम उसकी बात पर विश्वास नही कर लेते। हम यह पूछना चाहते हैं कि आखिर वह पात्र दुश्चरित्र है तो क्यो ? इसके कारण क्या हैं ? क्या वह जन्म से ही ऐसा है ? यदि नही, तो किन परिस्थितियो ने उसे ऐसा बनाया ? और यदि हाँ, तो उसके अवचेतन मन मे ऐसे कौन से भाव थे, जिन्होने इसके चरित्र का इस प्रकार निर्माण किया। ये सब प्रश्न ऐसे होते हैं, जिसका उत्तर बहिरग प्रणाली में कहानीकार चाहते हुए भी सूक्ष्मता से नही दे सकता, वहाँ फिर स्थूल कला का आशय लेना पडता हैं, जो आज बहुत लोकप्रिय नही रही।

कथोपकथन

कथोपकथन आधुनिक कहानी शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण अग है। राजा-रानी के किस्से की सीमा को लाँघ कर जब से कहानी आगे बढी, उसने कथोपकथनो को अपनाकर अपने शिल्प को अधिक सवारा-निखारा है और लेखको के 'हस्तक्षेप' कम

करके पात्रो को स्वय सामने आने का अवसर दिया है। इस दृष्टि से कथोपकथन उल्लेखनीय स्थान प्राप्त कर लेते है। यदि उन्हे तर्क-सगत ढग से एव कुशलतापूर्वक सगठित किया जाय, तो वे कहानियो के सर्वाधिक रोचक तत्त्व बन जाते है। कथोपकथनो की भावाभिव्यक्ति की नाटकीयता से ही पात्रो के चरित्रो पर सुन्दर ढग से प्रकाश पडता है, उनका व्यक्तित्व पूर्णतया स्पष्ट होता है और पाठको तथा पात्रो के मध्य निकट सपर्क स्थापित होता है। कुछ कहानियाँ तो प्राय ऐसी लिखी जाती है, जिनमे अधिकाश कथा का विस्तार कथोपकथनो के माध्यम से किया जाता है और उसी आधार पर प्राय. कह दिया जाता है कि कहानी और नाटक मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत इतना तो स्पष्ट ही है कि कथोपकथन आधुनिक काल मे कहानी को नाटकीयता प्रदान करते है। कहानी पढने से पूर्व ऐसे पाठक, जिनका उद्देश्य कहानी की केवल साहित्यिक आलोचना करना नही होता और जो कहानियो को मनोरजन मात्र के लिए पढते है, प्राय कहानी के कथोपकथनो को ही सरसरी दृष्टि से देखकर यह मूल्याकित करने का प्रयत्न करते है कि कहानी उन्हे रुचिकर प्रतीत होगी या नही और उन्हे कहानी पढना चाहिए या नही। वैसे कहानी लिखने की मात्र यही कसौटी नही स्वीकारी जा सकती, पर फिर भी ऐसी अवस्था मे यदि कथोपकथन कुशलतापूर्वक सयोजित न हुए, तो उसकी रुचि न्यून हो जाएगी, और वह कहानी को एक ओर फेक देगा। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि केवल कथोपकथनो के माध्यम पर कहानी का मूल्याकन करना कहाँ तक उचित है। कहानी मे और भी तो तत्व होते हैं ? कथानक, चरित्र चित्रण, पात्रो का विकास, विचार एव उद्देश्य भाषा तथा शैली तथा स्वय लेखक का अपना जीवन-दर्शन—इन सबके आधार पर भी तो कहानी का वास्तविक मूल्याकन होना चाहिए और सामूहिक तत्त्वो के इस मूल्याकन मे कथोपकथनो के महत्त्व का भी समावेश होना चाहिए। यह सत्य है और तर्क-सगत है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसे पाठको की, जो कहानी केवल मनोरज़न के लिए पढते है और जिनकी प्रवृत्ति कहानी के साहित्यिक मूल्यान्वेषण की बिल्कुल नही होती, सख्या अनगिनत होती है और निश्चित रूप से कहानी पढ़ना प्रारम्भ करने के पूर्व वे कहानी और अपनी व्यक्तिगत रुचि मे मेल बैठाना चाहेगे। ऐसी स्थिति मे कथोपकथन ही सामने आते है और कहानीकार किसी भी रूप मे उनकी उपेक्षा नही कर सकता। ऐसा करना दुराग्रह मात्र होगा।

कहानी मे कथोपकथन क्यो हो और क्यो न हो, यह चर्चा बडी रोचक है। कुशल कहानीकार कथोपकथन के माध्यम से कथानक का विकास करता है, इससे कथानक मे नाटकीयता एव सजीवता की वृद्धि तो होती है, साथ ही औपन्यासिक शिल्प का श्रेष्ठ रूप सामने उपस्थित होता है। पर श्रेष्ठ शिल्प अनुकरण के लोभ मे यह नही भूल जाना चाहिए कि अनर्थक कथोपकथन के

प्रयोग एव केवल कथोपकथनो पर ही कथानक के विकास का इतना उत्तरदायित्व डाल देना कि वे नितान्त बोझिल से जान पडे, कभी भी तर्क-सगत एव प्रशसनीय नही कहा जा सकता। कथानक के विकास मे कथोपकथनो का प्राय प्रयोग किया जाना चाहिए, पर उसे ही साधन नही मान लेना चाहिए क्योकि कथोपकथनो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पात्रो से, उनके परस्पर सम्भाषण एव चरित्र विकास से होता है। अत पात्रो के चारित्रिक विकास के माध्यम के रूप मे कथोपकथनो का दूसरा उद्देश्य स्पष्ट किया जा सकता है। पात्रो की भावनाओ, अनुभवो, उद्देश्यों, उस घटना-प्रक्रिया मे, जिसमे कि ये पात्र भाग ले रहे है, उनकी प्रतिक्रियाएँ जानने मे और दूसरो के ऊपर वे अपने व्यक्तित्व एव चरित्र तथा क्रिया-कलापो से कितना प्रभाव डाल रहे है, यह जानने मे कथोपकथनो का अत्यन्त महत्व है। एक कुशल कहानीकार, जिनमे कलात्मक अभिव्यक्ति की श्रेष्ठता तथा परिस्थितियों की यथार्थता एव अनुभूतियो की गहनता की पकड है, कथोपकथनो के माध्यम से ही विश्लेषण एवं विवरण देने का भी कार्य करता है। अतः पात्रो द्वारा जिस कथोपकथन का प्रयोग होता है, उससे उनको व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे पर्याप्त अनुमान लगाया जा सकता है, साथ ही कहानियो की परिस्थितियो, उसकी जटिलताओ, पात्रो के रहस्यमय अन्तर्द्वन्द्वो आदि की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए कथोपकथनो द्वारा ही उद्देश्य की नाटकीय ढग से पूर्ति होती है। कथोपकथनो का एक तीसरा उद्देश्य भी होता है। वह यह कि इन्ही के माध्यम से लेखक अपने उद्देश्य एव विचार तथा जीवन दर्शन को भी स्पष्ट करता चलता है। पूर्व प्रेमचन्द काल की जो लम्बी कहानियाँ मिलती हैं, उनमे इस कार्य के लिए लेखक स्वय बीच मे आ टपकता था और 'तो हे पाठकगण,' के सम्बोधन से नैतिकता, आदर्शवादिता आदि के भाषण देना प्रारम्भ कर देता था। प्रेमचन्द काल मे भी यह प्रवृत्ति विद्यमान रही, हालाँकि उसका स्वरूप थोडा भिन्न था। कहानी के बीच-बीच मे नैतिक उक्तियाँ इस काल मे भी कही जाती थी और प्रत्येक तीसरे वाक्य मे सत्य का सूरज उगा दिया जाता था, पर 'तो हे पाठकगण' के सम्बोधन के साथ नही वरन् थोडे और कौशल के साथ। पर प्रबुद्ध पाठको को यह समझते देर नही लगती थी कि यह कहानीकार ही है और किसी पात्र के व्यक्तित्व एव कथानक से इन उक्तियो का कोई सम्बन्ध नही है। उत्तर प्रेमचन्द काल मे, जबकि कहानी-शिल्प का और भी विकास हो गया तो कथोपकथनो के माध्यम से ही लेखक अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करने लगा। यह कठिन पर सीधा मार्ग था, जिससे उद्देश्य की पूर्ति अधिक प्रौढ शिल्प मे हो सकती थी।

इस दृष्टि से आधुनिक कहानी का निश्चित रूप से विकास हुआ है। अब कथोपकथनो की कुछ प्रमुख विशेषताओ पर ध्यान देना चाहिए। कथोपकथन की अनुकूलता एव सार्थकता मुख्य विशेषता होती है। जिस प्रकार का घटना प्रसग हो,

जैसा वातावरण हो, वैसे ही कथोपकथनो का प्रयोग होना चाहिए। दुःखपूर्ण वातावरण मे हास्यरस की सृष्टि करने वाले कथोपकथनो की अवतारणा हास्यस्पद एव असगत होगी वास्तव मे कथोपकथनो को कथावस्तु के साथ ऐसे घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होना चाहिए कि वह उसका एक अनुपेक्षणीय सार्थक अग प्रतीत हो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनो ही रूपो से कथोपकथनो को कथानक का विकास करना चाहिए और पात्रो के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए उनके चरित्र से सम्बन्धित गोपनीय तत्वो का रहस्योद्घाटन करना चाहिए, जिससे पात्रो के सम्बन्ध मे पाठको की छिपी हुई जिज्ञासाएँ शान्त हो सके और पाठक उनसे पूर्णरूप से परिचित हो सके। साथ ही पाठको और पात्रो के मध्य कोई व्यवधान न रह जाए ऐसी ही स्थिति मे पाठको का पात्रों से निकट तादात्म्य स्थापित हो सकेगा और कहानी की स्वाभाविकता में वृद्धि हो सकेगी।

"चौधराइन, आज कुछ कमाई हुई।"

चौधराइन मुँह बिचका देती है।

"नूरजहाँ बेगम आजकल बात नही करती।"

नूरजहाँ बेगम कुछ न कहकर पिंडली खुजलाने लगती है।

"चाय पिएगी ?"

नूरजहाँ बेगम फिर मुँह बिचका देती है।

"नूरजहाँ बेगम, उदास क्यो हैं ? इसलिए कि तेरा बाप कोडी मर गया है ?"[१]

नूरजहाँ बेगम चुपचाप आग तापती रहती है।

"आज सर्दी बहुत है।"

"नूरजहाँ बेगम को दुअन्नी दे और साथ ले जा।"

"क्यो नूरजहाँ ?"

नूरजहाँ कुछ नही कहती।

"आज चौधराइन मस्ती मे हैं।"

"अरे तुम चौधराइन को क्या समझते हो ? किसी खानदान मे पैदा होती तो क्लब मे डान्स किया करती।"

"हा-हा-हा ?"

"चौधराइन डान्स करेगी ?"

"हो-हो-हो ?"

"यही कराओ इससे डान्स।"

"अरे नही, बेचारी सर्दी में मर जाएगी।"

"यह आप अगीठी है, यह क्या मरेगी !"

"चुप रह बदजात !" अंगीठी तमक उठती है।

"आज दिमाग तेज है।"

"नूरजहाँ बेगम, रात को क्या खाया है ?"
"मुर्ग़ मुसल्मम।"
"हा-हा-हा ?"[1]

पर जैसा कि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है, कथोपकथनो को सप्रयत्न नही अपितु स्वाभाविक रूप मे आने चाहिए, जिससे वे सार्थक प्रतीत हो। ऐसे कथोपकथनो का कभी भी और किसी भी सामान्य अथवा असमान्य परिस्थितियो मे प्रयोग नही होना चाहिए, जिसका न तो कथानक के विकास मे परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से काई सबन्ध है और न ही वे पात्रो के व्यक्तित्व को स्पष्ट कर उनके चरित्र को प्रकाशित करने मे समक्ष हैं। ऐसे अनर्थक सारहीन कथोपकथन, चाहे वे जितने ही रोचक, विचारोत्तेजक एव कुशलतापूर्वक उपस्थित किए गए क्यो न हो, कहानियो की कलात्मकता को न्यून कर उसे बोझिल बना देते हैं। कहानियो की एकता के मूलभूत नियम (Fundamental law of unity) को ऐसे कथोपकथन खण्डित करते हैं। राजनीति, समाज, साहित्य विज्ञान एव कला पर ऐसे बहुत से अनर्थक कथोपकथन प्रेमचन्द, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त तथा अमृतराय की कहानियो मे भरे पडे हैं, जिनके कारण उनकी कहानियो की रोचकता न्यून हो जाती है। 'वास्तव मे सवाद-तत्व को प्रभावपूर्ण, आकर्षक और पूर्णतया साभिप्राय बनाने के लिए दो बातो का विचार आवश्यक होता है। पात्रो की परिस्थितियो का सम्यक् बोध और उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म परिचय कृतिकार को अवश्य होना चाहिए और उसे अपने पात्रो की सपूर्ण गतिविधि पर दृष्टि जमाए रखनी चाहिए; तभी यह सम्भव होगा कि सवाद प्रकृत और सजीव हो सकेंगे और साथ ही उनमे चमत्कार और आकर्षण उत्पन्न हो सकेगा। उक्त उदाहरण मे विषयगत सजीवता और सवादात्मक कथा का मसृण प्रवाह देखा जा सकता है। कथानक मे इतने सहज रूप मे सरसता और विस्तार पाया गया है कि परिस्थिति और पात्रो की अवस्था के विचार से वह बडा प्रकृत मालूम पडता है। उसकी समस्त योजना से यह मालूम पडता है कि सम्भत लेखक की कल्पना मे सारा चित्र और वातावरण सजीव रूप मे मुखरित था। उसे उसने यथार्थता से सवादो मे व्यक्त कर दिया है इस तत्व के प्रयोग कर्ता को प्रकृतत्व की रक्षा के विचार से यह ससझ रखना चाहिए कि इसका प्रयोग केवल सिद्धान्त प्रतिपादन के निमित्त न कराया जाय। ऐसा प्राय. देखा जाता है—कहानी और उपन्यास दोनो मे कि कथा प्रसार अथवा चरित्रॉकन अथवा देशकाल की अभि-व्यक्ति के अतिरिक्त केवल परिस्थिति चित्रण अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन और विवेचन के निमित्त भी सवादों का प्रयोग लेखक करता है। मात्रा और औचित्य के विषय मे तनिक भी असावधानी होने पर ऐसे स्थल सर्वथा अप्राकृतिक भारवत् और

१ मोहन राकेश एक और जिन्दगी, (दिसम्बर : १९६१) दिल्ली, पृष्ठ १४५-१४६

असंतुलित हो जाते हैं। इस प्रकार के संवाद कहानी की प्रभावान्वित के लिए साधक न होकर बाधक हो उठते हैं। इसलिए लेखक को चाहिए कि वह अपने बोलने वाले पात्रो के अन्त करण मे क्रमश अच्छी तरह प्रविष्ट रहे और बारी-बारी से जितने भी पात्र सवाद मे रहे हो उनकी शिक्षा दीक्षा, देश-काल और साँस्कृतिक गठन के अनुरूप बातचीत कराए। इस विषय मे वहाँ सजीवता नही उत्पन्न हो सकेगी जहा एक पात्र की कही हुई बात का प्रभाव— अनुभावो के रूप मे दूसरे पात्र पर न दिखाई पडे और दूसरा पात्र एक विशेष प्रकार की आगिक चेष्टाओ और मुद्राओ के साथ पहले का उत्तर देता दिखाया जाय। यदि ऐसा होगा, तो कथोपकथनो मे चाहे जितनी सत्यता हो, विचारोत्तेजना हो एव कौशल हो, मुख्य कथा के विकास मे इसका कोई महत्व नही है। उस व्यापक सन्दर्भ मे भी इस प्रकार के कथोपकथनो की सार्थकता सदिग्ध हो जाती है। कहानीकार को इस प्रकार के कथोपकथनो से बचना चाहिए।

इस प्रकार के कथोपकथनो का, जिनका कथानक के विकास मे कोई योग नही होता, प्रयोग उसी अवस्था मे होना चाहिए, जब वे किसी पात्र के चरित्र को प्रकाशित करने मे सहायक हो और उन्हे स्पष्ट करते हो। सक्षिप्तता कथोपकथन की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता होती है। सक्षिप्त व्यग्यात्मक, सार्थक और भावाभिव्यक्ति पूर्ण कथानक रोचक माने जाते है :

"तभी अतुल मवानी कमरे मे आ जाता है। कहता है—"यार, कमाल कर किया अपने जवानो ने ·! कभी सोचा ही नही था कि अपनी सरकार यह कदम उठा लेगी। फौज ने अपना सिक्का जमा दिया ·!"

"लेकिन अपने अफसर बहुत मारे गए है, पाकिस्तानी अफसर बहुत कम मरे हैं।" मैं अपनी तकलीफ बयान करता हू।

"यह अपनी फौज के लिए शान की बात है।" मवानी कुछ जोश से कहता है—"अपनी फौज के अफसर जवानो के साथ-साथ बराबर लडे है···यह बडी बात है ··इससे जवानो का हौसला बढता है।"

"हा ··यह बात तो सही है।" मैं कहता हू तभी ऊपर वाले सरदार की आवाज जाती है—'मवानी साहब, कुछ पता है, अमृतसर के लिए कौन-कौन सी गाड़ियाँ चालू हो गई हैं ?"

"सभी जा रही है · वक्त मे कुछ हेरफेर हुआ है। क्यो, बिजनेस टूर·· ?" मवानी पूछता है :

"नही जी···उधर अपने बहुत से मिलने वाले हैं, रिश्तेदार भी हैं। छहरटा मे हैं, उधर फैक्टरियो मे काम करते हैं, वही क्वार्टर्स में रहते हैं।··बमबारी के बाद से कोई हाल नही मिला···

"आजादी की कीमत चुकाना हम सीख रहे है !"—भवानी कह रहा है।

"यह बात सही है। · ये चीन और पाकिस्तान के खतरे देश को कितना बदल रहे हैं ··चारो तरफ जिम्मेदारी का अहसास है। ऐसा हमने पहले कभी महसूस नही किया था" मैं कहता हू "आज पता चलता है कि नेहरूजी ने कितना बडा काम किया है ·इस सकट के वक्त हम अपने उद्योग धन्धो पर टिक सके है। फौजी सामान के लिए भी हमे फौरन दूसरे की तरफ देखने की जरूरत नही पडी। कृष्ण मेनन ने अपने जमाने मे काफी कुछ तैयारियाँ शुरू कर दी थी · "फौजी जवानो की बहादुरी और उन्ही तैयारियो ने हमारा साथ दिया है।" भवानी कुछ-कुछ भाषण करने के अन्दाज मे बोलता है।[1]

इसके विपरीत जब लम्बे-लम्बे कथोपकथन कहानी मे ठूसे जाते हैं, तो वह निर्जीव और सफल हो जाती है। प्रेमचन्द, यशपाल आदि की कहानियो मे ऐसा बहुत हुआ है: "लखनवी महाशय ने कहा—आपका कहना सच है, लेकिन दूसरी जगह यह मजा कहाँ? यहाँ सुबह से शाम तक के बीच मे भाग्य ने कितनो को धनी से निर्धन और निर्धन से भिखारी बना दिया। सबेरे जो लोग महल मे बैठे थे, उन्हें इस समय वृक्ष की छाया भी नसीब नही, जितके द्वार पर सदावर्त खुले थे, उन्हे इस समय रोटियो के लाले पडे हैं। अभी एक सप्ताह पहले जो लोग काल-गति, भाग्य के खेल और समय के फेर को कवियो की उपमा समझते थे, इस समय उनकी आह और करुण क्रन्दन वियोगियो को भी लज्जित करता है। ऐसे तमाशे और कहाँ देखने मे आवेंगे!

इतने मे एक तिलकधारी पण्डित जी आ गये और बोले—साहब आपके शरीर पर वस्म तो है, यहा तो धरती आकाश कही ठिकाना नही है। मैं राघो जी पाठशाला का अध्यापक हू। पाठशाला का सब धन इसी बैंक मे जमा था। पचास विद्यार्थी इसी के आसरे सस्कृत पढते और भोजन पाते थे। कल से पाठशाला बन्द हो जाएगी दूर-दूर के विद्यार्थी है। वह अपने घर किस तरह पहुचेगे, ईश्वर ही जाने।[2]

जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय ने अवश्य ही अपनी कहानियो मे कथोपकथनो की सक्षिप्तता पर अवश्य ही ध्यान रखा है और धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, नरेश, मेहता, निर्मल वर्मा, श्रीकान्त वर्मा, राजकुमार, अमरकान्त, मार्कण्डेय, कृष्ण सोबती उषा प्रियवदा, मन्नूभण्डारी, ममता अग्रवाल, अनीता औलक, ज्ञानरजन, रामनरायण शुक्ल, प्रयाग शुक्ल, भीष्म साहनी, हरिशकर, पटसाई, रवीन्द्र कालिया, धर्मेन्द्रगुप्त

१ कमलेश्वर: दिल्ली मे एक और मौत, (सारिका . दिसम्बर १९६५), बम्बई, पृष्ठ १४

२. प्रेमचन्द . प्रेम द्वादशी, इलाहाबाद, पृष्ठ २५-२६

जगदीश चतुर्वेदी तथा रमेश बक्षी आदि कहानीकारो ने और भी अधिक सूक्ष्मता तथा कुशलता से प्रस्तुत किया है। यहाँ कहने का अभिप्राय यही है कि सक्षिप्त कथोपकथन पर भावाभिव्यक्ति से पूर्ण अत्यन्त प्रभावशाली होते है। अत सक्षेप मे कहा जा सकता है कि कथोपकथन को उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए। उन्हे स्वाभाविक होने चाहिए एव अनुकूलता तथा उपयुक्तता से पूर्ण होने चाहिए। उन्हे नाटकीय होने चाहिए तथा उनमे पर्याप्त सम्बद्धता होनी चाहिए। वास्तव मे कुशल कहानीकार स्वय निरपेक्ष रहकर मूल कथा का भी विकास करता है और पात्रो का चरित्र-चित्रण भी स्पष्ट करता है। कथोपकथन का तीसरा कार्य कुतूहलता एव उत्सुकता को निरन्तर बनाए रखना भी होता है। कथोपकथन तीन प्रकार के होते है :

१ पूर्ण नाटकीय—जिसमे केवल कथोपकथन ही होता है, कहानी के कार्य व्यापारो का सकेत नही होता।

२. सकेतपूर्ण, जिसमे पात्रो की मुद्राओ के सकेत के माध्यम से कथोपकथन मे गतिशीलता उत्पन्न होती है।

३. घटनापूर्ण—जिसमे घटनाओ के माध्यम से कथोपकथन आगे गतिशील होते हैं और उनकी अर्थवत्ता स्पष्ट होती है।

वातावरण

कहानी शिल्प का अगला महत्वपूर्ण अग उसका वातावरण होता है। कहानी की स्वाभाविकता की दिशा मे देशकाल अथवा वातावरण की रक्षा का मुख्य स्थान होता है। कहानी मे वर्णित घटनाओ की सत्यता का विश्वास दिलाने के लिए कहानीकार अपने कथानक के तत्कालीन युग का पूर्ण सजीव वातावरण इस कुशलता के साथ उपस्थित करता है कि पाठको के मस्तिष्क मे उनकी सत्यता असन्दिग्ध हो जाती है। वस्तुत. देशकाल एव वातावरण की सजीवता ही पाठको की मन स्थिति मे भ्रमोत्पादन का कारण बनती है। यदि पुराणकालीन वातावरण मे किसी पात्र को घडी से समय देखते हुए चित्रित किया जाए या रेलो से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचना दिखाया जाय, तो यह हास्यास्पद होने के साथ ही पूर्णतया अस्वाभाविक एव असत्य प्रतीत होगा, कहानीकार उनका विश्वास दिलाने के लिए चाहे जितनी दलीले क्यो न उपस्थित करे। उसी भाँति आधुनिक युग से सम्बन्धित लिखी जाने वाली कहानियो मे अर्ल स्टेनले गार्डनर या पैरी मैसन की शैली मे व्यक्ति को उडते हुए या गायब हो जाना चित्रित करना असंगत होगा। प्रेमचन्द अपनी कहानियो मे वातावरण की सजीवता के प्रति विशेष सजग दृष्टिगोचर होते है पर अज्ञेय या निर्मल वर्मा की कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो किसी भी वातावरण मे रखकर देखी जा सकती है। इन कहानियो मे अपने समय का बोध, संस्कृति, परम्परा एव सभ्यता का कोई परिचय नही प्राप्त होता। इन कहानियो के पाठक उनके यथार्थ परिपार्श्व को समझने मे

नितान्त रूप से असमर्थ रहते हैं। अत. कहानियो मे सजीवता तथा स्वाभाविकता बनाए रखने के लिए देशकाल अथवा वातावरण की उपेक्षा नही की जा सकती। साहित्य मे नवीन तत्वो का समावेश आवश्यक होता है[1] और कहानियाँ जब उस दायित्व का वहन करने के लिए अग्रसर होती है, तो आवश्यक होता है कि वे युगबोध और भावबोध को उनके यथार्थ परिवेश सभी आयामो के साथ प्रस्तुत करें—यही कहानीकार की प्रतिबद्धता की माँग भी है।

वास्तव मे जब वातावरण मे यथार्थता की बात की जाती है, तो उसका आशय स्थानीय रगो[2] से ही होता है, अर्थात् जिसके परिवेश मे कहानी रची जाती है और उसका कथानक सम्बन्धित होता है। वातावरण का अभिप्राय किसी देश, समाज एव जाति के आचार-विचार, उसकी सभ्यता एव संस्कृति, सामाजिक, साँस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो का चित्रण है। कहानियो मे किसी विशेष देश, समाज एवं जाति को ही वातावरण के रूप मे उपस्थित किया जाता है और उस देश, समाज या जाति की समस्त विशेषताएँ चित्रित की जाती है। इससे कहानी की स्वाभाविकता एवं सत्यता की अभिवृद्धि होती है। यहाँ तक कि उस देश की प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिस्थितियो का अध्ययन भी अपूर्व कौशल के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार वातावरण की अनेक विशेषताएँ होती हैं, जिनका पालन करना कहानीकार के लिए कहानी की स्वाभाविकता की रक्षा हेतु अनिवार्य सा हो जाता है। वातावरण का सम्बन्ध 'कहानी के इष्टार्थ अर्थात् प्रतिपाद्य प्रभावान्विति

1 "Literature as we have seen throughout its history needs from time to time to be reinforced with fresh vitality with new vigour, otherwise it will languish and decay"

—आर्थर कॉम्पटन रिकेट · ए हिस्ट्री ऑव इंगलिश लिट्रेचर, लन्दन पृष्ठ ४५३

2 "Local colour, as the term implies, makes its appeal largely to the eye of the reader Atmosphere on the other hand makes its appeal almost entirely to the emotions One is objective and the other is subjective One must be true to the fact, the other true to a given mood either of the authour or of his creature, the leading character Local colour attempts to harmonize the details of setting and character with the actual conditions of a given time and place , atmosphere attempts to harmonize setting and character with the feelings of a character in a certain time and place Thus it will be seen that the one is usually perceived by the intellect, the other by the emotions"

—ग्लेन क्लार्क ए मैनूअल ऑव द शॉर्ट स्टोरी आर्ट, (१९२६), पृष्ठ ७२

से अधिक होता है। यह किसी एक अथवा अनेक तत्वो मे योग नही देता, वरन् कहानी की समष्टि का मानस पर छायात्मक प्रभाव डालता है अथवा स्वय मे कहानी का इष्ट बनकर अन्य तत्वो को अपने अग रूप मे स्वीकार करता है। कहानी को पढ लेने के उपरान्त चित्र कही करुणा की तरलता से द्रवित हो उठता है, कही कुतुहल और आश्चर्य मे बुद्धि पड जाती है, कही कल्पना की रगीनी से मन विस्मय-विमुग्ध हो उठता है और कही प्रेमवात्सल्य की सरसता छाई मिलती है। इस तरह किसी भी कहानी को पढ लेने पर एक प्रकार के वातावरण का अनुभव पाठक करता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो परिवेश मण्डल के भीतर की सारी सामग्री चाक्षुष प्रत्यक्ष होती है। अर्थात् उसकी अनुभूति वस्तुजन्य और भौतिक दिखाई पडती है, पर वातावरण का बोध शुद्ध मानसिक क्रिया है। भिन्न इन्द्रियो और उनके ज्ञान का बोध जब हो लेता है और जितनी उत्तमता से हो लेता है, तब उन्ही सबका प्रभाव मस्तिष्क मे भर उठता है। कहानी के वस्तु प्रसार के तनाव पर परिव्याप्त जो एक प्रकार का वायुमण्डल अथवा वातावरण होता है, उसे कहानी का शुद्ध मानस आभोग, मानना चाहिए। वातावरण दो प्रकार का होता है सामान्य और विशेष। सामान्य रूप वह है जो प्राय. न्यूनाधिक रूप मे सभी कहानियो मे उपस्थित रहता है। देशकाल की परिमिति मे बँधे हुए जीवन का जब एक चित्र सामने आएगा अथवा किसी परिस्थिति का जब विधिवत् उद्घाटन होगा, तब देशकाल और विषय के सयुक्त रूप का एक वातावरण अवश्य ही उत्पन्न करेगा। इस प्रकार के सामान्य वातावरण सम्बन्धी प्रभाव तो किसी भी कहानी मे देखा जा सकता है। 'वातावरण के प्रयोग का दूसरा स्वरूप सर्वथा भिन्न होता है। उसकी भेदक-विशेषता इस बात मे दिखाई पडती है कि किसी कहानी का वह स्वयं मे इष्ट और प्रतिपाद्य बन जाता है। वस्तु, पात्र, देशकाल, सवाद इत्यादि तत्व उसमे अग रूप से प्रयुक्त होते है।' वातावरण प्रधान कहानियो मे तो इसका महत्व और हो जाता है, जिसमे वातावरण के बारीक-से-बारीक रेशो को सूक्ष्मता से उजागर करके भावात्मक अनुभूति ध्वनित करने का प्रयत्न किया जाता है। वातावरण के चित्रण के तीन उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है।

१—"आसिन-कातिक की भोर मे छा जाने वाले कुहासे से हिरामन को पुरानी चिढ है। बहुत बार वह सडक भूलकर भटक चुका है। किन्तु आज की भोर के इस घने कुहासे मे भी वह मगन है। नदी के किनारे धन-खेतो से फूले हुए धान के पौधो की पवनिया गन्ध आती है। पर्व-पावन के दिन गाँव मे ऐसी ही सुगन्ध फैली रहती है। उसकी गाड़ी मे फिर चम्पा का फूल खिला। उस फूल मे एक परी बैठी है। जै भगवती! हिरामन ने आँख की कनखियो से देखा, उसकी सवारी ··मीता··· हीराबाई की आँखे गुजुर-गुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन मे कोई अजानी रागिनी बज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है। वह बोला—बैल को मारते हैं तो

आपको बहुत बुरा लगता है ?"[१]

२—"साँझ का धुंधलका गाढा हो रहा था। मैदान से उठने वाले बच्चो के शोरगुल से ऊपर बस्ती की अंगीठियो का धुआँ फैला हुआ था। उसके घर मे पूरी खामोशी थी। उसकी पत्नी दुलारी चुपचाप चूल्हे के पास बैठी थी। उसने दृष्टि उठाकर अपने पति को देखा, फिर अपना सिर पहले की तरह ही अपने दोनो घुटनो के बीच मे छिपा लिया। उसका लडका चेतन, जिसकी उम्र लगभग बारह वर्ष की थी, आँगन मे खाट पर बैठा था और सिर झुकाकर अपने दोनो पैरो को हिला रहा था।"[२]

३—"सँकरी कोठरी मे अजीब-सी बदबू भरी हुई थी। एक कोने मे पानी का घडा रखा था और तामचीनी का एक डिब्बा। कोने मे कुछ चिथडे भी पडे थे। वह पडा-पडा इधर-उधर देखता रहा। जुगनू के सिरहाने ही छोटी-सी आलमारी थी। उसका पत्थर तेल के चिकने चकत्तो से भरा हुआ था। एक टूटा हुआ कघा, सस्ती नेलपालिश की शीशी और जूडे के कुछ पिन उसमे पडे थे। आलमारी की दीवार पर पेंसिल से कुछ नाम और पते लिखे हुए थे। सिनेमा के गीतो की कुछ किताबे एक कोने मे रखी थी, उन्ही के पास मरे हुए साँपो की तरह चुटीले पडे थे। देखते-देखते उसके मन मे गिजगिजाहट भर गई थी। आसरे के लिए उसने जुगनू की जाँघ पर हाथ रख लिया था। जाँघ बासी मछली की तरह पुलपुली और खद्दर की तरह खुरदरी थी। जुगनू के खुले हुए आधे तन से मावे की महक आ रही थी। उसने हाथ हटाया तो जाँघो के नीचे चादर पर आ गया था। उसे लगा जैसे चादर भीगी हुई हो।"[३]

इन उदाहरणो मे वातावरण का यथार्थ एव सजीव चित्रण मिलता है। वास्तव मे बहुत से लोगो की यह धारणा है कि स्थितियो का चित्रण भी वातावरण का ही चित्रण होता है और वे दृश्यो का विस्तार से चित्रण करने को ही वातावरण प्रधान कहने की शिल्पगत भूल करते है।[४] इसमे अन्तर होता है और इसे स्पष्टता से

१ फणीश्वरनाथ रेणु . ठुमरी, (१९५९), दिल्ली, पृष्ठ १३३-१३४
२, अमरकान्त पड़ोसी, (परिकथा . अक्टूबर, ६५), इलाहाबाद पृष्ठ ११
३ कमलेश्वर माँस का दरिया, (अणिमा जुलाई-सितम्बर, ६५) कलकत्ता, पृष्ठ १९
4 "Many students get the notion that environment is atmosphere and so they fall in to the technical blunder of trying to produce atmosphere by elaborate descriptions of scenery. Their belief is false, and their practice only occasionly sound The atmosphere is, be it repeated, the impression which environment makes upon the beholder and which the beholder in writing seeks to convey to his readers "

—डब्ल्यू० बी० पिटकिन : द आर्ट एण्ड बिजनेस ऑव स्टोरी-राइटिंग, (१९१९), पृष्ठ १९३-१९४

स्मरण रखना चाहिए। वातावरण मे यथार्थता का रग होना चाहिए। यदि धार्मिक काल का वातावरण हो, तो उसी काल से सम्बन्धित सामाजिक परिस्थिति, साँस्कृतिक परिस्थिति, भाषा धर्म एव रीति-रिवाजो का चित्रण होना अनिवार्य होता है। वातावरण की दूसरी विशेषता कहानियो के माध्यम से कलात्मक कौशल से पूरे युग-बोध का सूक्ष्मतिसूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करना है। प्रायः कहानीकार अपने-अपने अपूर्व शिल्प कौशल से युग, समाज एव जाति-विशेष का ऐसा सजीव वातावरण उत्पन्न कर देता है कि उस युग, समाज या जाति का पूर्ण परिचय कहानी के लघु दायरे मे ढलकर पाठको की आँखो के सम्मुख उपस्थित हो जाता है और सबसे बडी बात तो यह होती है कि वह परिचय इतिहास से सम्बद्ध होते हुए भी इतिहास नही होता, वरन् सामाजिक, राजनीतिक या ऐतिहासिक कहानी ही होती है।

वातावरण का—वर्गीकरण एक दूसरे ढग से भी किया जा सकता है। एक की चर्चा ऊपर की गई है। दूसरी प्रवृत्ति के अनुसार भी उसके दो वर्ग हो सकते हैं :

१ सामाजिक
२ भौतिक

सामाजिक वातावरण कथावस्तु की प्रभावशीलता को गहन् रूप प्रदान करने एव प्रभावग्राहिता की अभिवृद्धि के लिए ही चित्रित किया जाता है। आज के कहानीकारो की प्रवृत्ति यह है कि वे अपनी कहानियो मे सामाजिक यथार्थ के व्यापक सन्दर्भो को सूक्ष्म सकेतो के माध्यम से समेटना चाहते हैं। इस प्रकार समुद्री एव सैनिक जीवन, उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग, औद्योगिक जीवन, व्यावसायिक जीवन, कलात्मक जीवन, क्लर्की जीवन और आधुनिक जीवन के बहु-विधिय परिपार्श्व कहानियो मे प्राप्त होते है। स्थानीय चरित्रो को प्रस्तुत करने के लिए भी सामाजिक वातावरण का सृजन किया जाता है। इन स्थानीय पात्रो को या तो वहाँ के प्राकृतिक परिवेश मे प्रस्तुत किया जाता है या कभी-कभी उसकी विचित्रताएँ उसे दूसरे कन्ट्रास्ट वाले परिवेश मे चित्रित किया जाता है। चाहे जो भी पद्धति अपनाई जाए, यदि उनमे मानव जीवन के विभिन्न आयाम चित्रित किए जाते हैं, उनमे चरित्र चित्रण एव सामाजिक वातावरण को घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जाता है और प्रत्येक तत्व को एक दूसरे के अन्योन्याश्रित सम्बन्धो मे रखकर ही उन पर विचार किया जाना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही यह तथ्य भी सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि बहुत सी महान् कही जाने वाली कहानियाँ केवल इसलिए आकर्षक प्रतीत होती है और उनका साहित्यिक मूल्य इसीलिए उच्च स्तर पर आँका जाता है, क्योकि उनमे विशेष वर्गों, सामाजिक सगठनो और स्थानो के जीवन एव घटनाओं का कलात्मक चित्रण सघन अनुभूतियो के साथ किया जाता है। इस प्रकार कहानीकारो के कार्य का मूल्याकन उनके चित्रण की उपयुक्तता और प्रभावान्विति

की शक्ति के सन्दर्भ मे करना चाहिए । यही सिद्धान्त ऐतिहासिक कहानियो के सम्बन्ध मे लागू होते है, जिसमे कथानक एव पात्रो की नाटकीय रुचि तथा किसी विशेष युग की सभ्यता एव सस्कृति लोक-व्यवहार, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के विशद चित्रण का परस्पर समन्वय होता है । भौतिक वातावरण पात्रो की मानसिक परिवर्तन-शीलता के स्पष्टीकरण के लिए प्रयोग मे सिरजा जाता है । प्रत्येक जानकार पाठक ऐसे कहानीकारो की प्रवृत्ति से परिचित है, जो मोहन राकेश, अमरकान्त, नरेश मेहता आदि की भाँति प्राय उदासीन से रहते हैं या धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव या निर्मल वर्मा की भाँति सडको, मकानो, गलियो, मकान के भीतरी भागो की छोटी-छोटी बातो का विवरण प्रस्तुत करने मे विशेष सावधानी का पालन करते है ।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित करना आपेक्षित है। कहानीकार प्रकृति का वर्णन उसी रूप मे कर सकता है, जिस रूप मे एक लैण्डस्केप पेण्टर अपनी समर्थता के अनुसार करता है । परन्तु यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि एक भावुक कवि की भाति वह प्रकृति का वर्णन अनेक ढग से कर सकता है । या तो वह प्रकृति का वर्णन इस रूप मे करे कि उसके मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक से कोई सम्पर्क न रहे और वह चित्रण वास्तव मे प्रकृति के यथार्थ चित्रण हो । दूसरे वह इस प्रकृति चित्रण को उद्दीपन रूप मे रखकर मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक मे समाविष्ट कर दे और कन्ट्रास्ट मे रखकर विभिन्न चित्र प्रस्तुत करे । वह यह प्रकृति चित्रण अपने पात्रो या उनकी परिस्थितियो से सहानुभूति के रूप मे भी प्रस्तुत कर सकता है । धर्मवीर भारती ने 'गुल की बन्नो' या अमरकान्त ने 'दोपहर का भोजन' मे दिन की उदासी और धूप की रिक्तता का वर्णन मानव जीवन की उदासी और रिक्तता के कन्ट्रास्ट मे रखकर उपस्थित किया है, इसीलिए वह चित्रण इतना सवेदनाजन्य बन पडा है, जबकि निर्मल वर्मा या नरेश मेहता अपनी कहानियो मे प्रकृति वर्णन मात्र प्रकृति का दृश्याकन करने और पात्रो के सन्दर्भ मे एक मोहक भावुकता उत्पन्न करने के लिए ही करते हैं, इसलिए वे उनको पूरे कथानक-परिवेश मे अन्तर्निहित करने मे विशेष सफल नही हो पाते । इस विवेचन के पश्चात् वाता-वरण की विशेषताएँ सक्षेप मे स्पष्ट की जा सकती है। वातावरण की यथार्थता कहानी की स्वाभाविकता मे वृद्धि करती है ।

वातावरण की प्रभावपूर्ण सृष्टि कहानी मे सहानुभूति एव संवेदनशीलता उत्पन्न करने मे सफल होती है। वातावरण का विवेकपूर्ण एव ज्ञान आवश्यकता से परिपूर्ण सृजन किसी काल विशेष का यथार्थ बोध आँखो के सम्मुख उपस्थित करने मे सफल होता है। वातावरण की सृष्टि से पात्रो के चरित्र एव व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पडता है । वातावरण की सजीवता एव सशक्तता होती है। वातावरण की

स्थानीयता (Local colour) से अभिप्राय वातावरण मे उन तत्वो के समावेश से होता है जो किसी स्थान विशेष की सारी बातो का विवरण प्रस्तुत करती है। उसे दूसरे शब्दो मे आँचलिकता भी कहा जा सकता है। उस स्थान विशेष की भाषा सस्कृति, लोक-व्यवहार मुहावरे आदि का प्रयोग एव सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियो का चित्रण इस स्थानीयता की रक्षा के लिये किया जाता है। आँचलिक एव ऐतिहासिक कहानियो मे इसका विशेष ध्यान रखना पडता है। कहा जा सकता है कि कहानी को किसी स्थान विशेष की आँचलिकता की सीमाओ मे बाँध देने से उसमे सीमितता आ जाती है और उसकी व्यापकता समाप्त हो जाती है। इस आधार पर वातावरण की स्थानीयता एव आँचलिकता की आलोचना भी की गई है। पर यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि भोडे विडम्बनापूर्ण चित्रण करने वाली कहानियो का कभी कोई मूल्य होता नही। जिस स्थान विशेष की पृष्ठभूमि बनाकर कहानी की रचना होती है। वहाँ की स्थानीय बातो को लेकर यदि कहानियो मे स्वाभाविता का रग नही भरा गया तो वह कहानी उस बेपेन्दी के लोटे के समान होती है जिसे जहाँ चाहे लुडकाया जा सकता है। अज्ञेय या निर्मल वर्मा की 'भारतीय' परिवेशो को लेकर लिखी गई कहानियो का मनोविश्लेषणात्मक शैली एव शिल्पगत नवीनता का कारण चाहे जो महत्व हो और वे हिन्दी कहानी क्षेत्र मे चाहे जिस 'नवीन दिशा' का संकेत करती हो। पर उसमे वातावरण की स्थानीयता की भीषण दुर्बलताए हैं और इससे उनमे कृत्रिमता आई है। उनके पात्रो मे 'भारतीय रक्त' नहीं प्रवाहित होता और वे किसी भी मिट्टी के बने हो सकते हैं—वे जर्मनी के भी हो सकते है, प्राग के भी, फ्राँस के भी, आस्ट्रिया या अमरीका के भी। इन कहानियो के वातावरण को किसी भी देश के वातावरण की सगति मे बैठा कर देखा एव परखा जा सकता है। वातावरण की स्थानीयता एवं यथार्थता अत्यन्त आवश्यक होती है। वातावरण के महत्व के सम्बन्ध मे एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि कहानी कला का मेरुदण्ड वास्तविक जीवन है, काल्पनिक लोक नही। वास्तविक जीवन देश, काल और जीवन की विभिन्न सत्-असत् परिस्थितियो से निर्मित होता है। अतएव इन तत्वो का एक स्थान पर संचयन और चित्रण करना कहानी मे वातावरण उपस्थित करना है। कहानी की कथावस्तु और उसके सचालक पात्रो का सीधा सम्बन्ध उक्त स्थितियो से होता है अर्थात् इनका उद्गम सूत्र और सम्बन्ध किसी देश से होगा या किसी विशिष्ट स्थान अथवा प्रदेश से होगा। इसका भी सम्बन्ध काल विशेष से होगा। वर्तमान, भूत अथवा भविष्य किसी कला प्रकार से फिर इनमे भी विभेद हो सकते हैं। इसके उपरान्त इन दोनो का आपेक्षिक सम्बन्ध जीवन की किन्ही परिस्थितियो से होगा। इन परिस्थितियो की सीमा मे समस्त मानवीय राग द्वेष, अनुभूतियाँ और हर प्रकार के सघर्ष आ सकते हैं, वस्तुतः इन सबके अलग-

अलग चित्रण से कहानी मे विभिन्न परिपार्श्व प्रस्तुत होते है और इन सबके सामूहिक सकलन और प्रभाव से कहानी के विशेष पर्दे, सजावट और अभिनेताओ के वेशभूषा आदि कार्य करते हैं, लेकिन कहानी कला, पठन पाठन की वस्तु होने के कारण इसमे स्थिति और वातावरण के लिए स्थान-स्थान पर यथोचित देशकाल परिस्थिति के चित्रण प्रस्तुत करने होते हैं। क्योकि बिना तत्वो के कहानी का पाठक, कहानी की मूल सवेदना और भाव-क्षेत्र से अपना तादात्म्य ही नही स्थापित कर सकता। एक तरह से कहानी मे यह तत्व सौन्दर्य और आकर्षण का यह तत्व है, जिससे केवल कहानी के विधान सौन्दर्य मे ही नही अभिवृद्धि होती, वरन् इससे पाठक कहानी मे सतत आकर्षित और प्रेरित रहता है। इससे कहानी मे परिपार्श्व के साथ-साथ पाठक के सवेद्य जगत् अर्थात मस्तिष्क मे भी उसी के अनुरूप वातावरण की स्वय सृष्टि हो जाती है और कहानी पढते समय या कहानी समाप्त करने के बाद पाठक उसी कहानी के देशकाल और परिस्थिति लोक मे मग्न मिलता है। कहानी के एकांगी प्रभाव मे भी इस तत्व का बहुत बडा हाथ रहता है। इसमे कहानी मे सहज प्रभविष्णुता और शक्ति भी उत्पन्न होती है जिसके फलस्वरूप कहानी का पाठक इस कला से अपना सम्बन्ध स्थापित किए फिरता है। ऐतिहासिक कहानियो मे वातावरण का निर्माण इस कला की प्रमुख विशेषता है। कार्य-वस्तु से सम्बन्धित देशकाल और परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान और उसकी सहज अभिव्यक्ति ऐसी कहानियो की मूल आत्मा है। अगर इस दिशा मे किसी प्रकार की अस्वाभाविता एव अज्ञानता उपस्थित हुई, तो यह निश्चित है कि कहानी असफल हो जाएगी और उसकी सवेदना से किसी भी प्रकार पाठक का साधारणीकरण न हो सकेगा। यही कारण है कि सफल ऐतिहासिक कहानियो मे वातावरण उपस्थित करने के लिए देशकाल और परिस्थिति का विशद वर्णन प्रस्तुत किए जाते है। आधुनिक कहानियो मे इन तीनो के वर्णन और चित्रण एक साथ एक गति मे की जाती है और इस प्रवृत्ति का सामूहिक वातावरण प्रस्तुत करने मे परम सफल सिद्ध हुई हैं। इस सम्बन्ध मे फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय या शैलेश मटियानी की आँचालिक कहानियाँ देखी जा सकती हैं, या नरेश मेहता की प्रसिद्ध कहानी 'तिष्यरक्षिता की डायरी' देखी जा सकती है, जिसमे पौराणिककालीन वातावरण अत्यन्त सूक्ष्मता से तत्कालीन सन्दर्भों मे प्रस्तुत किया गया है।

"पाटलीपुत्र : राजभवन

वैसाखी पूर्णिमा : मध्यरात्रि

आज अब लौटना हुआ है—धर्मराजिकोत्सव से।

नयनतारा, दासी ही नही है, बल्कि अच्छी मित्र भी है। कितना शीतल सुगन्धित जल था, स्नान मे कितना सुख मिला। आज दिन भर लू चलती रही।

मेघ घिरने की ऋतु आ चली है। आज की यह क्षीण गगा तब इसी गवाक्ष के नीचे से प्रवाहेगी। अब जाकर वातास थोड़ी शीतल है। हवा मे पक्के आमो की कैसी मादक गन्ध घुली हुई है। धर्मराजिकोत्सव आज जाकर कही शेष हुआ। एक सप्ताह तक पाटलीपुत्र चषक की भाँति उफनता रहा। आर्यपुत्र अत्यन्त सन्तुष्ट हैं। बहुत थक गई हू सम्भवत इसीलिए नीद नही आ रही है एक सप्ताह के इस आयोजन ने तो एकदम ही थका डाला है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक छत्र-चामर के नीचे मर्यादित बैठे रहने से बडा कोई दुःख नही। लेकिन यह दुख ही कितना मादक तथा आकर्षक है। चारो ओर का जयकार आपको विस्तार देता है और राज्यासन 'देदीप्यमान एकनिष्ठता' देश-विदेश के विनम्र होते हुए राजमुकुट, बलाधिकृतो के विद्युतफल का समर्पित खड्ग, रत्नो और वस्त्रो के असख्य थाल और विभिन्न दास दासियाँ लगता है, पृथ्वी, दासी बनकर समर्पिता है। लोगो को विनय ही शोभा देता है और आपको उस विनय को स्वीकारना।[१]

इस प्रसग मे तत्कालीन वेश-भूषा, भाव-विचार, भाषा गरिमा एव शब्दाबली तथा सस्कृति के चित्रण से वातावरण को यथार्थ रग देने का प्रयत्न किया है। अब इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात रह जाती है, वातावरण के प्रस्तुतीकरण की सीमाएँ। वातावरण प्रस्तुत करते समय सदैव ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका मानव जीवन से सम्बन्धित नाटक से पूर्ण मेल और सगति होनी चाहिए। ऐसा न हो कि यदि कहानीकार प्रकृति चित्रण करना प्रारम्भ करे तो कथानक का वह कोई ध्यान ही न रखे और अधिकाँश कहानी प्रकृति वर्णन मे ही रंग दे। वास्तव मे वातावरण की सजीवता एव स्वाभाविकता के लिए आवश्यक है कि वह सतुलित और समन्वित हो वातावरण का चित्राँकन अत्यन्त रोचक ढग से होना चाहिए। कहानीकार को अपनी कुशल एव सूक्ष्म दृष्टि से उन्ही बातो को चुनना चाहिए, जिससे वातावरण की यथार्थता भी आभासित हो सके और रोचकता एव जिज्ञासा भी सुरक्षित रह सके। जिसमे पाठको का मन रमा रहे। वातावरण इस प्रकार कहानी को सत्यता प्रदान कर उसके समय से सम्बद्ध करने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण प्रयास है।

जीवन-दर्शन

कहानी शिल्प का अगला महत्वपूर्ण भाग कहानीकार का जीवन-दर्शन है, जिसे हम कहानी का उद्देश्य भी कह सकते हैं। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि कहानियाँ कभी उद्देश्यहीन नही होती। वे किसी-न-किसी उद्देश्य को सामने रखकर लिखी जाती हैं। इस उद्देश्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। कहानीकार का उद्देश्य सुधार हो सकता है। उपदेश का हो सकता है। मनोरजन का हो सकता है। अपने

१. नरेश मेहता . तथापि (दिसम्बर १९६१), बम्बई पृष्ठ ७५-७६

सिद्धान्तो के प्रचार का हो सकता है या पाठको को किसी यथार्थ स्थिति का विशेष सत्य से परिचित करा देने भर का भी हो सकता है। इन उद्देश्यो के अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे उद्देश्य हो सकते हैं, जिनको सामने रखकर कहानी की रचना होती है। वास्तव मे 'कहानी-कला के अन्तर्गत उद्देश्य इसका वह तत्व हैं जिसकी मूल-प्रेरणा से कहानी मे इतने कलात्मक प्रयत्न हस्तलाघव और विधानात्मक कुशलता के परिचय देने होते है। स्पष्ट रूप से समूची कहानी कला का यह तत्व वह अन्तिम लक्ष्य है, जिसकी शक्ति के लिए कहानीकार अपनी कहानी मे विविध प्रयोग करता है। समाज की नाना परिस्थितियो, समस्याओ के प्रति कहानीकार का अपना दृष्टिकोण और उनके प्रति उसके निदान, उसके निर्णय आदि कहानी के उद्देश्य बनते हैं। तथा इसी उद्देश्य के भाव-बिन्दु पर कहानी का कथानक चरित्र और शैली आदि की अवतारणा होती है। उन्ही के उद्देश्यो को पूर्ण रूप से व्यजित और चरितार्थ करने के लिए कहानीकार का अपनी कहानियो का विभिन्न शैलियो और रूप विधानो के रखती पडती है क्योकि एक शैली मे उद्देश्य की एक ही दिशा सफलतापूर्वक चरितार्थ की जा सकती है और उसको कहानी के उद्देश्य तत्वो, कहानीकार के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठापना, आधुनिक कहानी की सबसे बडी विशेषता है कहानी की शैली, कहानी के रूप विधान मे इतनी चाल, इतने हस्तलाघव केवल व्यक्तित्व प्रतिष्ठा के लिए ही किए जाते हैं, अन्य लक्ष्य से नही। कहानी का यह व्यक्तित्व इतना व्यापक और महान है कि उसकी सीमा मे समस्त मानव-व्यापार, उसकी समस्त समस्याएँ विदान और भाव स्वीकृति रहती है। अतएव कहानी के चरम उद्देश्य पर यह सत्य निश्चित है कि उसमे मानवता और मानव मूल्यो की व्याख्या होगी, मनुष्य के शाश्वत भावो अनुभूतियो और समस्याओ पर प्रकाश डाला गया होगा। इन विशेषताओ से शून्य कहानी किसी भी तरह आधुनिक कहानी नही कही जा सकेगी। कहानीकार के अपने इसी व्यक्तित्व प्रतिष्ठा के अन्तर्गत कहानी मे यथार्थवाद आदि इकाइयाँ आती है। कभी कभी उद्देश्य के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक अनुभूति ही प्रधान रूप से मिलती हैं और इसी अनुभूति के धरातल पर पूरी कहानी प्रतिष्ठित होती है। ऐसी कहानियाँ अपने एकान्तिक प्रभाव मे अत्यन्त प्रभावशाली और उत्कृष्ट होती है। उनके उद्देश्य-बिन्दु मे जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक अनुभूति मिलती है वहाँ दूसरी ओर हमे एक ऐसे सत्य का दर्शन होता है जिसमे हमारे मनोविज्ञान युग-चेतना और व्यक्तित्व-चेतना तीनो का सामजस्य उपस्थित होता है। कलात्मक दृष्टि से ऐसे उद्देश्यो की अनुभूति अत्यन्त परोक्ष रूप से कहानी मे करायी जाती है, तभी कहानी सफल हो जाएगी। अपितु कहानी कहानी न रहकर प्रवचन और वार्ता हो जाएगी। वस्तुतः जिस कहानीकार की अनुभूति सवेदना जितनी गहरी और महान होगी, उसकी कहानी उतनी शाश्वत होगी, और जिस

कहानीकार का उद्देश्य, उसका व्यक्तित्व जितना महान होगा, उसकी कहानी उतनी ही महान होगी। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है[1] कि जब तक कोई कहानी मानवीय प्रवृत्ति एव मानव सम्बन्धो का स्पष्टीकरण नही करती, आधुनिक अर्थों मे उसे कहानी की संज्ञा नही दी जा सकती।

इस व्याख्या से स्पष्टतया कहा जा सकता है कि जीवन-दर्शन को कहानीकार के विचार एव उद्देश्य के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है क्योकि सारी कहानी का 'होना, या 'न होना' इसी तत्त्व पर आधारित रहता है—इस दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। रीति परम्परा के आचार्यों के मतानुसार रस एव आनन्द की उपलब्धि और उसका साधारणीकरण रसोद्रेक की मात्रा मे पाठको तक पहुँचाना ही साहित्य का उद्देश्य होता है और प्रत्येक लेखक को अपने साहित्य-सृजन मे इसका अनिवार्यता के साथ पालन करना चाहिए। आधुनिक युग मे कदाचित् इन मान्यताओ को न स्वीकारा जायगा और निश्चित रूप से आज का साहित्यकार परिवर्तित परिस्थितियो मे रीति आचार्यों की इन मान्यताओ को अस्वीकृत कर देगा। आधुनिक हिन्दी कहानियो के सम्बन्ध मे भी यही बात सत्य है। कहानी की अन्तिम परिणति रसोपलब्धि या आनन्दतत्व की प्राप्ति मे हो, दूसरे शब्दो मे कहानियाँ केवल मनोरजन का साधन है। इसलिए उनसे निश्चय ही आनन्द एव रस की प्रतीति होनी चाहिए इन रूढ एव सकुचित सीमाओ मे कहानियो को नही बाधा जा सकता नाटको की भाति कहानियो का भी प्रत्यक्षत सम्बन्ध मानव जीवन से होता है। समाज के पुरुषो एवं नारियो तथा उनके परस्पर सम्बन्धो, उनके विचारो एव अनुभवो दृढ इच्छाओ एव उद्देश्यो, जिनसे वे जीवन मे निर्देशित एव गतिशील होते हैं, उनकी पीडाओ, सुखो, सघर्षों असफलताओ एव प्राप्त उपलब्धियो से होता है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि मानव जीवन की विभिन्न सवेदनशील परिस्थितिया ही कहानिया है और यथार्थ परिवेश को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ ही मानव जीवन की विभिन्न सवेदनशील परिस्थितिया हैं। कहानीकार मानव जीवन के बहुविधिय पक्षो का एक दो विभिन्न शैलियो के माध्यम से अपनी कहानियो मे चित्रण करता है। ऐसी परिस्थितियो मे उसके लिए यह कठिन ही नही असम्भव भी है कि वह इन विविध जीवन पक्षो की अवहेलना करे या जीवन सत्य की गतिशीलता के

1. "I think it is safe to say that unless a story makes this subtle coment on human nature, on the permanent relationship between people. Their variety, their expedness, it is not a srory in modern sense."

—सीन ओ, फाओलेन: शार्ट स्टोरिज, पृ० १५४

प्रति कोई निर्देशन न दे या उन अनुभवो को कहानियों के माध्यम से न उपस्थित करे, जो उसने स्वय प्रत्यक्षतः यह जीवन जीकर प्राप्त किया है।

वर्ग-वैषम्य, साधारण मानव-जीवन की कुण्ठाएँ एव अतृप्त वासनाएँ तथा आर्थिक विषमताएँ,मध्यवर्ग का शोषण,पूँजीवादीकी असमानताएँआदि ऐसी ज्वलन्त सामाजिक समस्याएँहैं,जिनसे कहानीकार का प्रभावित होना स्वाभाविक हैं और इनके कडवे मीठे अनुभवो से वह अपने कुछ निष्कर्ष निकालता है और विचार एव उद्देश्य का स्वरूप निर्मित करता है, जिसे हम कहानीकार के जीवन दर्शन की सज्ञा दे सकते हैं। किन्तु यहाँ एक विशेष बात का ध्यान रखना चाहिए। कहानी प्रचार एव सिद्धान्त प्रतिपादन के सुलभ साधन होने के कारण सिद्धान्त प्रतिपादको एव मत प्रचारको द्वारा अपना ली जाती है। वे इसे समाज की कुरीतियो की आलोचना, यथार्थता से परिपूर्ण चित्रो एव कथानको के माध्यम से सामाजिक समाज पर प्रहार करने के लिए असीमित साधन के रूप मे ही करते हैं। हालाकि कहा गया है कि यह सत्य के निकट हैं कि कला का सृजन प्रचार के अभाव मे नही हो सकता, परन्तु असीमित साधन के परिप्रेक्ष्य मे भ्रातिपूर्ण भावना के अभाव के शिकार होकर कहानी को जब राजनीतिक धारणाओ एवँ विशेष मतवादो के प्रचार एव प्रसार का साधन बना लिया जाता है, तो साहित्य की सहजता समाप्त हो जाती है। राजनीति साहित्य मे उस बाध्यता के समान होती है, जो साहित्य की सीमाओ को कठोरता से आश्रय कर देती है और छह माह से भी अल्प काल मे वे पतन के गर्त मे डूब जाते हैं। विचार एव उद्देश्यो तथा जीवन दर्शन का यह अभिप्राय नही है कि उन्हे कहानियो मे,इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि वे पूर्णतया बोझिल प्रतीत हो और उनकी सहजता तथा प्रवाहमयता समाप्त हो जाए। कहानियो मे जीवन दर्शन इस प्रकार प्रस्तुत होना चाहिए कि कहानी समाप्त करने के पश्चात् पाठक स्वय ही यह निष्कर्ष निकाले कि वस्तुत कहानीकार इतने सारे शिल्प कौशल से कहना क्या चाहता था और लेखक के विचार एव उद्देश्य क्या है ? वास्तव मे यह बडी कलात्मक ऊँचाई की बात है। प्रश्न उठता है कि क्या कहानियो की रचना बिना किसी दर्शन के नही हो सकती ? उनमे क्या किसी विचार एव उद्देश्य का होना अनिवार्य है ? इसका उत्तर भी प्रश्न उठाने वाले स्वय ही दे सकते हैं। वे कह सकते है, आज ऐसी कहानियाँ अनगिनत सख्या मे लिखी जा रही है और लिखी जा चुकी हैं, जिनमे कहानीकार का न कोई जीवन दर्शन है, न कोई विचार या उद्देश्य ही होता है, फिर भी वे 'कहानियाँ' ही हैं, उन्हे पढ़ने मे बडा 'आनन्द' प्राप्त होता है।

ऐसा प्रश्न करने वाले और उनका उत्तर देने वाले दोनो पर ही ऐसी स्थिति में कम से-कम मुझे तरस आएगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि संसार मे प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन होता है। यहाँ तक कि एक रिक्शा चालक और भिखारी

भी जीवन के सम्बन्ध मे कुछ-न-कुछ सोचते हैं और उनके सोचने की निश्चय ही कुछ उपलब्धिया होती हैं। उनकी ये उपलब्धिया ही उनका जीवन दर्शन है। यह दूसरी बात है कि उनमे इतनी बौद्धिक प्रतिभा और अध्ययनशीलता तथा ज्ञान-पिपासा को प्यास शांत करने की तीव्रता नही होती कि ने अपने जीवन दर्शन को पुष्ट करने एवं उच्च स्तर पर ले जाने का प्रयत्न करे, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ-न-कुछ जीवन दर्शन होता है। जब मानव जीवन मे विचार एव उद्देश्य का इतना उल्लेखनीय स्थान होता है, तो फिर कहानियो मे उसे कैसे बहिष्कृत किया जा सकता है और उस अवस्था मे कहानियो को मानव जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के रूप मे ऐसे स्वीकारा जा सकता है। यह विषय ही सारहीन है, अत इसे यही छोडे। महान कहानीकार सदैव ही जीवन की समस्याओ के सम्बन्ध मे मनन-चितन करते-रहते है और उनसे अपने निष्कर्ष निकालते रहते हैं। वे जीवन को निकट पर्यवेक्षण होते है और उनकी चेतना मे इस जीवन से सम्बन्धित जीवन-दर्शन निर्मित होता रहता है। वह देखता है कि मानव-जीवन मे कितनी विशेषताएँ हैं। लोग पूजीवादी शोषण के नीचे दबते जा रहे है। पारिवारिक व्यवस्था टूटती जा रही है। लोगो का नैतिक पतन होता जा रहा है। इसी वातावरण मे कहानीकार का जीवन दर्शन निर्मित होता एव निखरता-सवरता रहता है, जिन्हे वह अपनी कहानियो के माध्यम से पाठको तक पहुचाता है। कहानियो मे जीवन दर्शन का कितना महत्व होता है, इसका परिचय हम केवल इसी से लगा सकते है कि किसी श्रेष्ठ कहानी को पढते ही शीघ्र ही हम उसमे व्याप्त जीवन दर्शन मे खो जाते है और जीवन के सम्बन्ध मे सोचने लगते है। धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', मोहन राकेश की 'आखिरी सामान', कमलेश्वर की 'दिल्ली मे एक मौत', नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', राजेन्द्र यादव की 'पास फेल', अमरकात की 'हत्यारे', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', मार्कण्डेय की 'हँसा जाई अकेला', फणीश्वरनाथ रेणु की 'टेबुल', रमेश बक्षी की 'एक आत्महत्या', उषा प्रियंवदा की 'खुले हुए दरवाजे' मन्नू भण्डारी की 'आकाश के आईने मे', कृष्णा सोबती की 'सिक्का बदल गया', अनन्त की 'दूध और मक्खियाँ', रवीन्द्र कालिया की 'बडे शहर का आदमी', ज्ञानरजन की 'फेन्स के इधर और उधर', रामनारायण शुक्ल की 'भावुक' ममता अग्रवाल की छुटकारा', अनीता औलक की 'यादो के चरागाह', धर्मेन्द्रगुप्त की 'नए-पुराने जूतो का साथी', जगदीश चतुर्वेदी की 'मुर्दा औरतो की झील' आदि कहानियो मे आज की असामान्य परिस्थितियो, सामाजिक विषमताओ, स्थिति की विकृतियो एव तथाकथित आधुनिक जीवन सन्दर्भों मे वाछनीय-अवाछनीय तत्वो और उन कहानीकारो की प्रतिबद्धता प्राप्त होती है। ओमप्रकाश निर्मल, ओम प्रभाकर, राजेन्द्र जगोत्ता, विनीता पल्लवी, सुधा अरोडा, अमरेन्द्र अमर, श्रीराम वर्मा, राजकमलचौधरी शैलेश मटियानी, हरिशकर परसाई, अवध नारायण मुद्गल, प्रेम कपूर आदि दूसरे न जाने कितने कहानीकार हैं, जो किसी-न-किसी भावना, विचार एव उद्देश्य से प्रेरित

होकर ही कहानियाँ लिख रहे हैं। यह बात उनकी लिखी हुई किसी भी कहानी से प्रमाणित की जा सकती है। जीवन दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति मे इसे ही स्वीकारता हू।

इस चर्चा-परिचर्चा का उद्देश्य यह सिद्ध करना या रूढ विश्वास प्रकट करना नही है कि मात्र-जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए ही कहानियो की रचना हो और उसे कथानक एव चरित्रो से भी अधिक महत्व प्रदान किया जाए। वास्तव मे यह निष्कर्ष निकालना असगत ही नही, हास्यास्पद भी होगा। जीवन दर्शन का होना अनिवार्य तो है, पर उसके प्रस्तुतीकरण मे विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। हम स्टेज पर कठपुतलियो का खेल देखते हैं, किन्तु उनकी डोरें जिनके हाथो रहती है, उन्हे नही देख पाते। यह जानते हुए कि इनके सूत्र सचालन का भार पर्दे के पीछे से एक या दो व्यक्तियो के कौशल से हो रहा है, हम उन्हे प्राय: भूल जाते हैं और आनन्द तरगो मे बहते हुए खेल देखते रहते है। इससे हमारी आनन्द उपलब्धि मे कोई कमी नही आती। उसी प्रकार कहानियो से कथानक और पात्रो के व्यक्तित्व के कहानीकार का जीवन दर्शन छिपा होना चाहिए। कहानी भाषण देने की चीज नही है। प्रेमचन्द यशपाल या अमृतराय की कुछ कहानियो मे सिद्धान्तो की प्रतिष्ठापना या नैतिकता तथा आदर्शों पर इस ढंग से लैक्चरबाजी की गई है कि वे किसी राजनीति पार्टी के वार्षिक अधिवेशन का विवरण समझ ली जाए, तो कोई विस्मय नही होना चाहिए। यह प्रवृति कहानी शिल्प पर बहुत बड़ा धब्बा बन जाती है, इससे कहानीकारो को बचना चाहिए विश्व के सभी भागो मे इस तरह की कहानियाँ लिखी जाती हैं। इन सभी कहानियो मे अपने अधिकारो का दुरुपयोग करते हुए कहानीकार शिल्प को ठोकर मारकर उस अनियत्रित घोडे पर सवार आगे बढ़ता है, जिसकी लगाम उसके भी हाथो मे नही रहती, बल्कि उस पार्टी या मत के हाथो मे रहती है, जिसके हाथो स्वय कठपुतलियो की भाति बेबस रहता है। वह पार्टी या मत कहानीकार से अपनी वाँछित बातें करा लेता है। वस्तुत यह कहानीकार का जीवन दर्शन नही, वरन उस पार्टी या मत का जीवन दर्शन होता है। आश्चर्य तो तब होता है, जब यशपाल जैसे कहानीकार भी इससे बच नही पाए हैं, जिन्हे मैं मानता हूँ कि यदि वे पार्टी की सकीर्ण दमघोट गलियो से बाहर निकालकर अपने साहित्य को सास खुली वायु मे लने मे, तो निश्चित रूप से सिद्धान्तवादिता के तपेदिक मे जीर्ण'शीर्ण हो रहे उनके साहित्य का स्वास्थ्य सुधरेगा, जिन्हे वह नियति किसी और ने नही, स्वयं यशपाल ने ही प्रदान की है। हालाँकि यशपाल की स्वस्थ सामाजिक दृष्टि, यथार्थ को पहचानने की उनकी अपूर्व क्षमता तथा अपूर्व प्रतिभा को देखकर उनके साहित्य के 'अस्वास्थ्य' से बहुत क्षोभ होता है।

कहानियो मे जीवन-दर्शन के कई आयाम होते है। कहानीकार के विचार एव उद्देश्य के स्वरूप तथा उसके मूल्याकन की दो सीमाएँ हैं—उसकी सत्यता एव सार्थकता तथा नैतिकता पर आगे बढने के पूर्व हमे सत्यता एव नैतिकता के सम्बन्ध मे कुछ भ्रात धारणाओ पर विचार कर लेना चाहिए कहानियो मे जिस सत्यता की माँग की जाती है, उसकी वैज्ञानिक सत्य से कोई समानता नही है। दोनो परस्पर भिन्न है। प्लेटो ने यह भ्रम उत्पन्न कर एक भीषण गलती की थी कि सभी कल्पना-वादी साहित्य असत्यता से परिपूर्ण है, क्योकि अस्तित्व से सम्बन्धित वे सत्य तत्वो का प्रतिपादन नही करते। हमे ऐसे अनेक व्यक्ति मिलते है। जो अब भी कहानी और असत्य मे कोई अन्तर स्वीकारने को प्रस्तुत नही है। हालाँकि आज की कोई कहानी वे पढे, तो उन्हे सहज ही पता चल जायेगा कि मानव जीवन और कहानियो के जीवन मे कोई अन्तर है या साम्य। अरस्तू ने प्लेटो की धारणा की भ्रातियो का उचित पर्दा-फाश किया और कहा कि कल्पना प्रस्तुत सभी प्रदान रचनाओ मे एक 'कथानक' सत्य होता है, जो अधिक गहन और व्यापक है, जितना हम एक इतिहासकार के कार्यों से आशा करते है। इतिहासकार इसी सत्य का आकलन करेगा, जो बाह्य रूप से उसे प्राप्त है। राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री के कहे गए शब्दो को इतिहास मे प्रस्तुत करने का उसे अधिकार है, पर उनकी अन्तरात्मा की भावनाओ से प्रस्तुतीकरण की प्रतिभा उसमे नही है, पर कहानीकार का कदम इससे आगे होता है। जिसे अरस्तू ने आदर्शपूर्ण सम्भावनाएँ कहा है। इस प्रकार सत्य के दो रूप होते है—एक तो यह कि सत्यता क्या है ? दूसरे सत्यता क्या होनी चाहिए ? अरस्तू ने ज्ञान पूर्ण साहित्य और शक्तिपूर्ण साहित्य मे अन्तर को भी स्पष्ट किया है। ज्ञानपूर्ण साहित्य तो वह है, जिसमे हूबहू सत्य का आकलन होता है और वह विज्ञान के निकट रहता है। इसका रूप हमारी जीव विज्ञान 'रसायन-शास्त्र या भौतिक विज्ञान की पाठ्य पुस्तको मे प्राप्त होता है, पर शक्ति-पूर्ण साहित्य मे सत्य उन महान एव अनिवार्य इच्छाओ, सवेगो व सिद्धातो, जिनसे पुरुषो एव नारियो को जीवन निर्देशित एव परिचालित होता है, कृतज्ञ होता है। शताब्दिया व्यतीत हो जाती हैं, यह सत्य कभी प्राचीन नही पडता। इस सत्य का रूप भिन्न होता है[1] और शाश्वत होता है। अब बात रह जाती है नैतिकता की। जबकि नैतिकता का अत्यन्त पतन हो गया है और सभी देशों से सभ्यता एव सस्कृति खडित होकर मर्यादाए बिखर रही हैं, वासना का प्रचंड उद्दाम तीव्रता से बृद्धि प्राप्त कर रहा है[2] और लोगो की

1. "The artist's work is real in so far as it is always ideal, in that it is never actual" —गेटे

२. हैवलाक ऐलिस : द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, (१९६१), लन्दन, पृ० ३६८।

मनोवृत्तियो कुठित होकर नारी के रूप सौन्दर्य, उसके नेत्र प्रदीप्त ओठो, भृकुटियो, केशो तथा हाव-भाव पर अधिक सीमित होते जा रहे हैं, तो प्रश्न उठता है कि नैतिकता है क्या ? एक के लिए जो नैतिक है, दूसरे के लिए अनैतिक हो सकता है। एक व्यक्ति का अपने एकमात्र पुत्र की उपेक्षा करके अपवी सारी सम्पत्ति समाज के किसी कल्याणकारी कार्य मे दान के दिए जाने का समाज तो स्वागत करेगा तथा उसेपुण्यात्मा के साथ नैतिकता का उचित मूल्याकन करने वाला व्यक्ति समझेगा, पर उसके पुत्र की दृष्टि मे यह बहुत बडा नैतिक अपराध होगा।

वास्तव मे धर्म के अनुमोदन से समाज की प्रचलित परम्पराएँ ही नैतिकता से नियमो का रूप धारण कर लेती हैं और जब हम नैतिकता की बात करते है, ता यह निर्विवाद है कि वह वासनात्मक नैतिकता से सम्बन्धिन है।[1] वासनात्मक नैतिकता स्वाभाविक मानवीय भावो को महत्व नही देती।[2] कहानीकारो का जीवन-दर्शन सत्यता एव नैतिकता की सीमाओ के बीच ही निर्मित होता है। मानव जीवन न मात्र अच्छाइयो से पूर्ण है न कुरुपताओ से ही। वह दोनो का समन्वय है। यही सत् और असत् है। कहानीकार के जीवन दर्शन मे इस सत् और असत् का समन्वय होता है और अपने जीवन दर्शन के माध्यम से वह पाठको को परिचित कराकर उन्हे जीवन मे निर्देशित करने एव उनके मार्ग को प्रशास्त करने का प्रयत्न करता है। आज का कहानीकार की प्रतिबद्धता उसके चारो तरफ के यथार्थ परिवेश मे ही निर्मित होती है। आज के कहानीकार की प्रयुक्ति जीवन के सर्वथा नए सन्दर्भों के सन्वेषण की ओर है —'यद्यपि सर्वत्र उस जीवन के नही जो कि अपनी समग्रता से हमारे चारो ओर दिया जा रहा है। जिसके बाहरी रूप मे दिन-प्रतिदिन अधिक सकुलता आ रही है, जो बदल रहा है और जिसकी गति के भाग के रूप मे हम अपने चारो अवस्था और अविश्वास भी देखते हैं। परन्तु फिर भी जिसमे केवल अवस्था और अविश्वास ही नही है क्योकि आतरिक रूप मे आज भी वह अपने धरातल से हटा नही है। हिंदी की नई कहानी के

---

1. When we speak of morality, we are understood, nine hundered and ninefy nine times out of a thousand to nefer...to sexual movality."

—आर० ब्रिफ्फाल्ट : मदर्स, तीसरी पोथी, (१९२८), पृ० २५२

2 "Our sexural movality has disregarded natural human emotions and is incapable of understanding these who declare that to retain unduly traditional that are apposed to the vital needs of human society is not a morality but an immorality"

—हैवलाक ऐलिस : स्टडीज इन द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, छठी पोथी, (१९३८), लन्दन, पृ० ३७३

अधिकाश प्रयोगों मे जिस जीवन का चित्रण हुआ है। वह इस उफनती और शोर करती हुई धारा से हटा हुआ जीवन है। उन अकेले किनारो का जीवन, जहाँ अभी तक सामन्ती सस्कारो की छायाएँ मडराती है। इस जीवन की स्थिरता, शाति और उज्ज्वलता की बात करते हुए उस दायरे से बाहर न निकलकर कुछ लोगो ने अपने प्रयोग क्षेत्र को बहुत सीमित कर लिया है। नि सदेह पिछले कुछ वर्षो मे हिंदी के कई एक नए कहानीकारो की निश्चित सामर्थ्य सामने आई है, उनसे कई-कई समर्थ रचनाओ की आशा की जा सकती है। परन्तु इधर कुछ ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि उन कहानीकारो ने अपने पैटर्न और सदर्भ निश्चित कर लिए हैं, वे अपने अब तक के प्रयोगो को ही अपना आदर्श मानकर चलने लगे हैं। परन्तु कहानीकार अपनी जगह पर नही रुकता। जीवन का वस्तु-क्षेत्र वही है, मनुष्य की मूल प्रकृति वही है, परन्तु जीवन के सदर्भ हर नए दिन के साथ बदल रहे है। बात नई जगह जाकर नई तरह के व्यक्ति की कहानी लिखने की नही, इसी जगह रह कर उसी इन्सान के उन्ही अंतर्द्वन्द्वो को जीवन को नए सदर्भ मे देखने की है। जीवन के मूल्य जब बदलते है, तो सब जगह एक ही तरह से नही बदलते। हर देश और जाति के सस्कार बदलते हुए मूल्यो को अपनी ही तरह से ग्रहण करते हैं। जिससे परिवर्तन का भी हर जगह अपना एक अलग रग हो जाता है। आज हमारे चारो ओर जीवन तेजी से बदल रहा है, इसका अर्थ यह है कि हम बदल रहे हैं। यदि हम अपने इस बदलते हुये 'सेल्फ' को पहचानने का प्रयत्न नही करते। अपने इस 'सेल्फ' की ही कहानी नही कहते, तो इस का अर्थ यह है कि या तो हम किन्ही अन्तर्मुख ग्रन्थियो मे उलझे है या जीवन की चुनौती को ठीक से स्वीकार करने से कतराते है। बहुत से लोग जब भारतीय जीवन की बात करते है तो प्राय इस अर्थ मे कि रूढियो के दायरे मे उलझा और अशिक्षा के अन्धेरे आवर्त मे पडा हुआ जीवन ही भारतीय जीवन है। परोक्ष रूप से भारतीय सस्कृति का सम्बन्ध भी ऐसे ही जीवन के साथ जोड दिया जाता है। ऐसी दृष्टि रखने का अर्थ तो यह है कि भारतीय जीवन और भारतीय सस्कृति सामन्ती रूढियो का ही नाम है और आज जीवन उत्तरोत्तर भारतीयता और सस्कृति से शून्य होता जा रहा है। हमारा जीवन आज एक बडे संक्रातिकाल मे से गुजर रहा है। जिन्दगी की नब्ज इतनी तेज है कि उसे हर जगह और हर पल महसूस किया जा सकता है। हम आज बडी-बडी वेधशालाओ मे बैठे ऊचे-ऊचे सपने देख रहे हैं और स्कूलो, दफ्तरो और कारखानों मे अपने अधिकारो के लिए लड़ते हुये शहीद भी हो रहे है। आज के जीवन मे घुटन भी है और उस घुटने के साथ सघर्ष भी है। जीवन की हताशा का अन्त कुएं या बावली मे जाकर ही नही होता, सामाजिक स्तर पर उससे लडने का प्रयत्न भी किया जाता है। जीवन का यह विराट क्या भारतीय नही है? बात जीवन के इन्ही सन्दर्भों को कहानी के अन्तर्गत व्यक्त करने की है। इकाई का जीवन ही नही

होता, एक समाज और एक समय के जीवन की प्रतिध्वनि भी उसमे सुनी जा सकती है। एक साधारण घटना साधारण घटना ही नही होती, जीवन के व्यापक क्षितिज मे काम करती हुई शक्तियो की एक अभिव्यक्ति भी होती है। जा कुछ सामने आता है, उससे उतने का ही पता नही चलता, ऐसे बहुत कुछ का भी पता चलता है जिसे हम प्रत्यक्ष रूप से देख नही पाते। व्यक्तियो, घटनाओ और परिस्थितियो को उस व्यापक सन्दर्भ मे देख और पहचानकर ही उनका सही चित्रण किया जा सकता है। कहानी आखिर जीवन के द्वन्द्वो और अन्तर्द्वन्द्वो को तो चित्रित करती है। कहानीकार की दृष्टि इन द्वन्द्वो और अन्तर्द्वन्द्वो को पहचान कर साधारण से साधारण घटना के माध्यम से उनका सकेत दे सकती हैं। वस्तु और सकेत के अन्तर को इसीसे समझा जा सकता है। वस्तु की साधारणता कहानी की साधारणता नही होती और इसी तरह वस्तु की अस्वस्थता कहानी की अस्वस्थता नही होती। कहानी अस्वस्थ तब होगी जब उसका सकेत अस्वस्थ हो—उसमे कही गई लेखक की बात एक अस्वस्थ दिशा की ओर सकेत करती हो। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, जिनमे वस्तु चरित्र, भाषा और शिल्प, सभी कुछ सुन्दर होता है—केवल उनके सकेत मे एक अस्वस्थता रहती है। वे व्यक्ति की कुण्ठा को 'कास्मेटिक स्टोर्स' के सभी उपादानो से सजाकर या उन्मुक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि के आगे रखकर इस तरह प्रस्तुत करती है कि उससे वह कुण्ठा ही सुन्दर प्रतीत होती है। •

अभी पिछले वर्ष ही दिल्ली मे कुछ सहयोगी पर अपने को 'गजटेड' कहानीकार समझने वाले एक मित्र से बात हो रही थी। उन्ही दिनो सार्त्र की पुस्तक (Words) आई थी और मैं उन्ही के घर मे ठहरा हुआ उसे पढ रहा था। एक दो दिन तो वे कुछ नही बोले, पर जब उनसे नही रह गया, तो तीसरे दिन बोले, 'यार तुम समय बहुत बर्बाद करते हो। इस तरह तो दिल्ली मे रहकर फ्री-लान्सिग हो चुकी। घडी सामने रखो और आफिस के ढग से काम करो। मुझे उनकी बात पर जरा भी विस्मय नही हुआ और न इस शिकायत पर कि मैं इतनी कम कहानियाँ क्यो लिखता हू, साल मे पाँच छह (उनकी साल मे बीस कहानियाँ प्रकाशित होती हैं!) और क्यो एक ही विचार को महीनो मे दिमाग मे रखे रहता हू · खैर अब बहुत अधिक व्यक्तिगत हो जाएगा, अस्तु। वास्तव मे स्पष्ट यह करना चाहता हूं कि ऐसे 'जीनियस' कहानीकारो की हिन्दी या भारतीय भाषाओ या विश्व के सभी साहित्यिक अचलो मे कमी नही है, लिखना जिनके लिए पेशा है और जिन्हे घड़ी देखकर पन्द्रह सोलह घण्टे लिखना जरूरी है। उनके इस कार्यक्रम मे कुछ घण्टे उपन्यास, कुछ घण्टे कहानियां, कुछ घण्टे आलोचना और शेष समय फिल्मी जगत् क्रीड़ा जगत, 'बाल जगत, विज्ञान जगत, महिला ससार और कामशास्त्र (गरज यह कि मार्कट मे जिसकी माग हो) लिखना शामिल रहता है। वस्तुत. जीने की

उनके लिए यह एक अनिवार्य शर्त होगी क्योकि साहित्य उनके लिए साधना या व्यक्तित्व विकास का माध्यम नही, धन कमाने का एक पेशा होता है। एकबार लिख चुकने के बाद उन्हे याद भी नही रहता कि उन्होने क्या लिखा था और वे 'नेक्स्ट आइटम' पर बढ जाते है। और दूसरे दिन मैगजीन से चेक आने पर शहीदाना अदाज मे टी-हॉऊस या स्टैन्डर्ड या रीजेन्ट, या मोनालिसा, या क्लैगुना या एल्प्स मे बैठे कहानी आन्दोलनो का स्टेटमेण्ट तैयार कर रहे होते है। ऐसे लोगो की कहानियो मे जब जीवन दर्शन या विचार उद्देश्य अन्वेषित करने का प्रयत्न दूसरे तीसरे दर्जे की व्यवसायिक पत्रिकाओ मे कुछ 'अध्यवसायी' और 'प्रबुद्ध' 'ज्ञानीजनो' द्वारा की जाती है, तो उनकी प्रयत्नशीलता पर हसी नही तरस आता है।

मैंने इस बात को पीछे भी कहा है, यहाँ जीवन दर्शन के सन्दर्भ मे उसे दुबारा स्पष्ट करने की आवश्यकता है और वह कहानीकार के मानवतावादी दृष्टि-कोण का जो लेखक के जीवन दर्शन मे ही अन्तर्निहित रहता है। कहानी मे चित्रण का मूलाधार मानवतावादी होना ही अधिक कल्याणकारी होता है। इस कल्याणकारी का अर्थ रामराज्य और सुख सम्पन्नता से जोडकर भ्रान्तिया नही उत्पन्न होनी चाहिए। वस्तुत सर्वभौमिक मानवतावाद को कहानियो मे आधार प्रदान कर हम उसकी सर्वजनीनता मे ही वृद्धि नही करते, समूचे विश्व को एक इकाई मानकर मानव की समग्रता का निर्माण भी करते है। मनुष्य की सम्पूर्णता ही उसका वास्तविक प्रतिमान हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य मे पाशविकता के साथ दिव्यता भी है। इन दोनो के मध्य मे कुछ न कुछ ऐसा अवश्य है, जो मानवीय है, जिसे नैतिकता, श्लीलता, सस्कृति, दिव्यता, कला एव सौन्दर्यबोध से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। इस मानवीयता का यथार्थ चित्रण ही वस्तुत है। मानवतावाद वास्तव मे स्थिर न होकर निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। वर्तमान मनुष्य को विकास की एक कडी स्वीकार कर भावी मनुष्य को विकास की अगली कडी के रूप मे स्वीकारा जा सकता है। अरविन्द ने भी स्वीकारा है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा मे जैसे पशुता से मनुष्यता की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएँगे। वस्तुतः हमे यह स्वीकार लेना चाहिए कि वर्ग-विभाजन के कारण अभी तक मनुष्यता के पूर्ण गुणो का सर्वांगीण विकास अभी तक नही हो पाया है और अगर हुआ भी है, तो एकाँगी और अपूर्ण है। वर्गहीन समाज मे ही मनुष्य के आन्तरिक गुणो का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है। मनुष्य के समस्त आन्तरिक विकास का केन्द्र सामाजिकता ही स्वीकारी जा सकती है और जब कहानियाँ इन्ही सामाजिकता का चित्रण करती हैं, तो बात आवश्यक हो जाती है कि प्रत्येक कहानीकार मानवतावादी दृष्टिकोण के प्रति आस्थावान होकर मानवीय गुणो को पहचाने और चित्रित करे। इसे तथा कथित आदर्शवाद से

सम्बन्धित करके देखना दुराग्रह मात्र होगा ।

सम्प्रति आधुनिकता की बडी चर्चा की जाती है । इस सम्बन्ध मे पीछे मैंने कहा था कि आज के कुछ कहानीकार, जो विदेश हो आए है, वहा के पार्कों, सडको, टॉवरो, शराबो और नामो का चित्रण भारतीय वातावरण मे करने को आधुनिकता समझते है । उन्ही की देखा-देखी कुछ दूसरे कहानीकारो ने प्राय: कल्पना से (वह भोड़ी और अविश्वसनीय ही क्यो न हो !) विदेशी वातावरण और सस्कृति के चित्रण को आधुनिकता स्वीकार लिया है। वस्तुत सत्यता मात्र इतनी नही है। आज का कहानीकार आधुनिकता के प्रति आग्रहशील अवश्य है, पर यह आधुनिकता स्थायी नही है । समय की परिवर्तनशीलता के साथ आधुनिकता के अर्थ भी बदल जाते है, एक समय की आधुनिकता दूसरे समय की ऐतिहासिकता बन जाती है। कहा जा सकता है कि परिर्वातित भाव बोध नवीन वातावरण मे जीवन सम्बन्धी यथार्थताओ के मध्य मे अपना सामजस्य न कर पाने एव विशाल ऐतिहासिक घटना चक्र से साम्य स्थापित न कर पाने के कारण मानसिक कुण्ठाएँ, वैज्ञानिक मानवतावाद के प्रति गहन आस्था और परम्पराजनित प्रतिमानो, मान्यताओ एव नैतिकता मे आस्थाहीनता, सूक्ष्मता और अमूर्तता, एमानियत एवं गढनशीलता के स्थान पर आडम्बरहीनता एव बौद्धिकता, अक्षितिज विचारो के बदले गहनता, पूर्वग्रहो, से मुक्त पूर्व निश्चित गति का अभाव, नए माध्यात्मिक (न्यू कॉस्मोलॉजी) और नई 'ह्यूमन एजीनियरिंग' की खोज, वास्तविक जीवन के किसी लघु तथा सीधे-सादे बिन्दु पर आधारित व्यापक प्रसार, दैनिक स्थूल जीवन के लिए विषय वस्तु पर ध्यान देने के स्थान पर अभिव्यक्ति की प्रमुखता, फलत पुरानी भाषा की असंगतता और नई भाषा, नई शब्दावली और रूप ही आज की हिन्दी कहानियो की वास्तविक आधुनिकता है । इसे चित्रित करने मे स्थानीय रग विघटित न होने पाए और प्रगतिशीलता कुण्ठित न होने पाए, इसका ध्यान रखना, मेरे विचार से प्रत्येक कहानीकार के लिए आधुनिक काल मे अत्यन्त अनिवार्य है ।•

आधुनिकता को विभिन्न आयामो मे परिलक्षित किया जा सकता है। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि आजकल आधुनिकता का अर्थ पश्चिम की नवीन जीवन दृष्टियो, विचारधाराओ और रचना शैलियो से लिया जाता है। परन्तु पश्चिम मे किसी एक ही जीवन दृष्टि या रचना शैली का प्रचलन नही है । अस्तित्व-वाद से लेकर क्रान्तिकारी मानववाद (Radical Humanism) तक मे विचारधाराएँ प्रसारित हैं। जहाँ अस्तित्ववाद वैयक्तिक आत्मरक्षा के पक्ष को प्रधानता देता है, वहाँ सघर्षशील मानववाद सामाजिक विकास की समग्रता को अपना लक्ष्य घोषित करता है । यह दृष्टिभेद इतना सुस्पष्ट है कि इनमे से किसी एक को दूसरे के समीप लाकर नही रखा जा सकता और इन दो अतिवादी विचारणाओ के मध्य यूरोप में

ऐसी अनेक विचारभूमियाँ है, जिनमे समता की अपेक्षा भिन्नता के तत्व कही अधिक है। सोरोकिन ने वर्तमान यूरोप की विभिन्न दार्शनिक चिन्ताओ को (Socal philosophies of An Age of crisis) नामक अपनी पुस्तक मे काफी स्पष्टता के साथ रखा है। इस एक पुस्तक को देखने पर यह ज्ञात होता है कि आज की यूरोपीय चिन्तना किसी एक दिशा मे गतिमान नही है, वरन उसकी अनेक दिशाएं और अनेक दार्शनिक आधार है। जब यूरोप और अमरीका मे अनेक विचार दृष्टियाँ गतिशील है तो उन सबको आधुनिक कहना होगा। हम केवल पूंजीवादी देशो की आधुनिकता को आधुनिकार नही कह सकते। हिन्दी के जो कवि और लेखक अस्तित्ववादी आधुनिकता का हो राग अलापते है, उनसे मेरा मतभेद है। यह सही है कि यूरोप के कतिपय लेखक अस्तित्ववादी विचारण से प्रभावित होकर कुछ मर्मपूर्ण कृतियाँ भी प्रस्तुत कर चुके है और कर रहे है, परन्तु यह समझना भ्रम होगा कि उन श्रेष्ठ रचनाओ को आदर्श मानकर हम अपने देश मे या हिन्दी साहित्य मे उसी श्रेणी की रचनाएं प्रस्तुत कर सकेगे। नए नामो का आकर्षण हमे तब तक विमोहित करता रहेगा, जब तक हम मे अपने देशकाल के अनुरूप साहित्य सृष्टि करने की मौलिक प्रेरणा और क्षमता जाग्रत नही होती। यही पर आधुनिकता बनाम भारतीयता का प्रश्न वास्तविक रूप मे उत्पन्न होता है। वर्तमान भारतीय परिवेश मे राजनीतिक भूमिका पर कुछ स्पष्ट विचार भेद दिखायी देते हैं। ' वास्तव मे वर्तमान भारतीय विचारणा और चिन्तन का और भी गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषण आवश्यक है। इस विवेचना या विश्लेषण मे हमे अपने देश की राजनीतिक गतिविधि का ही नही, सम्पूर्ण जीवन की गतिविधि आकलन करना होगा। जिस प्रकार सोरोकिन ने यूरोप के दर्शनो का सुस्पष्ट रेखा-चित्र दिया है, यदि किसी भारतीय लेखक ने इस देश की विभिन्न वैचारिक गति-विधियो का वैसा ही गम्भीर आकलन किया होता, तो शायद आधुनिकता बनाम भारतीयता के प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता ही नही होती, क्योकि तब हम समझ सकते कि अपने देश की आधुनिक विचार दृष्टियाँ क्या है और वही हमारे देश की आधुनिकता होती। परन्तु ऐसी कृतियो के अभाव मे हम आधुनिकता का अर्थ राष्ट्रीयता सन्दर्भ मे न लेकर अन्तर्राष्ट्रीय भूमियो मे जाकर भटक जाते है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके है आधुनिकता से हम अधिकतर पश्चिमी आनुनिकता का ही अर्थ लेते है और उसमे भी एक विशेष प्रकार की आर्थिक व्यवस्था वाले देशो को आधुनिकता का प्रतिमान मानते हैं। यहाँ हम यह स्पष्ट रूप से कहना चाहेगे कि आधुनिकता और भारतीयता के बीच हम किसी प्रकार का मौलिक भेद नही देखते हम केवल इतना कहना चाहते है कि आधुनिकता का अर्थ केवल पूँजीवादी देशो की आधुनिकता नही है। इसका अर्थ यह भी नही कि हम साम्यवादी देशो की आधुनिकता

के अनुयायी है ? वस्तुत हम राष्ट्रीय परिवेश मे आधुनिकता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, परन्तु इस कारण हमे किसी संकीर्ण राष्ट्रीयता या पुरस्कर्त्ता कहना अन्याय होगा। (हम जिस आधुनिकता को भारतीय वातावरण मे देखने के प्रयासी हैं, वह आधुनिकता विश्वजनीय है परन्तु उसकी जडे और बुनियाद हमारे राष्ट्रीय परिवेश मे रहनी चाहिए।) जिस व्यक्तिवाद की विचारधारा यूरोप के लिए उपयुक्त हो सकती है, कदाचित् हमारे देश के लिए वह उतनी उपयुक्त नही, क्योंकि हमारे देश मे समाज और व्यक्ति का वह विच्छेद घटित नही हुआ, जो यूरोप और अमरीका की राष्ट्रीय चिन्तना मे घटित हो चुका है। भारतीयता से हमारा आशय उस स्वाभाविक विकास मे है, जो हमारी राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप हो सकता है, और है।

और जब इस राष्ट्रीयता और भारतीयता की हत्या आधुनिकता के नाम पर कुछ कहानीकारो की रचनाओ मे प्राप्त होता है, तो क्षोभ भी होता है और उनकी मानसिक दासता तथा हीनता की ग्रन्थियो पर तरस भी आता है। उन्हे जहाँ अपने को भारतीय कहने मे सकोच होता है, वही यहा की परिवर्तनशील परिस्थितियो मे स्वाभाविक रूप से उभरी मूल्य मर्यादा को आत्मसात करने मे भी लज्जा आती है। ऐसे कहानीकारो की रचनाओ मे प्रतिक्रियावादी तत्व ही अधिक उभर कर आते हैं, क्योकि उनके पास अपनी कोई स्वस्थ जीवन दृष्टि नही होती। नियमित रूप से मदिरा और (!) मिलती रहे तो वे 'कहानी' को भी लात मारकर किसी पब क्वॉटर या नेशनल म्यूजियम के पीछे लम्बे चौडे टॉवर के नीचे बैठे है—उनके लिए यही जीवन होता है और यही आधुनिकता होती है। सतोष का विषय है कि नई कहानी मे पिछले दशक (१९५०-६०) और आधुनिक दशक (१९६०) मे दो-दो प्रतिक्रियावादियो को छोडकर सभी दूसरे कहानीकारो ने राष्ट्रीयता और भारतीयता के सन्दर्भ मे ही आधुनिकाता को देखने का प्रयत्न किया है। धर्मवीर भारती की 'गली का आखिरी मकान' मोहन राकेश की 'जगल' कमलेश्वर की 'मॉस का दरिया' नरेश महता की 'अनबीता व्यतीत' राजेन्द्र यादव की 'पास-फेल' फणीश्वरनाथ रेणु की 'रसप्रिया' अमर कान्त की पडोसी' मार्कन्डेय की 'माही', भीष्मसाहनी की सफर की रात, रमेश बक्षी की 'कुछ माँ कुछ बच्चे' उषा प्रियवदा की झूठा दर्पण 'मन्नू भण्डारी की कील और कसक श्रीमती चौहान की 'चैनल' ज्ञानरजन की 'पिता', रवीन्द्र कालिया की 'क ख ग' ममता अग्रवाल की छिटकी हुई जिन्दगी अवधनारायण मुद्गल की 'गन्धो के साये' धर्मेन्द्रगुप्त की 'नई सभ्यता का पतझर' अनन्त की पाव खडा प्यार जगदीश चतुर्वेदी की 'क्रास योगेश गुप्त की सायो की नदी आदि दोनो दशको की अनगिनत कहानियाँ इस तथ्य के प्रमाण मे प्रस्तुत की जा सकती है।

यहाँ मैं राष्ट्रीयता और भारतीयता का अत्यन्त व्यापक अर्थों मे प्रयोग कर

रहा हू, उन अर्थों मे नही जिनमे हमारे नेता अपने कुत्सित स्वार्थ के लिए समझते हैं। वह भारतीयता या राष्ट्रीयता नही स्वार्थपरक एव सकुचित कुत्सित विचारधारा है। इस सम्बन्ध मे एक विचारक ने बहुत ही उचित सगति मे कहा है। 'आधुनिकता का हामी बुद्धिजीवी, आज ससार मे हर जगह इस पागल उन्माद और भ्रष्ट राष्ट्रीयता से लोहा ले रहा है। ब्रिटेन मे बर्ट्रेण्ड रसेल, फ्रान्स मे सार्त्र, सिमोन और सेगान और रूस मे 'नव उन्मेष' के लेखक। इस भ्रष्ट राष्ट्रीयता से टक्कर लेते समय कामू को कहना पडा है कि मैं उन थोडे से मन्दभागी फ्रान्सीसियो मे हू। जिन्हे अपने देश पर गर्व नही। गर्व इसीलिए नही कि उनके नाम पर मनुष्यता के खिलाफ जघन्य अपराध किए हैं। इसी बात को दूसरी तरह से सेगान, सिमोन, सार्त्र और रूसी नव उन्मेष को अन्य लेखको ने कहा है। यह आधुनिकता एक कठिन अग्नि-परीक्षा है। यह हमे अपनी झूठी राष्ट्रीयता से सघर्ष करने को और अपने आप की परीक्षा लेने के लिए विवश करती है। यह एक दुरुह दायित्व है जो यथार्थ को (चाहे फिर वह कितना ही कुरूप और अप्रिय हो) स्वीकार करने का आग्रह करती है। आखिर यह दुरुह दायित्व, यह आधुनिक भावबोध हमारे शास्त्रीय भाव बोध कैसे भिन्न है ? और भिन्न है तो किसलिए हैं ? यह भिन्न है, यह एक हकीकत है। और यह भिन्नता इसकी सबसे बडी शक्ति। यह भिन्नता इस प्रकार है कि 'शास्त्रीय भावबोध का आधार नैतिक समस्याएँ होता है। लेकिन आज हम ऐसे ससार मे जी रहे हैं, जहाँ नैतिक मान अपनी मौत मर चुके है या मार दिये गये हैं। तब यह शास्त्रीय भावबोध हमे झूठा बना सकता है हमे अयथार्थ के चक्कर मे फसा सकता है। तब हमारे पास शेष बच जाता है मनुष्य, उपेक्षित-अपमानित मनुष्य, और क्षोभ और घुटन से भरी हुई उसकी आन्तरिकता और सम्पूर्ण विनाश की विभिषिका से भयभीत उसका भविष्य। इसी स्थिति को हमे आधार बनाना होगा। यह हमारी शक्ति होगी, क्योकि इससे हम भाग नही सकते। इसके लिए हमे बार बार अपने आपस और अपने समकालीनो से यह प्रश्न करना होगा—'क्या कला दिमागी ऐयाशी या निरर्थकता है ?' कला जब शास्त्रीयता के चक्कर मे फस जाती है, तब वह अवश्य दिमागी ऐयाशी या निरर्थकता हो जाती है। और इस शास्त्रीयता का उपयोग भ्रष्ट शासक और तानाशाह लोग अपने लिए कर रहे हैं। इसका परिणाम हमने रूस और नाजी जर्मनी मे अच्छी तरह देख लिया। शास्त्रीयता के बोझ से दबा दिया जाने वाला वहाँ का साहित्यकार आज भी इस बजर और निर्जन स्थिति से नही उबर पाया है। स्वतन्त्रता की भावना या मानवीय आकाँक्षाएँ किसी का मौरूसी हक या ठेकेदारी नही हो सकती। अगर इसे कोई वर्ग अपना हक या अधिकार समझता है, तो वह मानवीय नही, अमानवीय है। ये मानवीय आकाँक्षाएँ (किसी तरह का आदर्श न होते हुए भी एक 'साहस' है, ऐसा साहस जो सर्वनाश और मृत्यु को भी ललकार

कर कह सकता है कि 'मनुष्य को मिटाया जा सकता है। उसे हराया नही जा सकता।' इस स्थिति मे आधुनिक भाव-बोध नैतिकता और आदर्शों के विवेकहीन फरमानो को अमानवीय मानता है--क्योकि वे प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना ही मनुष्य को दोषी या अपराधी ठहराते हैं। यह मानवीय विकास मे सबसे बडा अवरोध बन जाते है। डी० एच० लारेंस ने इसे इन शब्दो मे कहा है। "कोई चीज न्यायोचित हो सकती है, लेकिन न्यायाधीश का निर्णय अनिवार्यत न्याय नही हो सकता।" थोडे मे आधुनिक भावबोध ने स्पष्ट कर दिया है कि वह न्यायाधीश नही है। वह दोषी या उपेक्षित के साथ है। उसका काम है उस उपेक्षित या यातना सहने वाले की पैरवी करना।

जो लोग वास्तविक भारतीयता को नकारकर ओढी गई कृत्रिम 'भारतीयता' की दुहाई देते है, उनकी बात करते हुए कुछ रोचक तथ्य उनकी 'समझ' के लिए प्रस्तुत किए जा सकते है। प्रसिद्ध अमरीकी उपन्यासकार स्टेनबेक, जिन्हे नोबुल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है, अपने एक लोकप्रिय उपन्यास 'केनरी रो' एक स्थिति विशेष को उजागर करने के लिए सस्कृत कवि विल्क्षण के चौर पचाशिका के कई पदो का आश्रय लिया है। आल्डुअस हक्सले ने एक बार आधुनिकता पर विकृतियो का आरोपण करने वालो को उत्तर देने के लिए उन घटनाओ को उद्धृत किया, जब भगवान बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ थे। आधुनिककाल के उल्लेखनीय ब्रिटिश उपन्यासकार कॉलिन विल्सन ने मानव सम्बन्धो के विघटन के स्पष्टीकरण हेतु स्वामी रामकृष्ण परमहस की रूप कथाओ का माध्यम ग्रहण किया था। हेनरी मिलर ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस स्वामी विवेकानन्द और जय कृष्णमूर्ति के कथनो को अपने मतो के समर्थन मे अनेक स्थान पर उद्धृत किया है। डी० एच० लारेंस ने भी कई जगह देवताओ की बात की है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता का अर्थ सकुचित सन्दर्भों मे नही ग्रहण किया जाना चाहिए। पर इस व्यापकता का यह अर्थ भी नही है कि हम अपनी स्वय की राष्ट्रीयता के व्यापक सन्दर्भों को पूर्णतया विस्मत कर देना चाहिए। पश्चिमी आधुनिकता की जो बाते व्यवहारिक हैं, उन्हे ग्रहण कर अपनी भारतीय आधुनिकता को अधिकाधिक उपयोगी बनना चाहिए, पर यह कभी नही भूलना चाहिए कि हम पहले भी भारतीय हैं और अन्त मे भी भारतीय ही रहेगे। अन्तर्राष्ट्रीयता को अतिरिक्त आवेशजनित उत्साह मे ग्रहण करना अपने आप मे अमानवीयता है और अपनी जमीन के प्रति उपेक्षणीय भाव अपनाना स्वय अपने अस्तित्व को नकारना है। उस अस्तित्व को जो हमारे कुछ कहानीकारो के लिए 'जीवन' और 'मृत्यु' का प्रश्न है।

कहानी शिल्प का अन्तिम अग भाषा है। शैली पर पीछे कथानक के सन्दर्भ मे विस्तार से विचार किया जा चुका है। यहाँ उसका पिष्टपेषण करने की आवश्य-

कता नही है। भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और अभिव्यक्ति का ढग ही शैली है। कहानी की भाषा का रचना की सफलता मे प्रमुख हाथ रहता है। भाषा जितनी ही सरल भावाभिव्यजक एव बोधगम्य होती है, वह उतनी ही प्रभावशाली होती है। प्राय अच्छी-से-अच्छी कहानियाँ अपना प्रभाव डालने मे इसलिए असमर्थ रहती हैं कि उनमे भाषा की बोधगम्यता की रक्षा का नही, पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास रहता है। प्रेमचन्द का साहित्य साधारण-से-साधारण पाठको तक इसीलिए नही पहुच सका कि उसकी भाषा अत्यन्त सरल एव सरस थी। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार प्रेमचन्द की सफलता का सबसे बडा रहस्य यही था। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने एक स्थान पर लिखा है कि भाषा जबतक अपनी वास्तविक परम्परा से अपने को यथार्थ ढग से सम्बद्ध नही कर लेती, वह निर्जीव एव कृत्रिम होती हैं और कथा-साहित्य के लिए इसमे हानिप्रद और कोई बात नही हो सकती। भाषा के सम्बन्ध मे एक अन्य आवश्यक बात स्वाभाविकता की रक्षा होती है। जिस काल का कथानक चुना जाता है, भाषा उसी के अनुरूप होती है "तुम्हारे उन कुणाल नयनो के लिए मैंने दक्षिण के कलाकारो द्वारा एक माणिक मजूषा बनवायी है। तुम सच मानो मेरे प्रेमी पुत्र ! मै उन नेत्रो के लिए कोई सा भी पाप कर सकती हू। कैसी ही नारकीय यातना भोगने को भी तत्पर हू। मुझे अपने प्रेमी के वे नेत्र चाहिए। तुम मेरी व्याकुलता किसी जन्म मे भी समझ न सकोगे। मैं जानती हू, मेरा कलक कोई नही सहन कर सकता। सच मानो इस गवाक्ष के पास बरसो से बैठी हुई तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, लेकिन उस दिन दोष देकर जो तुम गए तो कभी नही लौटे। इस दिन तक्षशिला जाते हुए आये तो ऋतुओ की बाते करते रहे। भारत ने यूनान को ज्योतिष मे क्या देन दी है, इस बात पर चर्चा करते रहे, क्या तुम ज्योतिष की बाते करने के लिये तक्षशिला से आये थे ? जानती हू कि तुम्हे काँचनमाला ने सभा-चतुर बना दिया है।[1]

इस कहानी की भाषा सम्बन्धी क्लिष्टता और दुरुहता इसीलिए क्षम्य है कि उसका कथानक ऐसे युग से सम्बन्धित है जब ऐसी भाषा का प्रयोग होता था। भाषा की जनवादी परम्परा की बात जब हम करते है तो उसका अभिप्राय भाषा की यथार्थता से ही होता है।

"सुबह मैं टेण्ट के पोर्च मे कुर्सी डाल कर बैठा था। सोचा था, शायद कोई परिचित व्यक्ति सडक से गुजरता नजर आ जाए और उससे दो बाते ही हो जाये। पर रात से ही हल्की बू दे पड़ रही थी ..इसलिए और तो और कोहली की लडकी नीरा भी घोडा दौडाती उधर से नही गुजरी। रोज अकहर वह ग्यारह बजे के करीब

१. नरेश मेहता : तथापि (दिसम्बर १९६२), बम्बई, पृष्ठ ८५

घण्टे भर के लिये घोडा किराये पर लेती थी और तीन चार चक्कर उसी सडक के लगाती थी ।'[1]

भाषा की एक प्रमुख विशेषता उसकी चित्रात्मकता एव प्रवाहमयता है। कहानीकार शब्दो के कुशल सयोजन से अपनी भाषा को समर्थ तो बना ही देता है। किसी विशेष चित्र को अर्थ की गरिमा देकर सजीव कर देता है

"नीद खुली तो चार बज रहे थे। पडोस मे माया मौसी जाग गयी थी और जमुना नहाने के लिए डोलची सँवार रही थी। पार्क के पीपल पर एक घोसले मे कुछ पख फडफडा रहे थे। घास ओस से भीगी थी, यह अन्धेरे मे उडती सोधी गन्ध से मालूम हो रहा था। भोर नही फूटी थी, पर चारो तरफ बडा पवित्र उजला शान्त और प्रकाशमय सा लग रहा था। धु धलके के दस्ताने पहन एक बहुत मीठी ममतामयी नर्स की तरह भोर ने मुझे गोद मे लेकर जैसे लतर और फूलोवाली खिडकी के पास खडा कर दिया था। मुझे वह सारी सुबह बिलकुल याद है। क्योकि फिर मुझे वह शान्त, वह पवित्र उजलापन, वह ताजगी, वह मन का फैला-फैला उदार हरियालापन वापस कभी नही मिला।'[2]

वास्तव मे भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए। भाषा मे यथार्थ गुणो का होना अनिवार्य होना है, तभी वह स्वभाविकता के गुणो को आत्मसात् कर पाती है। भाषा मे भी एक सवेदनशीलता होती हैं, जो स्थानीय रगो से सम्बद्ध होती है। कहानीकार की सूक्ष्म दृष्टि उसे बडी कुशलता से उजागर करती है और भाषा को अभिनव अर्थ-वता प्रदान कर अभिव्यक्ति की समर्थता एव गरिमा प्रदान करती है। भाषा आधुनिक गुणो की उपेक्षा नही करती वरन् परिवर्तित सन्दर्भो मे नवीन व्यंजना शक्ति से प्राण सचेतना ग्रहण कर वह अपने को पुष्ट करती है। तभी वह वास्तविक भाषा बन पाती है—नई कहानी की भाषा यही है।

कहानी की कोटियाँ

कहानी की अनेक कोटियाँ प्रवृत्तियो के अनुसार बनाई जा सकती हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण का अर्थ केवल कहानी की मूल भावधारा को स्पष्ट करना ही होता है। कहानियो से यो तो अनेक कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। क्योकि कहानी का स्वरूप निर्धारित करने मे लेखक को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। फिर भी कहानी की प्रमुख कोटियाँ इस प्रकार हो सकती हैं :

१ घटना प्रधान कहानी—जिसमे घटनाओ की बहुलता होती है, जैसे धर्मवीर भारती की 'चाँद और टूटे हुए लोग' मोहन राकेश की 'उसकी रोटी', कमलेश्वर की

---

१ मोहन राकेश. कई एक अकेले, (सारिका मार्च १९६५) बम्बई, पृष्ठ ७७

२ धर्मवीर भारती : सावित्री नम्बर, २ (सारिका, जून १९६२), बम्बई पृष्ठ १५

'दिल्ली मे एक और मौत' 'नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', अमरकांत की 'डिप्टी कलक्टरी' आदि। इन कहानियो मे यद्यपि घटनाओ की उस तरह बहुलता नही है, जैसे पहले की घटना प्रधान कहानियो मे होता था, पर ये कहानियाँ घटना-प्रधान कहानियो के निकट ही हैं।

२ चरित्र प्रधान कहानी—जिसमे किसी चरित्र की प्रमुखता देकर उसका चित्रण किया जाता है। जैसे धर्मवीर भारती की 'गुल की बन्नो', मोहन राकेश की 'मिस पाल', कमलेश्वर की 'देवा की माँ', नरेश मेहता की 'दुर्गा' अमरकान्त की 'जनमार्गी', फणीश्वरनाथ रेणु की 'टेबुल', मार्कण्डेय की 'हसा जाई अकेला', आदि कहानियाँ।

३ वातावरण-प्रधान कहानी—जिसमे चरित्र और घटनाओ की अपेक्षा वातावरण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। जैसे प्रसाद का 'देवरथ' या 'आकाशदीप', प्रेमचन्द की 'पूस की रात', धर्मवीर भारती का 'गली का आखिरी मकान' मोहन राकेश की 'कई एक अकेले', नरेश मेहता की 'एक इतिश्री', कमलेश्वर की 'पीला गुलाब', राजेन्द्र यादव की 'खुशबू', अमरकान्त की 'देश के लोग', उषा प्रियवदा की 'चाँदनी मे बर्फ पर', ममता अग्रवाल की 'छिटकी हुई जिन्दगी आदि कहानियाँ।

४. भाव-प्रधान कहानी—जिसमे किसी भाव विशेष पर बल दिया जाता है, जैसे धर्मवीर भारती की 'मरीज नम्बर सात', मोहन राकेश की 'अपरिचित', कमलेश्वर की 'एक रुकी हुई जिन्दगी', नरेश मेहता की 'एक शीर्षक हीन स्थिति', अमरकान्त की 'सन्त तुलसीदास और सोलहवाँ साल' आदि कहानियाँ।

५. ऐतिहासिक कहानियाँ— जिनमे कथानक का आधार इतिहास का कोई अश होता है, जैसे वृन्दावनलाल वर्मा की 'शरणागत', नरेश मेहता की 'तिष्यरक्षिता की डायरी'।

६ सामाजिक कहानियाँ—जिनमे सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित कर आधुनिक भाव-बोध और युग बोध को उनके विस्तृत आयामो मे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे धर्मवीर भारती की 'हरिनाकुस का बेटा', मोहन राकेश की 'मवाली', कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएँ', नरेश मेहता की 'किसका बेटा', अमरकान्त की 'एक असमर्थ हिलता हाथ', मार्कण्डेय की 'घुन' फणीश्वरनाथ रेणु की 'पचलाइट', उषा प्रियवदा की 'वापसी', मन्नू भण्डारी की 'यही सच है' श्रीमती विजय चौहान की 'एक बुतशिकन का जन्म', ममता अग्रवाल की 'छुटकारा' आदि अनेक कहानियाँ।

७ मनोविश्लेषणात्मक कहानियाँ—जिनका आधार मनोविज्ञान होता है और मनोविश्लेषण को प्रधानता दी जाती है, जैसे जैनेन्द्र कुमार की 'मास्टर जी', अज्ञेय की 'साँप', इलाचन्द्र जोशी की 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मौत', मोहन राकेश की 'जख्म' आदि कहानिया।

८ साकेतिक कहानियाँ—जिनमे कहानी का आधार सकेत होते हैं और सारी कहानी सकेतो के माध्यम से स्पष्ट की जाती है। जैसे निर्मल वर्मा की 'अन्तर' कहानी।

९ प्रतीकात्मक कहानियाँ—जिनमे प्रतीको के माध्यम से कहानीकार का उद्देश्य स्पष्ट होता है, जैसे मोहन राकेश की 'जगला', कमलेश्वर की 'जॉर्ज पचम की नाक', नरेश मेहता की 'वर्षा भीगी', राजेन्द्र यादव की 'सिलसिला', अमरकान्त की 'हत्यारे', मार्कण्डेय की 'माही' फणीश्वरनाथ रेणु की 'आतिथ्य-सत्कार, रमेश बक्षी की 'गुगली', उषा प्रियवदा की 'झूठा दर्पण', मन्नू भण्डारी की 'कील और कसक' श्रीमती विजय चौहान की 'मुजाहिद' आदि कहानियाँ।

१०. आत्म-कथानक कहानियाँ—जिनमे कोई पात्र अपनी कहानी कहता हुआ सारे कथा सूत्र स्पष्ट करता चलता है। जैसे धर्मवीर भारती की 'सावित्री नम्बर दो', मोहन राकेश की 'कई एक अकेले', नरेश मेहता की चाँदनी', कमलेश्वर की 'आत्मा की आवाज', निर्मल वर्मा की 'लवर्स' आदि कहानियाँ।

११ हास्य-व्यग्य की कहानियाँ—जिनमें सरस शैली में तीखे व्यग्यो के माध्यम से किसी सामाजिक यथार्थ को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। हरिशकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा हिन्दी मे इस शैली के दो अन्यतम व्यग्य-कहानीकार हैं। शरद जोशी की भी कुछ कहानियाँ इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय बन पडी हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क की एक कहानी 'फितने' भी इस सम्बन्ध मे दृष्टव्य है।

इसके अतिरिक्त पारिवारिक, राजनीतिक आदि वर्ग भी बनाये जा सकते हैं; पर इन सबका समाहार ऊपर बनाए वर्गों मे किया जा सकता है। उषा प्रियवदा और मन्नू भण्डारी ने पारिवारिक वातावरण को लेकर कुछ अत्यन्त सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। राजनीतिक पृष्ठभूमि को लेकर अमरकान्त, मार्कण्डेय एव फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी कई कहानियो की रचना की है।

: ३ :

पृष्ठभूमि और विस्तार

परिस्थितियाँ और स्पष्टीकरण

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् जहां भारतीय जीवन पद्धतियों एव विचारधारा मे परिवर्तन हुआ, वहाँ साहित्य के स्वरूप एव गठन मे भी परिवर्तन हुआ और यह नितान्त रूप से स्वाभाविक भी था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद स्थापित होने के पश्चात् हिन्दी प्रदेश का सामाजिक जीवन अनेक कट्टर, गतिहीन रूढिबद्ध, असामाजिक और अनुदार अंध-विश्वासो, कुरीतियो और कुप्रथाओ से भरा हुआ था। समाज की स्थिति उस तालाब को भाति हो गई थी, जिसके जल की उन्मुक्त गति अवरुद्ध हो गई थी। फलत जिसका पानी सडक पर नाना प्रकार से बिकार उत्पन्न कर रहा था। सडा पानी निकाल कर तथा स्वच्छ जल भरने वाला कोई न था। कदाचित्-दुर्गन्धपूर्ण जल की विकृतियाॅ सहन करने के लोग अभ्यस्त हो गये थे। समाज मे अविद्या का अन्धकार सर्वत्र प्रसारित था। पूर्ण सामाजिक एव धार्मिक व्यवस्था अज्ञान गर्त मे लीन पतित एवं भ्रष्ट ब्राह्मणो एव पण्डे पुजारियो द्वारा नियन्त्रित थी। लोग आए दिन 'कला' और 'विज्ञान' मे सयाने प्रवचको के शिकार बनते थे। ज्ञान का 'प्रकाश' कुछ ही लोगो तक सीमित था और ये लोग भी अपने जीवन निर्वाह के लिए परमुखापेक्षी थे। परम्परागत और वगगत शिक्षा द्वारा लोग नवीन उद्योग-धन्धो और मशीनो के प्रति बहुत दिनो तक उदासीन रहे, जिसके परिणामस्वरूप उनका दृष्टिकोण सकीर्णता की सीमाओ मे बंध गया था और उनके सोचने-समझने का ढग अत्यन्त सीमित हो गया था। पतित सामन्तवादी प्रथा असहनीय बोझ से समाज के दम घुट रहे थे। ब्राह्मण शिक्षा प्राप्त करते थे, शास्त्रीय ग्रन्थों की कुंजी उनके हाथ में थी और सामन्त तथा सेठ-साहूकार उन्हे आश्रय प्रदान करने वाले थे और सब गतिहीन और परम्परा-प्रिय थे। न तो स्वय उनमे कोई परिवर्तन हुआ और न उनका नेतृत्व स्वीकारने वालो के परिवर्तित होने का उपयुक्त अवसर एवं साधन ही सुलभ थे। सामन्तो एव सेठ-साहूकारो के अतिरिक्त समाज मे और कई आश्रय प्रदान करने वाला वर्ग न था। एक प्रकार से सम्पूर्ण सामाजिक

व्यवस्था निश्चेष्ट और जड हो गई थी। इन सब कारणो से साहित्य भी, जो सम्पूर्ण जीवन की ही चरम अभिव्यक्ति है, जहा का तहाँ पडा रहा। विषयो का चयन और रचना शैली भी सीमित परम्पराविहित एवं रूढ़ियो की शृ खलाओ मे अबद्ध रही। नवोन्मेष की भावना उन्हे प्रभावित न कर सकी और न नई मान्यताएँ उसके स्वरूप-गढ़न को ही परिवर्तित कर सकी। ईसाई पदारियो के विशेष आग्रहो के बावजूद कम्पनी शासको ने भारतीय सामाजिक जीवन पद्धतियो मे सुधार करने अथवा धार्मिक रूढियो को समाप्त करने की दिशा मे कोई उत्सुकता न प्रदर्शित की उन्हे भारतीय जन-मानस के उत्तेजित हो जाने और फलस्वरूप क्रान्ति हो जाने की आशका थी, इसलिए वे उस अन्धकार को निरन्तर बनाए रखना चाहते थे, जिसमे प्रकाश की कोई किरण प्रवेश न कर सके और उनके साम्राज्यवाद की नीव शक्ति-सम्पन्न हो सके। इसके परिणाम भयंकर हुए। साहित्य ही नही, चित्रकला, वस्तुकला, तथा कला के अन्य सभी रूप उन्हे जन्म देने वाले समाज के प्रतिबिंब मात्र हैं इसलिए वे भी अप्रभावित ही बने रहे। हाँ, जहाँ-जहाँ भूले-बिसरे जीवन नवीनता के सम्पर्क में आया, वही-वही साहित्य और कला मे भी नवीनता का आभास प्राप्त होने लगा इस बात को अस्वीकारा नही जा सकता, पर सम्पूर्ण परिवेश की व्यापकता देखते हुए उसकी सीमाएँ संकुचित थी और सारा कुछ न होने के समान ही था।

इसका प्रमुख कारण था कि कम्पनी शासक इस दिशा मे नितान्त रूप से भी उत्सुक न थे। उन्हे अपने स्वार्थों के प्रति जितना मोह था, उतना भारतीय परिवर्तन-शीलता के प्रति नहीं, वरन् उसे तो वे यथासम्भव गति-रुद्ध ही रखना चाहते थे। इस प्रकार इस काल मे हिन्दी प्रदेश मे सृजनात्मक और नई नव-नवोन्मेषशालिनी शक्ति का अभाव हो गया था। शिक्षण सस्थाएँ अनेक थी, किन्तु वे परम्पराबद्ध थी और उनकी पद्धति समयानुकूल न रह गई थी। प्रतिभाशाली व्यक्तियो और उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओ का भी अभाव न था। किन्तु इतना सब होने के बावजूद भारतीय इस्लामी सभ्यता और सस्कृति मे घुन लग गया था जिसका प्रभाव राजनीतिक आर्थिक क्षेत्रो मे नही, वरन् जीवन के अन्य रचनात्मक क्षेत्रो मे भी दृष्टिगोचर हो रहा था। भारतीय-इस्लामी सभ्यता और सस्कृति के सूर्य का मध्यान्ह काल बीत चुका था और अब वह अस्ताचल की ओर अग्रसर हो रहा था। आर्थिक परिस्थितियां अत्यन्त विषम और जटिल हो गई थी और सारी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो मे कट्टरता, सुन्दरता तथा संकीर्णता और कूपमण्डूकता का इतना प्रसार था और उसकी जड़ें इतनी गहरी थी कि लोग अपने 'विश्वासों' के अतिरिक्त और सोचना-समझना ही नही चाहते थे। सामाजिक सगठन वर्ण-व्यवस्था की जटिलताओ मे आबद्ध अन्धकार की गहराइयों मे डूबा था और समुद्र यात्राएँ सामाजिक मान्यता नही प्राप्त कर सकी थी—उन पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। इसके

फलस्वरूप विश्व के दूसरे भागो मे कौन सी विचारधारा व्याप्त है, जीवन-पद्धतियो का कितना विकास हो गया है और आचार-व्यवहार मे कितने परिवर्तन हो गये हैं, इससे भारतीय जन समाज नितान्त रूप से अपरिचित था। जीवन पृथक् पृथक् और निश्चित खण्डो मे बटा हुआ था और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने नियत और स्थिर कर्तव्य-पालन मे सलग्न रहता था। उसका दूसरो व्यक्तियो से कोई सम्बन्ध न था और वह सकुचित अर्थो मे जीवन व्यतीत कर रहा था। निम्न वर्ण शिक्षा और विकासोपयुक्त अवसरो से वचित थे और न इस दिशा मे कोई विशेष प्रयत्नशीलता ही लक्षित होती थी। वास्तव मे वर्ण-व्यवस्था और सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा ने भारतीय सभ्यता को सगठन, शक्ति और सकटकालीन परिस्थितियो मे अपने को सुरक्षित बनाए रखने की क्षमता प्रदान की थी, किन्तु आलोच्यकालीन परिस्थितियो का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष सामने स्पष्ट होता है कि ये बाते उत्तरोत्तर विकास और व्यापक एव सामूहिक सामाजिक सगठन के मार्ग मे बाधक भी सिद्ध हुई। पूजीपति शासक ने शोषण करने वाले छोटे-छोटे जमीदारो तक को पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी और उनमे शोषण प्रवृत्ति से सम्बन्धित स्वेच्छाचरिता का यथेष्ट प्रचार था। ब्राह्मणो और साहूकार जमीदारो और सिहासन पर बैठने वालो मे कोई भी इस प्रवृत्ति से मुक्त न था। जो जितना ही अधिकार सम्पन्न था, वह अपने अधीनस्थ लोगो के साथ उतनी ही अधिक निर्दयता एव बर्बरतापूर्ण व्यवहार करने को अपना जन्मजात अधिकार समझता था। अधीनस्थ निम्न वर्गो मे एक विचित्र सी अरक्षा की भावना और आशका व्याप्त थी, जिसका कोई निदान उसके सामने स्पष्ट न था और वे दिशाहरा की भांति विभ्रान्त भटक रहे थे। धन जन, वाणिज्य-व्यवसाय आदि कभी भी सकट मे पड सकते थे। आलोच्यकालीन राजनीतिक अव्यवस्था के कारण यह स्वेच्छचरिता की भावना पहले से भी अधिक वृद्धि प्राप्त कर गई थी और वह निरन्तर प्रसारित ही होती जा रही थी। उसमे न्यूनता आने की सम्भावना का प्रश्न ही नही उठता था, क्योकि प्रशासन की ओर से प्रोत्साहन दिया जाता था। यह प्रवृत्ति केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नही थी, वरन् धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो तक मे उसकी सीमाओ का प्रचार एव प्रसार था। किन्तु परम्परा और संस्कारो तथा एक विशेष प्रकार का सामाजिक सगठन होने के कारण सब कुछ चुपचाप सहन करने मे ही लोग अपना हित समझते थे। उच्च पद प्राप्त व्यक्तियो की स्वेच्छाचरिता पर नियत्रण लगाने वाले कोई शक्ति न थी। उधर पिंडारियो और ठगो से भी समाज पीडित था, पर वह विवश था। उसके सामने कोई दिशा स्पष्ट न थी। इन बर्बरता और निर्दयतापूर्ण व्यवहारो और क्रूरताओ से बचने का कोई उपाय न था और चुपचाप कठोर स्थिति को सहिष्णुतापूर्वक सहलेने मे ही समाज अपना कल्याण समझता था। कहीं क्रांति के बीज अंकुरित भी होते थे, तो उन्हे निर्दयतापूर्वक कुचल दिया

जाता था। नृशस हत्याएँ सहज और सामान्य बात बन गई थी और मानव-प्राणों का कोई मूल्य नही था। इस प्रकार से सारा समाज जड हो गया था। शिक्षा की दृष्टि से भी समाज मे परम्परा निर्वाह उसकी विशेषता थी। निम्न वर्णो की सतानो के लिए अधिक से अधिक साक्षर मात्र हो जाना और पैत्रिक व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त कर लेना भर ही यथेष्ट समझा जाता था। इससे अधिक की शिक्षा के लिए न तो साधन सुलभ थे और न प्रोत्साहन ही प्रदान किया जाता था। लिखना-पढना सीखने के लिए निकट की कोई पाठशाला यथेष्ठ थी और पैत्रिक व्यवसाय का ज्ञान घर पर ही प्रदान कर दिया जाता था। ब्राह्मण पुत्र ज्योतिष, धार्मिक ग्रन्थो, शास्त्रीय विधान आदि का अध्ययन करते। शिक्षा-कार्य अधिकाश रूप मे ब्राह्मण ही करते थे। काशी मे साहित्य आयुर्वेद ज्ञान-विज्ञानादि का पठन-पाठन होता था किन्तु उसमे अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे और उसका लाभ उठाने का अधिकार सभी वर्णों को प्राप्त नही था। ब्राह्मणो के अतिरिक्त अन्य उच्च वर्णो के कुछ लोग कुछ ही विषयो का अध्ययन करने के लिए स्वतन्त्र थे, निम्न वर्ग के लोगो का तो खैर प्रश्न ही नही उठता था उन्हे किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नही था। अग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत जीवन की परिस्थितियो के साथ-साथ शिक्षा-विधि मे भी परिवर्तन की आवश्यकता थी, किन्तु समाज ने इस प्रकार की कई चेतना प्रदर्शित न की। मैंने ऊपर कहा न, वह एक प्रकार से जड हो गया था। वह अपने परम्परागत मार्ग पर चलता रहा—बिना किसी उत्साह या चेतना के। समाज ने अपनी प्राचीन शिक्षा-विधि स्वय न परिवर्तित की। उसका अन्त तो अंग्रेज शासकों द्वारा स्थापित नवीन शिक्षा संस्थाओ द्वारा होना था। नारी शिक्षा का प्रचार होना तो दूर, इस काल मे उसकी कल्पना भी नही की जा सकती थी। बौद्धिक जीवन नारियो के लिए वाँच्छनीय एव उपयोगी नही समझा जाता था, इसलिए उस दिशा मे सोचने की आवश्यकता ही नही अनुभव की जाती थी। पत्नीत्व, मातृत्व और अपने को विविध अलकारो एव आभूषणो से सुसज्जित करना ही उनके जीवन के एकमात्र उद्देश्य समझे जाते थे। गृहस्थी सम्बन्धी काम-काज की शिक्षा उन्हे घर की चार-दीवारी मे बडी बूढियो के निर्देशन मे ही प्राप्त हो जाती थी और सीमाओं का अतिक्रमण करने का प्रश्न ही नही उठता था। उनका न तो सामाजिक जीवन में कोई स्थान था और न शिक्षा की दृष्टि से ही। परिवार मे भी वे बच्चो और गृहस्थी का भार ढोने वाली गठरिया मात्र समझी जाती थी और इस प्रकार सारा सामाजिक गठन एक मृत परिवेश मे बंध गया था, जहाँ से मुक्ति मिलने की कोई सम्भावना लक्षित न होती थी।

इस प्रकार सर्वत्र एक अन्धकार व्याप्त था। नैराश्य, आशंका और वर्तमान की कटुता के साथ विशेषताओ ने लोगो को जड़ कर दिया था और जैसा भी जीवन

था, सहिष्णुतापूर्वक जी लेने को भी वे दैवीय विधान और अपनी नियति स्वीकार लेते थे। हिन्दी प्रदेश का सामान्य जीवन, कुछ अपवाद छोडकर, प्रसारोन्मुख एव विकासोन्मुख होने के स्थान पर सिकुडकर अपनी गत्यात्मकता खो बैठा था और इसीलिए जीवन की चौमुखी अवनति हुई। राजनीतिक स्वतन्त्रता के नष्ट होने के साथ-साथ दार्शनिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक कलात्मक, युद्ध-विद्या सम्बन्धी आदि सभी प्रकार की अवनति हुई। लोगो को अपने चारो ओर बनाए कृत्रिम ससार एवं सकीर्ण परिवेश की सीमाएँ लाँघ कर वाह्य ससार के साथ सम्पर्क स्थापित करने एव नवीन विचारधारा से परिचित होने का कोई अवसर न प्राप्त था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को 'सकलगुण-निधान महाराज कम्पनी बहादुर' समझना, उसके विधान, सचालन, इगलैण्ड के मन्त्रिमण्डल के साथ उसका सम्बन्ध आदि के बारे मे ज्ञान न होना आदि बाते इसी तथ्य की ओर सकेत करती है। विगत के साथ समुचित और विवेकपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना कभी हानिप्रद सिद्ध न हो सकता पर विगत को ही अन्तिम सत्य स्वीकार लेना आगत की सारी सम्भावनाओ को अपने मे समेटकर गतिशील होने को नकारना ही है और प्रगति के सारे मार्ग को अवरुद्ध करना है। प्राचीन भग्नावशेषो की नीव पर नवीन प्रासाद तो निर्मित करना सर्वथा श्लघनीय है, किन्तु उन्ही मे पडे रहकर जीवन व्यतीत करना निंदनीय और गर्हित ही समझा जाएगा। आलोच्यकालीन हिन्दी प्रदेश का जीवन एक विस्तृत ध्वसावशेष के रूप मे था।[1] इसमे परिवर्तन की आवश्यकता थी, नवीन भावभूमियो के प्रसार की आवश्यकता थी। नये जीवन परिवेश के अभिनव आयामो की स्थापना की आवश्यकता थी। और आवश्यकता झाड झखाड और मलवा हटाकर नए भवन के निर्माण की थी। यद्यपि इस आवश्यकता के पूर्ण होने के सकेत प्राप्त होने लगे थे, पर उस उत्साहजनक रूप मे नही, जिस रूप मे प्राप्त होने चाहिए थे। भारतीय सास्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि नवोन्मेष की भावना ग्रहण करने मे भारतवासियो ने देर भले ही की हो। किन्तु सदैव के लिए न तो उनकी उपेक्षा की और न उन्हे अस्वीकारा। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन भी इसी प्रवृत्ति के कारण जन्म ले सका था। आलोच्य-कालीन समाज यद्यपि अज्ञान, अविद्या, अन्धविश्वास, रूढियो और कुरीतियो एव कुप्रथाओ से सवेष्टित था, किन्तु तो भी हिन्दी भाषा-भाषी, अग्रेजो के माध्यम द्वारा पाश्चात्य भावना के सस्पर्श मे आकर मुखरित होने के पथ पर चल पडे थे, जो एक नए युग की सम्भावनाओ का सूचक था और इस युग की प्रवृत्तियो को देखते हुए अकल्पित एव अप्रत्याशित था। हिन्दी भाषायो मे रूढिप्रियता और अपरिवर्तनशीलता थी अवश्य, किन्तु वह अटल न थी। यदि भारतीय जीवन मे अटल अपरिवर्तनशीलता

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवी शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ३५

होती, तो उसका अस्तित्व ही कभी का मिट गया होता। नितान्त भिन्न यूरोपीय सभ्यता के प्रति प्रारम्भ मे बहुत दिनो तक हिन्दी भाषियो को आशका बनी रही और तत्कालीन सकटापन्न परिस्थिति मे अपने परम्परागत जीवन से उनका चिपके रहना स्वाभाविक भी था, किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की इच्छा न रहने पर भी आलोच्यकाल में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जबकि परम्पराओ का अतिरिक्त मोह छोडकर कुछ दूरदर्शी लोग नवीन ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की ओर उन्मुख हो तथा हिन्दी जीवन को अधिक उदार और उन्मुक्त बनाकर उसका भावी मार्ग प्रशस्त और सुदृढ करना चाहते थे। ऐसे लोगो की सख्या न्यूनातिन्यून अवश्य थी, किन्तु एक यही तथ्य कि ऐसे लोग भी थे, क्या कम है। विशेष रूप से, ऐसे विषम एव प्रतिकूल वातावरण मे, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। न लोगो को कोई साधन सुलभ थे, न अधिकार प्राप्त थे और न प्रोत्साहन मिलता था। ऐसी स्थिति मे इतना होना भी अन्धकार मे प्रकाश की रश्मि के ही समान था, वह रश्मि क्षीण चाहे कितनी ही क्यो न रही हो।

हिन्दी प्रदेश इस प्रकार एक नई दिशा ग्रहण कर रहा था और आगत की विराट सम्भावनाएँ किए हुए आगे गतिशील होने के लिए व्याकुल था। यह आकुलता ही इस युग की साहित्य की दृष्टि से एक बहुत बडी उपलब्धि थी। प्रसिद्ध आलोचक डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि हिन्दी प्रदेश के जीवन सम्बन्धी जिन विविध प्रमुख-प्रमुख पक्षो पर अभी तक विचार किया गया है, उससे यह बात बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है कि आलोच्य काल की बौद्धिक और कलात्मक प्रतिक्रियाओ के पीछे आपस मे उलझी हुई तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही थी। जीवन की गति दुर्बल, मद, लडखड़ाती हुई और अनेक प्रकार की कठिनाइयो एव विघ्न-बाधाओ से परिपूर्ण थी। यद्यपि समाज मे ऐसे व्यक्तियो का अभाव नही था, जिन्होने प्रचलित दोषो से ऊपर उठने की चेष्टा की, किन्तु जिस समाज मे उन्होने जन्म लिया था, वह परम्पराविहित, रूढिग्रस्त, कट्टर एव अपरिवर्तनशील, गतिहीन, पतित और जर्जरित था। उस समय एक महान् युग—सामती युग का—अन्त हो गया था और समाज एक नवीन युग की प्रसव वेदना से पीडित था, अर्थात् समाज एक भारी सक्रान्ति काल से गुजर रहा था। ऐसी परिस्थिति मे नव-नवोन्मेषशालिनी साहित्यिक उद्भावनाओ का जन्म होना असभव था। साहित्य के प्रधान रूप, काव्य मे पुराने और घिसे-घिसाए विषयो, रूपो और शैलियो के अतिरिक्त और कुछ नही मिलता। हाँ, नवीन शक्तियो के आविर्भाव के कारण एक नई साहित्यिक भाषा—खडी बोली—और गद्य के भावी उज्ज्वल जीवन के चिन्ह अवश्य प्रकट होने लगे थे। धीरे धीरे, किन्तु निश्चित रूप से, अंग्रेजो के माध्यम द्वारा हिन्दी-भाषा भाषियो का ज्यो-ज्यो पाश्चात्य साहित्य एव सस्कृति से सम्पर्क बढता गया और नवीन

राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक और आर्थिक शक्तियाँ समाज के जीवन मे प्रवेश करने लगी—और पिछले विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नवीन ऐतिहासिक प्रक्रिया उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त मे प्रारम्भ हुई—त्यो-त्यो पुरानी दीवारे गिरने लगी। वास्तव मे आलोच्य काल के एक बहुत बडे भाग मे नवीन शक्तियो के प्रभाव का अभाव मिलता है। आलोच्य काल के इस बहुत बडे भाग के बाद हिन्दी प्रदेश मे नवीन साहित्यिक भावो विचारो और रूपो का जन्म हो सका। उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त मे जिन नवीन शक्तियो का बीजारोपण हुआ, वे उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध मे अकुरित हुई और केवल बीसवी शताब्दी मे पूर्णत प्रस्फुटित हुई है। अब देखना यह है कि आलोच्यकालीन् जीवन की परिस्थितियो के बीच रहते हुए प्रतिक्रियात्मक रूप मे समाज ने किस प्रकार आत्माभिव्यजना की, किस प्रकार उसने जीवन का मूल्य निर्धारित किया। जिस प्रकार सुगध से फूल पहिचाना जाता है, उसी प्रकार सामाजिक या जातीय जीवन की चरम अभिव्यक्ति होने के कारण, आलोच्यकालीन साहित्य और कला से समाज के प्रति दृष्टिकोण और उसकी प्रतिक्रिया का पता चलता है। लोगो मे साहित्यिक रुचि थी और उनके पास शताब्दियो की साहित्यिक और कलात्मक परम्परा थी। साथ ही अपनी धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक और कलात्मक परम्पराओ से सवेष्टित जीवन के अतिरिक्त उनके पास इस्लाम और पूर्व तथा पश्चिम से आने वाली जातियो की भाषाओ विचारधाराओ, काव्य-परम्पराओ, सामाजिक आचार-विचारो, ऐतिहासिक और धार्मिक परम्पराओ, जीवन-दर्शन तथा तज्जनित आशाओ और महत्वाकाँक्षाओ, कला और दस्तकारियो आदि का अपने सामूहिक जीवन पर पडे शताब्दियो के प्रभाव की सचित निधि थी। साहित्य के माध्यम द्वारा जीवन के इसी व्यापक रूप के सार अश की अभिव्यक्ति हुई।

हिन्दी गद्य का आरम्भ

हिन्दी गद्य का आरम्भ और विकास आधुनिक काल की अभूतपूर्व देन है। आधुनिक कहानी का सम्बन्ध गद्य के अविर्भाव और विकास से ही है। कोई भी साहित्य काव्य के रूप मे ही जन्म लेता है। मौखिक रूप मे किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या मानसिक भावा-वेग का वर्णन करने वाला पहला व्यक्ति कवि रहा होगा। वैसे भी मनुष्य जीवन मे बुद्धि तत्व से पहले हृदय तत्व का स्थान है। युद्ध क्षेत्र मे प्राणो की आहुति दिलाने वाले या धर्म के लिए जीवन उत्सर्ग कराने वाले गायक रहे होगे। उनकी यह इच्छा रही होगी कि जो कुछ वे कहे, दूसरे लोग उसे याद रखें। और यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि गद्य की अपेक्षा पद्य का स्मरण रखना अधिक सरल है। गद्य लिखना सीखने से पूर्व मनुष्य जाति ने गीतो का सृजन किया। इसका अभि-

प्राय यह नही कि अपने नित्य-प्रति के सामान्य जीवन मे भी मनुष्य पद्य का ही प्रयोग करने का अभ्यस्त रहा होगा। प्रसिद्ध नाटककार मौलियर ने अपने ख्यातिप्राप्त नाटक 'Le Bourgeois Gentilhomme' (ल बूर्ज्वा जॉनीलोम) मे Jourdain (जूर्दै) नामक मध्यवर्षीय सीधा-सादे नागरिक का वर्णन करते हुए लिखा है कि शिक्षा प्राप्त करते समय एक दिन जब उसने अपने गुरु से गद्य और पद्य का अन्तर समझा तो उसे यह जानकर अत्यन्त विस्मय हुआ कि वह जीवन पर्यन्त गद्य का प्रयोग करते रहने पर भी उसका स्वरूप समझने मे असमर्थ रहा। मानव जीवन के प्रारम्भिक काल के सम्बन्ध मे भी बहुत कुछ इसी प्रकार की बात कही जा सकती है—हम उसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी न जानते हो, यह दूसरी बात है। इस तथ्य को हम उस समय और भी भली प्रकार समझ सकते है, जब हम अपने को सम्पूर्ण मानव जाति के रूप मे देखे, न कि व्यक्ति के रूप मे। इसके अतिरिक्त भारतीय विचारधारा मे शब्द की महिमा गाई गई है। बाइबिल मे सेंट जॉन द्वारा रचित सुसमाचार मे भी कहा गया हैं 'In the beginning wasthe word' जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य पढने के पहले सुनता है, लिखने से पहले बोलता है। एक प्रकार से यही बात गद्य के आविर्भाव एव विकास के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

मनुष्य ने समय के विकसित चरणो के साथ जिस प्रकार धीरे-धीरे अपनी अपनी सकीणता की परिधि को विच्छिन्न कर आगत की सम्भावनाओ एव स्वर्णिम भविष्य की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया, उसके जीवन मे पार्थिवता या भौतिकता के बीज भी अकुरित होने लगे। स्वाभाविक है, मनुष्य के जीवन की सीमाओ का व्यापक प्रसार होने लगा, जिसके फलस्वरूप उसकी आवश्यकताओ मे भी आशातीत अभिवृद्धि होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य जीवन अत्यन्त जटिल, विषम एव दुरुह होता गया। मनुष्य अपनी कठिनाइयों का कोई-न-कोई राह खोज ही लेता है। अचानक जीवन मे उत्पन्न हो गई जटिलता एव दुरुहता की दिशा अन्वेषित करने के लिए भी उसे दिशोन्मुख होना ही था, और इस दिशा मे जैसे-जैसे वह अग्रसर होता गया, उसमे बौद्धिक तत्व भी जन्मते गए। संसार के आधुनिक जीवन मे ज्यो-ज्यो जटिलताएँ और दुरुहताएँ वृद्धि प्राप्त करती गई, त्यो-त्यो उसमे बौद्धिकता एव व्यावहारिकता का अश भी विकसित होता गया। इससे गद्य के विकास विशेषत कथा साहित्य के आविर्भाव एव विकास के लिए महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि निर्मित हुई। अभी तक पद्य साहित्य का ही प्राधान्य था और एक प्रकार से पद्य ही साहित्य का पर्याय समझा जाता था, पर जीवन पद्धतियो मे परिवर्तन आ जाने से काव्य की महत्ता अपने आप न्यून पड़ने लगी और साहित्य गद्य को लेकर गतिशील होने में अपने को समर्थ बनाने लगा।

ऐसी बात नही है कि यह स्थिति भारत की ही हो। समूचे विश्व साहित्य मे गद्य का अविर्भाव एव विकास इसी भाँति हुआ है। इस सम्बन्ध मे डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है कि विश्व-साहित्य के इस विकास क्रम मे भारतीय साहित्य अपवाद स्वरूप नही रहा। सस्कृत मे काव्य ही लोकोत्तर आनन्द प्रदान करने वाला कहा गया है। ईसा की नवी-दसवी शताब्दी मे अपभ्र श परम्परा विश्रृंखलित से जाने के पश्चात् समस्त भारतीय भाषाओ को साहित्यो ने सस्कृत के आदर्शों का पालन किया। हिन्दी साहित्य के वीर और भक्ति कालो के लिए तो गद्य और भी उपयुक्त नही था। अरबी-फारसी साहित्यो के साथ सम्पर्क स्थापित हो जाने पर भी गद्य-रचना की दिशा मे कोई विशेष प्रोत्साहन उपलब्ध न हो सका। वास्तव मे अन्य भारतीय भाषाओ के साथ साथ हिन्दी मे भी गद्य का निर्माण इतने विलम्ब से क्यो हुआ इसका कोई प्रधान कारण नही दिया जा सकता। हिन्दी गद्य के लिए ईसा की उन्नीसवी शताब्दी ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य प्राप्त होता है, परन्तु कम और स्फुट रूपो मे। उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व वह साहित्य का प्रधान अग न बन पाया था। ऐतिहासिक घटनाचक्र के अनुसार उन्नीसवी शताब्दी के भारतवर्ष मे एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस समय भरतवासियो का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारो और प्रवृत्तियो से हिन्दी-साहित्य अछूता न रह सका। शासन सम्बन्धी आवश्यकताओ तथा जीवन की नवीन परिस्थितियो के कारण गद्य जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई और वास्तव मे गद्य के द्वारा ही हिन्दी मे आधुनिकता का बीजारोपण हुआ—उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध मे—न कि काव्य द्वारा। अस्तु एक नवीन युग मे एक नवीन शिक्षा पद्धति मे पालित-पोषित शिक्षित समुदाय के आविर्भाव के कारण हिन्दी मे गद्य परम्परा के क्रमबद्ध इतिहास का सूत्रपात पहले पहल उन्नीसवी शताब्दी मे हुआ। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व हिन्दी मे गद्य का पूर्ण अभाव नही था। पश्चिम मे गद्य के विकास के लिए एक से अधिक कारण उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास अधिक तीव्र गति से हो गया था। हिन्दी साहित्य के शोधार्थियो द्वारा उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व के हिन्दी गद्य के स्फुट उदाहरण उपलब्ध हो चुके हैं, अभी बहुत कुछ कार्य शेष है। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है, वह दान पत्रो, पट्टों-परवानो, सनदो, वार्ताओ, टीकाओ आदि के रूप मे है। और क्योकि उस समय हिन्दी प्रदेश की राजनीतिक साहित्यिक और धार्मिक चेतना के प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान मे थे इसलिए उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व के गद्य के स्फुट उदाहरण भी ब्रजभाषा और राजस्थानी में मिलते हैं। साथ ही मुसलमानी शासन काल मे खड़ी बोली का

प्रचार भी समस्त उत्तर भारत मे गया था और उसने मुस्लिम राज दरबारो मे अपना स्थान बना लिया था। उसका प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़े बिना न रहा। किन्तु परम्परा के अनुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य-भाषाएँ बनी रही, और जब किसी ने कभी भूले-भटके गद्य रचना प्रस्तुत भी की, तो इन्ही दो भाषाओं का प्रयोग किया। उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध मे ज्यो-ज्यो परिस्थिति बदलती गई, साहित्य तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र मे खडी बोली प्रधानता ग्रहण करती गई और उसमे एक नवीन युग की नवीन प्रेरणा से गद्य का जन्म हुआ।

वैसे इसके पूर्व तक हिन्दी साहित्य मे किसी नवीनता की आशा करना अकल्पित एवं अप्रत्याशित था। उसमे इधर-उधर किंचित परिवर्तन निश्चित रूप से हुए थे, उसे अस्वीकारा नही जा सकता, पर कुल मिलाकर वह रूढिबद्ध परम्परा को ही आत्मसात किए रहा। गद्य के क्षेत्र मे भी हमे परम्परानुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य के उदाहरण मिलते हैं। खडी बोली गद्य के रूप मे हमे आलोच्यकालीन साहित्य का नवीन विकास सूत्र प्राप्त होता है—यहाँ नवीनता का अर्थ इसी सन्दर्भ मे ग्रहण किया गया है कि उसने साहित्य के एक प्रमुख एव स्थायी अग के रूप मे स्वरूप ग्रहण किया। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है, कि यद्यपि आलोच्यकालीन खडी बोली गद्य रचनाए अधिक उच्चकोटि की और सख्या मे अधिक नही कही जा सकती। तो भी उनकी एक निश्चित परम्परा तो मिलती ही है। इस प्रकार मेरे विचार से यह कहना बहुत अधिक तर्क सगत नही है कि लल्लूलाल, सदल मिश्र और इशाअल्ला खाँ के पश्चात खडी बोली गद्य परम्परा का भारतेन्दु के आविर्भाव काल तक अभाव रहा है। जैसा कि प० रामचन्द्र शुक्ल या उनका अन्धानुकरण करने वाले कुछ दूसरे इतिहास लेखको का कहना है। दूसरे यह तथ्य भी बहुत उल्लेखनीय है कि उनसे हमे खडी बोली की क्षमता और आगत की अपूर्व सभावनाओ का सुनिश्चित परिचय प्राप्त होता है। खडी बोली की क्षमता और शक्तिमत्ता का परिचय—जन्मकाल से ही नही, वरन् उसके बाल्यकाल मे ही मिलता है, जिस पर किसी भी सुविज्ञ को विस्मय हुए बिना नही हो सकता। उसने इतने विविध विषयों का भार वहन करने के योग्य अपने को समर्थ बना लिया था कि यह देखकर एक सतोष की ही भावना उत्पन्न हो सकती थी। खडी बोली की इन गद्य रचनाओ मे परिवर्तनशीलता एव नई उभरने वाली प्रवृत्तियो का समावेश इतनी सहजता एव स्वाभाविकता से हो सकता था। या हो गया था कि उसने हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के एक सर्वथा नए युग का सूत्रपात किया। हिन्दी कथा साहित्य के आविर्भाव के लिए वस्तुतः यह महत्वपूर्ण अवसर था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन, फोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाई पादरियो, सरकारी शिक्षा-आयोजनाओ तथा विभिन्न शिक्षण सस्थाओ और उनसे किसी-न-किसी रूप मे सम्बन्धित अथवा प्रारम्भ मे ही पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियों

के माध्यम द्वारा विकास को प्राप्त खडी बोली गद्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। खड़ी बोली गद्य के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि आलोच्य काल मे अधिकाशत. उपयोगी एव व्यावहारिक विषयो से सम्बन्धित रचनाओ के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया। हिन्दी गद्य परम्परा तीन वर्गो मे विभाजित की जा सकती है :

१. ब्रजभाषा गद्य की परम्परा

२ राजस्थानी गद्य की परम्परा

३ खडी बोली गद्य की परम्परा

ब्रजभाषा का हिन्दी साहित्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसमे साहित्यिक रचनाएँ ईसा की सोलहवीं शताब्दी मे ही होने लगी थी। उसका इतना प्रचार एव प्रसार हो गया था कि सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ से ही वह पूरे हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा स्वीकार ली गई थी। स्वभावत: साहित्यिक भाषा होने के कारण किसी भाषा मे समर्थता एव प्रौढता तो आती ही है, साथ ही नई अनुभूतियाँ, दिशाएँ एव नए रूप भी आते हैं, जिससे वह भाषा और भी समृद्ध होती है। ब्रजभाषा मे भी अन्य विशेषताओ के साथ गद्य रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इस सम्बन्ध मे कुछ गोरखपंथी रचनाएँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है, जिनमे खडी बोली मिश्रित ब्रजभाषा गद्य के उदाहरण प्राप्त होते हैं। यद्यपि अभी इन रचनाओ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे बहुत निश्चित तर्क नही दिये जा सकते। विट्ठलनाथ कृत 'शृगार रस मण्डन', गोकुलनाथ कृत कही जाने वाली 'चौरासी वैष्णवन् की वार्ता' तथा दो सौ बावन वैष्णवन् की वार्ता' आदि की गणना भी इसी सन्दभ मे की जाती है। इन सभी कृतियो का रचनाकाल उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व का है। इस काल मे ब्रजभाषा का स्वरूप परम्परानुसार ही मिलता है। कुछ समय पूर्व से ब्रजभाषा गद्य के तीन रूप प्राप्त होते आ रहे थे :

१ स्वतन्त्र रूप मे लिखे गये मौलिक या अनूदित ग्रन्थो के रूप मे।

२. महत्वपूर्ण कवियो की काव्य—रचनाओ की टीकाओ एव आलोचनाओ के रूप में।

३. कवियों द्वारा स्वयं अपनी कृतियो मे निरन्तर या स्फुट टीकाओ के रूप में।

यहाँ यह उल्लेख करना भी आवश्यक है कि ईसाई धर्म-प्रचारको ने भी ब्रजभाषा गद्य मे बाइबिल का अनुवाद किया था। स्वतन्त्र रूप से लिखे गये मौलिक या अनूदित ग्रन्थों में, अन्य अनेक के अतिरिक्त हित रूप किशोरीलाल के शिष्य और

दनकौर—निवासी प्रियादास (१७७९ रचनाकाल) कृत 'सेवक चरित्र', किसी अज्ञात लेखक कृत 'श्री नवनीत प्रिया जी की सेवा निधि' (१७९५), हीरालाल कृत 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' (१७९५), लल्लूलाल (१७६१-१८२४) कृत 'राजनीति' (१८०२, प्रकाशित १८०९) और 'माधो-विलास' (१८१७) और माँड़ला के माणिकलाल ओझा कृत 'सोमबशन की वशावली' (१८२८) आदि ग्रन्थो को भी इसी सन्दर्भ मे लिया जा सकता है। प्रथम दो रचनाएँ वैष्णवो की राधावल्लभी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। इन दोनो तथा अंतिम रचनाओ की मौलिकता असदिग्ध है। शेष रचनाएँ प्राचीन ग्रन्थो पर आधारित है। ब्रजभाषा गद्य का दूसरा रूप प्रसिद्ध कवियो की काव्य रचनाओ की टीकाओ एव आलोचनाओ के रूप मे मिलता है।[1] इस सम्बन्ध मे हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई की टीका' (१७७७) और 'कवि प्रिया की टीका' (१७८८) (कहा जाता है उन्होने 'रसिक प्रिया' और 'भाषा-भूषण' पर भी टीकाएँ लिखी—'विनोद' पृष्ठ ७१९) दनकौर-निवासी प्रियादास (रचनाकाल-१७७९) कृत 'स्फुटपद टीका' (हित-हरिवश कृत 'चौरासी पद' के कुछ पदो पर टीका) रामसनेही पथ के सस्थापक स्वामी रामचरण के शिष्य रामजन कृत 'दृष्टान्त सागर सटीक' अथवा 'टीका सज्जुगति वचनका' (१७८२), अयोध्या के महन्त रामचरण (रचनाकाल १७८४-१७८७) कृत रामायण सटीक', रत्नदास (रचना-काल १७९६) कृत 'अष्टक टीका' ('महाराज' नागरीदास कृत 'अष्टक' पर टीका। नागरीदास का रचना-काल अठारहवी शताब्दी पूर्वार्द्ध माना जाता है) असनी के ठाकुर द्वितीय कृत देवकीनन्दन टीका' के नाम से प्रसिद्ध 'बिहारी सतसई की टीका' (१८०४), जानकीप्रसाद कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (१८१५), लछिमन राउ कृत 'लछिमन चन्द्रिका' (१८१६) (केशवकृत 'कवि-प्रिया' पर टीका, लल्लूलाल कृत 'लाल-चन्द्रिका' (१८१८) (बिहारीलाल कृत 'सतसई' पर टीका), कृष्णलाल कृत (रचना-काल १८१५) कृत 'बिहारी सतसई की टीका', पुराणदास कृत 'त्रिज्या टीका' (१८२७) रीवा के महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'बीजक' पर टीका, देवतीर्थ स्वामी अथवा कष्ठ जिह्वा स्वामी कृत 'मानस परिचर्या' और (१८३८) द्विजराज काशीराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह कृत 'मानस परिचर्या-परिशिष्ट' (१८५५), प्रतापसिंह कृत 'रसराज की टीका' (१८३९) और 'रत्न चन्द्रिका' (१८३९) (बिहारी कृत 'सतसई' पर टीका। कहा जाता है कि प्रतापसिंह ने बलभद्र कृत 'नख-शिख' पर भी टीका लिखी), सरदार कवि कृत 'रसिक-प्रिया की टीका' (१८४६), सूरदास के दृष्टकूट' (१८४७) और 'कविप्रिया की टीका' (१८५४), जानकीदास कृत 'युक्ति रामायण' पर (१८५१) मे प्रकाशित धनीराम की टीकाओ के नाम लिए जा सकते हैं। यद्यपि

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . उन्नीसवी शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद पृष्ठ ७३

इसमे ब्रजभाषा गद्य का कोई प्रौढ रूप नही प्राप्त होता और न उसकी कोई परम्परा ही स्थापित हो पाई, पर हिन्दी गद्य के आविर्भाव एव विकास की दृष्टि से उसका अत्यन्त महत्व है। ब्रजभाषा गद्य का तीसरा रूप कवियो द्वारा स्वय अपनी ही काव्य-रचनाओं अथवा सकलनकर्ताओ द्वारा काव्य-सग्रहो मे टीका, व्याख्या और वाद विवादो के रूप मे उपलब्ध होता है।[1] हरिनाथ गुजराती (रचनाकाल १७६४) ने 'सग्रह कवित्त' मे, रामसनेही पथ के सस्थापक स्वामी रामचरण ने 'अशम विलास' (सम्पादन १७८८), 'किवत' (सम्पादन १७८६), 'जिज्ञासु बोध' (सम्पादन १७६०), 'विसवास बोध' (सम्पादन १७६२), 'विश्राम बोध' (सम्पादन १७६४), और 'रामरसाहासी' (सम्पादन १७६८) मे, रसिक गोविन्द ने रीति ग्रन्थ 'रसिक— गोविन्दानन्दघन' (१८०१) मे, प्रतापसिंह ने रीति ग्रन्थ, 'व्यग्यार्थ कौमुदी' (१८२५) मे, रामराज ने रीति-ग्रन्थ 'काव्य प्रभाकर' (१८४७) मे, जगन्नाथ समनेस ने 'पिंगल काव्य विभूषण' मे, पजनेश ने रीतिग्रन्थ 'स्वेच्छार्थ षोणशी बिन्दु विनोद' (१८४७) मे और सरदार कवि ने 'मानस रहस्य' (१८४७) मे ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपनी पुस्तक मे ब्रजभाषा गद्य के कुछ उदाहरण दिए हैं .

> "......प्रथमहि ता बाल अवस्थाई मे जै श्री रसिक नृपति जू ने मोकू अगीकार कियो ● उपराँत ता पाछे श्री सेवक जू को दर्सन भयो वाँवत ही श्री सेवक जू विषै मरी अति आशक्ति भई ● के देषो सारा सार विवेक कै कौन भाति श्री रसिक नृपति जू कौ कैसो लड़ायो गयो दुलरायो है ● सो या भांति की सेवक जू की मत्तता की जो दसा है ता ऐसी दसा कौ मोकू भी लाहौ सदा रहै ● कै मैहू ग्रैसी भांति श्री हित जू कौ कब लड़ाउगो ● सो या ही आसक्तिता ने बढते बढते सिर मे धूरि गिरवाई ● सो गोस्वामी जै श्री हित रुप किसोरी लाल जू के मदिर विषै चौबारे मे भजन भावना से मत्त भयो।"
>
> (प्रियादास 'सेवक चरित्र' १७७६ कै लगभग पृष्ठ ६-७)
>
> "कह्यौ है प्रीतम सो जो आपदा निवारे। कर्म वह जातें अपजस न होय। स्त्री अरु सेवक सो जो आज्ञाकारी रहै। बुद्धिवान वह जो गर्व न करै। ज्ञानी सो जो तृष्णा न राखै। पुरुष वह जो जितेन्द्री होय। अरु महाराज मत्री वह जो हितकारी होय। सजीवकै तिहारौ सुखदेवा नाहिं यह दुख कौ मूल है। या कौ सीघ्र

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : उन्नीसवी शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद, पृष्ठ ७४

ही नास करो। काह्यौ है जो राजा धनांध कामाँध होय आपनौ भलौ बुरौ न जानै सो इच्छामातौ रहै। अरु जब अहकार तें दुख पावै तब मन्त्री कौं दोष लगावै।" ····

(लल्लूलाल : 'राजनीति', १८०६ के सस्करण से)

"·· 'कितेक वर्ष पाछै एक समय माधव नरपति बहुतेक लोग साथलै आखेट कौं गयौ। बन मे जाय बाघ चीता अरना वराह हरिन चीतल साबर आदि जीव अनेक अहेर किये अरु जिन जिनने जो जो चाहे सो-सो लिये। अब अहेर करि ह्वांते बगद्यौ तब नगर के निकट आय कहा देखतु है कि एक स्त्री पन्दह सोलह बरष की। स्याम घटासे केस। पाटी मानौ मरकत मणिकी टाटी। चोटी लांबी कारी सटकारी जैसें पन्नग की नारी। माँग मोतियन तें सवारी। भाल चदकौ सौ भाग। तिलक लाल जानौ पीतम कौ सुहाग। भौंहें वांकी मन मौंहे। श्रवण दोऊ सीप से सोहें। दृगन के आगे कंवल मीन मृग खजन कहा। नासिका कौं देखि तिल फूल औ कीर लज्जित महा। वाके मुख चद कौं पेखि पूर्णमा कौ चन्द्र कलंकी भयौ। दांत की पांत लखि दाडिम कौ हियौ दरक गयौ। ग्रीवा की सुन्दरता निरख कपोत कुलमलाय। कुचन की कठोरता हेरि सरोज कली सरोवर मे गिरी जाय। कटि की कषता देखि केहरी ने बन बास लियौ। जांघ की चिकनाई लखि कदली ने कपूर खालियौ। जाके कर पदकी कोमल ताके आगे पद्म की पदवी कछु नहै। ऐसी चपाबरनी पिक बैनी गज गौंनी घुवट कियै कंचन की कलसी लियै एकली जल भरन जाति है। या छाबसो वाहि देखि माधव काम के बस होय शास्त्र कौ भय भूलि लोक लाज बिसारि ·· लोगनि कौं बिदा करि आप अकेलौ वही ठाढौ रह्यौ। अरु मनहीं मन कहनि लाग्यौ कि इद्र की अपछरा होयगी तौहू मोते यह अघूनी आज गान न पै है। याकौ आशक्त भयौ जानि वह सुंदरि अति घबराय सरोवर पै जाय स्नान करन लागी।" ·····

(लल्लूलाल 'माधव विलास' (१८१७), पृष्ठ ४४-४५)

जहाँ तक राजस्थानी गद्य परम्परा का प्रश्न है, ब्रजभाषा गद्य की परम्परा की ही भाँति वह भी अत्यन्त प्राचीन है। राजस्थानी गद्य-परम्परा का सूत्रपात दसवी शताब्दी के लगभग से स्वीकारा जाता है। राजस्थानी प्रदेश की राजनीतिक स्थिति तत्कालीन समय मे बहुत सुस्थिर न थी और आए दिन युद्ध तथा आक्रमण

हुआ करते थे। उन अराजकतापूर्ण परिस्थितियो मे बहुत सारी गद्य सामग्री तो नष्ट हो गई है, पर इसके बावजूद जो सामग्री शेष रह गई है, उसको देखकर यह सुनिश्चित निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजस्थानी गद्य की परम्परा ब्रजभाषा गद्य की परम्परा की तुलना मे अधिक समृद्ध एव विविध विषय सम्पन्न रही। उसमे दान-पत्रो पट्टो-पर वानो, जैन ग्रन्थो, वार्ता, तथा राजनीति, इतिहास, काव्यशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि भिन्न-भिन्न विषय सम्बन्धी ग्रन्थो की रचना प्राप्त होती है। निरन्तर राजनीतिक क्रान्तियो तथा सरक्षको की असावधानी के कारण राजस्थान का बहुत सा साहित्य नष्ट हो चुका है। साहित्य-सेवियो और विद्वानो द्वारा अविशिष्ट साहित्य का कुछ अश प्रकाश मे आ चुका है, किन्तु अभी बहुत कुछ अधकार मे है। उसके उद्धार की भी बडी भारी आवश्यकता है। इधर कुछ विद्वानो की गवेषणाओ के फल स्वरूप राजस्थानी गद्य के स्फुट इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश पडा है। अभी तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा की अपेक्षा राजस्स्थानी गद्य-परम्परा अधिक समृद्ध और विविध विषय सम्पन्न रही ईसा की तेरहवी, चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियो के कुछ जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमे अपभ्रश मिश्रित राजस्थानी गद्य के उदाहरण मिलते हैं। ये ग्रन्थ प्रमाणिक है। वास्तव मे राजस्थान गद्य ने चौदहवी और सोलहवी शताब्दियो के बीच यथेष्ट उन्नति की। इस काल की। रचनाओ मे राजघरानो की ख्याते (इतिहास), ऐतिहासिक या काल्पनिक कथाएँ, धर्म, नीति, इतिहास, छन्द सास्त्र आदि से सम्बन्धित गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सत्रहवी शताब्दी और उसके बाद राजस्थानी गद्य मे भी, ब्रज-भाषा गद्य की भाँति, काव्य टीकाएँ लिखी गई। अनेक ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनमे गद्य यत्र-तन्त्र बिखरा हुआ है, किन्तु जिनके लेखको और रचना कालो के सम्बन्ध मे अभी कुछ ज्ञात न हो सका। ऐसे ग्रन्थो मे ऐतिहासिक और काल्पनिक कथा-कहानियो (वात) की सख्या ही अधिक है। वास्तव मे राजस्थानी गद्य की दृष्टि से जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थो और कथा-कहानियो (वात) का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्नीसवी शताब्दी तक राजस्थानी गद्य मे परम्पराविहित विषयो और काव्य टीकाओ की रचना बराबर होती रही। प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य पर सस्कृत की समास शैली और अपभ्रश का प्रभाव मिलता है। बाद को वह खडी बोली के निकट होने के कारण उसके रूप ग्रहण करता गया। साथ ही साहित्यिक भाषा ब्रजभाषा के प्रभाव से भी वह अलग न रह सका। किन्तु ब्रजभाषा की भाँति राजस्थानी गद्य की भी अपनी सीमाए थी। इसलिए वह भी नई आवश्यकताओ के अनुसार नवीन विषयों के लिए उपयोगी और उपयुक्त माध्यम सिद्ध न हो सका। ब्रजभाषा परम्परा के अन्त होने के सम्बन्ध मे जिन कारणो का पीछे उल्लेख किया जा चुका है, लगभग

उन्ही कारणो से राजस्थानी गद्य परम्परा का भी उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध मे अन्त हो गया—यद्यपि स्फुट रूप से वह बाद को भी कभी-कभी लिखा जाता रहा। राजस्थान का राजनीतिक महत्व कम हो जाने से राजस्थानी गद्य का ह्रास हो जाना अवश्यभावी था। जहाँ तक कलकत्ते के नवीन प्रभावो के अन्तर्गत आने का सम्बन्ध है, राजस्थान व्रज प्रदेश की अपेक्षा उससे और भी दूर पडता था। वैसे भी ऐतिहासिक दृष्टि से, अठारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और उन्नीसवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजस्थान के लिए अन्धकार युग है। जो लोग राजस्थानी मे लिखते भी थे, वे अब कालानुसार, उसके स्थान पर खडी बोली का माध्यम ग्रहण करने लगे।[1] मेवाड़ के आर्ज्या गॉव के निवासी और बालकृष्ण का पुत्र तथा गोवर्धनदास का पौत्र फतहराम वैरागी कृत 'पंचाख्यान', (१८४७) राजस्थानी गद्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ स्वीकारा जा सकता। यह सस्कृत 'पचतन्त्र' का अनुवाद है। इसका एक एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :

> **बारता ॥ एक गांव में रस मडवा लागो। जाजम बिछाई झालर बजाई। तर मईग्या ने तस जागी तर गांव का छोरा नै पूछे। अरे डावड़ा पांजी री जुगत बताओ। तब छोरा कीयो। ईकूड़ो आंवा का रुख हेटे‑छै। तब मरदग्यो कूड़े गीयो। आगे देख तो एक अस्त्री पांणी के कनारे रूठी बैठी छे। तब मरदंगे कैही हे बाई तू कूणे छै। तब कन्या कही हूं भतजन का बेटा की बहू छूं।**

खडी बोली गद्य का प्रारम्भ आधुनिक काल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहना है। इस सम्बन्ध मे जॉर्ज ग्रियर्सन का यह कहना कि :

> 'The first half of the 19th cedtury, commenching with the downfall of the Maratha power and edning with the Mutiny, forms another well marked epoch. It was the perlod of renascence after the literary dearth of the previos uceutury The printing press now for the first time found its practical introduction in to Northern India, and led by the spirit of Tulsidas, literature of a healthy kind rapidley spread over the land'

कुछ अशो मे ठीक स्वीकारा जा सकता है किन्तु उनकी यह धारणा कि खडी बोली गद्य का आविष्कार अंग्रेजी द्वारा हुआ और सर्वप्रथम गिलाक्राइस्ट की अध्यक्षता मे प्रेमसागर, के लेखक लल्लूलाल द्वारा साहित्यिक गद्य माध्यम के रूप मे

१—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . उन्नीसवी शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद पृ० ८०।

व्यवहृत हुआ तर्क सगत नही । इसी प्रकार आर० डब्ल्यू० फ्रेजर का यह मत कि :

'The modern Hındı language (Kharıbolı or Hıgh Hındı may be ragarded ın a manner as the creatıon of the two pandıts (Kallu jı Lal and Sadal Mısra).'

भी उचित नही है। प्रसिद्ध आलोचक एव इतिहासकार डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे तर्कों के साथ इसका खण्डन किया है। हिन्दी साहित्य मे ब्रजभाषा गद्य की परम्परा और राजस्थानी गद्य की परम्परा पहले से ही मिलती है। इसका सप्रमाण उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इन परम्पराओ के सूत्र इस काल से प्राप्त होते हैं, जब कि भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना नही हुई थी और न लल्लूलाल तथा सदलमिश्र के कार्य स्थान 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की ही स्थापना हुई थी। अमीर खुसरो, सन्त कवियो दक्खिनी हिन्दी के कवियो तथा अन्य साहित्यिक धारा के कवियो ने काव्य मे खडी बोली का स्फुट रूप मे निरन्तर प्रयोग किया, हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है, जिसे अस्वीकार नही जा सकता। जब फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई, तो लगभग उसी काल मे महन्त सीतलदास ने खडी बोली मे आद्योपात अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। खडी बोली गद्य के विकास मे इसाअल्ला खाँ का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी प्रसिद्ध कृति 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' है। जिसका रचनाकाल यद्यपि उन्होने नही दिया है, यह अनुमान किया जाता है कि इसकी रचना १८०० और १८०८ के मध्य हुई होगी।

कहानी इस प्रकार है सूरजभान एक राजा था और लक्ष्मीवास उसकी रानी उसके एक बेटा था जिसे सब लोग कुंवर उदयभान पुकारते थे। 'उसके जोबन की जोत मे सूरज की एक सोत आ मिली थी।' उसकी 'मह्रो भीनती' चली जा रही थी कि एक दिन अल्हडपन' के साथ 'देखता भालता चला जाता है।' इतने मे उसे एक हिरनी दिखाई दी और उसने सब छोड-छाड' इसके पीछे घोडा फेका दौडते-दौड़ते वह एक अमराई मे जा पहुचा जहाँ चालीस-पचास रंडियाँ एक-से-एक जोवन मे अगली झूला डाले झूल रही हैं और सावन गाती हैं। सबके साथ रानी केतकी के हृदय मे उसने घर कर लिया। उदयभान ने जब बिछौना किया, तब रात को केतकी ने अपनी सहेली मदनवान से अपने 'जोडे' से मिलाने के लिए प्रार्थना की। मदनबान केतकी के छिए वहाँ पहुची जहाँ उदयभान सो रहा था। वहाँ दोनो मे बातचीत हुई और यह पता चला कि केतकी राजा जगत प्रकाश की वेटी है और उसकी माँ रानी कामलता कहलाती है। उसी समय दोनो मे 'गठ जोड' हुआ। फिर 'अपनी अगूठियाँ हेर-फेर' की और 'लिखौती लिख दी। उदयभान ने एक धीमी सी चुटकी भी ले

ली।' पिछले पहर रानी अपनी सहेलियो के साथ जिधर से आई थी चली गई और उदयभान अपने घोडे पर सवार हो अपने घर पहुचा। परन्तु कुवर उदयभान बहुत खिन्न रहने लगा। उसे खाना, पीना, सोना आदि कुछ भी अच्छा न लगता था। होते-होते यह बात महाराज और महारानी तक भी पहुँची। उदयभान से जब उस विषय मे पूछा गया तो उसने लिखकर अपने माता-पिता को सब हाल बता दिया। महाराज ने भी कुवर को विश्वास दिलाया कि उदास मत हो। यदि रानी केतकी के मा-बाप राजी से मान गए, तो अच्छा है नही तो ढाल तलवार के जोर से हम तुम्हारी दुल्हन तुम्हे दिलवा देगे। राजा ने सन्देश भेजा। परन्तु उधर से प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ। बस, उदयभान के पिता ने जगत प्रकाश पर चढाई कर दी। जब दोनो महाराजो मे लडाई होनी लगी तो 'रानी केतकी सावन भादो के रूप रोने लगी। कुँवर ने चुपके से कहला भेजा कि इन दोनो को लडने दो, हम तुम मिलकर किसी और देश को निकल चले। 'रानी ने चिट्ठी को अपनी आखो लगाया।' और उस चिट्ठी का उत्तर मुँह की पीक' से लिखकर भेज दिया। उधर जगतप्रकाश ने अपने को अत्यन्त संकट मे देखकर अपने गुरु को, जो कलाश पर्वत पर रहता था, स्मरण किया और कहा कि हमारी कुछ सहायता कीजिए। गुरुजी ने उदयभान, सूरजभान और रानी लक्ष्मीवास को हिरण-हिरणी बनकर बन मे छोड दिया। राजा की विनती पर जोगी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने आशीर्वाद दिया कि 'दन दनाओ, सुख, चैन से रहो'! उसने राजा को एक बाघम्बर और भभूत दिया और कहा कि जब 'गाढ़ पडे तो इसमे से एक बाल फूँक देना और बात की बात-वात मे हम आ जाएँगे। रहा भभूत, तो यह ऐसा है कि यदि नेत्रो मे इसका अजन करो तो अदृश्य हो जाओ। उदयभान को न पाकर रानी केतकी अत्यन्त व्याकुल हुई। वह अपनी सखी मदनबान के सामने रोने लगी। परन्तु मदनबान ने उसकी सहायता न की। एक रात रानी केतकी ने आँख मिचौनी के बहाने अपनी माँ से भभूत ले ली और उसे लगाकर अदृश्य हो कुवर उदयभान की खोज मे चल पडी। राजा जगतप्रकाश अपनी कन्या को न देखकर व्याकुल हुआ। उसने जोगी महेन्द्रगिरि को बुलाया और सबको ढूँढ लाने के लिए प्राथना की। गुरु ने तीनो को फिर मनुष्य बना दिया और विवाह की तैयारियाँ होने लगी। समस्त भूमण्डल और स्वग आदि सजाए गए। अन्त में दोनो का विवाह हो गया। बस—

> 'जी लगा कर केवड़े मे केतकी का जी खिला।
> सच है दोनो के जियों को अब किसी की क्या पड़ी।'

'रानी केतकी की कहानी' लौकिक शृगार से ओतप्रोत कहानी है। इसमें तत्वों (chance Elewents) को महत्व देते हुए अनेक अलौकिक घटनाओ का समावेश किया गया है। सभी पात्र हिन्दू हैं और उसमे पर्याप्त सक्रियता है। इस

कहानी मे कथोपकथनो का यद्यपि पूर्णतया बहिष्कार नही किया गया है, पर चूकि कहानी वर्णनात्मक शैली मे लिखी गई है, इसलिए इसमे कथोपकथनो का कोई महत्व विशेष नही है डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार कहानी के तीनो आवश्यक तत्वो की दृष्टि से हम इस कहानी को माध्यम श्रेणी का स्थान दे, तो कोई अन्याय न होगा। नगरो के वर्णन के अत्युक्तपूर्ण हैं, वास्तव मे कहानी के चरित्र-चित्रण, उसके वातावरण और उसके वर्णनो के निर्माण मे लेखक की प्रवृत्ति तथा व्यक्तित्व का उत्तरदायित्व अधिक है। अपनी फुदक और चचलता को लेखक छोड नही सका, इससे कही कही अनभिलिषित बातो को समावेश हो गया है, कहानी मे गम्भीर तत्वो की खोज बाध्यानुत्रान्षणवत् है। जहाँ तक मेरी धारणा है, इशा अल्लाह खॉ की प्रस्तुत कहानी यद्यपि उन अर्थो मे कहानी' नही है, जिन अर्थों मे हम आज परिचत है, पर हिन्दी कहानी की परम्परा के निर्माण मे उसका निश्चित रूप से महत्वपूर्ण स्थान है, निर्विवाद है। उसने एक नई दिशा ही नही दी, विराट सम्भावनाओ का भी निर्माण किया तथा आगत के लिए एक उल्लेखनीय पृष्ठभूमि तैयार की, इसे अस्वीकारा नही जा सकता।

इस कहानी की भाषा के सम्बन्ध मे कुछ भी कहने के पूर्व स्वय इशा अल्लाह खाँ द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण को जान लेना आवश्यक है। उन्होने लिखा है—

'एक दिन बैठे २ यह बात अपने ध्यान मे चढी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिससे हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गवारी कुछ उसके बीच मे न हो। अपने मिलने वालो मे से एक कोई पढे-लिखे। पुराने-धुराने। डाग। बूढे धाग यह खट-राग लाए। सिर हिलाकर मुह थुथाकर, नाक भौंह चढाकर। आँखे फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नही देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इससे स्पष्ट है कि उनकी खडी बोली पर ब्रजभाषा का प्रभाव था, जिससे वे बच नही पाए थे। उनके वाक्य-विन्यास मे विदेशीपन भी आ गया है, जैसे सिर झुका कर नॉक रगडता हू अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया, 'इस सिर झुकाने से साथ ही दिन रात लपता हू उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को', रानी केतकी का चाहत से बेकल होना और मदनबान का साथ देने से नाही करना और लेना उसी भभूत का, जो गुरू जी दे गए थे। आख मुचौवल के बहाने अपनी मां रानी कामलता से ···' आदि। इशा का उद्देश्य 'गवारी' और 'भाखापन' दूर करना का कहा तक पूर्ण हुआ, यह स्पष्ट ही है। उन्हे कुछ अशो तक तत्कालीन परिस्थितियो को देखते हुए तो सफलता अवश्य ही प्राप्त हुई। इशा की भाषा मे कुछ विशेषताएँ हैं। आधुनिक हिन्दी और-उर्दू मे कृतत क्रियाओ और विशेषणो का प्रयोग बहुतायत से प्राप्त होता है। परन्तु उनमे वचन का प्रयोग नही होता। पुरानी उर्दू मे यह बात प्राप्त

होती थी। उसमे कृदंतो एव विशेषणो मे वचन सूचक चिन्ह लगते थे। इशा के गद्य मे ऐसे प्रयोग स्थान २ पर प्राप्त होते हैं, जैसे 'आतियाँ जातिया जो स्वासे हैं, उसके ध्यान बिन यह सब फाँसें हैं। 'निवाकी, फूलनी, बजरी, लचकी, मोरपङ्खी, स्यामसुन्दर राम सुंदर और जितनी ढब की नावे थी, सुनहरी, रूपहरी किसी २ मे सौ-सौ लचकें खातियाँ, आतियाँ, ठहरातियाँ, फिरातियाँ थी। उन सभी पर खचाखच कुजनियाँ समजनियाँ, डोमनिया भरी हुई अपने-अपने करतबो पर नाचती, गाती, बजाती, कूदती, फादती घूमे मचातियाँ, अगड़तिया, जम्हातियाँ, उगलिया चातियाँ और ढुलीं पड़तियाँ थी, 'घरवालिया जो किसी गैल से बहलातियाँ हैं आदि। इशा को अपनी बात सीधे-सीधे न कहकर घुमा-फिराकर और उपमा तथा रूपको का प्रयोग कर कहने की आदत थी, जैसे 'मैंने उनकी ठडी साँस का टहोका खाकर झुंझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नही जो राई को परबत कर दिखाऊं और झूठ सच बोलकर उगलियां नचाऊ और बे सिर बे टिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊ। जो मुझसे [न हो सकता तो यह बात मुह से क्यो निकालता' या 'दाहना हाथ मुह पर फेरकर आपको जताता हू, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाद, लपट-झपटदिखाऊं जो देखते ही आपके ध्यान का घोडा जो बिजली से भी बहुत चचल अचपलाहट मे है, अपनी चौकडी भूल जाय।' या 'चप्पाचप्पा कही ऐसा न रहे जहा भीड भडक्का घूम धडक्का न हो जाय, डोमनियो के रूप मे सारगियो छेड़-छेड सोहेली गाओ। दोनो हाथ हिला के उगलियाँ नचाओ। जो किसी ने न सुनी हो, वह ताव-भाव वह चाव दिखाओ ठुड्डियाँ गुनगुनाओ, नाक भवे तान२ भाव बताओ; कोई छूटकर रह न जाओ, 'उन सभी पर खचाखच कुजनियाँ, रामजनिया, डोमनिया भरी हुई अपने-अपने करतबो मे नाचती गाती, कूदती फादती घूमे मचातिया अंगड़तियाँ, जम्हातिया, उगलिय नचातियाँ ढुली पड़तिया थी, 'हमे ऐसी क्या पड़ी जो इस घड़ी ऐसी झेलकर रेल पेल ऐसी उठें और तेल फुलेल भरी हुई उनके झाकने को जा खड़ी हो।' या 'हाय रे उनके उभार के दिनो का सुहानापन, चाल ढाल का अच्छन बच्छन उठती हुई कोयल की कली पहने; जैसे पड़े तडके धुधले के हरे भरे पहाडो की गोद से सूरज की किरनें निकल आती हैं आदि। उन्होने अपनी भाषा मे कुछ मुहावरो का भी प्रयोग किया। जैसे, 'छाती के के किवाड़ खुलना', 'जैसा मुह वैसा थप्पड,' 'कुछ दाल मे काला है', 'भरभर झोली सिर निढुराना, । 'सिर मुड़ाते ही ओले पड़े' आदि मुहावरो के अत्यन्त सुन्दर प्रयोग प्राप्त होते हैं।

खड़ी बोली गद्य की दिशा मे राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का भी उल्लेख-

१—विस्तृत विवरण के लिये देखिए : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक साहित्य, (१६४६), इलाहाबाद।

नीय योगदान है। राजा साहब ने अपने भाषा सम्बन्धी सिद्धातो का उल्लेख १८६८ मे रचित 'भाषा का इतिहास' मे किया है। राजा साहब जिस 'आम-फहम' की भाषा को प्रचलित करना चाहते थे। उस सम्बन्ध मे हैनरी पिकौट (१८२६-१८६६) ने एक जनवरी १८८४ की एक पत्र मे भारतेन्दु हरिश्चद्र को ठीक ही लिखा था, '... राज शिवप्रसाद बडा चतुर है। बीस बरस हुए उसने सोचा कि अगरेजी साहबो को कैसी २ बातें अच्छी लगती हैं इन बातो का प्रचलित करना चतुर लोगो का परम धर्म है। इसलिए बडे चाव से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोडकर उर्दू के प्रचलित करने मे बहुत उद्योग किया। ... राजा शिवप्रसाद को अपना ही हित सबसे भारी बात है।' राजा साहब की यह धारणा धारण उस काल मे सर्व सम्मत न हो सकी। प्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) ने 'चद्रकाता सतति' की रचना करते समय लिखा था, 'जिस समय मैंने चद्रकाता लिखनी आरम्भ की थी उस समय से इस समय मे बडा अन्तर है। हिंदी के साहित्य मे उस समय कविवर प्रतापनारायण मिश्र, पण्डितवर अम्बिकादत्त व्यास जैसे धुरन्धर किन्तु अनुद्धत सुकवि और सुलेखक विद्यमान थे। राजा लक्ष्मणसिंह जैसे सुप्रतिष्ठित पुरुष हिन्दी की सेवा करने मे अपना गौरव समझते थे परन्तु अब न वैसे धार्मिक कवि है और न वैसे सुलेखक। उस समय हिन्दी के लेखक थे परन्तु ग्राहक न थे, इस समय ग्राहक हैं पर वैसे लेखक नही है। मेरे इस कथन का यह मतलब नही है कि वर्तमान समय के साहित्य सेवी प्रतिष्ठा के योग्य नही हैं, बल्कि यह मतलब है कि जो स्वर्गीय सज्जन अपनी लेखनी से हिन्दी के आदि युग मे हमे ज्ञान दे गये है वे हमारी अपेक्षा बहुत चढ बढकर थे। उनकी लेख प्रणाली मे चाहे भेद रहा हो परन्तु उन सबका लक्ष्य यह था कि इस भारत भूमि मे किसी तरह मातृभाषा का एकाधिपत्य हो, लेकिन यह कोई नियम की बात नही है कि वसे लोगो से कुछ भूले हो वैसे ही नही, उनसे भूल हुई तो यही कि प्रचलित शब्दो पर उन्होंने अधिक ध्यान नही दिया, राजा शिवप्रसाद जी के राजनीति के विचार चाहे कैसे ही रहे हो पर सामाजिक विचार उनके बहुत ही प्राजल थे और वे समयानुकूल काम करना जानते थे, विशेषतया जैसे ढग की हिंदी के लिख गये है उसी से वर्तमान समय मे हिन्दी का रास्ता कुछ साथ हुआ है। चाहे कोई हिन्द हो चाहे जैन या बौध हो और आर्यसमाजी या धर्म समाजी ही क्यो न हो परन्तु जिन सज्जनो के मानवीय अवतारो और पूर्वजनो ने इस पुण्यभूमि का अपने आविर्भाव से गौरव बढाया है उसमे ऐसा अभागा कौन होगा जो पुण्यता और मधुरता मुक्त संस्कृत भाषा के शब्दो का प्रचार चाहेगा। मेरे, विचार मे किसी विवेकी भारत सन्तान के विषय मे केवल यह देखकर कि वह विदेशी भाषा के शब्दों का प्रचार कर रहा है यह गढन्त कर लेना कि वह देव वाणी के पवित्र शब्दो का विरोधी है भ्रम ही नही किन्तु अन्याय भी है। देखना यह चाहिए कि ऐसा करने से उनका मतलब क्या है। भारतवर्ष मे आठ सौ वर्ष तक विदेशी यवनो का राज्य

रहा है इसलिए फारसी और अर्बी के शब्द हिन्दू समाज मे न 'पठेत यावनी भाषा' की दीवार लाघकर उसी प्रकार घुसे जिस प्रकार हिमालय के उन्नत मस्तक लाघकर वे स्वय आ गये। यहाँ तक कि महात्मा तुलसीदास जी जैसे भगवद्भक्त कवियो को भी 'गरीब निवाज' आदि शब्दों का बर्ताव दिल खोल के करना पडा। आठ वर्ष के कुस-स्कार को जो गिनती के दिनो मे दूर करना चाहते हैं उनके उत्साह और साहस की प्रशसा करने पर भी हम यह कहने के लिये मजबूर हैं कि वे अपने बहुमूल्य समय का सदुपयोग नही करते बल्कि जो कुछ वे कर सकते थे उससे भी दूर रहते हैं। यदि ईश्वरचंद्र विद्यासागर सीधे साधे शब्दो से बगला मे काम न लेते तो उत्तर काल के लेखको को सस्कृत शब्द के बहुत प्रचार का अवसर न मिलता और यदि "राजा शिव-प्रसादी हिन्दी" प्रगट न होती तो सरकारी पाठशालाओ मे हिन्दी के चद्रमा की चाँदनी मुश्किल से पहुचती। मेरे बहुत से मित्र हिन्दुओ की अकृतज्ञता यो वर्णन करते हैं कि उन्होने हरिश्चद्र जी जैसे देश हितैषी पुरुष की उत्तम उत्तम पुस्तके नही खरीदी, पर मैं कहता हू कि यदि बाबू हरिश्चद्र अपनी भाषा को थोडा सरल करते तो अपने भाइयो को अपने समाज पर कलक लगाने की आवश्यकता न पड़ती और स्वाभाविक शब्दो के मेल से हिन्दी की पैसिजर भी मेल बन जाती। प्रवाह के विरुद्ध मे चलकर यदि कोई कृतकार्य हो तो नि सदेह उसकी बहादुरी है परन्तु बडे २ दार्शनिक पण्डितो ने इसको असम्भव ठहराया है। सार कुछ निधि और कवि वचन सुधा की भाषा यद्यपि भावुक जनो के लिए आदर की वस्तु थी परन्तु समय के उपयोगी न थी। हमारे 'सुदर्शन' की लेख प्रणाली को हिन्दू के धुरन्धर लेखको और विद्वानो ने प्रशसा के योग्य ठहराया है परन्तु साधारणजन उससे कितना लाभ उठा सकते हैं। यह सोचने की बात है। यदि महाकवि भवभूति के समान किसी भविष्य पुरुष की आशा हो पर ग्रन्थकारो और लेखको को यत्न करना चाहिए तब तो मै सुदर्शन सम्पादक पण्डित माधवप्रसाद मिश्र को भी भविष्य की आशा पर बधाई देता हू और यदि ग्रन्थकारो का भविष्य कीपपेक्षा वर्तमान से अधिक सम्बन्ध है तो नि सदेह इस विषय मे मुझे आपत्ति है। किसी दार्श-निक गन्ध या पत्र की भाषा के लिए यदि किसी बडे कोष को टटोलना पडे तो कुछ पर वाह नही परन्तु साधारण विषयो की भाषा के लिए भी कोष की खोज करनी पडे तो नि सदेह खेद की बात है। हमारी हिन्दी किसी श्रेणी की हिन्दी है। इसका निर्धारण मैं नही करता परन्तु मैं यह नही मानता हू कि इसके लिए कोष की तलाश करनी नही पडती। चद्रकाता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिये लिखी गई थी पर पीछे लोगो का अनुराग देखकर मेरा भी अनुराग हो गया और मैंने अपने उन विचारो को जिनको मैं अभी तक प्रकाश नही कर सका फैलाने के लिए इसी पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा मे उन्ही मामूली बातो को लिखा जिससे मैं उस मनोहर मण्डली का प्रिय पात्र

बन जाऊ जिनके हाथ मे भारत का भविष्य सौपकर हमे इस असार संसार से विदा होना है। मुझे इस बात का बडा हर्ष है कि मे इस विषय मे सफल काम हुआ और मुझे गाहको की अच्छी श्रेणी मिल गई। यह बात बहुत से सज्जनो पर प्रगट है कि चद्रकाता पढने के लिए बहुत से पुरुष नागरी की वर्णमाला सीखते है। जिनको कभी हिदी सीखना न था उन लोगो ने भी इसके लिए हिन्दी सीखी है। हिन्दी के हितैषियो मे दो प्रकार के सज्जन हैं। एक तो वे जिनका विचार यह है कि चाहे अक्षर फारसी क्यो न हो पर भाषा विशुद्ध संस्कृत मिश्रित होनी चाहिए और दूसरे वे जो यह चाहते हैं कि विशुद्ध सस्कृत मिश्रित होनी चाहिए और दूसरे वे जो यह चाहते हैं कि चाहे भाषा मे फारसी के शब्द मिले ही हो पर अक्षर नागरी होना चाहिये। पहिले पक्ष मे पंजाब के आर्य समाजियो और धर्म सभा वालो को मान लेता हू। जिनमे वर्णमाला के सिवाय फारसी अरबी को कुछ सहारा नही है। सब कुछ सस्कृत का है और दूसरे पक्ष मे मैं अपने को ठहरा लेता हू जो इसके ठीक विपरीत हैं। मै इस बात को भी स्वीकार करता हू किजिस प्रकार फारसी अपना ही हित सबसे भारी बात है।' राजा साहब की के उपयुक्त शब्द उसका जीवन है ठीक उसी प्रकार नागरी वर्णमाला हिन्दी का शरीर और सस्कृत के उपयुक्त शब्दउसके प्राण कहे जा सकते है। यदि यह देश यवनो के अधिन हुआ होता। यदि कायस्थादि हिन्दू जातियो को उर्दू भाषा का प्रेम अस्थि मज्जागत न हो गया होता तो हिन्दी का शरीर और जीवन पृथक पृथक् दिखलाई न देता। उसी प्रकार हमारे ग्रथो की सजीव उत्पत्ति होती जिस प्रकार द्विज बालको की होती है। शरीर मे यदि आत्मा न हो तो वह बेकार है और यदि आत्मा को मनुष्यादि उपयुक्त शरीर न मिलकर पशु पक्षी आदि का मिल जाय तो वह भी निष्फल ही है। इसलिए पहले शरीर बना रहे फिर उसमे आत्म देह की स्थापना करना ही न्याश युक्त और फलप्रद है! "चन्द्रकान्ता और सत्तति" मे यद्यपि इस बात का पता नही लगेगा कि कब और कहा भाषा का परिवर्तन हो गया परन्तु उसके आरम्भ और अन्त ठीक वैसा ही परिवर्तन पावेंगे जैसा बालक और वृद्ध मे। एकदम से बहुत से शब्दो का प्रचार करते तो कभी सम्भव न था कि उतने सस्कृत के शब्द हम उन कुपढ ग्रामीण लोगो को याद करा देते जिनके निकट काला अक्षर भैंस के या हमारे इस कर्तव्य का आश्चर्य मय फल देखकर वे लोग भी बोधगम्य उर्दू के शब्दो को अपनी विशुद्ध हिन्दी मे लाने लाने लगे हैं जो आरम्भ मे इसीलिए हम पर कटाक्षपात करते थे। इस प्रकार प्राकृतिक प्रभाव के साथ साहित्य सेवियो की सरस्वती का प्रभाव बदलता देखकर समय के बदलने का अनुमान करना कुछ अनुचित नही है। जो हो भाषा के विषय मे हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों मे हो क्योकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिचाव उन्ही मूल भाषाओ की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार भाषा सम्बन्धी संशोधन-परिशोधन से हिन्दी गद्य का रूप सवरता निखरता गया, जिसमे राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६—१८९७), राजा शिवप्रसाद (१८२३—१८९५), स्वामी दयानन्द (१८२४—१८८३), और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०—१८८५) के अतिरिक्त ला० श्रीनिवासदास (१८५१—१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४४—१९१४), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६—१८९४), राधाकृष्ण दास (१८६५—१९००), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५—१९२३) बाल मुकुन्दगुप्त (१८६५—१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५—१९३२) तथा अन्य अनेक गद्यकारो का महत्वपूर्ण योगदान रहा[1] गद्य के विकास से हिन्दी कहानी का प्रारम्भ और विकास वैसे हुआ, इसका आगे यथास्थान वर्णन किया जायगा।

प्राचीन कथा साहित्य

वास्तव मे हिन्दी कहानी साहित्य वस्तुतः आधुनिक काल की देन है और उसका सम्बन्ध पीछे ले जाना असगत ही नही हास्यास्पद भी है। लेकिन पूरी परम्परा का परिचय देकर यह स्पष्ट करने के सूत्र कहाँ से मिलते हैं। प्राचीन कथाओ के स्वरूप वैदिक, सस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि युगो के साहित्य मे उपलब्ध होते हैं। कुछ विद्वानो ने कथा साहित्य का आविर्भाव वैदिक सस्कृत से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर ऋग्वेद मे कथाओ के बीज मात्र प्राप्त होते हैं, कथाएँ नही। उपनिषदो मे सुख-शान्तिदायिनी सूक्तियो के मध्य कथाओ का स्वरूप प्राप्त होता है, किन्तु उन्हे वास्तव मे कथाएँ स्वीकारना उचित नही क्योकि वे सही अर्थों मे कथाएँ नही हैं वरन् उपनिषदो के विभिन्न भावो का स्पष्टीकरण करने वाले उदाहरणो के रूप मे हैं। अत उनकी अलग कोई सत्ता नही स्वीकारी जा सकती। इन उदाहरणो के स्वरूप इस प्रकार हैं:

१ छान्दोग्य उपनिषद् मे · उषस्ति की कठिनाई, महात्मा रैक्व की कथा, तथा सत्य काम की गो सेवा आदि।

२ छान्दोग्य मे—श्वेतकेतु और उद्दालक की कथा।

३ प्रश्नोपनिषद मे—कबन्धी, वैदर्भि, गार्ग्य, सुकेशा, कौशल्य, सत्यकाम आदि की कथाएँ।

४ केनोपनिषद में—देवताओ की शक्ति-परिक्षा की कथा।

५ वृहदारण्यक मे—गार्गी और याज्ञवल्क की कथा।

६ मुण्डकोपनिषद मे—महाशल्य शौनक और अगिरा की कथा।

७ कठोपनिषद मे—नचिकेता के साहस की कथा।

---

१ विस्तृत विवरण के देखिए: डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय · उन्नीसवी शताब्दी, (१९६३), इलाहाबाद।

८ तैत्तिरीय मे—अश्विनीकुमार और उनके गुरु दध्यग को कथा।

इन धार्मिक कथाओ का स्वरूप हमारे आत्मिक जीवन से अधिक है, कथात्मक तत्वो से कम। यज्ञ, अध्यात्मवाद, पूर्वजन्म, मृत्योपरान्त जीवन, मोक्ष तथा आनन्दापि इन कथाओ के विषय हैं। जिन्हे वर्णनात्मक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। सहिता, ब्राह्मण-ग्रंथ और उपनिषदो को उस काल मे अपार लोकप्रियता प्राप्त हुई और ज्ञानी-जनो को कथाओ के महासग्रह प्रस्तुत करने पडे। 'लेकिन उस समय तक आते-आते धर्म, लोक-भावना और साहित्यिक रुचि तीनो एक दूसरे से तादात्म्य स्थापित करने लगी थी। अतएव उस काल के साहित्यिक मनीषियो को एक महान् और व्यापक कथा ढूँढनी पडी, लेकिन तब तक की सामग्री के अन्तस्तल मे ढूँढने से उन्हे जो राम-कृष्ण की कथा मिली होगी, वह बहुत छोटी रही होगी। अत. बाल्मीकि और वेद व्यास को कुछ मूल कथा और बहुत कुछ कल्पना के सयोग से एक आख्यान बनाना पड़ा होगा, जो अपने रूप मे समस्त पूर्ववर्ती कथाओ से महान् और व्यापक सिद्ध हुआ होगा और ऐसे ही आख्यान के मेरुदण्ड पर उन मनीषियो ने क्रमश. रामायण और महाभारत आख्यानक काव्यो की सृष्टि की होगी तथा इनमे अन्यान्य कथाओ की सुन्दर लडी गूथ कर उन काव्यो को महाकाव्य बनाया पडा होगा। वस्तुत भारतीय इतिहास मे यह कलासृष्टि उन आदि कलाकारो की प्रथम अपूर्व सृष्टि सिद्ध हुई होगी। लेकिन इन आख्यानक काव्यो के पूर्व ही उपनिषदो की कथाओ की मूल आत्मा जिज्ञासा और प्रश्नोत्तर की भावना पर आधारित थी। फलत· इन आदि महाकाव्यो मे भी जिज्ञासा और धार्मिक पिपासा की शान्ति के लिये मनीषियो ने कितने प्रश्नोत्तरो को प्रस्तुत किया होगा। बाल्मीकि रामायण मे सरयू नदी की उत्पत्ति की कथा इसका उदाहरण है। रामायण और महाभारत की रचना बौद्ध जातक की कथाओ के बहुत पूर्व हुई थी। विद्वानो ने रामायण को ५०० ई० पू० की रचना माना है। अर्थात बुद्ध के जन्म के पूर्व ही। यद्यपि आज रामायण का जो स्वरूप प्राप्त होता है वह बुद्ध के जन्म के पश्चात् उसे प्राप्त हुआ था।

धीरे-धीरे पौराणिक कथाओं का विकास होता गया और दन्तकथाओ का भी प्रारम्भ हुआ इनमे पशु-पक्षी, देव-दानव, नदी, पहाड, सरोवर, पेड-पौधे आदि प्राय भी प्रस्तुत किए गए हैं। बौद्ध जातक कथाएँ उसी शैली मे है। इनकी रचना परवर्ती सस्कृत कथाओ के पूर्व हुई थी। जातक शब्द का अर्थ है जन्म सम्बन्धी। बोधि का अर्थ है—बुद्धत्व और 'सत्त्व' का अर्थ प्राणी है। अर्थात् बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी। जातक कथाओ मे बोद्धि सत्व के पाँच सौ सैतालीस' जन्मो का उल्लेख हैं। ये कथाएँ चार भागों मे विभाजित की जा सकती थी—

१. पचुपन्नवत्थु कथा
२. अतीतवत्थु

३ अत्थ वणाना

४ समोधान।

पंचपन्नवत्थु कथा का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"वह कटुभाषी भिक्षु (किसी का) उपदेश न ग्रहण करता था। बुद्ध ने उससे पूछा भिक्षु! क्या तू सचमुच कटुभाषी है, किसी का उपदेश ग्रहण नही करता ?"

"भगवान ! यह बात सच है।"

बुद्ध ने कहा—"पहले भी तूने कटुभाषिता के कारण पडितो का उपदेश नही ग्रहण किया" कह अतीत की कथा सुनाई।"

अतीतवत्थु अर्थात् अतीत कथा का एक उदाहरण इस प्रकार है, पूर्व समय मे, बाराणसी मे ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय, बोद्धिसत्व मृग की योनि मे पैदा हो, मृगगण के साथ जगल मे रहते थे। (एक दिन) उनकी बहन ने उन्हें हरिणपुत्र दिखा कर कहा, "भाई! यह तुम्हारा भाजा है। इसे मृग माया सिखाओ।" यह कह (उसे मृग-पुत्र) सौंपा। उसने भाँजे को कहा-अमुक समय पर आकर सीखना। वह कहे हुए समय पर न आया। जैसे एक दिन उसी प्रकार सात दिनो तक, सात उपदेशो का उल्लघन का, वह मृगमाया को बिना सीखे ही चरता हुआ पाश मे बंध—गया। माता ने भाई से आकर पूछा, "क्यो भाई! तूने भाजे को मृगमाया सिखा दी ? बोधिसत्व ने, (उस बात) न मानने वाले का सोच मत कर। तेरे पुत्र ने मृगमाया नही सीखी। कहकर अब भी उसे सिखाने का अनिच्छुक ही हो गया कही।

अटठ खुरं खरादिये मिग वकातिवडिकन।

सत्तहि कलाहित वकंत न तं ओवदितुस्सहे।"

अत्य वणाना अर्थात् गाथा की व्याख्या का उदाहरण इस प्रकार। "अटठ खुरं, एक पख मे दो-दो खुर खरीदिये। इस नाम से सबोधन करता है। मिग सब (मृगो) के लिये एक शब्द है। वकातिबाकिन-आरम्भ मे टेढे इस प्रकार वंकातिवक जिसके ऐसे सीग हो, वह वकातिवक, (उस त) वकातिवकी को। सत्तहि'कलाहित वकत का अर्थ है, उपदेश के सात समयो पर उपदेश का उल्लघन करने वाला। न तं आवेदिनुस्सहे का अर्थ है। इस प्रकार के कटुभाषी मृग को उपदेश देने की मेरी प्रवृत्ति नही होती। ऐसे को उपदेश देने का मुझे विचार तक नही होता। यही स्पष्ट किया है।"

समोधन का एक उदाहरण इस प्रकार हैं। "सौ शिकारी, उस पाश में बधे हुए कटुभाषी मृग को मानकर माँस लेकर चला गया।

बुद्ध ने भी, भिक्षु! तू केवल अब भी कटुभाषी नही है।'पहले भी कटुभाषी ही रहा है।'—यह धर्म - देशना लाकर, मेल मिला जातक का सारांश निकाल दिखाया।

उस समय का भाँजा मृग (अनका) कटुभाषी भिक्षु था। बहन (अबकी) उप्पल वर्णी (भिक्षुणी) थी लेकिन उपदेश देने वाला मृग तो मे ही था।"

इन जातक कथाओ की तीन प्रमुख विशेषताएँ है। एक तो इनका उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार एव प्रसार था। दूसरे पौराणिक कथाओ की तुलना मे इन जातक कथाओ मे अधिक कुशलता एवँ कलात्मक प्रौढता परिलक्षित होती है। तीसरे इनमे प्रवाह है और सुश्रृखलित कथाओ का तारतम्य पूर्णरूपेण सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। इन जातक कथाओ में राजा सेठ ,साहूकार दरिद्र, चोर--चाण्डाल, नदी, पर्वत, ताल तलैया तथा अन्य पशु-पक्षियो का वर्णन कर उन्हे व्यापक ग्राम प्रदान किए गए हैं, तथा उनमे अधिक मानवीय गुणो का समावेश हो गया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इनमे कलात्मक कौशल दृष्टिगोचर होना है इनमे कल्पना और ऐतिहासिक तत्वो का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। अतीत जातक कथाओ का प्रारम्भ "पूर्व काल मे वाराणसी मे राजा ब्रह्मदत्त राज्य करते थे" से होता है, जिसमे से ही आगे चलकर इस शैली का कि "एक दफा का जिक्र है" (Once upon a tıme) उर्दू-अग्रेजी की प्राचीन कथाओ की शैली निर्मित होने का अनुमान किया जाता है।

संस्कृत के परवर्ती कथा साहित्य मे 'वृहत्कथा' का उल्लेखनीय स्थान है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आन्ध्र शासको के काल मे गुणास्त्र नामक किसी ब्राह्मण ने पैशाची भाषा मे ईसा की प्रथम शताब्दी मे इस ग्र थ की रचना की होगी। आधुनिक काल मे यह ग्रंथ अनुपलब्व है, किन्तु इसे कल्पित इसी आधार पर नही सिद्ध किया जा सकता। वाण कृत 'हर्ष चरित' दण्डी के 'काव्यादर्श, क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा' मजरी' और सोमदेव कृत 'कथा सरित्सागर' मे इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे इस ग्रंथ की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। 'वृहत्कथा श्लोक' 'कथा सरित्सागर', 'वैताल पंचविंशातिका' "शुकसप्तति, 'सिहासन द्वार्यिशिका,' 'पचतन्त्र' और 'हितोपदेश' परवर्ती कथा साहित्य के प्रमुख कथा-ग्र थ हैं। "वृहत् कथा श्लोक' बुद्ध स्वामी द्वारा रचित ग्रंथ है। 'पचतत्र' और 'वैताल पचविंशतिका' की अनेक कथाओ से इसकी कुछ कथाओ का बहुत साम्य है, जिससे अनुमान लगाया जाता है कि दोनो कथाओ का स्रोत एक ही दत्त कथा रही होगी। इस ग्र थ का काल आठवी-नवी शताब्दी के निकट स्वीकारा जा सकता है। कथा सरित्सागर' प्रसिद्ध रचना है। इसका काल ग्यारहवी शताब्दी स्वीकारा जाता है। इसमे अनगिनत कथाएँ एकत्रित की गई हैं, जो विभन्न 'लबको मे विभिक्त होकर प्रस्तुत हुई हैं, जैसे, कथापीठ, कथामुख, लावणक; नर वाहन दत्तात्पत्ति, चतुर्दारिका; मदनमचुका, रत्नप्रभा, सूर्याप्रभा, अलंकारवती, शक्तिपशा; वेला; शशाँकवती, मदिरावती, पच, महाभिषेक; सुरतमजरी, पद्मावती, तथा विशमशील लवक। हिमालय के कैलाश शिखर पर शिवजी पार्वती के साथ निवास करते हैं। एक बार शिवजी अत्यन्त प्रफुल्लित भाव से पार्वती जी से बोले,

प्रिये क्या चाहती हो?' पार्वती जी बोली, 'स्वामिन् कोई नयी कथा सुनाइए।' शकरजी ने अपने और पार्वती जी के विवाह के प्रसग का वर्णन किया किन्तु पार्वती जी सतुष्ट न हुई, तब शकर जी ने इससे अधिक रोचक कथा सुनाने का पार्वतीजी को आश्वासन दिया। पार्वतीजी ने द्वार पर वदी को यह निर्देश देकर बैठा दिया कि वह अन्दर किसी को प्रवेश न दे और वही रोक दे। शिवजी ने विद्याधरो की कथा सुनानी प्रारम्भ की, तभी उनका गण 'पुष्पदंत' आया और द्वार पर वदी के रोके जाने पर भी न रुका और अपने योगबल के माध्यम से अन्दर प्रवेश गया। शिवजी ने सा विद्याधरो की जो कथा पार्वती जी को सुनाई, उसे पुष्पदत ने सुन लिया और घर आकर अपनी स्त्री जया को भी ज्यो-की-त्यो सुना दी। जया ने पार्वती जी से भी सारी कथाओ को सुना दिया, जिससे वे अत्यन्त क्रोधित हुई और शिवजी से असतोष भाव से बोली; 'आपने मुझे सारी पुरानी कथाएँ सुनाई, उन्हे जया पहले ही जानती थी। शिवजी ने जब पार्वती जी से सारा रहस्य बताया, तो अत्यन्त क्रोध मे आकर उन्होने पुष्पदत को शाप दिया, 'नीच ! जतू मनुष्य रूप मे जन्म ले।' यह कठोर शाप सुनकर माल्यवान गण ने पुष्पदत का पक्ष लेने का प्रयत्न किया, जिससे क्रोधित होकर पार्वती जी ने उसे भी कठोर शाप दे दिया। इसके पश्चात् वे दोनो जया सहित पार्वती जी के चरणो पर गिर पडे, जिससे उनका क्रोध कुछ शात हुआ और बोली, सुनो कुबेर जी के शाप से सुप्रतीक नामक एक यक्ष पिशाच हो गया है और विध्या-के जगलो मे रहता है, उसका नाम काणभूति है। जब पुष्पदत उसे देखेगा, तो उसे अपने इस जन्म की कथा का स्मरण हो आएगा और काणभूति को अपनी सारी कथा को सुनाएगा, जिससे काणभूति शाम मुक्ति हो जाएगा और जब माल्यवान सुनाने से वह शाप-मुक्त हो सकेगा। इसके पश्चात् काणभूति यही कथा माल्यवान सारे लोक मे इस कथा को प्रकाशित करेगा, तो वह शाप से मुक्ति पा सकेगा।' कुछ दिनो शापित व्यक्ति कहाँ होगे।' इस पर शकरजी बोले कि पुष्पदत कौशाम्बी महा-नगरी मे वररुचि के नाम से जन्मा है और माल्यवान सुप्रतिष्ठ नामक नगर मे गुणाढ्य नाम से प्रसिद्ध है। मृत्युलोक मे पुष्पदंत मनुष्य रूप मे वररुचि अथवा कात्यायन नाम से प्रसिद्ध हुआ। विंध्याचल मे काणभूति नामक पिशाच से उसकी भेंट होती है, और शापानुसार कात्यायन को अपने पूर्वजन्म की बाते स्पष्ट हो जाती हैं, और यह कह उठा—मैं पुष्पदत हू, मैं तुझे महाकथा सुनाऊँगा, यह कहकर कात्यायन+काणभूति को सात लाख श्लोको वाली कथा सुनाई।

'कथा सरित्सागर' की कथाएँ पुराण-कथाओ के समान ही हैं। जहाँ तक शिल्प का सम्बन्ध है, इन कथाओ का सम्बन्ध वक्ता-श्रोता के रूप मे शकर-पार्वती से ही सम्बन्धित है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से समस्त कथाएँ वररुचि द्वारा कही गई हैं, जिन्हे विंध्याचल के वन मे काणभूति ने सुनी है, जैसाकि ऊपर कहा गया है। इस कथा का परिवेश अत्यन्त व्यापक है और तत्कालीन, भारत की सास्कृतिक सामा-

जिक, धार्मिक एवं पौराणिक परिस्थितियाँ अत्यन्त कलात्मकता से इसमे सजीव हो उठी हैं।

'वैताल पचविंशतिका' मे पच्चीस कथाएँ सग्रहीत हैं। इन कथाओ को कहने वाला शव मे बसा हुआ एक वैताल है तथा श्रोता राजा विक्रमादित्य हैं, जिन्हे अपने हठ से वह वैताल बहुत परेशान करता था। अन्त मे वह वैताल एक ऐसा रहस्य उद्घाटित करता है, जिससे राजा विक्रमादित्य का बहुत भला होता है। एक ठग ने राजा विक्रमादित्य को ठगने की धारणा से उन्हे निर्देशित किया कि यदि वे वृक्ष से लटकती हुई लाश को उसके पास लाएँ, तो वह राजा का बहुत कल्याण करेगा। उसके भुलावे मे आकर राजा उस लाश को उतार कर चले, तो उस लाश मे बसे हुए वैताल ने उनसे इस बात का प्रण ले लिया कि वे पूरे रास्ते कुछ नही कहेगे और यदि उन्होने अपना मौन तोडा तो, वह पुन उसी पेड पर जा लटकेगा। विवश होकर राजा विक्रमादित्य ने यह बात स्वीकार ली। यह करने के पश्चात् उस वैताल ने राजा को एक कथा तथा उससे सम्बन्धित एक समस्या राजा के सामने उपस्थित कर उसका समाधान पूछा। राजा ने भूल से उसका उत्तर दे दिया, राजा का प्रण टूटा और वह वैताल पुन जाकर उस पेड की से लटक गया। राजा फिर उसे ले आए। उसने फिर कथा समस्त सुनाकर उससे सम्बन्धित एक डाल राजा के सामने उपस्थित कर दी, राजा ने फिर भूल से उसका उत्तर दे दिया, जिससे फिर उसका प्रण टूट गया और वह फिर जाकर उसी पेड की डाल से लटक गया। यह क्रम तब तक चलता रहा, जब तक उह वैताल ने राजा विक्रमादित्य को चौबीस कथाएँ न सुना ली। पच्चीसवी बार उसने कथा सुनने के पश्चात् कोई समस्या नही उपस्थित की और उस ठग का रहस्योद्घाटन कर दिया। इन कथाओ मे भी बडी रोचकता है और प्रवाह है। इनमे भी कलात्मकता लक्षित होती है और तत्कालीन परिस्थितियो का चित्रण प्राप्त होता है।

"शुक सप्तति" मे सत्तर कथाओ का सग्रह है, जिसमे एक तोता एक मैना से सारी कथाएँ कहता है। इन कथाओ की पृष्ठभूमि इस प्रकार है। मदनसेन नामक वणिक एक बार परदेश जाता है और अपने तोते पर घर का सारा दायित्व सौंप जाता है। वह तोता वास्तव मे एक गन्धर्व था और जब उसने देखा कि अपने पति की अनुपस्थिति में मदनसेन की पत्नी काम भावना से प्रेरित होकर पथभ्रष्ट होना चाहती है, तो दायित्व निर्वाह की भावना से अभिभूत होकर वह सत्तर रातों तक सत्तर भिन्न-भिन्न कथाएँ सुनाता है। अन्तिम दिन मदनसेन घर वापस आ जाता है। ये कथाएँ साधारण हैं और इनमें रोचकता बनाए रखने की यद्यपि बहुत प्रयास है, पर वे कुछ विशेष नहीं बन पाई हैं। 'सिंहासन द्वात्रिंशिका" मे महाराज विक्रमादित्य के सिंहासन मे लगी बत्तीस पुतलियों द्वारा राजा भोज को सुनाई गई कथाओं का सग्रह है। महाराज इन्द्र ने उस सिंहासन को महाराज विक्रमादित्य को

प्रदान किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् वह जमीन मे गड गया था। कालान्तर मे जब वह सिंहासन राजा भोज के हाथ लगा, तो उन्होने उस पर बैठना चाहा। जब वे उस पर बैठने की योजना बनाते, एक पुतली निकलती और महाराजा विक्रमादित्य की वीरता, पराक्रम एव महानता की कथाएँ सुनाने लगती। इस प्रकार बत्तीस कथाएँ होती हैं और राजा भोज सिंहासन पर नही बैठ पाते। ये कथाएँ भी बहुत साधारण हैं और इनमे कोई विशेष रोचकता नही है। परवर्ती सस्कृत कथा साहित्य मे दूसरे प्रकार की कथाएँ नीति सम्बन्धी हैं। इनमे 'शुक सप्तति' 'पचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' आदि की कथाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। सारा पचतन्त्र पांच तन्त्रो मे सकलित हैं :

१—मित्र भेद
२—मित्र सप्राप्ति
३—काकोलूकीय
४—लब्ध प्रणासे
५—अपरीक्षित कारके

इन तन्त्रो का स्वतन्त्र अस्तित्व है और इनका अलग-अलग महत्व है। इनमे नीति सम्बन्धी बातो को ही विशेष महत्व प्रदान किया गया है। ये कथाएँ छोटी छोटी हैं और सारी कथाओ मे कथाकार पशु-पक्षी है तथा कथा के पात्र जड़ चेतन हैं। एक से दूसरी कथा जुडती जाती हैं और आगे की कथा बनती जाती है इस प्रकार तारतम्य जोडने का प्रयत्न किया गया है। 'हितोपदेश' भी नीति ग्रन्थ है।

प्राकृत और अपभ्रंश मे कथा साहित्य

प्राकृत साहित्य मे मुक्तक और प्रबन्ध काव्य प्राप्त होते हैं, जिनमें कथा तत्वो की प्राप्ति होती है। एक विद्वान का कहना है कि उन मुक्तक और प्रबध-काव्यों में आख्यान या आख्यानक काव्य के तत्व बहुत ही कम मिलते है। किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में 'कौतहल' द्वारा रचित 'लीलावती कथा' का स्थान आख्यानक काव्यो मे बहुत है। इसकी कथा भी बहुत मनोरजक है। गोदावरी तट पर प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहल के राजा शिलामेघ की पुत्री लीलावती के प्रेम और विवाह का चित्रण कवि ने गाथाबद्ध रचना मे किया है। यह गाथाबद्ध रचना प्राकृत की सबसे बडी देन है। फलत सस्कृत कथा शैली से प्राकृत मे गाथा का यह विकास स्मरणीय रहेगा। इस कथा को कवि ने दिव्य मानुषी कथा कही है और इसमे वस्तुतः देवता और मनुष्य परस्पर दोनो वर्गों के पात्र मिलते हैं। सम्पूर्ण कथा अलकृत काव्यमय शैली मे प्रस्तुत की गई है तथा इस पर प्रबन्ध शैली का प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसके अतिरिक्त मुख्य कथा के अन्तर्गत और कथाएँ भी आई हैं और इसके सुसम्बन्ध करने तथा कथा को एक सूत्रता देने मे स्पष्ट रूप से कवि पर कथा सरित्सागर और 'पचतन्त्र' 'हितोपदेश' की कथा शैली का प्रभाव लक्षित होता है।

अपभ्रंश साहित्य मे जैन अपभ्रंश का महत्वपूर्ण स्थान है। धारिल कवि की 'पउमिसरी चरिउ'—पद्मश्री चरित्र इस दृष्टि से अत्यन्त उल्लेखनीय रचना है। इसमे पद्मश्री के पूर्व जन्मो की कथाओ का सग्रह किया गया है। जैन कथाओ मे साम्प्रदायिक प्रवृत्ति प्रधान है और तन्त्र विधान, योग साधना, आत्म निग्रह आदि योग सम्बन्धी बातो की प्रधानता है। मानव हृदय की अनुभूतियो और उनके विविध पन्थो से उनका कोई सम्बन्ध नही है और उनमे कथा साहित्य के कोई विशेष तत्व उपलब्ध नही होते, पर उन्हे विकास परम्परा की दृष्टि से तो आँका ही जा सकता है। जैन अपभ्रंश मे महाभारत से सम्बन्धित रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमे यशकीर्ति कृत 'हरिवंशपुराण' का अत्यधिक महत्व है। वास्तव मे प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मे कथाओ का रूप काव्यात्मक अधिक रहा है, जो प्रबन्ध काव्यो एवं मुक्तक काव्यो के रूप मे प्राप्त होती हैं। 'सेतुबन्ध', महावीर चरितादि', 'गाथा सप्तशती', 'भविसयत्त कहा', 'विशुद्ध खण्ड काव्य' आदि प्रबन्ध—मुक्तक रचनाएँ इस दृष्टि से प्रमुख हैं।

चारण साहित्य में कथा साहित्य

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राकृतिक और अपभ्रंश साहित्य मे कथाओ का रूप अधिकांशत काव्य रूपो में प्राप्त होना है। इनमे रासो ग्रन्थो का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के रासो ग्रन्थ अधिकतर ऐतिहासिक व्यक्तियो के आधार पर इतिहास और पुराण शैली के मिश्रण से बने हैं और जिनमे अपभ्रंशकालीन काव्य रूढियो और शैलियो का प्रयोग हुआ है। 'पृथ्वीराज रासो' रासक होने के साथ साथ चरित काव्य या कथा-काव्य भी है अर्थात् उसमे एक ऐसी रसमय कथा है, जिसमे चरित नायक के युद्धो, विवाहो, आखेटो आदि का वर्णन किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' मे मगलाचरण के बाद क्षत्रियो की उत्पत्ति, अजमेर के सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के अनगपल (तोमर) की पुत्री कमला के साथ, पृथ्वीराज का जन्म, अनगपाल की द्वितीय पुत्री सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राठौर विजयपाल के साथ, जयचन्द का जन्म, अनगपाल का पृथ्वीराज को गोद लेना, जयचन्द को बुरा लगना, राजसूय यज्ञ, पृथ्वीराज द्वारा संयोगिताहरण, पृथ्वीराज का भोगविलास मे लीन होना। शहाबुद्दीन का आक्रमण, पृथ्वीराज के अनेक युद्धो और विवाहो तथा आखेटो आदि का वर्णन है। इसमे शृगार के साथ वीरता को भी प्रचुर मात्रा मे स्थान दिया गया है तथा प्राकृतिक वर्णन भी किया गया है। यह ऐतिहासिक चरित काव्य है और अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की ही एक कडी है। उसमे इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओ को स्थान देते हुए कवि कल्पना का मोह नही छोड़ सका है।[१] उसमे प्रक्षिप्त अंश

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए . डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय · हिन्दी साहित्य का इतिहास, (१६६२), पचम सस्करण।

अवश्य हैं। उसमे कथानक सगठन को देखते हुए उससे एक सुदीर्घ परम्परा का पालन होते हुए मिलता है । उन परम्परागत अशो की कडियाँ जोड़ने की आवश्यकता है।

'बीसलदेव रास' इस परम्परा की एक अन्य उल्लेखनीय रचना है। इस संबंध मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने महत्त्वपूर्ण अन्वेषण कार्य किया है और उनके अनुशीलन के फलस्वरूप यह परम्परा अब बहुत कुछ सुस्पष्ट हो चुकी है। इसकी कथा इस प्रकार है। धारनरेश परमार भोजराज की सभा मे रानी ने राजा से निवेदन किया कि उनके जीवनकाल मे ही पुत्री राजमती का विवाह योग्य वर देखकर कर देना चाहिए। राजा ने ब्राह्मण और भाट के द्वारा अजमेर के शासक बीसलदेव चहुवान के पास लग्न की सुपारी भेजी, जिसे बीसलदेव ने स्वीकार लिया। धार के लिए बारात चल पडी। मार्ग मे बाघेरा मे पडाव डाला गया। पाँचवी मजिल मे वह चित्तौर गढ पहुची, फिर वह धार पहु ची। राजमती और बीसलदेव का विवाह सम्पन्न हो गया। बीसलदेव को दायज मे आलीसर, माल, सपादलक्ष देश, साँभर सर, नगर चाल, बिछाल, तोडा, टँउक, बू दी, कुडाल, मडोवर, सोरठ, गुजरात तथा बारह गढो के साथ चित्तौरगढ प्राप्त हुए। राजमती को लेकर बीसलदेव अजमेर आ गया। एक दिन राजमती से बीसलदेव ने गर्वपूर्वक कहा कि उसके समान दूसरा राजा नही है, क्योकि उसके राज्य मे साँभर सर से नमक निकलता है। चारो ओर जेसलमेर का थाना है, एक लाख घोडो पर पाखरे पडती हैं और अजमेर गढ मे बैठ कर वह राज्य करता है। राजमती ने उत्तर मे कहा है कि उसे गर्व न करना चाहिए, क्योकि उसके समान अनेक राजा हैं, एक तो उड़ीसाधिपति है, जिसके राज्य मे उसी प्रकार खानो से हीरा निकलता है, जिस प्रकार बीसलदेव के राज्य मे नमक निकलता है। बीसलदेव ने इस पर उससे प्रश्न किया कि उसे यह बात कैसे ज्ञात हुई—वह तो अभी बारह वर्ष की थी, और उसका जन्म भी जेसलमेर मे हुआ था। राजमती ने कहा कि वह पूर्व जन्म मे उडीसा मे हिरणी होकर जन्मो थी और उसका देहान्त जगन्नाथ के द्वार पर हुआ था। उसने मरणकाल मे जगन्नाथ देव का स्मरण किया था और जब उसे उनका दर्शन प्राप्त हुआ था, उसने उनसे पूर्व देश मे पुन जन्म न मिलने का वर माँग लिया था। उसने कहा कि पूर्व के देश मे लोग घ्रणित होते हैं, चतुरता ग्वालियर गढ मे देखी जाती हैं, कामिनियाँ जेसलमेर की, और पुरुष अजमेर गढ मे अच्छे होते हैं। इसीलिए उसने जगन्नाथ देव से मारु देश मे जन्म का वर माँगा। बीसलदेव को राजमती की यह बात लग गई और उसने कहा कि राजमती ने उसकी विसराहना की है। इसलिए वह बारह वर्षों तक उससे कोई सम्बन्ध न रखेगा और वह उडीसा मे राज सेवा करने हेतु जाएगा ताकि उसके घर मे भी हीरे की खान आ जावे। राजमती को जब अपनी भूल ज्ञात हुई, उसने बहुत अनुनय-

विनय की और अनेक प्रकार से वीसलदेव को इस संकल्प से विरत करने का प्रयत्न किया, किन्तु कोई फल न निकला। तदनन्तर उसने ज्योतिषी को बुलाकर कहा कि किसी प्रकार चार महीने तक उसके पति को रोके, ताकि इस बीच वह उसे समझा-बुझा ले। ज्योतिषी ने ऐसा ही किया फिर भी राजमती को सफलता नही प्राप्त हो सकी और राजा शकुन लेकर उडीसा यात्रा के लिए निकल पडा। राजमती ने एक बार पुन बीसलदेव से अनुरोध किया कि वह उसको छोडकर न जावे, पर राजा न माना, अन्ततोगत्वा उसने बीसलदेव को विदा किया। राजा ने जैसलमेर छोडा, ढोडा और अजमेर छोडा, टउक और बिछाल छोडा, राणा का रनिवास छोडा, और बनास उतर गया, फिर उसने चंबल का पिछला खाल (नाला) पार किया और शकुनो के साथ वह आगे बढा। राजमती उसके वियोग मे दिन काटने लगी। एक कुटनी ने उसे सत से विचलित करना चाहा किन्तु राजमती ने उसे पास न फटकने दिया और उसे पीट कर निकलवा दिया। अवधि के समाप्त होने का समय आया तो राजमती पण्डित के पास आई और उसके द्वारा बीसलदेव के पास उसने सदेश भेजा। मौखिक संदेश के अतिरिक्त उसने एक पत्रिका भी उसके द्वारा भेजी। उसने पण्डित से बीसलदेव को जिस प्रकार भी सम्भव हो, वापिस लिवा लाने की प्रार्थना की। पंडित ने उससे बीसलदेव की उनहार पूछी, जिसे उसने बताया। पण्डित ने बीसलदेव को वापस लाने का राजमती को विश्वास दिलाते हुए प्रस्थान किया। मजे-मजे मे चलकर पण्डित सातवें मास उडीसा पहुचा। वह जगन्नाथ देव के स्थान पर गया और तदन्तर राज द्वार पर पहुचा। वह उपहार लेकर बीसलदेव से मिला। तदन्तर उसने उसे राजमती की पत्रिका दी और उसका सदेश सुनाया। उसने राजमती की विरह दशा का भी करुण वर्णन किया। उडीसा नरेश को जब यह ज्ञात हुआ कि बीसलदेव अपने राज्य के लिए प्रस्थान कर रहा है, तो पट्टरानी से बताया। पट्टरानी ने उसका विवाह करा देने का वचन देकर उसे रोकना चाहा, किन्तु बीसलदेव ने बताया कि उसकी हजार स्त्रियाँ हैं, जिनमे से एक उसकी वल्लभा है जिसका पीहर माडव और धार मे है। उडीसा के प्रधान अमात्य ने भी उसे समझाया कि वह उडीसा में रह जावे, किन्तु बीसलदेव तैयार न हुआ। उडीसा नरेश ने उसे बिदा करते हुए प्रचुर धन राशि तथा बहुमूल्य हीरे-पत्थर दिये। बीसलदेव ने उडीसा से प्रस्थान किया और इसकी सूचना के लिए एक पत्रिका उसने एक योगी के द्वारा अजमेर भेजी जो अपने योगबल से अजमेर शीघ्र ही पहुच सकता था और उसे राजमती की उनहार बताई। योगी अजमेर पहुंच गया और उसने राजमती को बीसलदेव की पत्रिका दी। योगी ने राजमती को बताया कि तीसरे दिन राजा अजमेर पहुच जाएगा। बीसलदेव अजमेर आ गया। राजमती ने उसके स्वागत के लिए शृंगार किया। बारह वर्षों उपरान्त पति पत्नी मिले। बारह वर्षों तक छोड़ रखने के सम्बन्ध में राजमती ने बीसलदेव को उलाहने दिये, तदन्तर

दोनो प्रेम पूर्वक मिले ।

लोक कथा साहित्य

लोककथाओ का स्वरूप अपभ्रंश एवं सिद्ध साहित्य मे प्राप्त होता है। इन कथाओं का स्वरूप इस प्रकार गढा जाता था, जिससे अन्त मे इस भौतिक ससार की निस्सारता सिद्ध की जा सके । 'ढोला-मारु रा दूहा', 'माधवानल काम कदला', 'हीर राँझा', 'कुतुब सतक', 'सिहासन बत्तीसी' 'पच सहैलीरादूहा', 'मैनासत', 'चन्दन मालियागिरी सी बात', 'त्रिया विनोद' आदि इस परम्परा के उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं । वास्तव मे भारतवर्ष मे सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काल से ही कथा सगठन की कुछ विशिष्ट पद्धतियाँ चली आ रही थी । इस पद्धतियो मे कल्पना का मिश्रण करने की पद्धति सर्वप्रमुख थी । ऐतिहासिक कथा मे कल्पना का पुट देना या काल्पनिक कथा को ऐतिहासिक आधार प्रदान करना हमारे देश की बडी प्राचीन परम्परा रही है । न जाने कितनी ऐसी कथाएँ लोक जीवन मे प्रचलित हैं, जिनमे राजा भोज, महाराज विक्रमादित्य आए बिना नही रहते । इसी प्रकार कथाओ मे पशु-पक्षियो को भी स्थान दिया जाता रहा है । इनमे से मृग, हस, तोता, मैना, कपोत आदि का उल्लेख प्रमुखत. किया जा सकता है । पूर्वानुराग की दृष्टि से स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन और श्रवण दर्शन ने भारतीय कथा-सगठन की शैली निर्धारित करने मे योग दिया है । फिर नायक नायिका के प्रेम, उनके सयोग-वियोग का वर्णन करते समय षट्ऋतु वर्णन और बारहमासा को उद्दीपन की दृष्टि से स्थान देना अनिवार्य समझा गया । सिहल द्वीप, पद्मिनी, सुन्दरियो की भीडभाड, नायक के अनेक विवाह, नारी जन्य ईर्ष्या-द्वेष, नायक का किसी सुन्दरी द्वारा भरमाया जाना, मुनि का शाप, मान, प्रेम मार्ग मे कठिनाइयो का आना और उन पर विजय प्राप्त करना, सन्तान इच्छा आदि बातें भारतीय कथा सगठन की परम्परा स्थापित करने मे उपयोगी सिद्ध हुई है । 'कादम्बरी', 'नैषध चरित', 'शुक सप्तति', सदेश रासक' (अब्दुल रहमान), 'पद्मावत्' आदि रचनाए इस प्रकार के कथा सगठन की वह परम्परा प्रदर्शित करने वाली अत्यत प्रमुख एवं प्रसिद्ध रचनाएँ हैं । लोक कथाओ की दृष्टि से 'चदायन' का विशेष महत्व है, जिसकी रचना मुल्ला दाऊद ने कुतुबन और जायसी से लगभग १६० वर्ष पूर्व १४वी शताब्दी में की थी । इस ग्रन्थ में लोरिक नायक और चदा नायिका है । लोरिक का विवाह जब अगोरी के निवासी महरा की कन्या मजरी से सम्पन्न हो गया तो 'गउरा' के राजा सहदेव ने अपनी कन्या चदा का विवाह सिलहट के किसी दूसरे पुरुष से करना चाहा । चदा ने युक्तिपूर्वक लोरिक से भेंट की और प्रेम के वशीभूत हो दोनो भाग निकले । तत्पश्चात् उनके प्रेम, विरह और अन्त मे सयोग का सविस्तार वर्णन उपलब्ध होता है । कथा मे प्रसंगवश अन्य पुरुष पात्र और नारी पात्र भी आते हैं । उसमे अनेक प्रसग 'पद्मावत' के समान हैं ।

लोरिक चदा की प्रेम कथा बिहार, मिर्जापुर, भोजपुरी क्षेत्र, छत्तीसगढ, रायपुर, बुन्देलखड, राजस्थान आदि में लोक-गाथा के रूप मे प्रचलित रही है।

मध्य-कालीन कथा-साहित्य

मध्य-कालीय कथा साहित्य का रूप भी काव्यात्मक ही हो 'स्वप्नावती', 'मृगावती', 'मधुमालती', और 'प्रेमावती' नामक रचनाएँ प्रमुख हैं। शेख बुरहान के शिष्य कुतुबन कृत 'मृगावती' का रचनाकाल १५०१ है। इन ग्रथ मे कचनपुर की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरी के राजकुमार का प्रेमवर्णन है। लौकिक प्रेम द्वारा अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना करने का प्रयास इनमे परिलक्षित होता है। 'मधुमालती' मझन द्वारा रचित है। 'मृगावती' की तुलना मे इस ग्रन्थ मे कही अधिक भावात्मक सौन्दर्य है। उनमे कनेसर के राजपुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती का प्रेम वर्णन है। इसमे प्रेम के वर्णन मे विरह को अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। 'पद्मावत' भी इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है। मलिक मुहम्मद जायसी ने इसकी रचना ९२७ हिजरी (१५२० के लगभग) में प्रारम्भ की थी और कदाचित् १९ या २० वर्ष पश्चात् शेरशाह के शासनकाल (९४७ हिजरी या १५४० के लगभग) पूर्ण किया। भारतीय साहित्य मे पद्मावती को लेकर काव्य रचना की एक निश्चित परम्परा प्राप्त होती है।[1] संस्कृत, अपभ्र श और गुजराती साहित्यो मे पद्मावती की कथा प्रचलित थी। इसी लोकप्रिय कथा को लेकर जायसी ने रचना की। पद्मावत मे चित्तौड के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप के राजा गधर्वसेन की पुत्री पदमावती के प्रेम का वर्णन है। हीरामन सूए के द्वारा ससार की अनिंद्य सुन्दरी पद्मावती के सौन्दर्य, रत्नसेन की रानी नागमती की ईर्ष्या, राजा की सूए बिना व्याकुलता, सूए के साथ जोगी के वेश मे रत्नसेन का घर से निकल पडना, मार्ग की अनेकानेक कठिनाइयाँ सहन करते हुए रानी पद्मावती और रत्नसेन का विवाह, राघव चेतन को लेकर रत्नसेन और अलाउद्दीन मे सघर्ष, अन्त मे रत्नसेन की मृत्यु और नागमती तथा पद्मावती दोनो रानियो का शव के साथ जल जाना आदि का हृदयग्राही वर्णन इस ग्रन्थ मे किया गया है। जायसी ने सादृश्यमूलक अलकारो के प्रयोग द्वारा पद्मावती के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिसके पढने मात्र से माधुर्य की सृष्टि होती है और जायसी ने बराबर साकेतिक शब्दावली द्वारा परोक्ष सत्ता की ओर सकेत किया है। सम्पूर्ण कथानक दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) पूर्वार्द्ध (२) उत्तरार्द्ध। विवाह तक की कथा (पूर्वार्द्ध) पूर्ण रूप से काल्पनिक है। अलाउद्दीन के साथ सघर्ष (उत्तरार्द्ध) का आधार इतिहास है। कथा के लोक पक्ष और अध्यात्म दोनो हैं। लोक पक्ष मे वह एक सुन्दर प्रेमकथा है।

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . हिन्दी साहित्य का इतिहास, (१९६२), इलाहाबाद

अध्यात्मक पक्ष की दृष्टि से राजा रत्नसेन भक्त है, रानी पद्मावती ईश्वर है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह घर-बार छोडकर अनेक कष्ट सहन करता हुआ निकल पडता है। हीरामन तोता गुरु है। जायसी के अतिरिक्त उसमान, शेख नबी, कासिमशाह और नूर मुहम्मद आदि ने मध्यकालीन प्रेम कथा धारा के विकसित होने मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

उसमान कृत 'चित्रावली' (१६१३) मे नेपाल नरेश राजा धरनीधर पंवार के पुत्र सुजान कुमार और चित्रावली का प्रेम और विरह वर्णन है। दरियाबाद (बाराबकी) निवासी कासिमशाह (१७३१ के लगभग) कृत 'हस जवाहिर' कथा मे राजा हस और रानी जवाहिर की कथा का वर्णन किया गया है। जौनपुर निवासी नूर मुहम्मद कृत 'इन्द्रावती' (१७४४) मे, कालिजर के राजकुवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कहानी का चित्रण किया गया है। उन्ही के 'अनुराग बाँसुरी' (१७६४) मे जीवात्मा और मनोवृत्तियो को लेकर एक रूपक खडा किया है। वास्तव में आख्यायिका साहित्य विकसित करने मे सूफी कवियो का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

समस्याएँ और समाधान

कथा साहित्य की इस परम्परा के साथ ही खडी बोली गद्य के विकसित हो जाने से हिन्दी कहानी को विकसित होने का भूमिका तैयार हो गई थी। इसमे उपन्यासो के जन्म और विकास ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट किया जा चुका है कि प्राचीनकाल मे कथा का प्रयोग या तो साधारण कहानी के अर्थ मे किया जाता था, या अलकृत काव्य रूप के अर्थ मे। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के अनुसार पहले अर्थ के अन्तर्गत पचतत्र की कथाएँ, महाभारत या अन्य पुराणो की कथाएँ, गुणाढ्य की 'वृहत्कथा', सुबाहु की 'वासवदत्ता', बाणकृत 'कादम्बरी' आदि सभी कथाएँ है। दूसरे अर्थ मे वह भामह और दण्डी द्वारा संकेतिक अलकृत गद्य काव्य ही कहा जा सकता है और जिसकी परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी (सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे) और जो आगे भी चलती रही। 'रासो' मे विद्यापति कृत 'कीर्तिलता' मे और तुलसी कृत 'मानस' मे भी कथाएँ हैं। वास्तव मे 'कथा' शब्द का यह बहुत व्यापक प्रयोग है। वह व्यक्तियो के वार्तालाप के रूप मे भी रह सकती थी। भामह ने 'आख्यायिका' को गद्य मे लिखी गई एक ऐसी सरस रचना कहा है, जो उच्छ्वासो मे विभक्त होती थी, वक्त्र और अपवक्त्र छद युक्त होती थी। स्वय नायक द्वारा कथित होती थी और उसमे कथा का अपहरण, युद्ध, नायक-विजय आदि बातें रहती थी। कथा मे ये सब बातें नही पाई जाती थी। दण्डी (काव्यादर्श, १।२३-२८) ने 'कथा' और आख्यायिका का यह भेद स्वीकार नही

किया। किन्तु रुद्रट (काव्यालंकार) ने मंगलाचरण, कवि-परिचय, प्रासंगिक कथाओ सहित सरस तथा परस्पर वार्तालाप द्वारा कही गई 'कथा' मानी है। आचार्यों ने कथा की काल्पनिकता (कादम्बरी) और आख्यायिका की 'ऐतिहासिकता' ('हर्ष-चरित') की ओर भी संकेत किया है, अर्थात् कथानक-संगठन, चरित्र चित्रण आदि की दृष्टि से कथा में रस-निष्पत्ति प्रधान मानी गई है। सामान्यत. प्राचीन पौराणिक ग्रन्थो, जातको आदि मे जो कथाए हैं, उन्हे उपाख्यान कहा जाता है और उपाख्यान को ही अथवा उसके अन्तर्गत छोटे छोटे प्रसंगो को आख्यायिका भी कहते हैं। इन उपाख्यानो या आख्यायिकाओ का उद्देश्य मनोरंजन न होकर धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करना था। उसमे अनेक अस्वाभाविक और अतिशयोक्तिपूर्ण बाते रहती थी, दैवी घटनाओ का बाहुल्य रहता था। 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित, आदि रचनाएँ उन्ही कथाओ के साहित्यिक रूप हैं, जिनमे लेखको ने भाषा, शब्द तथा अन्य साधनो द्वारा साहित्यिक सौन्दर्य उत्पन्न किया है। भारतीय कथा-साहित्य मे उपाख्यान या आख्यायिका उसके विकास का प्रथम चरण है और सैद्धांतिक दृष्टि से ये दोनो कहानी से भिन्न हैं—उन्हें एक समझना भूल होगी।

: ४ :

हिन्दी कहानियों का उद्भव और विकास

युग दशा

कहानियो के आधार पर

उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास की दृष्टि से नवोत्थान का युग है। जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ वह इसी नवोत्थान काल से सम्बन्धित है। अपनी जडता एव विश्रृंखलित जीवन पद्धति छोड हिन्दी भाषा-भाषी नवीन उत्साह भावना से आगत की सम्भावनाओ को समेटे हुए दिशोन्मुख हुए। पश्चिमी सभ्यता एवं सस्कृति का स्पर्श एव उसके फलस्वरूप होने वाली परिवर्तनशीलता का इसमे बहुत बडा हाथ था। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि भारतवर्ष मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना और विशेष रूप से लगभग १८५७, के बाद के हिन्दी साहित्य का इतिहास अनेक अशो मे अपने प्राचीन इतिहास से भिन्न है। हिन्दी मे आधुनिकता का सूत्रपात लगभग इसी समय से होता है। गत सौ वर्ष मे उसने आश्चर्यजनक तीव्र गति से उन्नति की है। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश की तत्कालीन परिवर्तित परिस्थितियो के प्रभावान्तर्गत गद्य का प्रचार बडी तेजी से होने लगा था। अनेक छोटे-बडे गद्य-ग्रन्थो की रचना हुई। १८५७ की राज्य क्रांति के बाद हिन्दी गद्य साहित्य ने विशेष उन्नति की। विषयो की अनेकरूपता के साथ-साथ वह अपने पैरो पर खडा होने योग्य बना काव्य क्षेत्र मे वीर, भक्ति शृंगार और रीति धाराए अपने प्राचीन वैभव का क्षीण स्वरूप लिए हुए अब भी प्रवाहित हो रही थी। किन्तु साथ ही कविता पाश्चात्य शिक्षा और नवीन राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और धार्मिक शक्तियो के फलस्वरूप नए-नए विषयो की ओर झुक रही थी। आलोच्यकाल मे काव्य की यह नवीन धारा अपने क्षीण स्वरूप मे थी। बीसवी शताब्दी मे यही धारा साहित्य के सिंहासन पर विराजमान है और इसी का एकाधिपत्य है। गद्य मे भी विभिन्न साहित्यिक रूपो और शैलियो का जन्म हुआ है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो के माध्यम द्वारा हिन्दी प्रदेश का सम्पर्क ज्यो-ज्यो ससार के अनेक देशो, और साहित्यों से बढ़ता जा रहा है, त्यो-त्यो साहित्य मे शैली, विचार और रूप की दृष्टि से अनेक रूपता की वृद्धि हो रही थी। हिन्दी साहित्य के इस नवीन, विशद, पूर्ण और

विविध विषय-सम्पन्न स्वरूप के निर्माण का श्री गणेश दो सभ्यताओ के सांस्कृतिक सम्पर्क के फलस्वरूप उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध मे हुआ था। अग्रेज जिस सभ्यता को लेकर भारतवर्ष आए थे, उसमे गति एव शक्ति थी। भारतीय सभ्यता शताब्दियो के बोझ से स्थिर और शिथिल हो चुकी थी। ऐसी दशा मे भारतीय सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होना अवश्यंभावी था—यद्यपि नवीन शासको की नीति के कारण यह प्रभाव जितना उत्कृष्ट और सर्वांगीण होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। फलस्वरूप हिन्दी साहित्य रूढिग्रस्त मार्ग छोडकर गतिशील हुआ, उसमे नवीनता और आधुनिकता का जन्म हुआ। इस दृष्टि से आलोच्य काल का हिन्दी साहित्य के इतिहास मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जो बीज पिछली शताब्दी मे बोया गया था, आज वह पल्लवित-पुष्पित होकर साहित्य-रसिको को शीतलता प्रदान कर रहा है। हिन्दी साहित्य के प्राचीन और नवीन रूपो के मध्य एक निश्चित विभाजन रेखा खीचना दुस्तर कार्य है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नवीनता और आधुनिकता के विकास मे पश्चिमी भावो और विचारो का बहुत बडा हाथ रहा है। वैसे तो अग्रेजो के आने से पहले ही देश मे पश्चिमी प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता था, किन्तु भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद भारतीय जन समुदाय—विशेषतः अग्रेजी शिक्षित उच्चवर्गीय जन समुदाय—पर यह प्रभाव और भी गहरा हो चला था। सामान्यतः १८५७ के प्लासी-युद्ध से अग्रेजी राज्य की स्थापना मानी जाती है। किन्तु हिन्दी प्रदेश पर अग्रेजो की इस विजय का कोई विशेष प्रभाव न पड सका—केवल उत्तरी भारत का द्वार अवश्य ही उनके लिए खुल गया। उस समय तो बंगाल के केन्द्र कलकत्ते के सामाजिक धार्मिक और साहित्यिक जीवन मे युगान्तकारी परिवर्तन हुए। १७६४ मे बक्सर की लडाई हुई और १७६५ मे अग्रेजो को दीवानी मिली। इस प्रकार प्लासी से सात-आठ वर्ष बाद हिन्दी प्रदेश का पूर्वी भाग अर्थात् बिहार सर्वप्रथम अग्रेजो के अधिकार मे चला गया। यदि प्लासी—युद्ध के फलस्वरूप समस्त उत्तर भारत का द्वार अग्रेजो के लिए खुल गया था, तो बक्सर की लडाई के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश के तत्कालीन सबसे अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली सूबा अवध ने सन्धि द्वारा अंग्रेजो के आगे माथा टेक दिया। यही से उन्होंने हिन्दी प्रदेश में चारो ओर अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। तत्पश्चात बनारस और १८०३ की लासवाडी की लडाई के फलस्वरूप हिन्दी प्रदेश मध्य भाग दिल्ली और आगरे के सूबे—पर उनका अधिकार हो गया। इसमें मराठों और फ्रांसीसियों की शक्ति को जबर्दस्त आघात पहुचा। राजपूताने की रियासतो ने भी १८१८ तक अग्रेजी सत्ता स्वीकार कर ली थी। १८२६ मे उन्होने भरतपुर पर विजय प्राप्त की। केवल अवध नाम-मात्र के लिए १८५६ तक नबाबो के हाथ मे रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के लगभग मध्य तक अंग्रेज हिन्दी प्रदेश

मे अपने राज्य की सीमा का विस्तार करने में लगे रहे, तत्पश्चात विजित प्रदेशों के पुनर्निर्माण और पुनर्संगठन ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। शिक्षा तथा शासन की दृष्टि से अनेक प्रयोग किए गए। १८५७ की राज्य क्रान्ति के पश्चात् देश का राज्य ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथ से निकलकर सम्राट् के अन्तर्गत ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के हाथ चला गया। नवीन शासन व्यवस्था के कारण जिन नीतियो का व्यवहार हुआ, उनका प्रभाव देश जीवन के विभिन्न क्षेत्रो पर पडना अवश्यम्भावी था। केवल राजनीतिक दृष्टि से ही नही, अन्य कई कारणो से भी १८५७ एक महत्वपूर्ण तिथि हैं। इसमे कुछ ही वर्ष पूर्व हिन्दी प्रदेश मे वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचार हुआ था। उन्नीसवी शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार रेल और तार का क्रमश १८५० और १८५१ मे ही सूत्रपात्र हुआ। इन वैज्ञानिक आविष्कारो का आलोच्यकाल पर अभूतपूर्व प्रभाव पडा, जिससे सामान्य और फलत साहित्यिक जीवन अछूता न रह सका। चार्ल्सवुड की शिक्षा आयोजना, जिनसे हमारा सीधा सम्बन्ध है, १८५७ के समीप ही अर्थात् १८५४ मे से प्रस्तुत की गई थी। साहित्य मे इन सब नवीनताओ की प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी और १८५७ मे ही विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई। इससे पूर्व हिन्दी साहित्य मे नवीनता मिलती अवश्य है, किन्तु वह नगण्य है आलोच्य काल मे नवयुग और आधुनिकता का प्रदर्शन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) को अधिनायकत्व और उनके जीवन काल मे यथेष्ट तीव्र गति से होने लगा था। भारतेन्दु का जन्म भी १८५७ के समीप ही अर्थात् १८५० मे हुआ था। अस्तु इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए यदि स्थूल रूप से भारतेन्दु की जन्म तिथि अर्थात् १८५० से हिन्दी साहित्य के नवीन या आधुनिक युग का सूत्रपात मान लिया जाय तो कोई विशेष हानि न होगी।

यह काल आर्थिक रूप से पतन काल था। भारत मे एक विदेशी सत्ता थी, जिनके लिए स्वदेश का हित सर्वोपरि था, न कि अपने अधीनस्थ एक दास उपनिवेश का। उनकी आर्थिक नीतियाँ मात्र शोषण की थी और अपने व्यापारिक हितो को बढावा देने की थी। यद्यपि भारत मे कम्पनी का आगमन व्यापारिक दृष्टिकोण लेकर हुआ था और वे यहाँ मात्र अपने व्यापार के लिए ही आए थे, पर धीरे-धीरे यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियो ने इतनी दिशाएँ ग्रहण की, कि आगे चलकर यहाँ की शासन व्यवस्था का सूत्र जब कम्पनी के अधिकारियो के हाथो मे आ गया, तो उन्होने यहाँ की अधिकाधिक सम्पदा लूटकर अपने देश मे ले जाने की योजनाएँ बनाई और शोषण ही अपना एकमात्र लक्ष्य निर्धारित कर लिया। उनके आने तक भारत आर्थिक रूप से एक सुव्यवस्थित एव सुसगठित देश था, जहा विपुल धन-सम्पदा थी और आर्थिक विषमताओ एव विपन्नता की कही छाया तक न थी। कम्पनी के अधिकारी नैतिकता से गिरे हुये और लूटमार को धर्म समझने वाले कुत्सित देश से आए

थे और यहां का धन-धान्य देखकर उनके मन मे इस सीमा तक लोभ समा गया था कि वे यह भी विस्मृत कर गये कि यहाँ भी लोग रहते हैं, उनकी भी कुछ आवश्यकताएँ हैं और स्वय उन्हे उन्ही लोगो के ऊपर शासन करना है। थॉम्पसन और गैरेट ने अपने प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ मे भारत की सज्ञा एक ऐसे पेगोडा वृक्ष मे ही दी है जो उस समय तक बार-बार हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट हो गया। अँग्रेज लुटेरो के मस्तिष्क मे धन के प्रति इतना लोभ व्याप्त हो गया था कि कार्टेज और पिजारो युग के स्पेनवासियो के समय से आज तक कदाचित् उसकी पुनरावृत्ति नही हुई है। भारत मे प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक ब्रिटिश शासन का इतिहास विश्व मे राजनीतिक छाप का सबसे बड़ा उदाहरण है। परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक परिस्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय होती गई। इगलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् अधिक सख्या मे मिले स्थापित हो गई थी, तथा उनके कच्चे माल के प्रति माँग निरन्तर बढती जा रही थी। इगलैंड स्वय उस माँग की पूर्ति करने मे असमर्थ था। अतः ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने भारत एव अन्य अपने शासनाधीन देशो से अधिकाधिक कच्चा माल इगलैंड की मिलो को भेजना प्रारम्भ किया। इसका भारत की आर्थिक व्यवस्था पर बडा ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और आर्थिक सुदृढता की रही-सही आशा भी खण्डित हो गई। स्वार्थपरक दृष्टिकोण यही समाप्त नही हुआ, ब्रिटिश अधिकारियों ने ऐसी नीति का अवलम्बन किया, जिसके अनुसार इगलैंड से जो चीज भारत आती थी, वह कर-मुक्त रहती थी, अत उसके मूल्य भी कम रहते थे।

किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की तृष्णा यही शान्त नही हुई। उन्होने यहा से विदेशो को भेजी जाने वाली चीजो पर इतना अधिक कर लगाया कि विदेशो मे वहाँ की चीजो की तुलना मे उनके मूल्य दूगने-तिगुने हो जाते थे और स्पर्द्धा मे वे टिक नही पाती थी। उनकी माँग ता समाप्त हो ही गई, साथ ही भारतीय व्यापार भी नष्ट हो गया। यहाँ उत्पादन का उत्साह जाता रहा, फलतः विदेशी मालो की अधिकाधिक खपत भारत में होने लगी, जिससे राष्ट्रीय आय का वह भाग जो भारत मे ही रह सकता था विदेशो को भेजा जाने लगा। कम्पनी अधिकारियो ने भारत के लघु उद्योगों, कृषि व्यवस्था को भी प्रोत्साहन नही दिया। कृषि का ढग अग्रेजो के प्रगतिशील राज्य में वही प्राचीन था, जिससे उपज मे दिन प्रति-दिन कमी होती जा रही थी। फसलों की रक्षा की वैज्ञानिक एव आधुनिक प्रक्रियाएँ भारतीय कृषको को नहीं बताई जाती थीं। खेतो में विभाजन होता जा रहा था और आपसी वैमनस्य एव संयुक्त परिवारों के विश्रृंखलित होने के कारण उनकी सीमाएँ लघुतर होती जा रही थीं। कृषि के विकास के लिए कोई उपाय नहीं किए जाते थे। सरकार केवल लगान वसूली तक ही अपने को सम्बन्धित रखना चाहती थी। कृषको के ऊपर उनके दमन

एवं अत्याचारो मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी । इसका परिणाम भयकर हुआ । कृषको के ऊपर ऋणो का भार बढता गया । देश मे भीषण निर्धनता व्यापक रूप से फैल गई और भारतीयो की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई । इसके एक ओर जहाँ जीवन मे विषमताओ एव विकृतियो का प्रसार हुआ, वही विपन्नता एव कुण्ठाएँ भी जन्मी, जिनके फलस्वरूप जीवन पद्धति पूर्णतया जीर्ण शीर्ण हो गई ।

ऊपर बताया जा चुका है कि रेलो, ट्रामो, आदि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रवेश धीरे-धीरे भारत मे हो रहा था, जिससे नवीन चेतना के उत्पन्न होने मे सहायता मिल रही थी । हालाँकि पश्चिमी विचारो के बढते हुए प्रभाव से समाज में सास्कृतिक अशका का जन्म हो रहा था । जिस प्रकार ब्रिटिश आर्थिक नीति ने भारतीय उद्योग धन्धे नष्ट कर दिये थे, उसी प्रकार पाश्चात्य शिक्षा तथा नवीन वैज्ञानिक आविष्कार, कट्टर हिन्दुओ, प्रधानत· ब्राह्मणो का अस्तित्व मिटाये दे रहे थे । गद्दीधारी ब्राह्मणो को अपनी सामाजिक स्थिति डॉवाडोल जँचने लगी थी । पश्चिमी बोद्धिक, वैज्ञानिक, नैतिक भौतिक और सैनिक प्रभावान्तर्गत नवशिक्षित भारत-वासियो के हाथो सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होते देख समाज के नेता सशकित हो उठे थे । बगाल के नव-शिक्षित भारतवासियो का परिचय सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपनी आत्म-कथा मे दिया है । उसे देखकर कौन न सशकित हो उठता—विशेष रूप से उस समय जबकि हिन्दी प्रदेश अभी पश्चिमी भावो और विचारो के साथ सामजस्य स्थापित न कर सका था । ईसाई पादरियो के धर्म-प्रचार तथा कुछ सरकार की तरफ से की गई बातो से उत्तेजना बढती ही जाती थी । डलहौजी के चले जाने के कुछ ही माह पश्चात् भारतीय सैनिको को समुद्र यात्रा करने पर विवश किया गया । स्वयं डलहौजी के समय मे शिक्षा और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचार सास्कृतिक आशका उत्पन्न करने के लिए यथेष्ठ था । भारत-वासी गंगा पर पुल बधते नही देख सकते थे । जिस समय लॉर्ड कैनिंग आए उस समय फैल गई थी कि वे भारतवर्ष को ईसाई धर्म मे दीक्षित करने आ रहे है पर यह अफवाह स्थिति और कूपमण्डूकता अधिक दिनो तक नही बनी रही । नवीन शिक्षा के प्रसार द्वारा देश मे जिस नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साम्कृतिक चेतना का उदय हो रहा था, उसमे नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। उत्तर मुगलकाल मे विज्ञान अथवा वैज्ञानिक आविष्कारो का भारत मे कोई महत्व न रह गया था और सामान्य लोग इनसे सर्वथा अपरिचित ही थे । पर भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचलन भी हुआ । अठारहवी शताब्दी मे सम्पूर्ण विश्व मे विज्ञान ने आशातीत सफलता प्राप्त की । वाष्प एवं विद्युत शक्तियो के आविष्कार से नित नए यत्रो का निर्माण होने लगा । रेल मोटर, ट्राम, पनडुब्बियाँ हवाई जहाज और तार आदि के आविष्कार विश्व के लिए

सर्वथा नवीन थे। शीघ्र ही विश्व मे वैज्ञानिक आविष्कारो का जाल सा बिछ गया। विदेशों में मानवीय जीवन विज्ञान पर पूर्णतया अवलम्बित हो चुका था, पर तब भी भारत इससे वचित था। ब्रिटिश अधिकारियो ने भारत मे नित नए होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचलन न होने देने के लिए भरसक प्रयत्न किया, क्योकि उन्हे भय था कि भारत मे इससे नव-चेतना अत्यन्त शीघ्रता से प्रसारित होगी, और उस परिस्थिति मे उनके लिए भारत मे अपना शासन बनाए रखना प्राय असम्भव सा होगा। अत उन्होने भारत मे वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रचलित न होने देने की भरसक चेष्टा की, पर प्रकाश की रश्मियो को रोक पाना सम्भव नही होता, अपने इस दुराग्रह मे वे सफल नही हो पाए। इस दिशा मे भारत मे प्रेसो का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यद्यपि प्रारम्भ मे व्यक्तिगत रूप से प्रेसो की स्थापना को प्रोत्साहित नही किया गया, किन्तु स्वय सरकार का ही प्रशासन सम्बन्धी कार्य इतना अधिक विकसित हो गया था कि बिना प्रेस की स्थापना के उसे अपना कार्य सरलता से चला पाना सम्भव नही रह गया था। अत विवश हो अधिकारियो ने कलकत्ता, मद्रास एव अन्य आवश्यक स्थानो पर प्रेसो की स्थापना की। प्रथम व्यक्तिगत प्रेस बप्तिस्ट पादरियो ने श्रीरामपुर मे स्थापित किया था। प्रेसो द्वारा साहित्य की प्रगति हुई और अच्छी पुस्तको का प्रकाशन अब भारत मे भी सुलभ हो गया। अभी तक इन पुस्तकों का प्रकाशन न हो पाने के कारण भारतवासी केवल उन्ही पुस्तको को पढ पाते थे, जो अग्रेजो की कृपा से भारत मे आ पाती थी। किन्तु शीघ्र ही विदेशो के महान् साहित्यकारो, चितको एव विचारको की श्रेष्ठ कृतियो का अनुवाद भारत मे होने लगा और प्रकाशनोपरान्त उनकी बिक्री मे भी आशातित वृद्धि हुई। इससे लोगो में पठन-पाठन की रुचि का प्रसार हुआ और चेतना के विकास के साथ ही भारतीय साहित्य की भी प्रगति हुई। शिक्षा के प्रसार एव नव जागरण मे पत्रो का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा। प्रारम्भ मे समाचार पत्र यद्यपि केवल अग्रेजो की प्रशसा, उनके उठने-बैठने की सूचनाओ, उत्सवो एव अन्य कार्यक्रमो के विवरणो तक ही सीमित रहे, पर शीघ्र ही उनका ताना बाना परिवर्तित हुआ और उन्होने जनता के समक्ष विदेशों की क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण तथ्य एव पश्चिमी विचारको के उजलने विचार प्रस्तुत किए, जिससे अन्धकार मे भटकती विम्भ्रान्त जनता को नवीन दिशा प्राप्त हुई और वह शिक्षा के प्रति उदासीन न रह शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार मे अपना उत्तरदायित्व समझने लगी। इसमे अनेक समाचार पत्रो ने अपना महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। इन सभी समाचार पत्रो से शिक्षा के प्रसार एव राष्ट्रीयता के विकास मे बडी सहायता प्राप्त हुई। इनके माध्यम से राजनीतिक नेता विश्व के अन्य देशो मे स्वाधीनता प्राप्ति के होने वाले संघर्ष, क्रान्ति, आर्थिक प्रगति, नव-निर्माता एव अपने जीवन को सुखी तथा समृद्धशाली बनाने के उपायों से परिचित होते रहते थे तथा राजनीतिक क्षेत्र मे

अपनी कार्य-प्रणाली उसी के अनुरूप निर्धारित करते थे। इन समाचार पत्रो ने भारतवासियो को उनके वास्तविक अधिकारो के प्रति सचेत करते हुए भारत पर अग्रेजो द्वारा अनाधिकार रूप से शासन करने का विरोध किया। धीरे-धीरे जब शिक्षित युवको की सख्या बढने लगी, तो उनमे तीव्र चेतना उत्पन्न हुई और अपनी वास्तविक सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और आर्थिक, परिस्थितियो की यथार्थता को सोचने-समझने की समर्थता भी आई। प्रेसो की स्थापना की भाँति भारत मे रेलो का आगमन भी कम महत्वपूर्ण न था। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यातायात के साधनो की भाँति डाक तार की भी व्यवस्था पूर्णतया असतोषजनक थी। डाक वितरित होने की देशी प्रणाली पिछडी हुई थी। डाक वितरित करने वालो को पैदल ही कार्य करना होता था। जहाँ ऐसा सम्भव न था, वहाँ घोडा-गाडियो से काम लिया जाता था, तथा निश्चित दूरी के पश्चात् उसकी सवारी बदल दी जाती थी। इससे एक पत्र के बटने में महीनो लग जाते थे। धीरे-धीरे अपनी स्वयं की आवश्यकताओ से प्रेरित होकर अग्रेजो ने डाक-व्यवस्था मे भी सुधार किया। जिससे देशी जीवन एकता के सूत्र मे आबद्ध हुआ। एक नया युग निर्मित होने लगा।

अग्रेजी साम्राज्यवादियो की नीति के प्रतिक्रियात्मक परिणाम के अतिरिक्त उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध मे नव शिक्षा, समस्त देश मे एक भाषा—अंग्रेजी—और वैज्ञानिक ज्ञान तथा साधनो के प्रचार तथा समस्त देश मे राजनीतिक सस्थाओ की स्थापना से भारतवासियो मे राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ, उनमे राष्ट्रीय भावना पैदा हुई, जिसका प्रकटीकरण होने लगा था। इस प्रकार भारत मे यद्यपि वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचलन बहुत बाद मे हुआ, तथापि एक बार प्रारम्भ होने पर उसमे निरन्तर प्रगति ही होती गई। जिस समय भारत मे वैज्ञानिक आविष्कारो का आगमन हुआ, उस समय वह कदाचित् विश्व का सर्वाधिक पिछडा देश था। उस समय तक विश्व के अन्य देश अत्यन्त प्रगतिशील हो चुके थे और विज्ञान उनके लिए दुर्गम न रह गया था। इन नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रचलित हो जाने से भारतीय जीवन की अनेक कठिनाइयाँ स्वत: समाप्त हो गईं। रेलो के आगमन से लोगो को अपने देश के एक भाग से दूसरे भाग मे जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और वे विभिन्न प्रकार के लोगो तथा विचारो के सम्पर्क मे आए। इससे एक प्रकार से सारा देश एक दूसरे के विचारो से सम्बद्ध हो गया और भावात्मक एकता का विकास हुआ। यातायात के साधनो मे सुधार हो जाने एव डाक-तार व्यवस्था के प्रचलन से लोगो को तुरन्त अपने देश के प्रत्येक भाग मे होने वाली घटनाओ की सूचना प्राप्त होती रहती थी। इससे देश एकता के सूत्र मे आबद्ध हो गया था।" विभिन्न भागो की सास्कृतिक परम्पराओ, विचारो एव विभिन्न लोगो के सम्पर्क मे आने से विचारो का आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ और सस्कृतियो का भी आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ।

इससे नव-जागरण आन्दोलन को बडा बल मिला और साथ ही साहित्य एवं कला की भी आशातीत प्रगति हुई। भारतीय साहित्यकारो ने उच्चकोटि के प्रगतिशील विदेशी साहित्यकारो से प्रेरणा ग्रहण कर भारत मे प्रगतिशील जन-साहित्य की रचना प्रारम्भ की। साहित्य के क्षेत्र मे जो अनेक धाराएँ और प्रवृत्तियाँ बाद में प्रचलित हुई, वे विदेशी साहित्य की ही प्रेरणा स्वरूप ग्रहण की गई हैं।

इस प्रकार यह नवोत्थान का ही युग था। पुराने प्रतिमान टूट रहे थे और नए बन रहे थे। नवीन भावनाएँ लोगो को झझोड रही थी और एक नई चेतना को आत्मसात् करने के लिये उन्हे प्रेरित कर रही थी। डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि आलोच्य काल मे पश्चिमी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने से विविध सुधारवादी तथा अन्य आन्दोलन और नई शक्तियो की वृद्धि से अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक एव सामाजिक परिवर्तन हुये, जिनके फलस्वरूप हिन्दी साहित्य और भाषा की गतिविधि परम्परा छोडकर नवदिशोन्मुख हुई। स्थूल रूप से समाज चार भागो में बटा हुआ था—एक राजा, महाराजाओ का वर्ग, दूसरा जमीदारों का वर्ग, तीसरा नव शिक्षितो एव व्यवसाइयो का वर्ग और चौथा किसानो, मजदूरों, कारीगरो आदि का निम्न वर्ग। चौथा वर्ग सख्या मे सबसे अधिक था। नवीन परिवर्तनो से वैसे सभी वर्ग प्रभावित हुए, किन्तु तीसरे और चौथे वर्ग निश्चित रूप से किसी न किसी शक्ल में प्रभावित हुए। नव शिक्षित होने के कारण तीसरे वर्ग ने सबसे अधिक क्रियाशीलता प्रकट की। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नव-चेतना उत्पन्न हुई। समाज अपनी बिखरी शक्ति बटोर कर गतिशील हुआ, नवयुग के जन्म के साथ विचार स्वातत्र्य का जन्म हुआ, साहित्य मे गद्य की वृद्धि हुई और कवि ने अपनी परिपाटी विहित और रूढिग्रस्त कविता छोडकर दुनिया नई आँखो से देखनी शुरू की। सामजस्य स्थापित करने से पूर्व साहित्यिको ने वैज्ञानिक तथा अन्य नई २ बातों को कुतूहल और उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से देखकर उनका वर्णन किया है। नवीन भावो और विचारो को सन्देह की दृष्टि देखा भी। पूरे तौर से सत्य रूप मे तो वे ग्रहण किये गये हैं। उस समय शायद वही स्वाभाविक था। आलोच्य काल के हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर यह तथ्य किसी से छिपा नही रह सकता कि यद्यपि साहित्य में बहुत बडी हद तक पुरातनत्व बना हुआ था, तो भी तत्कालीन नाटक, उपन्यास, कविता, प्रहसन, निबन्ध आदि सभी पर राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक एव सामाजिक आन्दोलनो की गहरी छाप है। भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, देवकीनन्दन त्रिपाठी तथा अनेक लेखक और कवि साहित्यिक होने के साथ २ राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक और धर्मोपदेशक भी थे। उन्नसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के हिन्दी लेखको और कवियो ने अपनी रचनाओ मे नव-

भारत की राजनीतिक और आर्थिक महत्त्वाकाक्षाएँ प्रकट कर अपने चारो ओर के धर्म और समाज की पतित अवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करते हुए भविष्य के उन्नत और प्रशान्त जीवन की ओर इगित किया है। अग्रेजी साहित्य ने उनके भावो और विचारो को प्रभावित किया, नए २ साहित्यिक रूपो का जन्म हुआ। और भाषा का शब्द भडार और अभिव्यजनात्मक शक्ति बढ़ी। किन्तु यह गतिशीलता समाज के अल्प-सख्यक लोगो तक सीमित थी। अशिक्षित होने के कारण साधारण जनता का इस सजगता सप्राणता एव सजीवता से सम्बन्ध नही था और न साधारण जनता की शक्ति का कोई विशेष प्रकटीकरण राजनीतिक क्षेत्र मे ही हुआ। प्राचीन ग्राम-व्यवस्था टूट जाने और औद्योगीकरण के अभाव मे उसमे सामूहिक चेतना का जन्म न हो सका। उच्चवर्ग नवीन शासन से आतकित और अपने वर्गीय स्वार्थ मे लीन था। सजीव अंग्रेज जाति ने विजय-गर्व के वशीभूत हो भारतवासियो से अपने को अलग रखा। फलतः उनके सम्पर्क का जितना रचनात्मक और क्रियात्मक प्रभाव पडना चाहिये था, उतना प्रभाव न पड़ सका। मध्यकालीन भारत मे जो साँस्कृतिक चेतना हुई थी। उसका अग्रेजो के शासन काल मे अभाव रहा। शुरू मे जहाँ-जहा अग्रेजो का बराबरी के दरजे पर देशवासियो के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ। वहां-वहा आशाजनक सांस्कृतिक प्रभाव दृष्टिगोचर हुए। अवध मे अमानत कृत 'इन्द्र सभा' इसी प्रभाव के कारण एक मुस्लिम राज-दरबार मे जन्म ले सकी थी। इस प्रकार का सॉस्कृतिक सम्बन्ध कम स्थानो पर और अस्थायी रूप से स्थापित हुआ और आगे चलकर उतना भी न रहा। अग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षितो और साधारण जनता के बीच व्यवधान पैदा हो गया था। जनता की ओर केवल उन्ही लोगो ने ध्यान दिया, जिन्होने अग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर भी भारतीयता और देशी भाषा एव साहित्य से सम्बन्ध बनाए रखा अथवा जो अग्रेजी शिक्षा प्राप्त न करने पर भी नवयुग की चेतना से अनुप्राणित थे। उन्होने 'बिगडे हुए' शिक्षित युवको के सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। नवोत्थान काल के प्रथम चरण मे जितने भी सार्वजनिक आन्दोलनो का जन्म हुआ, उन सभी ने अन्तत किसी-न-किसी प्रकार राष्ट्रीय रूप ग्रहण किया। हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाला आर्य समाज आन्दोलन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था। सैद्धातिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के और आर्य समाज के विचारो मे अधिक अन्तर नही था। सनातनधर्मी वैष्णव होते हुये भी आर्य समाज की अनेक बातो मे उन्हे स्वय विश्वास था।

अस्तु, अधिक विस्तार मे न जाकर संक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि १८५७ की महान् क्राति की विफलता के पश्चात् यद्यपि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भारतवासियो का साहस पूर्ण रूप से तो नही समाप्त हो गया था, पर इतना निश्चय ही स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने प्रयत्नो की दिशा मे वे पर्याप्त मात्रा मे हतोत्सा-

हित हो गये थे। ब्रिटिश अधिकारी अपने शासन का धीरे-धीरे प्रसार करते जा रहे थे। नवाबो और राजाओ का पतन होता जा रहा था। ईसा की १८वी-१९वी शताब्दियो मे मुगलो, सिक्खो, जाटो, मराठो आदि की भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ आपस मे एकता स्थापित कर विदेशियो की बढती हुई शक्ति को रोकने मे असमर्थ रही और देश मे एक ऐसी जाति का शासन स्थापित हुआ, जो अपने यहाँ की औद्योगिक क्रान्ति से प्रेरित आर्थिक एव साम्राज्यवादी नीति से प्रेरित थी। पिछले शासको की भाति उसने भारतवर्ष को अपना घर नही बनाया था। फलत देश राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नही हुआ। वरन् आर्थिक दृष्टि से भी उसकी दिशा दिन-पर-दिन शोचनीय होती गई। भारतवासियो का १८५७ का प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् अंग्रेजो की राजनीति और आर्थिक नीति खूब फली फूली। उनके पैर भली भाति जम गये और देश मे एक ऐसी शासन प्रणाली का जन्म हुआ, जो अनेक अ शो मे पिछली शासन प्रणाली या परम्परागत भारतीय शासन प्रणाली से नितात भिन्न थी। इस प्रकार उत्तर मुगलकालीन अराजतापूर्ण परिस्थितियो मे ब्रिटिश ईस्ट इडिया कम्पनी ने व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर क्रमश अपनी दूरदर्शिता, कुशलनीति एव देश के परस्पर वैमनस्य का लाभ उठाकर अपना शासन स्थापित कर लिया। यह भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त उल्लेखनीय अध्याय है।

इसी काल मे सामाजिक स्थिति भी कुछ विशेष अच्छी न थी। पारिवारिक प्रथा टूटती जा रही थी। परिवार मे सबसे बडा व्यक्ति धन कमाए और सारे परिवार का पालन-पोषण करे, यह भावना समाप्त हो गई थी। नारियो की स्थिति तो और भी दयनीय थी। उनकी आर्थिक परतन्त्रता भीषण रूप धारण कर चुकी थी। उन्हे सामाजिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो दूर की बात थी। प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता न होने के कारण सामाजिक रूढियो को तोडना प्रायः असम्भव हो गया था। बाल-विवाह बराबर छिपे तौर पर अब भी हो रहे थे। वेश्यावृत्ति भी बढती जा रही थी। दूसरे शब्दो मे समाज मे नैतिकता का पतन हो गया था। वह धार्मिक रूढियो एव जर्जरित मान्यताओ से ग्रस्त था। विधवा विवाह को मान्यता प्राप्त होने की बात तो दूर, उसे अकल्पित ही समझा जाता था। जिस प्रगतिशीलता की अत्यन्त आवश्यकता थी, समाज उससे लगभग अपरिचित था, ऐसी परिस्थितियों मे हिन्दी कहानी साहित्य का जन्म हुआ। इन समस्याओ के समाधान एव प्रगतिशीलता लाने का महत्ती दायित्व आरम्भिक कथाकारो ने अपने ऊपर लिया और सुधारवादी रचनाओं से समाज सुधार करने का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठको तक ऐसी भावनाएं पहुचाने का प्रयत्न किया। जिससे उनमें जीवन के प्रति गरिमा का अनुभव हो, उनके खडित होने वाले विश्वास एव छिन्न-भिन्न होने वाली आस्थाओ का आधार प्राप्त हो, 'चरित्र' निर्माण हो, वेश्या-

गमन का अन्त तथा मद्यपान एव जुए का अन्त हो, समाज मे दृढता आए एव उसकी प्रगति हो तथा धर्म की रक्षा हो। इतिहास के चौरस्ते पर खड़े हुये और सब तरह की नई पुरानी और अच्छी बुरी चीजो से घिरे रहने पर भी उन्होने निडर होकर भारतीय जीवन को समृद्ध बनाने का ध्रुव निश्चय किया। इस ध्रुव निश्चय का ज्वलन्त रूप था सत्यान्वेषण। इसी सत्यान्वेषण का परिणाम था कि मध्ययुगीन ईश्वर ने मानवता का रूप धारण कर लिया। बहुत दिनो पश्चात् उन्नीसवी शताब्दी के भारतवासी ने अपने और अपने चारो ओर के जीवन मे दिलचस्पी ली—आध्यात्मिक जीवन के साथ २ मनुष्य के भौतिक जीवन को भी समृद्ध बनाने की चेष्टा की। उसने वह दृष्टिकोण ग्रहण किया, जो गीता के कृष्ण का था। नवीन युग-धर्म ने जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण को एक नया पहलू प्रदान किया। तत्कालीन कथा साहित्य इस नवीन भावना के प्रवाह मे बह चला।

युगीन कहानियो का कलात्मक आधार

इस काल मे कहानियाँ अधिक नही लिखी गई, हाँ हिन्दी कहानी की परम्परा का सूत्रपात अवश्य हो गया था। अधिकाश गद्यकारो ने छोटी २ कथा-रचनाएँ की, जिन्हे यद्यपि उन्होने उपन्यास नाम दिया है, पर १० से २० पृ० की रचनाओ को कहानी कहना ही अधिक तर्क सगत होगा। स्वय लेखको द्वारा उन छोटी २ रचनाओ को 'उपन्यास' की संज्ञा दिये जाने का कारण एकमात्र यही था कि उनके रचने तथा या तो 'कहानी' का प्रवेश साहित्यिक अर्थों मे नही हो पाया था और यदि हो भी गया था, तो वह बहुत लोकप्रिय न हो सका था। अ गेजी और बगला की महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक रचनाओ के हिन्दी अनुवादो तथा स्वय हिन्दी के मौलिक उपन्यासो के कारण हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द ही अतिशय लोकप्रिय हो गया था और दस पृष्ठ की कहानी लिखने पर भी लेखकगण 'भारतीय जीवन का सच्चा गार्हस्थ उपन्यास', 'आधुनिक सभ्यता और रोशनी का उपन्यास', 'कलजुगी परिवार का सच्चा उपन्यास' आदि नाम देकर उसे उपन्यास ही कह देते थे, पर जैसा कि मैंने ऊपर कहा है कि इन दस-पन्द्रह पृ० की रचनाओ को उपन्यास नही मानना चाहिये, वरन् कहानी के अन्तर्गत ही गणना करनी चाहिये। यहाँ पूछा जा सकता है कि जब लेखक एक कृति को 'उपन्यास' कहता है, तो उसे 'कहानी' संज्ञा कैसे दी जा सकती है—यह उचित है। पर एक लेखक नाटक लिखकर उसे महाकाव्य की सज्ञा दे दे, तो उसका खडन कर उसे सही नाम देना भी उचित है।

जहा तक इस युग की प्राप्त होने वाली कहानियो के शिल्प का प्रश्न है, वे वर्णनात्मक शैली मे हैं, उनका उद्देश्य मनोरजन ही रहा है, यद्यपि प्रसंगवश उनमे तत्कालीन समस्याएँ एव जीवन भी चित्रित करने की चेष्टा भी की गई है। इस युग की कहानियो का वर्गीकरण निम्न भागो मे किया जा सकता है—

१—सामाजिक कहानियाँ, जैसे प्लेग की चुड़ैल।

२—चरित्र प्रधान कहानियाँ, जैसे इन्दुमती।

३—जासूसी कहानियाँ, जैसे गुलबहार या सात खूनी।

इस काल की जो सामाजिक कहानिया हैं, उसमे सम या जीवन नाममात्र को है, उनका उद्देश्य भी प्रमुखत मनोरंजन ही रहा है। हा लेखको ने उनमे तत्कालीन जीवन की परिस्थितियो की ओर बडी स्थूलता से सकेत देकर यथार्थ को उजागर करने की चेष्टा की है, पर वह प्रयास विशेष सफल नही रहा है। यह यथार्थ केवल आभास भर देता है, किसी सत्य से परिचित नही करता और न मन पर कोई प्रभाव छोड जाने मे ही सफल रहता है। वास्तव मे जिस प्रकार हिन्दी उपन्यास सुधारवादी भावना लेकर आया था, हिन्दी कहानी साहित्य भी सुधारवादी भावना लेकर ही आया था। इस युग के कहानीकारो ने अपनी रचनाओ मे किसी न किसी सुधारवादी भावनाओ का ही चित्रण करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा है—भावनाओ के अतिरिक्त इन कहानियो का सर्वप्रथम लक्ष्य अपने पाठको का मनोरजन करना था। इन कहानियो मे कोई कलात्मक परिपक्वता नही है, यह सत्य है, पर उन का महत्त्व मात्र इस दृष्टि से नही आका जाना चाहिये, वरन इस दृष्टि से कि उन्होने एक गौरवशाली परम्परा का सूत्रपात ही नही किया, उसका स्वरूप सुनिश्चित करने में भी उल्लेखनीय योगदान प्रदान किया। ये सभी प्रारम्भिक कहानीकार चाहे सनातनधर्मी हो, या आर्य समाजी उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था। वे नैतिकता का उत्थान एव भारतीय सस्कृति की गौरवशील परम्पराओ एवं जीवनगत मूल्य-मर्यादा की रक्षा चाहते थे। तथाकथित पश्चिमी सभ्यता के सस्पर्श से उसे खड २ होकर टूटते नहीं देखना चाहते थे।

इन कहानियो का कथानक इतिवृत्तात्मक प्रवृत्तियो को अधिक लिए हुये होते थे और उनमे सयोग तत्त्वो (chance Elements) को अधिक महत्त्व दिया जाता था। लेखको का ध्यान कथानक की स्वाभाविकता की ओर उतना नही रहता था, जितना अपने उद्देश्य की प्राप्ति अथवा पाठको के मनोरजन की दिशा मे। बीच २ मे धर्म समाज, जीवन, विधवा समस्या, वेश्या समस्या आदि के सम्बन्ध मे भी कोई वाक्य या सत्य फिट कर दिया जाता था। जिसका कहानी से प्रत्यक्षत कोई सम्बन्ध नही होता था। कुछ उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

(१) 'इन्दुमती विन्ध्याचल के सघन वन मे अपने पिता के साथ रहती है। वन में रहने के कारण उसने किसी अन्य मनुष्य को नही देखा था। अजगढ का राज कुमार चंद्रशेखर पानीपत के प्रथम युद्ध मे इब्राहीम लोदी की हत्या करके भागता है। इब्राहीम का एक सेनापति उसका पीछा करता है तथा वह विन्ध्याचल के घने जगल की ओर भागता है। जहा घोड़े के मर जाने के कारण वह एक पेड़ के नीचे भूखा-

प्यासा पड जाता है । इन्दुमती उसे देखते ही मुग्ध हो जाती है । चद्रशेखर भी उससे प्रेम करने लगा है । इन्दुमती का वृद्ध पिता देवगढ का राजा था । इब्राहीम लोदी ने उसका राज्य छीन लिया था, जिससे वह जगल मे रहता था । उसने प्रतिज्ञा की थी, जो इब्राहीम लोदी को मारेगा, उसी के साथ वह इन्दुमती का विवाह करेगा । चद्र-शेखर ने इस प्रतिज्ञा को अनजाने मे ही पूरा कर दिया था । चद्रशेखर और इन्दु के सच्चे प्रेम को देखकर इन्दु के पिता ने दोनो का विवाह कर दिया, क्योकि चद्रशेखर प्रेम परीक्षा के लिए इन्दु के पिता ने उससे कठिन परिश्रम कराया था ।' (इन्दुमती : किशोरीलाल गोस्वामी ।

(२) 'बशीधर का एक मित्र नवलकिशोर अत्यन्त ही हँसमुख है । वह अपनी पत्नी के साथ इलाहाबाद जा रहा है । बशीधर बनारस से जल्दी २ चलकर मुगल-सराय पहुचता है कि अपने मित्र के साथ वह भी इलाहाबाद जाय, किंतु मुगलसराय स्टेशन पर वह अपने मित्र को नही पाता । मिरजापुर स्टेशन पर बशीधर के डिब्बे मे एक स्त्री मिली, जो इसलिए रो रही थी कि उसका पति मिरजापुर स्टेशन पर गाड़ी से छूट गया । उसी डिब्बे मे दुलाई ओढे एक दूसरी स्त्री भी बैठी थी । बंशीधर ने उस रोती हुई स्त्री को आश्वासन दिया और इलाहाबाद स्टेशन पर उतर कर उस स्त्री के पति का पता लगाने चले गये । इधर नवलकिशोर जो दुलाई ओढे बैठे थे, अपना रूप बदलकर तैयार हो गए और इस प्रकार अपने मित्र बशीधर से मिले ।' (दुलाई वाली बग महिला ।

(३) 'दो मित्र रात को टहलते २ एक उजडे हुए गाव के खडहर मे पहुँचते हैं । वहाँ दैव-सयोग से वे एक स्त्री देखते हैं और उसका पीछा कर उससे उसका परि-चय लेते है । स्त्री अपनी कहानी कहती है कि वह काशी की लडकी है । ग्यारह वर्ष हुए । उसकी शादी इसी खण्डहर वाले गाव मे हुई थी लेकिन दैव-संयोग से उसी वर्ष भयानक बाढ से वह गाँव बह गया और सब लुप्त हो गए । उस समय वह लडकी बहुत अबोध और अज्ञान थी, उसे इन बातो का कुछ भी पता न था । वह बस काशी ही मे अपने मा-बाप के घर रही, लेकिन जब वह तरुण हुई, उसे घर परिवार से ताने व्यंग्य मिलने लगे । फलस्वरूप वह ढूँढ़ती २ उसी गाँव के खंडहर मे चली आई । उधर उसका पति बाढ मे बहते-बहते एक व्यापारी की किश्ती मे कलकत्ता पहुचा । वह कुछ वर्षों बाद पुरुष को एक शादी देखकर अपनी स्त्री की याद आई वह वहां से चल पडता है । अन्त मे स्पष्ट हो जाता है कि वह खडहर की स्त्री और उससे बातें पूछने वाला वही युवक आपस मे दोनों ग्यारह वर्षों के बिछडे हुए पति पत्नी हैं । इस की पुष्टि स्त्री पुरुष के हाथ मे एक तिल देखकर करती है । (रामचन्द्र शुक्ल : ग्यारह वर्ष का समय)

इन कहानियो मे कथोपकथनो की कोई गु जायश नही रहती थी, क्योकि सारी कहानी सदा रोचक एव वर्णनात्मक शैली मे कही जाती थी। इसमे वार्तालाप की शैली इस प्रकार प्राप्त होती है "हे ··न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप, न लम्बी-लम्बी कोर्टशिप हुई, यह प्रेम कैसा। महाशय रुष्ट न हूजिये। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और नि स्वार्थ हृदय मे हो सकता है। इसकी जड ससार के और प्रकार के प्रचालित प्रेमो से दृढतर और प्रशस्त है। आपको सतुष्ट करने को मैं इतना और कहे देता हू कि इगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मत्री अर्ल ऑफ बेकन्स फील्ड का भी यही मत है।[1]

इत वार्तालाप मे स्पष्ट है, स्वय कहानीकार ही बातचीत करता प्रतीत होता है, जिसमे कहानी कहने के साथ ही वह आलोचक और दृष्टा भी बन जाती है। इस तरह की आरोपित वार्तालाप शैली इस युग की कहानियो की सर्व प्रमुख विशेषता है। एक उदाहरण इस प्रकार है पति ने कहा, 'मैं सच कहता हू मैं तुमसे डरा करता हू, तुम्हारी अधता ने मुझे एक अनन्त आवरण से ढक रक्खा है, वहाँ मेरा प्रवेश असम्भव है। मैं जिसको धमका सकू , जिस पर क्रोध कर सकू, जिसे आदर कर सकू , जिसके लिये गहने गढा सकू । मुझे ऐसी पत्नी चाहिए।"[2] इस युग की कहानी मे यद्यपि कही-कहीं चरित्र चित्रण की दृष्टि से मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण का हलका पुट मिल जाता है, पर प्रमुख रूप से चरित्र चित्रण के लिए विश्लेषणात्मक शैली का ही उपयोग हुआ है, जिसमे कही भी नाटकीयता परिलक्षित नही होती। इस युग मे भाषा का कोई उपयोग करता था। किसी की भाषा सस्कृत गर्भित होती थी, तो किसी की उर्दू का पुट लिए हुए। 'किसी महफिल मे एक काली कलूटी रडी नाच रही थी। जब नाच चुकी किसी ने पूछा, बीबी जी आप का इसमशरीफ क्या है ? बीबी ने उत्तर दिया कि जनाब बन्दी को मिसरी कहते हैं। फिर मिया ने कहा कि किस बेवकूफ ने आपका नाम मिसरी रखा है तुम तो शीरा हो। बीबी ने हसकर उत्तर दिया कि खैर साहब आपकी हम शीरा ही सही।···एक बूढा कमर झुकाए लाठी लिए बाजार मे चला जाता था राह मे किसी ने पूछा कि यह कमान तुमने कितने मे लिया है। उसने उत्तर दिया कि थोड़े दिन सबर करो यह तुम्हे आप से आप मिल जायगा।[3] इसके अतिरिक्त दूसरा रूप वह प्राप्त होता है। जो संस्कृत गर्भित हैं। सद्ज्ञान रूपी प्रभाकर के अर्न्त ध्यान होते ही महामोह निशा आन पहुची। सारा जगत अधकारमय हो गया। रजनी-चरों ने अपने अनुकूल समय जान एकाएक हलकड मचा दिया। वचक लुटेरे तस्कर-

---

१. सरस्वती, सितम्बर १९०३, भाग ४, सख्या ९, पृष्ठ १३६।

२. सरस्वती, १९०३, भाग ४, सख्या २, ३

३. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८७९ ई०, पृष्ठ ४२

गण निशाबल पाय अपने मनोरथ समयानुकूल प्रत्येक का उदयास्त उचित ही है इसएिए उस परात्पर प्रभु ने भगवान मृगधारी न्याय सुधाकर को प्रकट किया।" इस प्रकार यह वह युग था, जब गद्य भाषा का निर्माण हो रहा था, जिसका वास्तविक अगले युग मे देखने के मिला।

युगीन कहानियो मे चित्रित प्रवृत्तियाँ

ऊपर बताया जा चुका कि हिन्दी कहानी साहित्य सुधारवादी प्रवृत्ति लेकर ही आया था। इम युग के प्राय सभी रचनाकारो ने अपनी रचनाओ मे किसी न किसी प्रकार सुधारवादी भावनाओ का ही चित्रण करने का प्रयत्न किया है। ये सभी कहानीकार चाहे सनातन धर्मी हो, या आर्य समाजी, उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था। वे नैतिकता का उत्थान एव भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओ एव जीवनगत मूल्य-मर्यादा की रक्षा चाहते थे, तथाकथित पश्चिमी सभ्यता के सस्पर्श से इसे खण्ड तथा समाज के बहुविधिय पक्षो मे आदर्श ही देखने पक्षपाती थी इसलिए इस काल की रचनाओ मे यदि यथार्थवाद का विषेश आग्रह न मिले, तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए, क्योकि जीवन का यथार्थ चित्रण करना इन लेखको का उद्देश्य न था। ऐसी बात नही थी कि सामाजिक यथार्थ को पहचानने की उनमे क्षमता नही थी या उनके पास सत्यान्वेषण की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि न थी, वरन् वे आदर्श को यथार्थ से अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। पीछे मैंने स्पष्ट किया है कि इस काल की सामाजिक स्थिति भी कुछ विशेष अच्छी न थी। पारिवारिक प्रथा विश्रृखलित होती जा रही थी। परिवार मे सबसे बडा व्यक्ति धनोपार्जन करे और सारे परिवार का पालन-पोषण करे। यह भावना शून्य मे लीन हो गई थी। नारियो की स्थिति तो और भी दयनीय थी। उनकी आर्थिक परतन्त्रता भीषण रूप धारण कर चुकी थी उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो दूर की बात थी। प्रेम और विवाह की स्वतन्त्रता न होने के कारण सामाजिक रूढियो को तोड़ना प्रायः असम्भव हो गया था। बाल विवाह बराबर छिपे तौर पर अब भी होते जा रहे थे। वेश्या वृत्ति भी बढ़ती जा रही थी। दूसरे शब्दो मे समाज मे नैतिकता का पूर्णतया पतन हो गया था। धार्मिक रूढ़ियो एव जर्जरित मान्यताओ से समाज ग्रस्त था। विधवा विवाह को मान्यता देने की बात तो दर किनार,उसकी कल्पना करना भी अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। जिस प्रगतिशीलता की अत्यन्त आवश्यकता थी, समाज उससे लगभग अपरिचित था। ऐसे वातावरण मे हिन्दी कहानी साहित्य का सुधारवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर आना स्वाभाविक सी था इन समस्याओ के समाधान एव प्रगति शीलता लाने का दायित्व इन आरम्भिक कहानीकारो ने अपने ऊपर लिया था और सुधारवादी कहानियो की रचना से समाज-सुधार करने का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही उनके माध्यम से पाठको तक ऐसी भावनाए पहुचाने का प्रयत्न किया, जिससे

जीवन के प्रति गारिमा का अनुभव हो, उनके खण्डित होने वाले विश्वास एव छिन्न-भिन्न होने वाली आस्थाओ को आधार प्राप्त हो, 'चरित्र' निर्माण हो, वेश्यागमन का अन्त हो मद्यपान एव जुए का अन्त हो समाज मे दृढता आए एव लोगो मे अपने दायित्व को समझने तथा उसका निर्वाह करने की प्रवृत्ति का जन्म हो। यह एक प्रकार से आवश्यक भी था कि कहानीकार जीवन की इन महत्वपूर्ण समस्याओ को अपनी कहानियो मे चित्रित करे और गौरवपूर्ण जीवन के निर्माण पर बल दें। यद्यपि इस युग मे कहानी साहित्य कोई बहुत अधिक प्रगति नही कर पाया था पर किशोरीलाल गोस्वामी, रामचन्द्र शुक्ल, बगमहिला, मास्टर भगवानदास तथा पडित गिरिजादत्त वाजपेयी आदि कहानीकारो ने किन्ही सीमाओ तक अपनी कहानियो मे जीवन की इन्ही ज्वलन्त समस्याओ की ओर ध्यान दिया, हालाँकि वह चलते-चलते प्रसगवश उन्हे भी स्पर्श कर खाना पूर्ति कर लेने के समान था, अथवा उपदेशक बनकर शिक्षा देने की प्रक्रिया मात्र थी। उनमे जीवन की गरिमा कलात्मक ढग से स्थापित करने का प्रयत्न नही के बराबर था।

इसी प्रकार इस प्रारभिक काल मे कहानियो का मानव जीवन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नही स्थापित हो पाया, पर जो भी प्रयत्न हुए, उनमे वह अकुलाहट और बेबसी का आभास हमे प्राप्त होता है, जो आगे चलकर क्रियाशील रूप मे प्रकट हुआ। वास्तव में युगीन समस्याओ को कहानियो मे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने के कारण स्पष्ट हैं। यह युग कहानियो का प्रारम्भिक युग है, वरन् कहना यह चाहिए कि यह युग हिन्दी कहानियो की दृष्टि से शैशवावस्था का ही युग था। इस युग मे हिन्दी सेवियो के सम्मुख सर्वप्रमुख समस्या कहानियो के लिए उपयुक्त वातावरण एवं पाठको का वर्ग तैयार करने की थी। जो कहानीकार साहित्य क्षेत्र में आए, उनके सम्मुख कोई दिशा न थी, कोई परम्परा न थी। उन्हे अपना मार्ग स्वय निश्चित करना था। उन्हे अपनी मजिल का स्वरूप भी स्वय ही निर्धारित करना था पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस युग के कहानीकारो का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी कहानियो के लिए उपयुक्त और लोकप्रिय वातावरण तैयार करना था, जिससे हिन्दी कहानियाँ अधिकाधिक पाठको तक पहुच सके। इसके लिए उन्होने कहानियो मे कलात्मक और रोमांचकारी प्रसगो को ही अधिक से अधिक स्थान दिया। ऐसी घटनाओ को स्थान दिया गया, जिन्हे पढते ही पाठक उछल पडते थे और उसी प्रकार की दूसरी कहानियो को पढने के लिए व्यग्र रहते थे। फिर भी यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि इन कहानियो मे युगीन समस्याओ को जरा भी स्थान नहीं दिया गया। सच तो यह है कि हिन्दी कहानी साहित्य के मूल मे सुधार-वादी दृष्टिकोण ही क्रियाशील था। आगे चलकर अनेक कहानीकारो ने समाज या वर्ग को सुधारने की चेष्टा में ही कहानियों की रचना की। वास्तव मे उस समय

नाटको के अतिरिक्त केवल कहानी-उपन्यास ही ऐसे साधन थे। जिनके माध्यम से समाज के दोषो का निराकरण करने का प्रयत्न किया गया। नैतिकता, सुचारु एव दायित्व निर्वाह की भावना के प्रति सचेत करने का प्रयास भी इन्ही के माध्यम से किया गया। उस समय कही भी ज्ञान बुद्धि का प्रकाश कही दृष्टिगोचर नही होता, इसलिए कहानियो के माध्यम से सामाजिक चरित्र को ऊचा उठाने का प्रयत्न किया गया। किशोरीलाल गोस्वामी, केशव प्रसाद मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, वग महिला, मास्टर-भगवानदास आदि ऐसे ही अनेक कहानीकार थे, जिनमे युगीन समस्याओ को उठाने और उनका समाधान प्रस्तुत करने की व्यग्रता थी। 'प्लेग की चुडैल', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'आपत्तियो का पहाड', 'इन्दुमती', तथा 'दुलाई वाली' आदि ऐसी अनेक रचनाएँ इसी सन्दर्भ मे देखी जानी चाहिए। इन लेखको ने अपनी रचनाओ मे समाज के पतन की ओर ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त उस समय दूसरी भावना भी व्याप्त थी। जो सामाजिक और धार्मिक सुधार की भावना के अतिरिक्त थी। और वह भावना थी राष्ट्रीय भावना। घरेलू जीवन से सम्बन्ध रखने वाली गृहस्थ जीवन की कहानियो की भी रचना की गई। प्राय लेखको ने पुत्र को अग्रेजी प्रभाव से प्रभावित दिखाया है, जिससे उसके पिता और उसकी भावनाओ मे भिन्नता आ जाती है, फलत सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। अथवा घर मे पढी लिखी बहू है, तो सास या ननद अशिक्षित होती थी। उनके परस्पर मनोमालिन्य और सघर्ष के चित्र भी इन कहानियो मे यत्र तत्र प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार युगीन समस्याओ का कहानियो मे चित्रण की समस्या पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि इस युग की कहानियो मे युगीन प्रवृत्तियो को यथासम्भव स्थान देने का प्रयत्न किया गया था, पर चूकि यह कहानियो का प्रारम्भिक युग था और हिन्दी कहानियों के भविष्य की उज्जवल पीठिका तैयार हो ही रही थी, इसलिए ये प्रयत्न अधिक महत्त्वपूर्ण न सिद्ध हो सके।

हिन्दी खडी बोली में कथा साहित्य का प्रारम्भ

पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि खडी बोली गद्य के विकास मे सैयद इंशा अल्लाह खा का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उनकी प्रसिद्ध रचना, उदयभान चरित या 'रानी केतकी की कहानी' का इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। इसकी रचना १८०० या १८०८ के मध्य हुई होगी। यह कहानी उन्होने कहानी लिखने की भावना से न लिखा था, वरन् एक स्थान पर अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने लिखा है, 'एक दिन बैठे बैठे अपने ध्यान मे यह बात चढी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमे हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से एक कोई पढ़े-लिखे पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाग

यह खटराग लाए। सिर हिलाकर मुह थुथाकर, नाक भौहे चढाकर, आँखे फिराकर लगे कहने यह बात होते नही दिखाई देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।'इशा की कहानी लौकिक शृगार से ओत-प्रोत कहानी हैं। इसमे सयोग तत्त्वो (chance Elements) को महत्व देते हुए अनेक अलौकिक घटनाओ का समावेश किया गया है। सभी पात्र हिन्दू हैं और उनमें पर्याप्त सक्रियता है। इस कहानी मे कथोपकथनो का यद्यपि पूर्णतया बहिष्कार नही किया है, पर चू कि कहानी वर्णनात्मक शैली मे लिखी गई है, इसलिए उसमे कथोपकथनो का कोई विशेष महत्व नही है। पर इससे कहानी की परम्परा का प्रारम्भ न हो सका उस दिशा मे सारा कार्य भारतेन्दु युग मे ही हुआ। भारतेन्दु युग मे अनेक पत्रिकाओ का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, जिनमे इस दिशा मे किए गए प्रयत्न परिलक्षित होते हैं। 'कवि वचन सुधा, (१८६७), 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' (१८७३), 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७४) 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७), 'ब्राह्मण' (१८८०), 'सार सुधानिधि' (१८७६), 'क्षत्रिय पत्रिका' (१८८०) तथा 'भारतमित्र' (१८७७) आदि पत्र-पत्रिकाओ मे हिन्दी भाषा और गद्य के विकास के साथ विभिन्न साहित्य रूपो के अविर्भाव एव विकास का भी प्रयत्न किया जा रहा था।

इन पत्रिकाओ मे गद्य काव्य, निबन्ध, हास्य-व्यग्य के अनूठे चित्र, स्वप्न चित्र, सरस एव ललित लेखो आदि का प्रकाशन करने का प्रयास हो रहा था, जिनका हिन्दी कहानी के आविर्भाव के मूल मे उल्लेखनीय स्थान है। इनके सम्पादकीय तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सास्कृतिक एव राष्ट्रीय विषयो से सम्बन्धित होते थे और छोटी-छोटी टिप्पणी देकर उनके भी माध्यम से सुधारवादी भावना को प्रश्रय दिया जाता है। इनकी शैली बडी रोचक एव सरस होती थी, जिन्हें कहानियो का एक प्रकार से प्रारम्भिक रूप मे कहा जा सकता है, जैसे, "हम सरकार से और अपने सब आर्य भाइयो से हाथ जोडकर निवेदन करते हैं। इसको सब लोग एक बेर चित्त देकर और हठ छोडकर सुनै, यदि सरकार कहे कि हम धर्म विषय में नही बोलते तो उसका हमसे पहले उत्तर ले। सती होना हमारे यहाँ स्त्रियो का परम धर्म है इसको सरकार ने बलपूर्वक क्यो रोका है, क्योकि यह धर्म प्राण से सम्बन्ध रखता है और प्रजा की प्राण रक्षा राजा को सबके पहले मान्य है। वैसे ही हम जो कहेंगे उसमे भी प्रजा के प्राण से सम्बन्ध है। अभी बनारस मे बूलानाले पर से एक लड़की नल मे से निकली है। नि सदेह भगवान ने उसको अपने प्रकोप बल से बचाया है नहीं तो उसकी माता तो अपनी जान से उसे मार चुकी थी। ऐसी हत्या सारे हिन्दुस्तान में यदि सब पकडी जाय और गिनी जाय तो प्रति महीने मे एक हजार होती है, इस हत्या के दोषी कौन हैं ?"[1] "हमारे ही आर्यगण और धर्माभिमानी

१. श्री हरिश्चन्द्र चंद्रिका : खण्ड २, मार्च १८७५ संख्या ६

लोग, यदि वह यौनर्भव सतति की निन्दा न करते उसका अनुमोदन करते तो यह हत्या क्यो होती ? यह हमने कभी कहा है न कहेगे कि सबका बलात् पुनर्विवाह हो, परन्तु जो कन्या देश मे विधवा हो गई हैं वा जिनको कामचेष्टा हो उनका विवाह क्यो न हो, इसलिये कि हर महीने एक सहस्र आर्य सतति नष्ट हो। हाय रे काम ! अपनी स्त्री मरे पर कैसा कूदकर ब्याह कर लेते हो, पर स्त्रियो को नही करने देते क्योकि इन्द्रिय दमन तुम्ही को हो उनको थोडे ही है, सब अनर्थ हो जाय, स्त्रियाँ वेश्या हो जायँ, गर्भ गिरे बालक मरे यह बात जाहिर हो थाना पुलिस जेहलखाना सब होय पर पुनर्विवाह न होय। होय कैसे इसमे जो नाक कटेगी। सच है फूटी सही जायगी आँजी न सहेगे। सच है जबरदस्त का ठेगा सर पर। यदि स्त्रियाँ भी प्रबल होती तो कैसे होने पाता।"[1] इस प्रकार के निबधो की इन पत्र-पत्रिकाओ मे भरमार रहती है।

ऐसे निबधो की सर्वप्रमुख विशेषता सरसता और उनकी कथात्मकता रहती थी, जिनका कहानी की चित्रात्मकता से निकट साम्य रहता था। एक बार हरिश्चन्द्र मैगजीन' मे 'प्रान्तर प्रदर्शन' नामक एक लेख प्रकाशित हुआ था[2] उसका एक उदाहरण इस प्रकार है : "अहा हा ! वह कौन सा देवता है जिसके दर्शन के हेतु मुसलमान अपना इसलाम छोड और क्रस्तान अपने मत से मुह मोड उन्मत्त से हो उस दीपक की द्युति के अनुराग मे आपको उसके चारो ओर पतग से उडा रहे है और ज्यूज अपने जीवन से हाथ धो बौद्ध बुद्धि खोय गान पाखड तजि और सकल मतावलम्बी इस भुवन के हिन्दुओ की भाँति मनसा वाचा कर्मणा से इस देव की पूजा मे तत्पर हो रहे है। कोई उसके ध्यान के निमित्त अपना पराया घर द्वार कुल परिवार वरन् इस ससार से विमुख हो नदी के करार पर छा रहे हैं जिसका नील वर्ण जल दर्पण सा झलकता है और वायु के सनसनाहट मे छोटी-छोटी लहरे मन तरग मे आकर अपने प्रीतम सिधु की ओर उसके मिलने के लिए पधारती हैं ? पक्षियो के बोल समीर के डोल भ्रमरो के गुज फूलो के पुज के बान से तो वे मूर्छित हो भूमि पर घूम ही रहे थे। इतने मे क्या देखते हैं कि बैकुण्ठ की सारी अप्सरा रभा, हूर-परी, मेनका, उर्वशी आदि इधर-उधर सगमरमर और सग मूसा की सडको को अपने चरण कमल की धूरि से सुगन्धित करती हैं। रभाओ के रूप का प्रकाश इतना फैला कि सूर्य मारे भय के अस्ताचल के कन्दरे मे जा छिपा। कोई कहते हैं कि लज्जा के मारे पश्चिम मे समुद्र मे जा डूबा और शरद ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा ऊपर चढ सारे ग्रह तारो और राशियो के साथ चतुराई का सबसे पहले इनकी शोभा देखने के लिए आकाश रूपी

---

१ श्री हरिश्चन्द्र चंद्रिका · खण्ड २, सख्या ६, पृष्ठ १७२

२. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन : १५ नवम्बर १८७३ ई०, पृष्ठ ३४

मे बदी सा आ लटका और आकाश के सुर गण इस चाँदनी मे उस बाटिका के बीचो-बीच एक चबूतरे पर जो कि लाजवर्द का बना है और जिसके चारो ओर और कोने पर फव्वारे हैं। पक्ति की पक्ति सोने रूपे की जडाऊ चौकियो पर असख्य चन्द्रमा बैठते देख चकोर के समान अपना जी हारने लगे। बैठते ही एक सखी अपने चारो ओर जमुर्द के वृक्षो की झलक, मू गे के समान लाल अधर दिखाती हुई सुधा मेह बरसाती है, हे परियो तुम जानती हो, सुन्दरता क्या वस्तु है ? इस प्रश्न को सुनकर सब हम पडीं और कहने लगी कि, तू अपने यौवन पर मोहित होकर पागल हो गई हो अतएव ऐसी बातें मु ह से निकालती है।"

इस प्रसग मे प्रकृति का वर्णन इतने सुन्दर ढग से प्रतीको और उपमाओ के माध्यम से किया गया है तथा सरसता के साथ कथात्मक प्रवृत्तियो का इतने सहज ढग से निर्वाह किया गया है कि यह विश्वास करना भी कठिन हो जाता है कि प्रारम्भिक युग की यह कोई कहानी नही एक लेख है। इसी तरह के दूसरे व्यग्य चित्रों, जो लेख नही होते थे और जिन्हे उस समय 'चीज' कहा जाता था, को भी इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रधानता दी गई थी। 'पडित जी वर्ण विवेक पर कुछ वक्तृक्ता कर रहे थे इतने में एक मसखरा बोल उठा पडित जी कुत्ते की क्या जात है, हिन्दू या मुसलमान। पडित जी ने जवाब दिया कुत्ता तो हिन्दू मालूम होता है क्योंकि जो मुसलमान होता तो दूसरे कुत्ते को अपने साथ खिलाने मे न भूकता।" चीज नम्बर २ "भिखारिन अधी बुढिया बोझ सिर पर लादे जा रही थी किसी ने पूछा बूढा तुम्हारा नाम क्या है ? उसने जवाब दिया दौलत। आदमी ने कहा क्या दौलत भी अधी होती है। बुढिया बोली अधी नही है, तो क्यो मेरे घर न आई ?"[1]

इन 'चीजो' को भी कहानी का पूर्व रूप ही कहा जाएगा, जिसके लिए इस प्रकार पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। इसमे दिखाया जाता कि कुछ लोग इकट्ठे होते और इसी प्रकार की कोई व्यग्य 'चीज' का स्मरण हो आता, जैसे "एक पढे-लिखे सभ्य महाशय बेकारी की हालत मे घर बैठे पाच-सात लगोटिया यारो से सलाह करने लगे कि यार कहाँ जायें कौन सा उद्यम करे जिससे रोटी चले। उनकी यह बात सुन जिसे जैसा समझ पडा यार लोगो ने अपनी-अपनी राय जाहिर की। बाद इसके सभ्य महाशय ने भी कुछ कहना शुरू किया कि इतने मे उनकी स्त्री जो किसी पुलिस कर्मचारी की बेटी थी, पर्दे के आड मे ढोल बजाय गाने के मिस से सलाह देने लगी सो पीछे सुन लीजिये। पहले इन लगोटिया यारो के दास्तानो को भी सुनते चलिये। एक ने कहा, यार, आप कथक्कड़ वक्ता बन जाइये। सेर खा लिया पीली मिट्टी से दोनों ओर कान तक माथा मीच लीजिये तेली तमोली सूद बाबर को इकट्ठा कर

१. हिन्दी प्रदीप, नवम्बर १८७९ ई०, पृ० ७६

असभ्य देहाती बोली मे गाली गुप्ता बकी लीजिए । औरतो के लिये दो-एक छल्ला अगूठी पहन लीजिये । जनानी बोली मे खूब मटकिये यह न बन सके तो गुरु बन तन-मन-धन अर्पण कराइए । इसी तरह लगोटिया यार गपास्टक करते हैं चोरी बेईमानी की बातें । इस पर अन्त मे सभ्य की औरत गाने लगती है—

लिखाय नाही देव्यौ पढ़ाय नाहीं देव्यौ ।
सैयाँ फिरगिन बनाय नाही देव्यौ ॥

इस गाने के समाप्त होते ही लगोटिया[1] यार सब कहकहे मारते ताली पीट-पीट अपने घर चले गये । इसी प्रकार के स्फुट एव हास्य चित्र भी इन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित किये जाने लगे, जिन्हे 'गपाष्टक' कहा गया । 'हिन्दी प्रदीप' मे तो 'गपाष्टक' नामक एक स्तम्भ ही रहा करता था, जिसके साथ अनेक व्यग्य चित्र भी दिए जाते थे । अनुमानत इसे स्वय सम्पादक ही लिखता रहा होगा । इनमे हास्य-व्यग्य का इतना गहरा पुट रहता था कि इन्हे कहानी के अश भी स्वीकारने मे कोई आपत्ति नही हो सकती थी । ये अश इतने पुष्ट होते थे कि 'कहानी' न प्राप्त होने पर विस्मय ही होता है । शोधार्थियो को इस सम्बन्ध मे पूर्वाग्रहो से हटकर अन्वेषण कार्य करने की आवश्यकता है, सम्भव है प्रारम्भ की कुछ और कहानियाँ प्राप्त हो सकें, जिससे हिन्दी कहानी की और भी सुनिश्चित प्रारम्भिक परम्परा का स्पष्टीकरण हो सके :

"एक बूढा मनुष्य जिसकी कमर बुढ़ापे से झुक गई थी कुबडे की भाँति हाट मे चला जा रहा था । एक मसखरे ने पूछा बडे मियाँ क्या ढूँढ़ते जाते हो । बूढे ने जवाब दिया, बेटा मेरी जवानी खो गई है उसी को ढूँढता हू ! मसखरे ने कहा, कि बड़े मियाँ झूठ क्यो बोलते हो, यो क्यो नही कहते कि कबर के लिये जमीन ढूँढ रहा हू ।"

"किसी महफिल मे एक काली कलूटी रडी नाच रही थी । जब नाच चुकी तो किसी ने पूछा, बीबी आपका इसमशरीफ क्या है ? बीबी ने उत्तर दिया कि जनाब बन्दी को मिसरी कहते हैं । फिर मियाँ ने कहा कि किस बेवकूफ ने आपका नाम मिसरी रक्खा है तुम तो शीरा हो ! बीबी ने हँसकर उत्तर दिया कि खैर साहब आपकी हमशीरा ही सही !"

"एक बूढा कमर झुकाए लाठी लिए बाजार मे चला जाता था राह मे किसी ने पूछा कि यह कमान तुमने कितने मे लिया है उसने उत्तर दिया कि थोडे दिन सबर करो यह तुम्हे आप से आप मिल जायगा ।"[2]

१. हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८९ ई०, पृष्ठ ३८
२. हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८७९, पृष्ठ ४२

इसी प्रकार इन पत्र पत्रिकाओ मे 'स्वप्नो' की भी व्यवस्था होती है, जो कहानी के अधिक निकट होते थे और उनमे नाटकीय कथात्मक प्रवृत्तियो का अनायास ही समावेश हो जाता था, उनमे उतनी ही सरसता एवं रोचकता रहती थी तथा लिखने वालो की वर्णनात्मक प्रतिभा एव विवरण देने की प्रवृत्ति का भी परिचय प्राप्त होता था : 'सद्ज्ञान रूपी प्रभाकर के अतंध्यान होते ही महामोह निशा आन पहुची सारा जगत् अधकारमय हो गया। रजनीचरो ने अपने अनुकूल समय जान एकाएक हलकड मचा दिया। वचक लुटेरे तस्करगण निशाबल पाय अपने मनोरथ साधन मे तत्पर हुए, उल्लुओ की बन आई। रुद्रगण का तो राज्य ही हो गया लेकिन समयानुकूल प्रत्येक का उदयास्त उचित ही है, इसलिए उस परात्पर प्रभु ने भगवान मृगधारी न्याय सुधाकर को प्रकट किया। जिनके नीतिमय मनोहर किरणो के प्रकाश से अधकार हट-हटकर जगत् की भलाई और उपकार का उद्योग होने लगा और सबको भरोसा हुआ कि जिस ज्ञान प्रभाकर के प्रकाश मे हम लोग चैतन्य और स्वतन्त्र स्वरूप थे अब वही समयानुकूल श्वेत वर्ण का न्याय सुधाकर हो के प्रकट हुआ। अब उसकी शीतल मनोहर किरणो के आश्रय और सहायता से हमारे सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हुए। फिर आलस ने हाथ पकड़ कर योग-निद्रा को सौप दिया फिर क्या पूछना है ? सम्पूर्ण इन्द्रियो के धर्म शिथिल हो गए केवल वैर फूट की लालसा यथावत स्थित रही। इस स्वप्नावस्था मे यद्यपि अनेक प्रकार के वृत्तान्त दृष्टिगोचर हुए हैं पर इस स्थल पर वह कौतूहल लिखना चाहिए जिसमे अपूर्व और विलक्षण बाते विद्यमान हो। स्वप्नान्तर मे यह चित्त चकोर चाँद की चाँदनी समझ एक चमत्कार उपवन मे जा पड़ा जहाँ श्वेत रग की मनोहर लता अपने पुष्पो से हिल-मिल के कटाक्ष कर रही थी। अब बाटिका की सारी छवि के वर्णन से मेरा प्रयोजन दूर जा पडेगा इसलिए मन भावनी बाटिका की शोभा सम्पत्ति के वर्णन से मेरा प्रयोजन दूर जा पड़ेगा इसलिए मनभावनी बाटिका की शोभा सम्पत्ति के वर्णन से लेखनी को रोक कर एक राजा समाज-वार्ता के वर्ण विन्यास में प्रवृत्त होता हू। अहा क्या विचित्र सभा थी। जिसमे बडे-बडे सबल श्रीमन्त जिनको अग्रेजी मे सिविल सर्वेण्ट कहते हैं यूथ के यूथ विद्यमान हुए। उनके अतिरिक्त और बहुत से यूरप देशी प्रधान जिनको प्रभुता का सम्राट समर्पित है एकत्र हुए जिनकी राज्य श्री और कान्ति के आगे सूरज की किरणें दबक जाती थी। फिर उनके रथो के दमक-चमक के साथ मिलकर ऐसी निकलती थी जैसे घन घटा के बीच से बिजली की छटा धन्य है। इनका पूर्वज-तप जिसके प्रभाव से ये प्रभुता के पात्र बने। धन्य है, वह देश जहाँ इन महात्माओ ने जन्म लिया। अबे सुनिए, उस सभा का वृत्तान्त जब सब साहब लोग बैठ चुके तो बडे साहब ने सब साहबो से यह सम्भाषण किया कि आप महाशयो को हम ने इस हेतु से बुलाया है कि हमारी स्थिति यहाँ बहुत थोड़ी रह गई है इसलिए लालसा रह गई कि

इस भारतवर्ष मे अरबी, फारसी, अगरेजी का विशेष प्रचार करे और हिन्दी-सस्कृत का विस्तार न होने पावे और सयोगवश कही रहे तो ऐसा हो जैसा दाल मे नोन क्योकि हिन्दी सस्कृत सुनकर मेरा जी जलता है, मै चाहता हू कि प्रत्येक महानगरों मे अरबी, फारसी, अगरेजी की अच्छी-अच्छी पाठशाला नियत की जाय। यह बात सुनकर बहुत साहबो ने तालियाँ बजाई बहुतो ने सिर नीचा कर लिया और कई एक साहब आकाश की ओर देखने लगे।' इस तरह के 'स्वप्न' उस काल के पत्र-पत्रिकाओ मे बहुत प्रकाशित हुए। इसी काल मे प्रयाग से १९०० ई० मे 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ और हिन्दी कहानी के आविर्भाव की दिशा मे इसने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रेरणा एव विस्तार

पश्चिमी साहित्य मे कहानी (Tale) अपने आधुनिक रूप (Short Story) मे उन्नीसवी शताब्दी मे आई। इन दोनो के सैद्धान्तिक भेद को प्रस्तुत करने वाला आचार्य एडगर ऐलन पो था, जिसने अनेक मौलिक कहानियाँ भी लिखी। उसने हार्थोन Hawthorne's की Twice Told Tales की आलोचना मे अनेक मौलिक धारणाएँ प्रतिपादित की थी। इस काल मे कहानी का आकार लम्बा और वर्णनात्मक रहा। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ब्राण्डर मैथ्यूज (Brander Matthows) ने The Philosophy of The Short Story मे भी आधुनिक कहानी के स्वरूप पर प्रकाश डाला था। पश्चिमी साहित्य मे सबसे पहले अमरीकी साहित्य मे ही कहानी विधा विकसित हुई। ब्रेट हार्ट (Bret Harte), जॉर्ज वाशिगटन कोबल (George washington cabl's) न्यू आर्लीन्स (New orleans) आदि कहानीकार अमरीकी कहानी विधा के महत्वपूर्ण कीर्ति स्तम्भ हैं। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे ओ हेनरी ने कहानी साहित्य को अभिनव दिशा दी और उसे आधुनिक गुणो से सम्बद्ध किया। थौमस बार्ले आल्ड्रिक (Thomes Barley Aldrick) ने नाटकीयता एव व्यग्य उत्पन्न कर कहानी के स्वरूप को और भी विकसित किया। इसी समय विश्व कहानी के क्षेत्र मे एण्टन चेखव (Anton chekov) का आविर्भाव हुआ, जिन्होने कहानी शिल्प को एक अभूतपूर्व मोड दिया और सवेदनशीलता तथा मानवीयता के गुणो से ओत-प्रोत कर कहानी को जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया के रूप मे विकसित किया। इगलैण्ड के कैथरीन (Katherine Mansfield) और अमरीका के एस० डब्ल्यू० एण्डरसन (Sherwood Anderson) आदि ने भी आधुनिक कहानी की परम्परा विकसित होने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। कहानी मे नाटकीयता लाने का बहुत बडा श्रेय समरसेट मॉम (W Somerset Moughm)

१ हरिश्चन्द्र मैगजीन . १५ अप्रैल १८७४ ई०, पृष्ठ १८७

को है और चेखव तथा पो की परम्परा के समन्वित रूप प्रस्तुत करने की दिशा मे हेनरी जेम्स (Henry James) का उल्लेखनीय कार्य है ।

हिन्दी में कहानी से सम्बन्धित खडी वोली गद्य मे कथा साहित्य का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । प्रेरणा एव विस्तार की दृष्टि से उसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसी काल में हिन्दी उपन्यासो का भी जन्म हुआ । जिसने हिन्दी कहानी के आविर्भाव की सुनिश्चित प्रेरणा प्रदान की। किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'त्रिवेणी' (१८८८), 'स्वर्गीय कुसुम' (१८८६), 'हृदयहारिणी' (१८६०), 'लवगलता' (१८६०), देवीप्रसाद शर्मा और राधाचरण गोस्वामी कृत 'विधवा विपत्ति' (१८८८), हनुमन्त सिह कृत 'चन्द्रकला' (१८६३), कार्तिकप्रसाद खत्री कृत ऐतिहासिक उपन्यास 'जया' (१८६६), गोपालराम गहमरी कृत 'नये बाबू' (१८६४), राधाकृष्णदास कृत 'निस्सहाय हिन्दू' तथा देवकीनन्दन खत्री कृत 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। इसके अतिरिक्त अनेक बगला और अगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके थे। यद्यपि इनका उद्देश्य मनोरजन ही था, पर यह सोचना कि इस युग में यथार्थवाद का चित्रण नही हुआ, भूल होगी । ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमे तत्कालीन परिस्थितियो, युगीन जीवन, संस्कृति एव वातावरण का यथार्थ चित्रण किया गया है । हाँ यह अवश्य है कि इन उपन्यासो मे यथार्थवाद का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह सप्रयत्न नही, वरन् स्वयमेव चित्रित है। इन उपन्यासो ने यथार्थवाद के युगीन जीवन एव परिस्थितियो का चित्रण नही किया है। इसलिए वह अपूर्ण रूप मे है। और कहा जाना चाहिए कि सतही रूप मे है। यह यथार्थवाद अपने आप चलते-चलते प्रसगवश ही चित्रित हो पाया है। इस युग मे प्राप्त होने वाले यथार्थ की भी अपनी सीमाएँ है। विशेष रूप से इन उपन्यासो मे सामाजिक यथार्थवाद ही चित्रित हुआ है । 'भाग्यवती' जैसे उपन्यास इसी सामाजिक यथार्थवाद के कारण ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का भी कुछ सतही रूप कुछ उपन्यासो मे चित्रण प्राप्त होता है। 'भाग्यवती' मे भाग्यवती के सघर्ष एव मानसिक परिवर्तन तथा पुनर्जन्म एव सौतियाडाह' मे सुशीला के परिवर्तन मे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का हल्का स्पर्श प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से कुछ और भी उपन्यास हैं, जिनका आगे यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। इन उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक का भी सतही आश्रय लिया गया हैं, विशेष रूप से दुर्जन वर्ग के पात्रो के परिवर्तनो को अन्त मे मनोवैज्ञानिक आधार पर चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। इस मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद या मनोविज्ञान को आज के चिर प्रचलित पारिभाषिक रूप में नहीं ग्रहण किया जाना चाहिए, वरन् उसका मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे करना चाहिये। इन उपन्यासो मे

मानव मन, अन्तर्द्वन्द्वो एव आन्तरिक चिन्ह वृतियो के अध्ययन एव विश्लेषण का पूर्ण अभाव प्राप्त होता है। इनमे कल्पनाशीलता ही अधिक है। इस काल के अधिकाँश उपन्यासो पर तिलस्मी विद्या एव ऐयारी के हथकण्डो एव जासूसी चमत्कारो का चित्रण किया गया है, जिनमे असंगतियाँ तथा अस्वाभाविकताएँ अधिक एव स्वाभाविकता कम है। से सभी उपन्यास अधिकाश रूप मे घटना प्रधान हैं। कल्पनाशीलता की भद्दी उडानो एव विचित्रताओ से परिपूर्ण इन घटनाओ का कुशल सयोजन करने में भी उपन्यासकार प्राय. असमर्थ ही रहे है। प्रत्येक उपन्यासो मे एक न एक प्रेम कथा निश्चित रूप से वर्णित की गई है। तिलस्मी उपन्यासो को छोडकर हिन्दी उपन्यासो की सबसे बडी विशेषता उनकी नैतिकता एव शिक्षा है। लेखकगण जनता को अधोगति के गर्त से निकालकर उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। इसीलिए पाप और पुण्य के सघर्ष की कहानी कहने वाली कथा के प्रारम्भ मे कालीदास, हर्ष, भारवि, सुभाषित रत्नावली, रहिमन विलास आदि के नीति एव धर्म विपयक अवतरण भूमिका के रूप मे उन्होने उद्‌भव किए हैं। लेखकों को भारतीय जीवन का ह्रास देखकर सच्ची मानसिक पीडा का अनुभव होता था। कथानक चाहे सामाजिक हो या ऐतिहासिक वे समाज के सामने एक ऐसा आदर्श रखना चाहते थे, जिससे वह अपना जीवन सुधार सके। यही कारण है कि इन उपन्यासो मे कथावस्तु के सुसगठन के ऊपर विशेष ध्यान नही दिया गया है। नैतिक शिक्षा एव उपदेश के वचन तथा नीति वाक्य ऊपर से चिपकाए गए एव आरोपित से प्रतीत होते हैं। उपन्यासकार कथावस्तु के साथ उनका सगुफन नही कर पाया है। इन सभी उपन्यासो की कथावस्तु मे कोई गतिशीलता नही है वे सभी मन्दगति वाले कथानको से पूर्ण हैं। यदि कोई कथावस्तु गतिशील है भी, तो उपन्यासकार बीच मे अनायास टपककर, 'तो हे पाठक।' 'तो साहब!' या 'तो देखा आपने!' आदि कहकर अपने पाठको से बात करने लगता है, जिससे गतिशीलता को पर्याप्त क्षति पहुची है। इन कथावस्तुओ मे रोचकता, उत्सुकता चरमोत्कर्ष एव नाटकीयता का भी अभाव है। पर फिर भी जहाँ इन उपन्यासो ने स्वय अपनी ही विधा के स्वर्णिम भविष्य की आशापूर्ण विराट सम्भावनाओ की पृष्ठभूमि निर्मित की, वहीं हिन्दी कहानी के आविर्भाव की परिस्थितियो मे भी प्रमुख रूप से योगदान किया। इस प्रकार हिन्दी कहानी के आविर्भाव मे निम्नलिखित कारण क्रियाशील थे, जिनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है :

१—तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ, फलतः सुधारवादी दृष्टिकोण।

२—हिन्दी गद्य का विकास।

३—खडी बोली गद्य में कथा साहित्य का आविर्भाव।

४—'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 'हिन्दी प्रदीप' मे हास्य व्यग्य, सरस लेख, 'चीज'

तथा 'गपाष्टक' का प्रकाशन एव लोकप्रियता।

५—हिन्दी उपन्यास साहित्य का आविर्भाव।

६—विश्व कहानी साहित्य का जन्म एव विकास।

हिन्दी की प्रथम कहानी

हिन्दी प्रथम कहानी किसे स्वीकारा जाय, इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। सभी विद्वानो ने काल क्रमानुसार निम्न तालिका बनाई है और इन या उन कारणो से इनमे किसी एक कहानी को हिन्दी की प्रथम कहानी स्वीकारा है :

१ रानी केतकी की कहानी : (१८८८ ई०) सैयद इंशाअल्लाह खा।
२ राजा भोज का सपना : : राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द।
३. अद्भुत अपूर्व स्वप्न : : भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र।
४ इन्दुमती . (१९००) : किशोरीलाल गोस्वामी।
५ गुलबहार। (१९०२) : किशोरीलाल गोस्वामी।
६ प्लेग की चुड़ैल : (१९०२) : मास्टर भगवानदास।
७ ग्यारह वर्ष का समय (१९०३) · रामचन्द्र शुक्ल।
८. पंडित और पडितानी : (१९०३) : गिरिजादत्त वाजपेयी।
९. दुलाई वाली : (१९०६) : बग महिला।

इनमे प्रत्येक दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी की एक 'इन्दुमती' को ही हिन्दी की पहली कहानी स्वीकारी जानी चाहिये। कुछ लोगो ने शिल्प विधि की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिन्दी की प्रथम कहानी स्वकारी है, पर यह उचित नही है। प्रथम कहानी का निर्धारण समय क्रम से होना चाहिए, न कि कथानक, शिल्प, विचारधारा या किसी अन्य दृष्टिकोण से। 'इन्दुमती' अपने आप में मौलिक कहानी है, न कि शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' का रूपान्तर। यह आश्चर्य का विषय है कि आलोचक इसे अनुवादित कहानी स्वीकार कर इसे हिन्दी की प्रथम कहानी का गौरव नही देना चाहते—यह दुराग्रह नही तो और क्या है कि एक अच्छी खासी मौलिक कहानी को अनुवादित कहानी करार दी जाए। यदि आलोचकगण इतनी अणुवीक्षक दृष्टि से देखना प्रारम्भ करेंगे, तो हिन्दी का ९९% साहित्य उन्हें अनुवादित या रूपातरित ही प्रतीत होगा। प्राचीन भारतीय जीवन मे ऐसी कथाओं की कमी नही है, जब अपने आत्माभिमान एव गौरव में चूर क्षत्रिय राजा भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाएँ कर लेते थे और उन्हे पूरा करने वाले से प्रायः अपनी बेटियों का विवाह कर देते थे। गोस्वामी जी के कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी इसी प्रकार के प्रसगो पर आधारित हैं। इससे वीरता एव साहस की परख होती थी और यह एक प्रकार का स्वयम्बर ही होता था। भारतीय इतिहास में ऐसी घटनाओं की कमी नही। इस कहानी का कथानक इस प्रकार हैं। 'इन्दुमती

विन्ध्याचल के सघन वन मे अपने के पिता के साथ रहती है। वन मे रहने के कारण उसने किसी अन्य मनुष्य को नही देखा था। अजयगढ का राजकुमार चन्द्रशेखर पानीपत के प्रथम युद्ध मे इब्राहीम लोदी की हत्या का करके भागता है। इब्राहीम का एक सेनापति उसका पीछा करता है, तथा वह विन्ध्याचल के घने जगल की ओर भागता है, वहाँ घोडे के मर जाने के कारण वह एक पेड के नीचे भूखा प्यासा पड़ जाता है। इन्दुमती उसे देखते ही मुग्ध हो जाती है। चन्द्रशेखर भी उससे प्रेम करने लगता है। इन्दुमती का वृद्ध पिता देवगढ का राजा था। इब्राहीम लोदी ने उसका राज्य छीन लिया था, जिससे वह जगल मे रहता था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि जो इब्राहीम लोदी को मारेगा उसी के साथ वह इन्दु का विवाह करेगा। चन्द्रशेखर ने इस प्रतिज्ञा को अनजाने मे ही पूरा कर दिया था। चन्द्रशेखर और इन्दुमती के सच्चे प्रेम को देखकर इन्दु के पिता ने दोनो का विवाह कर दिया। क्योकि चन्द्रशेखर की प्रेम परीक्षा के लिये इन्दु के पिता ने उससे कठिन परिश्रम कराया था।" यह कहानी वर्णन त्मक शैली मे लिखी गई है। यद्यपि इसमें कथोपकथनो और चरित्र-चित्रण को कोई विशेष स्थान नही प्राप्त हो सका है, जैसा कि इस युग की प्रायः सभी कहानियो मे हुआ है, पर इसमे प्रवाह एव रोचकता बनाए रखने मे किशोरीलाल गोस्वामी को अपार सफलता प्राप्त हुई है। प्रत्येक दृष्टि से उनकी यह कहानी हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जानी चाहिए।

प्रमुख कहानीकार

'स्वप्न' शैली मे लिखी गई सरस एव रोचक घटनाओ के 'हिन्दी प्रदीप' मे प्रकाशन के सम्बन्ध मे पीछे उल्लेख किया जा चुका है। भारतेन्दु युग मे इस शैली को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हुई और इस शैली मे कुछ कहानियाँ भी लिखी गईं। केशव प्रसाद सिह का 'आपत्तियो का पहाड' नामक ऐसी ही कहानी है जो इस शैली में लिखी गई है। यद्यपि इसी मे स्वप्न शैली का निर्वाह सफलतापूर्वक नही हो सका है और सारा प्रयास भोडा एव अस्वाभाविक प्रतीत होता है, पर प्रारम्भिक युग होने की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है। कहानी प्रथम पुरुष मे है और रोचकता तथा कौतूहलता उत्पन्न करने की पर्याप्त चेष्टा की गई है। दूसरे देशो के काल्पनिक चरित्रो को लेकर कहानी लिखने की शैली मे गिरिजादत्त वाजपेयी की एक सुन्दर कहानी 'पति का पवित्र प्रेम' मिलती है। दक्षिणी इंगलैंड मे ससैक्स नामक प्रदेश के समुद्री तट पर ब्राइटन नामक नगर है। वहाँ ब्रिमली नामक एक व्यापारी रहता था, जिसके लिली नामक एक सुन्दरी कन्या थी। जेम्स एक पादरी—पुत्र था बाल्यावस्था से ही जेम्स और लिली में प्रेम हो गया था। लिली जब सोलह वर्ष की हुई, तो वैरस्फर्ड भी उसकी ओर आकर्षित होता है, पर उसका प्रेम सफल नही हो पाता। लिली तन-मन से जेम्स से ही प्यार करती थी और दोनो का विवाह हो गया। जब

लिली दो बच्चो की माँ हो गई, तो कुछ कालोपरान्त जेम्स अस्वस्थ हो गया और वायु परिवर्तन के लिए अन्यत्र चला गया। रास्ते मे जहाज डूब जाता है और लिली उसे मृत समझकर वैरस्फर्ड से पुनर्विवाह कर लेती है। सयोग से जेम्स जीवित रहता है और अस्पताल मे लिली तथा वैरस्फर्ड के पुनर्विवाह का समाचार सुनता है, वह अपनी कहानी डॉक्टरो को बताकर मर जाता है। लिली को जब इसकी सूचना मिलती है, तो वह बहुत दुःखी होती है, उसकी लाश को अपने पास रखती है और सदैव उस पर श्रद्धा सहित पुष्प अर्पण करती है।

यात्रा विवरण के आधार पर केशवप्रसाद सिंह की ,चन्द्रलोक की यात्रा'[1] तथा 'कश्मीर यात्रा'[2] आदि कहानिया मिलती हैं, जिनमे काल्पनिक एव यथार्थ घटनाओ का सुन्दर समन्वय किया गया है, तथा रोचकता एव कौतूहलता बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। आत्म कथात्मक शैली मे कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदर राव की आत्म कहानी' मिलती है, जिसे आत्म-कथात्मक शैली मे हिन्दी की प्रथम कहानी स्वीकार जानी चाहिए। इस शिल्प का निर्वाह खत्री जी ने इस कहानी मे बडी सुन्दरता के साथ किया। लाला पार्वतीनन्दन कृत 'प्रेम का फुआरा' कहानी मे घटनाओ को अधिक महत्व दिया गया है तथा सयोग तत्वो का आश्रय लेकर रोचकता एव कौतूहलता बनाए रखने की चेष्टा की गई है। इस कहानी मे इतिवृत्तात्मकता अधिक है और सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने का प्रयास हुआ है। इस कहानी मे सवेदनशीलता के गुण हैं और सरसता बराबर बनी रहती है। कहानी यो है। हुसेनी बीबी बडी बदसूरत है। बीस वर्ष की आयु काली-कलूटी 'चेचक के गहरे दाग ने उसे और भी कुरूप बना दिया था। वह अपने विवाह की कामना लिए अपनी खाला के घर जाती है। वहा उसकी दो विवाहित सहेलियाँ भी मिलती हैं, जिनसे उसे ईर्ष्या हो जाती है। अत हुसेनी बीबी अपने खाला का गाव छोडकर और आगे चल देती है। रास्ता चलकर वह एक खण्डहर मे जा पहुँचती है,जहाँ उसकी भेट एक बुढिया से होती हैबुढिया उसे एक फुआरे से तीन घूंट पानी पिलाती है, सुबह उसे घोडे पर चढा हुआ एक युवक मिलता है,जो कही का नवाब होता है। वह उसे रगीली के पास ले जाता है, जहाँ उसे अनेक विषमताओ का सामना करना पडता है। करीमबक्स उसे फिर उसके पुराने टिकियापुर पहुँचाने को तैयार हो जाता है, पर इस बीच मे एक मोटा आदमी आकर उसे बहुत परेशान करता है। अन्त मे हुसेनी बीबी को वही खण्डहर वाली बुढिया बचाती है।

✓इसी समय रामचन्द्र शुक्ल की महत्वपूर्ण कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रका-

---

१ सरस्वती, भाग १, संख्या ७, पृष्ठ २२७

२ सरस्वती, भाग १, सख्या ५, पृष्ठ २५६

३. सरस्वती, भाग १, सख्या ८, पृष्ठ २६३

शित हुई । यह कहानी प्रथम पुरुष की शैली मे है और थोडी कलात्मक प्रौढता परिलक्षित होती है यद्यपि इसमे कहानीकार आलोचक अधिक प्रतीत होता है । जैसे "हैं...न कभी साक्षात हुआ, न वार्तालाप, न लम्बी-लम्बी कोर्टशिप हुई । यह प्रेम कैसा । महाशय रूष्ट न हूजिये । इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ट सम्बन्ध है । इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय मे हो सकती है । इसकी जड ससार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमो से दृढतर और प्रशस्त है। आपको सतुष्ट करने का है इतना और कहे देता हू कि इगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मत्री अर्ल आफ बेकन्स फील्ड का भी यही मत है ।"[1] इस अश मे लेखक अपने कहानीकार व्यक्तित्व को भूलकर आलोचक-उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, जो अत्यन्त अस्वाभाविक एव आरोपित प्रतीत होता है । इस कहानी मे भी काल्पनिकता के साथ सयोग तत्वो (Chance Elements) को प्रश्रय दिया गया है और चरमोत्कर्ष को स्वाभाविकता के साथ नही प्रस्तुत किया जा सका है । अन्य उल्लेखनीय कहानियो मे लाला पार्वतीनन्दन की 'मेरी चम्पा'[2] उन्ही की 'नरक गुल्जार[3] पडित सूर्यनारायण दीक्षित कृत चन्द्रहास का अद्भुत आख्यान'[4], कहानी कृत 'प्रोषित पतिका'[5], लाला पार्वतीनन्दन कृत 'एक के दो दो'[6] बग महिला कृत 'कुम्भ छोटी बहू'[7] और 'दान-प्रतिदान'[8] प० वेंकटेश नारायण कृत 'एक अशरफी की आत्म कहानी[9] चतुर्वेदी कृत भूल-भुलैया[10] लाल पार्वतीनन्दन कृत' मेरा पुनर्जन्म'[11] तथा भट्टाचार्य कृत "राज पूतनी"[12] आदि हैं । यद्यपि इनमे सब की सब मौलिक कहानी नही हैं, विकास क्रम की दृष्टि से उनका विशेष महत्व है । जैसे बग भाषा के 'प्रवासी' नामक प्रसिद्ध मासिक पत्र मे बाबू सुधीन्द्र नाथ ठाकुर का एक लेख प्रकाशित हुआ था, उसी के अनुवाद के

---

१. सरस्वती, सितम्बर १९०३, भाग ४, सख्या ९, पृष्ठ १३६ ।
२. सरस्वती, अप्रैल १९०५, भाग ६, सख्या ४, पृष्ठ १३२ ।
३. सरस्वती सितम्बर १९०५, भाग ६, सख्या ८, पृष्ठ १११ ।
४ सरस्वती, भाग ७, सख्या ३, पृष्ठ १०४ ।
५. वही भाग ७, सख्या ५, पृष्ठ १७४ ।
६. वही भाग ७, सख्या ६, पृष्ठ २६५ ।
७ वही भाग ७, सख्या ९, पृष्ठ ३४२ ।
८. वही भाग ७, सख्या ४, पृष्ठ १३५ ।
९. वही भाग ७, सख्या १०, पृष्ठ ३९९ ।
१० वही भाग ७, सख्या १, पृस्ठ ३१ ।
११. वही भाग ७, संख्या १, पृष्ठ ५६ ।
१२. वही भाग ७, संख्या ५, पृष्ठ १८२ ।

आधार पर 'राजपूतानी' कहानी का निर्माण हुआ है। 'भूल भुलैया' शेक्सपीयर की 'कॉमेडी ऑव एरर्स' का भावानुवाद हैं, तथा 'दान-प्रतिदान' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बगला कहानी का अनुवाद है। इसी काल आत्म कहानी शैली मे दो और प्रसिद्ध कहानिया प्रकाशित हुई। उनमे से एक यशोदानन्दन अखौरी की 'इत्यादि की आत्म कहानी'[1] और दूसरी प० महेन्दुलाल गर्ग की 'पेट की आत्म कहानी'[2] है।

व्यंग्य कहानियो मे प० गिरिजादत्त वाजपेयी लिखित 'पडित और पडितानी,[3] कहानी प्रस्तुत है।"यह कहानी कलात्मक दृष्टि से पिछले व्यग चित्र और हास्य चित्र के विकसित सूत्र मे आती है तथा यहाँ कहानी की समग्र रूप सफलता से निर्मित हो गया है। कहानी की सवेदना एक ४५ वर्ष के पडित और उनकी २० वर्ष की पडितानी की समस्या को लेकर चलती है। दोनो मे स्वभाव विरोध के रहते दाम्पत्य आकर्षण है। शैली अध्ययन के लिये एक दिन का हाल यो हैं। कमरे मे एक कोने मे जहा मेज कुर्सी लगी थी, पडित जी एक कवि के ऊपर कुछ लिख रहे थे। थोडी ही दूर पर पडितानी भी एक पत्र पढ़ रही थी। पंडितानी ने उन्हे आकर्षित करने के लिए कुछ खासा पर पडित थी चुप थे। फिर पडितानी ने अपनी बात शुरू की। वे एक तोता पालने जा रही है। पडित जी अपने लेख के प्रवाह मे कोई विघ्न बाधा नही चाहते थे। दूसरी बात घर मे तोते का पालना उन्हे अच्छा न लगता था, इसलिये वे बराबर मना करते थे, लेकिन पडितानी जी अपने तर्कों पर जुटी थी। उन्होने बताया कि उनका तोता कैसे बोलेगा सत्य गुरू दत्त शिवदत्त दाता। अन्त मे पंडित जी पडितानी जी के प्रेम मे बहकर विरोध न कर सके। उन्होने पडितानी से प्रेम पूर्वक कहा अच्छा तुम्हारे लिए एक नही छः तोते आ जाँएगे, अब तो प्रसन्न हो। इस पर पडितानी जी प्रसन्नता से फूलकर चुपचाप बैठ गई और पडित जी ने जल्दी जल्दी अपना लेख समाप्त कर डाला।' इसी प्रकार बाबू रामदास कृत 'एक के दो-दो' पंडित उदयनारायण वाजपेयी कृत 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', लक्ष्मी धर वाजपेयी कृत, 'तीक्ष्ण छुरी' श्रीमती वग महिला कृत 'दुलाई वाली', प्रेमनाथ भट्टाचार्य कृत 'पक्का गठबधन', और प० गगा प्रसाद अग्निहोत्री' कृत 'सच्चाई की शिखर' आदि कहानिया मिलती हैं। इस प्रकार इस युग मे कहानी की परम्परा का सूत्रपात हुआ, जिसका विकास अगले युग मे प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन आदि के द्वारा हुआ।

---

१. सरस्वती, जून १९०४ भाग ५, सख्या ६ ,

२. सरस्वती, सितम्बर १९०४, भाग ५, सख्या ९।

३. सरस्वती, सितम्बर, १९०३, भाग ४, संख्या ३, पृष्ठ १३६।

: ५ :

हिन्दी कहानियों में क्रान्ति

युग दशा

कहानियों के आधार पर

इस युग मे आते-आते जहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी, वही स्वाधीनता प्राप्ति का राष्ट्रीय आन्दोलन भी दिन-प्रतिदिन शक्तिशाली होता जा रहा था राजनीति के क्षेत्र मे गाँधी जी के अभ्युदय से इस युग की घटनाओ ने एक अभिनव दिशा ग्रहण की। आगे चलकर गाँधी जी ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रगतिशील विचारधारा एवं उच्चकोटि के अहिंसावादी जीवन दर्शन के साथ अपनी मानवतावादी नीति का ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया था, जिससे एक समूचा युग ही गाँधी युग के नाम से विख्यात हुआ। सन् १६१४ मे यूरोपीय महायुद्ध मे अग्रेजो और मित्र राष्ट्रो ने युद्ध का उद्देश्य जनतन्त्र, स्वतन्त्रता एव जन-अधिकारियो की पूर्णरूपेण रक्षा घोषित किया। इस समय भारत मे अग्रेजो की स्थिति सकटापन्न थी। अत उन्होने अपनी कुशल नीति से भारतीयो को सहयोग देने के लिए प्रेरित किया और बदले मे पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। महात्मा गाँधी ने भारतीयो से सरकार को यूर्ण सहयोग देने के लिए कहा और परिणामस्वरूप भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद सुरक्षित रहा। पर बाद मे अग्रेजो द्वारा अपने आश्वासन को न तूर्ण कर सकने के कारण जन-जीवन मे अत्यधिक रोष उत्पन्न हुआ; जिससे स्वाधीनता आन्दोलन और भी तेजी से चलने लगा। १६१६ मे पजाब मे सर माइकेल और डायर (sir michaelo' dwyer) की कठोर अमानुषिक नीति और सैनिक शासन (martial lal) की निर्दयता के फलस्वरूप जलियाँवाला बाग का रोमाचकोरी हत्याकाण्ड हुआ, जिससे जनता मे असन्तोष की जबर्दस्त लहर व्याप्त हुई। इसके परिणामस्वरूप महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अग्रेजो द्वारा प्रदान 'सर' की उपाधि उन्हे वापस कर दी।

सितम्बर, १६२० से असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। कांग्रेस के नेताओ मे आपस मे मतभेद हो गया था। देशबन्धु चितरजनदास और प० मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी नाम से काग्रेस सगठन के अन्तर्गत ही एक अलग दल का निर्माण कर लिया। यह दल धारा सभाओ और कौंसिलो मे जाकर स्वतन्त्रता प्राप्ति

के लिए प्रयत्न करना तथा संघर्ष करना अधिक उपयोगी समझता था। उधर जनता मे साम्प्रदायिक भावना भी तेजी से बढ रही थी। मुस्लिम लीग का निर्माण हो चुका था और उसके नेता अपने अलग राष्ट्र निर्माण का स्वप्न देखने लगे थे। यह साम्प्रदायिक वैमनस्य उस समय और भी चरम सीमा पर पहुच गया, जब १९२४ मे साम्प्रदायिक दंगो से दुखी हो महात्मा गाँधी ने २१ दिन का अनशन किया और सन् १९२६ में शुद्धि आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा हत्या कर डाली गई १९२८ मे ही हिन्दू महासभा के अन्तर्गत महामना प० मदनमोहन मालवीय तथा देशभक्त लाल लाजपतराय सदृश नेताओ ने कार्य करवा प्रारम्भ कर दिया। १९३३-७ मे निर्वाचन हुए और प्राय सभी निर्वाचन क्षेत्रो से काग्रेस बहुमत की सख्या मे निर्वाचित हुई। पर प्रान्तो मे गवर्नरो को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनके अन्तर्गत काग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने से अस्वीकार कर दिया। बाद मे वॉयसरॉय लॉर्ड लिसलिथगो के आश्वासन से कॉग्रेस ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया।

इस प्रकार गाँधी जी के नेतृत्व मे राजनीतिक चेतना के साथ-भारतवासियो मे आत्मविश्वास की भावना भी जन्मी। वे अब निडर से हो गये थे। गाधी जी की यह बहुत बडी सफलता थी। यह राजनीतिक चेतना केवल नगरो तक ही सीमित न होकर गाँवो तक विस्तृत हो गई थी। जो कार्य तिलक आदि नेता करने मे एक प्रकार से असमर्थ रहे, वही गाँधी जी ने सम्भव कर दिखाया था। इस समय मुसलमान गाँधी जी के साथ थे। अली भाई (मौलाना मुहम्मद अली तथा मौलाना शौकत अली का दृष्टिकोण प्राय साम्प्रदायिक था। अग्रेजो ने खलीफा का पद टर्की मे तोड दिया था और उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भारत मे हुई। परिणामस्वरूप खिलाफत आदोलन प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त आयरलैण्ड का भी उदाहरण भारत के सम्मुख आया। डॉ० वेलरा तथा उनकी पार्टी के माध्यम से वहाँ तीव्र आँदोलन प्रारम्भ हुआ, इससे भारतीयों को यथेष्ट मात्रा मे प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त जो नवयुवक राजनीति में भाग ले रहे थे, उन लोगो ने अपनी अलग-अलग आतंकवादी पार्टियाँ सगठित कर रखी थीं। ये लोग अहिंसा मे अपना अविश्वास प्रकट करते थे और क्रान्तिकारी कार्यों विस्फोट, अराजकता फैलाने आदि से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीव हिला देना चाहते थे।

यहा की आर्थिक परिस्थितियाँ पूर्णतया विश्रृंखलित हो गई थी—इसका कुछ सकेत पिछले अध्याय मे दिया जा चुका है। जो भारतवर्ष कभी धन-धान्य से पूर्ण था, अग्रेजी शासन काल स्थापित होने के साथ ही निर्धन होना प्रारम्भ हो गया था। जब से अंग्रेजी राज्य स्थापित हुआ, तभी से पैगोडा वृक्ष का हिलाया जाना प्रारम्भ हुआ, अर्थात् आर्थिक परिस्थिति दिनोदिन शोचनीय होती गई। जब भारत में कम्पनी

का शासन समाप्त हुआ और भारत ब्रिटिश पार्लियामेंट के शासन के अन्तर्गत आया, तो स्थिति मे नाममात्र को परिवर्तन हुआ। सरकार ने आर्थिक सुधारो की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया और भारतीयो द्वारा खोले जाने वाले बडे-बडे उद्योगो पर अपनी आपत्ति एवं नियत्रण मे कुछ शिथिलता बरतनी प्रारम्भ की, जिससे भारत-वासियो मे कुछ उद्योग-धन्धे अपने प्रयत्नो से स्थापित कर भारत की आर्थिक व्यवस्था को कुछ सीमा तक सुदृढ बनाने की भावना को बल मिला। इसी काल मे जे० एन० टाटा ने भारत मे अनेक मिले स्थापित कर भारत का औद्योगीकरण करने का प्रयत्न किया। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से ही यातायात की स्थिति मे अपेक्षाकृत सुधार होने से खानो की खुदाई का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। इसके परिणाम स्वरूप औद्योगिक के मार्ग की एक प्रमुख बाधा का स्वतः निराकरण हो गया और बम्बई तथा अहमदाबाद मे भारतीय पूजी और नियत्रण मे कपडे की अनेक मिलो को स्थापना हुई। यद्यपि भारतीय उद्योगपतियो को उचित रूप मे प्रोत्साहन अभी भी प्राप्त नही हो रहा था, पर औद्योगीकरण की दिशा मे प्रयास जब प्रारम्भ हो गए थे और आर्थिक रूप से स्वदेश को सुदृढ बनाने की भावना बलवती हो गई थी, तो उन्हे रोक पाना सहज सम्भव नही रह गया था। स्पष्ट है, भारतीयो द्वारा उद्योग-धन्धो को अत्यन्त विषय परिस्थितियो में भी स्थापित किए जाने की पृष्ठभूमि मे दो शक्तियाँ प्रमुख रूप से क्रियाशील थीं। प्रथमत उनके सामने अपार आर्थिक लाभ का प्रश्न तो था ही, पर तत्कालीन परिस्थितियो मे इससे भी बडी चीज थी कि वे अपने देश की आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ बनाने की भावना से ओतप्रोत थे। द्वितीय इगलैड की नियन्त्रण नीति समाप्त हो चुकी थी, जिसका कारण था कि व्यापार मे इगलेड को इतना लाभ हो चुका था कि उसे अब वहाँ के औद्योगिक विकास मे लगाने मे विशेष लाभ दृष्टि-गोचर न हुआ और उन्होने वह लाभाँश भारत के आर्थिक सुधार मे लगाने का निश्चय किया। इस नीति परिवर्तन मे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो का चाहे जो भी स्वार्थ निहित रहा हो, भारत इससे पूर्णत. लाभान्वित ही हुआ। १६१८-१६ मे सरकार ने भारत की औद्योगिक स्थिति की जाँच करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसकी मुख्य सिफारिशे थी कि भारतीय उद्योग धन्धो की रक्षा के लिए भारत में बनने वाले मालो को कर मुक्त कर बाहर से आने वाले माल पर कर लगाना चाहिए; तथा विदेशी पूँजी का भारत मे अनियन्त्रित प्रवेश होना चाहिए।

आर्थिक स्थिति मे सुधार लाने के लिए नियुक्त टैरिफ बोर्ड की भी स्थापना हुई, जिसमे कुछ भारतीय सदस्यो को भी स्थान दिया गया। इस बोर्ड की अन्तिम रिपोर्ट मे दी गई सिफारिशो के अनुसार कर लोहे और फौलाद के उद्योग-धन्धो को सहायता प्रदान कर उन्हे सरक्षण भी प्रदान किया गया, जिससे औद्योगीकरण की दिशा में यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त होने के पश्चात्

लोकप्रिय सरकारो ने भी इन दिशा मे गम्भीरपूर्वक ध्यान दिया और कांग्रेस ने भी जवाहरलाल जी की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की, पर दुर्भाग्यवश कोई विशेष करने के पूर्व ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताओ से भी भारत के औद्योगिक विकास को बहुत बल प्राप्त हुआ। अस्त्र शस्त्र, गोला-बारूद, बिजली के तार तथा युद्ध की अन्य आवश्यक सामग्रियों के लिए सरकार ने यहाँ विभिन्न प्रकार के उद्योग धन्धे स्थापित किए। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अपनी नवीन आर्थिक नीति घोषित की और यह स्पष्ट किया कि बडे-बडे उद्योग धन्धो, जैसे इजन-निर्माण के कारखानों, लोहा, कोयला की खानो, रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करने के कारखानो तथा मशीन-पुर्जे, रेडियो तथा जहाज निर्माण करने वाले कारखानो पर राजकीय प्रतिबंध होगा। अन्य उद्योग धन्धो को स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ किए जाने की अनुमति प्रदान की गई। इस महत्वपूर्ण घोषणा का प्रभाव हितकर सिद्ध हुआ, इससे छोटे-मोटे उद्योग धन्धो को प्रारम्भ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। उद्योग-धन्धो के अतिरिक्त आगे चलकर कृषि की स्थिति मे भी पर्याप्त सुधार करने का प्रयत्न किया गया। भारत मे वर्षा की अनिश्चित स्थिति के कारण ही प्राय: दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी और कृषको की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती थी। यहाँ नहरो की कोई विशेष व्यवस्था न थी। ऐसी बात नही थी कि नहरे नही थी—पर भारत जैसे विशाल देश की यह स्थिति भी विशेष सतोषप्रद नही थी, वह विश्व मे भले ही महत्वपूर्ण स्थान रखती हो। एक विचित्र बात यह थी कि कहाँ तो एक ओर कृषि व्यवस्था मे सुधार लाने के प्रयत्न किये जा रहे थे, दूसरी ओर जमीदारी प्रथा को भी प्रोत्साहन प्रदान किया जा रहा था। पहले उन्होने जिन लोगो को मालगुजारी वसूल करने का उत्तरदायित्व सौंपा, वस्तुतः उनकी कोई अलग सत्ता न थी और वे एक प्रकार से अग्रेजो की सी ही मनोवृत्ति के लोग थे। उन्हे इतने प्रचुर मात्रा मे अधिकार प्रदान किए गए थे कि थोड़े ही दिनो मे वे जमीदार हो गए। जमीन और उपज पर से लोगो का अधिकार समाप्त हो गया था। अब तक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित था विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नए जमीन के स्वामी की निजी सम्पत्ति हो गई। इससे ग्राम जीवन के परस्पर सहयोग की व्यवस्था विशृंखलित हो गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवा की व्यवस्था भी गायब होने लगी। इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है ही कि उचित दिशा मे, या अनुचित दिशा मे, इस काल में भारतीय आर्थिक व्यवस्था मे जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ है, वह ब्रिटिश अधिकारियों के प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप ही हुआ है। वे ही देश के शासक थे और सारा नियंत्रण भी उन्हीं के हाथों मे था। उन्होने जरा भी नियंत्रण कम किया, तो भारतवासियों ने औद्योगिक विकास का पूर्ण प्रयत्न किया। फलस्वरूप उस प्रगति की

गति कितनी भी मद क्यो न रही हो, धीरे-धीरे देश मे आर्थिक क्रान्ति की लहरें उमड रही थी और भारतीय आर्थिक विकास एव नवीन आर्थिक सगठन के प्रति प्रयत्नशील हो रहे थे, जिससे भारत का आर्थिक ढाँचे के इस परिवर्तन मे एक ऐसे मध्यम वर्ग का जन्म हुआ, जिस पर अग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था और भारत की दासता की शृखलाओ को छिन्न-भिन्न करने के लिये जो सर्वाधिक कटिबद्ध था। इससे एक नए युग का सूत्रपात ही नही हुआ, जड़ जीवन पद्धतियो एव निष्क्रियता के बीच नवीन उत्साह, सक्रियता एव आत्मविश्वास की भावना का उदय हुआ।

जिस मध्यवर्ग का उल्लेख अभी अभी ऊपर किया गया है, इससे इस काल मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योकि नवीन विचारधारा का सबसे अधिक पड़ा था। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने उचित सगति मे ही लिखा है कि इससे हिन्दी नवोत्थान द्विमुखी होकर अवतरित हुआ था। एक की दृष्टि भूतकालीन गौरव की ओर थी, तो दूसरे की दृष्टि भविष्य की ओर आशा लगाए हुए थी। नवोत्थान की अवतारणा के पीछे जिन शक्तियो ने कार्य किया, उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का नवोत्थान आन्दोलन उस व्यापक भारतीय आन्दोलन का एक भाग था, जो अन्त मे स्वयं उस महान् ऐतिहासिक क्रम का एक प्रमुख भाग था, जो उन्नीसवी शताब्दी के कुछ पूर्व से ही प्रधानत. ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता के सम्पर्क द्वारा मिश्र, टर्की, अरब, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलयद्वीप आदि समस्त पूर्वी ससार का जीवन स्पन्दित कर रहा था। पूर्वी ससार का आध्यात्मिक और मानसिक जीवन पूर्वी और पश्चिमी दोनो शक्तियो से प्रेरित हुआ। उस समय उसकी क्रियात्मक शक्ति का ह्रास हो चुका था। विज्ञान और औद्योगिक विकास के बल पर पश्चिम को विजय प्राप्त हुई। स्त्रियो की स्वाधीनता, विविध धार्मिक एव सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनो, राज-नीतिक चेतना, मातृभाषा, नए वर्गों के जन्म आदि के रूप मे पाश्चात्य विचारो का प्रभाव सभी देशो के नवोत्थान आन्दोलनो पर लगभग समान रूप से पाया जाता है। इस सम्बन्ध मे भारतीय आन्दोलन की अपनी एक विशिष्टता थी। एक प्राचीन तथा उच्च सभ्यता का उत्तराधिकारी और यूरोप से दूर होने के कारण भारत दूसरा टर्की न बन सकता था। हिन्दी भाषियो ने एक सार्वभौम ऐतिहासिक क्रम मे अपना पूर्ण योग दिया। वे क्रान्तिकारी न होकर सुधारवादी थे, अथवा उनके सुधार ही मौन क्रान्ति का रूप धारण कर रहे थे। पश्चिमी विचारो के आघात ने भारत के प्राचीन सास्कृतिक भवन की दीवारो को एकबारगी हिला डाला था। अच्छा यह हुआ कि उसकी नीव दृढ़ बनी हुई थी। भारतेन्दुकालीन हिन्दी मनीषि एक बिल्कुल ही नया भवन खड़ा करने के स्थान पर उसी प्राचीन दृढ़ नीव पर नए ज्ञान और अनुभव के

प्रकाश मे एक ऐसे भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहते थे, जिसके साये मे रहकर अपार भारतीय जनसमूह सुख और शान्तिपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-जीवन के ये चारो फल प्राप्त कर सकता। वे युगधर्म मे पोषित थे। उनकी वाणी मे नवभारत का स्वर प्रतिध्वनित था। वे भारतीय सस्कृति के प्रधान अग पुनर्जन्म के सिद्धान्त से परिचित थे। उन्होने अपने नवीनतम ज्ञान और अनुभव का सम्बल लेकर भारतीय मंगलक्रान्ति के लिए शखध्वनि की।

इसकी पृष्ठभूमि मे सुधारवादी आन्दोलनो एव धार्मिक पुनरुत्थानवादी दृष्टि-कोण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। भारत मे समाज और धर्म के मध्य वस्तुतः कोई विभाजन रेखा नही खीची जा सकती। यहाँ समाज का आधार धर्म है। परम्पराओ मे लोगो का इतना मोह था कि धार्मिक आडम्बरो मे विश्वास न रखते हुए भी वे उनका पालन करते आ रहे थे। अत इस कारण भी इस युग मे अनेक सुधारवादी आन्दोलनो का जन्म हुआ और धीरे-धीरे धार्मिक रूढियो मे लोगों की आस्था कम होती गई। इसके पीछे कई तत्त्व क्रियाशील थे। पहली थी, पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्रान्ति की भावना लेकर आई थी, इसमें मौलिकता का अंश अत्यधिक था। भारतवासियों का अपना एक जीवन था और भौतिकता के पार्श्व मे वे अपने अन्दर आध्यात्मिकता का जो भाव सन्निहित रखते थे, वह अन्य देशो मे न था। अत पश्चिम की इस चुनौती स्वीकार कर लेने मे उन्हे अपनी आत्मा की हत्या का भाव लक्षित हुआ। इससे पश्चिम के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्व और पश्चिम का सघर्ष भी कहा गया। यह वस्तुत आध्यात्मिक क्षेत्र का सघर्ष था। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारत की तत्कालीन जीर्ण-शीर्ण सामाजिक अवस्था मे आध्यात्मिकता का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ ? भारत के शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो पश्चिम के बढते हुए प्रभाव को देखा, तथा दूसरी ओर अपने स्वदेश मे सर्वत्र निविड अन्धकार की छाया भी व्याप्त देखी। नैराश्य एव दैन्य की उस विषम परिस्थिति मे उन्हे भारतीय सभ्यता एव सस्कृति के लुप्त हो जाने की पूर्ण सम्भावना लक्षित हुई और इसकी कल्पना-मात्र से ही वे चिंतित हुए। अतः इस गहन् अन्धकार का मूलोच्छेदन करने के हेतु उन्होने एक ऐसे भारतीय तत्त्व का स्वरूप निश्चित किया, जो भारतीय शिक्षित वर्ग को तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत भी—उसे मान्यता प्रदान करे।

वास्तव मे वे धर्म का ऐसा रूप प्रतिष्ठित करना चाहते थे, जो रूढ़ पौरा-णिकता और आडम्बरविहीन होकर सर्वमान्य हो सके। धर्म का यह स्वरूप उपनिषदो के धर्म में खोजा गया, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था, जिसे शकराचार्य ने बौद्धों को परास्त करने के लिए प्रयोग किया था। अत इस युग मे, जो धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनका एक मात्र उद्देश्य परम्परागत रूढ़ियो को समाप्त

कर धर्म का एक सर्वसम्मत स्वरूप उपस्थित करने का था, जो शिक्षित वर्ग के आडम्बरमुक्त, परम्परागत एवं अनावश्यक रूप से कठिन होने के आरोपो से मुक्त हो। उन्नीसवी शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज के नाम से विख्यात है। इसके प्रवर्तक राजा राममोहनराय थे, जिनमे अद्वितीय प्रतिभा थी और जो स्वय सस्कृत के बहुत बडे विद्वान थे। उन्होने बहु-विवाह, छुआ-छूत तथा मूर्ति पूजा आदि का प्रबल विरोध किया, क्योंकि प्राचीन हिन्दू धर्म तथा उपनिषदादि ग्रन्थ इसका अनुमोदन नही करते। उन्होने वैदिक हिन्दू धर्म को अत्यन्त सरल एव सम्पूर्ण तथा युक्तिसगत बताया। उस समय भारतीय जनता पर ईसाई धर्म का प्रभाव गहरा पडता जा रहा था। राजा राममोहनराय ने इसका विरोध कर हिन्दू जनता को उसके धर्म और उत्तरदायित्व के प्रति सचेत किया। उन्होने सबसे बडी क्रान्तिकारी बात विधवा-विवाह पर जोर देकर किया। उस समय भारतीय समाज मे विधवाओ की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। समाज उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। उनका कोई आर्थिक आधार न था और पति की मृत्यु के पश्चात् या तो उन्हे सती होने के लिए बाध्य किया जाता था अथवा उन्हे दासी सदृश जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कभी-कभी उनके साथ सामाजिक दुर्व्यवहार इतना बढ जाता था कि उनमे से अधिकाँश आत्महत्याएँ कर लेती थी अथवा वेश्यावृत्ति अपना लेती थी। राजा राममोहनराय ने इसकी ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया और विधवा विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए उनका जीवन सुधारने का प्रयास किया। यह उन्ही के आन्दोलन का परिणाम था कि लॉर्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। नारी की स्थिति की शोचनीयता से राजा राममोहन राय बहुत असन्तुष्ट थे और वे अपने समाचार पत्रो के माध्यम से बराबर लोगो को नारियो की स्थिति सुधारने की आवश्यकता पर बल देते रहते थे। दुर्भाग्यवश ब्रह्म-समाज की स्थापना के कुछ ही वर्षोपरान्त उनकी मृत्यु हो गई और उनके देहान्त के साथ ही ब्रह्म-समाज मे दरार उत्पन्न हो गई—वह दो वर्गों मे विभाजित हो गया। एक वर्ग के सचालक श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर थे, जो कट्टर हिन्दू थे और जाति प्रथा के तोडने मे अधिक विश्वास रखते थे। दूसरे वर्ग का नेतृत्व श्री केशवचन्द्र सेन के हाथो मे था, जो ईसाई धर्म के अत्यन्त प्रशसक थे। इसी समय एक दूसरे शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व मे हुआ। यह आन्दोलन आर्य समाज आन्दोलन था, जिसका हिन्दी से घनिष्ट सबध था। स्वामी दयानन्द गुजरात के थे और उन्होने जाति भेद विधवा विवाह के प्रचलन और सम्मिलित खान-पान पर बल दिया। आर्य समाज आन्दोलन आत्मिक शुद्धि पर अधिक बल देता था और लोगो मे स्वदेश प्रेम, आत्म-गौरव, जातीय धर्म निष्ठा और परम्परागत रूढ़ियो को समाप्त करने की भावना का सचार कर रहा था। वेदो के

समय के पश्चात् अन्य जो बातें आर्य धर्म पर आरोपित की गई थी और जिनके परिणाम स्वरूप वह आडम्बरयुक्त, कठिन और लोकप्रिय (शिक्षितवर्ग मे) हो रहा था— आर्य समाज आन्दोलन उसका निराकरण कर आर्य-धर्म को ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहता था, जिससे वह हर दृष्टिकोण से प्रगतिशील, सरल एव आडम्बर ही न धर्म के रूप में सभी वर्गों मे लोकप्रिय हो सके। उन्होने वेदो की नये ढग से व्याख्या प्रस्तुत की तथा सत्य को ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि पर जोर दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियो के कल्याण के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्नीसवी शताब्दी मे भी भारत में नारियो की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उन्हे सामाजिक एव राजनीतिक सम्मान न प्राप्त थे, शिक्षा से वे वचित थी, उन्हे आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी और न उनकी स्थिति मे सुधार हेतु प्रयत्न की दिशा मे उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पहले यद्यपि राजा राममोहनराय नारी उत्थान के प्रति अपनी आवाज उठा चुके थे और उन्ही के प्रयत्नो के फलस्वरूप सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, तथापि वह एक महान् अनुष्ठान का प्रारम्भ मात्र था, उस अनन्य लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा मे यथेष्ट कार्य करना अभी शेष था। स्वामी दयानन्द ने पूर्ण शक्ति से नारियो की स्थिति मे सुधार लाने और नारी शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। आर्य समाज आन्दोलन में भारतीय जीवन पद्धति मे सुधार लाने की दृष्टि से अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। 'भारतेन्द्र के जीवन काल मे ही आर्य समाज का प्रचार हो गया था और भारतवासियों ने बहुत बडी सख्या मे उसे अपनाया। ब्रह्म-समाज से कही अधिक प्रचार आर्य समाज का हुआ। उसने शिक्षितो को ही नही, वरन् अशिक्षितो एव अर्द्ध शिक्षितो को भी प्रभावित किया। इससे समाज मे कट्टरता और ईसाई और मुस्लिम धर्म प्रचार को आघात पहुचा। रूढिग्रस्त धर्म से असन्तुष्ट लोगो को पश्चिमी प्रभावो से मुक्त सुधारो से सन्तोष प्राप्त हुआ और, यद्यपि कुछ लोग स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को सन्देहात्मक दृष्टि से देखते थे, तो भी देश के धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्र में उनकी सेवाएँ चिर-स्मरणीय रहेगी। स्वामी दयानन्द आधुनिक भारत के महान् निर्माताओं में से हैं। सुधारवादी सनातन धर्मियो के हाथ मे बागडोर होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्य समाज से प्रभावित हुए बिना नही रह सका। उसने साहित्यिकों को तरह तरह के विषय सुझाए और भाषा मे सस्कृत तत्त्व को प्रोत्साहन दिया। आर्य समाज ने अनेक हिन्दुओ को मुसलमान और ईसाई होने से बचा लिया। सामाजिक क्षेत्र मे आर्य-समाजियो ने सबसे बडा कार्य किया। विधवा-विवाह निषेध, अघूतोद्धार बाल विवाह, स्वदेशी-प्रचार तथा ब्राह्मण धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड और अन्ध-विश्वासों का विरोध कर उन्होंने विशुद्ध वैदिक धर्म के प्रचार की आवाज बुलन्द की और वेदों और वैदिक जीवन का आदर्श सामने रखा। उन्होने स्थान-स्थान पर गो-

रक्षिणी सभाएँ स्थापित की, वैदिक आदर्श के अनुरूप शिक्षा देने के लिये गुरुकुल स्थापित किये और वेदो मे आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो का मूल रूप देखा ।

भारतीय दृष्टिकोण लिये हुए सुधारवादी आन्दोलनो का एक मुख्य ध्येय अनेक अगरेजो-शिक्षित नवयुवको का सुधार करना भी था । नवीन शिक्षा के कारण देश मे प्राचीन धर्म सम्बन्धी अनभिज्ञता बढने और सास्कृतिक छाप होने के कारण देशभक्तों को मर्मान्तिक पीडा होने लगी थी, बगाल मे स्वामी रामकृष्ण परमहस भी इसी प्रकार के धार्मिक एव सामाजिक पुनरुत्थान कार्य मे सलग्न थे । उन्होने हिन्दू धर्म और दर्शन के विभिन्न धाराओ का समन्वय कर धर्म का वह स्वरूप प्रस्तुत किया जो सरल था आडम्बरहीन था और सबको मान्य था । साम्प्रदायिक तत्त्वो के वे प्रबल विरोधी थे और उन्होने कभी भी धार्मिक कट्टरता पर बल नही दिया। उन्होने अछूतो से घृणा न करने पर बल दिया और उनके पतित समझे जाने वाले जीवन मे भी गरिमा की स्थापना की । एक अन्य धार्मिक एव सामाजिक आन्दोलन थियोसॉफिकल सोसायटी ने चलाया, जिसको स्थापना कर्नल अल्काट और ब्लैवटस्की ने न्यूयॉर्क मे की थी । भारत मे उनका पहला केन्द्र मद्रास मे खोला था । थियोसॉफिकल सोसायटी ने सभी धर्मों की मौलिक सत्यता मे अपनी आस्था प्रकट की । उसमे बौद्ध तथा हिन्दू धर्म को सत्य का सर्वाधिक उत्तर रूप मान उन्हे विशेष गरिमा प्रदान की । इसने जाति-भेद, ऊँच-नीच-भेद-भाव आदि को मिटाकर समाज मे प्रगतिशीलता लाने का प्रयत्न किया । इस सोसॉयटी मे श्रीमती ऐनी बेसेंट सदृश महिलाए थी और उन्होने हिन्दू नारियो के समक्ष ऊँचे आदर्श प्रस्तुत कर नारियो को रूढियो और आडम्बरो को समाप्त कर उनमे नवीन चेतना सचार तथा उन्हे उनके वास्तविक उत्तरदायित्व एव कर्तव्य के प्रति सचेत किया । इस समाज ने सहिष्णुता का प्रचार कर भारतीय सभ्यता एव सस्कृति की गौरवपूर्ण बाते के नए सिरे से प्रस्तुत कर आत्म गौरव की भावना के उदय का प्रयत्न किया । स्वामी रामकृष्ण जी की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । उन्होने वेदात-दर्शन के अद्वैतवाद पर अधिक बल दिया । क्योकि उनकी विचारधारा मे प्रगतिशील मानव जाति के लिए आगे चलकर सिर्फ वेदाँत-धर्म ही कल्याणकारी हो सकता था । इस का कारण यह था कि वेदात केवल आध्यात्मिक ही नही तर्क-सगत भी था और साथ ही उसका विश्व के वैज्ञानिक आविष्कारो से सामजस्य भी था । उनके अनुसार इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नही किया । वह स्वयभू, स्वय सहारक, स्वयं पोषक एक अनन्त अस्तित्वपूर्ण ब्रह्म है । वेदात का आदर्श आदमी की एकता और उसकी सहज देवी प्रकृति का था, मानव मे ईश्वर दर्शन ही सच्चा ईश्वर दर्शन है, प्राणियो मे मनुष्य सबसे बडा है लेकिन अदृश्य वेदात को दैनिक जीवन मे सजीव काव्यमय हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओ मे से निकलकर उसका नैतिक रूप स्पष्ट-

तया सामने आना चाहिए और रहस्यपूर्ण योगीपने के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमल मनोविज्ञान सामने आना चाहिए। वेदात दर्शन मे आस्था रखने वाले धर्म-प्रचारको ने भारत के शिक्षित नवयुवको को अत्यधिक प्रभावित किया। उन्होने आत्म निर्माण और स्वावलम्बी होने पर बल दिया तथा हिन्दू सस्कृति का पोषण किया। वर्णगत भेद भाव को मिटान, विचारो की सकीर्णता समाप्त कर व्यापक पृष्ठभूमि पर अपनी तर्कशक्ति का विकास करने, स्वदेश के अतीतकालीन गौरव का स्मरण करा कर स्वाधीन बनाने की दिशा मे सम्मिलित रूप से प्रयत्न करने पर अत्यधिक बल दिया। स्वामी विवेकानन्द ने जनसाधारण को अधिक महत्ता प्रदान की और उच्च वर्ग के लोगो को नैतिक एव भौतिक दोनो दृष्टिकोणो से प्राणहीन समझा। उन्होने मानव की दुर्बलता को पाप बताकर अधविश्वास एवं जादू टोनो की घोर निन्दा की। एक अन्य सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रार्थना समाज की स्थापना बम्बई मे हुई थी। रानाडे तथा एन० जी० चन्द्रवर्कर इसके प्रमुख नेताओ मे से थे। जो अपनी अद्वितीय प्रतिभा और समाज सेवा के कारण ख्याति अर्जित कर चुके थे। मुसलमानो मे जाग्रति लाने का कार्य प्रमुख रूप से सर सैयद अहमद कर रहे थे। उन्होने मुसलमानो में प्रचलित पर्दा-प्रथा की कठोर निन्दा की और वैज्ञानिक विचारो तथा इसलामी धर्म मे समन्वय करने की चेष्टा की, जिससे इसलामी धर्म से भी रूढियाँ समाप्त हो जाएँ। उन्होने मुसलमानो मे शिक्षा का प्रसार किया, विशेष रूप से लडकियो की शिक्षा का। इस प्रकार चतुर्दिक दिशाओ मे परिवर्तन लाने का कार्य ये सुधारवादी आन्दोलन कर रहे थे। विश्व के इतिहास के अनेक उदाहरणो से स्पष्ट है कि किसी भी पराधीन देश मे जब शिक्षा का पुनर्गठन हुआ है, आर्थिक व्यवस्था मे उन्नति हुई है, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का प्रचलन हुआ है तथा नवीन जागृति का प्रसार हुआ है, तो इनके परिणामस्वरूप वहाँ के जन-जीवन पर गहन प्रतिक्रिया हुई है और उन देशो मे भीषण क्रान्ति हुई है, जिससे उन देशो का रूप विधान ही एक सिरे से परिवर्तित कर दिया।

इसका साहित्य पर प्रभाव पडना अवश्यम्भावी था और इन बातो का गहन् प्रभाव पडा भी। 'आधुनिक काल मे उपयोगी साहित्य का भी महत्व बढने लगा। पश्चिमी सभ्यता के विस्तार से लेखकगण ऐसे नवीन विचारो से अवगत होने लगे, जो केवल छन्दों में व्यक्त नही हो सकते थे। विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान साधारण जनता की सम्पत्ति हो चले थे और प्रतिदिन लोग अधिक संख्या मे इनके सीखने का प्रयत्न करने लगे थे। ये विद्याएँ हमारे यहाँ पहले भी थी, परन्तु इन्हे लोग सस्कृत के माध्यम से ही सीखते थे और वह भी केवल अपने ही लिए, जनता मे प्रचार करने की प्रवृत्ति उनमें न थी। पश्चिम के संसर्ग से हमने ज्ञान और सत्य का प्रचार करना

सीखा। इस उदारता ने हमे भिन्न-भिन्न विषयो का ज्ञान पुस्तको के रूप मे प्रकट करने को बाध्य किया। आधुनिक साहित्य मे महान परिवर्तन उपस्थित करने वाला दूसरा कारण पश्चिमी भावो और विचारो का प्रभाव तथा पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। आधुनिक शिक्षा की दो प्रमुख विशेषताएँ है—यह आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है। यह सदेह का पोषण करती है और गुरुडम की विरोधी है। प्रकृति की भौतिक सत्ताओ पर विश्वास करती है और अतिभौतिक अथवा अभौतिक सत्ताओ की अविश्वासी है, व्यक्तिगत स्वाधीनता की घोषणा करती है और रूढ़ियो, परम्पराओ तथा अध विश्वासो की शत्रु है। यह बुद्धिवाद, अध-भक्ति का ठीक उलटा है और इससे हमारे दृष्टिकोण मे एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया है। भारत का सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि हमारे यहाँ बाह्य आचारो और उपकरणो ने वास्तविक धर्म और साहित्य को ढक सा लिया। हम छुआछूत, खानपान और विवाह सम्बन्ध मे बडी पवित्रता रखते हैं, परन्तु सत्य और अहिंसा की उतनी परवाह नहीं करते। बुद्धिवाद पहले प्राचीन अध-विश्वासो का विनाश करता है और फिर प्रस्तुत उपकरणो से प्रयोगात्मक रीति पर चलकर नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। आधुनिक साहित्य में भी ठीक ऐसा ही हुआ। पहले-पहल साहित्यिक भाषा की परम्परा का विरोध हुआ और फिर प्राचीन साहित्यिक विद्वानो विकृत और अप्रचलित शब्दो तथा व्याकरण की प्राचीन रूढियो पर कुठाराघात किया गया। प्राचीन नियमो, रूढियो और विधानो की तीव्र आलोचना हुई और नए नियमो तथा सिद्धातो का प्रतिपादन हुआ। ··इसी प्रकार कला का उदय और महत्त्व भी आधुनिक जीवन की परिस्थितियो के कारण हुआ। नागरिक जीवन के बाह्याडम्बर भी बढने लगा। मनुष्य का बाह्य रूप उसके आतरिक रूप के समान या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। वेश की पूजा होने लगी। साहित्य पर भी उस का प्रभाव पडा—बाह्य उपकरणो की महत्ता बढ गई, लय और नाद, सगति और रूप, भावो से अधिक महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे। यश और धन के उपार्जन के लिए भी साहित्य का बाह्य सौष्ठव आकर्षक बनाना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। इसका स्वाभाविक परिणाम सचेतन कला का विकास था। परन्तु कला के उदय का सबसे प्रबल कारण यह था कि अब साहित्य का सृजन सहजोद्रेक मात्र न रह गया। कवि या लेखक किसी पुस्तक से, प्रकृति के सुन्दर दृश्यो से अथवा अपने चिंतन से सुन्दर भाव या विचार लेकर उसकी व्यजना के लिए, उसे साहित्यिक रूप देने के लिए, किसी एकांत स्थान मे बैठकर अथवा अपने कमरे मे ही आधी रात तक जागकर शब्दो की नाप-तोल किया करता। भावो और विचारो को श्रेष्ठतम रूप मे व्यक्त करने के लिए अनेक बार काटता और लिखता, प्रत्येक शब्द के नाद और लय पर विचार करता,

उसके अर्थ मे ध्वनि लाने का प्रयत्न करता । वह सचेतन कलाकार बन गया ।' इस प्रकार साहित्य एक नए विकास पथ पर अग्रसर हुआ और भविष्य की विराट भावनाएँ निर्मित हुई ।

अब इस निष्कर्ष को सक्षेप मे एक साथ यो प्रस्तुत कर सकते हैं। भारत मे समाज और धर्म के मध्य कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती । हमारे यहाँ समाज का आधार धर्म पर ही है । समाज कई भागो मे विभक्त था । सबसे बडा भाग वैष्णवों का था । दूसरा भाग शैवो का था । यह भाग परम्परा पर आधारित था । जिनके पूर्वज शैव या वैष्णव होते थे । वे भी अपने को शैव और वैष्णव कहते थे । परम्पराओं का मोह लोगो को ऐसा था कि धार्मिक पाखडो मे विश्वास न रखते हुए भी उनका पालन करते चले आ रहे थे । धीरे-धीरे धार्मिक कृत्यो के आडम्बर मे लोगो की आस्था टूटती जा रही थी । इसके पीछे कई तत्त्व क्रियाशील थे । प्रथमत. पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्राति की भावना लेकर आई थी। इसमे भौतिकता का अश बहुत अधिक था । भारतवासियो का अपना एक जीवन था और इस भौतिकता के पीछे वे जो आध्यात्मिकता का भाव सन्निहित रखते थे । वह अन्य देशो मे न थी । अत. पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार करने मे उन्हे लगा जैसे उनकी आत्मा का हनन होकर उन्हें आत्म-प्रवचना का शिकार बनना पडेगा । अत' पश्चिम के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी । जिसे पूर्व और पश्चिम का सघर्ष भी कहा गया, जो आध्यात्मिक क्षेत्र का सघर्ष था । प्रश्न उठता है कि इस जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था मे आध्यात्मिकता आई कहा से ? भारत का जो शिक्षित वर्ग था । उसने एक ओर तो पश्चिम के बढते हुए प्रभाव को देखा । वही भारत मे सर्वत्र अन्धकार की गहन छाया व्याप्त देखी । अत उन्होने सोचा कि इस अन्धकार को मिटाने के लिए एक ऐसा भारतीय शस्त्र निकालना चाहिए जो भारतीय शिक्षित वर्ग को तो मान्य हो ही, पश्चिमी जगत को भी मान्य हो, अर्थात् कर्म का कोई ऐसा रूप प्रतिष्ठित किया जाना चाहिये, जो पौराणिकता एव आडम्बर से विहीन हो । वह धर्म का स्वरूप खोजा गया । उपनिषदो का धर्म, जो आज भी प्रचलित हैं। यह वही धर्म था जिसे शकराचार्य ने बौद्धो को परास्त करने के लिए प्रयुक्त किया था ।

इस काल में भारतीय जीवन बहुत ही दयनीय था । लोगो मे विचित्र सी निराशा व्याप्त थी । आर्य-समाज आन्दोलन इस काल मे सामाजिक परिस्थिति मे सुधार लाकर प्रगतिशीलता लाने मे सलग्न था । यह तो निश्चित था कि भारतवासी जहाँ थे वहाँ न रहना चाहकर आगे बढने के लिए उत्सुक थे । उनकी इस आतुरता को तीव्र बनाने में पाश्चात्य शिक्षा ने यथेष्ट मात्रा मे सहायता दी । पाश्चात्य शिक्षा ने ही नारी की पारिवारिक स्थिति तथा सामाजिक परम्पराओ की स्थिति मे अनेक परिवर्तन उपस्थित कर दिये थे । अभी तक नारी को एक निर्जीव गठरी मात्र ही

समझा जाता था। उसे उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता न थी और परिवार मे यद्यपि वह गृहलक्ष्मी कहकर पुकारी जाती थी, किंतु उसकी वास्तविक स्थिति दासी से कुछ अधिक अच्छी न थी। पुरुष वर्ग उसे भ्रम में रखना चाहता था, जिससे उसकी प्रगतिशीलता की ध्वनि कुंठित होती रहे और स्वय उसके अधिकारो का स्वत्व स्थापित रहे। पर इस युग मे धीरे धीरे नारी की स्थिति मे परिवर्तन उपस्थित हो रहा था। नारियाँ अब बन्धन मे नही रहना चाहती थी। पुरुषो की भाति ये भी राजनीतिक और आर्थिक सघर्ष मे बराबर भाग लेना चाहती थी। वे भी समाज को उन्नति की चरम सीमा तक ले जाना चाहती थी। वे भी उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती थी। राजनीति के क्षेत्र मे गाधी जी के उदय ने नारी को सहज ही उसका अधिकार प्रदान कर दिया। उसे तब कोई विशेष सघर्ष नही करना पडा। गाधीजी ने जो असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया। उसमे इन्ही 'पिछडी' हुई नारियो ने ही पुलिस के दमनचक्र का सामना किया। गाधीजी का आन्दोलन केवल राजनीतिक ही नही था। वरन वह भारतवर्ष के सम्पूर्ण जीवन को अपने में समेटे हुए था। इसी प्रकार पारिवारिक परिस्थितियो मे भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अभी तक भारत मे सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा प्रचलित थी, पर ज्यो-ज्यो भारत की आर्थिक स्थिति शोचनीय होने लगी सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा भी त्यो-त्यो विच्छिन्न होने लगी। दूसरी ओर अग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के कारण भारतवासियो मे एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उपस्थित होने लगा था। जाति-प्रथा भी क्षीण होने लगी थी। बाल-विवाह की प्रथा भी धीरे २ समाप्त होती जा रही थी। सुधारवादी आन्दोलनों एव पाश्चात्य शिक्षा के बढते प्रभाव के कारण भारत का सामाजिक ढाँचा हिलने लगा था।

इस प्रकार इस युग की विस्तृत पृष्ठभूमि में इस युग की कुछ प्रमुख समस्याओं को इस प्रकार रख सकते हैं—

१ इस युग की सबसे प्रमुख समस्या स्वाधीनता प्राप्ति की थी। पाश्चात्य शिक्षा और पश्चिमी शिक्षा और पश्चिमी सम्पर्क ने धीरे धीरे लोगो की चेतना जागत करना आरम्भ कर दिया था और लोग देश मे ब्रिटिश साम्राज्य को बहिष्कृत कर अपना शासन स्थापित करने के लिए व्यग्र थे।

२ दूसरी समस्या आर्थिक उन्नति की थी। पूजीवाद अपनी जड़ें गहरी करता जा रहा था। अग्रेजो की नीति भारत की आर्थिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से जर्जरित कर देने की थी। शोषक वर्ग के दुराचार बढते जा रहे थे और शोषित वर्ग निरन्तर पिसता ही जा रहा था।

३. तीसरी समस्या नारियो की प्रगतिशीलता के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करना था। लोग बाल-विवाह मे अभी तक विश्वास करते थे साथ ही उनकी यह भी धारणा बन गई थी कि नारियाँ घर की चार दीवारो के बीच बन्द रहने वाली

पशु मात्र हैं। लोग अपनी लडकियो को उच्च शिक्षा के लिए नही भेजते थे। उनकी उत्सुकता भी इस दिशा मे न थी।

४. आर्थिक व्यवस्था क्षीण होने के कारण सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा विच्छिन्न होती जा रही थी। परिवार टूटते जा रहे थे। लोगो मे वैमनस्य बढता जा रहा था। एक प्रकार से पूरा सामाजिक ढाँचा ही हिलता जा रहा था। समस्या थी एक ऐसे नए समाज की रचना की जिसमे इन कुरीतियो का निराकरण सम्भव हो सके।

५. अभी तक धर्म पाखंडो एव पौराणिक आडम्बरो मे ऐसा घिरा था कि शिक्षित वर्ग किसी भी रूप मे उसे अपनाने को तैयार न था। इस प्रकार एक प्रमुख समस्या धर्म के ऐसे रूप को उपस्थित करने की थी जिसमे आडम्बर आदि न हो और जो शिक्षित वर्ग के साथ ही सबको मान्य हो।

जब कहानियो मे इन समस्याओ के चित्रण की ओर हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें उतनी निराशा नही होती। जितनी पिछले युग मे हुई थी। इस युग मे प्रेमचद ने साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया था और उन्होने कहानियो को एक नई दिशा प्रदान की। तिलस्मी, जासूसी, मात्र-मनोरजन एव कल्पना-लोक से निकालकर उसे यथार्थ की कठोर भूमि पर ला खडा कर प्रेमचद ने हिन्दी कहानियो को प्रगति की ओर मोडा। स्वय प्रेमचद ने अपनी नयी कहानियो मे इस युग की सभी समस्याओ एव व्यक्ति की मनोवृत्तियो का चित्रण कर अपना उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। शोषक और शोषित वर्ग के परस्पर सघर्ष, पूजीवाद के दमनचक्र, बुर्जुआ मनोवृत्ति का प्रसार। नए धर्म का स्वरूप और प्रगतिशील समाज की रचना के सुझावो से उनकी कहानियाँ ओत-प्रोत हैं। नारी जीवन की अनेक समस्याओ के साथ सामाजिक कुरीतियो और धार्मिक पाखडो की ओर प्रसाद ने अपनी कहानियो मे लोगो का ध्यान आकृष्ट कर उन्हे उचित निर्देशन प्रदान करने का प्रयास किया। इस युग मे लगता था कि सामाजिक विकृतियो एव नए यथार्थ, सामाजिक सघर्ष एवं विकास के चित्रण की ओर कहानीकारो का विशेष ध्यान रहा। भगवती प्रसाद वाजपेयी, सुदर्शन, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' वृन्दावनलाल वर्मा, पाडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्णदास, राजा राधिकारमण प्रसादसिंह, विनोदशकर व्यास, ज्वाला दत्त शर्मा, विश्वम्भर नाथ जिज्जा, निराला, वाचस्पति पाठक, सियाराम शरण गुप्त आदि सभी कहानीकारो की कहानियो मे इस युग का व्यक्ति, समाज, युग और जीवन यथार्थ ढग से अभिव्यक्ति पा सका है।

युगीन कहानियों का कलात्मक आधार

इस युग में कहानियो को कलात्मक प्रौढता प्राप्त हुई और कलात्मक शिल्प की दृष्टि से एक नए युग का सूत्रपात होता है। इस युग मे हमे Finished कहानिया अधिक सख्या में प्राप्त होती हैं और उनमे सूत्र-बद्धता एव अपूर्व संवेदनशीलता प्राप्त

होती है कहानीकारो का ध्यान मानव की चित्तवृत्तियो के चित्रण की ओर भी गया और सामाजिक यथार्थ के उद्घाटन की ओर भी, लेकिन इसके लिए उन्होने कोई न कोई ठोस कथानक चुना है और उसके बारीक से बारीक रेशे भी बडी कुशलता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से व्याप्त परिवेश को समेटते हुए संगुफित किया है। इससे कहानियो मे स्थूलता ही प्राप्त होती है, साथ ही एक सुनिश्चित उद्देश्य। सोद्देश्यता इस युग की कहानियो की एक प्रमुख विशेषता स्वीकारी जा सकती है। शायद ही कोई ऐसा कहानीकार होगा, जिसने उद्देश्यहीन कहानियाँ लिखी हो। इसका कारण कदाचित् यही था कि इस युग के कहानीकार अपने दायित्व के प्रति अधिक सचेत हो गए थे और जीवन को यथार्थ अभिव्यक्ति देना ही वे अपना सर्वप्रमुख लक्ष्य समझते थे। इस युग की कहानियो के कथानक प्राय सभी शैलियो मे प्रस्तुत किए गए हैं और वे जीवन के बहुविविध पक्षो को स्पर्श करते हैं—

१—सीधे-साधे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं धनिक समाज की भाँति वे पहले अपने भोग विलास की ओर नही दौडते। सुजान की खेती मे कई साल से कचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चद्रमा बली थे। ऊसर मे भी दाना छीट जाता तो कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड का भाव तेज था। कोई दो-ढाई हजार हाथ मे आ गए। बस चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पडी। साधु-सतो का आदर-सत्कार होने लगा। द्वार पर धूनी जलने लगी। कानूनगो इलाके मे जाते। तो सुजान महतो के चौपाल मे ठहरते, हल्के के हेडकॉन्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर एक न एक उस चौपाल मे पडा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग। उनके द्वार पर जब इतने बडे २ हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमो के सामने उनका मुँह न खुलता था। उन्ही की अब महतो २ कहते जबान सूखती थी। कभी २ भजन भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव मे आसन जमा दिया। गाजे और चरस की बहार उडने लगी। एक ढोलक आई। मजीरे मगवाये गये, सत्सग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर मे सेरो दूध होता, मगर सुजान के कठ तले एक बूद जाने की भी कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध घी से क्या मतलब उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता। कही लोग यह न कहने लगे कि धन पाकर इसे घमण्ड हो गया है। गाँव मे कुल तीन ही कुए थे, बहुत से खेतो मे पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कुआँ और बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ। यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारो पदार्थ मिल गए। जो काम गाँव मे किसी ने न किया था।

बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया ।[1]

२—वह ५० वर्ष से ऊपर था । तब भी युवको से अधिक बलिष्ठ और दृढ था । चमडे पर झुर्रियाँ नही पडती थी । वर्षा की झडी मे, पूस की रात की छाया मे कड़कती हुई जेठ की धूप मे, नंगे शरीर घूमने मे वह सुख मानता था । उसकी चढी मूंछे बिच्छू के डंक की तरह, देखने वालो की आँखो मे चुभती थी । उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था । उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा, दूर से भी ध्यान आकर्षित करता । कमर मे बनारसी सेल्हे का फेटा, जिसमे सीप की मूठ का बिछुआ खसा रहता था । उसके घुँघराले बालो पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौडी पीठ पर फैला रहता । ऊंचे कंधे पर टिका हुआ चौडी धार का गडासा । यह थी उसकी धज । पंजो के बल जब वह चलता, तो उनकी नसे चटाचट बोलती थी । वह गुण्डा था ।[2]

३—रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार मे पडी रही । कभी २ जोर से चिल्ला उठती और कहती—'देखो २ वह गिरा जा रहा है । उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो ।" कभी वे कहती—बेटा मनोहर मैंने तुझे नही बचाया । हाँ-हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैने देर कर दी ।' इसी प्रकार के प्रलाप वे किया करती ।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी । टाग बिठा दी गई । वह क्रमश. फिर अपनी असली हालत पर आने लगी ।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ । अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—'मनोहर कैसा है ?

रामजी दास ने उत्तर दिया—'अच्छा है ।'

रामेश्वरी—'उसे मेरे पास ले आओ ।'

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया । रामेश्वरी ने बडे प्यार से हृदय से लगाया । आँखों से आँसुओं की झडी लग गई, हिचकियो से गला रुँध गया ।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गई । अब वे मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नही करती और मनोहर तो अब उसका प्राणाधार हो गया है । उसके बिना उन्हे एक क्षण भी कल नही पडती ।[3]

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जीवन के कितने व्यापक पक्षों का चित्रण करने का प्रयत्न इस युग के कहानीकारो ने

---

१. प्रेमचन्द सुजान-भगत, (मानसरोवर), १९४०, वाराणसी

२. जयशंकर प्रसाद : गुण्डा, प्रयाग

३. विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक" : ताई, कानपुर

किया था। उन्होने जहा न पहुँचे रवि-वहा पहुचे कवि—वाली कहावत को सत्य सिद्ध कर दिया था और जीवन के उन उपेक्षित पक्षो को भी अपनी कहानियो मे उजागर करने की चेष्टा की, जिनके सम्बन्ध मे अभी तक लिखने की आवश्यकता ही नही समझी जाती थी, या जिनके सम्बन्ध मे कुछ भी लिखना अकल्पित और अप्रत्यशित समझा जाता था। इस विराटता का बोध यो ही अनायास नही आ गया था—यह इस युग के लेखको की प्रतिबद्धता का रूप धारण कर चुका था कि सत्य बोध, युग बोध और भावबोध का यथार्थ चित्रण कर आदर्शवाद को मुखरित करना और एक व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण की कहानियो के माध्यम से प्रतिष्ठापना करना, जिनसे साहित्य मे सत्य शिव सुन्दरम् की भावना प्रतिपादित हो सके। इस युग के प्राय. सभी कहानीकार ने जीवन के यथार्थ से ही अपने पात्रो को चुना और उन्हे इतनी यथार्थता से प्रस्तुत किया कि वे जीवन के स्थानापन्न ही बन गए। इस दृष्टि से प्रेमचन्द को अपार सफलता प्राप्त हुई थी। इस युग के कहानीकारो ने व्यक्ति को महत्व दिया अवश्य, पर उसे समाज से अलग कर नही देखा—उसे आत्म परक दृष्टि-कोण से चित्रित करने की चेष्टा नही की। यहा तक कि प्रसाद भी, जिनका दृष्टिकोण व्यक्तिवाद के निकट था, व्यक्ति को इतना व्यक्तिवादी नही बनाया कि वह सामाजिक धारा से विच्छिन्न होकर निर्जीव हो जाए। इन कहानीकारो ने व्यक्ति और समाज का अन्योयाश्रित सम्वन्ध ही समझा और तदनुसार उसे वैसा ही चित्रित किया। चरित्र-चित्रण के लिए नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनो प्रणालियो का उपयोग किया गया और मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व और आन्तरिक प्रवृत्तियो को सूक्ष्मता से स्पष्ट करने के लिए मनोविज्ञान का भी उपयोग किया गया। इस युग के कहानीकारों का मनोविज्ञान से परिचय नही था और उसका उपयोग सर्वप्रथम जैनेन्द्रकुमार ने किया, यह समझना भूल होगी। इस युग के कहानीकारो ने भी मनोविज्ञान का उपयोग किया, पर उसका चित्रण करने के लिए सीमा का अतिक्रमण कर उन्होने जीवन को ठोरकर नही मार दिया। जहाँ तक कथोपकथनो का प्रश्न है, इस युग की कहानियो मे कथोपकथनो को वास्तविक स्थान प्राप्त हुआ। पिछले युग मे जहाँ या तो कथोप-कथन होते ही नही थे, और यदि होते भी थे, तो नाममात्र को, वहीं इस युग में कथोपकथन सक्षिप्तता, भावाभिव्यक्ति की समर्थता से पूर्ण और नाटकीयता लिए हुए आए :

१.···धीवर बाला आकर खड़ी हो गई, बोली—'मुझे किसने पुकारा!"
"मैंने।"
"क्या कहकर पुकारा?"
"सुन्दरी।"
"क्यो मुझमे क्या सौन्दर्य है? और है भी कुछ तो क्या तुमसे विशेष?"

"हाँ मैं आज तक किसी को सुन्दर कहकर नही पुकार सका था, क्योकि वह सौन्दर्य विवेचना मुझमे अब तक नही थी।"

"आज अकस्मात यह सौन्दर्य विवेक तुम्हारे हृदय मे कहाँ से आया ?"

"तुम्हे देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य तृष्णा जाग गई।"

"परन्तु भाषा मे जिसे सौन्दर्य कहते है, वह तो तुममे पूर्ण है।"

"मैं यह नही मानता, क्योकि फिर सब मुझी को चाहते, सब मेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नही हुआ। मैं राजकुमार हू, मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौन्दर्य का सृजन कर देता है, पर मैं उसका स्वागत नही करता, उस प्रेम निमन्त्रण मे वास्तविकता कुछ नही।"

"हाँ तो तुम राजकुमार हो। इसीसे तुम्हारा सौन्दर्य सापेक्ष है।

"तुम कौन हो ?"

'धीवर बालिका।"

"मछली फसाती हू।" कहकर उसने जाल को लहरा दिया।[1]

२. "बन्दी।"

"क्या है ? सोने दो।"

,मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नही, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

'बडी शीत है, कही से एक कम्बल डालकर कोई शीत मुक्त करता।"

आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज बन्धन शिथिल है।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो।"

'हा धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायेगा। पोत से सम्बन्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ"

समुद्र मे हिलोरें उठने लगी। दोनो बन्दी आपस मे टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा।[2]

इसके विपरीत स्थूल ढग से वर्णनात्मक का आभास देने वाले कथोपकथन भी मिलते हैं। जो इतिवृत्तात्मक गुणो से ओतप्रोत हैं और लम्बे-लम्बे हैं। ऐसा लगता है कि पात्रो के बोलने के बहाने स्वयं लेखक बीच मे टपककर अपनी बात कहने

---

१. जयशंकर प्रसाद : समुद्र सतरण, प्रयाग

२. जयशकरप्रसाद : आकाशदीप, प्रयाग

लगता है। पिछले युग मे जहाँ यह भद्दे ढग से कहानी के बीच मे बिना अपने को छिपाए स्वय लेखक द्वारा होता था वही इस युग मे लेखक अपने को पात्रो के व्यक्तित्व के पर्दे के पीछे छिपाकर बडी कुशलता से उनके कथोपकथनो के माध्यम से करता था जहा तक भाषा का प्रश्न है, जयशकर प्रसाद ने सस्कृत गर्भित भाषा का प्रयोग किया और क्लिष्ट प्रयोगो के कारण प्रायः उनकी कहानिया दुरूह हो गई हैं, पर उनके अतिरिक्त अधिकाश कथाकारो ने यथार्थ भाषा का प्रयोग कर उसे सहज एव स्वाभाविक ढग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इन कहानीकारो की भाषा मे यथार्थ गुण अधिक आ गए है और इसी कारण तत्कालीन परिस्थितियो मे पाठको के एक विस्तृत वर्ग मे कहानियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी। कला की दृष्टि से इस काल की कहानियो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१ चरित्र प्रधान कहानी—जैसे प्रेमचन्द की 'बूढी काकी', 'आत्माराम', 'सुजान भगत' तथा बडे घर की बेटी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था', जयशकर प्रसाद की 'भिखारिन' आदि कहानियाँ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इस शैली मे सबसे अधिक कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखी और समाज के विभिन्न वर्गों के अविस्मरणीय यथार्थ चरित्र प्रस्तुत किए।

२ वातावरण प्रधान कहानी—जैसे प्रेमचन्द की 'शतरज के खिलाड़ी', जयशकर प्रसाद की 'समुद्र सतरण', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानो मे कगना', विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेशी', गोविन्दवल्लभ पन्त की 'जूठा आम' आदि कहानियाँ इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य हैं। इस काल में वातावरण प्रधान कहानियो की बहुलता मिलती है।

३ कथानक प्रधान कहानी—जैसे प्रेमचन्द, प्रसाद या गोविन्दवल्लभ पत की अधिकाँश कहानियाँ।

४. कार्य प्रधान कहानी—जैसे गोपालराम गहमरी, कार्तिक प्रसाद खत्री की जासूसी कहानियाँ।

५ हास्यपूर्ण कहानी—जैसे जी० पी० श्रीवास्तव की 'लम्बी दाढ़ी' या मोटेराम शास्त्री को नायक बनाकर लिखी गई कुछ प्रेमचन्द की कहानियाँ।

६ ऐतिहासिक कहानी—जैसे वृन्दावन लाल वर्मा की 'शरणागत' 'प्रसाद की 'ममता', प्रेमचन्द की सारधा तथा चतुरसेन शास्त्री की 'भिक्षुराज' आदि कहानियाँ।

७. प्रतीक वादी कहानी—जैसे रायकृष्णदास की 'कला और कृत्रिमता कला' कहानी।

युगीन कहानियों मे चित्रित प्रवृत्तियाँ

यदि कलात्मक दृष्टि से इस काल की कहानियो मे प्रौढता आई, तो प्रवृत्तियो की दृष्टि से इस काल की कहानियो मे विविधता आई। इस काल की कहानियो मे मे भी सुधारवादी प्रवृत्तियो का प्राधान्य प्राप्त होता है, किन्तु वह पिछले युग की भाँति आरोपित ढग से नही, वरन् कलात्मक ढग से प्रस्तुत की गई हैं। लेखको का ध्यान आदर्शवाद पर ही रहा है, पर वे यथार्थवाद को विस्मृत नही कर सके। कहना यह चाहिए कि आदर्शवादी बिन्दु पर पहुचने के लिए उन्होने अपनी यात्राएँ यथार्थवाद के पथ पर की और इस पथ एव बिन्दु के मिलन को ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते है। इस सम्बन्ध मे सबसे पहले यथार्थवाद पर विचार कर लेना होगा। यथार्थवाद का वास्तविक सम्बन्ध फ्रेन्च यथार्थवादी स्कूल से है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग १८३५ ई० मे आदर्शवादी विचारधारा मे विश्वास रखने वालो के विरुद्ध सौन्दर्यवादी विवरण के रूप मे हुआ था। बाद मे इसका प्रयोग साहित्य मे भी होने लगा। दुर्भाग्य से यथार्थवाद का विशेष महत्व फ्लावेयर, जोला और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य मे अपनाये जाने वाली 'अनैतिक मान्यताओ' और 'निम्नकोटि' के विषयो के विरुद्ध उठे कटु विवाद मे बहुत कुछ अंशो मे न्यून हो गया। इसके परिणामस्वरूप यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद के भिन्न रूप के ही अर्थ मे ग्रहण किया जाने लगा। यह वास्तव मे फ्रेंच यथार्थवादियो के द्वारा ग्रहण किये गये दृष्टिकोण से प्रतिध्वनित था। यथार्थवाद के स्वरूप के सम्बन्ध मे साहित्य मे अनेक भ्रान्तियाँ प्रसारित हैं और कुछ तथाकथित अध्यवसायी एव प्रतिक्रियावादी आलोचको ने तो यह घोषित भी कर दिया कि यथार्थवाद ने ही हिन्दी कथा साहित्य मे सारी 'विषमताएँ' उत्पन्न की हैं और उसे 'विकृत' बनाया है। ऐसी भ्रमपूर्ण धारणा वस्तुतः यथार्थवाद को न समझ सकने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यथार्थवाद वास्तव मे वस्तुओ के यथातथ्य चित्रण पर नही, अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई कहानी केवल इसलिए यथार्थवादी है कि उसमे जीवन की किसी समस्या, सवेदना या अनुभूति का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो यह केवल अन्वेषित रोमास ही होगा। यथार्थवाद वास्तव मे बहुविधिय मानव अनुभवो के पूर्ण एव सत्य चित्रण पर बल देता है, न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण पर। यथार्थवाद उस जीवन प्रकार मे नही अवस्थित रहता, जो कहानियो मे प्रस्तुत किया जाता है, वरन् उस जीवन प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली मे और उसी रूप मे विकासित भी होता है। यह वास्तव मे स्वय फ्रेंच यथार्थवादियो की स्थिति के अत्यधिक निकट है जिनका मत था कि यदि उनका साहित्य बहु-प्रचलित एव ख्याति प्राप्त नीति-शास्त्र सम्बन्धी सामाजिक एव साहित्य मान्यताओ के क्रोड मे प्रस्तुत मानवता के अतिरंजित चित्रों से भिन्न हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उनका

साहित्य जीवन के आवेशहीन और वैज्ञानिक परीक्षण से प्रभावोत्पन्न सृजन प्रक्रिया के परिणाम हैं। जैसा पहले कभी नही हुआ था। यथार्थवाद इस सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य-सृजन न तो किसी प्राणहीन स्तर पर जीवित रह सकता है। जैसा कि प्रकृतिवादियो (Naturalists) ने दावा किया था और न किसी व्यक्ति वादी सिद्धान्त पर, जो अपने स्वत्व का स्वय शून्य मे विलय कर देता है।

वास्तविक महान् यथार्थवाद इस प्रकार मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप मे चित्रण करता है और उनके एक या दो विशेषताओ मात्र के चित्रण के प्रति अपनी आस्था प्रकट करता है। दर्शनशास्त्र मे 'यथार्थवाद' से अभिप्राय एक यथार्थ-वादी दृष्टि कोण से हैं। जो मध्ययुगीन यथार्थवादियो के दृष्टिकोण से निकट साम्य रखता है, न कि वे भावनाएँ, जो इन्द्रियो के मनन एव मथन से स्पष्ट होती हैं। कथा-साहित्य के सन्दर्भ मे यह विचार प्राय· व्यर्थ एव सारहीन प्रतीत होगा, क्योकि कथा साहित्य मे अन्य साहित्य विधाओ की अपेक्षा अधिक मात्रा मे सत्य अन्तरनिहित रहता है पर इससे एक तथ्य निश्चय ही स्पष्ट होता है और वह कथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता की ओर इगित करता है, जो आज यथार्थवाद के परिवर्तित दार्शनिक अर्थ से मिलता-जुलता है। यह युग कुछ इस प्रकार का है। जिसमे साधारण बौद्धिकता निर्णयात्मक करने के प्रति प्रयत्नशीलता के कारण अलग कर दी गई थी। अतः आधुनिक यथार्थवाद वास्तव मे इस स्थिति से आरम्भ होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तिगत भाव अनुभावो से सत्य का अविष्कार नही कर सकता, वरन् वाह्य सृष्टि ही सत्य है और व्यक्ति के अपने भाव-अनुभाव ही उसे उसका सत्य विवरण देते रहते हैं। यद्यपि इस धारणा से साहित्यिक यथार्थवाद पर कुछ विशेष प्रकाश नही पड़ता और न साहित्य मे समझे जाने वाले यथार्थवाद की रूपरेखा पर उनका अभिप्राय ही स्पष्ट होता है। इसके कारण स्पष्ट हैं। प्रत्येक युग मे लगभग सभी ने इस रूप मे या उस रूप मे वाह्य सृष्टि के सम्बन्ध मे यही निष्कर्ष अपने व्यक्तिगत अनुभवो के माध्यम से निकाला है और साहित्य कुछ सीमा तक प्राय इन्ही भावनाओ एव निष्कर्षों का स्पष्टीकरण करता रहा है। ऐसी धारणाएँ और इनसे सम्बन्धित तीव्र विवादो मे प्रायः इतनी स्वभावगत समानता है कि साहित्य पर उनका प्रभाव आगे चलकर अधिक स्पष्ट नही हो पाया। दार्शनिक यथार्थवाद की दृष्टि सामान्यत आलोचनात्मक है और वह परम्परा के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करता है। इस की पद्धति उन व्यक्तिगत अन्वेषको के प्राप्त अनुभवो के विवरणो का अध्ययन करता है जो कम से कम प्राचीन अनुमानो से मुक्त हैं और परम्परागत ढग मे अपनी अनास्था प्रकट करते हैं।

यथार्थवाद जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, परम्पराओ एवं पूर्व अर्जित अनुमानो एव विश्वासो को ज्यों का त्यो स्वीकार नही करता। कथा साहित्य के साहित्यिक रूप के उदय होने के पूर्व जितनी भी साहित्यिक विधाएँ थी, वे परम्परागत

सत्य की ही जाच करती तथा उनका ही विवरण प्रस्तुत करती थी। क्लासिकल और नवीन क्रान्ति के युग की अधिकाश रचनाओ के प्लॉट-उदाहरणस्वरूप प्राचीन इतिहासो पर ही आधारित थे और लेखको की प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी शैली की प्रतिभा की जाँच सामान्य रूप से उन्हीं साहित्यिक मानदण्डो के माध्यम से होती थी, जो परम्परागत ढग से अपरिवर्तित रूप से चले आ रहे थे और उसी रूप मे स्वीकृत भी कर लिए गए थे। यह पूर्ण तथा असगत एव हास्यास्पद था। साथ ही साहित्य की प्रगतिशीलता एव उसकी परिवर्तनशीलता के प्रति अनास्था प्रकट कर परम्परावाद एव प्रतिक्रियावादियो की बहुत बडी विजय थी। इस साहित्यिक परम्परावाद को सर्वप्रथम सबसे बडी चुनौती कथा-साहित्य ने दी—जिनका सर्व प्रमुख कार्य व्यक्तिगत अनुभवो का सत्य प्रतिपादित करना था। ये व्यक्तिगत अनुभव बराबर ही असाधारण और इसीलिए सर्वथा नवीनता धारण किए रहते थे। कथा-साहित्य इस प्रकार उस सस्कृति का एक तर्क पूर्ण साहित्यिक मापदण्ड है, जिसने पिछली कुछ शताब्दियो से मौलिकता पर आधारित असाधारण मूल्यान्वेषण किया है। यथार्थवाद इससे घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है। पर यहाँ यह निभ्रान्त स्थिति नही उत्पन्न होनी चाहिए कि दर्शन वास्तव में भिन्न स्थिति रखता है और साहित्य उससे अलग। इन दोनो मे परस्पर जो भी साम्य हैं। उससे यह अनुमान कदापि न लगना चाहिए कि दर्शन की यथार्थवादी परम्परा से ही साहित्य की यथार्थवादी परम्परा का जन्म हुआ।

यदि कथा साहित्य की यथार्थवादी परम्परा पर दर्शन की यथार्थवादी परम्परा का कोई प्रभाव है भी, तो वह लॉक के कारण, जिसके विचार अठारहवी शताब्दी मे प्रत्येक स्थान पर विचारो के क्षेत्र मे गहनतम रूप से छाए हुए थे। दार्शनिक और साहित्यिक नवीनताओ—दोनो को ही महान परिवर्तनशीलता के समान स्तर पर आँका जाना चाहिए। यहा हम एक सीमित दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं कि साहित्य की यथार्थवादी परम्परा एव दर्शन की यथार्थवादी परम्परा की परस्पर समानता कहानियों की वर्णनात्मक स्थिति को स्पष्ट करने मे कहाँ तक सहायक होती है। यह जैसा कि कहा गया है साहित्य की शैलियों का निष्कर्ष है, जहा कहानियो द्वारा मानव जीवन के अकन की प्रक्रिया तथा उस सत्व को स्पष्ट करने एवं उसके विवरण देने की प्रयत्नशीलता की प्रक्रिया मे उस पथ का अनुगमन करती है, जो दार्शनिक यथार्थवाद से प्रभावित है। ये प्रक्रियाएं किसी भी रूप मे केवल दशन तक ही सीमित नहीं हैं, वास्तव ये किसी भी घटना की अन्वेषण-सम्बन्धी प्रक्रिया मे जो यथार्थ सन्दर्भ में होती है, अपनाई जाती है। कथा-साहित्य मे यथार्थ की अनुकृति अंकित करने के कलात्मक ढग को अदालतो मे अनेक अशो मे समानता है। दोनो ही किसी दिए हुए मामले में प्रत्येक तथ्यो से पूर्णतया अवगत होना और सत्य से परिचित होना चाहते हैं। किसी प्रकार का रहस्य या दुराव-छिपाव उन्हें रुचिकर एव न्याय-

पूर्ण प्रतीत नही होता और वे इसे श्रेयस्कर नही समझते। वे जानना चाहते हैं कि दी हुई घटना कब, कहाँ और कैसे भी ऐसे व्यक्ति, जो परिचित एव सामान्य नही है, के सम्बन्ध मे कोई साक्ष्य स्वीकृत नही करेगे और वे ऐसे गवाहो की भी आशा नही करेगे, जो अपने शब्दो मे सारी कहानी कहे और मामले को सतोषजनक ढग से स्पष्ट करे। वास्तव मे न्यायाधीश का जीवन के प्रति चतुर्मुखी दृष्टिकोण होता है और कथा-साहित्य का भी समान्यत यह दृष्टिकोण होता है। कथा-साहित्य की उस वर्णनात्मक प्रणाली को, जिसके माध्यम से यह चतुर्मुखी दृष्टि कोण स्पष्ट होता है, रूपगत यथार्थवाद की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। रूपगत इस अर्थ मे, क्योकि यथार्थवाद का सम्बन्ध किसी विशेष साहित्यिक सिद्धान्त या उद्देश्य से नहीं, वरन् कुछ वर्णनात्मक प्रणालियो से हैं, जो एक साथ कथा साहित्य मे उपलब्ध होती हैं। ये दूसरी साहित्यिक विधाओ मे दुर्लभ होती हैं। चूकि कथा-साहित्य मे मानवीय अनुभवो का पूर्ण एव अविकृत विवरण रहता है, इसलिए कथाकार के ऊपर यह दायित्व होता है कि वह ऐसी घटनाओ पात्रो एव स्थानो तथा तथ्यो का विवरण उपस्थित करे,जिससे पाठको को इस बात का विश्वास हो जाए कि वह कथा-साहित्य के माध्यम से मानवीय अनुभवो का ही पूर्ण एव अविकृत विवरण प्राप्त कर रहा है (प्रेमचन्द : सुजान-भगत, जयशंकर प्रसाद . गुण्डा, वृन्दावन लाल वर्मा : शरणागत, विश्वम्भरनाथ शर्मा, कौशिक : ताई, वाचस्पति पाठक . कागज की टोपी आदि कहानियाँ इस सम्बन्ध मे दृष्टव्य हैं)।

ये विवरण कथा साहित्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य साहित्यिक विधा मे इतनी सूक्ष्मता एव कलात्मकता से प्रयुक्त नही किया जा सकता। इसीलिए रूपगत यथार्थरूप ने कथा-साहित्य पर अपना गहन् प्रभाव डाला है। वास्तव मे रूपगत यथार्थवाद साक्ष्य नियमो की ही भाँति है। यहाँ इसका अभिप्राय यह कदापि न लगाना चाहिए कि कथा-साहित्य मे प्रस्तुत मानवीय अनुभवो के विवरण सत्य एव यथार्थ होते हैं तथा अन्य साहित्यिक विधाओ मे प्रस्तुत ऐसे विवरण अयथार्थ होते हैं। ऐसा वस्तुत नही है और न यह कोई अनिवार्य शर्त है कि कथा-साहित्य मे प्रस्तुत मानवीय अनुभवो के विवरण अन्य साहित्यिक विधाओ मे भिन्न प्रणालियो के माध्यम से प्रस्तुत ऐसे ही विवरणो की अपेक्षा अधिक सत्य होने ही चाहिए। वस्तुत दोनो की अपनी अलग-अलग स्थितियाँ एव सीमाए हैं और कुछ यथार्थवादियो एव प्रकृतिवादियो का यह भ्रम कि किसी सत्य या तथ्य का ज्यो-का-त्यो चित्रण और किसी महान् यथार्थवादी एव चिर-स्थायी रचना प्रक्रिया की सृजनात्मकता के कारण बनती है। सर्वथा विडम्बना है। ऐसा कभी नही होता और उनका अतिवादी विश्वास एव उसके समस्त कार्यों के प्रति उत्पन्न होने वाले तथाकथित अरुचि के लिए उत्तरदायी है। यह तथाकथित अरुचि हमे एक भिन्न मार्ग की ओर गतिशील कर अन्य अनेक भ्रम

उत्पन्न कर सकती है। हमे यह कभी नही भूलना चाहिए कि यथार्थवादी स्कूल मे कुछ कमियाँ हैं, जो प्राय सभी रचनाओ मे पाई जाती है और जिनका निराकरण करने मे प्रायः सभी लेखक असमर्थ रहते हैं। यदि इन कमियो को हम भूल जाएगे, तो यथार्थवाद पर एसा गहन् अन्धकार आच्छादित हो जायगा, जिसका नए सिरे से निराकरण करना कठिन हो जाएगा और न हमे यही भूलना चाहिए कि रूपगत यथार्थवाद मात्र एक परम्परा है; पर अन्य साहित्यिक परम्पराओ की भाँति इसके भी अपने अनेक उपयोगी लाभ और विशेषताएँ हैं। भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओ द्वारा यथार्थवाद का चित्रण करने की सीमाओ मे अनेक उल्लेखनीय अन्तर है और कथा-साहित्य का रूपगत यथार्थवाद अन्य साहित्यिक विधाओ की अपेक्षा मानवीय अनुभवो की अनुकृति शीघ्र ही अपने विशिष्ट वातावरण मे कर लेता है। फलस्वरूप कथा साहित्य अन्य साहित्यिक विधाओ की अपेक्षा पाठको पर अधिक गहरा प्रभाव डालने मे समर्थ होता है और यही कारण है कि गत लगभग ८५ वर्षों मे पाठको ने अन्य साहित्यिक विधाओ की अपेक्षा कथा-साहित्य को अधिक अपनाया है, क्योकि यह उन्हें अधिक आत्म-सतुष्टि देता है और वे जीवन और काया के मध्य निकट तादात्म्य स्थापित कर सकने मे सफल हो पाते हैं। यथार्थवाद लेखक से इस बात की आशा करता है कि वह प्राप्त सत्यो का पूर्ण कलागत ईमानदारी से अपनी कृतियो मे उपयोग करेगा—ऐसे सत्य, जो इतने यथार्थ एव सर्व सम्मत हैं, जितनी कि इस सृष्टि का अस्तित्व।

इससे अस्वीकृति नही हो सकती क्योकि यथार्थ वास्तव मे यथार्थ ही होता है, जिसे भावनाएँ, चेतना या दोनो ही अनुभव करती हैं। इसीलिए यथार्थ निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। यथार्थवाद त्रुटिपूर्ण विषयो एवं उद्देश्यो के मध्य कोई समझौता करता है, ऐसा समझना भ्रामक होगा। यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है, जो विकसनशील सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकसनशील सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकसनशील सृजन-प्रक्रिया के मार्ग में जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती हैं। यथार्थवाद उन्हे तिरस्कृत कर उनके प्रति आस्था का भाव प्रकट करता है। इम प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्यों को उद्घोषित एव समर्थित करता है कि साहित्य सृजन न तो प्राणहीन तथ्यो की प्रतिकृति मात्र बन सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियो का पूर्ण विश्वास था और न ही किसी ऐसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर अवस्थित है, जिसके अनुगमन से किसी भी परिणाम की आशा नही वरन् शून्य की निरापद स्थिति ही उपलब्ध होती है। अतः वास्तविक यथार्थवाद मानव और समाज को उनके पूर्ण रूप मे ही चित्रित करता है। उनके खण्डित एव असत्य रूप उन्हें सह्य नही है और उन्हें वह अस्वीकारता हैं। वह केवल एक पक्ष या दो पक्ष का चित्रण करके ही सतोष नहीं कर लेता है। इस प्रकार

यथार्थवाद का अभिप्राय बहुमुखी रूप से प्रतिबिम्बित होता है, जो अपना सम्बन्ध स्वतन्त्र जीवन, पात्रो एव मानवीय सम्बन्धो से जोडता है। यह किसी भी रूप मे भावुक एव बौद्धिक प्रतिमाओ को अस्वीकृत नही करता। जो अनिवार्य रूप से आधुनिक युग मे साथ-साथ विकसित होते हैं। यथार्थवाद यदि कुछ अस्वीकृत करता है, तो केवल मानव व्यक्तित्व की पूर्णता का बिखराव और व्यक्ति तथा परिस्थितियो के प्रति क्षणिक भावुकता के माध्यम से अतिवादी दृष्टिकोण का। इस अवरोधक शक्तियो के विरुद्ध सघर्ष मे यथार्थवाद का प्रमुख उद्देश्य प्रतिध्वनित होता हैं। यथार्थवाद यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार नही करता, पर कल्पना से उसका सम्बन्ध वही तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता होती है। कल्पना हमारी उस मानसिक प्रक्रिया की द्योतक है, जो अन्तरमन मे अनेक चित्र बनाती है और उसका स्वरूप हमारी सवेदनाजन्य परिस्थितियो पर निर्मित करती है। कल्पना और तर्कशक्ति मे परस्पर कोई साम्य नही, वरन् एक अन्तर्विरोध सा रहता है। कथा-साहित्य मे यथार्थवाद इस कल्पना को साथ साथ लेकर चलता है। यदि कल्पना का तिरस्कार कर हम जीवन का लोगो के आने जाने, बात करने और सोचने का जैसा हमारे पड़ोसी नित्य-प्रति करते है, बिल्कुल वैसा ही चित्रण करें, तो वह कभी भी प्रभावशाली नही बन सकता। यह एक सतही यथार्थवाद होगा, जो कल्पना की हत्या कर देता है और जो चिर-परिचित उद्देश्यो का समर्थन मात्र कर देता है। ऐसा यथार्थवाद हमारे सामने एक दर्पण प्रस्तुत करता है न कि कोई चित्र। ऐसे यथार्थवाद के आधार पर लिखे जाने वाला साहित्य केमराईपन की दृष्टि से तो सत्य हो सकता है, पर काल्पनिक रूप से नही। केमराईपन से परिपूर्ण यथार्थवाद इसलिए भी अव्यवहारिक है, क्योकि वह सौन्दर्य के विरुद्ध है। यदि कथा-साहित्य मे इस प्रकार के यथार्थवाद को प्रश्रय दिया जाने लगेगा, तो मेरा यह निश्चित मत है कि वह कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप होने का गौरव खो देगा और केवल पत्रकारों तथा सवाददाताओ की रिपोर्टो तक ही सीमित रह जाएगा। कथा-साहित्य मे कल्पना के माध्यम से ही वर्णन का अनावश्यक विस्तार एव तथ्यो का अनावश्यक समावेश रोका जा सकता है।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के सत्य के अभाव मे कल्पना केवल नाटकीय बन सकती है, यथार्थ नही। प्रकृति के सत्य के साथ मिलकर ही कल्पना मिश्रित यथार्थवाद ने विश्व के सर्वश्रेष्ठ क्लासिकल कथा-साहित्य की रचना की है। केवल तथ्यो का सग्रह अपने आपमे पूर्ण एव सत्य हो सकता है, पर पाठको के लिए वह केवल भद्दा और अतिवादी प्रतीत होगा। जोला और फ्लाबेयर ने यही किया और इसीलिए उन पर तीव्र प्रहार भी किए गए। उनके साहित्य के प्रत्येक पृष्ठ पर तथ्यो की भीड़ सी लगी हुई है और यद्यपि ये भविष्य मे आँकड़े

एकत्रित करने वाले विशेषज्ञों एवं शोधार्थियो के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं, उनमे एक भी ऐसी मर्मस्पर्शी भावना का चित्रण नही हुआ है, जो चिरस्मरणीय बनी रहेगी। गन्दी गलियो, अशोभन कमरो एव कुप्रवृत्तियो का चित्रण इस अभाव को किसी भी रूप मे पूर्ण नही कर सकते, क्योकि जीवन के यथार्थवादी तथ्य चाहे जो भी महत्व रखते हो, कथा साहित्य द्वारा पर्यवेक्षित वास्तविक सत्य उसकी समर्थता का केवल एक अश मात्र है। सत्यता का पर्यवेक्षण मात्र करने से आगे उसे कुछ और भी कर सकने मे समर्थ होना चाहिए। कथा-साहित्य वास्तव मे तथ्यो के हूबहू अथवा वैज्ञानिक आकलन करने से भी आगे कुछ और है। ऐसे साहित्य मे इस प्रकार कोई यथार्थवाद नही यथातथ्यवाद ही होगा, क्योकि यथार्थवाद स्वय ही पात्रो एव घटनाओ के प्रति जो कि नितान्त साधारण एव आकर्षणहीन प्रतीत होती है, इसलिए कार्यशील रहता है, ताकि वह इस प्रकार के चित्रण से उनके सही अर्थो का मूल्यान्वेषण कर सके। अत यथार्थवाद उस सत्य की स्थापना करता है, जिसे हम महत्वहीन समझते हैं और जिसके प्रति विचार भी नही करना चाहते। यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक सत्य का अपना एक विशिष्ट महत्व होता है, जो अनुपेक्षणीय है। यथार्थवादी कथाकार वास्तव मे एक जादूगर की भाति होता है, जो एक तथ्य को अपनी मुट्ठी से बन्द करता और कुछ क्षण इधर-उधर करने के पश्चात् जादूगर की भाँति अपना करिश्मा दिखाता हुआ कहता है। लो देखो, यह तथ्य कितना परिवर्तनशील हो गया है। अब यह उस जैसा नहीं रहा, जैसा कि पहले था। वह यह करिश्मा कल्पना के ही आश्रय से करता है। यथार्थवाद का चित्रण करने वाले कथाकारो को स्मरण रखना चाहिए कि आन्तरिक सत्य, जो समय स्थान एव परिस्थितियो की सीमाओ से मुक्त होते हैं, हमारे लिए तभी यथार्थ एव प्रभावशाली प्रतीत हो सकते हैं, जब उन्हे कथा-साहित्य मे स्थान देने के पूर्व कल्पना के आवरण मे सन्तुलित ढग से बाँधकर प्रस्तुत किया जाए। कला सम्बन्धी कोई भी श्रेष्ठ सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण कार्य मे सलग्न होते हैं [प्रेमचन्द पूस की रात, नशा, बडे भाई साहब, कफन, जयशकर प्रसाद : मधुआ, गुण्डा, या विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन तथा वाचस्पति पाठक की कहानियाँ]। चेखव ने एक स्थान पर अत्यन्त उचित सगति मे ही लिखा है कि यथार्थवाद वाह्य जगत का ही अनुगमन नही करता, वरन् वह महत्ती उद्देश्यो से भी प्रेरित होता है। अत हम कह सकते हैं कि यथार्थ तथ्यो का ज्यों-का-त्यों चित्रण करना किसी भी दृष्टि से वाँछनीय नही है। इसीलिए कल्पना का आश्रय साहित्य मे किया जाता है, जिससे वे चीजे जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिए वाँछनीय हैं। एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित हो सकें।

इसीलिये सामयिक परिस्थितियो पर यथार्थवाद अधिक बल देता है और कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उसे प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। इसे हम इस रूप मे भी कह सकते हैं कि चीजे जिस रूप मे है या जिस स्वरूप में दृष्टिगत होती हैं, चित्रित करने के लिए कहानीकार अपने चित्रण को कल्पना के परिवेश मे बाँधता है। इससे यथार्थवाद का अर्थ-गाम्भीर्य भी बढ जाता है, जिसके फलस्वरूप यथार्थवाद उस कला को कहा जा सकता है, जिसके माध्यम से उन बातो को, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, वह ऐसा चित्रित कर देता है। जिससे वे यथार्थ प्रतीत होने लगती हैं। यहाँ तक कि वह असम्भव बातो को भी इस रूप मे चित्रित कर सकता है कि वे सम्भव प्रतीत होने लगें। कला का कार्य वही समाप्त हो जाता है, जहाँ वह तथ्यो को इतनी यथार्थता से अभिव्यक्त कर दे, जिससे कि दूसरा भी वही अनुभूति ग्रहण करने के लिये बाध्य हो जाये, जो लेखक का स्वय कला के सृजन करते समय अनुभूत था (प्रेमचन्द . शान्ति, जयशंकर प्रसाद अपराधी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : उसने कहा था, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : उसकी माँ, चतुरसेन शास्त्री : दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी, चन्द्रगुप्त विद्यालकार · एक सप्ताह, आदि कहानियाँ] । यह यथार्थ चित्रण वस्तुत तभी सफल स्वीकारा जा सकता है। अत यह यथार्थवाद वह साहित्यिक मिश्रण है, जो चयनशक्ति एव सृजनात्मकता से पाठको की यथार्थ समझने की शक्ति को विकसित करता है। हमारी मानसिक उदात्तता की प्रेरणा का प्रतीक बनकर उभरता है और हमे काल्पनिकता की कृत्रिमता से हटाकर जीवन की सत्यता की ओर दिशोन्मुख करता है। यथार्थवाद वेदना से निवृत्ति नही स्वीकारता। मानव जीवन की कुण्ठाएँ वर्जनाएँ एवं असतोषप्रद स्थितियो की भयकरता से यथार्थवाद मुख नही मोडता, उनका साहस के साथ चित्रण करता है। वह मानव की अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदर्शवादियो की भाँति उसे देवता नहीं बना देता [प्रेमचन्द · सुजान-भगत, जयशकर प्रसाद . नीरा, वृन्दावनलाल वर्मा : शरणागत, धनीराम 'प्रेम' · बहन आदि कहानियाँ]। मनुष्य कुरूपताओ एवं विशेषताओ के परस्पर समन्वय का ही रूप होता है। यथार्थवाद इसी समन्वय के दोनो पक्षो पर समान बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण मे हिचकता नही। यथार्थवाद की मध्यवित्तीय सौन्दर्यवादी समस्या पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के उपयुक्त प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित है। किन्तु जैसा कि कला के प्रत्येक अधिकृत दर्शन मे होता है, वैसे ही यथार्थवाद भी सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अन्त तक क्रमागत अनुसरण शुद्ध सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अन्त तक क्रमागत अनुसरण शुद्ध सौन्दर्यवादी स्तर तक मार्ग प्रशस्त करता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, यथार्थवाद दर्शन से घनिष्ट रूप में सम्बन्धित है। यथार्थ रूप को अस्वीकृत करता है और मानव की सौन्दर्याव-गाहिनी प्रकृति को चुनौती देता है। यथार्थवाद कला को समसामयिकता प्रदान करने

तथा चिरस्थायी बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान देता है। वह कला के क्षेत्र मे आदर्शवादी प्रवृत्तियो को अस्वीकृत कर सृजन प्रक्रिया के लिए नवीन और सामयिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एव सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के चित्रण मे सहायक होता है। यथार्थवाद समाज की प्रमुख एव ज्वलन्त समस्याओ को ही अपने चित्रण के लिये चुनता है और समकालीन घुटन-पीडन आदि के यथार्थ चित्रण मे कलाकार की लेखनीय स्थिति सुरक्षित रहती है।

यही मानवीय घुटन और पीडाएँ, उनके प्रेम और घृणा की दिशाएँ एव उद्देश्य निर्धारित करती हैं और इन्ही भावनाओ के माध्यम से वे यह भी निश्चित करती हैं कि वे अपने काव्यात्मक दृश्य-बिन्दु मे इन्हे क्या और कैसे देखते हैं। इसलिये इस प्रक्रिया मे उनके चेतन सृष्टिगत दृष्टिकोण और उनके दृश्य बिन्दु मे देखे गए सृष्टि मे परस्पर सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। वास्तव मे जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह कि उनके चेतन सृष्टिगत दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे ही उनकी सृष्टि से सम्बन्धित विचार प्रक्रिया निर्मित होती है और उनके विचारो की वास्तविक गहनता, महत्वपूर्ण युगीन समस्याओ से उनके गहन सम्बन्ध और लोगो के घुटन उत्पीडन एवं विवादो से उसकी हार्दिक सहनुभूति उनके चरित्रो के निर्माण एव निर्वाह मे ही उपयुक्त ढंग से मुखरित हो सकती है और इसी आधार-भूमि पर महान् यथार्थवाद तथा लोकप्रिय मानवतावाद का समन्वय स्थापित होता है। यथार्थवाद मानवतावाद का समन्वय स्थापित होता है। यथार्थवाद मानवता की सहज प्रवृत्तियो की उपेक्षा नही करता और मनुष्य को मनुष्य के निकट लाकर मानवता के उत्थान का प्रयत्न करता है। प्रत्येक महान् यथार्थवादी लेखक युगीन समस्याओ, मानवीय उत्पीडन एवं कुण्ठाओ तथा वर्जनाओ को अपने ढग से सोचता, समझता एव मनन करता है तथा अपने ढग के आत्म चिंतन से उनको अपनी रचनाओ के माध्यम से सारी मानवता के सम्मुख प्रस्तुत कर उनका समाधान भी अपने ही दृष्टिकोण से करता है। वह किन्ही नियंत्रित शक्तियो से बाध्य नही होता और समस्याओ को ग्रहण करने, मनन-चिन्तन एव प्रस्तुतीकरण के ढग तथा समाधान के सम्बन्ध मे वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। इस पर उसके कलात्मक व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव पडता है, किन्तु लेखकों मे इस भिन्नता के बावजूद उनमे समाधान है—ये सभी लेखक अपने समय की सृष्टि की महान समस्याओं की गहराई मे बैठकर यथार्थ के वास्तविक सत्य का उद्घाटन करते हैं। इस समूचे युग मे कोई भी लेखक कभी महान् बन सकता है, जब वह दिन-प्रतिदिन की लहरो के प्रति सत्यता एव ईमानदारी से सघर्षरत हो। वह इसलिए क्योंकि यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्हीं तथ्यो का अन्वेषण करना यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति होती है। सामाजिक अन्तर्सम्बन्धो का ठोस प्रस्तुतीकरण तभी सम्भव है जब उन्हे ऐसे उच्च स्तर तक

उठाया जा सके, जिससे ठोसपन रूप' अर्थात् अगो की एकता के रूप मे अन्वेषित और प्राप्त किया जा सके, जैसा कि मार्क्स का कहना था।

आधुनिक यथार्थवादी, जिन्होने बुर्जुआ आदर्शवादी दृष्टिकोण के पठन के फलस्वरूप सामाजिक अन्तर्सम्बन्धो से सम्बद्ध अपनी गहन ज्ञान चेतना को खो दिया है और इसके साथ इनकी अमूर्तीकरण की शक्ति सामाजिक पूर्णता और उसके वास्तविक उद्देश्यो एव निर्णयात्मक विश्वासो के चित्रण का असफल एव विद्रूप प्रयत्न करती है। यथार्थवाद की सबसे बडी शर्त एव पक्षपात-पूर्ण दृष्टि के अपने सृष्टि से सादृश्य से प्राप्त अनुभवो एव अपने चारो ओर के परिवेश का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत करे। महान् यथार्थवाद की इस विषयपरक शर्त की एक निश्चित परिभाषा की आवश्यकता है। क्योकि यथार्थवादी लेखको की यह केवल विषयपरक चेतनता ने स्वय ही यथार्थवाद को पतन से बचाया, किन्तु कला और दर्शन के क्षेत्र मे इस पतन द्वारा उत्पन्न परिणामो से बचा नही सकी। लेखक की विषयपरक ईमानदारी सत्य यथार्थ का निर्माण तभी कर सकती है, यदि वह इस प्रकार के सामाजिक आन्दोलन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हो कि उसकी समस्याएँ लेखक को एक ओर तो उसके प्रधान तथ्यो के निरीक्षण एव चित्रण के लिए सचालित करे और दूसरी ओर अपनी सजगता एव विश्वास को अधिक उपयोगी बनाने का साहस एव शक्ति प्रदान करे। एक लेखक मे किसी युग के सामाजिक विकास का रहस्योद्घाटन करने तथा चित्रित करने की समर्थता होनी चाहिए। चाहे उसके दृष्टिकोण में प्रतिक्रियावादी तत्व कितने ही अशो मे समाए हुए हो। इससे उसकी सजगता का वस्तुगत मूल्य न्यून नही होगा। ऐसी परिस्थितियो मे भी लेखको की सजगता उन्हे किसी सामाजिक आन्दोलन की यथार्थता का सत्य चित्रण करने की समर्थता प्रदान करेगी। बशर्ते उस सामाजिक आन्दोलन मे वास्तविक समस्याएँ निहित हो। वास्तव मे महान लेखको की सजगता का मूल्याकन किसी ऐसे सामाजिक आन्दोलन के किसी प्रतिनिधि के वक्तव्यो से नही किया जाना चाहिये और न ऐसे महान् लेखको के स्वय के वक्तव्यो से ही। उनकी सजगता की सीमाएँ ऐसे सामाजिक आन्दोलनो द्वारा प्रस्तुत समस्याओ की सीमाओ तथा मानवीय तत्वो के उद्घाटन की महत्ता पर निर्भर करती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि महान् यथार्थवादी लेखको के सृष्टिगत विचार परिवेश मे प्रतिक्रियावादी तत्वो के आ जाने के बावजूद सामाजिक यथार्थ के विशद, उचित एव वस्तुगत ढग से चित्रण करने मे उनके मार्ग में अवरोध नही उपस्थित होता। किन्तु यहाँ इस तथ्य को स्पष्ट कर देना पुन. उचित होगा कि यह किसी और सृष्टिगत दृष्टिकोण से सम्बद्ध नही है। सामाजिक आन्दोलन से प्रेरित काल्पनिक चित्रण, जो ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है। लेखक को वस्तुगत सत्य के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने से रोकता नही। उसे

स्वय इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए—यह जो कुछ भी वह चित्रण करता है, उसका उसे पर्यवेक्षण मात्र करना चाहिए—यह प्रश्न केवल कला के क्षेत्र तक ही सीमित नही है, इसका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से लेखक के पूर्ण सम्बन्ध से भी है। पहले के लेखक स्वय ही सामाजिक सघर्षों मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाले व्यक्ति होते थे और उनका लेखकीय व्यक्तित्व था तो इसी सघर्ष का एक भाग होता था या अपने समय की गहन् समस्याओ की प्रतिकृति या सैद्धान्तिक एव साहित्यिक समाधान होता था। यदि यथार्थ के सदर्भ मे लेखक केवल पर्यवेक्षक का पद ग्रहण कर लेता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि वह बूर्जुआ समाज का आलोचनात्मक मूल्याकन करता है और प्राय उससे घृणा एव निराशा से मुख मोड लेता है।

इस प्रकार नवीन ढग का यथार्थवादी लेखक साहित्यिक अभिव्यक्ति के विशेषज्ञ के रूप मे परिणित हो जाता है, जो वर्तमान सामाजिक जीवन के चित्रण को अपनी विशेषता बना लेता है। यथार्थवाद वर्तमान दशा कुछ इस प्रकार निर्धारित हो गई है कि जीवन के किसी भी चित्रण मे वस्तुओ एव स्थानो का सत्य चित्रण यथार्थवाद की आधी मजिल तय कर लेना है। इन तथ्यो से यह निष्कर्ष सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि यथार्थवाद को प्राचीन स्कूल की तुलना मे आज का लेखक अधिक नियत्रित और सीमित जीवन सामग्री का उपयोग करता है। अगर नवीन यथार्थवादी जीवन की कुछ विशेष समस्याओ का चित्रण करना चाहता है, तो वह अपने मार्ग से थोडा हटकर उन्हे प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करने का प्रयत्न करेगा। स्पष्ट है पहले वह उन समस्याओ को स्वय समझने, मनन करने और उनका मूल्याकन करने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेगा, और यदि लेखक सचमुच प्रभावशाली एव मौलिक है, तो वह उनमे मौलिक तत्त्वो के अन्वेषण के प्रति प्रयत्नशील होगा और मौलिक ढग से पर्यवेक्षित विस्तारो को अत्यन्त उच्च स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करेगा। किसी साहित्यिक रचना की कलात्मक पूर्णता उसके द्वारा अनिवार्य सामाजिक तत्त्वो के चित्रण की पूर्णता पर निर्भर होती है। अत. यह केवल लेखक के स्वय के सामाजिक समस्याओ के अनुभवो पर आधारित होती है। इस प्रकार के माध्यम से अनिवार्य सामाजिक तत्त्वो के रहस्योद्घाटन और उनके चारो तरफ की समस्याओ के स्वतन्त्रतापूर्वक एव स्वाभाविक ढग से कलात्मक प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता है। महान यथार्थवादी लेखको की रचनाओ का आन्तरिक सत्य इस तथ्य पर आधारित होता है कि वे स्वय जीवन के ही क्षेत्र से आगे बढते और विकास करते हैं तथा उनका कलात्मक चरित्र चित्रण स्वय लेखक द्वारा जीए जाने वाले सामाजिक रूप विधान की प्रतिकृति होता है। यथार्थवाद ने कला का सम्बन्ध विज्ञान से स्थापित किया और उसे विश्लेषण शक्ति से विभूषित किया है। यथार्थवाद कट्टर सामाजिक

व्यवस्थाओ, रूढियो एव अन्ध-विश्वासो के प्रति अवज्ञा का भाव प्रकट करता है। यथार्थवाद की सीमाएँ केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियो तक ही सीमित नही है। वह मध्य-वर्गीय और निम्नवर्गीय व्यक्तियो को भी समान रूप से अपने चित्रण का आधार बनाता है। वह पात्रो की चारित्रिक दुर्बलताओ को स्वीकार करता है और आदर्श-वादियो की भाँति उसे एक विशिष्ट मोड दे देना उसे स्वीकार्य नही है। यथार्थवाद लघुता के प्रति अपनी विरक्ति नही प्रकट करता और न ही दैवीय शक्तियो के प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यो मे किसी भी प्रकार का भेद-भाव नही रखता। यथार्थवाद स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता है और परिवर्तनशील परिस्थितियो तथा वैचारिक दृष्टि कोणो से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण मे गतिशील करता है। यथार्थ-वाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अग स्वीकार कर उसकी अखडता के प्रति आस्था-वान है।

वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एव समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकारता है (प्रेमचद ईदगाह) जयशकर प्रसाद . गुण्डा, सुदर्शन अलबम, विनोदशकर व्यास . अपराध, चतुरसेन शास्त्री : जीजाजी, पाडेय वेचन शर्मा उग्र : भुनगा, गोविन्दवल्लभ पन्त : मिलन मुहुर्त्त, ज्वालादत्त शर्मा विधवा, विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक इक्के-वाला आदि कहानियाँ)। प्रतिभा के अभाव मे यथार्थवादी चित्रण एक विद्रप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओ को न्यून कर देता है।यथार्थ वाद की दृष्टि बहुमुखी है और वह जीवन के विविध पक्षो के चित्रण के प्रति पूर्ण कला गत ईमानदारी से प्रयत्नशील होता है। यथार्थवाद कोई यथातथ्यवाद नही है और न वह तथ्यो का आकलन-मात्र ही करता है वरन् वह कल्पना से माजकर, सँवारकर, प्रभावशाली बनाकर इस ढंग से प्रस्तुत करता है कि वे अपने आपमे एक आदर्श बन जाते हैं और सम्पूर्ण मानवता को नवीन अभियान के प्रति दिशोन्मुख करने के प्रतीक स्वरूप बन जाते हैं। यही सक्षेप मे यथार्थवाद की प्रमुख विशेषताएँ हैं। जिनका विश्ले-षण किंचित् विस्तार से ऊपर किया गया है। यथार्थवाद की आवश्यकता कहानियो मे क्यो है ऐसे प्रश्नो मे कोई सार नही, वे पूर्णतया तथ्यहीन हैं। यथार्थवाद कथा साहित्य को मूल भीत्ति है। यदि वह जीवन के सत्य का प्रतिनिधित्व करते हुए मानव जीवन की सम्पूर्णता का चित्रण करता है। तो यह कार्य बिना यथार्थवाद की सहायता से सम्भव हो ही नहीं सकता—यह निश्चित है। यथार्थवाद कहानियो के माध्यम से न केवल ऐसे तथ्यो एव सत्यो से हमे परिचित करता है, जो आधुनिक युग मे साहित्य के सबसे बड़े आकर्षण हैं, वरन् कहानियो मे इस दृष्टि से यथार्थवाद आवैश्यक भी है, क्योकि वह मानव-स्वभाव के अध्ययन मे भी सहायक होता है।

एक लेखक चाहे आदर्शवादी हो या यथार्थवादी; उसे व्यापक परिवेश में पूरी

सृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे मानव-जीवन का चित्रण तथा प्रगतिशील तत्त्वो को उत्कर्ष प्रदान करना चाहिए। जिससे कोई भी चित्रित जीवन को चाहे इस आँख से या उस आँख से देखे—उसे यथार्थ एव स्वाभाविक ही प्रतीत हो, अन्यथा नही। प्रत्येक महान ऐतिहासिक युग नवीन क्रान्तियो, भावनाओ एव विचारो से उद्भूत होता है। युग की माँग प्राचीनता एवं रूढ़िवादिता का विरोध तथा नवीनता एव प्रगतिशीलता का आह्वान करना होता है। युग मे प्राचीन मानव तिरस्कृत तथा नवीन मानव निर्मित होता है। एक ऐसी नवीन सामाजिक चेतना एवं रूप-विधान का उदय होता है, जो नव-निर्माण की भावना से ओत प्रोत होती है और वह नए प्रेरणादायक मार्ग का अनुगमन कर अग्रसर होती है। ऐसी अवस्था मे साहित्य को उत्तरदायित्व गहन हो जाता है साहित्य का दायित्व भी निर्माण का होना है, विध्वस का नही। विध्वसक साहित्य को साहित्य की सज्ञा से किन्ही भी परिस्थितियो मे अभिहित् नही किया जा सकता। चाहे उन्हे बुरे और भले ही कहा जाए। ऐसे कठिन निर्माणधीन और नवोन्मेष की भावना से प्रेरित युग मे केवल महान एव सत्यता से प्रेरित यथार्थवाद ही साहित्य के इन व्यक्तियों को पूर्ण कर सकता है, कोई अन्य प्रवृत्ति या साहित्यिक परम्परा नही। यथार्थवाद की अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं। आज का यथार्थवादी केवल यथार्थवाद का प्रतिबिम्ब ही नही अकित कर देता। उसे यथार्थ से लगाव होता है। जिससे उसे अस्वीकृति नही होती। वस्तुतः यही चीज उसे लेखक का वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। वह यथार्थ के क्रम का यथातथ्य रूप मे अनुगमन न कर अपनी इच्छानुसार वस्तुओ का चयनकर उनका पुनर्गठन करता है। वह सृष्टि को खण्ड २ कर फिर उन खण्डो से एक भवन निर्मित करता है, जो यथार्थ से पूर्ण होता है। अत यथार्थवाद सृजनशील होता है। उस परिस्थिनि मे यथार्थ का वास्तविक एव पूर्ण रूप सामने नही आ पाता, क्यो कि यथार्थ से लगाव रखने वाले प्रत्येक कलाकार के सामने कुछ आदर्श होता है, जिन्हे वह घुमा-फिराकर प्रस्तुत करना चाहता है। यह आदर्श यदि यथार्थ के आवरण मे लपेटकर प्रस्तुत किया जाय, तो उस यथार्थ का स्वरूप खडित अथवा दूषित नही होता पर इसके लिए सयम। अपूर्व कलात्मक कौशल एव सन्तुलित दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता होती है, जिससे कम ही कथाकार विभूषित होते हैं।

वास्तव मे यथार्थ घटनाओ का सयोजन कुछ इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वे अपने आदर्श की कहानियाँ स्वय कहे (प्रेमचद . बूढीकाकी, जयशकर प्रसाद : गूदड साई, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' वह प्रतिमा, सुदर्शन : एथेंस का सत्यार्थी, चडीप्रसाद 'हृदयेश : पर्यवसान, विश्वम्भरनाथ जिज्जा : परदेशी, वाचस्पति पाठक : कागज की टोपी, विनोदशकर व्यास : अपराध, चतुरसेन शास्त्री : खूनी, पाडेय बेचन शर्मा उग्र चांदनी आदि कहानियां) और लेखक को खुल्लमखुल्ला कोई आदर्श रखने या यूरोपिया निर्मित करने की आवश्यकता न पड़े क्योकि अन्ततोगत्वा कहानीकार

समाज को वास्तविक यथार्थ से परिचित करने मे कहानी के माध्यम से एक निमित्त मात्र ही है। वह प्रत्यक्ष रूप से उपदेशक अथवा प्रचारक नही हैं। यह वह अप्रत्यक्ष रूप मे यथार्थवाद के पर्दे के पीछे से ही बन सकता है, जिसका आभास अप्रकट रहना चाहिए। एक लेखक ने यथार्थवाद की एक सीमा का उल्लेख करते हुए बताया है कि जिस तटस्थता का दावा यथार्थवाद करता है। वह सत्य नही है। किंतु मात्र इससे ही यथार्थवाद तिरस्कृत नही किया जा सकता, क्योकि सत्यान्वेषण की दिशा मे अपनी तमाम न्यूनताओ के बावजूद गतिशील होना है और साथ ही सफल भी। यथार्थवाद ने कथा साहित्य के शिल्प के ऊपर भी अपना विशिष्ट प्रभाव डाला है। महान यथार्थवादियो द्वारा चित्रित पात्र स्वय अपना व्यक्तिगत जीवन जीते हैं। उनका पतन एवं उत्कर्ष तथा उनकी स्थिति का निर्णय उनके अपने सामाजिक जीवन एवं वैयक्तिक अस्तित्व के माध्यम से ही होता है। कोई भी लेखक तब तक सच्चा यथार्थवादी नही हो सकता—यहाँ तक कि वह अच्छा लेखक भी नही स्वीकारा जा सकता, यदि वह अपने पात्रो को किसी भी प्रकार नियंत्रित करता है तथा कठपुतली बनाकर अपने सकेतो पर परिक्रमा करने को बाध्य करता है। पात्रो की यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि लेखक उन सभी तथ्यो का—उनके कार्य करने के ढंग, उनकी आदते, राय आदि जैसाकि सभी साधारण मानव कहते हैं—समावेश अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण मे करे। लेखक को चाहिए कि उस यथार्थ जीवन के चुने हुए लोगो को, जिसमे वह स्वय अपना जीवन जीता है, अपनी कहानियो मे यथार्थता से ले आए। इस प्रकार यथार्थवाद सत्य तथ्यो से परिचित कराने के साथ ही जातीय पात्रो को जातीय परिस्थितियो मे यथार्द ढंग से पुनर्जीवन देता है। कहानी के पात्रो की वही विशेषताएँ होनी चाहिए, जो साधारण जीवन मे उसी प्रकार के किसी भी व्यक्ति की हो सकती हैं। इसके लिए कहानीकार मे अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक होता है। जिससे वह अपने चारो ओर के लोगो के जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो को भी समझ सके और उसी स्वाभाविकता से कहानियो के पात्रो मे भी मूर्तिमान कर दें पात्र वस्तुत तभी यथार्थ प्रतीत होगे। कहानीकार का प्रयत्न इस बात के प्रति होना चाहिए कि पात्रो की स्थैतिक प्रवृत्तियाँ ही नही, सम्पूर्ण विशेषताएँ उभरे, ताकि वे पात्र एक स्थैतिक प्रभाव डालने के बजाय पूर्ण प्रभाव पाठक के मन पर डाल सके। लेखक बाह्य जगत का आश्रय लेकर अन्तर्जगत की व्याख्या कर सकता है और स्थूलता से आगे बढ कर सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति कर सकता है उसके ऐसा करने मे ही पात्रो का यथार्थवाद स्वरूप सुरक्षित रहता है। पात्रो को इतना यथार्थवादी होना चाहिए कि उनमे हम अपने आप को स्थानापन्न रूप मे पा सकें और वातावरण इतना यथार्थ ही कि उसमे हम उसी प्रकार आसानी से चल फिर सकें, जिस प्रकार हम साधारण जीवन मे करते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि कहानीकार को अपने पात्रो को नियत्रित नही करना चाहिए। नियत्रण मे यहाँ यही अभिप्राय है कि कहानीकार को अपनी किसी प्रवृत्ति, सिद्वात या विचार को पात्रो के ऊपर आरोपित नही करना चाहिए और न उसके लिए पात्रो के जीवन में ऐसे विशिष्ट मोड देने चाहिए, जिससे उनकी विश्वसनीयता समाप्त हो जाय और उनकी यथार्थता सन्देहप्रद प्रतीत होने लगे। कहानी के पात्र जितने ही मानवीय होगे, वे उतने ही यथार्थ होगे और उतने ही प्रभावशाली होगे। कहानीकार का यह दायित्व है कि वह पात्रो मे एसे तथ्यो एव प्रवृत्तियो का चित्रण करे, जिन्हे वह जीवन मे गहनतम रूप से पाता है, ताकि पाठक बिना किसी टीका टिप्पणी के उन्हे सहज ढग से स्वीकार ले। कथानक के सगठन के सम्बन्ध मे भी यथार्थवाद का विशेष ध्यान रखना पडता है। कहानी का एक निश्चित उद्देश्य स्वरूप एवं सीमाएँ होती हैं। वह शिथिल रेखाचित्रो का सग्रह मात्र नही है। पाठक का ध्यान प्रत्येक क्षण कथानक पर हो रहता है। अत उसका और पात्रो मे यथार्थ सामजस्य होना चाहिए और घटनाओ को विश्वसनीय एव सम्भाव्य होनी चाहिए जिससे वे यथार्थ प्रतीत हो। कथानक के सम्भावित एव स्वाभाविन विकास से अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे ही यथार्थवाद की भी सफलता सन्निहित रहती है साथ ही कहानीकार का कलात्मक कौशल भी स्पष्ट होता है। लेकिन घटनाओ के यथार्थ सयोजन एव विकास पर बल देना कहानी को यथार्थ मानव जीवन के अत्याधिक निकट लाना केवल एक कदम है। विषय वस्तु इसके अतिरिक्त शेष रह ही जाती है, जो मानव जीवन का वास्तविक प्रतिबिम्ब और यथार्थ की प्रतिच्छाया होनी चाहिए पर यह सब बहुधा परम्परागत कहानियो मे स्वय कहानीकार की स्पष्ट उपस्थिति से नष्ट हो जाता है। (प्रेमचद की अधिकाश कहानियाँ, विनोदशकर व्यास, रायकृष्ण दास, चडीप्रसाद हृदयेश तथा वृन्दावनलाल वर्मा की कहाहियाँ इसी सदर्भ मे द्रष्टव्य हैं)। यथार्थ विषय-वस्तु होने के बावजूद कहानी का यथार्थवाद उस समय पूर्णतया समाप्त हो जाता है, जब कहानीकार स्पष्ट रूप से अपने दायित्व को बहुत सतही ढग ये निभाते हुए नि-संकोच अपने पाठको को कथानक की मुश्किलें समझते हैं, पात्रो के सम्वन्ध मे बताते हैं कि उसने यह काम क्यो किया या वह काम क्यो किया और बीच २ मे अपने दर्शन विस्तार से व्याख्या भी करते चलते हैं। कहानी का संसार कहानीकार का अपना ही सिरजा हुआ रगमच है। जिसमे उससे यथार्थ स्वाभाविक पात्रो, सत्य एव विश्वसनीय घटनाओं तथा मानवीय सवेदनशीलता की माग तो होती है, पर साथ ही उसके रगमच से स्वय उसी की अनुपस्थिति की माग भी वाँछनीय होती है। पात्रो के मनोविश्लेषण से प्रायः कहानियाँ बोझिल हो जाती हैं, यथार्थवाद इसका विरोध करता है। वह पात्रों का मनोविश्लेषण चाहता है तो, पर आरोपित ढग से नही, सहज एवं स्वाभाविक ढंग से, जिससे कहानी मे असन्तुलन की स्थिति न उत्पन्न होने पाए। यथार्थवाद

का चित्रण करने वाले कहानीकार को यह स्पष्टतया हृदयगम कर लेना चाहिए कि कहानी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और उसमे अनावश्यक हस्तक्षेप उसके स्वत्व को खंडित करते हुए यथार्थ की हत्या कर देता है। पात्रों को तो कहानी के सामजस्य मे इस तरह प्रस्तुत करना चाहिए कि उसके सम्वाद तथा कार्य-व्यापार तो उनका विश्लेषण करे ही, साथ ही हम उन्हे अपने यथार्थ जीवन से भी असम्प्रक्त न समझें (प्रेमचन्द शतरज के खिलाडी, जयशकर प्रसाद: मधुआ, विश्वम्भरनाथ शर्मा, 'कौशिक' ताई, सुदर्शन · अलबम, वृन्दावनलाल वर्मा : शरणागत, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी . उसने कहा था, चतुरसेन शास्त्री . जीजाजी, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र : चादनी, वाचस्पति पाठक कागज की टोपी, विश्वम्भर नाथ जिज्जा : परदेशी, विनोद शकर व्यास अपराधी, ज्वालादत्त शर्मा विधवा तथा धनीराम 'प्रेम' बहन आदि कहानियो के पात्र इसी सन्दर्भ मे देखे जा सकते हैं)। और पात्र एव कथानक के स्वाभाविक सामजस्य की यथार्थ के लिए आवश्यक है कि लेखक उनका अपनी ओर से परिश्रम करके सायास मनोविश्लेषण न करें। उनकी अपनी गति होनी चाहिए। वास्तव मे प्रौढ कला यही है कि उनका विधान नाटकीय हो और इन्हे अपनी प्रवृत्ति एव व्यक्तित्व के अनुरूप ही कार्य करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए यदि कहानी को जीवन के प्रति सत्य एव ईमानदार रहना है। तो उसे उस प्रवृत्ति का विकास करना चाहिए, जिसे हम कुछ और नही स्वय जीवन की ही यथार्थ प्रवृत्ति कहते है। इसके लिए कहानीकार के सयम की नितान्त आवश्यकता होती है। यह सयम केवल इसलिए नही कि वह बार-बार स्पष्ट रूप से पात्रो और पाठको के मध्य अपने आवश्यक एवं आवाछनीय हस्तक्षेप से कहानी की यथार्थता को समाप्त करता है, वरन् इसलिए भी कि वह जीवन सत्य की स्वाभाविक एव सहज स्वरूप को समाप्त कर उसे बयान देने की सीमा तक सीमित करके और अपना दर्शन, सिद्धान्त एव विचार आरोपित करके पाठको को कहानीकार इस बात से भी वाछित कर देता है कि वे कहानी समाप्त करने के पश्चात स्वय अपना निष्कर्ष निकाले।

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्राय कहा जाता है कि सृष्टि पूर्णरूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है। अथवा उसकी सत्य प्रतिकृति है। मस्तिष्क एव मूल्यो के मध्य अविच्छिन्न सम्बद्ध रहते हैं, इसीलिए आदर्शवाद को सरलता से मूल्यो के भाषानुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति कहा गया है। इसे प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयो का विचार भी कहा जा सकता है। वास्तव मे आदशवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस दृष्टि मे इन विशेषताओ को जो अत्युत्तम, उपयोगी एव मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं, अत्यन्त व्यापक एव चरमरूप प्रदान कर विस्तृत पृष्ठभूमि पर निरन्तर उच्च स्थान प्रदान

किया जाना चाहिए। इन विशेषताओं को व्याष्टि से समष्टि की ओर गतिशील आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होना है। [प्रेमचन्दः सुजान भगत, जयशंकर प्रसादः आकाशदीप, वृन्दावनलाल वर्मा टूटी सुराही, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह कानों के कंगना, राजेश्वर प्रसाद सिंह अन्तर्द्वंद्व, उषादेवी मित्रा प्यासी हूं, ज्वालादत्त शर्मा दर्शन आदि कहानियाँ]। प्लेटो के अनुसार भावनाओं का जगत यथार्थ संसार नहीं हैं, जिसे हम विचारों की संज्ञा से विशेषतः अच्छाइयों के विचार से अभिहित करते हैं—वही यथार्थ और गहन् एव आधिकारिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्व ज्ञात वस्तुओं से सम्बन्धित करते हैं। प्रतिभाशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिए। इस प्रकार प्लेटो का आदर्शवादी संसार ही सत्य संसार है और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य (राय के विरुद्ध) सदैव की आदर्शवादी होता है।

इस प्रकार आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यों का आविर्भाव नहीं होता, वरन् इसके माध्यम से सत्य एव अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते हैं। यहाँ एक तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्शवाद वस्तुतः दर्शन का ही एक रूप है। आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित है, जो समस्त भौतिक जगत में कुत्सित वृत्तियों के नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की विजय उद्घोषित करता है। आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्हीं सात्विक प्रवृत्तियों की व्यापकता पर ही निर्मित होता है, जो मानव के चरित्रिक विकास, इसकी चित्तवृत्तियों का एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की विषद भावना की ओर दिशोन्मुख करने, समष्टि की व्यष्टि पर विजय एव वसुधैव कुटुम्ब-कम की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है। अतः आदर्शवाद का मूल स्वर मस्तिष्क एव यथार्थ और चेतना के समन्वय से नहीं सम्बन्धित है। विश्व की जितनी भी महत्वपूर्ण सभ्यताएँ हैं उनकी मूल पृष्ठभूमि में आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है। वह केवल निर्माण तक ही नहीं सम्बन्धित है, वरन् एक कदम आगे बढ कर व्यापक सुधार की अनिवार्यता पर बल देता है और मानवीय आत्मबल के विकास एवं मानव सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है। अपनी इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह केवल मानव जीवन की ही निर्माण एव विकास की ओर देशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एव दर्शन के मूल स्तर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त स्वरों में करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है जिसमें मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की माँग करती है और मूल्य मर्यादा युक्त परिवेश में निरन्तर गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा की दिशा में अग्रसर होती है। प्रत्येक राष्ट्र समाज संस्कृति एवं सभ्यता की प्राचीन मान्यताएँ परम्पराएँ एव गौरवशाली मर्यादाएँ होती हैं। यद्यपि दृष्टिभेद की स्वाभाविकता के कारण अपनी सभ्यता एव संस्कृति की तुलना

मे अन्य राष्ट्रो एवं समाज की सभ्यता एव संस्कृति हमे अधिक महत्वपूर्ण न जान पडे, ऐसा सम्भव हो सकता है, पर हमे यह सदैव ही स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज अपनी सभ्यता एव संस्कृति को अन्य राष्ट्रो की अपेक्षा कभी भी मूल्यहीन नही समझता और वहाँ के लेखक अपनी इन्ही गौरवशाली परम्पराओ एव मर्यादापूर्ण मान्यताओ को अपने साहित्य मे जीवित करने और शताब्दियो का अग्रसर करते का प्रयत्न करते हैं।

कहना न होगा, इस प्रक्रिया मे कथा-साहित्य ही महत्वपूर्ण एव प्रभावशाली ढग से सहायक सिद्ध हो सकता है। आदर्शवादी कहानीकार अपनी सभ्यता एव संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओ एव मर्यादापूर्ण मान्यताओ के प्रति गहन-रूप मे आस्थावान होते हैं और किसी भी रूप मे उनका खण्डन-मण्डन अथवा तिरस्कार एव अस्वीकृति उन्हे सह्य नही होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एव उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिए ही अपनी कहानियो का ताना-बाना सगुथित करते हैं और अपने मतव्य को तर्कों सहित उपस्थित करते हैं। वे इस सम्बन्ध मे यथार्थ की उपेक्षा करते और उसकी तरफ से आँखें बन्द किये रहते हैं। वस्तुत. यह कुछ और नही लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण ही होता है, जो उसे यथार्थ की कठोर या स्वाभाविक भूमि पर आने से रोकती हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, आदर्शवादी लेखक समाज मे कुत्सित वृत्तियो का पूर्ण नाश और सात्विक प्रवृत्तियो की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज मे नैतिकता का पूर्ण उत्थान एव मगलकारी भावनाओ का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे। सभी का जीवन सुखी एव समृद्ध रहे। सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एव सहानुभूति पूर्ण वातावरण मे जीवन जी सकें। इस प्रकार आदर्शवाद की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है कि वह कटु यथार्थ का पूर्णतया तिरस्कार करता है। वह कभी नही स्वीकारता कि आज का मानव जीवन पूर्णतया खण्डित है। मूल्य एव मर्यादाएँ बिखर रही हैं। विचलित सी कटुता, अनमापी व्यथा विषद की तीखी प्रतिक्रियायें मानव जीवन पर गहन रूप से आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एव प्राप्ति आशा के पीछे स्वयं अपने आप को भूलता जा रहा है। वह खुदगर्जी के पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है, दूसरे के मस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का छोटा सा प्रयास भी कर सकता है। इन सब सामाजिक विकृतियो ने आज के मानव जीवन को विचित्र सी विषमता प्रदान कर उसे कटुता से इतना विषाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव्य रूप में उसका जीना भी दुर्लभ हो गया है। आदर्शवाद जीवन की इस पीडादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पृष्ठभूमि पर एक ऐसे स्वप्निल ससार की सृष्टि करने

का प्रयत्न करता है, जिसमे सर्वत्र आनन्द तत्व ही सचारित होता रहे, सभी को सुख एव सतोष की उपलब्धि होती रहे और पीडा एव असहनीय व्यथा का कही नामोनिशान तक न हो। आदर्शवादी अपनी इस प्रवृत्ति का पोषण करते हुए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध मे यथार्थवाद की उपेक्षा करना बुद्धि-हीनता का परिचायक नही है। सत्य तो यह है कि हमारा जीवन निरन्तर कटुता एव विपद की छत्रछाया मे ही पलता है और हम बराबर असन्तोष मे ही जीते हैं। जब हम दिन भर इसी विषाक्त वातावरण मे श्रान्त क्लांत होकर अवकाश पाने पर थोडा मनोरजन करने और सरलता प्राप्त करने के लिए कथा-साहित्य की ओर मुडते हैं। और यदि वहा भी उसी कटुतापूर्ण वातावरण की भयकर छाया प्रतिध्वनित होती रहेगी, तो पाठक रोष मे आकर पुस्तक को एक ओर पटक देगा। इस प्रकार कथा-साहित्य का महत्व शून्य हो जाएगा। अत कथा-साहित्य को लोकप्रिय बनाने एव उनके महत्व की प्राप्ति के लिए आदर्शवाद का आश्रय लेना अनिवार्य सा हो जाता है।[1] पर यदि तर्कपूर्ण ढग से आदर्शवादियो की इस धारणा की परीक्षा की जाए, तो उनका दावा पूर्णतया निराधार एव तर्क हीन सिद्ध हो जाएगा।

यह सत्य है कि दिन-भर पीडादायक एव असतोषपूर्ण परिस्थितियो मे कार्य करने के पश्चात् अवकाश प्राप्त करने पर व्यक्ति कथा साहित्य के पठन की ओर प्रवृत्त होता है, पर यह सत्य नही है कि ऐसा वह केवल मनोरजन के लिए करता है। साथ ही यह भी सत्य नही है कि कथा-साहित्य का एकमात्र उद्देश्य मनोरजन एव आनन्द तत्वो का ही प्रतिपादन होता है। जहा तक मैं समझता हू, कथा-साहित्य का प्रमुख उद्देश्य सृजनात्मक होता है और जीवन को यथार्थता एव सत्यता से परिचित करना, व्यक्ति व्यक्ति के मध्य निकट सामीप्य स्थापित करना और मनुष्य के असतोष एव पीडादायक परिस्थितियो मे आशा और विश्वास उत्पन्न कर निर्माण की ओर दिशोन्मुख करना ही होता है। कथा-साहित्य की रचना-प्रक्रिया का मनोरंजन केवल एक अश हो सकता है, अन्तिम उद्देश्य नही। वस्तुत जीवन की सत्यता से मुख मोडना अपने आप से ही नही सारे राष्ट्र एव समाज को गुमराह करना होता है। कथाकार का वास्तविक दायित्व मानव जीवन की सत्यता एव स्वाभाविकता से पाठको का निकट तादात्म्य स्थापित करना होता है और इस कर्तव्य एव दायित्व की उपेक्षा करना कला के प्रति जबर्दस्त विश्वासघात होता है। लेखक अपने दृष्टिकोण मे आदर्शवादी हो सकता है, पर आदर्शवाद का यह उद्देश्य कदापि नही होना चाहिए कि वह सत्य एवं यथार्थ से आखें बन्दकर एक नितान्त यान्त्रिक, अस्वाभाविक एव काल्प-

१ इसी दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे प्रेमचन्द, जयशकरप्रसाद, कौशिक, सुदर्शन, उग्र, वाचस्पति पाठक चतुरसेन शास्त्री, गोविन्दबल्लभ पन्त आदि की कहानियाँ देखी जा सकती हैं

निक जगत मे अपने पाठको को ले जाए और विचित्र सी भूल भुलैया मे डालकर उन्हे एक स्वप्निल नशे से उन्माद-ग्रस्त और दिग्भ्रान्त करे। इसका प्राप्य क्या होगा ? यदि कथा-साहित्य जीवन के गतिशीलता प्रदान करने एव देशोन्मुख करने का साधन है, तो क्या उसे भ्रमपूर्ण मरीचिकाओ मे जो अवास्तविकताओ से अच्छादित है, ले जाने से ही इस दायित्व की पूर्णता होगी ? और यदि नहीं, फिर 'शखनाद', 'आकाशदीप', 'कानो मे कगना', 'वह हसी थी', 'प्रणय चिन्ह' आदि कहानियाँ किस आदर्श की पूर्ति करती है ? ये सभी कहानियाँ जिस आदर्श की पूर्ति करती है, यदि वैसी ही स्थिति समाज मे स्थापित हो जाय, तो उससे अच्छी और कोई व्यवस्था नही हो सकती। पर जिस प्रक्रिया से दौरान से होकर ये कहानियाँ विभिन्न आदर्शो की स्थापना करती है, क्या इस सृष्टि मे वे सहज सम्भव हैं—अब इस प्रश्न पर हम विचार करने को तत्पर होते हैं, तो अपने को निरे शून्य की स्थिति मे पाते हैं।

वे सब वस्तुत आध्यात्मिक जगत की बाते हो सकती हैं, पर निश्चय ही इस सृष्टि की नही। आदर्शवाद न्यायपूर्ण मान्यताओ एव विचारधाराओ के प्रति गहनतम आस्था रखता है और अन्याय का दमन कर न्याय की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकारता है। इस न्याय पक्ष की विजय के सम्बन्ध मे आदर्शवादी इतना आश्वस्त रहता है कि उसे अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवचना का शिकार बनने मे भी कोई सकोच नही होता, इस संदर्भ मे उसे आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव का किंचितमात्र भी ध्यान नही रहता और एक प्रकार से वह न्याय की भीख मागता है। वस्तुत न्याय है क्या ? न्याय की मान्यताएँ भी समाज और काल की दृष्टि से परिवर्तनशील है। पहले बाल विवाह न्याय था, आज वह नियमोल्लघन ही नही हो, वरन् अनैतिक समझा जाता है। रूसो ने एक स्थान पर लिखा है, पहले (लगभग १७ वी शताब्दी मे) नारियो का सुन्दर होना ही उनके अच्छे भाग्य एवं जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता था। उन्हे प्रत्येक क्षेत्र मे प्राथमिकता दी जानी थी और उन्हे ही थोडे बहुत अधिकार प्राप्त थे। तब की स्थिति मे नारी का अतीव सौंदर्य ही न्याय था, पर आज कोई ऐसी बात सोच भी नही सकता। हो सकता है, कोई ऐसी व्यवस्था आए (और निश्चय ही आएगी) जब मृत्यु दण्ड और अन्य दण्डो के स्थान पर अपराधियो को सुधारने के अनेक मनोवैज्ञानिक ढग अपनाये जाने लगे। यह अवश्य है, इसमे शताब्दिया भी लग जाएँ। इसी परिवर्तनशील न्याय के लिए आदर्शवादी दुहाई देता फिरता है। वह कहता है, व्यक्ति जूते खाता रहे, पर उसे न्याय-पथ की विजय की आशा कभी नही छोडनी चाहिए क्योकि अन्त मे न्याय-पक्ष की विजय होगी ही। पर यह विशेषता भी एक कालातिकता से सम्बन्धित हैं। ससार मे सदैव न्याय-पक्ष की विजय नही होती और आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे तो सत्य एव न्याय से बढ़कर खोखले और कोई शब्द नही है, यह ठीक है कि सदैव न्याय की ही विजय होनी

चाहिए, पर यह दूसरी बात हैं। जहाँ तक कहानियो का सम्बन्ध है, यदि न्याय पक्ष की विजय कथानक की स्वाभाविकता की रक्षा के साथ होती है, तो किसी को भी आपत्ति नही हो सकती, पर यदि यह सब यांत्रिक ढग से होता है, तो वह विवेक हीनता के अतिरिक्त कुछ और नही है। आदर्शवाद का पात्रो से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदर्शवाद अपनी धारणाओ एव कान्यताओ के अनुसार ऐसे पात्रो की परिकल्पना पर बल देता है, जो उपर्युक्त विशेषताओ से तो सम्पन्न हो ही साथ ही उनमे चारित्रिक निष्ठा भी हो और उनका चरित्र दुर्बल तत्वो से पोषित न हो (प्रेमचन्द सुजान भगत, जयशकर प्रसाद दानी, सुदशन : कवि की स्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' इक्केवाला, तथा राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह . कानरे मे कंगना आदि कहानिया)। आदर्शवादी यह नही चाहता कि उनके द्वारा सिरजे गये पात्र परिस्थि. तियो से विवश होकर अनैतिकता की राह अपनाए, हत्या करे, चोरी करे, असत्य बोले, स्वय भी विभ्रान्त हो और दूसरो को भी विभ्रान्त बनाए। असत्य पक्ष को अपनाकर जीवन के उन दुर्बल पक्षो का आत्मसात करे, जो मानवतावादी दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न खाती हो। आदर्शवादी पात्र कुछ इस प्रकार का होगा कि सभी आदर्शवादी मान्यताएँ उसमे सिमट जाएंगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्यमान पु ज की भाति चमत्कृत होता रहेगा।

उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा कि किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नही आती प्रतीत होगी और वह सद्प्रवृत्तियो का एक पुतला मात्र बनकर रह जाएगा। स्पष्ट है, ऐसा पात्र स्वाभाविकता की सभी सीमाएँ लाँघ जाएगा और हमारे सामने एक स्वप्निल संसार का निर्माण करेगा, पर न तो कोई व्यक्ति मात्र सात्विक प्रवृत्तियो से ही ओतप्रोत रहता है और न किसी व्यक्ति मे केवल आसुरी प्रवृत्तियाँ ही आसन जमाए रहती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो केवल देवता ही बनकर रह जाएगा या मात्र असुर। ऐसे पात्र इस मानवीय सृष्टि के पात्र नहीं हो सकते, यह सुनिश्चित है। यो सम्भव है कि अपवादो के रूप मे कही कोई ऐसा व्यक्ति निकल आए पर कहानीकार का यह दायित्व नही होता कि वह अपवादो के चित्रण को ही अपना एकमात्र लक्ष्य निर्धारित करते। कथा का वैशिष्ट्य सामान्य व्यक्तियो के विराट् एव व्यापक सन्दर्भ मे यथार्थ चित्रण मे है, अपवाद स्वरूप पाए जाने वाले व्यक्तियों के अस्वाभाविक चित्रण मे नहीं। इस दृष्टिकोण से जब हम हिन्दी कहानियो पर दृष्टिपात करते हैं, तो पूर्व प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल मे ऐसे अस्वाभाविक एवं आदर्शवादी पात्रो का बाहुल्य प्राप्त होता है, पर यहीं स्वभातः प्रश्न उठता है कि इन पात्रों की सृजनात्मकता की पृष्ठभूमि से आदर्शवादी मान्यताएँ क्रियाशील थी, यह तो ठीक है, पर उन पीकल्पनाओ का प्राप्य क्या हुआ? इस प्रश्न पर हमें साहित्य एव समाज दोनों के ही सदर्भ मे व्यापक दृष्टि से विचार करना

होगा। ऐसे आदर्शवादी पात्र जीवन और जगत को अपने आदर्शों से चमत्कृत अवश्य ही कर सकते हैं और कुछ थोडे से भावुक व्यक्तियो की मन स्थितियो को प्रभावित भी कर सकते हैं, पर स्पष्टत वे यथार्थ से कोसो दूर रहते हैं और कभी कभी तो लेखक की विवेकशून्यता की स्थिति मे वे पात्र अस्वाभाविकता की भी चरम सीमा स्पर्श कर जाते हैं। ऐसी स्थिति मे बौद्धिक वर्ग के पाठको के लिये ये आदर्शवादी पात्र कुछ विशेष महत्व नही रखते, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही रहता है कि ऐसे पात्रो के चरित्रो मे जो परिवर्तन होता है, सभी यान्त्रिक होता है और स्वय पात्रो का उन परिवर्तनो से कोई सम्बन्ध नही होता। यह बात सदैव ही स्मरणीय है कि साहित्य मे वही पात्र शाश्वत होते हैं तथा जिनका ताना-बाना स्वाभाविक के परिवेश मे निर्मित होता है। इसे हम दूसरे शब्दो मे यथार्थवादी सृजन प्रक्रिया की कला भी कह सकते हैं। जो तथ्य यथार्थ से दूर है, वह जीवन से भी दूर है और इसीलिए वह जीवन महत्व शून्य हैं। इस विवेचन के उपरान्त कहा जा सकता है कि आदर्शवाद विषय-वस्तु तथा भौतिक पदार्थों की अपेक्षाकृत मूल सत्य को अधिक महत्व प्रदान करता है। उसकी दृष्टि बौद्धिकता पर आधारित है।

जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यो को अत्यधिक उल्लेखनीय स्थान प्रदान करने के कारण वह आध्यात्मिक भी है। हमारे चारो ओर के परिवेश मे जो दृश्यमान जगत स्थिति है, वह किसी चेतन सत्ता की सृष्टि है, आदर्शवाद यह स्वीकारा है। वह मानव जीवन के आन्तरिक पक्ष पर अधिक बल प्रदान करता है। जीवन के आन्तरिक पक्ष मे मानसिक सुख प्रसन्नता, परितोष एव आनन्द की गणना की जाती है। मनुष्य जब तक आन्तरिक सुख नही प्राप्त कर लेता, उसका जीवन अव्यवस्थित रहता है। इसे वास्तविक आनन्दोपलब्धि भी नही होती। आदर्शवाद उन्ही मानव मूल्यो को ग्रहण करता है, जो कल्याणकारी हैं, शुभ सन्देश सूचना है एव सृजनात्मक हैं। आदर्शवाद भाव और कला की निरन्तर ऊचाइयो को स्पर्श करने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रवृति मुख्यतया अन्तर्मुखी हैं, इसीलिए उसकी चेतना कभी-कभी आध्यात्मिक एव रहस्यवादी सीमा तक पहुच जाती हैं, जो उसे स्वाभाविकता से दूर हटाकर कृत्रिमता के परिवेश मे पहुचा देती है। आदर्शवाद उच्च नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एव सौन्दर्य परक प्रतिमानो को स्वीकार करके उन्ही के अनुसार जीवन और समाज को नए साँचे मे ढालकर उनका रूप-विधान परिवर्तन करने की प्रेरणा देता है। आदर्श-वाद का मूल स्वर नैतिक होता है। यह आदर्शवादी नैतिकता किसी सभ्यता एव सस्कृति की मूलात्मा होती है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने वर्तमान से सन्तुष्ट नही होता और अपने जीवन और समाज को महती आदर्शो की ओर ले जाने का प्रयत्न की प्रयत्न करता है। उसकी यह प्रवृत्ति नैसर्गिक है। टॉलस्टॉय रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रोम्याँ रोलाँ, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि सभी साहित्य के

माध्यम से इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन करते रहे। आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं पर निकाले गये इस निष्कर्ष के पश्चात् हम यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर सकते हैं कि क्या इन अनेक दुर्बलताओं के बाद भी आदर्शवाद को पूर्णतया तिरस्कृत किया जा सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि आदर्शवाद नैतिक मान्यताओं, संस्कृति, सभ्यता एव आदर्शों के ही स्तम्भो पर आधारित है। जो साहित्य मूल्य मर्यादा रहित हैं आदर्शमुक्त है, वह हमारे लिए मूल्य हीन है। प्रत्येक शाश्वत साहित्य किसी उच्च आदर्श को सामने रखकर ही रचा जाता है और सभी उस साहित्य का कोई वास्तविक मूल्यान्वेषण हो सकता है। पर इस आदर्श की रक्षा या प्रस्तुतीकरण का वह तात्पर्य कदापि नही है कि आदर्श का आवरण साहित्य पर इतने गहन रूप से आच्छादित हो जाए कि उसकी सीमाओ के बन्धनो मे साहित्य का दम घुटने लगे और उपयुक्त वायु मे श्वास ग्रहण करने के लिए उसकी आत्मा छटपटाने लगे। अनावश्यक नियंत्रण साहित्य को बोझिल कर देता है, उसका गला घोट देता है, शाश्वतता के लिए आदर्श को यथार्थ की कठोर भूमि पर खडे होने का प्रयत्न करना होगा तभी रचा गया साहित्य मूल्य-मर्यादा मुक्त भी होगा, साथ ही उसमे स्थायित्व भी होगा। हमे यह बात सदैव सदैव ही स्मरण रखनी होगी कि सर्वत्र आदर्श-ही आदर्श से व्याप्त साहित्य मूल्यहीन है, क्यो कि आज का हमारा जीवन भी इस आदर्श से कोसो दूर है।

आलोचनात्मक यथार्थवाद और यथार्थवाद मे वस्तुतः सैद्धांतिक मतभेद नही है। दोनो मे पर्याप्त अशो मे समानता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद बस यथार्थवाद का अगला कदम ही है। पीछे यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि यथार्थवाद के चित्रण के लिए तटस्थ एव निरपेक्ष दृष्टि का होना आवश्यक होता है। आलोचनात्मक यथार्थवाद का चित्रण करने वाला लेखक भी यथार्थवाद की ही सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है और अपनी दृष्टि भी तटस्थ एव निरपेक्ष रखता है। पर तटस्थ एव निरपेक्ष दृष्टि से जीवन और समाज की समस्याओ का यथार्थ चित्रण करके ही वह सतोष नही कर लेता, वरन् समाज की विकृतिओं, विषमताओ एव असमानताओ पर तीव्र प्रहार कर वह उनकी कटु आलोचना भी करता है। वस्तुत: यह उसके लिए असह्य होता है कि तटस्थता एव निरपेक्षिता की अनिवार्य आवश्यकताओ के कारण वह उन विकृतियो का चित्रण कर चुप हो जाए। यह उनकी आलोचना कर लोगों को एक शाश्वत सत्य भी देना चाहता है। यही वह यथार्थवादी लेखक से भिन्न हो जाता है। समाज को एक सत्य तो यथार्थवादी लेखक भी देता है। पर उसके सम्बन्ध मे वह कुछ कहता नही। इसे वह पूर्णतया निर्वैयक्तिक एव तटस्थ भाव से ही प्रस्तुत करता है वह उसके वर्णन मे अन्तर्निहित रहता है, पर आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखक की आलोचनाएँ स्पष्ट रूप से ऊपर

उभरती हैं पर पाठको से जैसे स्पष्ट रूप से यह कहती हुई प्रतीत होती है, यही है समाज की यथार्थ स्थिति और यदि इसे तुम नही समझ सके हों, तो समझो, पर उसकी आलोचना से उमे आदर्शवादी न समझ लेना चाहिए। अपनी आलोचनाओ से वह आदर्शवादियो की भाँति किसी आदर्श या यूटोपिया निर्मित नही करता। वही केवल आलोचना करने तक ही सीमित रसता है, उससे आगे जाने का प्रयत्न नही करता। प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचनशर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' सुदर्शन तथा विनोदशकर व्यास की कहानियो मे आलोचनात्मक यथार्थ की प्रवृत्तिया प्राप्त होती है। यद्यपि शुद्ध रूप से आलोचनात्मक यथार्थवाद रूप से लिखी गई उनकी कहानियाँ कम ही हैं, पर कई कहानियो मे इसके अश प्राप्त होते हैं।

इमी प्रकार ऐतिहासिक यथार्थवाद मे कोई तात्विक अन्तर नही है। आज की युगीन सामाजिक जीवन की इतिहास के रूप मे पढा जाएगा। आगे आने वाले काल मे प्रेमचन्द की कहानियाँ कथात्मक रस के लिए कम, तत्कालीन सामाजिक, साँस्कृतिक एव धार्मिक इतिहास के परिचय के लिए अधिक पढी जाएगी। देशकाल का यह तात्विक अन्तर ही यथार्थवाद को ऐतिहासिक यथार्थवाद के रूप मे परिणित कर देता है। ऐतिहास्कि यथार्थवाद, तिथियो ; नामो एव घटनाओ की सत्यता के प्रति उतना आग्रहशील नही रहता, जितना तत्कालीन सामाजिक साँस्कृतिक एव धार्मिक जीवन के चित्रण पर बल देता है। राहुल साकृत्यायन ने एक स्थान पर ऐतिहासिक उपन्यासो के सन्दर्भ मे लिखा है कि उनमे हमे ऐसे समाज और उसके व्यक्तियो का चित्रण करना पडता है, जो सदा के लिए विलुप्त हो चुका है, किन्तु उसने पदचिन्ह कुछ जरूर छोड़े हैं। जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नही दे सकते : इन पद चिन्हों या ऐतिहाहिक अवशेषो के पूरी तौर से अध्ययन को यदि अपने लिए दुष्कर समझते हैं, तो कौन कहता है, आप जरूर ही इस पद पर कदम रखे। हम देखते हैं। कम-से कम हमारे देश मे, समर्थ कलाकार भी ऐसी गलती कर बैठते हैं और बिना तैयारी के ही कलम उठा लेते हैं। इसमे शक नही कि यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है तो साधारण पाठक उसे बडी दिलचस्पी से पढेगे और हमारे समालोचको में बहुत कम ही ऐसे हैं। जो ऐतिहासिक यथार्थवाद की परख रखते हैं। वस्तुत. ऐतिहासिक कहानियो के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है, कि अभी तक यह समझा जाता रहा है कि यथार्थवाद का सम्बन्ध केवल सम-सामयिकता से है, वह अतीत काल के प्रति न तो उत्तरदायी ही है, न उसकी महत्व प्रदान करता है और यथार्थवाद समकालीन जीवन, व्यथा; पीड़ा; व्यक्ति की आशा; निराशा एव सफलता असफलता आदि अनेक मानवीय एव स्वाभाविक स्थितियो का स्वाभाविक चित्रण करता है। यह मान्यता काफी दिनों तक * विवादहीन रूप से पाश्चात्य सहित्य मे स्वीकृत रही और यथार्थवाद समसामयिक जीवन से अपना सम्बन्ध बनाकर गतिशील एवं विकसित होता रहा। पर वाल्टर स्कॉट, एलेक्जेन्डर

ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, लियो टॉल्सटॉय आदि विदेशी लेखको तथा हिन्दी मे वृन्दावन लाल वर्मा जयशकर प्रसाद ,चतुरसेन शास्त्री आदि ने अधिकांश रूप मे ऐतिहासिक विषयो को लेकर ही अपनी कहानियाँ लिखी हैं, और उनमे तत्कालीन युगीन सत्य की रक्षा की है।

वास्तव मे यह सत्य कुछ और नही ऐतिहासिक यथार्थवाद ही था और सत्य की पूर्ण रक्षा करने का अभिप्राय ऐतिहासिक यथार्थवाद का चित्रण करना ही होता है। इन सभी लेखको ने यह सिद्ध कर दिया है कि यथार्थवाद की सीमाएँ बाँधकर सीमित नही की जा सकती। यथार्थवाद व्यापक परिवेश मे ही पलता और विकसित होता है तथा नित्य नवीन आयामो की स्थापना कर मानवीय सवेदना एवं मानव स्तर का मूल्यान्वेषण करने और सत्यान्वेषण करने का प्रयत्न करता है। यथार्थवाद जितना हमारे समकालीन जीवन मे महत्व रखता है उतना ही अतीतकालीन जीवन मे। समकालीन जीवन का सत्यानुभूति से प्रेरित जीवन यथार्थवाद है। अतीतकालीन जीवन का वही चित्रण ऐतिहासिक यथार्थवाद हैं। जितना अन्तर हमारे समकालीन और अतीतकालीन जीवन मे है उतना ही अन्तर यथार्थवाद और ऐतिहासिक यथार्थ-वाद मे है। अपने अतीतकालीन इतिहास के प्रति हमारे दृष्टिकोण का स्वरूप क्या होना चाहिए तथा अतीतकालीन जीवन मे से चुनी गई कहानियो के कथानको का सयोजन क्या और कैसे तथा समकालीन जीवन से उसका सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाना चाहिए। यह सब वस्तुतः ऐतिहासिक यथार्थवाद का ही क्षेत्र है। ऐति-हासिक यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति किसी विशेष काल मे सत्यान्वेषण की होती है। इतिहास मे कहानियो के लिए विपुल सामग्री भरी पड़ी है, पर कहानीकार सभी का चित्रण अपनी कहानियो मे नही करता और न वह उन घटनाओ को इस योग्य ही समझता है कि सभी का चित्रण करे। वह पहले समकालीन जीवन की ओर दृष्टि-पात करता है, उसकी समस्याओ का, मानवीय जीवन का और प्रवृत्तियो का अध्ययन करता है। फिर उसी सदर्भ मे वह इतिहास का गहन अध्ययन करता है और दोनों से सामजस्य रखने वाली घटना को चुनकर उसका यथार्थ चित्रण कर वर्तमान जीवन पर प्रेरणादायक प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है। इससे कहानीकार एक ही पत्थर से दो शिकार करता हैं, उसके दो उद्देश्य सिद्ध हो जाते है। एक तो यह कि अतीत काल के स्वर्णिम चित्र साहित्य के माध्यम से सजीव अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। दूसरे यह कि अतीत काल के गौरव एव जीवन की मर्यादाओ से लेखक समकालीन जीवन को प्रभावित कर उचित मार्ग की ओर दिशोन्मुख करना चाहता है। आज से सौ वर्ष या उससे भी आगे का कोई लेखक जब १९०० से या १९३० या ऐसे ही किसी काल को चुनकर कोई कहानो लिखना चाहेगा और यदि उसकी कहानी मे प्रेमचन्द जैसी हो सत्यानुभूति होगी, तो वह कुछ और नही ऐतिहासिक यथार्थवाद ही होगा। वस्तुत जो चीज प्रेमचन्द के लिए सामाजिक यथार्थ थी, वही आगे आने वाली

शताब्दी मे ऐतिहासिक यथार्थवाद होगी ।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए, तो यह अन्तर केवल सैद्धांतिक है। यथार्थवाद के चित्रण मे कहानीकार को जो सावधानी अपनानी पडती है, वही ऐतिहासिक यथार्थवादी के चित्रण मे भी अपेक्षित होती है। प्रश्न उठता हैं, क्या ऐतिहासिक यथार्थवाद के चित्रण के लिए यह आवश्यकता है जीवन को यथातथ्य चित्रित कर दे और कल्पना का आश्रय बिल्कुल ही न ग्रहण करे ? या वह कल्पना का आश्रय ग्रहण करे अपने चित्रण को कथात्मक रस से परिपूर्ण करे। इन प्रश्नो पर थोडे विस्तार से विचारने की आवश्यकता है। पहली अवस्था का परिणाम क्या होगा। अर्थात् यदि कहानीकार एक विशेष काल को चुनकर उसकी प्रत्येक बातो, नामो और स्थानो का अत्यंत सूक्ष्मता के साथ चित्रण करे तो इसका परिणाम क्या होगा ? जहाँ तक मैं समझता हू , उसका यह चित्रण मात्र इतिहास ही बनकर रह जाएगा और उसकी कथात्मकता समाप्त हो जाएगी। वह एक शुष्क वैज्ञानिक अध्ययन मात्र रह जाएगा। जिस प्रकार विज्ञान की नीरसता लक्षित होती है, उसी भाँति उस अध्ययन की भी नीरसता लक्षित होगी विज्ञान की नीरसता—यह सुनकर कदाचित् सुविज्ञ जन चौंकेंगे तो पहले यही जान लें कि नीरसता क्या है और सरसता क्या है ? इसकी कसौटी क्या है ? नीरसता और सरसता की कसौटी विषयगत नही है, वरन उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव स्वभाव से है। एक चीज एक के लिए नीरस हो सकती है, पर वही दूसरे के लिए सरस हो सकती है विज्ञान मे रूचि रखने वाले एव विज्ञान के छात्रों के लिए विज्ञान नीरस नही है, पर दूसरो के लिए है किन्तु कहानी की सरसता और विज्ञान की सरसता मे कोई सैद्धांतिक अन्तर न होते हुए भी है। विज्ञान मे इस बात का कोई प्रयत्न नही किया जाता कि उसमे सरसता उत्पन्न हो। पर कहानी, जैसा कि पिछले अध्यायो मे कई स्थान पर स्पष्ट किया जा चुका है, किसी बात के सैद्धांतिक विवेचन या शास्त्रीय व्याख्या का माध्यम नही है। इसमे एक सरसता रहती है जो सामान्य पाठको एव बौद्धिक-प्रतिभा सम्पन्न पाठको-दोनो के लिए ही रोचक प्रतीत होती है। यह सरसता कहानी की गम्भीरता (यदि उसमें है!) को किसी भी प्रकार न्यून नही करती। अत. एक बात स्पष्ट हुई कि कहानी मे सरसता होती है, विज्ञान की भाति नीरस अध्ययन के पूर्ण समावेश होते हुए भी इतिहास की भाँति प्राप्त तथ्यों को ज्यो-का-त्यो नही उपस्थित कर दिया जाता। यही दूसरे प्रश्न की स्थिति भी स्पष्ट हो जाती है, अर्थात् इन प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यो के प्रस्तुतीकरण में कल्पना कहाँ तक सहायक होती है ? उत्तर मे कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक कहानियो का कल्पना के प्रति कोई उपेक्षणीय दृष्टिकोण नही रहता [जयशकर प्रसाद की आकाशदीप, पुरस्कार आदि कहानियाँ, वृन्दावनलाल वर्मा : शरणागत, प्रेमचन्द : रानी सरन्धा आदि कहानियाँ इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य हैं।] ऐति-

हासिक कहानियो मे कल्पना का आश्रय अनिवार्य रूप से ग्रहण किया जाता है, क्योकि उसमे शुष्कता नही, कथात्मक सरसता उत्पन्न करनी होती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

इस कल्पना-प्रयोग की भी कुछ सीमाएँ हैं। कल्पना के प्रयोग का यह अभिप्राय नही है कि उस विशेष युग, जिसे चित्रण का आधार बनाया गया है, की सामान्य विशेषताओ की पूर्ण उपेक्षा करके अपनी मनमानी विशेषताएँ आरोपित कर दी जाएँ । ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित कहानीकार पूर्णतया काल्पनिक कथानक तो चुन सकता है, पर ऐतिहासिक यथार्थवाद की रक्षा के लिए उसे उस विशेष युग के वातावरण, सस्कृति, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो तथा मानव जीवन का सत्य चित्रण करना पडता है, इनकी उपेक्षा वह किसी भी रूप मे नही कर सकता । जयशकर प्रसाद की कई कहानियाँ कल्पित कथानको पर आधारित होने के बावजूद उनमें हमें एक विशेष युग की सामान्य विशेषताओ का सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से किया गया आधिकारिक दर्शन मिलता है । ऐतिहासिक यथार्थवाद यही है वास्तव मे एक विशेष युग की सामान्य विशेषताओ को तोडना-मरोडना और नितान्त कल्पित चित्र उपस्थित करना न केवल ऐतिहासिक यथार्थवाद की ही उपेक्षा है, वरन् कल्पना के प्रति भी दूराग्रह प्रकट करना है । ऐतिहासिक तथ्यो के अकलन मे कहानीकार को पूर्ण स्वतन्त्रता है, पर सत्य एव यथार्थ की रक्षा के लिए उनके सम्मुख कुछ सीमाएँ होती हैं और उसकी तटस्थता का होना अनिवार्य होता है, यहा एक और प्रश्न उठता है, ऐतिहासिक यथार्थवाद के सन्दर्भ मे पात्रो का स्वरूप किस प्रकार होना चाहिये ? ऐतिहासिक कहानियो के लिये इतिहासकार प्राय इन्ही पात्रो को मानता है जिनका उल्लेख इतिहास में होता है, पर यह भी कोई अनिवार्य नियम नही है । ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित पूर्णतया कल्पित पात्रो को लेकर भी कहानियो की रचना की जाती है । पात्र ऐतिहासिक हो या न हो यह प्रश्न विशेष महत्व नही रखता । इसके कारण स्पष्ट हैं । प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं और उन विशेषताओ के सन्दर्भ मे व्यक्ति विशेष जीवन जीता है । शासक वर्ग से सम्बन्धित लोगो के जीवन मे अनेक आडम्बर, औपचारिकता, कृत्रिमता, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक बातें हो सकती हैं । सामान्य लोगो का जीवन स्वतन्त्र हो सकता है, परतन्त्र भी । विवाह और प्रेम सम्बन्धी नियंत्रण भी हो सकते हैं छूट भी । सामाजिक अनुशासन कठोर भी हो सकता है, शिथिल भी । यह प्रत्येक युग की अपनी-अपनी बात होती है । प्रत्येक युग की अपनी विशेषताएँ होती हैं, जो इस युग के वर्गगत मानव-जीवन को प्रभावित करती और उसे गतिशील करती हैं । उस युग की भी अपनी भाषा होती है, जो वर्गगत मानव द्वारा विभिन्न स्तरो पर प्रयोग मे लाई जाती हैं । काहानीकार इन्ही विशेषताओ को अपने पात्रो में भरता है और उनमे स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न करता है, यदि

पात्र ऐतिहासिक हैं, तब तो ये विशेषताए उनमे होती हैं, पर यदि पात्र पूर्णतया कल्पित हैं, तो कहानीकार अपने कलात्मक कौशल द्वारा उनमे इन्ही विशेषताओ को भर उन्हे ऐतिहासिक रग देता है। अत पात्र ऐतिहासिक हो या कल्पित यह उतना महत्वपूर्ण नही होता, जितना उनका ऐतिहासिक रग। ऐतिहासिक यथार्थवाद के लिए पात्रो के ऐतिहासिक रग और स्वाभाविकता अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होती है। इसी प्रकार ऐतिहासिक यथार्थवाद वातावरण पर बल देता है।

पात्रो की भाँति यह भी आवश्यक नही है कि कथानक पूर्णतया ऐतिहासिक ही हो। वह काल्पनिक भी हो सकता है, पर उसके वातावरण मे ऐतिहासिक रगो का होना आवश्यक होता है। यह ऐतिहासिक रग उस विशेष युग की सभी सामान्य विशेषताओ का सावधानी एव स्वाभाविकता के साथ चित्रण करने से उत्पन्न हो सकता है। वातावरण का यह स्वाभाविक एव सत्य ऐतिहासिक रग ही वास्तव में ऐतिहासिक यथार्थवाद है। इसे थोडा और स्पष्ट कर देना उचित होगा। आज से कोई दो-तीन शताब्दी पूर्व का भारत लें। उस समाज में प्रेम की स्वतन्त्रता न थी नारियो मे उच्च शिक्षा न थी। समाज मे सयुक्त परिवार प्रथा का प्रचलन था और बाल-विवाह समाज सम्मत था। नारियाँ आर्थिक रूप से परतन्त्र थी और एक प्रकार से पुरुष के आलम्बन पर जीवित रहती थी। यदि कोई कहानीकार उस काल से कोई कथानक चुनता है और उसमे पर्याप्त कलात्मक कौशल भी है तथा गहन अध्ययनशीलता है तो वह इन तथ्यो को अपनी कहानी मे आवश्यतानुसार सगुफित करके स्वाभाविकता की रक्षा करने का पूर्ण प्रयत्न करता है, पर दूसरा कहानीकार, जिसमें यह कुशलता नही है, ऐसे पात्रो की कल्पना करेगा, जो खुले रूप मे समाज मे प्रेम करता है। वह सामाजिक अनुशासन की अवहेलना करेगा। उसके नारीपात्र, चाहे उनके पास कोई शिक्षा सम्बन्धी विशेषता हो या न हो, ऐसे तर्क-वितर्क करेंगी कि बडे-बडे विद्वान भी उनके सामने पानी भरने लगे। उनके पात्र व्यक्तिवाद और अस्तित्ववाद का भी पालन कर सकते हैं और सयुक्त परिवार प्रथा को ठोकर मार सकते है। और तो और उनके नारी पात्र ऐसा भी कह सकते है कि अब वे पुरुषो पर आश्रित नही रहेगी और स्वय धन कमाकर अपना पेट भरेगी। वे क्रियात्मक रूप से ऐसा करके दिखा भी देगी: पर वह कहानी एक साहित्यिक विडम्बना के अतिरिक्त कुछ और नही होगी। ऐसे कहानीकारो के सम्बन्ध मे कहा ही क्या जा सकता है। दो एक ऐतिहासिक नामो या शब्दो को रख देना ही वे ऐतिहासिक कहानी लिखना समझते हैं। उनका चित्रण पूर्णतया हास्यास्पद प्रतीत होता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद के लिए यह आवश्यक है कि उस युग की सामान्य विशेषताओ की पूर्ण रक्षा हो और उनका स्वाभाविकता के साथ चित्रण किया जाए। यह बडे खेद की, साथ ही विस्मय की बात है कि हिन्दी के ऐतिहासिक कहानीकार ऐतिहासिक यथार्थवाद पर उतना बल नही देते, जितना

अपनी कल्पना पर। कल्पना को महत्व देना बुरा नही, पर उसकी अतिशयता अवाँछनीय है। वास्तव मे हिन्दी मे जयशकर प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा को छोड कर किसी ने ऐतिहासिक यथार्थवाद का महत्व ही नही समझा है, इसीलिए अभी तक हिन्दी मे वास्तविक रूप से उच्च कोटि की ऐतिहासिक कहानियाँ बहुत कम पढ़ने को मिली हैं। इसका कारण यही है कि हिन्दी के अधिकाँश ऐतिहासिक कहानीकार अपनी कल्पना, सिद्धान्तो के प्रति अपने अत्यधिक आग्रह (या दुराग्रह !) एव अपनी 'प्रतिभा' पर जितना बल देते हैं, उतना ऐतिहासिक युग विशेष के अध्ययन, चिन्तन एव ऐतिहासिक यथार्थवाद के महत्व पर बल नही देते। ऐतिहासिक यथार्थवाद की अवहेलना ऐतिहासिक कहानियो को पगु बना देती है। ऐतिहासिक कहानियो मे प्राण सजीवनी भरने का कार्य ऐतिहासिक यथार्थवाद ही करना है। ऐतिहासिक यथार्थवाद वास्तव मे ऐतिहासिक कहानियो को ऐसी कसौटी दे देता हैं, जहाँ उसका मूल्याँकन इतिहास और साहित्य दोनो ही दृष्टियो से सरलतापूर्ण हो सकता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद ही उचित रूप मे ऐतिहासिक कहानियो को वास्तविक रग देता है और उन्हे स्वाभाविकता एव सत्यता के आवरण मे आबद्ध करता है। इसकी उपेक्षा किसी भी रूप मे की ही नही जा सकती।

इस काल की कहानियो में चित्रित दूसरी प्रवृत्ति अति-यथार्थवाद है, जिसका जन्म अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियो की भाँति फ्रास मे हुआ था इस आन्दोलन का नेतृत्व चार्ल्स बोदेलेयर ने किया। उसकी 'वॉयेज' की अन्तिम पक्तियो मे इसका स्पष्ट निर्देश हुआ है। इस प्रवृत्ति के अनुसार स्वाभाविकता एव सत्य की अभिव्यक्ति सर्व-सम्मत भौतिक एव मानव-प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्तो के प्रतिकूल जीवन की विकृतियो में काम वासना सम्बन्धी वातावरण की छत्रछाया में अन्वेषित किया जाने लगा। इस प्रवृत्ति का जन्म १९२० के लगभग हुआ और आन्द्रे बेतन इसका जन्मदाता था। अति यथार्थवाद का प्रयोग अपौलेनियर के सिद्धान्तो के आधार पर ऐसी सत्ता के अर्थ मे किया गया, जो दृश्यमान वास्तविकता से परे हो। इसकी प्रकृति अधिकाश रूप मे मानसिक विकृतियो से सम्बद्ध है, अति यथार्थवादी कहानियो [चतुरसेन शास्त्री ऋषभ-चरण जैन तथा पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की कहानियाँ] का सम्बन्ध प्रमुखतया स्वप्नो और मानव की अर्द्ध जाग्रत स्थितियो से ही है। आन्द्रे ब्रेतन के अनुसार अति-यथार्थवादी कृति में स्वत. चलित लेखन प्रणाली को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। प्रश्न उठता है, यह स्वतः चलित लेखन प्रणाली है क्या? इसका उत्तर देते हुए हर्बर्ड रीड ने अपने एक लेख 'मिथ, ड्रीम एण्ड पोयम' मे कहा है कि स्वत चलित-लेखन प्रणाली से अभिप्राय मन की उस स्थिति से है, जिसमे अभिव्यक्ति तत्काल एवं नैसर्गिक रूप मे होती है और जहाँ भाव-चित्र तथा उसकी शाब्दिक प्रकृति में समय का कोई अन्तर नहीं पड़ता। पर इस प्रणाली के अनुगम का दुष्परिणाम यह

हुआ कि कला अव्यवस्थित रूप मे प्रकाशित होने लगी और कला के क्षेत्र में अराजकनावाद की स्थिति उत्पन्न हो गई। अति-यथार्थवाद की स्थिति अनीश्वरवाद पर अवस्थित है। वह कला के बौद्धिक स्वरूप का पक्षपाती नही है। कह एकान्तिकता से परिपूर्ण जीवन के काल्पनिक पक्ष के ही प्रति अधिक आग्रहशील है।

व्यक्तित्व के अंतर्विरोधो का चित्रण करना एव भाव-प्रकाशन करना अति-यथार्थवाद का चरम लक्ष्य है। वह प्रचलित नैतिक मान्यताओ को अस्वीकृत करता हैं। उसकी नैतिकना का स्वरूप स्वतन्त्रता एव प्रेम पर आधारित है क्योकि आज की प्रचलित नैतिकता उसके विचार मे आडम्बरपूर्ण एव थोथी है। अति-यथार्थवाद का मत है कि अपने चित्रण मे कथाकार को पूर्ण स्वतन्त्रता हो, उस पर मर्यादाओ, आदर्शों एव नैतिकता के कोई बन्धन न हो। अति-यथार्थवाद हृदय की भावनात्मक गति का प्रतिनिबित्व करता है। यह बौद्धिकता के विरुद्ध है, किन्तु साथ ही भावुकता के प्रति भी अग्रहशील नही है, यदि अति-यथार्थवाद को कोई पीछे उसके आधार बिन्दु तक ले जाना चाहिए, तो वे मूलभूत तत्व प्राप्त होगे, जिस पर किसी भी उपयोगी भीति का निर्माण किया जा सकता है। वे मूलभूत तत्व प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान से सम्बन्धित हैं। अति-यथार्थवाद की यदि कोई दार्शनिक आपत्ति अतीत काल में कहीं प्राप्त होती है, तो वह हीगल मे ही, फ्रायड के अनुसार चेतन के स्पन्दन गम्भीर कामना के रूप मे प्रस्फुटित होते हैं और व्यजना परिस्थितियाँ, असतोष एव अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप मे परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नए वाद का जन्म होता है, जो अति-यथार्थवाद है। वस्तुत यह और कुछ नही यथार्थवाद का चरम रूप ही है। यह रूप-विन्यास आदि को चेतन मन की कार्य-प्रक्रिया स्वीकारता है। चेतन मन अवचेतन मन की तुलना मे दुर्बल और शक्तिहीन है। अवचेतन मन किसी भी प्रकार के बन्धन, नियन्त्रण या सीमाओ को नही स्वीकारता। नैतिकता, भय, लज्जा तथा सकोच उसके लिए महत्वहीन होते हैं। इस प्रकार एक असगति की स्थिति उसे प्रिय है। काम की अतृप्ति प्राय. सामान्यजनो मे होती है और अवचेतन मे उनके विस्फोट की सम्भावना बराबर बनी रहती है। इस प्रकार एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह असगति और असतुलन ही अति-यथार्थवाद के दो आधारभून स्तम्भ हैं। यह मनुष्य के अचेतन मन से ही विशेषत सम्बन्धित है। अति-यथार्थवादियो के अनुसार किसी भी प्रकार के सामाजिक आदर्श विवेक शून्य होते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे कि मानवीय चेतन द्वारा छायाकित यह भौतिक जगत। अति-यथार्थवाद किसी नैतिक परम्परा के प्रति आस्थावान् नही है और क्लासिकल तथा पूजीवादी परम्परा को तो बिलकुल ही तिरस्कृत करता है। यह इस बात को स्वीकारता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी शैक्षणिक परम्पराओ एव सामाजिक बातावरण,नैतिक मान्यताओं एव सास्कृतिक विश्वासों के कारण पोषित

एव खण्डित होते हैं, इसे दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार भी स्पष्ट कर सकते हैं कि एक व्यक्ति अत्यन्त सुशिक्षित, शिष्ट एवं गम्भीर है। वह सभ्यता एव सस्कृति मे भी पूर्ण विश्वास रखता है। पर इसका अभिप्राय नही है कि वह आन्तरिक रूप से भी वैसा ही है, जैसा कि बाह्य रूप से दिखाई पडता है। अपने सम्मानपूर्ण सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिए उसे अपनी अनेक इच्छाओ, कामनाओ एव यहाँ तक कि वासनापरक इच्छाओ का भी दमन करना पडता है। व्यक्ति तो यह समझता है कि उसने इनका दमन कर दिया पर वस्तुस्थिति ऐसी है नही। वे सभी अवचेतन मन मे सग्रहीत होती रहती हैं और उनके विस्फोट की सम्भावना निरन्तर बनी रहती है। अति-यथार्थवाद जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, इसी अवचेतन से सम्बन्धित हैं, जो व्यक्ति को खण्डित, शोषित एव विभ्रान्त करता है।

साम्यवाद की भाँति अति-यथार्थवाद भी यह आग्रह नही करता कि कलाकार अपनी वैयक्तिकता का परित्याग करे, वह इस बात पर बल देता है कि कलाकारो के मध्य सामान्य समस्याएँ हैं, जिनका उन्हे समाधान करना है और सामान्य खतरे मे है, जिनसे उन्हे बचना है। पर अति-यथार्थवाद ने असन्तुलन एव असगति के ऐसे वीभत्स एव घृणास्पद चित्र उपस्थित किए कि मानव मात्र विकृतियो का पुतला बन गया। फलस्वरूप अति-यथार्थवादी स्कूल पर अनेक दोषारोपण किए जाने लगे और उनके उत्तर भी दिए गए, पर सबसे भीषण आरोप यह किया गया कि अति-यथार्थवाद हिंसा और न्यूरोटिक प्रवृत्तियो को प्रश्रय देता है। वह वर्तमान नैतिकता को तिरस्कृत करता है, क्योंकि उसके विचार से वह रूढ और आडम्बरयुक्त है। वह प्रेम और स्वतन्त्रता पर आधारित नैतिकता को प्रमुखता प्रदान करता है। उसके विचार से आज की मानवता और कुछ नही पाप है। वह ऐसी नैतिकता से घृणा करता है, क्योकि वह एक आडम्बर है और अधिकांश व्यक्ति अपूर्ण ही जन्म लेते हैं। उनकी रही-सही पूर्णता भी उनकी विषम परिस्थितियो के कारण समाप्त हो जाती हैं। मानवता के विकास से ही इस पाप और विकृति का निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह हमारा विश्वास है कि सगठित नियत्रण एव दमन की सम्पूर्ण प्रणाली, जो आज की नैतिकता का सामाजिक तत्त्व है, को मनोवैज्ञानिक ढग से गलत समझा जाता है और यह पूर्णतया हानिप्रद है। अतः सवेगो की पूर्ण सम्भव स्वतन्त्रता और प्रेम से वह चीज प्राप्त की जा सकती है जो किसी विधान या नियत्रण से नही प्राप्त हो सकता। अति-यथार्थवाद किसी भावुक मानवतावाद से सम्बन्धित नही है। वह अत्यन्त कठोर ढग से नियत्रित मनोवैज्ञानिक है और यदि वह 'प्रेम' और 'सहानुभूति' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है, तो इसीलिए कि व्यक्ति को आर्थिक एव वासनात्मक जीवन को उसके विश्लेषण ने उसे इन शब्दो के शालीनतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार दिया है और इस प्रयोग में किंचितमात्र भी भावुकता का स्थान नही होता।

अति-यथार्थवाद, जो ज्ञान की एक प्रणाली है, फलस्वरूप विजय और सुरक्षा की भी प्रणाली है, मनुष्य की चेतनशीलता का रहस्योद्घाटन करता है। अति-यथार्थवाद यह स्वीकारता है कि सभी व्यक्तियो से विचारो की समानता होती है और वह मनुष्य-मनुष्य के मध्य व्यवधान को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। भेद-भाव या कायरता की किसी सीमा को वह नही मानता। उसका विचार है कि मनुष्य अपने आपका अन्वेषण करे, अपने स्वत्व को पहचाने और तभी वह उन सभी निधियो को प्राप्त कर सकने की सक्षमता प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसे वचित कर दिया गया है और जिसका संचय वह प्रत्येक काल मे करता है। यह मचयन, आत्मपीडन घुटन के फलस्वरूप ही हो पाता है, जो अल्पसख्यक अधिकार प्राप्त लोगो के लिए होता है, जो मानव महानता का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक तत्वो से अधे और बहरे होते हैं। अति-यथार्थवाद अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूर्ण बल देता है और उसे और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। वह स्वीकारता है कि मानव और उसकी कार्य प्रक्रिया अलग नही किए जा सकते। वह मनुष्य की स्वतन्त्रता मे विश्वास रखता है और अपने पूर्ण सामर्थ्य से इस उद्देश्य-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। वह इस प्रक्रिया मे पराजयवाद, विभ्रान्त करने वाली प्रवृत्ति और शोषण का विरोध करता है। अति-यथार्थवाद का प्रयोग इस काल मे अपनी कहानियो मे पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभचरण जैन आदि कहानीकारो ने किया है।

अब इस युग की अन्तिम प्रवृत्ति रह जाती है—प्रकृतवाद। इसका प्रथम प्रयोग साहित्य मे फ्रेन्च उपन्यासकारो द्वारा किया गया, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे। प्रकृतवाद को जोला और मोपाँसा ने नेतृत्व प्रदान किया, यद्यपि फ्लाबेयर स्वयं अपने को यथार्थवादी या प्रकृतवादी मानने से अस्वीकारता था। वह अपने को फ्रेन्को क्लासिस्ट स्वीकारता था और 'प्रकृतवाद' को 'असमर्थ' बताता था। प्रकृतवाद के विश्लेषण के सम्बन्ध मे दो विख्यात समालोचनाएँ प्राप्त होती हैं। एक मोपाँसा के उपन्यास Pierre-et-jean और दूसरे जोला की पुस्तक Le-Roman-Experimental की भूमिकाओ मे। जोला के अनुसार प्रकृतवाद उन परिस्थितियो एव वातावरण के अनुसार जन्मा था, जो व्यक्ति की पूर्णता एव सत्ता निश्चित करती है। उसने एक स्थान पर यह भी कहा कि लेखक का काम केवल वर्णन करना ही नही; ससार की अव्यवस्था भी ठीक करना है पर जैसा कि आगे प्रकृतवाद के सिद्धान्तो का विश्लेषण करते समय हम देखेंगे कि इस विचारधारा ने कुछ भी व्यवस्थित करने के बजाय ससार मे घृणा निराशा एव कुण्ठाजन्य परिस्थितियो को जन्म दिया। जोला अपने को प्रयोगवादी ही मानते थे और यह स्वीकारते थे कि प्रयोगवादी प्रकृति की जाँच करने वाला मजिस्ट्रेट होता है और हम मनुष्य एवं उसके विचारो की जाँच करने वाले मजिस्ट्रेट हैं। यद्यपि यह सत्य है कि नित्य-प्रति के

जीवन के अनुभवो पर लेखन को आधारित करना पडता है और ऐसे अनुभव या तथ्य प्राप्त हैं। उस जीवन से असीम नोट बनाए जा सकते हैं, पर यह बिल्कुल ही असत्य है कि कोई पर्यवेक्षण, प्रयोग अथवा अच्छे तथ्य ही कहानी का रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि जोला और मोपाँसा ने इसे ही सत्य मान लिया था और उनकी रचनाओ मे यत्र-तत्र मानव अनुभूतियो को चित्रण प्राप्त हो जाते हैं, पर ऐसा आशिक रूप मे ही हुआ है, उन्होंने इस पर बल नही दिया। प्रकृतवाद जीवन के वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयत्न करता है जिस पर डार्विन और स्पेन्सर आदि के सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव पडा था। डार्विन सिद्धान्त के अनुमार प्रत्येक मनुष्य मे पाशविक प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट हैं। प्रकृतवाद ने इस मूल सत्य को, जो मुख्य रूप से जीव-विज्ञान एव शरीर विज्ञान से ही सम्बन्धित हैं—अपना लिया और उसे साहित्य के क्षेत्र मे ले आने का प्रयत्न किया। इस प्रकार प्रकृतवाद ने यथार्थवाद को उसके पूर्णतया नग्न रूप मे देखा।

यह साहित्य मे निराशा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसमे ज्ञान-प्रकाश से युक्त आशावादी आदर्शवाद के ध्वसावशेष, मनुष्य की पूर्णता एव निष्ठा मे पूर्ण अनास्था, प्रजातांत्रिक प्रणाली मे अविश्वास और मानव विकास के प्रति निराशा के भाव लक्षित होते हैं। प्रकृतवादियो के लिए समाज कोई अस्तित्व नही रखता। वे इसका खण्डन करते हैं। वे केवल मनुष्य या प्राकृतिक विकास दिखाकर उसकी प्रवृत्तियो को उभारना चाहते हैं, क्योंकि यह सारी मानवता पशुवत् है और मनुष्य पशु है, बायोलॉजिकल जीव प्राणी है। वे इस बात को भी नही स्वीकारते कि आत्मिक विकास से ही अन्तिम पूर्णता प्राप्त होती है। प्रजातांत्रिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ मे विकास भी उनके लिए अर्थहीन है और आदर्श, नैतिकता तथा सृष्टि की आत्मानुभूति उनके लिए शून्य स्वप्नो के समान है और ईश्वर की सत्ता स्वीकारना हास्यास्पद है। प्रकृतवाद नैतिकता के वर्तमान मानदण्डो के प्रति कठोर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है, पर मनुष्य पर से वर्तमान नैतिक नियत्रण शिथिल करने की प्रयत्न-शीलता से वह किसी स्वतन्त्रता का नही, वरन् निराशा का स्वर ही उद्घोषित करता है और यद्यपि इसका आविर्भाव विज्ञान से ही हुआ है, फिर भी वैज्ञानिक सिद्धान्तो मे यह किसी सुख का अनुभव नही करता। प्रकृतवादियो के लिए प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष मनुष्य की असहायावस्था की ओर सकेत करता है, प्रकृतवाद किसी धार्मिक परम्परा मे विश्वास नही रखता। उसके आधारभूत सिद्धान्त प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। उसके अनुसार मनुष्य पशुजन्य है। प्रकृति कठोर है। मानव स्वभाव स्वार्थी, निर्दयी और कामुक है।

इस विचारधारा मे प्राकृतिक व्यवस्था का उन्मीलन होता है। ऐतिहासिक रूप से प्रकृतवाद यद्यपि यथार्थवाद की ही एक विकसित शैली है और वह उसका

चरम रूप स्वीकारा जा सकता है, पर स्वयं जोला के लिए यथार्थवाद अर्थहीन था। उसका उद्देश्य था कि यथार्थवाद व्यक्तिवादी स्वभाव के ही अधीन हो। उसका विचार था कि मानव सत्य से बढकर कुछ और नही है। वह चाहता था कि कला जीवन के प्रति सत्य हो। उसके लिए कला मनुष्य—जो परिवर्तनशील तत्व है और प्रकृति—जो अपरिवर्तनशील है, के मध्य होने वाले परस्पर विवाह के समान है। सौन्दर्य की उसके अनुसार कोई पृथक् सत्ता नही स्वीकारी जा सकती। वह भी अनिवार्यतः एक मानवीय तत्व है। अत कथाकार का दायित्व है कि वह अपने ही समय मे अन्वेषित सौन्दर्य तत्वो का उद्घाटन करे। प्रकृतवाद जीवन का यथातथ्य चित्रण करता है। वह जीवन, जैसा है, उसी रूप मे चित्रित कर अपनी दृष्टि पूर्णतया तटस्थ एव निरपेक्ष रखता है। उसमे प्रत्यक्ष आलोचना का अभाव रहता है। उसके अन्दर न आदर्श स्थापित करने और न कोई सदेश देने की प्रवृत्ति रहती है। वह तो समाज की वीभत्सता एवं नग्नता दिखाकर सतोष कर लेता है। सत्य की स्थापना करने में प्रकृतवाद विज्ञान के नियमो का पालन करता है। इस प्रकार प्रकृतवाद जीवन के अस्वस्थ एव कुत्सित पक्षो पर ही अधिक बल देता है। जीवन मे निरीक्षण करने की उसकी दृष्टि पूर्णतया एकाँगी है। वह मनुष्य की पाशविक वृत्तियो के अतिरिक्त कुछ और देखने तथा समझने के प्रति मौन है, इसीलिए उसका दृष्टिकोण नैराश्यपूर्ण है। प्रकृतवाद यह समझता है कि मनुष्य इतना पशु हो गया है, समाज मे कुत्सित वृत्तियाँ इतनी प्रसारित हो चुकी हैं कि अब सुधार होना या मनुष्य का सत्पथ पर अग्रसर होना कठिन है। इसीलिए उसको सर्वत्र निराशा-ही-निराशा दृष्टिगोचर होती है। एक सुविज्ञ के अनुसार प्रकृतवाद बहुत दिनो तक जलता रहा और अन्त मे स्वय ही जलकर राख हो गया। तब अग्नि-शिखा को प्रज्ज्वलित करने के लिए उसकी लौ में झोकने के लिए उसे और भी सामग्री की आवश्यकता हुई, विशेषतया नारियो की। वे उसको दुःख देंगी और वह उस दुःख को उन्हे ब्याज-सहित वापस कर देगा। इस प्रकार प्रकृतवाद ने अपने चारो तरफ के हर व्यक्ति पर दुर्भाग्य की छाया अकित कर दी और लोगो को जीवन के प्रति अस्वस्थ एव निराश बना दिया। प्रकृतवाद ने एक स्वर से यह घोषणा की कि प्रकृति की ओर लौट चलो। फलस्वरूप प्रत्येक परम्परा—धार्मिक अथवा नैतिक—एव पूर्वाग्रहो के प्रति प्रकृतवाद ने संघर्ष उत्पन्न करने की चेष्टा की। प्रकृतवाद इस प्रकार यथार्थ से पलायन है, हालाँकि प्रकृतवादियो ने अपने चित्रण को भी यथार्थ ही बताया है, पर कलाकार जो जीवन और समाज के प्रति सजग है, जानता है कि इस प्रकार का यथार्थ कला नही है। प्रकृतवाद ने जिस केमराईपन वाले यथार्थवाद पर बल दिया है, वह उतना ही अवांछनीय है, जितना कि यूरोपियन स्वच्छन्दतावाद। इसका सबसे बडा दोष यह है कि चीजें जिस रूप मे गतिशील हो रही हैं, उसको देखने या उसका मार्ग प्रशस्त करने मे यह नितान्त रूप

से असमर्थ है । प्रकृतवाद सिर्फ इस पर ध्यान देता है कि चीजें किस रूप मे हैं, न कि वे कौन सा रूप ग्रहण कर रही हैं । इस प्रकार यथार्थवाद अव्यावहारिक एव नैराश्य-पूर्ण है । यह भविष्य के प्रति किंचित्‌मात्र भी आस्थावान्‌ नही है, इसलिए उसकी उपेक्षा करता है । प्रकृतवाद मे मानव-व्यवहार सामाजिक वातावरण के कार्य रूप मे समझे जाते हैं और व्यक्ति इसकी विशेषताओ का जीवित समूह-पुंज समझा जाता है । उसका अस्तित्व इसमे उसी भाँति है, जिस प्रकार प्रकृति मे पशुओ का ।

एक ओर तो वह अकर्मण्यता की परिधि मे आबद्ध है, दूसरी ओर वह सामाजिक एव आर्थिक स्थितियो के उद्‌घाटन का प्रयत्न करता है । पर केवल पाशविक प्रवृत्तियो के ही वर्णन से साहित्यिक दृष्टि से ये सेक्स सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ पीडाएँ, उत्पीडित तथा भोगने एव सहने की क्रियाएँ चाहे जितनी भी विस्तृत एव पूर्ण क्यो न हो —मानव के सामाजिक, ऐतिहासिक एव नैतिक अस्तित्त्व को पूर्णतया निम्न स्तर तक ले जाती हैं । इस प्रकार प्रकृतवाद मानव सघर्षों, विषमताओ एव मनुष्य की पूर्णता को चित्रित करने की अनिवार्य कलात्मक अभिव्यक्ति के मार्ग मे माध्यम नही वरन्‌ बाधा है । यही कारण है कि प्रकृतवाद ने अभिव्यक्ति का जो नवीन माध्यम प्रस्तुत किया और जिन नवीन तत्त्वो का उद्‌घाटन किया, उससे साहित्य समृद्ध नही हुआ । वरन उसने साहित्य को सकीर्णता एव निकृष्टता की निम्नतम सीमा तक पहुचा दिया, मनुष्य के आन्तरिक जीवन और उसके आवश्यक अन्तर्द्वन्द्वो कथा सघर्षों का वास्तविक चित्रण केवल सामाजिक एव ऐतिहासिक तत्त्वो के परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है । इससे भिन्न अपना नया सिद्धान्त गढ लेना और नवीन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति खोज लेना पूर्णतया अवाँछनीय इसलिए है, क्योकि यह कर्म अमूर्त नही हैं और पूर्ण मानव व्यक्तित्व को खडित कर देता है । यह स्पष्ट है कि प्रकृतवादियो का पाशविक प्रवृत्तियो पर आधारित यह विचारधारा तथा प्रचारवादियो द्वारा अंकित मोटे रेखाचित्र पूर्ण मानव व्यक्तित्व के सत्य चित्र को भ्रमित एव विम्भ्रान्त करते हैं । ऐसे कम ही लोग हैं, जो इस बात का अनुभव करते हैं कि मानवात्मा को छानबीन करने तथा उब के मानव होने मे परिवर्तनशीलता का अध्ययन करने वाले मनोवैज्ञानिक भी पूर्ण मानव व्यक्तित्व के साहित्यिक प्रस्तुतीकरण को पूर्णतया नष्ट कर देते हैं । पूर्ण मानव व्यक्तित्व का सजीव चित्रण तभी सम्भव है । जब लेखक टाइप निर्मित करने का प्रयत्न करता है ।

प्रश्न यहाँ मनुष्य के व्यक्तिगत स्वरूप एव सामाजिक स्वरूप के मध्य परस्पर अन्तर्सम्बन्धों का है । जो बहुत ही विवादग्रस्त है और वर्तमान साहित्य में आज यह एक ऐसा कठिन प्रश्न है, जिसका उत्तर सरलता से नही दिया जा सकता । यह प्रश्न तभी से प्रारम्भ हुआ । जब से वर्तमान बुर्जुआ समाज की रचना हुई । सतही ढग से देखा जाए तो मनुष्य के ये दोनो स्वरूप बिल्कुल ही अलग-अलग है और जैसे-जैसे वर्त-

मान बुर्जुआ समाज विकसित होता जाता है, मनुष्य का सबमे असम्पृक्त स्वतत्र एवं वैयक्तिक अस्तित्त्व उभरता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि व्यक्तिगत जीवन अपने ही नियमो के अनुसार वढ रहा है और मानो उसकी फुलफिलमेंट और ट्रेजेडी सामाजिक वातावरण की सीमाओ से स्वतत्र हो रही है, जोला ने एक स्थान पर लिखा है कि लेखक यदि वह औसत जीवन की साधारण प्रवृत्तियो को चित्रित करने के मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकारता है, तो उसे 'नायक की हत्या कर देनी चाहिए। 'नायक' से उसका अभिप्राय ऐसे पात्रो एव कटपुतलियो से था, जो साधारण बन जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि किन सिद्धान्तो पर जोला महान यथार्थवादियो के 'अवशेषो' की आलोचना करता है। जोला ने महान यथार्थवादियो विशेषतया बाल्जाक और स्टेण्डहल की चर्चा अनेक बार की है और बार बार इसे दुहराया है कि बाल्जक और स्टेण्ड्हल इसीलिए महान थे क्योकि उन्होने मानव विकारो का बडी ईमानदारी से चित्रण किया है और मानव की पाशविक प्रवृत्तियो को समझने से लिए हमारी इस वृद्धि के लिए रोचक सामग्री प्रस्तुत की है। जोला इस प्रकार पुराने यथार्थवाद और नवीन यथार्थवाद का चक्र पूर्ण करता है अर्थात यथार्थवाद से प्रकृतवाद की दिशा मे प्रयाण करने वाले चक्र को। इस परिवर्तनशीलता का सामाजिक आधार इस सत्य पर आश्रित है कि बुर्जुआ मनोवृत्तियो ने लेखको की जीवन दिशा भी पूर्णतया परिवर्तित कर दी है। प्रकृतवाद ने बुर्जुआ प्रभाव से यह लेखक का धर्म निश्चित कर दिया कि वह अपने समय के महान सघर्षों में भाग न लेकर सार्वजनिक जीवन का केवल दर्शक बना है। यद्यपि प्रकृतवाद को उत्पत्तिवाद के सिद्धान्तो की व्याख्या के परिणामस्वरूप उत्पन्न बताया गया है, पर यह सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि फ्रास मे १६वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे इसके लिए काफी लम्बी तैयारियाँ की गई थी।

इस तथ्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि अगस्त कॉमटे का समाज के विकास का विज्ञान और परिवार के नवीनीकरण के प्रति इसकी अत्यधिक चिन्ता ने निश्चय ही जोला के ऊपर अपना अपूर्व प्रभाव डाला होगा, चाहे स्वय जोला ने कॉमटे की एक भी पुस्तक न पढी हो। इस प्रकार प्रकृतवाद की पृष्ठभूमि प्राणिशास्त्र मे निहित है, जो डार्विनवाद से भी अधिक विशुद्ध एव व्यापक महत्त्व रखता है। कॉमटे ने समाज के विकास का विज्ञान निश्चित किया और बाद मे उसे साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रचलित किया। कॉमटे के अनुसार मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ और मानवीय कार्य-प्रक्रिया भौतिक कारणो का परिणाम मात्र है। जोला ने भी वैज्ञानिक सावधानी की विशेषता उसके निष्कर्ष के सन्दर्भ मे आवश्यकता को महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया है। प्रकृति और मनुष्य का अध्ययन किया जाता है, उसके प्राप्त विवरणो का वर्गीकरण किया जाता है और प्रयोगवादी एवं विश्लेषणात्मक सिद्धान्तो के उपयोग की दिशा मे कदम-कदम आगे बढ़ाया जाता है, पर चीजो के निश्चित करने मे प्रत्येक को साव-

धानी रखनी चाहिए। जोला की यह घोषणा विचित्र नही हैं। उस व्यक्ति ने, जिसने यह घोषणा की कि वेश परम्परा के अपने नियम होते हैं और जिसने यह स्वीकारा कि विशेषताएँ और गुण उत्पादन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न तत्त्व है, अपने सभी विचारधारा को 'कदाचित्' से प्रारम्भ किया है। वास्तव मे इस घोषणा के पूर्व जोला की सभी कृतियाँ एक महान साधारणीकरण की पृष्ठभूमि के लिए तैयार ही थी। उसने प्राय यह कहा है कि अधिकाश रूप मे इसके लिखने का यह उद्देश्य ही है कि इन सभी अन्वेषणो की सहायता से सर्वाधिक विशेषता सम्पन्न तत्त्वो का विकास होना चाहिए और मनुष्य की बुरी से बुरी विकृतियो का रहस्योद्घाटन करना चाहिए फ्लाबेयर हालाकि इन चीजो के सगठन की कुरीतियो से पूर्णतया आश्वस्त था फिर भी वह जोला के ही समान निश्चिन्त था कि कथाकार को मध्यस्थ का अभिनय नही पूर्ण करना चाहिए। जार्ज सैंड को लिखे गए अपने एक पत्र मे उसने लिखा है कि, 'मेरे लिए कला का महानतम आदर्श यही है कि कलाकार को अपने सृजन मे उतना ही प्रकट होना चाहिए जितना इस सृष्टि में ईश्वर। उससे किसी भी अंशो मे अधिक नही यह इस बात पर बल देता है कि कथाकार को इस बात का सतत प्रयास करना चाहिए कि वह अपने पात्रो की अन्तरात्मा मे बैठकर स्वय उनका चित्रण करे। न कि वह अपनी अन्तरात्मा का चित्रण करे। फ्रास मे प्रकृतवाद का प्रारम्भ ही इस दृष्टिकोण से हुआ था कि जिस प्रकार पशुओ का अध्ययन किया जाता है । उसी भाँति मनुष्यो का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रकृतवाद ने परिवेश पर अपना बल विशेष रूप से देते हुए कथा-साहित्य को बाह्य विवरणो से सम्बद्ध किया। उसने मानसिक स्थिति के यथार्थ चित्रण पर बल दिया। प्रकृति ने जब मनुष्य को इस सृष्टि मे भेजा था, तो उसके तन पर एक भी कपडा नही था। वह जो कुछ भी वस्त्र धारण करता है, कृत्रिमता का परिचायक है, प्रकृति के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करता है। यदि साहित्य मे ही ऐसी कृत्रिमता प्रदर्शित की जाती है, तो वह प्राणहीन बन जाता है।

वास्तव मे साहित्य और प्रकृति के मध्य व्यवधान जितना ही न्यून होगा। साहित्य उतना ही श्रेष्ठ होगा—प्रकृतवाद की यह धारणा थी। प्रकृतवाद के अनुसार मनुष्य पहले पशु सुलभ था, समय के क्रम ने उसमें विकास के भाव भर दिए और आज वह सभ्यता एव संस्कृति के आवरण मे बँधा शान से बैठा है। पर सभ्यता एव सस्कृति का यह आवरण सत्य नहीं है, कृत्रिम है, मनुष्य अब भी मूल रूप से पशु ही है और उसमें पाशविक प्रवृत्तियो का साम्राज्य है, समय आने पर बाह्य रूप मे प्रकट होती है और मनुष्य का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है। ये पाशविक प्रवृत्तियो मानसिक स्थितियों मे लक्षित होती हैं। कथाकार का कर्त्तव्य है कि मनुष्य की इन पाशविक प्रवृत्तियों एव मानसिक स्थितियों को स्पष्ट रूप से चित्रित करे। यही प्रकृतवाद

का ध्येय है । प्रकृतवाद ने यह जोर देकर कहा कि मनुष्य को प्रकृति की ओर लौट चलना चाहिए, क्योकि वही उसकी स्वाभाविक अवस्था है । इस प्रकार प्रकृतवाद यथार्थवाद से भिन्न मार्ग पर चलता है, क्योकि कलाकार यह समझता है कि इस प्रकार निम्नकोटि का एव निर्लज्जता असयम के ऊपर आधारित यथार्थवाद का चित्रण कला नही है । प्रकृतवाद वास्तव मे साहित्य को आत्मिक और नैतिक रूप से शून्य कर देता है और जब प्रकृतवाद का सम्बन्ध किसी पुस्तक या लेखक से जोडा जाता है, तो उसे सापेक्षिक रूप मे ही ग्रहण करना चाहिए। एक आलोचक के अनुसार प्रकृतवाद साहित्य के उद्देश्य को कुठित कर देता है। यदि हम प्रकृतवादियो की सामान्य विशेषताओ को जानना चाहे, तो उन्हें इस प्रकार एक स्थान पर रख सकते हैं। प्रकृतवादी रचनाओ मे सप्रयत्न वस्तुगतता रहती है, उसमे पूर्ण स्पष्टता रहती है। भौतिकता के प्रति पूर्णतया अनैतिक दृष्टिकोण रहता है, निश्चयवाद का दर्शन सचारित होता है और उस पर नैराश्य का पूर्ण साम्राज्य आच्छादित रहता है । प्रकृतवादी जिन्हे 'महान और 'दृढ' पात्र कहते हैं, वे वस्तुत कुछ और नही पशु होते हैं या न्यूरोटिक प्रवृत्ति के होते हैं । प्रकृतवाद के लिए नैतिकता मूल्यहीन एव अर्थहीन है, पर नैतिक मान्यताओ एव नियत्रण के तिरस्कार से यह किसी स्वतन्त्रता की नही, वरन नैराश्य की उपलब्धि करता है । जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, वैज्ञानिक सिद्धान्तो से इसका आविर्भाव होने के बावजूद प्रकृतवाद का वैज्ञानिक निष्कर्षों मे कोई विश्वास नहीं है । क्योकि उसके अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष व्यक्ति की असहायावस्था की ओर सकेत करता है और इस असहनीय सृष्टि मे उसकी उपेक्षापूर्ण स्थिति को सिद्ध करता है । साथ ही उसके आत्मसम्मान एव विशेष स्तर की शून्यता की ओर भी इगित करता है । जबकि विद्वानो ने अपने गहन अध्ययन एव मनन चिन्तन से इस बात का अन्वेषण किया है कि प्रकृति के रहस्य आत्मनिर्माण के साधन हैं और ईश्वर की सत्ता के विद्यमान होने के प्रमाण हैं, प्रकृतवादी वैज्ञानिक अन्वेषणो मे केवल मनुष्य की असहायावस्था प्राप्त करते हैं । एक ही स्रोत से एक शताब्दी से भी कम समय मे दो परस्पर विरोधी विचारधाराओ का जन्म कदाचित् इस बात का प्रमाण है कि वातावरण सम्बन्धी इस तथ्य मे विश्वास किया जा सकता है कि मनुष्य की प्रतिक्रियाएँ और उसकी स्थितियाँ अधिकाँश रूप मे समाज द्वारा सम्बन्धित और प्रभावित होती हैं, जिससे यह जीवन जीता है । डार्विनवाद और प्रकृतवाद इन दोनो ही विचारधाराओं के विकास के परिणामस्वरूप गहनता नैराश्यपूर्ण भावनाओ का उदय हुआ। प्रजातान्त्रिक सृष्टि मे मनुष्य चरम विकास कर अपने को पूर्ण बना सकता है—इस रोमाटिक विचारधारा का पतन कर इस विकास ने यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य अब भी पशु है और वह भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे ही है । इस प्रकार प्रकृतवाद ने साहित्यिक परिवेश को बहुत व्यापक न बनाकर उसे सीमित कर दिया और उसके

अस्वस्थ पहलुओ को अश्लील ढग से चित्रण करना ही अपना प्रमुख धर्म समझा। अति यथार्थवाद की भाँति हिन्दी मे ही इस प्रकृतवादी विचारधारा को बहुत लोकप्रियता नही प्राप्त हो सकी और इस काल मे चतुरसेन शास्त्री, पाडेय बेचन शर्मा उग्र तथा ऋषभचरण जैन आदि कुछ कहानीकारो को छोडकर किसी ने इनका प्रयोग नही किया। वास्तव मे इस युग मे हिन्दी कहानियो को अश्लीलता एव विभ्रातता पूर्णरूप से निगल नही पाई थी और अधिकाँश कहानीकार प्रेमचद के नेतृत्व मे संयम, नैतिकता आदर्श सस्कृति एव मूल्य-मर्यादा की डोरो से बंधे हुए थे।

प्रेमचन्द

प्रेमचंद इस युग के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं। उन्होने न केवल हिन्दी कहानी साहित्य को ही समृद्ध किया और कलात्मक कौशल से परिवेष्टित किया, वरन साहित्य की सोद्देश्यता को प्रमाणित कर सामाजिक सन्दर्भों मे दायित्व-निर्वाह की भावना से प्रत्येक कहानीकार को प्रेरित किया तथा साहित्य को अभिनव दिशा प्रदान की। इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी कहानियो को अभिनय अर्थवत्ता प्राप्त हुई और गरिमा के नए आयाम उससे सम्बद्ध होकर विकसित हुए। प्रेमचद युग दृष्टा थे। उन्होने न केवल अपने युग को देखा था, वरन आगे आने वाले युग की विराट सम्भावनाओ को देखा था—देखा ही क्या, उन विराट सम्भावनाओ के निर्माण मे अपूर्ण सक्रियता भी प्रकट की थी।

प्रत्येक साहित्यकार ने अपने कुछ निश्चित मत एव सिद्धान्त होते हैं, जिनके लिए वह साहित्य रचता है। प्रत्येक समस्याओ को देखने और समझने तथा उनके मर्म को आत्मसात कर उन पर अपनी राय देने मे उसका एक विशिष्ट ढंग होता है, जो व्यक्तित्त्व की भिन्नता के अनुरूप प्रत्येक कलाकार मे अनेक स्तरो पर देखा-परखा जा सकता है। वस्तुत एक साहित्यकार का उद्देश्य ही उसके साहित्य को समझने का सर्वोत्तम साधन होता है। यही कारण है कि आधुनिक युग मे लगभग प्रत्येक साहित्यकार ने अपने साहित्यिक उद्देश्य को किन्हीं न किन्ही रूपो मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यो तो किसी भी कलाकार का साहित्यिक उद्देश्य उसके साहित्य मे ही खोजा जा सकता है, पर ये विचार अलग से भी लिखे जाते हैं, ताकि उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के भ्रम की कोई गुंजाइश न रहे।

प्रेमचंद प्रगतिशील कथाकार थे। वे साहित्य को बहुत ही आदर्श दृष्टि से देखते थे और उनके लिए साहित्य का मानव जीवन मे अत्यन्त उल्लेखनीय स्थान था वास्तव मे ईमानदारी और दायित्त्व निर्वाह की भावना प्रेमचद मे इतनी कूट २ कर भरी हुई थी कि उन्होने साहित्य को कभी हल्की दृष्टि से देखा ही नही। चूंकि वे साहित्य के क्षेत्र मे पुस्तको की पाठशाला से नही, वरन जीवन की पाठशाला से आए थे, अतः उनका साहित्यिक उद्देश्य निर्मित होने मे उनके जीवन के कटु अनुभवों, विषम

परिस्थितियो एवं अपने आस-पास के लोगो के विषम जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था।

प्रेमचंद अत्यन्त सुसंस्कृत एवं सामाजिक प्राणी थे। उनके जीवन में सुरुचियो का इतना आधिक्य हो गया था कि एक सीमा तक वे आदर्शवादी हो गए थे। उनकी इस विशेषताका भी उनके साहित्यिक उद्देश्य निर्मित होने मे अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है तीसरी प्रमुख बात यह है कि प्रेमचद का उदय साहित्य के क्षेत्र मे ऐसे समय में हुआ था, जब ऐयारी, तिलस्मी और जासूसी साहित्य की भरमार थी। देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि कथाकारो का ध्यान सुधारवादी प्रवृत्तियों के साथ २ कल्पनाशीलता एवं अतिशय मनोरंजन ही था। अत कथा साहित्य उस समय मदारियो का तमाशा बना हुआ था, उसमे अपने कोई प्राण न थे। हिंदी कथा साहित्य मे प्राणतत्त्व स्थापित करने का वास्तविक कार्य प्रेमचन्द ने ही किया, जिन्होने देर आयद दुरुस्त आयद वाली कहावत के अनुसार साहित्य को कल्पनाशील एवं ऐयारी-तिलस्मी जाल से निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। टाल्सटाय, चेखव और गोर्की आदि का साहित्य सामाजिक सन्दर्भों मे विकसित होकर उस समय विश्व के सभी भागो मे प्रगतिशील एवं सजग कथाकारो के लिए आदर्श बना हुआ था। प्रेमचन्द ने भी साहित्य को उन्ही आदर्शों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया, जिससे उसमे भी महती भावनाओ का समावेश हो सके।

साहित्य के सम्बन्ध मे एक स्थान पर उन्होने लिखा है, 'साहित्य की बहुत सी परिभाषाएं की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप मे हो, चाहे कहानियो के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।' इस कथन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने साहित्य को कितना महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। वे साहित्य को मात्र मनोरजन के लिए रचा जाना कभी पसन्द नही करते थे। साहित्य की महत्ता, सप्राणता, साथ ही वास्तविक सार्थकता वे इसी बात मे मानते थे कि साहित्य जीवन के साथ घनिष्ठतम रूप से सम्बद्ध रहे। साहित्य और जीवन के मध्य बढती खाई को वे साहित्य की मृत्यु ही समझते थे।

उपर्युक्त कथन से इस बात का भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि प्रेमचन्द कलावादी नही थे। वे कला-कला के लिए है इस बात मे विश्वास नही करते थे। हिन्दी कथा साहित्य मे वे पहले ऐसे कथाकार हैं, जिन्होने यह सिद्ध किया था कि कला जीवन के लिए है और कला की सार्थकता इसी मे है कि वह जीवन को यथार्थ ढग से अभिव्यक्त करे। इस सम्बन्ध मे उनका मत उल्लेखनीय है, साहित्य का आधार जीवन है। जीवन परमात्मा की सृष्टि है इसलिए अनन्त है। अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओ

से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामो के लिए जवाबदेह है या नही, हमे मालूम नही, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए कानून है, जिनसे वह इधर-उधर नही हो सकता। स्पष्ट है कि वे सोद्देश्यपूर्ण साहित्य को ही साहित्य की सज्ञा से अभिहित करना चाहते थे और अपने साहित्य की कसौटी उन्होने जीवन ही निर्धारित कर ली थी।

प्रेमचन्द साहित्य मे सुसम्कृतता एव सुरुचियो के हिमायती थे। एक तरफ तो उन्होने कहा है, जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवनपर्यन्त आनन्द ही की खोज मे पडा रहता है। किसी को वह रत्न-द्रव्य मे मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार मे, किसी को लम्बे चौडे भवन मे, किसी को ऐश्वर्य मे, लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊंचा है, इससे पवित्र है। उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव मे सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है। उसी आनन्द को उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द मे ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप भी हो सकता है, पर सत्य और सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखड है, अपार है। तो दूसरी ओर कहते हैं, जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हम मे शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य प्रेम न जागृत हो, जो हम मे सच्चा सकल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिये बेकार है वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नही। इसका अभिप्राय यही है कि अश्लील एव असम्कृत साहित्य के वे जबर्दस्त विरोधी थे। उन्होने साहित्य मे सत्य, शिव और सुन्दरम् की स्थापना करने की चेष्टा की, जिसमे उन्हे प्रचुर मात्रा मे सफलता भी प्राप्त हुई। साहित्य मे उच्छृखलता, मर्यादित परम्पराओ एव कुत्सित मनोवृत्तियो का उन्होने निरन्तर बहिष्कार किया है।

कुछ आलोचको का कहना है कि प्रेमचन्द रसवादी नही थे। उनका दावा है कि प्रेमचन्द साहित्य मे रसोपलब्धि नही होती। यदि प्रेमचन्द के उपन्यासो का दुराग्रहो से मुक्त होकर सूक्ष्म अन्तदृष्टि से अध्ययन किया जाए, तो यह दावा अपने आप झूठा सिद्ध हो जाता है। प्रेमचन्द ने एक स्थान पर साफ-साफ लिखा है कि साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नही, हृदय की वस्तु है। जहा ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहा साहित्य बाजी ले जाता है। इसे और भी स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है, केवल उपदेश की विधि मे अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्को और उपदेशो के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओ और भावो का क्षेत्र चुन लिया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य का उद्देश्य बौद्धिकता नही वरन् हृदय का स्पन्दन है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि गद्य

मे रस का शब्दश. वही अभिप्राय नही होता, जो काव्य मे होता है। हृदय को उद्वेलित करने की क्षमता, सोद्देश्यता के साथ मनोरजन कर सकने की क्षमता तथा प्रवाह, उत्सुकता एव कौतूहलता आदि गद्य में प्राप्त होने वाले रस से सम्बन्धित होते हैं। यह बात प्रेमचन्द ने भली-भाँति समझ ली थी और अपने साहित्य मे उन्होने इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। प्रेमचन्द तो साहित्य का यह उद्देश्य ही स्वीकारते थे कि वह हृदय को आलोडित करे और रस की अनिवार्यता की पूर्ति यह बात अपने आप कर देती है।

इसी सन्दर्भ मे प्रेमचन्द ने साहित्य मे व्याप्त सौन्दर्य बोध पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उनके अनुसार हमे सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढग की थी। हमारा कलाकार अमीरो का पल्ला पकडे रहना चाहता था, उन्ही की कद्रदानी पर उनका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्ही के सुख-दु ख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्त पुर और बंगलो की ओर उठती थी। झोपडे और खण्डहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि से बाहर समझता था। ..वह भी मनुष्य हैं, उसके भी हृदय है और उसमे भी आकाक्षाए हैं—वह कला की कल्पना के बाहर की बात थी। वास्तव मे प्रेमचन्द सौन्दर्य बोध की भावना के लिए समान स्तर आवश्यक समझते थे। वर्ग-वैषम्य एव आर्थिक विषमताओ मे भी वे दृष्टि की समानता के पक्षपाती थे और मानते थे कि विलासी जीवन अथवा आलीशान बगलो मे ऐश्वर्यशाली जीवन व्यतीत करने वाले लोगो मे ही सौन्दर्यबोध की कल्पना नही की जा सकती, वरन् बच्चो वाली उस निर्बल रूपहीन स्त्री में भी, जो बच्चे को खेत मेड पर सुलाए पसीना बहा रही है। उन्होने इस उपेक्षित वर्ग के सौन्दर्यबोध को ही अत्यधिक महत्ता प्रदान की और अपने साहित्य मे चित्रित किया। वे समझते थे कि हमे अपने साहित्य का मानदण्ड ऊचा करना होगा; जिससे वह समाज की अधिक सेवा कर सके; जिससे समाज मे उसे वह पद मिले, जिसका वह अधिकारी है।

जहा तक साहित्य और समाज का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द समाजवादी लेखक थे। वर्ग वैषम्य, आर्थिक शोषण एव बुर्जुआ मनोवृत्ति के बीच विकसित होने वाली पूंजीवादी सस्कृति के वे तीव्र विरोधी थे। वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण चाहते थे, जिसमे किसी भी व्यक्ति का शोषण न हो सके और विकास करने का सभी को समान अवसर मिल सके। वे अपने साहित्य की रचना का उद्देश्य यही समझते थे कि एक समाजवादी ताने-बाने पर आधारित समाज का ढाँचा तैयार हो सके। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना हैं। इसलिये मैं सामाजिक विकास मे विश्वास रखता हू। अच्छे तरीको के असफल होने पर ही

क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समाज का अवसर प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुचा जा सकता है, इसका निर्णय लोगो के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नही हैं, तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नही बढ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा यह सदेहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीन कर तानाशाही के घृणित रूप मे हमारे सामने आ खडा हो। मै शुद्धिकरण के पक्ष मे तो हू, उसे नष्ट करने के पक्ष मे नही। यदि मुझे विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वस से हमे स्वर्ग मिलेगा तो मैने ध्वस की भी चिन्ता नही की होती।

प्रेमचन्द प्रगतिशील मूल्यो के चित्रण के हिमायती थे। वे मान्ते थे कि श्रेष्ठ साहित्यिक प्रगतिशील ही होता है। इसे हम मार्क्सवादी विचारधारा भी कह सकते हैं, जिनमे प्रेमचन्द की गहन आस्था थी। वे इस रूप मे मार्क्सवादी नही थे, जिस रूप मे यशपाल हैं। उन्ही ने केवल कम्युनिस्ट सिद्धान्तो को फिट भर कर देने के लिए अपने उपन्यासो का ताना बाना नही सगुफित किया है। उन्होने मार्क्स के प्रगतिशील आदर्शों से अवश्य ही प्रेरणा ग्रहण की और अपने भारतीय समाज की कल्पना उन्ही आदर्शों के अनुरूप की। उन्होने लिखा है कि कम्यूनिज्म चाहे फैले, चाहे न फैले परन्तु एक आदर्श समाज का आधार बदल गया है। दूसरी दुनिया के बारे मे भारतवर्ष जैसा रूढिवादी देश विचारमग्न रह सकता है लेकिन सारा ससार समाजवाद की ओर बढ रहा है। समाजवादी का नास्तिकतावाद और बिना जन्म और परम्परा का विचार किए सबको समान अवसर देना सच्चे धर्म के अधिक निकट है। इस प्रकार वे परम्पराओ के रूढ अनुयायी नही थे। ऊपर कहा ही गया है कि वे प्रगतिशील कलाकार थे। उन्होने यदि जानबूझ कर परमम्पराओ को तोडने का प्रयत्न नही किया तो उन्होने आखे बन्द कर परम्पराओ का पालन भी नही किया। परम्पराओ से उन्होने वही बाते ग्रहण की, जो उनकी दृष्टि मे परिवर्तित परिस्थितियो एव समकालीन वातावरण मे प्रगतिशील एव उपयोगी थी। उन्होने प्रेम, विवाह एव धर्म के सम्बन्ध मे प्रगतिशील विचारो का ही अनुगमन किया है।

प्रेमचन्द सच्चे अर्थों मे मानवतावादी लेखक थे। उनके साहित्य मे मानव मूल्य और मर्यादा का चित्रण मिलता है। वे मानवतावादी दृष्टकोण को उस व्यापक परिवेश मे ही देखते थे, जहाँ तक कि इस दृष्टि का विस्तार है। वे इसकी सीमाएं मुहल्लों, गलियो, शहरो और तथाकथित अचलो मे बाँध कर नही देखते थे क्योकि मानवतावाद मनुष्य की दृष्टि से सम्बन्धित है और मनुष्य मनुष्य के विभाजन का यह आधार कदई नही हो सकता। जब कथा साहित्य मे मानवतावादी दृष्टिकोण की चर्चा उठाई जाती है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि मनुष्य केवल घृणा का

पात्र नही है और न वह ऊपर से नीचे तक अस्वस्थ ही है। मानवतावाद आस्था और भविष्य के प्रति आशावाद से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित है मानवतावाद इस बात को स्वीकारता है कि मनुष्य की सम्पूर्णतम इकाई ही उसका वास्तविक प्रतिमान है। यह ठीक है कि मनुष्यमात्र अच्छा-ही-अच्छा नही है। पर यह ठीक है कि मनुष्य सिर्फ बुरा-ही बुरा भी नही है। मनुष्य के मन मे आदर्श और पशुता के मध्य कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य है जो पूर्ण मानवीय है और वही मनुष्य को सौन्दर्यबोध प्रगतिशीलता, सामाजिक दायित्व के निर्वाह तथा नैतिकता आदि के पथ पर समग्र शक्ति से अग्रसर करती है। प्रेमचन्द ने इस मानवीयता को पहचानने मे अपनी पूर्ण सक्षमता का सफलतापूर्वक परिचय दिया और उसका उसी सफलता से चित्रण भी किया। वे मानते थे कि मनुष्य के विकास का केन्द्र-बिन्दु समाज है और सामाजिक परिवेश मे ही उसकी आस्थाए टूटती और बनती हैं। समाज से पलायन उसकी मृत्यु होती है। यह समझ लेना चाहिए कि वर्ग विभाजित होने के कारण समकालीन मनुष्य मे मनुष्यता के गुणो का पूर्ण विकास नही हो पाया है और हुआ भी है, तो वह कुठित और एकागी है। मनुष्य के आन्तरिक गुणो का सम्पूर्ण विकास वर्गहीन समाज मे ही सम्भव हो सकता है। प्रेमचन्द ने इस सत्यता को गहराई से समझा था और अपने कथा साहित्य मे मानवतावाद का प्रगतिशील चित्रण सरलता पूर्वक किया था।

प्रेमचन्द साहित्य मे आस्था के हिमायती थे। आस्था स मेरा अभिप्राय जीवन और भविष्य के प्रति लेखकीय विश्वास से ही है। खण्डित मानव कुण्ठाग्रस्त अथवा आस्थाहीनता के शिकार 'किताबी' मानवो से उनका कोई सम्बन्ध नही था उन्होने साहित्य को पूर्ण आस्थामय बनाने की चेष्टा की थी। घोर विषमताओ एव विपत्तियो मे भी कभी आस्थाहीनता की बात वे नही करते थे। यह बात वे स्वस्थ परम्पराओ एव प्रगतिशील मान्यताओ के विरुद्ध समझते थे। इस प्रकार प्रेमचन्द की साहित्य सम्बन्धी मान्यताए पूर्ण आधुनिक एव प्रगतिशील थी।

प्रेमचन्द की रचना परिस्थितियाँ

प्रेमचन्द ने जिस समय लिखना प्रारम्भ किया एक नया युग बन रहा था, जो वस्तुत सक्रान्ति का युग था। अनेक मान्यताएँ टूट रही थी। जीवन बहुत विषम हो गया था। ईसा की १८वी और १९वी शताब्दियो मे किस प्रकार उत्तर-मुगलकालीन अराजकतापूर्ण परिस्थितियो मे ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने व्यापारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर क्रमश अपनी दूरदर्शिता, कुशल नीति एवं परस्पर वैमनस्य का लाभ उठाकर अपना शासन स्थापित कर लिया। यह भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्वपूर्ण, साथ ही सामान्यत सर्वविदित घटना है कि उसका यहाँ विस्तृत विवरण करना न केवल पिष्टपेषण मात्र होगा, वरन् प्रस्तुत विषय की दृष्टि से अनावश्यक भी। जो बात हमारा ध्यान आकृष्ट करती है, वह यह है कि ईसा की १८वी-१९वीं

शताब्दियो मे मुगलो, सिक्खों, जाटों, मराठो आदि की भारतीय राजनीतिक शक्तियाँ आपस मे एकता स्थापित कर विदेशियो की बढती हुई शक्ति को रोकने में असमर्थ रहीं और देश मे एक ऐसी जाति का शासन स्थापित हुआ, जो अपने यहाँ की औद्योगिक क्रान्ति से प्रेरित आर्थिक एव साम्राज्यवादी नीति से प्रेरित थी। पिछले शासको की भाँति उसने भारतवर्ष को अपना घर नही बनाया था। फलतः देश राजनीतिक दृष्टि से ही पराधीन नही हुआ, वरन् आर्थिक दृष्टि से भी उसकी दशा दिन पर-दिन शोचनीय होती गई। भारतवासियो का १८५७ ई० का प्रयास विफल हो जाने के पश्चात् अग्रेजो की राजनीति और आर्थिक नीति खूब फली फूली। उसके पैर अच्छी तरह जम गए और देश मे एक ऐसी शासन प्रणाली का जन्म हुआ, जो अनेक अशो मे पिछली शासन-प्रणाली या परम्परागत भारतीय शासन प्रणाली से नितान्त भिन्न थी।

एक शासन व्यवस्था को समाप्त कर उसके स्थान पर दूसरी शासन व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् प्रत्येक दिशा मे परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भारत मे भी ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही भिन्न दिशाओ मे परिवर्तन एव नवीन व्यवस्था लक्षित हुई। यहा की विशृंखल शिक्षा व्यवस्था मे परिवर्तन, नवीन आविष्कारो का प्रचलन, समाचार पत्रो का प्रकाशन, नवीन आर्थिक संगठन आदि इसी शासन व्यवस्था मे परिवर्तन के परिणाम थे। पर इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि मे भारत की स्थिति सुदृढ करने अथवा भारत का निर्माण कर एक कल्याणकारी राष्ट्र का रूप प्रदान करने की भावना नही, वरन् स्वयं अपनी शासन व्यवस्था को सुदृढता प्रदान करने एव अपने निजी स्वार्थो को पूर्ण करने की भावना क्रियाशील थी। ब्रिटिश अधिकारियो पर शासन का जो महत्ती उत्तरदायित्व था, उसके सफल निर्वाह के लिए ही उन्होने प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन करने की योजना बनाई थी।

परिवर्तन की दिशा मे प्रथम चरण शिक्षा प्रणाली का पुनर्गठन था। मुगल शासन के पतन के पश्चात् देश मे कोई केन्द्रीय शासन सत्ता न थी। कम्पनी का शासन स्थापित होने और उसकी व्यवस्था सुदृढ होने मे अनेक वर्ष लग गए। इस बीच शिक्षा व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नही दिया जा सका। शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप चेतना के प्रसारण से अमरीका मे ब्रिटिश शासन समाप्त हो चुका था। ब्रिटिश अधिकारियो को भारत मे भी इस घटना की पुनरावृत्ति की आशका थी, अत शिक्षा का प्रसार उन्होने बहुत मथर गति से करना प्रारम्भ किया। उनकी शिक्षा प्रसार की यह भावना शासन व्यवस्था मे अधिकाधिक शिक्षित व्यक्तियो को स्थान देकर अपनी स्थिति सुदृढ करने की चिन्ता पर ही आधारित थी। ज्यो-ज्यो उनके प्रशासन का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था, इंगलैंड से शिक्षित व्यक्तियो को लाकर

उन्हे शासन व्यवस्था का भार सौंपना सम्भव न रह गया था। उच्च पदो पर और अन्य उत्तरदायी पदो पर तो उन्होने अग्रेजो को स्थान प्रदान किया था, पर उन्हे अधिक सख्या मे शिक्षित क्लर्क चाहिए थे। इसलिए उन्होने केवल क्लर्क पैदा करने की शिक्षा प्रणाली और अग्रेजी की पढाई पर ही विशेष बल दिया।

शिक्षा प्रसार मे ब्रिटिश अधिकारियो की उदासीनता के अतिरिक्त स्वय कट्टर भारतवासियो द्वारा शिक्षा प्रसार का विरोध भी भारत मे शिक्षा सम्बन्धी प्रगति मे बाधा स्वरूप उपस्थित हो रहा था। इसके कारण स्पष्ट थे। भारतीय समाज मे व्याप्त रूढियो को छिन्न भिन्न करना एव शताब्दियो से चली आ रही परम्पराओ को मिटाना सरल न था। इसमे प्रमुख कठिनाई यह भी थी कि यह कार्य उन विदेशियो द्वारा प्रारम्भ किया गया था, जिन्हे भारतीय कट्टरता अत्यन्त घृणित समझती थी और उनके प्रत्येक कार्य सन्देह एव आशका की दृष्टि से ही देखे जाते थे। पर मथर गति से ही सही, जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता गया, लोगो मे नवीन चेतना की लहर उठने लगी। उनमे यह विचार शीघ्र ही पनपने लगा कि इतने विशाल देश पर मुट्ठी भर विदेशियो को शासन करने का कोई अधिकार नही है। तब उन्हे अपने अतीत के गौरव, जीवन की गरिमा और अपने जन्म सिद्ध अधिकारो का स्मरण हुआ और वे तन-मन से स्वाधीनता आन्दोलन को अग्रसर करने मे लग गए। इस प्रकार नवीन शिक्षा प्रसार भारतीय दृष्टि से सौभाग्यशाली ही सिद्ध हुआ और ब्रिटिश दृष्टिकोण से दुर्भाग्यपूर्ण, क्योकि जिस भय की आशका से वे आक्रान्त थे, अन्ततोगत्वा वह आगे चलकर घटित होना प्रारम्भ ही हुआ।

नवीन शिक्षा के द्वारा देश मे जिस नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक चेतना का उदय हो रहा था, उसमे नवीन वैज्ञानिक आविष्कारो का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस दिशा मे भारत मे प्रेसो का आगमन, एक महत्वपूण घटना थी। शीघ्र ही विदेशो के महान् साहित्याकारो, चिंतको एव विचारको की श्रेष्ठ पुस्तको का अनुवाद भारत मे होने लगा। इससे लोगों मे पठन-पाठन की रुचि का भी प्रसार हुआ और चेतना के विकास के साथ ही भारतीय साहित्य की भी प्रगति हुई।

ब्रिटिश अधिकारियो की आर्थिक क्षेत्र में नीति यहाँ की अधिकाधिक सम्पदा लूटकर अपने देश मे ले जाने की थी। वास्तव मे यहाँ का धन-धान्य देख उनके मन में इस सीमा तक लोभ व्याप्त हो गया कि साधारण सी नैतिकता भी वे प्रदर्शित कर सके। थाम्सन और गैरेट ने अपनी प्रसिद्ध इतिहास पुस्तक मे भारत की सज्ञा एक ऐसे पेगोडा वृक्ष से दी है, जो उस समय तक बारम्बार हिलाया गया, जब तक कि वह पूर्णतया नष्ट नही हो गया। अग्रेजो के मस्तिष्क मे धन के प्रति इतना लोभ उत्पन्न हो गया था कि कार्टेज और पिजारो युग के स्पेनवासियों के समय से आज

तक कदाचित् उसकी पुनरावृत्ति नही हुई। यद्यपि धीरे-धीरे आर्थिक नीतियो मे परिवर्तन होता रहा, पर स्वाभाविक तौर पर इगलैंड के हितो को सर्वोपरि महत्व दिया गया। जो थोडा-बहुत सुधार हुआ भी, वह ब्रिटिश अधिकारियो के प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप ही हुआ। वे ही देश के शासक थे और सारा नियंत्रण भी उन्ही के हाथो मे था। उन्होने जरा भी नियंत्रण कम किया तो भारतवासियो ने औद्योगिक विकास का पूर्ण प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप उस प्रगति की गति कितनी भी मन्द क्यो न रही हो, धीरे-धीरे देश मे आर्थिक क्रान्ति की लहरें उमड रही थी और भारतीय आर्थिक विकास एव नवीन आर्थिक सगठन के प्रति प्रयत्नशील हो रहे थे, जिससे भारत के आर्थिक ढाँचे के इस परिवर्तन मे एक ऐसे मध्यवर्ग का जन्म हुआ, जिस पर अग्रेजी शिक्षा का सर्वाधिक प्रभाव था और भारत की दासता की शृखलाओ को छिन्न-भिन्न करने के लिये जो सर्वाधिक कटिबद्ध था।

नवीन शिक्षा तथा वैज्ञानिक आविष्कारो के फलस्वरूप भारत में जिस चौमुखी जागृति और नवीन चेतना का विकास हो रहा था, धार्मिक रूढियो का अतिक्रमण उसमे बाधा उपस्थित कर रहा था। भारत मे समाज और धर्म के मध्य वस्तुतः कोई विभाजन रेखा नही खीची जा सकती। यहाँ समाज का आधार धर्म ही है। परम्पराओ मे लोगो का इतना मोह था कि धार्मिक आडम्बरो मे विश्वास न रखते हुए भी वे उनका पालन करते आ रहे थे। अत इस कारण भी इस युग मे अनेक सुधारवादी आन्दोलनो का सूत्रपात हुआ और धीरे-धीरे धार्मिक रूढियो मे लोगो की आस्था कम होती गई। इसके पीछे कई तत्व क्रियाशील थे। पहली थी, पश्चिम की वह चुनौती, जो औद्योगिक क्रान्ति की भावना लेकर आई थी। इसमे मौलिकता का अश अत्यधिक था। भारतवासियो का अपना एक जीवन था और भौतिकता के पार्श्व मे वे अपने अन्दर आध्यात्मिकता का जो भाव सन्निहित रखते थे, वह अन्य देशो मे न था। अत पश्चिम की इस चुनौती को स्वीकार कर लेने मे उन्हे अपनी आत्मा की हत्या का भाव लक्षित हुआ। इससे पश्चिम के प्रति एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया का भाव उत्पन्न हुआ, जिसे पूर्व और पश्चिम का संघर्ष भी कहा गया। यह वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र का सघर्ष था। स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारत की तत्कालीन जीर्ण शीर्ण अवस्था मे आध्यात्मिकता का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ? भारत के शिक्षित वर्ग ने एक ओर तो पश्चिम के बढते हुए प्रभाव को देखा, तथा दूसरी ओर अपने देश मे सर्वत्र निविड अन्धकार की छाया व्याप्त देखी। नैराश्य एव दैन्य की उस विषम परिस्थिति मे उन्हे भारतीय सभ्यता एवं सस्कृति के लुप्त हो जाने की पूर्ण सम्भावना लक्षित हुई और इसकी कल्पनामात्र से ही वे चिंतित हो उठे। अत. इस अन्धकार को मिटाने के लिए उन्होने एक ऐसे भारतीय शास्त्र का स्वरूप निश्चित किया, जो भारतीय शिक्षित वर्ग को तो मान्य हो

ही, पश्चिम जगत भी उसे मान्यता प्रदान करे। अर्थात् धर्म का ऐसा रूप प्रतिष्ठित हो, जो रूढ पौराणिकता और आडम्बर विहीन हो। वह धर्म का स्वरूप उपनिषदो के धर्म मे खोजा गया, जो आज भी प्रचलित है। यह वही धर्म था, जिसे शकराचार्य ने बौद्धो को परास्त करने के लिए प्रयोग किया था। अत उस युग मे जो धार्मिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उसका एकमात्र उद्देश्य परम्परागत रूढियो को समाप्त कर धर्म का एक सर्वसम्मत स्वरूप उपस्थित करने का था, जो शिक्षित वर्ग के आडम्बरयुक्त, परम्परागत एव अनावश्यक रूप से कठिन होने के आरोपो से मुक्त हो।

उन्नीसवी शताब्दी का सर्वप्रथम धार्मिक सुधार आन्दोलन ब्रह्म समाज (१८२८) के नाम से विख्यात है। इसने बहु-विवाह, छुआछूत, तथा मूर्ति-पूजा आदि का प्रबल विरोध किया और वैदिक हिन्दू धर्म को अत्यन्त सरल, सम्पूर्ण और युक्ति सगत बताया। इसी समय एक दूसरे शक्तिशाली आन्दोलन का सूत्रपात १८७५ ई० स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२८-१८८३) के नेतृत्व मे हुआ। यह आन्दोलन आर्य समाज आन्दोलन था, जिसका हिन्दी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस आन्दोलन ने जाति-भेद, विधवा विवाह के प्रचलन और सम्मिलित खान-पान पर बल दिया। आर्यसमाज आन्दोलन आत्मिक शुद्धि पर अधिक बल देता था और लोगो मे स्वदेश प्रेम, आत्म गौरव, जातीय धर्म निष्ठा और परम्परागत रूढियो को समाप्त करने की भावना का सचार कर रहा था। वेदो के समय के पश्चात् अन्य जो बातें आर्य धर्म पर आरोपित की गई थी और जिनके परिणामस्वरूप वह आडम्बरयुक्त, कठिन और लोकप्रिय (शिक्षित वर्ग मे) हो रहा था, आर्य समाज आन्दोलन उनका निराकरण कर आर्य धम को ऐसा स्वरूप प्रदान करना चाहता था, जिससे वह हर दृष्टिकोण से प्रगतिशील, सरल एव आडम्बरहीन धर्म के रूप मे सभी वर्गो मे लोकप्रिय हो सके। उन्होने वेदो की नए ढग से व्याख्या प्रस्तुत की, तथा सत्य को ग्रहण करने और असत्य का त्याग करने, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि पर जोर दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियो के कल्याण के लिए भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। उन्नीसवी शताब्दी मे भारत मे नारियो की स्थिति शोचनीय थी। उन्हे सामाजिक और राजनीतिक सम्मान न प्राप्त थे। शिक्षा से वे वचित थी, उन्हे आर्थिक स्वतन्त्रता भी न प्राप्त थी और न उनकी स्थिति मे सुधार हेतु प्रयत्न की दिशा मे उत्साह ही था। स्वामी दयानन्द से पहले यद्यपि राजा राममोहन राय नारी उत्थान के प्रति अपनी आवाज उठा चुके थे और उन्ही की प्रेरणास्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, तथापि वह केवल एक महान् अनुष्ठान का प्रारम्भ मात्र था, उस अन्यतम लक्ष्य की प्राप्ति की शिक्षा में यथेष्ट कार्य करना अभी शेष था। स्वामी दयानन्द ने पुन. पूर्ण शक्ति से नारियो की स्थिति मे सुधार लाने और नारी शिक्षा की आवश्यकता

पर बल दिया। आर्य समाज आन्दोलन ने नारियो के कल्याण के लिए अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। विधवा विवाह का प्रचलन तो उसने किया ही, विधवा आश्रमो की स्थापना का भी प्रयत्न किया। उस समय नारी शिक्षा की ओर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता था और लडकियो की उच्च शिक्षा तो हिन्दू समाज मे एक अप्रत्याशित बात समझी जाती थी। आर्य समाज आन्दोलन ने ही हिन्दू समाज की इस भ्रान्ति का निराकरण कर नारी शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार किया और उसी का परिणाम था कि धीरे-धीरे नारी शिक्षा का प्रसारण होने लगा और लडकियाँ ऊची शिक्षा प्राप्त करने के लिए कालेजो और विश्वविद्यालयो मे प्रवेश पाने लगी। आर्य समाज आन्दोलन ने प्रेमचन्द साहित्य को घनिष्ठतम रूप मे प्रभावित किया है।

इस युग की राजनीतिक स्थिति यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। साथ ही स्वाधीनता प्राप्ति का आन्दोलन भी धीरे-धीरे जड पकड रहा था। राजनीति के क्षेत्र मे गाधी जी का अभ्युदय इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना थी। आगे चलकर गाधी जी ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व, प्रगतिशील विचारधारा एव उत्कृष्ट कोटि के जीवन दर्शन के साथ अपनी अहिंसात्मक नीति से एक ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया, जिससे एक समूचा युग ही गाधी युग के नाम से प्रख्यात हुआ। सन् १९१४ मे यूरोपीय महायुद्ध मे अग्रेजो और मित्र राष्ट्रो ने युद्ध का उद्देश्य जनतन्त्र, स्वतन्त्रता एवं जन अधिकारो की पुणरूपेण रक्षा घोषित किया। इस समय भारत मे अग्रेजो की सकटापन्न स्थिति थी। अत उन्होने कुशल राजनीति से युद्ध मे सहयोग देने के बदले पूर्ण भारतीय स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया। महात्मा गाँधी ने भारतीय जनता से ब्रिटिश शासन को सहयोग देने को कहा और परिणाम हुआ कि भारत मे अग्रेजो की स्थिति सुरक्षित रही। पर बाद मे अग्रेजो द्वारा अपने आश्वासन को न पूर्ण करने के कारण जन-जीवन मे अत्यधिक क्षुब्धता की वृद्धि हुई, तथा स्वाधीनता आन्दोलन और भी तेजी से चलने लगा। १९१९ में पजाब में सर माइकेल ओ डायर की कठोर नीति और सैनिक शासन की निर्दयता के फलस्वरूप अमृतसर का भयकर रोमाचकारी हत्याकाण्ड हुआ, इससे जनता मे असतोष की जबर्दस्त लहर व्याप्त हुई। इसके परिणामस्वरूप महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अग्रेजों द्वारा प्रदान की गई 'सर' की उपाधि उन्हें वापस कर दी।

सितम्बर, १९२० से असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। कांग्रेस के नेताओं मे आपस मे मतभेद हो गया था। देशबधु चितरजनदास और प० मोती लाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी नाम से काँग्रेस सगठन के अन्तर्गत ही एक अलग दल का निर्माण किया। दल धारा सभाओ और कौंसिलों मे जाकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा सघर्ष करना अधिक उपयोगी समझता था। उधर जनता

मे साम्प्रदायिक भावना भी तेजी से बढ रही थी । मुस्लिम लीग का निर्माण हो चुका था और उसके नेता अपने अलग राष्ट्रनिर्माण का स्वप्न देखने लगे थे । यह साम्प्रदायिक वैमनस्य उस समय और भी चरम सीमा पर पहुच गया, जब १९२४ मे दगो से दु खी होकर महात्मा गाधी ने २१ दिन का अनशन किया और सन् १९२६ मे शुद्धि आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी श्रद्धानन्द की एक धर्मान्ध मुसलमान द्वारा हत्या कर डाली गई। १९२८ मे ही हिन्दू महासभा के अन्तर्गत महामना प० मदन मोहन मालवीय तथा लाला लाजपत राय सदृश नेताओ ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। १९३६-३७ मे निर्वाचन हुए और प्राय सभी निर्वाचन क्षेत्रो से काग्रेस बहुमत की सख्या मे चुनी गई। पर प्रान्तो मे गवर्नरो को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे और उनके अन्तर्गत काग्रेस ने मन्त्री मण्डल बनाने से अस्वीकार कर दिया । बाद मे वायसराय लार्ड लिनलिथगो के आश्वासन से काग्रेस ने अपना मन्त्रीमण्डल बनाया।

इस प्रकार गाधी जी के नेतृत्व मे राजनीतिक चेतना के साथ भारतवासियों मे आत्मविश्वास भी प्रकट हुआ। वे अब निडर-से हो गए थे । गाधी जी की यह बहुत बडी सफलता थी। यह राजनीतिक चेतना केवल नगरो तक ही सीमित न होकर गावो तक विस्तृत हो गई थी जो कार्य तिलक आदि नेता कर सकने मे असफल रहे थे, वही गाधी जी ने सम्भव कर दिखाया था। इस समय मुसलमान गाधी जी के साथ थे। अली बधु (मौलाना मुहम्मद अली तथा शौकत अली) का दृष्टिकोण प्राय साम्प्रदायिक था। अग्रेजो ने खलीफा का पद टर्की मे तोड दिया था, जिसकी प्रतिक्रिया भारत मे भी हुई। परिणामस्वरूप खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । इस काल का स्वाधीनता सघर्ष रूपी राज्य क्रान्ति से भी प्रभावित रहा । इसके अतिरिक्त आयरलैण्ड का उदाहरण भी भारत के सम्मुख आया। डी० लेवरा तथा उनकी पार्टी के माध्यम से वहा तीव्र आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, इससे भारतीयो को यथेष्ट मात्रा मे प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त जो नवयुवक राजनीति में भाग ले रहे थे, उन लोगो ने अपनी अलग-अलग आतकवादी पार्टिया सगठित कर रखी थी। ये लोग अहिंसा मे अपना अविश्वास प्रकट करते थे । क्रान्तिकारी कार्यों, विस्फोट, अराजकता फैलाने आदि से ब्रिटिश सामाज्य की नीव हिला देना चाहते थे ।

यही वे परिस्थितियां थी, जिनमें कथाकार प्रमचन्द का उदय हुआ था । उन्होने एक सजग 'ईमानदार और प्रगतिशील कथाकार होने के नाते इन परिस्थितियों को अपनी दृष्टि से ओझल नही किया, वरन् पूर्ण कलात्मकता से उन्हे अपने उपन्यासो मे चित्रित करने का प्रयत्न किया । ऊपर जिन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक एव आर्थिक परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है, वे सभी अपने यथार्थ

रूप मे प्रेमचन्द के लगभग सभी उपन्यासो मे प्राप्त होती हैं । वास्तव मे प्रेमचन्द उन कथाकारो मे थे, जो यह विश्वास करते थे कि व्यक्ति एक सामाजिक इकाई है। वह समाज की सीमाओ की भीतर ही बनता और बिगडता है । समाज की सत्ता सर्वोपरि होती है । इसलिए प्रेमचन्द ने समाज की ज्वलन्त समस्याओ की कभी उपेक्षा नही की, और न कभी उन्हें अविश्वसनीय ढग से चित्रित किया ।

अपने काल की परिस्थितियो का प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अध्ययन किया, उनके मूल तत्वो का अन्वेषण किया और प्रगतिशील मूल्यो की स्थापना करते हुए सामयिक सत्यो का चित्रण किया । यह एक ऐसी विशेष बात है, जिसका प्रेमचन्द साहित्य का अध्ययन करते समय ध्यान मे रखना अत्यन्त-आवश्यक है ।

जब कहानियो मे इन समस्याओ के चित्रण की ओर हमारी दृष्टि जाती है, तो हमे उतनी निराशा नही होती, जितनी पिछले युग मे हुई थी । इस युग मे प्रेमचन्द ने साहित्य क्षेत्र मे पदार्पण किया था और उन्होने कहानियो की एक नई दिशा प्रदान की कल्पना लोक से निकाल कर उसे यथार्थ की कठोर भूमि पर ला खडा किया और इस प्रकार प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानियो को प्रगति की ओर मोडा । स्वय प्रेमचन्द ने ही अपनी सभी कहानियो मे इस युग की सभी समस्याओ का चित्रण कर उनका समाधान प्रस्तुत किया है । शोषक और शोषित वर्ग के परस्पर सघर्ष, पूजीवाद के दमन-चक्र, नए धर्म का स्वरूप और प्रगतिशील समाज की रचना के सुझावो से उनकी कहानिया भरी पडी है । हिन्दी कहानी साहित्य को वास्तविक रूप देने का श्रेय प्रेमचन्द को है । हिन्दी कहानियो की पहले से कोई निश्चित परम्परा न थी । उन्होने ही परम्परा का निर्माण किया और स्वय एक उल्लेखनीय स्थान के अधिकारी बने । प्रेमचन्द ने जीवन की यथार्थता को अपनी कहानियो मे अधिक व्यापक बना है ; नीति के साथ कला का सम्बन्ध स्थापित किया है । इसके अतिरिक्त व्यक्ति की सवेदनाओ का, विवशताओ का विश्लेषण भी किया है । उसकी आर्थिक विशेषताओ का अनुशीलन किया है और उनके समाधान के लिए समाज की विकृत व्यवस्थाओ पर कुठाराघात किया है । उनके प्रति पीडित व्यक्ति के मन मे प्रतिक्रिया भी उत्पन्न की है। जिन सामाजिक व्यवस्थाओ ने व्यक्ति के जीवन को पँगु, असमर्थ; शक्ति हीन बना रखा है। उनके दोषों का अध्ययन करके उनको अपनी कहानियो के माध्यम से पीड़ित जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है । व्यक्ति की असहायावस्था का निदान करते हुए उन्होंने सामायिक, राजनीतिक, आर्थिक; सास्कृतिक, धार्मिक; सामाजिक परिस्थितियो का अन्वेषण विश्लेषण किया है । समाज के माध्यम से वाह्य उपकरणो की सहायता से व्यक्ति की दुर्दशा का; करुणाजनक स्थिति का पर्यालोचन किया है । उसे परिवार में, बिरादरी मे , गांव मे , नगर में; आन्दोलन मे; सभाओ-उत्सवो मे; सत्याग्रहो मे

विचरना ; नाना प्रकार के क्रिया-कलापो को करना चित्रित किया है, जिससे कि पाठक व्यक्ति की समस्यो का परिचय प्राप्त कर सके।

व्यक्ति के अन्तस्तल मे व्याप्त दुर्बलताए भी इनकी आंखो मे नही बच सकी है। हाँ यह दुर्बलता विवशता का रूप धारण करके ही उनके सामने आई है।' एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि यदि चन्द से लेकर प्रेमचन्द तक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो विषयवस्तु और रूपविधानो, साहित्य के आलम्बनो और उपकरणो का विस्तृत अध्ययन किया जाय, तो प्रेमचन्द का कृतित्व कई बातो मे असाधारण और क्रान्तिकारी प्रतीत होगा। प्रेमचन्द से पूर्व अधिकांश हिन्दी साहित्य के सस्कार, आलम्बन चाहे योद्धा हो या विलासी, चाहे धार्मिक हो या भक्त, और चाहे ईश्वर हो या देवता-सबका जीवन व्यापार आदर्श और मर्यादाए सामन्ती उच्च वर्ग के विभिन्न स्तरो से ग्रस्त है, उनमे देशकाल के व्यवधानो से कुछ रूप-भेद हो सकते हैं, किन्तु सामान्य जनता कृषक और श्रमिको को काव्य का आलम्बन नही चुना गया उनके जीवन व्यापार से साहित्य मे सजीवता नही पैदा हुई। तुलसी और सूर के काव्यो मे जो लोक-जीवन की छाया मिलती भी है, तो वह सामन्ती आदर्शों को उभार कर सामने लाने के लिए शृगारिक उपकरण के रूप मे या चमत्कार पैदा करने वाली विरोधी पृष्ठभूमि के रूप मे। किन्तु प्रेमचन्द ने युग जीवन से प्रेरणा लेकर सामान्य जनता और किसानो के देहाती जीवन को अपने साहित्य का आलम्बन बनाया, उन्होंने भारत की अस्सी प्रतिशत जनता की मूक वाणी को अपनी रचनाओ मे मुखरित किया। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे यह एकदम नया क्रातिकारी कदम था।

प्रेमचन्द की कहानियो मे प्रगतिशीलता के तत्व गहन रूप मे अन्तर्निहित हैं। उनकी प्रगतिशीलता आरोपित नही थी। वे कला के प्रत्येक स्तर पर प्रगतिशील थे और केवल प्रगतिशील मूल्यो के चित्रण के हिमायती थे, वे स्वीकारते थे कि श्रेष्ठ साहित्य प्रगतिशील ही होता है। इसे हम मार्क्सवादी विचारधारा भी कह सकते हैं, जिसमे प्रेमचन्द की गहन आस्था थी। पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि वे उस रूप मे मार्क्सवादी नही थे, जिस रूप मे यशपाल हैं। उन्होने केवल मार्क्सवादी सिद्धान्तो को फिर भर देने के लिए अपनी कहानियो का ताना बाना मगुफित नही किया। उन्होने मार्क्स के प्रगतिशील आदर्शो से अवश्य ही प्रेरणा ग्रहण की है और अपने भारतीय समाज की कल्पना उन्ही आदर्शो के अनुरूप की। उन्होने लिखा है कि कम्यूनिज्म चाहे फैले, चाहे न फैले, परन्तु एक आदर्श समाज का आधार बदल गया है। दूसरी दुनियाँ के बारे मे भारतवर्ष जैसा रूढिवादी देश विचारमग्न रह सकता है लेकिन सारा ससार समाजवाद की ओर बढ रहा है। समाजवादी का नास्तिकतावाद और बिना जन्म और परम्परा का विचार किए सबको समान अवसर देना सच्चे धर्म के अधिक निकट है। इस प्रकार वे परम्पराओ के रूढ़ अनुयाई

नही थे। ऊपर कहा गया है कि वे प्रगतिशील कलाकार थे। उन्होंने जानबूझकर यदि परम्पराग्रो के तोडने का प्रयत्न नही किया तो उन्होने आँखे बन्द कर परम्पराग्रो का पालन भी नही किया। परम्पराग्रो से उन्होने वही बातें ग्रहण की, जो उनकी दृष्टि मे परिवर्तित एव समकालीन वातावरण मे प्रगतिशील एव उपयोगी थी, उन्होने प्रेम, विवाह एव धर्म के सम्बन्ध मे प्रगतिशील विचारो का ही अनुमान किया है। उनका विचार था कि हमारे पथ मे अहवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमे जडता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिये न व्यक्ति-रूप मे उपयोगी है और न समुदाय रूप मे, क्योकि साहित्य की प्रवृत्ति अहवाद या व्यक्तिवाद तक परमित नही रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नही देखता, किन्तु उसे समाज के एक अग रूप मे देखता है।

प्रेमचन्द और गाँधीवाद

वे समझते थे कि हम तो समाज का झण्डा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। इसी को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियों मे है जिस काम से मनुष्य समाज को क्षति पहुचती है, वह पाप है। जिससे उपकार होता है, वह पुण्य है सामाजिक उपकार या अपकार से परे हमारे किसी कार्य का कोई महत्व नही है और मानव जीवन का इतिहास आदि से इसी सामाजिक उपकार की मर्यादा बावता चला आया है। भिन्न-भिन्न समाजो और श्रेणियो में यह मर्यादा भी भिन्न है। प्रेमचन्द इस प्रकार अपनी कहानियों मे [1] किसी भी स्तर पर सामाजिक सोद्देश्यता और मानव-मूल्यो को नकारने को तैयार नही थे। 'प्रेमचन्द के सामाजिक ध्येय के मूल में उनका सुधारवादी दृष्टिकोण है, जो उनकी युग चेतना की देन है, वह अपने युग के साथ-साथ चले। उनका युग राष्ट्रीय जागरण के पूर्ण प्रस्फुटन का युग था। उस ऐतिहासिक युग मे समस्त सामाजिक एव राजनीतिक आन्दोलनो का प्रवर्त्तन मध्य वर्ग के द्वारा हुआ। मध्य वर्ग, जो समाज का शिक्षित वर्ग था सामाजिक कुरीतियों का निराकरण करने तथा राजनीतिक दासता के लिए अभिशाप को ध्वस्त करने के लिए कर्मशील था। नई समाज-व्यवस्था की प्रतिष्ठा के लिए यह वर्ग क्रान्ति की अपेक्षा सामाजिक विकास अथवा सुधार के पथ को अपनाने स्वानुभूति के स्तर पर लाकर ही प्रस्तुत किया गया है, जिससे वह उनकी कहानियो

१. प्रेमचन्द की 'कफन', 'सुजान-भगत' 'पच-परमेश्वर', 'ईदगाह', 'पूस की रात', 'मनोवृत्ति', 'बडे भाई साहब', 'शान्ति', 'दो बहनें', बड़े घर की बेटी' आदि अनेक कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

के पक्ष में था। इस मध्यवर्ग का सदस्य होने के नाते प्रेमचन्द के सस्कार तथा उनकी जीवन दृष्टि सुधारवादी एव समाजपरक है। उनकी कला की मूल प्रेरणा वस्तु संगठन अथवा चरित्र निरूपण न होकर सुधार है। साहित्य के दो उद्देश्य स्वीकार किए जाते हैं—एक जीवन की व्याख्या करना और दूसरा जीवन को परिवर्तित करना, सुधारवादी होने के कारण प्रेमचन्द जीवन को बदलने का अधिक आग्रह करते हैं। वह साहित्य के दर्पण मात्र न समझ कर दीपक रूप मे देखने के पक्ष मे है, जो जीवन पथ को आलोकित करे। जो कला जन-जीवन को नव प्रेरणा देने मे अक्षम हैं, वह चिरन्तन सौन्दर्य की निष्प्राण प्रतिमा की तरह व्यर्थ रहती है। प्रेमचन्द उस विकासशील मध्यवर्ग के व्यक्ति थे, जो उपयोगिता पर आधारित नैतिकता को प्रश्रय देने मे आस्था रखता था। उन्होने नैतिकता के एक विशेष स्तर की स्थापना की। कला को सामाजिक उपयोगिता की तुला पर तोलते हुये वह मनोरजन के साथ मन के सस्कार को भी साहित्य का ध्येय मानते है। उनकी दृष्टि मे व्यक्ति का परिष्कार समाज के सुधार द्वारा ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार प्रेमचन्द मे मध्यवर्ग की सुधारवादी एव आदर्शवादी विचारधारा, जिसे समग्र रूप मे गाधीवादी चिन्तन की भी सज्ञा दी जाती है, अपनी समस्त सीमाओ के साथ विद्यमान है, इस प्रकार प्रेमचन्द विराट एव व्यापक परिवेश मे साहित्य को सम्बद्ध करके विस्तृत पृष्ठभूमि पर मानव एव समाज का उसके पूर्ण रूप मे चित्रण करने के पक्षपाती थे। वे सच्चे अर्थो मे गाँधीवादी थे और उनकी कहानियो मे गाँधीवादी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतया उभरी हैं। चाहे 'सुजान भगत' को ले लीजिए, चाहे 'पच-परमेश्वर' को ले लीजिये, 'ईदगाह' को ले लीजिये, चाहे 'बैंक का दीवाला' कहानी ले लीजिये, सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम, सहानुभूति, हिन्दू मुस्लिम एकता, वर्ग-वैषम्य के स्थान पर समाजवाद का स्थापना और जीवन मे मूल्य मर्यादा की रक्षा का ही सदेश देते वे प्रतीत होते हैं।

प्रेमचन्द का यह गाँधीवाद आरोपित नही है, वरन् वह प्रेमचन्द द्वारा स्वानुभूति के स्तर पर लाकर ही प्रस्तुत किया गया है, जिससे वह उनकी कहानियो की आत्मा बनकर ही उभरता है। अपनी कहानियो के माध्यम से प्रेमचन्द ने मनुष्य को मनुष्य से घृणा नही, प्रेम करने की प्रेरणा दी है। उन्होने किसी भी मनुष्य को मात्र बुरा नही स्वीकारा है। उन्होने उसे विशेषताओ एव विकृतियो का समन्वित रूप ही स्वीकारा है और उसकी कुप्रवृत्तियों का निराकरण कर उसके हृदय परिवर्तन की विराट सम्भावनाओ के प्रति अपनी गहन आस्था प्रकट की है। उनकी कहानियाँ हृदय परिवर्तन की भावना से पूरित हैं। उन सभी मे सत्पात्र [सुजान-भगत, पच परमेश्वर, ईदगाह, आत्माराम, शान्ति आदि कहानियो के प्रधान पात्र] जितने ऊंचे हैं, और भी ऊचे उठते हैं और जो कुपात्र हैं, वे अपना हृदय परिवर्तन कर सत्पात्र बनने की प्रेरणा एव प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं। उन्होने गांधी जी के समान अपनी कहानियो मे मनोबल को ऊचा उठाने की दिशायें आत्म-विश्वास, आस्था एव सकल्प

की भावना को मुखरित किया है। उन्होने सत्य एव न्याय की विजय पर विश्वास प्रकट किया है। प्रेमचन्द युग मे एक नए मध्यवर्ग का उदय हो रहा था, जो नवीन और पुरातन जीवनादर्शों की संक्राति की अवस्था से गुजर रहा था। प्रेमचन्द ने इस संस्क्राँति का, जिसका सम्बन्ध पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियो से था, यथार्थ रूप मे चित्रण किया है। यह मध्य वर्ग परिस्थितियो के अनुसार मुख्य बुद्धि जीवी वर्ग के रूप मे विकसित हो रहा था। 'इस वर्ग की मनोरचना का कोई निश्चित स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता, वरन् इसमें अनेक रूपता लक्षित होती है। मानसिक गठन के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी मध्यवर्ग मे अनेक रूपता के लक्षण विद्यमान हैं। इस श्रेणी की विस्तृत परिधि मे अनेक आर्थिक स्तरो के व्यक्ति समा जाते हैं। कोई भी सामाजिक वर्ग पूर्णतया एक रूप नहीं होता; किन्तु मध्यवित्तीय समाज मे किसी निश्चित स्तर का अभाव विशेष रूप से दृष्टव्य है, एक ओर तो इस श्रेणी के लोग प्राय निम्न वर्ग के छोर का स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर अभिजातवर्ग की महत्वाकाँक्षाओ से प्रेरित हैं। इस प्रकार मानसिक तथा आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग त्रिशकु स्थिति से आक्रान्त है, कुल की तथाकथित मर्यादा अथवा सम्मान-भावना मध्यवर्ग के विकास मे सबसे बड़ी बाधा है। यह समस्या उच्च एव निम्नवर्ग मे अपेक्षाकृत कम है। यह कुल-प्रतिष्ठा स्वय मे कोई महत्व नही रखती, सामाजिक सम्बन्धो मे इसका स्वरूप निर्दिष्ट होता है और सामाजिक सम्बन्धो का निर्धारण प्राय अर्थ की दृष्टि से किया जाता है: अभिजातवर्ग तक पहुचने की इस वर्ग की कामना आर्थिक अभावो के कारण कुंठित हो जाती हैं। फलत मध्यवर्गीय परिवारो मे आत्म-प्रदर्शन अथवा आडम्बर-प्रियता की प्रवृत्ति के प्रदर्शन होते हैं। इस प्रकार कौटुम्बिक एव समाजिक मर्यादा और आर्थिक अनिश्चितता के दो पाटो के बीच यह वर्ग निरन्तर पिसता रहता है। इसके परिणामस्वरूप इस वर्ग मे सर्वाधिक असन्तोष की भावना व्याप्त है। आत्म-निर्भरता के अभाव मे मध्यवर्ग के सकल्प प्राय चरितार्थ नही हो पाते। जो बहुधा विरोधी शक्तियो से समझौता करने को बाध्य होने पडता है। उसमे सघर्ष के स्थान पर समझौते की, क्राँति की अपेक्षा सुधार की प्रवृत्ति निहित रहती है। सैद्धान्तिक रूप से सम्पन्न होते हुए भी वह विवशतावश सक्रिय रूप से किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन का परिचालन करने में प्रायः असमर्थ रहता है। समझौते की भावना मध्यवर्गीय समाज के मानस मे विशेष रूप से परिलक्षित होती है।' प्रेमचन्द ने इस मध्यवर्ग को अपने साहित्य मे पूर्ण कलागत ईमानदारी से चित्रित किया है। उन्होने इस मध्यवर्ग के बहु-विधिय पक्षो का चित्रण विराट परिवेश मे पूर्ण सामाजिक चेतना से किया है। उन्होने यह चित्रण ऊपरी सतह से ही नही किया है, वरन् उन्हें स्वानुभूति के स्तर पर लाकर पूर्ण हार्दिक सवेदना से किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि मध्यवर्ग की समस्याओं के समाधान की कितनी उत्कट प्यास उनमे थी।

प्रेमचन्द और आदर्शवाद

हिन्दी कहानी के क्षेत्र मे प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही परिवर्तन की नई दिशाए लक्षित हुई और आशापूर्ण सभावनाओ का सूत्रपात हुआ। इस काल में शैली एव शिल्प तथा विषयवस्तु आदि की दृष्टि से परिवर्तन नही हुआ वरन् पात्रो एवं उनके चरित्र-चित्रण के ढग मे भी परिवर्तन हुए। पिछले काल मे भी यथार्थवाद का कही नाम नही था। पात्र या तो पूर्णतया कल्पित होते थे और यदि जीवन के किसी क्षेत्र के लिए भी जाते थे, तो उन पर सुधारवादिता की झोक मे आदर्शवाद का इतना गहन मुलम्मा चढा दिया जाता था कि वे पूर्णतया अस्वाभाविक से प्रतीत होने लगते थे, उनकी आत्मा मर जाती थी और उनकी सप्राणता समाप्त हो जाती थी। यही कारण था कि जीवन और जगत से दूर होने के कारण वे पात्र समाज पर उतना प्रभाव डालने मे असमर्थ रहते थे, जितना कि तत्कालीन कहानीकार समझते थे, या उनका उद्देश्य था, पर प्रेमचन्द काल मे ऐसी बात न रह सकी। ऐसी बात नही है कि इस काल के कहानीकारो ने सुधारवादी दृष्टिकोण का तिरस्कार कर दिया हो या उसे अस्वीकृत कर दिया हो। इस काल के कहानीकारो का भी दृष्टिकोण आदर्शवादी ही था और उन्होने भी अपना उद्देश्य सुधारवादी ही बना रखा था। पर उन्होंने एक काल्पनिक ससार की सृष्टि न कर कहानियो का सम्बन्ध प्रत्यक्षत. मानव जीवन से सम्बद्ध कर दिया और यथार्थवाद के प्रति भी अपना आग्रह प्रकट करने लगे।' प्रेमचद आदर्श एव यथार्थ का समन्वय आवश्यक समझते थे, जिसे उन्होने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की सज्ञा दी है, पर यदि प्रेमचन्द की कहानियो का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय 'तो यह समन्वय कही भी सन्तुलित रूप मे नही मिलता। वस्तुतः प्रेमचन्द एक आदर्शवादी कलाकार थे। उनका यथार्थवाद यही तक सीमित है कि उन्होने जीवन की सच्चाई को भोगा था और उसे स्वाभाविक ढग से रखने का प्रयास किया था। हालाँकि स्वय उनका यह प्रयास भी आदर्शवादी ही था। आदर्शवाद उनकी मनःस्थिति पर इतने गहरे रूप मे छाया था कि अपनी अन्तिमकाल की 'कफन', पूस की रात तथा 'नशा' आदि कहानियो मे भी इसका तिरस्कार न कर सके। इसलिये कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को ही अपनी कहानियो मे प्रतिष्ठापित किया, हा अन्तिम दौर की कुछ कहानियो मे वह अधिक सन्तुलित रूप में प्राप्त होता है।

प्रेमचन्द और यथार्थवाद

प्रेमचन्द, जैसा कि स्पष्ट है, साहित्य के क्षेत्र में पुस्तको की पाठशाला से न आकर जीवन की पाठशाला से आये थे। उन्होने अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अपने युग की सभी समस्याओ और उसके विविध पक्षो को अच्छी तरह से समझा था, किन्तु उन्होंने अपने युग और समाज को पूर्ण यथार्थवादी दृष्टि से नही देखा था, उनमें तटस्थता एव निर्वैयक्तिकता का आभा परिलक्षित होता है। उन्होंने समाज की

विशेषताओ को भी देखा था और उसकी विकृतियो को भी अच्छी तरह से देखा था, पर इसमे उस सतुलित दृष्टि एव नि.संगता का अभाव मिलता है, जो यथार्थवादी कहानीकार के लिये आवश्यक होती है। प्रेमचन्द के इस दृष्टिकोण के कारणो को खोजते हुये कुछ आलोचको ने उन्हे आदर्शवादी कहा है, औरो ने व्यावहारिक आदर्शवादी और कुछ ने सुधारवादी पर वे अपने आपको आदर्शोन्मुख यथार्थवादी स्वीकारते हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन करते हैं। फिर भी इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के बावजूद वे समाज का जो रूप और व्यक्ति का जो चरित्र प्रस्तुत करते हैं, उन्हे प्रस्तुत करने का ढग यथार्थवादी है। भाषा और शैली निरीक्षण एव विवेचन की दृष्टि से वे निश्चित ही यथार्थवादी हैं। परिस्थितियो एव पात्रो को आँख के सामने उपस्थित कर देने मे हिन्दी के बहुत कलाकार प्रेमचन्द के निकट पहुँच सके हैं वे पात्रो के वाह्य रूप का ही नहीं, उनके हर शब्द का, उनके हर मनोभाव का जो सूक्ष्म मनोविश्लेषण करते हैं, वह वे यथार्थवाद ढग से ही करते हैं,

"सावन का महीना था : चारो ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बटाई पर दे दिये थे, बुद्धू प्रायश्चित से निवृत्त हो गया था, और उसके साथ ही मामा के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता और किसलिये जलता ?

सब की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब वेलदारी का काम करता था। शहर मे एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारो मजदूर काम करते थे। झींगुर भी उन्ही में था। सातवे दिन मजदूरी के पैसे लेकर घर आता और रात-भर रहकर सबेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मजदूरी की टोह मे यही पहुचा। जमादार ने देखा दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे न हो सकेगा, कारीगरो को गारा देने के लिये रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रखे गारा लेने लगा, तो झींगुर को देखा। राम-राम हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू ने उठा लिया। दिन भर दोनो चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

सन्ध्या समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे ?

बुद्धू—नही तो खाऊ गा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबैना कर लेता हू। इस जून सत्तू पर काट देता हू। कौन झझट करे।

बुद्धू—इधर-उधर लकडियाँ पडी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हू। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बडा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हू। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नही; इसलिए

तुम्हीं रोटियाँ सेको, मैं बिला दूँगा

झींगुर—तवा भी तो नही है।

बुद्धू—तवे बहुत है। यही गारे का तसला माँजे लेता हू।

आग जली, आटा गूँथा गया। झींगुर ने कच्ची पक्की रोटियाँ बनायी। बुद्धू पानी लाया। दोनो ने लाल मिर्च और नमक से रोटिया खायी। फिर चिलम भरी गई। दोनो आदमी पत्थर की सिलो पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।

झींगुर ने विनोद से कहा—जानता हू।

थोडी देर के बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थीं और हरिहर ने उसे कुछ खिला पिला दिया था।

बुद्धू ने वैसे ही भाव से कहा—जानता हू।

फिर दोनों सो गये।[1]

इस उदाहरण में प्रेमचद का मानवतावाद, गाधीवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद सभी श्रेष्ठ ढग से उभर गए हैं। दो शत्रुओ का हृदय परिवर्तन, घृणा और विद्वेष पर प्रेम एव सहानुभूति की विजय, मानव-मूल्यो को सम्मान देने की समर्थता तथा सवेदनशीलता एवं वातावरण को यथार्थ ढग से सजीव कर देने की क्षमता स्पष्टतया उपर्युक्त उदाहरण मे देखी जा सकती है। भले ही ये पात्र और उनके मनोभाव प्रेमचन्द की नैतिक और सामाजिक मान्यताओ के आधार पर गढित हो—पर मात्र इतने से ही उनका यथार्थवाद समाप्त नही हो जाता। इस यथार्थवादी चित्रण और सत्य-प्रतिपादन से प्रेमचन्द जो सिद्ध करना चाहते हैं, वह आदर्शवाद है। विषय का चुनाव, विषय निरीक्षण का दृष्टिकोण, जीवन का मूल्याकन—इन सबमे वे आदर्शवादी हैं। इस प्रकार उनकी सभी कहानियो मे यथार्थवाद और आदर्शवाद साथ-साथ बराबर चलता रहता है।

प्रेमचन्द की कहानियो मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का विवेचन कला के तत्त्वों के आधार पर भी किया जा सकता है। सर्वप्रथम उनकी सारी कहानियो के कथानक और विषय-वस्तु को ही लें। उन्हे एक स्थान पर मूल्याँकित करने पर पहला निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रेमचन्द की कहानियो मे जीवन का विशाल चित्रपट सगुफित किया गया है और सारा युग-बोध एव भाव-बोध अपने यथार्थ परिवेश मे व्यापक आयामो के साथ अपूर्व सवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचद की यही वास्तविक प्रतिबद्धता थी, जिसका निर्वाह उन्होने सामाजिक सदर्भों मे ही किया, उसे पलायन करके नहीं। उन्होने अपनी कहानियो मे मूल रूप से आदर्शवादी विषयों को

१. प्रेमचन्द. प्रेम-द्वादशी (मुक्ति-मार्ग कहानी), पृ० १२८-१२९

ही चुना था, जिनके पीछे उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति ही क्रियाशील थी । इन आदर्श-वादी विषयो को विस्तार देने के लिए उन्होंने जिन घटनाओं एव स्थितियो का चित्रण कर जिस जीवन परिवेश को उजागर करने की चेष्टा की थी वह नि सदेह यथार्थवादी थी। इस दृष्टि से आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर प्रयाण ही उनकी कलात्मक प्रवृत्ति थी। मूल विषय की दृष्टि से देखें, तो उन्होंने कई कहानियों में ि धवा समस्या को उठाया है, जो आदर्शवाद और सुधारवादी प्रवृतियो का परिणाम है। इसका समाधान मुख्यतया उन्होंने विधवाश्रम की स्थापना मे खोजा है। कुछ कहानियों मे वेश्यावृत्ति की समस्या उठाकर वनिताश्रम की स्थापना मे उनका समाधान प्रस्तुत किया है। कृषकों की समस्या, उनके शोषण एव विशृखालित होने की समस्या, आर्थिक विषमताओं एवं कृषको से श्रमिक बन जाने की नियति को तो उन्होंने अपनी अधिकाश कहानियों में लिया है।[1] अछूतोद्धार, मन्दिर प्रवेश, नारियो का राजनीति मे प्रवेश, हिन्दू-मुस्लिम प्रेम, मद्यपान बन्दी आदि अनेक समस्याएँ भी उनकी कहानियो में चित्रित हुई हैं[2] प्रेम, विवाह, परिवार, संयुक्त-परिवार प्रथा आदि समस्याए आदर्शवादी ढग से ही चित्रित हुई हैं[3] 'जीवन की गदगियो' को भी प्रेमचन्द नग्न यथार्थ के रूप में नहीं देखते। जहाँ २ अश्लीलता के आने की सम्भावना है, वहाँ प्रेमचद बड़ी सतर्कता से अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं और साहित्य के वाछनीय सौन्दर्य बोध की हत्या नहीं होने देते। वे प्रत्येक स्थान पर कुत्सितता से बचने का और एक अलौकिक सत्य और सौन्दर्य देखने का प्रयत्न करते हैं। उनका यह सौन्दर्य बोध उन्हें आदर्शवाद से एक इञ्च भी इधर-उधर नही हटने देता। यहा तक कि इसलिए वे यथार्थवाद का गला घोट देने तक के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं।

इस प्रकार कहना चाहे तो कह सकते हैं कि यथार्थवाद की भयकरता को उन्होने आदर्शवाद से कम करने की निरन्तर चेष्टा की है। यथार्थ की कटुता, विषमता उन्हें कभी भी सहनीय नही प्रतीत हुई। वे समझते थे कि यथार्थ का रूप अत्यन्त भयकर होता है और यदि हम यथार्थ को ही आदर्श मान ले, तो ससार नरक तुल्य हो जाए। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओ पर न पड़नी चाहिए, वरन मान लें, दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिए। यही प्रेमचन्द का आदर्श है। यथार्थ का मुँह पर मुँह सामना करते की शक्ति प्रेमचन्द में नही है। कुत्सितता से वे डरते हैं या कम से कम सकुचाते से लगते हैं, अत उनकी कहानियों में एक

१. अलग्यो झा, पूस की रात, मुक्तिमार्ग, कफन, बलिदान, शखनाद आदि कहानिया

२ मैकू समरयात्रा एक्ट्रेस, अग्निसमाधि सत्याग्रह, गृहदाह, डिक्री के रुपये, बैंक का दिवाला, पच-परमेश्वर आदि कहानिया

३. आहुति, शान्ति, कायर, बड़े घर की बेटी, दो बहनें आदि कहानियाँ

भद्रता और शिष्टता की भावना प्राप्त होती है। दुर्बलताओ के मध्य भी 'सत्य' और 'सुन्दर' को अन्वेषित करने के लिए ही उन्होने आदर्शों की स्थापना की है, वेश्याओ में भी मानवता के दर्शन किए हैं। इस सम्बन्ध मे उन्होने स्वय लिखा है कि यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुचा देता है। यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओ, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओ का नग्न चित्र होता है और इस प्रकार यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। हमको अपने चारो ओर के परिवेश मे विकृतिया ही विकृतिया दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इसके विपरीत आदर्शवाद हमे ऐसे चरित्रो से परिचित कराता है। जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं। वे स्वीकारते हैं कि यथार्थवाद की प्रवृत्ति दुर्बलताओ के चित्रण मे शिष्टताओ की सीमाओ का उल्लघन कर देती है और मानव को पशु दिखाकर भयभीत कर देती है। दूसरी ओर आदर्शवाद ऐसे पात्रो की सृष्टि कर देता है,[1] जो विशेषताओ एवं विकृतियों के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। वे उसी बिन्दु को श्रेष्ठ समझते हैं, जहाँ आदर्श या यथार्थ का समन्वय हो जाता है। उसे वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। उनके विचार से आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिये। यह तथ्य उनकी कहानियो मे पूर्णतया उभरा है। उनकी कहानियो को कथानको को देखने पर यह बात स्पष्टतया परिलक्षित होती है कि उन्होने अपने आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग किया है, इसका फल यह हुआ कि प्रेमचन्द ने जीवन को उसके पूर्ण रूप मे नहीं लिया है, वरन् उन्ही अशो मे लिया है, जिन्हें वे सुधार के लिये आवश्यक समझते थे। इसके साथ ही उन्होने, अच्छाइयो, बुराइयों और सत्-असत् की जो व्याख्या की है। वह उन्हे यथार्थवाद से दूर कर देती है और आदर्शवाद के अधिक निकट लाती है।

'बाजार मे पहुचकर बीच मे बोला—लकडी तो उसे जलाने भर को मिल गई है—क्यों माधव ? माधव बोला—हाँ लकडी तो बहुत है, अब कफन चाहिये। तो चलो कोई हल्का सा कफन ले ले हाँ और क्या ? लाश उठाते २ रात हो जायेगी। रात को कफन कौन देखता है।

कैसा बुरा रिवाज है कि जीते जी तन ढाकने को चिथडा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।

कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है और क्या रखा रहता है ? यही ५ रुपये पहले मिले होते तो कुछ दवा-दारू कर लेते। दोनो एक दूसरे के मन की बात

१ माता का हृदय, पंच-परमेश्वर, सुजान-भगत, आत्माराम, शान्ति बड़े घर की बेटी मैकू तथा ऐक्ट्रेस आदि अनेक कहानिया।

ताड रहे थे। बाजार मे इधर-उधर घूमते रहे - कभी इस बजाज की दूकान पर गए कभी उस दूकान पर। तरह २ के कपड़े रेशमी और सूती देखे मगर कुछ जँचा नही। यहाँ तक कि शाम हो गई।

और फिर—

तब दोनो न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुचे और जैसे किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनो असमजस मे खडे रहे हैं। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहु जी, एक बोतल हमे भी दे देना। इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलिया आई और दोनो परामीर मे बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे। कई कुजियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनो सरूर मे आ गये।

माधव बोला—कफन लाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता। लेकिन लोगो को जवाब क्या दोगे। लोग पूछेंगे नही? कफन कहाँ है?

घीसू हँसा—अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गए। बहुत ढूढा मिले नहीं। लोगो को विश्वास तो न आएगा लेकिन फिर वही रुपए देंगे।

और दोनो खडे होकर गाने लगे।

'ठगिनी क्यो नैना झमकाए। ठगिनी'[१]

यह जीवन के यथार्थ का चरम रूप है, इसके विपरीत जीवन का आदर्श यह है—

"भामा खडी हो गई और उस वृद्धा से बोली—क्यो माता, तुम्हारा धन किसी ने ले लिया है?

वृद्धा ने इस प्रकार उसकी ओर देखा, मानो डूबते को तिनके का सहारा मिला। बोली—हाँ बेटी।

भामा—कितने दिन हुये?

वृद्धा—कोई डेढ महीना।

भामा—कितने रुपए थे?

वृद्धा—पूरे एक सौ बीस।

भामा—कैसे खोये?

वृद्धा—क्या जाने कही गिर गए। मेरे स्वामी पलटन मे नौकर थे। आज कई बरस हुये, वह परलोक सिधारे। अब मुझे सरकार से साठ रुपये साल पेंशन मिलती है। अब की दो साल की पेन्शन एक साथ ही मिली थी। खजाने से रुपये लेकर आ रही थी। मालूम नहीं कब और कहाँ गिर पडे आठ गिन्नियाँ थी।

---

१. प्रेमचन्द : कफन तथा शेष रचनाएँ, (१९४०), बनारस, पृ० १०-११

भामा—अगर वे तुम्हे मिल जायें, तो क्या दोगी ?

वृद्धा—अधिक नही, उसमे से पचास रुपये दे दूंगी ।

भामा—रुपये क्या होंगे, कोई इससे अच्छी चीज दो ।

वृद्धा—बेटी, और क्या दूँ जब तक जिऊँगी, तुम्हारा यश गाऊँगी ।

भामा—नही इसकी मुझे आवश्यकता नहीं ।

वृद्धा—बेटी, इसके सिवा मेरे पास क्या है ?

भामा—मुझे आशीर्वाद दो, मेरे पति बीमार हैं, वह अच्छे हो जाँय ।

वृद्धा—क्या उन्ही को रुपये मिले हैं ?

भामा—हाँ, वह उसी दिन से तुम्हे खोज रहे हैं ।

वृद्धा—घुटनो के बल बैठ गई और आँचल फैलाकर कम्पित स्वर से बोली—देवी इनका कल्याण करो ।

भामा ने फिर देवी की ओर सशक दृष्टि से देखा । उनके दिव्य रूप पर प्रेम का प्रकाश था, आँखो में दया की आनन्ददायिनी झलक थी । उस समय भामा के अन्तःकरण मे कही स्वर्ग-लोक से यह ध्वनि सुनाई दी — जा तेरा कल्याण होगा ।[1]

प्रेमचन्द और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद

प्रेमचन्द आदर्शवाद की इन भावनाओ से पूर्णतया अभिभूत थे । आदर्शवादी दृष्टिकोण मे उनकी सुधारवादी भावना भी मिश्रित थी, पर उसके साथ ही प्रेमचन्द जीवन की सत्यता से भी मुंह न मोडना चाहते थे, इसलिए स्वभावतः उन्होने यथार्थ वाद को भी प्रश्रय दिया । अपनी प्रारम्भिक कहानियो मे उन्होने केवल आदर्शवाद को ही लिया है, पर विकासकाल की कहानियो मे उन्होने यथार्थ और आदर्श को बराबर साथ-साथ चित्रित किया, जो उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही है । इन विकासकालीन कहानियो के कथानक पूर्णतया यथार्थवादी है और पात्रो का चयन भी प्रेमचद ने बडी कुशलता से जीवन के यथार्थ से ही किया है, पर उनका निर्वाह एव चरित्र-चित्रण वह उसी यथार्थवादी ढग से करने मे असमर्थ रहे हैं । ऐसा करते समय उसके मन का आदर्शवादी स्तर अधिक मुखरित हो उठा है, जिसके परिणामस्वरूप पात्रो के जीवन मे मोड, कथानक की विभिन्न दिशाएँ एव समस्याओ के समधान तथा जीवन सत्यो का समावेश कुछ स्तर तक आदर्शवादी हो गए हैं कि बहुधा वे यांत्रिक से प्रतीत होते हैं कि उनकी सहजता पर विश्वास करना कठिन हो जाता है । वहा आदर्शवाद अधिक प्रमुख हो जाता है और यथार्थ का पक्ष नितान्त रूप से गौण हो जाता है । इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि अपनी कहानियों मे उन्होने विभिन्न समस्याएँ उठायी तो यथार्थवादी

---

१. प्रेमचद : प्रेम द्वादशी, (दुर्गा का मन्दिर), इलाहाबाद, पृ० ५६-५७

ढग से की गई हैं, पर उनका समाधान आदर्शवादी धरातल पर प्रस्तुत किया गया है, जो प्राय: बहुत सतोषजनक नही प्रतीत होता। इन आदर्शवादी समाधानो के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द पर आर्यसमाजी एवं गाँधीवादी सिद्धान्तो का गहरा प्रभाव है। ये आदर्शवादी एव गाँधीवादी समाधान इन कहानियो मे दो रूपो मे प्राप्त होते हैं। एक तो प्रेमचन्द ने सस्थाओ एव आश्रमो की परिकल्पना की है और कही-कही व्यक्ति ही सस्था के रूप मे चित्रित किया गया है। यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि इस सारे आदर्शवाद के बावजूद प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना कही न्यून नही होती और न वे पलायनवाद के पथ का ही अनुगमन करते हैं। जहाँ व्यक्ति ही सस्था बन जाता है, वहाँ भी प्रेमचन्द का आदर्शवाद उन्हे वैयक्तिक धरातल पर नही प्रतिष्ठित करता और न उन्हे अन्यपरक स्तर पर चित्रित करने के लिए ही प्रोत्साहित करता है। सामाजिक दायित्व के निर्वाह की दृष्टि से यह एक बडी बात थी, जो निश्चय ही हिन्दी कहानियो के तत्कालीन समय मे एक महत्वपूर्ण उपलब्धि कही जाएगी। आदर्शवाद के अतिरिक्त मोह ने उनके द्वारा उठाई गई समस्याओ को यदि बहुधा अयथार्थ बनाया भी है, तो इससे उनकी सामाजिक चेतना को कही क्षति नही पहुचती, वरन् बल ही प्राप्त हुआ है और यदि आरम्भिक काल की कहानियो मे दिए गए सायास समाधानो की बात छोड़ दें, तो यथार्थवाद का सफल रूप देखा जा सकता है। हालाँकि यह समाधान प्रस्तुत करने मे भी प्रेमचन्द धीरे-धीरे यथार्थवाद की ओर ही अग्रसर मिलते हैं और 'कफन' मे आकर वे सफल यथार्थवादी कहानीकार बन जाते हैं। 'पच-परमेश्वर' से 'कफन' तक के बीस-बाइस वर्षों के लम्बे दौर मे उनका आदर्शवाद निरन्तर टूटता ही रहा है और यथार्थवाद तीव्रता से उस रिक्त स्थान की पूर्ति करता रहा है। उन्होने अब समझ लिया था कि चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नही कि वह निर्दोष हो। महान्-से-महान् पुरुषो मे भी कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियो का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नही होती, बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मानवीय बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और उसे हम समझ ही नहीं पाएँगे। प्रेमचन्द का यह विश्वास ही उनके यथार्थवाद की ओर अग्रसर होने का प्रमाण है, जिसका चरम रूप 'कफन' मे देखने को मिलता है।

प्रेमचन्द का कहानी-शिल्प

अब प्रेमचन्द की कहानी-कला पर विचार कर लें। यह बात पीछे कई बार कही जा चुकी है कि कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया होती है और उसमें प्रमुख रूप से मानव-जीवन का ही चित्रण होता है। प्रेमचन्द की कहानियो के सम्बन्ध में यह बात शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध होती है। वस्तुतः भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव मन की अभिव्यक्ति सरलता से हो जाती है और वह किसी नियम की

अपेक्षा नहीं करती, पर तब भी समीक्षाशास्त्रियों ने कहानी-लेखन के कुछ नियम बना दिए हैं, जो कमोबेश सभी कहानियो में प्राप्त हो जाते हैं। साधारणतया कहानी-कला के अन्तर्गत कथानक, पात्र एव चरित्र-चित्रण; कथोपकथन, देशकाल अथवा वातावरण; विचार एवं दर्शन तथा भाषा-शैली की गणना की जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि जब तक इन तत्वो का पूर्ण समावेश किसी रचना में न किया जाय, तब तक उसे कहानी की सज्ञा से अभिहित नही किया जा सकता। प्रेमचन्द की कहानी-कला समझने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि वे समझते थे, जिन साहित्य से हमारी सुरुचि न जगे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममे शान्ति और गति न मिले, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जागरित हो, जो हममे सच्चा सकल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नही है। इस सम्बन्ध मे उन्होने स्पष्टतया घोषित किया है कि, 'मुझे यह कहने मे हिचक नही है कि मैं और चीजो की तरह कला को उपयोगिता की तुला पर तौलता हू। कलाकार अपनी कला मे सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।' उनकी धारणा स्पष्ट थी कि कहानी का सम्बन्ध जीवन के यथार्थ से होता है। इस प्रकार वे कला-कला के लिए न स्वीकार कर कला को जीवन के साथ सम्बद्ध कर दिया था।

कहानी कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व कथानक होता है। प्रत्येक कहानी मे किसी-न-किसी कथा को कहने का प्रयत्न होता है, भले ही उस पर अधिक बल न दिया जाए। कथानक अपनी सीमा मे जीवन के यथार्थ आयामो का अकन करता है तथा एक विस्तृत परिवेश के छोरो को बाँधने का प्रयत्न करता है। कथानक मे घटनाओ को इस प्रकार सयोजित किया जाता है कि उनमे कही भी रिक्तता का आभास नही होता। उनमे प्रभावो की एकता (unity of impression) बनाए रखने का प्रयत्न होता है, जिससे सारा कथानक एक सूत्र मे आबद्ध दृष्टिगोचर होता है और अनुभूति की तीव्रता विद्यमान रहती है। सफल कहानियो मे केवल आवश्यक घटनाओ का सगुफन इस प्रकार रहता है कि पाठको की उत्सुकता बराबर बनी रहती है। कहानी का क्षेत्र कोई भी हो सकता है और उसमे कल्पना का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा मे हो सकता है, पर इतना तो निश्चित है कि कल्पना का सतुलित प्रयोग ही वाँछनीय होता है, जिससे कथानक की स्वाभाविकता नष्ट न हो, क्योकि कल्पना का अतिरजित प्रयोग कथानक को अविश्वसनोय बना देता है। कथानक की इन आवश्यक बातो की कसौटी पर यदि प्रेमचन्द की सभी कहानियो की एक साथ परीक्षा करें, तो कई बातें स्पष्ट होती हैं। कथानको का सब मिलाकर अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र उनकी कहानियो मे प्राप्त होता है, जिनमे समग्र मानवीय चेतना व्यापक आयामो को समेटने का प्रयास किया जाता है। इस प्रक्रिया मे वे कला के जिन उपकरणो का आश्रय

ग्रहण करते हैं, उनसे पाठको का पूर्ण तादात्म्य रहता है। (उनकी कहानियो मे दुर्बोधता और रहस्यपूर्ण स्थलो का अभाव रहता है। वे सहजता और सुबोधता के प्रति विशेष आग्रहशील रहते हैं। एक स्थान पर उन्होने लिखा है—'कथा को बीच मे शुरू करना, या इस प्रकार शुरू करना कि जिसमे ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।' इस कथन की सत्यता उनकी कहानियो के कथानक प्रमाणित करती हैं, जिनके आदि, मध्य और अन्त तथा घटनाओ की गतिविधियाँ स्पष्ट रहती हैं। वे कही तथ्यो को तोड़ते मरोडते नही और बातो को सीधे सादे ढग से स्पष्ट कर देने मे विश्वास रखते हैं।) प्रेमचन्द की कहानियो मे पग-पग पर सामाजिक दायित्व के निर्वाह की तीव्र भावना मिलती है। उन्होने कही भी वैयक्तिकता को महत्व नही दिया है, इसलिए उनकी कहानिय, युग जीवन, समाज तथा समकालीन यथार्थ से ही घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध रहती है। उनके कथानको मे परिवार से लेकर विशाल राष्ट्र की व्यापक एव गम्भीर समस्याएँ रहती हैं। इन्ही दोनो परिधियो के मध्य उन्होने व्यक्ति का चित्रण करने का प्रयत्न किया है और कही भी उसे वैयक्तिक नही होने दिया है। वह समाज के दायरो के बीच ही टूटता और बनता है।

प्रेमचन्द की कहानियो मे जीवन की विशद व्याख्या और जीवन का विशद चित्रपट रहता है। उनकी सारी कहानियो को एक साथ देखने पर उनमे जीवन का विशाल चित्रपट प्राप्त होता है और अपने समय का सारा युग और समाज उनमे प्रतिबिम्बित होता है। एक प्रकार से उन्होने अपनी कहानियो मे गागर मे सागर भरने की चेष्टा की है। उन्होने जीवन की कुरूपता पर भी सुन्दर भवन निर्मित किया है, घूरे को घूरा ही नही छोड दिया है। इस सम्बन्ध मे उनका आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही उभरता है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो की सामग्री का उचित ढग से प्रयोग किया है और वाह्य जगत तथा अन्तर्जगत की परिस्थितियो का विश्लेषण किया है। उन्होने अपनी कहानियो मे मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की ऊर्ध्वगामी प्रवृत्तियो पर बल दिया है। (ऐसा करने मे उन्होने कथानक की रोचकता और कौतूहलता पर कम ध्यान दिया है, जिससे वे बहुत हद तक स्थूल प्रतीत होते हैं। उनमे वह कसाव या गठन नही मिलता, जो अपेक्षित था। हालाँकि उनकी कहानियो मे मनोरजन और हास्य की सामग्री का भी अभाव नही रहता और अनेक स्थलो पर वे व्यग्य शैली का भी प्रयोग करते हैं। अपनी वर्णनप्रियता के कारण प्रेमचन्द ने अपनी बहुत सी कहानियो मे अनावश्यक बातो का उल्लेख किया है और इससे उनमे प्रभावान्विति प्राय: नष्ट हो जाती है, जिससे पूर्वापर का सम्बन्ध नही मिलता। (प्रेमचन्द की कहानियो को देखकर उनकी अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति को अस्वीकारा नही जा सकता।) उनकी चयन शक्ति की सूक्ष्मता और अन्तर्दृष्टि की गहनता उनके कथानको मे स्पष्ट देखी जा सकती है। उन्होने अपने अनुभव, ज्ञान और विवेक के आधार पर जीवन के

विविध क्षेत्रो से सम्बन्धित अनुभव प्राप्त किये थे, विशेष रूप मे ग्रामीण और मध्यवर्ग से सम्बन्धित जीवन से, जो अत्यन्त स्वाभाविक एव यथार्थ ढग से उनकी कहानियो में अभिव्यक्त हुआ है। उनके ये वर्णन पूर्ण एव सजीव हैं तथा वाह्य उपकरणो के साथ विभिन्न वर्गों के व्यक्तियो की मनोवृत्तियो पर प्रकाश डालने मे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि उनकी घटनाओ का विकास-क्रम अलग-अलग कहानियो को ध्यान मे रखते हुए स्वाभाविक और सुसम्बद्ध है, किन्तु उनके सम्पूर्ण कहानी साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए यह ज्ञात होता है कि उन्होने अनेक घटनाओ की पुनरावृत्ति की है। पुलिस, अदालत, तत्कालीन शासक वर्ग, कृषक आदि से सम्बन्धित प्रसगो मे यह पुनरावृत्ति स्पष्टतया देखी जा सकती है। इतना ही नही, अनेक पात्रो के डूबने या आत्महत्या करने मे भी पुनरावृत्ति मिलती है। अपनी बाद की कहानियो मे उन्होने दुहरे कथानक रखने की भी योजना बनाई थी और उनकी कई कहानियाँ, विशेषत: लम्बी कहानियो मे, प्रधान कथावस्तु के अतिरिक्त कई प्रासगिक कथाएँ भी प्राप्त होती हैं। फलस्वरूप उनका कथानक काफी फैल जाता है और अनावश्यक बातो का समावेश हो जाता है। कई घटनाओ की पूर्ण परिणति या स्पष्ट सांकेतिकता या लक्ष्य भी उभर नही पाता। इन कहानियो मे कथानक की विशृंखलता स्पष्टतया परिलक्षित होती है, जहाँ नीरसता और शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। कई प्रासगिक कथाएँ तो कुछ कहानियो मे इतना विस्तार पा जाती हैं कि वे मूल कथा या प्रधान कथानक से अलग प्रतीत होने लगती हैं और अपने आपमे एक स्वतन्त्र कहानी ज्ञात होने लगती है।

प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो मे जीवन की व्यापक सवेदनाओ का चित्रण प्रारम्भ से ही नही किया, किन्तु ज्यो-ज्यो उनमे आत्मचेतना बढती गई, वे जीवन के लिए कथा-साहित्य का महत्व समझते गए और उनका दृष्टिकोण भी परिवर्तित होता गया। उन्होने कला का सम्बन्ध जीवन के साथ स्थापित किया, इसीलिए उनकी कहानियो में कुल मिलाकर हमे एक विशेष युग का पूर्ण चित्र मिल जाता है। उन्होने वर्ग-सघर्ष का चित्रण अवश्य किया है, किन्तु उस सघर्ष का पर्यवसान समन्वय की ओर है। उनके कथानको की मूल संवेदना मानववाद पर आधारित राष्ट्र प्रेम है। प्रेमचन्द की कहानियो को देखकर प्रेमचन्द साहित्य के भविष्य की ओर ध्यान जाना अनिवार्य है। क्या उनका साहित्य शाश्वत महत्व धारण कर सकेगा, इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि प्रत्येक कलाकार अपने युग से ही अपनी कला के उपकरण जुटाता है, तो भी प्रेमचन्द अपने युग के वाह्य जीवन को बहुत अधिक समेट बैठे हैं और प्रत्यक्षत. ऐसा प्रतीत होता है कि उनके साहित्य मे युग विशेष के जीवन के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। ऐसा लगता है कि उनका साहित्य भावी इतिहास लेखक के लिए केवल सामग्री जुटा सकेगा। यहाँ स्वभावत प्रश्न उठता है कि क्या उनका साहित्य भावी मनुष्य के मन को भी रमा सकने की शक्ति रखता है ? क्योकि

यदि इस कार्य मे प्रेमचन्द साहित्य असफल रहता है, तो उसका कोई शाश्वत मूल्य नही है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि एक युग विशेष की दौड धूप, सघर्ष, स्थूलत्व आदि के पीछे पीठिका के रूप मे उन्होने मानवता का विशाल चित्रपट सुसज्जित किया है अर्थात् प्रेमचन्द के पात्र और घटनाएँ ऐसे रगमंच पर आते हैं जिस पर मानवता का विशाल चित्रपट सुसज्जित रहता है। यही उनके साहित्य का महत्व है। उन्होने मानवता का जो सम्बन्ध स्थापित किया है और समग्र जीवन के उद्धार की जो योजना प्रस्तुत की है, वह उनके साहित्य को शाश्वत मूल्य प्रदान करने मे समर्थ है।

ऊपर यह बात कई बार कही जा चुकी है कि यदि प्रमचन्द की कहानियो को एक साथ देखा जाए, तो उनमे जीवन का एक विशाल चित्रपट अकित मिलेगा। यह कोई अप्रत्याशित बात नही है। वास्तव मे यही उनके लिए अभीष्ट भी था, क्योंकि वे साहित्य को जीवन की व्याख्या एव आलोचना स्वीकारते थे तथा कहानी को मानव जीवन के यथार्थ से सम्बन्ध मात्र देखते थे। उनके लिए समाज एव समष्टिगत भावनाओ का बडा महत्त्व था और वे सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत ही अपनी कहानियो का ताना-बाना सगुंफित करते थे। उनकी कहानियो की मूल प्रेरणा सामाजिक कल्याण की भावना है। उनमे मानव जीवन के यथार्थ का ही प्रमुखतः चित्रण प्राप्त होता है और व्यापक सामाजिक सन्दर्भों मे अपूर्व सवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनकी कहानियों मे आशिक रूप से वैयक्तिक जीवन का भी चित्रण यत्र-तत्र हुआ है, पर वह उनका प्रधान लक्ष्य कभी नही रहा। व्यक्ति ही सामूहिक रूप से समाज का स्वरूप निर्माण करता है, अतः सामाजिक समस्याओ का व्यक्ति की समस्याओ मे अन्तर्निहित हो जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि सामाजिक सन्दर्भों मे व्यक्ति की परख करते हुए भी उन्होने कभी व्यक्ति की उपेक्षा नही की। उन्होने व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश मे ही देखा है। प्रेमचन्द ने व्यक्ति की करुणा, विषमता एव अन्य सम्बद्ध विकृतियो का समाधान समाज की विभिन्न परिस्थितियो के निरूपण द्वारा खोजने का प्रयत्न किया है और सामाजिक सन्दर्भों मे ही व्यक्ति की समस्याओ पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। वे आत्म-परक दृष्टिकोण के पक्षपाती नही थे और न जीवन से पलायन ही उन्हें वाँछनीय प्रतीत होता था। साहित्य पर केवल व्यक्ति-मानस की सवेदनाओ का भी एकाधिकार उन्होने कभी नहीं स्वीकारा। वे व्यक्ति को समाज का अविभाज्य अंग समझते थे और समाज की कल्पना बिना व्यक्ति से नही करते थे। वे स्वीकारते थे, समाज के अस्तित्व के साथ व्यक्ति का अस्तित्व स्थिर है और समाज से विच्छिन्न होकर उसका मूल्य शून्य के समान ही रह जाता है। तब व्यक्ति को कोई भी अर्थवत्ता नहीं प्राप्त हो पाती और वह हवा मे उड़ने वाले बैलून की भाँति हो जाता है, जिसका कोई भी

आधार नही होता। इसीलिए प्रेमचन्द व्यक्ति को व्यक्ति की दृष्टि से नहीं; सामाजिक दृष्टिकोण से आँकते हैं—समाज का मगल उनका एकमात्र लक्ष्य होता है। वह व्यक्ति का उतना ही विश्लेषण करना चाहते हैं, जितना समाज हित के लिए वाँछित है। समष्टि मगल का उत्सर्ग करके व्यक्ति की अनुभूतियो का तरगाभिघात उनके लिए असह्य है। वह मानव की उन वृत्तियो को जाग्रत करना चाहते हैं, जो सामाजिक भावना को आघात पहुँचाने वाली नही हैं। उन्होने अपने पात्रो मे उन गुणो को चित्रित किया है, जिनकी समाज को, समष्टि रूप से मानव को, अपने हित के लिए आवश्यकता है।

प्रेमचन्द ने अपने युग की समस्याओ को भलीभाँति समझा था और उनका गहन अध्ययन किया था। उनका युग पुनरुत्थानवादी था, देश मे एक ऐसी जबर्दस्त सस्कृति का प्रवेश हो रहा था, जिसकी चकाचौंध से प्रभावित होकर समूची नई पीढी बही चली जा रही थी। इससे अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई थी और समाज का ढाँचा एक प्रकार से भरभराने लगा था, जो परम्परागत आदर्शों पर आधारित था। देश मे पूँजीवाद का बोलबाला हो गया था और वर्ग वैषम्य जीवन के प्रत्येक स्तर पर परिलक्षित होता था। इस पूँजीवाद के बढते हुए प्रभाव ने एक ऐसी बूर्जुआ मनोवृत्ति उत्पन्न कर दी थी, जिसकी लपेट मे प्रेमचन्द का समूचा युग ही एक प्रकार से आ गया था। विधवा समस्या, वेश्या समस्या, आर्थिक स्वतन्त्रता की समस्या, शिक्षा की समस्या तथा राजनीतिक और सामाजिक अधिकार प्राप्ति की समस्याएँ नारी जीवन के सम्मुख मुँह बाए खड़ी थी। प्रेमचन्द एक जागरूक कलाकार थे। उन्होने इनमे से किसी एक की भी उपेक्षा नही की और जीवन के बहु-विधिय पक्षो पर अपनी दृष्टि डाली तथा समूचे युग और समाज को अपनी कहानियो मे चित्रित करने का श्लाघनीय प्रयास किया। 'गांधी-युग के प्रथम तीन चरणो के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओ और समस्याओ का जितना साँगोपाँग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द मे मिलता है, वैसा हिन्दी के किसी साहित्यकार मे मिलता ही नही है, भारत के किसी साहित्यकार मे मे भी मिलता है, इसमे सन्देह है। साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएँ होती हैं—जीवन के कुछ रूपो में वह रम सकता है, कुछ में नही, परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपो के प्रति उसमे राग था। उनकी प्रतिभा कई अशो मे महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हे जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपो के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, सस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द मे मिलते हैं, इतने औरो मे नही।' प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग जीवन का माध्यम बनाया है।

दूसरे यह कि उन्होने युग धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है। उनकी सारी कहानियो मे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि उनमे कितनी जागरूकता और सजग सामाजिक चेतना थी।

विभिन्न सामाजिक समस्याओ को चित्रित करने की प्रवृत्ति प्रेमचन्द मे प्रारम्भ से ही थी। अपनी कई कहानियो मे उन्होने विधवा समस्या को लिया है। विधवा समस्या के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने कई एक आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, जो समाज-सुधार से सम्बन्धित है, जिस पर आर्य समाज के सन्देश का विशेष प्रभाव है। उस समय विधवा विवाह का पक्ष स्वामी दयानन्द ने लिया था और आर्य समाज द्वारा उसका प्रचार कर रहे थे, पर सनातन धर्म इसका विरोध कर रहा था। सुधारवादी नवयुवको मे आर्यसमाज के प्रति सहानुभूति थी और अपनी कहानियो के माध्यम से प्रेमचन्द इस सहानुभूति को मुखरित करना चाहते थे। उनकी कई कहानियाँ वेश्या जीवन से सम्बन्धित हैं, जिनमे अन्य नारी समस्याएँ भी चित्रित हुई हैं, अर्थात् भारतीय समाज मे नारी कितनी पराधीन थी तथा उस समय वह कितनी दयनीय, परवश और निराश्रित जीवन व्यतीत कर रही थी, उसकी पराधीनता, उसकी निस्सहायता से समाज मे पशुओ जैसी स्थिति हो गई थी, इन सब बातो को लेकर प्रेमचन्द ने कई कहानिया लिखी। नारी को यदि वास्तविक शिक्षा नही मिलती, तो उसके कितने दुष्परिणाम हो सकते हैं, (पुलिस विभाग कितना भ्रष्ट है और किसी ईमानदार व्यक्ति की वहाँ कितनी दुर्गति हो सकती है, अर्थात् पुलिस विभाग मे कोई व्यक्ति घूस लिए बिना आर्थिक रूप से सुखी नही रह सकता, हमारे समाज का जो परम्परागत वर्ग, धर्माचारी, मठाधीश, धनपति और समाज सुधार तथा देशानुराग सम्बन्धी लम्बी-लम्बी बातें करने वालो का था, वे कितने खोखली और चरित्रहीन हैं, दूसरी ओर भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो मे तीखा व्यग्य कसा है।) वेश्याएँ धनपतियो के यहाँ और मठो मे जाती हैं, वहाँ सम्मान पाती हैं, पर वही लोग व्यक्तिगत रूप से वेश्यावृत्ति की आलोचना करते हैं। समाज मे कितना दम्भ, अहकार तथा मिथ्याभिमान है, उसकी ओर भी उन्होंने अपनी कहानियो मे सकेत किया है। उन्होने दहेज प्रथा और अनमेल विवाह की ओर भी सकेत किया है, जिसके कारण भोली-भाली निर्दोष लडकियो को जीवन भर दारुण दुःख भोगना पडता है। वेश्यावृत्ति की समस्या को लेकर प्रेमचन्द ने इस बात की ओर सकेत किया है कि हिन्दू समाज कोई कुप्रवृत्ति दूर करने की व्यावहारिक बात नहीं करता। फिर साम्प्रदायिकता की ओर भी सकेत किया गया है। साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना राजनीति के क्षेत्र मे प्रबल रूप से प्रसारित हो चुकी थी, लेकिन सामाजिक सुधार की दृष्टि से कोई समस्या हल नही हो सकती—प्रेमचन्द ने यह चित्रित करने का प्रयत्न किया है। केवल बाह्य प्रभावो के कारण

अपनी अच्छी चीजो की निन्दा करने की प्रवृत्ति की भी उन्होंने आलोचना की है। अन्त मे हिन्दी साहित्य की कमियो की ओर भी ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया गया है।

अनेक कहानियो मे जमीदारी उन्मूलन, भूमिधर, सहकारिता आदि का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य को अपनी कमाई खानी चाहिए। यही प्राकृतिक नियम है। किसी को अधिकार नहीं है कि वह दूसरो की कमाई को अपनी जीवन वृत्ति का आधार बनाए। भूमि उसकी है, जो जोते। शासक को उसकी उपज मे भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश मे शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। इस प्रथा के कारण देश की कितनी आत्मिक और नैतिक अवनति हो रही है। इसका अनुमान नही किया जा सकता। हमारे समाज का बड़ा भाग, जो बल, बुद्धि, विद्या मे सर्वोपरि है, जो हृदय और मस्तिष्क के गुणो से अलकृत है, केवल इसी प्रथा के वश आलस्य, विलास और अविचार के बन्धनो मे जकडा हुआ है। प्रेमचन्द की यह विचारधारा गाँधी जी की विचारधारा से तादात्म्य रखती है। इस कोटि की कहानियो मे जीवन को विभिन्न दिशाओ मे मोडने की गति प्रदान की गई है। मनुष्य को निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिए, इन कहानियो का यही सदेश है। उनमे निःस्वार्थता एव स्वार्थता के मध्य परस्पर सघर्ष है। इसमे जहाँ एक ओर जमीदारो और कृषको का सघर्ष है, वही दूसरी ओर नौकरशाही का भी सही रूप उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द ग्राम जीवन मे जहाँ विशेषताएँ देखते थे, वही कृतियाँ भी देखते थे और उन विकृतियो की पूर्ति नागरिक जीवन मे देखते थे। जैसे स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम, स्वच्छता, शिक्षा, अन्धविश्वास आदि ऐसी ही बातें हैं। वे चाहते थे कि गाँव वाले वाह्य जीवन से सम्बन्धित बातो की शिक्षा नगर वालो से प्राप्त करें और नगर वाले आन्तरिक अनुभूतियाँ गाँवो से प्राप्त करे। शहर वालो मे उन्हे प्रजाहित की भावना अत्यन्त न्यून अशो मे परिलक्षित होती है। धर्म सम्बन्धी रूढियो एव उनके खोखलेपन को भी बडी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। मध्यवर्ग की लगभग सभी तत्कालीन समस्याएँ उनकी कहानियो मे चित्रित हुई हैं। अनमेल विवाह और दहेज प्रथा जैसी कुत्सित प्रवृत्तियो का चित्रण हुआ है। इन प्रवृत्तियो को व्यापक सामाजिक सन्दर्भो मे पारिवारिक आधार पर बडी यथार्थता से प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो मे प्रस्तुत किया है। विमाता। आर्थिक पराधीनता मनुष्य की सकुचित प्रवृत्तियाँ एव सकीर्णता, दाम्पत्य प्रेम की भावना और जन सेवा का भाव साथ-साथ चित्रित हुए हैं। प्रेमचन्द का यह दृष्टिकोण है कि दाम्पत्य प्रेम मे पवित्रता, साधना और तप होना चाहिए। उनकी दृष्टि मे भोग नही, विलास नही, दो आत्माओ का आध्यात्मिक योग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त शुद्धि आन्दोलन, गो-वध और

साम्प्रदायिकता की समस्याएँ प्रेमचन्द के समय में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढाने वाली थी। यह वैमनस्य भी उस समय एक भीषण समस्या थी कि मुसलमानो द्वारा अपहृत कन्याएँ त्याज्य न हो, पर प्रतिक्रियावादी हिन्दू समाज उसे न मान सका। वृद्ध विवाह, बहु-विवाह, अनमेल विवाह और धन से मनुष्य की चित्तवृत्तियो की परिवर्तनशीलता का चित्रण भी अनेक कहानियो मे हुआ है।

कई कहानियो मे राष्ट्रीय आन्दोलन, राजनीतिक जीवन, उद्योग-व्यवसाय, देश-प्रेम और गाँधीवादी जीवन-दर्शन से प्रभाविन कथानको की सयोजना हुई है। औद्योगीकरण मार्मिक सहिष्णुता, देशी रियासतो की समस्या तथा राजनीतिक आन्दोलनो की समस्या को सम्बद्ध कर इन कहानियो को व्यापकता प्रदान की गई है। मध्यवर्गीय प्रवृत्तियो, आभूषण, प्रेम की भयकरता, भावुक प्रेम और अदूरदर्शिता 'पुलिस का दमन-चक्र और देश की पराधीनता कई कहानियो मे उठाकर स्वदेशानुराग उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है और देश की जनता मे अपने कर्तव्य के प्रति उन्मुख रहने की सबल प्रेरणा दी गई है। उसमे प्रसगवश अछूतोद्धार की समस्या किसानो की समस्या, सूदखोरी की समस्या, व्यापार के नाम पर चोरी की समस्या आदि कुछ ऐसी ही बातें हैं, जिन्हे प्रेमचन्द ने बडी सूक्ष्मता एव यथार्थता से प्रस्तुत किया है। इस माध्यम से उन्होने यह भी बताया है कि पिता द्वारा पुत्र को और पति द्वारा पत्नी को अपने अधीन रखते के लिए कृत्रिम साधनो का प्रयोग नही करना चाहिए। सभी का बराबर का कर्तव्य है और उनके जीवन मे सामन्जस्य पूर्ण व्यवहार होना चाहिए। अपने अस्तित्व काल की कुछ कहानियो मे कृषक जीवन से सम्बन्धित समस्याओ को प्रेमचन्द ने कुछ इस ढग से प्रस्तुत किया है कि उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ व्यापक परिवेश मे उभर जाती हैं। उन्हे बडी सरलता से भारतीय कृषक जीवन की प्रतिनिधि कहानियाँ कहा जा सकता है, जिनमे मूलत शोषित वर्गों के विभिन्न पक्षो का, समस्याओ, सघर्ष एव विषमताओ का चित्रण किया गया है। चूकि प्रेमचन्द का ग्रामीण जीवन से प्रत्यक्ष तादात्म्य था और उसका उन्हें गहन् अनुभव था, इसलिए वे बड़ी सवेदनशीलता के साथ उन ग्रामीण समस्याओ को उजागर कर सके हैं। ये कहानियाँ शोषित मानवात्मा का करुण क्रन्दन हैं। लोगो की स्वार्थ-लिप्सा सामन्तशाही एव धर्म का खोखलापन, शोषण, संयुक्त परिवार व्यवस्था की विश्रृखलता आदि विभिन्न समस्याएँ अपने समस्त व्यापक आयामों के साथ इन कहानियो में चित्रित हुई हैं।

इस प्रकार प्रेमचन्द की कहानियों मे इतनी विराट समस्याएँ चित्रित हुई हैं। इन्हें 'मानसरोवर' के आठों भाग और 'कफन तथा शेष रचनाएँ' के आधार पर अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है, जिनमे कई समस्याएँ बार-बार दुहराई गई हैं। जो प्रेमचन्द की सजग सामाजिक चेतना एव चिन्तनशीलता का ही परिणाम है।

प्रेमचन्द को जीवन का गहन अनुभव था। वे पुस्तको की पाठशाला से न आकर जीवन की पाठशाला से साहित्य के क्षेत्र मे आए थे। उन्होने अपने युग को समझा था और परिवर्तनशीलता को आत्मसात किया था। अपने सामाजिक दायित्व की उन्होने कभी अवहेलना नही की और पूर्ण कलागत ईमानदारी के साथ उसका निर्वाह किया। इसलिए कुल मिलाकर अपनी कहानियो के लिये उन्होने जीवन का विशाल चित्रपट चुना था, जिनमे उनके समय का युग और समाज अत्यन्त यथार्थ एव सजीव ढग से सिमट आया था। जीवन के बहु-विधिय पक्षो एव विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक एव सांस्कृतिक समस्याओ का ऐसा चित्रण न पूर्ववर्ती किसी कहानीकार ने किया, न उनके परवर्ती किसी कहानीकार ने। यही प्रेमचन्द की महानता थी और यही उनके साहित्य की विशिष्टता थी। यहाँ कुछ चुनी हुई कहानियो के सक्षिप्त कथानकों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो के लिए जीवन का विशाल चित्रपट चुना था, जिसमे सारा युग बोध, भाव-बोध अपनी पूरी यथार्थता के साथ उभरा है।

'कफन' मे गाँव के चमार घीसू का लडका माधव था। माधव के विवाहोपरान्त उसकी पत्नी सारे परिवार की देख-भाल करती थी और अपने पति तथा ससुर की सारी सुख सुविधाओ का ध्यान रखती थी। वह गर्भवती हुई और प्रवस पीड़ा से घर मे पडी तडपा रही थी। घीसू और माधव खेत से आलू चुरा-चुराकर उन्हे भूनकर खाते जा रहे थे। वे कुछ काम-धाम करते नही थे और रोज यही चोरी करके खाते पीते। माधव की पत्नी इसी प्रवस पीड़ा मे मर जाती है। अब उन दोनो के सामने प्रमुख समस्या उठी कि उसका अन्तिम सस्करण कैसे करें। उन्हें एक तरकीब सूझी और जाकर जमीदार के यहाँ अपनी सारी विपदा सुनाई। उसने तरस खाकर दो रुपये दे दिये। चन्दे से उन्हे कुछ और रुपए मिल जाते हैं और दोनो कफन खरीदने के लिए निकलते हैं। रास्ते मे उनके व्यथित मन मे सामाजिक विधान की विचित्रता घूम रही थी कि जीते जी जिसे तन ढकने को भी कपडा नही मिला मरने पर उसे नया कपडा ओढाया जाता है। उनके मन मे तरह-तरह के अन्तर्द्वन्द्व मचे रहते हैं कि एक शराब की दुकान आ जाती है और वे उसमे जाकर शराब-मछली खाते हैं, कफन और लाश की बात भूल जाते हैं। 'नशा' मे ईश्वरी एक जमीदार का लडका था और बीर एक निर्धन कर्लक का। कॉलेज जीवन के दोनो सहपाठी थे और राजनीतिक विषयो पर चर्चा किया करते थे। बीर जमीदारो को खूब खरी खोटी सुनाता था और उनकी प्रवृत्तियो की आलोचना करता था। एक बार ईश्वरी बीर को अपने गाँव छुट्टियों में ले जाता है, जहा बीर के स्वभाव में अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन हो जाता है और उस पर भी जमीदारी का नशा चढ जाता है। ईश्वरी के समान वह भी नौकरो से रोब से बोलता अपशब्द कह देता, और उन्हे

देखकर अपना हाथ-पाँव भी न हिलाता। वह अपने को ईश्वरी के साथ रहते-रहते बिल्कुल जमींदार समझने लगा था। वह ईश्वरी के ही समान, बल्कि उससे बढकर शान शौकत करने लगा और पुरानी सारी बाते भूल गया। छुट्टियो के बाद जब दोनो मित्र इलाहाबाद वापस आने लगे, तो बस के ऊंचे दर्जे मे जगह न मिलने के कारण उन्हे पीछे बैठना पडा। वीर को यह अच्छा न लगा, पर विवस भाव से बैठना ही पडा। वहाँ वह अपने दूसरे सह-यात्रियो पर अपना बडप्पन जताने लगा, छोटी छोटी बातो के लिये लोगो मे कहा सुनी करने लगा और बात बढने पर एक आदमी को दो चार थप्पड भी लगा दिए। बात बढ गई, पर किसी तरह ईश्वरी ने बात सम्भाल ली। वीर पर दूसरे सहयात्रियो ने व्यग वाणी की बौछार कर दी। ईश्वरी के साथ छुट्टियो मे रहते रहते जो उसमे बडप्पन का नशा छा गया था और बस मे जो अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गया था, वह अब धीरे-धीरे उतर रहा था और वीर को अपनी यथार्थता का बोध हो रहा था।

'बडे भाई साहब' मे बडे मन्द बुद्धि के थे और अपने छोटे भाई की प्रतिभा, चचलता और कुशाग्र बुद्धि पर चिढते थे। चूंकि बडे थे, इसलिए छोटे भाई के सामने हमेशा गम्भीरता और सौम्यता का मुखौटा अपने चेहरे पर लगाए रहते। छोटा भाई खेलता कूदता या शरारत करता, तो बडे भाई उसे बुरी तरह डॉट-फटकार देते। पहले तो छोटा भाई कई श्रेणिया नीचे थे और डॉटने-डपटने मे बडे भाई को कोई असुविधा न होती। पर छोटा धीरे धीरे एक के बाद एक कक्षाएँ पास करता गया, बडे भाई एक ही दर्जे मे फेल होते गए। एक दिन ऐसा आया कि दोनो भाई एक ही कक्षा मे आ गये, यहीं बडे भाई उस वर्ष फिर फेल हो गए और छोटे भाई पास हो कर आगे निकल गया। अब बडे भाई किस मुह से डाटते, फिर भी वह अपने बडप्पन का ढेंगा छोटे के ही सिर पर रखते। छोटा भाई उनकी डाँट फटकार का बुरा नहीं मानता था। 'माता का हृदय' मे माधवी विधवा हो चुकी थी। उसका एक पुत्र था, जो राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने के कारण जेल भेज दिया गया था। माधवी को यह पता लगता है कि उसके पुत्र को बिना किसी अपराध के ही जेल दण्ड मिला था, जिसमे मि० बागची का बहुत हाथ था। उसके मन मे बदला लेने की प्रवृत्ति उभरती है। एक दिन वह बागची के बग्ले जाती है। वह एक पुलिस अफसर था और कोई बडा मुकदमा जीत कर आया था, जिसकी खुशी मे दावत हो रही थी। माधवी उसके घर नौकरी कर लेती है और उनके बच्चे की देख भाल करने लगी। मिसेज बागची एक अपाहिज-सी स्त्री थी और बराबर अस्वस्थ ही रहती। मिस्टर बागची इतना व्यस्त रहते कि बच्चे की देखभाल की ओर कोई ध्यान न दे सकते। माधवी बच्चे को इतने प्यार से खिलाती थी कि बच्चा उससे पूरी तरह हिल-मिल गया था। वह किसी के पास न जाता और उसका स्वास्थ्य भी सुधरने लगा। माधवी का बच्चे के प्रति

प्रेम देखकर मिसेज बागची इतनी प्रसन्न हुई कि उन्होंने अपने पति से प्रस्ताव किया कि बच्चे को माधवी को अपने घर ले जाए और पाले-पोसे। उनकी पहले दो-तीन सन्ताने मर चुकी थी, इसलिए बागची ने कोई आपत्ति नही की। माधवी जब बच्चे को लेकर अपने घर चली तो उस 'माता' के हृदय मे बदले की कोई भावना न थी 'पच परमेश्वर' मे एक गाव मे जुम्मन और अलगू दो पक्के मित्र थे। जुम्मन ने अपने एक मौसी की कुछ जमीन पर अवैध रूप से अधिकार कर रखा था, जिसके बदले मे वह उसे खाना कपडा दे दिया करता था। कुछ समय बाद जुम्मन की नीयत बदल गई और वह अब अपनी मौसी के प्रति कठोर व्यवहार करने लगा तथा खाना कपडा देना बन्द कर दिया। मौसी भूखो मरने लगी। विवश होकर उसने पचायत बुलाई। जुम्मन के पक्के मित्र अलगू को उसका सरपच बनाया गया। सारे मामले को सुनकर अलगू चौधरी ने निर्णय दिया कि मौसी का पक्ष ठीक है और उसे मासिक खर्चा जुम्मन दे। जुम्मन यह सुनकर सन्नाटे मे आगया। उसे विश्वास था कि अलगू उसका मित्र है और निर्णय उसी के पक्ष मे देगा। एक बार अलगू का समझू साहू से एक झगडा हुआ जिसमें जुम्मन को सरपच बनाया गया। वह अवसर की ताक मे था ही, उसने सोचा था कि बदला लेगा। अलगू ने अपना एक बैल समझू साहू के हाथ मे बेचा था, पर पैसा मिलने के पहले ही बैल मर गया। वह समझू की ज्यादती से ही मरा था और उसने अलगू चौधरी को पैसा देने से अस्वीकार किया। पंचायत मे अलगू से जुम्मन बदला न ले सका। न्याय-भावना उसके सिर पर चढकर बैठ गई थी, उसने अलगू चौधरी के पक्ष मे निर्णय देते हुए समझू साहू से बैल के सारे पैसे दिलाए। पच परमेश्वर बन कर दोनो ही असत्य पक्ष का आलम्बन ग्रहण कर अन्याय न कर सके।'

'आहुति' मे प्रमुख रूप से आनन्द, रूपमणि और विश्वम्भर तीन पात्र हैं। आनन्द धनी है, विश्वम्भर निर्धन, व्यक्तित्वहीन है, पर राष्ट्रीय आन्दोलन मे तन-मन से भाग लेता है। पहले तो रूपमणि ऐश्वर्य भावना की लालसा मे आनन्द की सम्पन्नता की ओर आकर्षित होती है, पर धीरे धीरे वह विश्वम्भर के आदर्श, उच्च-विचारो एव त्याग से प्रभावित होने लगती है, वह भी एक सकल्प कर लेती है और अपनी ऐश्वर्य प्रवृत्ति की आहुति देकर विश्वम्भर की सहयोगिनी बन जाती है। 'शान्ति' मे गोदा विधवा हो चुकी है। उसके सामने आर्थिक विषमताएँ आती हैं और उसे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है, पर वह अपनी एक मात्र पुत्री सुनीता का विवाह बडी धूम धाम से एक सम्पन्न परिवार मे करती है और सुनीता को यह जरा भी अनुभव नही होने देती कि उसका पिता अब नही है। दुर्भाग्य से सुनीता का पति दुराचारी निकलता है और वह उसकी ओर आकर्षित नही होता। उससे सुनीता बहुत अपमानित होती है और क्षुब्ध होकर चुपचाप सहन करती रहती है। अपनी मा के बुलाए जाने पर भी वह मायके नही जाती और पति के अपमानो और उपेक्षा को चुनौती समझ कर सहन करती है, अन्त मे उसकी मृत्यु हो जाती है। 'कायर' में प्रेमा

अपने सहपाठी केशव से प्रेम करती है। दोनो की जाति अलग-अलग होती है। दोनो का प्रेम गहरा होता चलता है और एक दिन दोनो अपने प्रेम को एक दूसरे से स्पष्ट कर देते हैं। प्रेमा अपने माता-पिता से केशव के सम्बन्ध में कह देती है और उससे विवाह करने की दृढ इच्छा भी प्रकट कर देती है। प्रभा के माता पिता पुराने विचारो के व्यक्ति थे, पर बेटी के संकल्प को देखकर केशव से विवाह का देने को राजी हो जाते है। उधर जब केशव अपने घर मे अपने माता-पिता से विवाह की चर्चा करता है, तो उसके माता-पिता बिगड जाते हैं और यह प्रस्ताव अस्वीकार ही नही देते, वरन् केशव को बहुत डाट फटकार भी सुनाते हैं। केशव चुपचाप एक कायर व्यक्ति की भाँति सब सुन लेता है, न विरोध करता है, न प्रेमा का विचार करता है और अपने प्रेम की हत्या कर प्रेमा के साथ विवाह करना अस्वीकार कर देता है। प्रेम सच्चा था। कायर केशव के इस विश्वासघात से उसके भावुक मन पर बड़ा आघात पहुचता है और वह चुपचाप सब सहन करती रहती हैं। एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है।

'बडे घर की बेटी' मे आनन्दी में बडप्पन की भावना है। वह एक जमीदार की बेटी है और एक साधारण परिवार मे व्याह कर आती है। उसके पति कर्ठसिंह शहर मे वकालत करते हैं और लालाबिहारी, उसका छोटा भाई गाँव में रहता है। वह स्वभाव से उद्दण्ड है और आनन्दी की शालीनता तथा उसके बड़प्पन की भावना को कभी सहन नही कर पाता। उन दोनो मे अक्सर ही कहा सुनी हो जाती और लालबिहारी बिना छोटे-बडे का विचार किये आनन्दी को कटु शब्द कह देता। जिससे उसे मर्मान्तक पीडा पहुचती। आनन्दी कर्ठसिंह के घर आने पर इन बातो की चर्चा करती है, जिससे वे बहुत क्रोधित होते हैं, और जायदाद का बटवारा कर लेने का निश्चय कर लेते हैं, और अलग-अलग रहने का निश्चय कर लेते हैं। इससे लालबिहारी के मन पर विषम प्रतिक्रिया होती है और उसके मन मे अपने दुर्व्यवहार के प्रति पश्चाताप तथा आत्मग्लानि की भावना जन्मती है। जायदाद के बटवारे में उसे अपनी हानि ही हानि लगती है। वह आलसी और अकर्मण्य था और काम करने की जरा भी इच्छा न थी। वह अपने बडे भाई से उनके निश्चय परिवर्तन की प्रार्थना करता है, पर वे अस्वीकार देते हैं। इसी समय आनन्दी मे बडे घर की बेटी होने का प्रभाव होता है और वह लालबिहारी को क्षमा ही नही कर देती, वरन् अपने पति के क्रोध को भी शान्त कर उसके मन से बटवारे का कीडा निकाल देती है। 'निष्कासन' मे मर्यादा अपने पति परशुराम के साथ गगा स्नान के लिए प्रयाग गई थी, जहाँ वह भीड मे भटक जाती है और पति से साथ छूट जाता है। वह एक व्यक्ति के चगुल में फंस जाती हैं और उसके चगुल से छूटकर एक सप्ताह पश्चात् वह अपने पति के घर पहुचती है। परशुराम उनसे अनेक उलटे-सीधे प्रश्न

करता है, और मर्यादा के निष्पाप एव पवित्र होने की शपथ पर जरा भी विश्वास न कर उसे घर से निकाल देते हैं।

'अलग्योझा' में भोला महतो दूसरा विवाह करते हैं। नई पत्नी पन्ना अपने सौतेले पुत्र रघू से अच्छा व्यवहार नही करती और उससे जरा भी स्नेह नही करती। उसके अपने पुत्र भी थे और वह रग्घू की बराबर उपेक्षा करती थी, हालाँकि रग्घू उससे प्रेम करता था। कुछ दिनो बाद जब रग्घू का भी विवाह हो गया, तो उसकी पत्नी मुलिया की पन्ना से बिल्कुल नही बनती और दोनो झगडा करके अलग अलग रहने लगती है सम्मिलित परिवार प्रथा विछिन्न हो जाती है। जायदाद का बटवारा हो गया था, पर रग्घू अपने सौतेले भाइयो से अब भी प्रेम करता था, उनके साथ खेलता, मनोरजन करता और खाता पीता। भोला महतो मर चुके थे, एक दिन रग्घू भी मर जाता है। केदार पन्ना का बडा लडका था और भोला महतो के मरने के पश्चात् अपनी गृहस्थी का सारा दायित्व सम्भालता था। वह मुलिया के प्रति आकर्षित था, इसलिए जब पन्ना उसके विवाह की चर्चा करती तो, वह कोई उत्तर न देता। अन्त मे उसने मुलिया से विवाह कर लिया और पन्ना के कारण जो कृत्रिम अलग्योझा हो गया था, उसे समाप्त कर दिया। यही प्रेमचन्द का आदर्श था। 'पूस की रात' मे किसान हलकू के पास कुल तीन ही रुपए है जिसे महाजन डाँट-डपट ले जाता है। पूस की रात है और उसके पास कुछ भी शेष नही रहता। अपने खेत की रखवाली करने वह पूस की ठिठुरती रात मे मडैया तक जाता है, साथ मे उसका कुत्ता जबरा भी होता है। सर्दी भयकर रूप से पड रही है और दोनो ठिठुरते रहते हैं। दोनो एक दूसरे के प्रति अपनी मौखिक सहानुभूति प्रकट करते हैं और सर्दी बर्दाश्त न हो पाने के कारण एक दूसरे के लिपट जाते हैं। इतने मे अरहर के खेत मे जानवरों द्वारा खेत चरने की आवाज आती है। जबरा दौडकर जाता है और भूकने लगता है, पर उसका कोई प्रभाव नही पडता। जानवर अधिक सख्या मे थे, और सारा खेत चर गये। हलकू जानते हुए भी वहाँ जाने का साहस नही कर सका। नैराश्य और घुटन ने उसे पूरी तरह निगल लिया था, और उसने खेत को दूसरो द्वारा चर जाने दिया। जिस पर उसका सारा जीवन अवलम्बित था। सुबह जब उसकी पत्नी आई और चरे खेत को देख कर हलकू को भला बुरा कहने लगी, पर हलकू का ध्यान इस तरफ न था। उसे मन ही-मन प्रसन्नता थी कि अच्छा हुआ, खेत चर गए। अब उसे पूस की रात मे वहाँ सोना तो न पडेगा। 'शखनाद' मे वितान शान और गुमान भानु चौधरी के तीन पुत्र हैं। वितान, ऊपरी मामले-मुकदमे की देख-रेख करता था। वह दगल देखता, खैर सपाटे करता, जिससे उसकी भाभियाँ बहुत चिडती थी और उसकी अकर्मण्यता एव काम-चोरी को लेकर व्यग बाण कसती रहती, पर गुमान इसका कभी नोटिस न लेता। इसकी कमी उसकी पत्नी

को पूरी करनी पडती, जो विचारी दासी की तरह घर का सारा काम-काज करती और सबको प्रसन्न रखने की चेष्टा करती। कुछ दिनो मे भाइयों ने गुमान के लिए एक कपडे की दुकान कर दी, पर उसका मन वहाँ भी न लगा, और सब फूक-फॉक कर वह फिर उसी मस्ती मे घूमने लगा। बडे भाइयो से यह सहन नही हुआ और उन्होने बटवारे का प्रस्ताव रखा। जिसे अपनी अदूरदर्शिता मे गुमान ने स्वीकार लिया। गुरुदीन नामक एक खोचेवाला प्रत्येक सप्ताह गाँव आता और वितान तथा शान के लडके उससे खूब चीजें ले-लेकर खाते, पर गुमान का लडका धान यह सब देखकर तरस जाता। अपनी माँ को परेशान करता और उससे भी चीजे खिलवाने की जिद करता जिससे उसकी माँ बुरी तरह डॉट-फटकार देती। एक दिन परेशान होकर उसने धान को दो-चार थप्पड लगा दिए, जिससे वह रोने लगा। गुमान यह देख रहा था और उसका मन पसीज गया। उसके कान मे जैसे शखनाद हुआ और उसने कुछ काम करने का निश्चय कर लिया। उसका हृदय परिवर्तन हो गया। जो काम भाइयो की सीख पर भाइयो के व्यग बाण और कटुवचन नही कर सके, वह धान के आँसुओ ने कर दिखाया और वह एक जिम्मेदार पति तथा पिता बन गया।

'बलिदान' मे हरखसिह समय के चक्र मे सिर्फ हरखू ही रह जाते हैं और कल्लू कालिकादीन हो जाता है तथा मंगरु मगलसिह बन जाता है। हरखू का सारा व्यवसाय अव्यवस्थित हो गया था और केवल खेती भर रह गई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसके परिवार के सामने और भी विषमताएँ आ जाती हैं तथा आर्थिक समस्या भीषण रूप मे उत्पन्न होती है। जमीदार उसके पुत्र गिरधारी से सौ रुपए नजराना माँगता है। उसके पास कफन के भी पैसे न थे, नजराने की तो बात ही दूर रही, पर खेतो की लिखा-पढी तो करनी ही थी। कालिकादीन सारे खेत अपने नाम लिखा लेता है, दो बैल बचे थे, उन्हे मगलसिह ने खरीद लिया। गिरधारी इस छल-कपट को सहन नही कर पाता और उसकी मृत्यु हो जाती है। वह भूत बनकर अपने खेत के आसपास फिरने लगा। कालिकादीन का साहस नही होता था कि वे उस खेत के पास जाएँ। 'मुक्तिमार्ग' मे झीगुर किसान के खेतो मे अच्छी फसल हुई थी, जिससे उसे बहुत घमण्ड हो गया था। बुद्धू गडरिया अपनी भेड बकरियाँ लिए उसके खेत की मेड से जा रहा था, जो झीगुर को सहन नही होता और उसे रोककर वह डॉटता-फटकारता है। बुद्धू भी ताव मे था, वह रुका नही और खेतो को नुकसान पहुंचाता हुआ आगे बढ आया। झीगुर उसे मार-पीट देता है, जिससे गाँव भर मे तहलका मच जाता है। ऊख के खेत तैयार थे, बुद्धू ने उनमे आग लगा दिए। गाँव वाले जब आग बुझाने लगे, तो बुद्धू उनमे सबसे आगे था। झीगुर को जब सत्यता का पता लगा, तो उसमे बदला लेने की प्रवृत्ति आ गई और हरिहर चमार से मिलकर वह एक कुचक्र रचता

है। बुद्धू को उसने अपनी एक बछिया चराने को दे दी, जो दूसरे दिन मरी पाई गई। बुद्धू पर गो-हत्या का पाप लगा, जिसका प्रायश्चित करने के लिए उसे तीर्थ-यात्रा करनी पडी भीख माँगनी पडी और पाँच सौ ब्राह्मणो को खिलाना पडा। बुद्धू तबाह हो गया, झींगुर तो पहले ही खेतो के जल जाने से तबाह हो गया था। दोनो-को विवश होकर मजदूरी करनी पड़ती है, यही उनका मुक्तिमार्ग था।

'शान्ति' शीर्षक से प्रेमचन्द की दूसरी कहानी मे शान्ति पुराने विचारो की स्त्री है, जिसका विवाह एक अग्रेजी पढे-लिखे युवक से हो जाता है, जिसे उसका सीधी-सादी रहना, रामायण का पढना या सात्विक विचार पसन्द नही आते। वह पुरानी सभ्यता से घृणा करता था। वह पुराने आदर्शवाद की अपेक्षा नव-यथार्थवाद और तुलसीदास की अपेक्षा आस्कर वाइल्ड को अधिक चाहता था। वह अपनी पत्नी को उसी साँचे मे ढालना चाहता था और अन्ततोगत्वा शान्ति नई सभ्यता मे पारगत हो ही जाती है। एक दिन पति देव बीमार पडे, पर शान्ति को अपने फैशन, ठाट-बाट और मेहमानो के स्वागत के बाद इतना अवकाश ही न प्राप्त होता कि वह उसकी देखभाल कर पाती। अब पति को यही तथाकथित नई सभ्यता बुरी लगने लगी। मरते समय वह पुरानी सभ्यता का ही फिर से प्रशसक बन जाता है। 'एक्ट्रेस' मे तारा एक अभिनेत्री है। एक बार शकुन्तला के रूप मे उसके अभिनय को देखकर नगर के धनी मानी निर्मलकान्त उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। वह उससे मिलने जाते हैं। उनके व्यक्तित्व से तारा भी प्रभावित हो जाती है। तारा पैंतीस वर्ष की थी, पर निर्मलकान्त अभी युवक थे। दोनो का प्रेमाकर्षण बढता गया और वे एक दूसरे के निकट आते गए। एक दिन निर्मलकान्त ने विवाह का प्रस्ताव रखा। तारा को और चाहिए भी क्या था। पहले तो वह बहुत प्रफुल्लित हुई, पर दूसरे ही क्षण सोचने लगी कि क्या वह निर्मलकान्त के योग्य है और क्या उसका यौवन अभी शेष है। अन्त मे उसकी आत्मा कहती है कि वह निर्मल के योग्य नही है, उसे यह विवाह नही करना चाहिए। दूसरे दिन जब विवाह होने वाला था, तारा दूर चली जाती है। 'अग्नि-समाधि' मे प्रयाग अपनी पत्नी रुक्मिनि के साथ सुख-पूर्वक रहता है। बाद मे वह कामचोर और अकर्मण्य होकर साधुओ की सगति मे आ जाता है। उनकी चिलम भरता; भजन सुनता और बचा-खुचा खा पी लेता। बीच-बीच मे रुक्मिनि से पैसे माँगकर वह अपना ऊपरी खर्च चलाता। पर आखिर ऐसा कब तक चलता। रुक्मिनि धीरे धीरे उससे विरक्त होने लगी और उसने पैसा देना बन्द कर दिया। पयाग एक नई स्त्री लेकर घर पहुचता है, जिसे देखकर रुक्मिनि विस्मित रह जाती है और परिवर्तित परिस्थितियो मे अपने को ढालकर दिन भर काम करती और पैसे लाकर पयाग को देती। नई स्त्री सिलिया घर मे न रहना चाहती। वह बाहर निकलकर काम करना और पैसे कमाना चाहती थी। रुक्मिनि उसे रोकती, पर सफल

न हुई। सिलिया अधिक काम करती और अधिक पैसे लाकर पयाग को देती। इससे रुक्मिनि और सिलिया मे विद्वेष उत्पन्न हो गया, जिससे रुक्मिनि घर छोडकर भाग जाती है। इस बीच पयाग की मडैया मे आग लग जाती है। पयाग मडैया को लाठी पर उठा लेता है और गाँव के बाहर भाग जाना चाहता है, जिससे आग से गाँव को कोई हानि न हो। पर वह सफल नही हो पाता और मडैया के जलते हुए टुकडे उसकी देह पर गिरने लगे। रुक्मिनि पयाग को इस स्थिति मे देखती है, तो दौडकर आती है और पयाग को अलग कर मडैया अपने सिर पर रख लेती है, पर वह बच नही पाती, जलकर मर गई। पयाग की भी दवा-दारु होती रही, पर वह भी उसी मे मर गया।

'समर यात्रा' मे राष्ट्रीय आन्दोलन का दृश्य है। गाँव मे स्वयसेवको का दल आने वाला है और स्वागत की तैयारियाँ हो रही होती है। कोदई चौधरी के घर के सामने शामियाना लग जाता है। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी स्वयसेवको के लिए उपहार लेकर पहुँचते हैं। गाँव मे नोहरी सबसे अधिक वृद्धा थी। उसके कभी अच्छे दिन भी थे, पर अब वह बहुत निर्धन और विपन्न हो गई थी। उसके कानो मे गाँधी बाबा का नाम गूँज रहा था और स्फूर्ति की नई लहर उत्पन्न हो गई थी। जब स्वयंसेवको का दल गाँव पहुचता है, तो वह अपने आनन्द नृत्य से उनका स्वागत करते हैं, जिसे देखकर गाँव वाले विस्मत रह जाते हैं। स्वयसेवको का नेता भाषण देने लगा कि इतने मे पुलिस आ गई और भगदड मच जाती है। सब लोग भाग जाते हैं, शामियाना खाली हो जाता है, केवल नोहरी बच जाती है। वह दारोगा को खूब फटकारती है और बुरा-भला कहती है। उसके साहस को देखकर कोदई चौधरी को भी बल मिलता है और वह दारोगा के प्रश्नो का साहस से उत्तर देता है। धीरे-धीरे दूसरे लोग भी एकत्रित होने लगे। दारोगा कोदई को गिरफ्तार कर लेता है और स्वयसेवको के नेता को अपशब्द कहते हुए प्रश्न पूछने लगा, जिसका वह अत्यन्त शान्त भाव से उत्तर देता है। धीरे-धीरे भीड बहुत बढ गई और भारत माता की जय-जयकार से लोगो के मन मे साहस एव आत्मविश्वास की एक नई लहर दौड गई। 'मैकू' के ताड़ीखाने पर स्वयसेवको का पहरा है। स्वयसेवक किसी को अन्दर नही जाने दे रहे थे। जब कोई जिद करता, तो सब जमीन पर लेट जाते और उससे छाती पर पाँव रखकर जाने को कहते। कोई क्रोध मे आकर मारता-पीटता, गालियाँ देता, पर वे अपनी जिद पर अडे हुए थे। एक दिन प्रसिद्ध पियक्कड़ मैकू और कादिर भी वही पहुचे। स्वयसेवको ने उन्हे भी रोका। मैकू ने ताव मे आकर एक स्वयसेवक के मुँह पर तमाचा जड़ दिया, उसके गाल पर उसकी पाँचो अगुलियो के निशान उभर आए। वह अन्दर चला गया, पर आत्मग्लानि से उसका मन अभिभूत हो उठा। वहाँ सुन्दर ठेकेदार ने उसे बढ़िया शराब भेट की, पर उसने अस्वीकार दिया। उसने मुफ्त

पीने को कहा, पर मैकू ने उसे भी नही स्वीकारा। अचानक ही उसे आवेश आया और डण्डा उठाकर उसने अन्दर बैठे सारे पियक्कडो को मारकर भगा दिया, ठेकेदार को भी मारा-पीटा। इस कहानियो के अतिरिक्त 'बैंक का दिवाला', 'दुर्गा का मन्दिर', 'आत्माराम', 'राजा हरदौल', 'रानी सारँधा', 'गृहदाह', 'दारोगा जी', 'शतरज के खिलाडी', 'सुजान-भगत', 'ईदगाह', बूढी काकी', 'दो बैलो की कथा', 'डामुल का कैदी', 'नमक का दारोगा', 'सत्याग्रह', 'प्रायश्चित', 'क्षमा', 'सती', 'महातीर्थ', 'मन्त्र', 'सोहाग का शव', 'डिक्री के रुपये', 'आत्मसंगीत', 'दो सखियाँ', 'पिसनहारी का कुआँ', 'लैला', 'नया विवाह', 'बेटो वाली विधवा', 'गुल्ली डण्डा', 'दिल की रानी', 'नेउर', 'दो कब्रें', 'जादू', 'मनोवृत्ति', 'कुसुम', 'नैराश्य लीला' आदि कहानियाँ जीवन के इसी व्यापक सन्दर्भ को लेकर लिखी गई कहानियाँ हैं।

अब प्रेमचन्द की कहानियो मे पात्र एव चरित्र चित्रण पर विचार करें। प्राय उत्कृष्ट कोटि के कहानीकार ऐसे ही चरित्रो की सृष्टि करते हैं, जिनके माध्यम से वे समाज के सम्मुख कोई अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर सकें या किसी नए यथार्थ का उद्घाटन कर सके। स्वाभाविकता चरित्र चित्रण का अनिवार्य अग होता है। मानव न देवता ही होता है, न असुर ही। मानव जीवन की जटिलताएँ और विषमताएँ ही तो मानव को मानव बना रहने देती है अन्यथा या तो वह देव तुल्य हो जाएगा या भयानक हिंस्र पशु। सुप्रवृत्तियाँ और कुप्रवृत्तियाँ सभी मे सामान्य रूप से होती हैं, हाँ इनकी न्यूनता या आधिक्य ही चरित्रो मे विविधता का निर्माण करती हैं। मानव प्राय अपनी चारित्रिक दुर्बलताओ से सघर्ष करता हुआ, ससार रूपी अथाह सागर के प्रवाह मे थपेडे खाता हुआ उसी के मध्य अपनी जीवन नौका को अपने बाहुबल और आस्था के आत्मबल के सहारे गतिशील करता है और अन्त मे अपने अन्तरमन मे छिपी हुई सद्प्रवृत्तियो का आश्रय ग्रहण करता हुआ इन पर विजय प्राप्त करता है। यह आवश्यक नही कि अन्त मे वह विजयी ही हो। वह जीवन सघर्ष मे पराजित भी हो सकता है और ऐसा प्रायः होता भी है। प्रेमचन्द की कई कहानियो मे ऐसी अपूर्व जिजीविषा भाव लिए हुए पात्रो का चित्रण हुआ है, जो जीवन भर परिस्थितियो से सघर्ष करते रहे पर विजयश्री का सेहरा कभी भी उनके सिर न बँध सका और अन्त मे पराजित होकर अपने दम तोड देते हैं। इन सब परिस्थितियो का स्वाभाविक एव यथार्थ चित्रण ही उन पात्रो को सशक्तता से उभारता है और वे पाठको के ऊपर स्थायी प्रभाव डालने मे सफल होते हैं।

चरित्र चित्रण के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द की अपनी धारणा थी और उसी के आधार पर वे अपने पात्रो को जीवन के यथार्थ से चुनते थे। (उनका विचार था कि पात्रो का चरित्र जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा, उतना ही पढने वालो पर उसका असर होगा) वे मानते थे कि कोई चरित्र अन्त मे भी वैसा ही रहे,

जैसा कि वह पहले था—उसके बल, बुद्धि और भावो का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है। चरित्रो मे कुछ-न-कुछ विशेषता भी रहनी चाहिए। जिस तरह ससार मे कोई दो व्यक्ति समान नही होते। इसी भाँति पात्रो मे भी विविधता होनी चाहिए। प्रेमचन्द के चरित्र चित्रण मे वस्तु और पात्रो का परस्पर सम्बन्ध होता है। कला की दृष्टि से यह एक बडी चीज है। कहानी के कथानक और पात्रो की गति मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होने से कहानी मे अधिक स्वाभाविकता और यथार्थता का आभास मिलता है। ऐसी बात नही है कि पात्र ऊपर से आरोपित प्रतीत हो और कथानक की गतिविधियो मे उनका कोई भाग न हो। प्रेमचन्द ने इस बात का बराबर ध्यान रखा है और इस दृष्टि से उनकी कहानियाँ सफल रही है। कथानक की आवश्यकता के अनुसार ही वे पात्रो को रखते हैं और उनका चरित्र चित्रण करते है। हाँ, यह बात दूसरी है कि अधिकाँश प्रसगो मे उनकी आवश्यकता समाप्त हो जाने पर उनका उचित निर्वाह कर पाना उनके लिए कठिन हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वे उन्हे या तो बीच कथानक से बिना किसी भूमिका से हटा देते हैं, या वे पात्र आत्महत्या करने या मरने के लिए विवश हो जाते हैं। ऐसे प्रसग चरित्र चित्रण की दृष्टि से निश्चय ही अस्वाभाविक और अयथार्थ प्रतीत होते हैं, यह निर्विवाद है। प्रेमचन्द की कहानियो मे चरित्र चित्रण सम्बन्धी एक और दोष यह लक्षित होता है कि प्राय वे पात्रो मे आए चरित्र परिवर्तन के कारणो को बताना भूल जाते हैं, जिनके कारण वे परिवर्तन अविश्वसनीय लगने लगते हैं। अपने पात्रो मे कुरूप और सुन्दर के मिश्रण मे उन्होने सुन्दर का उद्घाटन किया है। उनके अधिकाँश पात्र ऐसे हैं, जो दुर्बलताओ से ऊपर उठने की क्षमता रखते है। यद्यपि स्थितियो का प्रभाव उनके पात्रो पर अत्यधिक रूप से बराबर पडता रहता है। यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि सुन्दर के उद्घाटन की धुन मे अधिकाँश पात्रो को उन्होने याँत्रिक बना डाला है। 'मैकू', 'बैंक का दीवाला', 'समर यात्रा', 'सुजान-भगत' आदि कहानियो मे यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उनके पात्र दो प्रकार के हैं। एक तो आदर्शवादी हैं :

"सीधे-साधे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। धनिक समाज की भाति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नही दौडते। सुजान की खेती मे कई साल से कचन बरस रहा था। मेहनत तो गाव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चन्द्रमा बली थे। ऊसर मे भी दाना छीट जाता, तो कुछ न कुछ हो ही जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती हुई। उधर गुड का भाव तेज था। कोई दो ढाई हजार हाथ मे आ गए बस चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पडी। साधु सन्तो का आदर-सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी, कानूनो इलाके मे जाते, तो सुजान महतो के चौपाल मे ठहरते, हल्के के हेड-काँस्टेबिल, थानेदार

शिक्षा-विभाग के अफसर एक न एक उस चौपाल मे पडा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग। उनके द्वार पर जब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमो के सामने उनका मुह न खुलता था, उन्ही की अब महतो महतो करते जवान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता, एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा, तो गाँव मे आसन जमा दिया। गाजे और चरस की बहार उडने लगी। एक ढोलक आई, मजीरे मगवाये गये, सत्सग होने लगा यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर मे सेरो दूध होता, मगर सुजान के कण्ठ तले एक बूद जाने की भी कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए, सुजान की नम्रता का अब पारावार न था। सबके सामने सिर झुकाये रहता। कही लोग यह न कहने लगे कि धन पाकर इसे घमण्ड हो गया है। गाँव के कुल तीन ही कुए थे, बहुत से खेतो मे पानी न पहुचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कुआँ और बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानो चारो पदार्थ मिल गये। जो काम गाव मे किसी ने किया था, बाप-दादा के पुन्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।[1]

दूसरे प्रकार पात्र यथार्थवादी हैं .

"एक दिन चौथी खेप मे साहुजी ने दूना बोझ लादा। दिन-भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उस पर साहुजी कोडे फटकारने लगे। बस फिर क्या था, बैल कलेजा तोडकर चला। कुछ दूर दौडा और चाहा कि जरा दम ले लूँ, पर साहुजी को जल्द पहुचने की फिक्र थी, अतएव उन्होने कई कोडे बडी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर जोर लगाया, पर अब की शक्ति ने जवाब दिया। वह धरती पर गिर पडा और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहुजी ने बहुत पीटा, टाँग पकडकर खीचा, नथनो मे लकडी ठूँस दी, पर मृतक भी उठ सकता है? तब साहुजी को कुछ शका हुई। उन्होने बैल को गौर से देखा, खोलकर अलग किया, सोचने लगे कि गाडी कैसे पहुचे। बहुत चीखे-चिल्लाये, पर देहात का रास्ता बच्चो की आँख की तरह साँझ होते ही बन्द हो जाता है। कोई नजर न आया। आस-पास कोई गाव भी न था। मारे क्रोध के उन्होने मरे हुए बैल पर और दुर्रे लगाये और कोसने लगे— अभागे! तुझे मारना ही था, तो घर पहुच कर मरता! ससुरा बीच रास्ते मे मर रहा। अब गाडी कौन खीचे? इस तरह साहजी खूब जले-भुने। कई बोरे गुड और कई पीपे घी उन्होने बेचे थे, दो ढाई सौ रुपया कमर मे बधे थे। इसके सिवा गाड़ी पर कई बोरे नमक के थे, अतएव छोडकर जा भी नही सकते थे। लाचार बेचारे

१. प्रेमचन्द : सुजान : भगत

गाडी पर ही लेट गये। वही रतजगा करने की ठान ली। चिलम पी, गाया, फिर हुक्का पिया इस तरह साहुजी आधी रात तक नीद को बहलाते रहे। अपनी जान मे तो वह जागते ही रहे, पर पौ फटने ही नीद टूटी और कमर पर हाथ रखा। तो थैली गायब ! घबराकर इधर-उधर देखा तो कई कनस्तर तेल भी नदारद ! अफसोस मे बेचारे ने सिर पीट लिया, पछाड खाने लगे। प्रातः काल रोते-बिलखते घर पहुचे। साहुआइन ने जब यह बुरी सुनावनी सुनी, तब पहले रोई। फिर अलगू चौधरी को गालियाँ देने लगी — निगोडे ने ऐसा कुलच्छनो बैल दिया कि जन्म भर की कमाई लुट गई ! इस घटना को कई महीने बीत गये। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते, तब साहु और साहुआइन, दोनो ही झल्लाये हुये कुत्तो की तरह चढ बैठने . और अड बड बकने लगने—वहाँ ! यहा तो सारे जनम की कमाई लुट गई सत्यानाश हो गया, इन्हे दामो की पडी है मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम मागने चले है ! आखो मे धूल झोक दी, सत्यानाशी बैल गले बाँध दिया, हमे निरा पोगा ही समझ लिया। हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसे बुद्धू कही और होगे ! पहले जाकर किसी गड़हे मे मुह धो आओ तब दाम लेना। न जी मानता है तो हमारा बैल खोल ले जाओ। महीना भर के बदले दो महीना जोत लो। और क्या लोगे।[1]

प्रेमचन्द का चरित्र-चित्रण अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक दोनो प्रकार का है। कही-कही उनके पात्रो के चरित्रो की निवृत्ति नाटकीय रूप मे होती है—उनकी 'मनोवैज्ञानिक कहानियो मे विशेष रूप से, जैसे 'कफन' 'मनोवृत्ति', बडे भाई साहब तथा नशा' आदि कहानियाँ। उन्होने अपने पात्रो को जीवन के यथार्थ से ही चुना था और उनका चरित्र-चित्रण भी यथार्थ धरातल पर आधारित है, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके पात्र हमारे परिचित व्यक्ति से प्रतीत होते हैं और उनका हमारे चारो तरफ के जीवन परिवेशो से गहरा सम्बन्ध होता है। किन्तु यह भी सच है कि जहाँ वे आवश्यकता से अधिक सिद्धान्त और आदर्श पर बल देते हैं, वहा पात्रो की अस्वाभाविकता आ जाती है और पात्रो का चरित्र चित्रण गौण होकर सिद्धान्त आदर्श महत्वपूर्ण हो जाते हैं। इस सम्बन्ध मे कभी-कभी प्रेमचन्द कभी बातो का भी उल्लेख करते हैं, जिन पर सहसा विश्वास नही होता। उनके चरित्र-चित्रण सम्बन्धी एक उल्लेखनीय बात यह है कि वे अपने पात्रो की दुर्बलताओ और सबलताओ का तथा मनोवृत्तियो का मार्मिक चित्रण करते हैं। प्रेमचन्द ,ने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण किया, हैकिंतु वे मनोविज्ञान की गहराई मे नही बैठते। प्रेमचन्द के पात्रो मे विविधता तो अवश्य है, किन्तु उनके बहुत से प्रधान पात्रो मे सिद्धान्तो एव आदर्शों की समानता देखी जा सकती है। उनके नाम अलग-अलग होते हैं, व्यक्तित्व अलग-अलग होते हैं, वेशभूषा और काया भिन्न-भिन्न होती है, पर मूलत.

१. प्रेमचन्द : पच-परमेश्वर

भावधारा एक ही होती है। सुजान भगत, आत्माराम, जुम्मन, अलगू आदि अनेक पात्र इसके प्रमाण हैं। उनके प्रधान नारी पात्रो मे भी यही बात लक्षित होती है। नारी के लिये सेवा त्याग और सयम वे आवश्यक गुण समझते थे और किसी न किसी प्रकार उनमें ये गुण भर ही देते थे। कही-कही यह कलात्मक ढग से होता है, कही-कही सायास, पर स्वाभाविक ढग से। रुक्मिनि, शान्ति, माधवी, गोविन्दी आदि पात्र इसी कोटि मे आती हैं। उनके असाधारण उच्च या नीच पात्र एक ब धे बधाये मार्ग से चलते हैं और उनकी सीमाएँ प्रेमचन्द ने निर्धारित कर दी हैं, किन्तु उनके सामान्य और साधारण पात्र स्वाभाविक रूप मे हैं, इसीलिये आकर्षक हैं।

उनके पात्र जातीय अधिक हैं और वैयक्तिक कम। वे किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और उस युग की सारी विशेषताएँ उन पात्रो मे देखी जा सकती हैं। पर उनकी जातीयता उन्हे निर्जीव या नीरस नही होने देती, प्रेमचन्द की यह कलात्मकता है। वस्तुत प्रेमचन्द के सभी पात्रो मे सामाजिक एव मानवीय विशेषताए वही प्राप्त होती हैं, जिन्हे हम अपने नित्यप्रति के जीवन मे देखते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने कही कोई चीज आरोपित नही की है और न तथ्यो को तोडा मरोडा है। यही कारण है कि इन पात्रो का सम्बन्ध वाह्य जीवन से अधिक रहता है और उनका सघर्ष युग और समाज के सन्दर्भ मे ही उभरता है। उनके मानसिक द्वन्द्वों या आन्तरिक जगत के सघर्ष को प्रेमचन्द ने विशेष महत्व नही प्रदान किया है, जिससे कि वे वैयक्तिक बन पाते। यही कारण है कि प्रेमचन्द के पात्रो मे जातीयता अधिक है, वैयक्तिकता कम। यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि व्यक्तिवादी पात्र कही न कही भावनाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं, प्रेमचन्द की प्रखर सामाजिक चेतना और सामाजिक दायित्व के निर्वाह की तीव्र भावना ने यहाँ भी वैयक्तिकता नही आने दी है और वे सभी भाव वैयक्तिक न होकर सामाजिक ही हैं। उनके बहुत से ऐसे पात्र हैं, जिनमे विविध वर्गों से सम्बन्धित पाठक अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखते हैं। प्रेमचन्द की कहानियो मे चरित्र चित्रण की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द ने अपने पात्रो का चरित्र चित्रण बहिरग प्रणाली और अतरग प्रणाली दोनो के ही माध्यम से किया है। बहिरग प्रणाली मे पात्रो का चरित्र चित्रण कई पद्धतियों से किया जा सकता है। प्रथम तो उनके नामकरण इस प्रकार किए जाते है, जिससे उनके चरित्र का हलका आभास पहले ही पाठको को प्राप्त हो जाता है। प्रेमचन्द ने अपने पात्रो का नाम बहुत सोच-समझकर रखा है, जिससे उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट हो सके, रामसमुझ, नोहरी, माधवी, बुद्धू, भोला, अलगू आदि दूसरा ढग वह है, जिसमे प्रेमचन्द ने अपनी ओर से ही अपने पात्रो के सम्बन्ध मे सब कुछ कह दिया है

"आनन्दी एक बडे उच्च कुल की लड़की थी। उसके बाद एक छोटी-सी

रियासत के तल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी तीन कुत्ते, बाजार बहरी शिकरे, झाड फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेट और ऋण जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार-के योग्य पदाथ है, सभी यहा विद्यमान थे। नाम था भूपसिंह। बडे उदार-चित्त और प्रतिभाशाली पुरुष थे, पर दुर्भाग्य से लडका एक भी न था। सात लडकियाँ हुई और देवयोग से सबकी सब जीवित रही। पहली उमग मे तो उन्होने तीन ब्याह दिल खोलकर किये, पर जब पन्द्रह बीस हजार रुपयो का कर्ज सिर पर हो गया, तो आखे खुली, हाथ समेट लिया। आनन्दी चौथी लडकी थी। वह अपनी सब बहनो से अधिक रूपवती और गुणवती थी। इससे ठाकुर भूपसिंह उसे बहुत प्यार करते थे। सुन्दर सन्तान को कदाचित् इसके माता-पिता भी अधिक चाहते है। ठाकुर साहब बडे धर्म सकट मे थे कि इसका विवाह कहा करे।[1]

वे पात्रो की विशेषताओ और विकृतियो का विवेचन स्वय ही करते चलते हैं और अपना निर्णय भी देते चलते है। प्रेमचन्द मे यह प्रवृत्ति बहुत गलती है। वे जरा सा भी अवसर पाते ही अपने पात्रो की चरित्रगत विशेषताओं की स्वय ही टीका टिप्पणी करते है और अपनी ही ओर से निष्कर्ष-निर्णय भी दे देते है। वस्तुत इस इस प्रणाली मे व्याख्या एव विश्लेषण का सारा उत्तरदायित्व स्वय लेखक पर ही होता है। प्रेमचन्द, ऐसी बात नही थी कि इन सब दोषो को नही समझते थे, पर इसके बावजूद वे इसी प्रणाली पर अधिक बल देते रहे। उनके चरित्र-चित्रण को भली भाँति समझने के लिये यह आवश्यक है कि प्रेमचन्द अच्छा साहित्य उसे ही मानते थे, जो जीवन की आलोचना करे और अच्छी कहानियो की यह माग भी होती है कि वह मानव चरित्र पर प्रकाश डाले और उसके रहस्यो को खोलता हुआ मानव जीवन को मगलमय बनाने मे योग दे। उनका सारा चरित्र-चित्रण इन्ही तथ्यो पर आधारित है, प्रेमचन्द के चरित्र चित्रण सम्बन्धी एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपने मुख्य पात्र का प्रथम परिचय कुछ इस ढग से देते हैं, जैसे किसी सभा मे मुख्य अतिथि का परिचय दिया जाता है। वे इस प्रणाली मे पात्रो की आयु, वेश भूषा आकृति, शिक्षा सस्कार आदि सभी बातो का विवरण देते हैं, जैसे "बेदी ग्राम मे महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान मे प्रात. से सध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती, तो जान पडता था कोई चीज गायब हो गई। वह नित्यप्रति एक बार प्रात काल अपने तोते का पिजडा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश मे इसका जर्जर शरीर पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके

१. प्रेमचन्द प्रेम-द्वादशी (बड़े घर की बेटी-कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ ६१

पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योही लोगो के कानो मे आवाज आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' लोग समझ जाते कि भोर हो गई। महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। इसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थी, दर्जनो नाती पोते थे, लेकिन उसके बोझ को हलका करने वाला कोई न था। लडके कहते—'जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग ले, फिर तो यह ढोल गले पडेगी ही' बेचारे महादेव को कभी कभी निराहार ही रहना पडता। भोजन के समय उसके घर मे साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यवसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम मे निपुण था उसकी खटाई औरो से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रसानिक क्रियाएँ कही ज्यादा कष्ट साध्य थी, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्य-शून्य प्राणियो के अपशब्द सुनने पडते थे, पर महादेव अविचलित गम्भीर्य से सिर झुकाए सब कुछ सुना करता था। ज्योही यह कलह शान्ति होती, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता इस मन्त्र की जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।[1] ऐसे प्रसगो मे चरित्र चित्रण की नाटकीयता पूर्णतया समाप्त हो जाती है और वे प्रसंग बडे नीरस से लगने लगते हैं, पात्रो के सम्बन्ध मे पहले मे ही इस प्रकार के निर्णय दे देने से कही-कही अन्तर्विरोध भी उपस्थित हो जाता है। ऐसा कही कहानियो मे हुआ है कि जिन सारी विशेषताओ को प्रेमचन्द ने प्रथम परिचय के समय स्वय ही कह दिया है, वह सम्बन्ध पात्र उसका निर्वाह नही कर सका और एक भिन्न दिशा ही ग्रहण कर लेता है।

प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अगली विशेषता यह है कि किसी विशेष परिस्थिति मे पात्रो के चरित्र को स्पष्ट करने के लिये वे वातावरण का बडा ही प्रभावशाली चित्रण करते हैं। इन प्रसगो मे लगता है जैसे उसे पात्र को हम अपनी आँखो से देख रहे हैं, या उसकी कोई फिल्म देख रहे है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी "बाँका गुमान अपनी कोठरी के द्वार बैठा हुआ यह कौतुक बडे ध्यान से देख रहा था। वह इस बच्चे को बहुत चाहता था। इस वक्त के थप्पड उसके हृदय मे तेज भाले के समान लगे और चुभ गये। शायद उसका अभिप्राय भी यही था। धुनिया रुई को धुनकने के लिये तात पर चोट लगाता है। जिस तरह पत्थर और पानी मे आग छिपी रहती है उसी तरह मनुष्य के हृदय मे भी चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यो न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते है। गुमान की आँखे भर आयी आँसू की बूँदें बहुधा हमारे हृदय की मलिनता को उज्ज्वल कर देती हैं गुमान सचेत हो गया। उसने जाकर बच्चे को गोद मे उठा लिया और

1. प्रेमचद प्रेम द्वादशी (आत्माराम कहानी), इलाहाबाद, पृ० ४०

अपनी पत्नी से करुणोत्पादक स्वर मे बोला—बच्चे पर इतना क्रोध क्यो करती हो ? तुम्हारा दोषी मैं हू, मुझको जो दण्ड चाहे दो। परमात्मा ने चाहा तो कल से लोग इस घर मे मेरा और मेरे बाल बच्चो का भी आदर करेगे, तुमने आज मुझे सदा के लिये इस तरह जगा दिया, मानो मेरे कानो मे शखनाद कर मुझे कर्मपथ मे प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।' इसमे चरित्र चित्रण करने उनके चरित्र को स्पष्ट करना इस सम्बन्ध मे अगली उल्लेखनीय विशेषता है। यह प्रेमचन्द के मानव जीवन के सूक्ष्म अध्ययन का ही परिणाम है। हिन्दी के दूसरे कहानीकारो मे यह बात प्राय नही के बराबर प्राप्त होती है। हालॉकि स्वय प्रेमचन्द की ही प्रारम्भिक कहानियो मे यह बात बहुत कम परिलक्षित होती है, पर बाद मे यह बात अत्यन्त कलात्मक ढग से उभरने लगी। कुछ उदाहरण इस प्रकार है · 'साहु और साहुआइन दोनो ही झल्लाये हुए कुत्तो की तरह चढ बैठने और अड-बड बकने लगते, 'झीगुर ने गम्भीर भाव से कहा·· ' 'उसने अन्तर्वेदना से विकल होकर कहा' आदि।

प्रेमचन्द ने चरित्र-चित्रण सम्बन्धी नाटकीय प्रणाली का भी उपयोग किया है, हालाकि यह बहुत कम हुआ है। एक जगह उन्होने लिखा है कि मैं कथानक का संगठन इस प्रकार करता हू कि उसके द्वारा मानवीय चरित्र के सुन्दर और स्वस्थ अगो की अभिव्यजना हो सके। यह प्रक्रिया बडी उल्टी हुई होती है। उसमे मुझे कभी किसी व्यक्ति से प्रेरणा मिलती है। कभी किसी घटना से, कभी किसी स्वप्न से । नाटकीय प्रणाली से किए गए चरित्र चित्रण का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"नईम—अजी, मैं तुमसे बीस हजार की जगह उसका पॉच गुना वसूल कर लूँगा। तुम हो किस फेर मे।

कैलाश—मुँह धो रखिए !

नईम—मुझे रुपयो की जरूरत है। आओ, कोई समझौता कर लो।

कैलाश—कुँअर साहब के बीस हजार रुपये डकार गये, फिर भी अभी संतोष नही हुआ। बदहजमी हो जायेगी।

नईम—धन से धन की भूख बढती है, तृप्ति नही होती। आओ कुछ मामला कर लो। सरकारी कर्मचारियो द्वारा मामला करने मे और भी जेरबारी होगी।

कैलाश—अरे तो क्या मामला कर लूं। यहा कागजो के सिवा और कुछ हो भी तो।

नईम—मेरा ऋण चुकाने भर को बहुत है। अच्छा इसी बात पर समझौता कर लो कि जो चीज चाहू, ले लू फिर रोना मत।

कैलाश—अजी, तुम सारा छप्पर उठा ले जाओ, घर उठा ले जाओ, मुझे उठा ले जाओ और मीठे ्कडे खिलाओ। कसम ले लो जरा भी चू करू ।

१. प्रेमचद : प्रेम-द्वादशी (शखनाद-कहानी), इलाहाबाद, पृ० १५६-१६०

नईम—नही, मैं सिर्फ एक चीज चाहता हू, सिर्फ एक चीज।

कैलाश के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा, मेरे पास ऐसी कौन सी बहुमूल्य वस्तु है ? कही मुझसे मुसलमान होने को तो न कहेगा। यही धर्म एक चीज है, जिसका मूल्य एक से लेकर असख्य रखा जा सकता है। जरा देखू तो हजरत क्या कहते हैं।

उसने पूछा–क्या चीज ?

नईम—मिसेज कैलाश से एक मिनट तक एकान्त में बातचीत करने की आज्ञा ?

कैलाश ने नईम के सिर पर एक चपत जमाकर कहा—फिर वही शरारत ? सैकड़ो बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन-सी इन्द्र की अप्सरा है ?

नईम—वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकान्त की शर्त है।

कैलाश—मजूर है, मगर फिर जो डिक्री के रुपये मागे गये, तो नोच ही खाऊ गा।

नईम—हा, मजूर है।

कैलाश—(धीरे से) मगर यार, नाजुक-मिजाज स्त्री है, कोई बेहूदा मजाक न कर बैठना।

नईम—जी, इन बातो मे मुझे आपके उपदेश की जरूरत नही। मुझे उनके कमरे मे ले चलिए।

कैलाश—सिर नीचा किये करना।

नईम—अजी आखो मे पट्टी बाँध दो।[1]

कथोपकथन आधुनिक कहानी-कला के एक महत्त्वपूर्ण अग है। कुशल कहानीकार कथोपकथनो के माध्यम से अपने चरित्रो को स्पष्ट करता चलता है और समाज की दुर्व्यवस्था पर ऐसे मर्मभेदी तीखे व्यग्य कसता जाता है कि देखने वाले बस देखते ही रह जाते हैं। कथोपकथन मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। कथोपकथन जितने छोटे, व्यग्यपूर्ण और सार्थक होते हैं, कहानी उतनी ही नाटकीय और सफल समझी जाती है। लम्बे और निरर्थक कथोपकथन कहानी के प्रभाव को नष्ट कर देते हैं। प्रायः कहानियो मे अपने मत के प्रचार के लिये अथवा अपने सिद्धान्तो को लोक प्रिय बनाने के लिए लम्बे-लम्बे कथोपकथन ठूस देते हैं और पात्र आपस मे बातचीत करते-करते अचानक भाषण देने लगते हैं। इससे कहानी की सारी प्रभावाभिव्यजकता समाप्त हो जाती है। वास्तव मे कहानी शिल्प अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और कहानियो को एक विशेष प्रकार की संवेदना ही अधिक सफ-

१. प्रेमचन्द : प्रेम-द्वादशी, (डिक्री के रुपये-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ११६-११७

लता प्रदान करती है, न कि ये लम्बे लम्बे कथोपकथन, जो कहानियो को निर्जीव बना डालते हैं। प्रेमचन्द की कहानियो मे यह दोष प्रचुर मात्र मे प्राप्त होता है। कथोपकथन की एक अन्य विशेपता यह होती है कि वे चरित्रो को स्वय तो स्पष्ट करते ही चलते हैं, साथ ही कथानक को भी गतिशीलता प्रदान करते चलते है। कहानी के बीच लेखक जितना ही कम आता है, वह उतनी ही श्रेष्ठ और नाटकीय होती है। प्रेमचन्द की कहानियो मे ये सभी विशेषताए कुछ न कुछ अशो मे मिल जाती हैं। उनके कथोपकथन पात्रो के शील और स्वभाव पर प्रकाश डालते है। सहेलियो के सम्वाद, पति-पत्नी का पारस्परिक सम्वाद, व्यवसाय बुद्धि वालो का सम्वाद, धूर्तों और मक्कारो का सम्वाद तथा इसी प्रकार के अन्य सम्वाद इसी विशेषता को लिए हुए हैं। ये कथोपकथन पात्रो के चरित्रो की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और कही-कही बडी नाटकीयता के साथ उनके आन्तरिक हलचलो और उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो का विश्लेषण भी उपस्थित करते हैं। कथोपकथन द्वारा ही अभिनयात्मक ढंग से प्रेमचन्द स्थिति मे परिवर्तन भी बडी कुशलतापूर्वक कर देते हैं, डिक्री के रुपये' शीर्षक कहानी से जो उदाहरण ऊपर दिया गया है, उसमे यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उनके कथोपकथन घटनाओ को गति भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार उनके कथोपकथन अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक दोनो प्रकार के होते हैं। वे पात्रानुकूल भी हैं और वर्गानुकूल भी। इस दृष्टि से अपनी कहानियो मे प्रेमचन्द को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इससे पात्रो की बाह्य एव मानसिक स्थिति पर प्रकाश पडता है और वे भावानुकूल भी बन जाते है। किन्तु जहाँ प्रेमचन्द की सैद्धान्तिक विश्लेषण करने अथवा वाद-विवाद करने की प्रवृत्ति अधिक मुखर हो जाती है, वहा उनके कथोपकथन अधिक नीरस और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

"मोटेराम बोले—नगरवासियो, व्यापारियो, सेठो और महाजनो! मैंने सुना है, तुम लोगो ने कांग्रेस वालो के कहने मे आकर बडे लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हडताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बडी कृतघ्नता है? वह चाहे तो आज तुम लोगो को तोप के मुह पर उडवा दे, सारे शहर को खुदवा डाले, राजा हैं, हँसी ठट्ठा नही। वह तरह देते जाते है, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं और तुम गउओ की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो? लाट साहब चाहे तो आज रेल बन्द कर दे, डाक बन्द कर दे, माल का आना जाना बन्द कर दे। तब बताओ, क्या करोगे? वह चाहें, तो आज सारे शहर वालो को जेल मे डाल दे। बताओ, क्या करोगे? तुम उनसे भागकर कहाँ जा सकते हो? है कही ठिकाना? इसलिए जब इसी देश मे और उन्ही के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क्यो मचाते हो? याद रक्खो तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी मे है। ताऊन के कीडे फैला दे तो सारे नगर मे हाहाकार मच जाय। तुम झाड़ू से आंधी रोकने चले! खबरदार, जो किसी

ने बाजार बन्द किया । नही तो कहे देता हू, यही अन्न-जल बिना प्राण दे दू गा ।

एक आदमी ने शका की—महाराज, आपके प्राण निकलते २ महीने भर से कम न लगेगा । तीन दिन मे क्या होगा ।

मोटेराम ने गरजकर कहा—प्राण शरीर मे नही रहता, ब्रह्माण्ड मे रहता है मैं चाहू, तो योग-बल से प्राण त्याग कर सकता हू । मैंने तुम्हे चेतावनी दे दी, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने । मेरा कहना मानोगे । तो तुम्हारा कल्याण होगा । न मानोगे । तो हत्या लगेगी, संसार मे कही मु ह न दिखा सकोगे । बस, यह लो मैं आसन जमाता हू ।[1]

इसके विपरीत निम्नलिखित कथोपकथन हैं, जो अभिनयात्मक हैं । वह पात्रो के चरित्र-चित्रण उनके व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण तथा उनके अन्तर्द्वन्द्वो को ही नही उजागर करता, वरन् कथानक को भी गतिशीलता प्रदान करता है ।

१ "बाजार मे पहुचकर बीच मे बोला—लकडी तो उसे जलाने भर को मिल गई है—क्यो माधव ?

माधव बोला—हाँ लकडी तो बहुत है, अब कफन चाहिए । तो चलो कोई हलका सा कफन ले लें हाँ और क्या ? लाश उठाते २ रात हो जाएगी । रात को कफन कौन देखता है ।

कैसा बुरा रिवाज है कि जीते जी तन ढकने को चिथडा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए ।

कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है और क्या रखा रहता है ? यही ५ रुपए पहले मिले होते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते । दोनो एक दूसरे के मन की बात ताड रहे थे । बाजार इधर-उधर घूमते रहे । कभी इस बजाज की दूकान पर गए कभी उस दूकान पर । तरह २ के कपडे, रेशमी और सूती देखे मगर कुछ जँचा नही । यहा तक कि शाम हो गई । ··

तब दोनो न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गए । वहा जरा देर तक दोनो असमंजस मे खडे रहे । फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहु जी, एक बोतल हमे भी देना । इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आयी और दोनो परामीर मे बैठकर शान्तिपूर्वक पाने लगे । कई कु जियां ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनो सरूर मे आ गए ।

माधव बोला—कफन लाने से क्या मिलता ? आखिर जर ही तो जाता । कुछ बहू के साथ तो न जाता । लेकिन लोगो को जवाब क्या दोगे । लोग पूछेंगे नही ? कफन कहाँ है ?

---

१. प्रेमचन्द : प्रेम-द्वादशी (सत्याग्रह-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ७५

घीसू हसा अबे कह देगे कि रुपए कमर से खिसक गए। बहुत ढूढा मिले नही। लोगो को विश्वास तो न आएगा, लेकिन फिर वही रुपए देगे।

और दोनो खडे होकर गाने लगे।

'ठगिनी क्यो नैना झमकाए। ठगिनी··' [१]

२. "माया ने परदे की आड से मन्त्र मारना शुरू किया। वह थाने नही गए सोचा चलू, भामा से एक दिल्लगी करू। भोजन तैयार होगा। कल इतमीनान से थाने जाऊगा।

भामा ने सावरेन देखे 'हृदय मे एक गुदगुदी-सी हुई। पूछा—किसकी हैं ?

ब्रज—मेरी।

भामा—चलो कही हो न ?

ब्रज—पडी मिली हैं।

भामा—झूठी बात। ऐसे भाग्य के बली हो, तो सच बताओ, कहाँ मिली ? किसकी हैं ?

ब्रज—सच कहता हू। पड़ी मिली हैं।

भामा—मेरी कसम ?

ब्रज—तुम्हारी कसम।

भामा—गिन्नियो को पति के हाथ से छीनने की चेष्टा करने लगी।

ब्रजनाथ ने कहा—क्यो छीनती हो ?

भामा—लाओ मैं अपने पास रख लू।

ब्रज रहने दो, मैं इसकी इत्तला करने थाने जाता हू।

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—पडे हुए धन की क्या इत्तला ?

ब्रज—हाँ, और क्या, इन आठ गिन्नियो के लिये ईमान बिगाडू न !

भामा—अच्छा तो सबेरे चले जाना। इस समय जाओगे, तो आने मे देर होगी।

ब्रजनाथ ने भी सोचा, यही अच्छा। थाने वाले रात को तो कोई कार्रवाई करेंगे नही। जब अशर्फियो को पडा रहना है तब जैसे थाना वैसे मेरा घर।

गिन्निया सन्दूक मे रख दी। खा-पीकर लेटे, तो भामा ने हसकर कहा—आया धन क्यो छोडते हो ? लाओ, मैं अपने लिये एक गुलूबन्द बनवा लू। बहुत दिनों से जी तरस रहा है।

माया ने इस समय हास्य रूप धारण किया।

ब्रजनाथ ने तिरस्कार ने कहा—गुलूबन्द की लालसा में गले मे फाँसी लगाना चाहती हो क्या ? [२]

---

१ प्रेमचन्द : कफन और शेष रचनाएं, पृ० १०

२. प्रेमचन्द : प्रेम-द्वादशी (दुर्गा का मन्दिर-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ४६ ५०

उपर्युक्त कथोपकथन प्रेमचन्द के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणो में से हैं। इससे एक साथ कई उद्देश्य पूर्ण होते हैं। ये कथोपकथन सम्बन्धित पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वो पर ही प्रकाश नही डालते, नाटकीय ढग से चरित्र-चित्रण करते हुये उनके व्यक्तित्व भी स्पष्ट करते हैं; कथानक को गतिशीलता ही नही प्रदान करते, वरन बडे ही सूक्ष्म कलात्मक कौशल से आगे आने वाली घटनाओ की नाटकीय सूचना भी दे देते हैं। प्रेमचन्द का अत्यन्त प्रौढ़ कहानी शिल्प है, जिसे उन्होने अपने अन्तिम दौर की कई कहानियो में प्रयुक्त किया है। इन कथोपकथनो की भावाभिव्यक्ति की समर्थता, सक्षिप्तता, सार्थकता, नाटकीयता एव यथार्थता ही उन कहानियो को श्रेष्ठ बनाती है।

विचार एव उद्देश्य की गणना भी कहानी कला के अन्तर्गत होती है। कहानीकार का व्यक्तित्व उसकी कहानियो मे स्पष्टतया झलकता रहता है। समाज के सम्बन्ध मे उसकी कुरीतियो के सम्बन्ध मे, मानवता के विशिष्ट मूल्यांकन के सम्बन्ध में लेखक की कुछ अपनी मान्यताएँ, विचार एव उद्देश्य होते हैं। जिनकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही वह कहानियो की रचना करता है। कहानीकार के सम्मुख कोई निश्चित उद्देश्य होता है और वह कहानी मे स्थितियो की रचना करता है। कहानीकार के सम्मुख कोई निश्चित उद्देश्य होता है और, वह कहानी मे स्थितियो का सयोजन इस प्रकार करता है कि वह उसी उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में अग्रसर हो वह उद्देश्य कोई भी हो सकता है। किसी कहानीकार का उद्देश्य समाज की स्थिति का यथातथ्य यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करना होता है। कोई वेश्यावृत्ति का विधवा विवाह की समस्या का मार्मिक चित्रण कर उसका समाधान प्रस्तुत करना अपनी कहानियो का उद्देश्य बनाता है। कोई व्यक्ति को पूर्ण महत्ता प्रदान कर उसे समाज की तुलना मे सर्वोपरि सिद्ध करना अपना उद्देश्य बनाता है। वस्तुत विचार और उद्देश्य की कोई अन्तिम सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। जीवन की विभिन्नता और दृष्टिकोण का अन्तर ही उद्देश्य की भिन्नता और अन्तर है। चूकि सृष्टि जीवन का केन्द्र-बिन्दु मानव है, इसीलिए कहानियो मे प्रकट किए जाने वाला उद्देश्य भी मुख्य रूप से मानव जीवन से ही समबद्ध रहता है। कहानियो का सर्वप्रमुख उद्देश्य होता है कि वे अपने समस्त आयामो एव परिवेश से साहित्य की भावभूमि पर मानव सृष्टि कर उसके जीवन की उलझनो, विषमताओ आदि का चित्रण कर जीवन की समग्रता के निर्माण मे सहायता प्रदान करे। अच्छी कहानियों मे अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण से मानव को अधेरे से निकालकर प्रकाश की दिव्यता की ओर ले जाने का प्रयास होता है। यद्यपि उनमे उपदेशक वृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित नही होती। तथापि शब्दो के जाल मे यह भाव लक्षित होता है। इसी महान् उद्देश्य पर कहानियो की श्रेष्ठता निर्भर करती है, जिसकी अवहेलना प्रेमचन्द ने कभी नही की। उन्होने साहित्य को सोद्देश्यता से ही सम्बन्ध किया था और यही उनके लिए अन्तिम सत्य था, जो

प्रगतिशील तत्वो पर आधारित था। 'प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुखी जनता, गाव के अपढ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्नवर्ग के वे असख्य श्रम-श्रात वर्ग और वर्ण व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके स्नेह भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गो के प्राणी भी-उच्च वर्ग के राजा—उद्योगपति, जमीदार और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण पन्थी पण्डित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वचित नही थे। इसका अर्थ यह नही कि उनको सत्-असत् की चेतना नही थी। यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय मे उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन मे घृणा नही थी। उनके मन मे मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोडकर उन्होने कभी पापी से घृणा नही की। इसके लिए गाँधी और गाधी से भी अधिक स्वय गाधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानव-वादी लेखको का प्रभाव काफी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलत तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही सत था—उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उन युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव- जात था, युग-प्रथा मात्र नही। इसका उनके सस्कारो के साथ पूर्ण सामजस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदो से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियो ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव मे वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होने पू जीपतियो और जमीदारो के दोषो को क्षमा नही किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नही थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पू जीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुःख-दर्द का शिकार है। जिस तरह मजदूर राजनीतिक दलबन्दी मे आकर अपने मन मे इस तरह के खाने बना लेना कि उसके दु ख-दर्द का वहाँ प्रवेश न हो सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय हैं, और जिसके हृदय मे इस तरह का विभा-जन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन मात्र। क्योकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नही है कि एक की विवशता हमे करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है। वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नही थी। पापी को उन्होने क्षमा नही किया। शोषण के

अपराधो की उन्होने कभी भी उपेक्षा नही की।[1] प्रेमचन्द सच्चे अर्थों मे मानवतावादी थे। उनमे मानव-मूल्यो को पहचानने की अपूर्व क्षमता थी और उसे उसी सवेदनशीलता से प्रस्तुत करने की समर्थता भी थी।

प्रेमचन्द सामाजिक जीवन को अधिक महत्वपूर्ण स्थान देते थे और प्रत्येक ज्वलन्त सामाजिक समस्याओ के समाधान करने का वे उपाय खोजा करते थे। सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति मानव के चिरतन सत्य की उपलब्धि और व्यापक समाजवाद की स्थापना उनका उद्देश्य था। उनकी सभी कहानियो मे यही भाव प्रकट हुआ है। विचारो के क्षेत्र मे प्रेमचन्द को साहस और निर्भयता से प्रेम था। उन्हे जीवन मे बुजदिली और कायरता बिल्कुल पसन्द न थी। कायरता से अच्छा हिंसात्मक होना उन्हे पसन्द था। वे चरित्र की सादगी और सरलता पर बल देते थे और जीवन मे कृत्रिमता के विरोधी थे। उनको अपने समय के बुद्धिजीवियो और विशेषतया आधुनिक शिक्षा पद्धति के प्रति शका थी, क्योकि पाश्चात्य शिक्षा मे उन्हे बिल्कुल ही विश्वास न था। वे न्याय पक्ष की विजय मे विश्वास रखते थे और सत्य, शिव् और सुन्दरम् के प्रति आग्रहशील थे। नागरिक जीवन के प्रति उनकी कुछ अच्छी धारणा न थी। उनका विचार था कि पश्चिमी शिक्षा और सस्कृति के सस्पर्श से उसमे अर्थ-लोलुपता विलासप्रियता और अकर्मण्यता का प्रसार हो रहा है। जिससे वे घृणा करते थे और प्रगतिशील जनवादी समाज की स्थापना के मार्ग मे बाधक समझते थे। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है प्रेमचद के जीवन दर्शन का मूल तत्व है मानववाद। इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दो मे यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यवहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नही बढ़ती यो कहिये कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नही समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखण्डता तक पहुँचने की जरूरत नही समझी-इनके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहाँ तक उनकी गति भी नही थी। अतएव उनका मानववाद एकान्त नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियत्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओ का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत् असत् से परे हैं—शास्त्रीय शब्दावली मे मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का, जो अपने सहज रूप मे गुणातीत है, साक्षत्कार करने मे असमर्थ है। इसलिए प्रेमचन्द का मानववाद सुधारवाद से आगे नही बढ पाया। वास्तव मे अपने अतिम रूप मे मानववाद एक आध्यात्मिक दर्शन हैं और आत्मा की अखण्डता का साक्षात्कार किए बिना मानववाद की प्रतिष्ठा सम्भव नही है प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे। दृष्टा नही थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा। दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नही हो सका। उन्होने उसमे विश्वास भी कभी नही किया। क्योकि अपने ध्येय के लिए उन्हे इसकी

१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान . प्रेमचन्द : चिन्तन और कला, पृष्ठ १८४।

आवश्यकता ही नही हुई। उन्होने तो अपने युग-जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसीलिए उनको मानववाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं: एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधारमूलक है दूसरा वाम पक्ष का जनवाद, जो क्रान्ति मूलक है।[१] अपने युग धर्म के अनुकूल युग पुरुष गाधी के प्रभाव मे। प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गाधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नही अपना सके।

प्रेमचन्द को मनुष्य की सात्विक प्रवृत्तियो मे पूर्ण विश्वास था। उन्हे मनुष्य के देवत्व के प्रति कोई शंका नही थी। वे समझते थे कि कर्म और परिस्थितियो मे ही दोष होता है। जिनके कारण मनुष्य कुप्रवृत्तियो का दास होता है। यही कारण है कि अपनी किसी कहानी मे उन्होने मनुष्य की निन्दा नही की है। कर्म और परिस्थितिक को ही निन्दनीय सिद्ध किया है। जो परम्परा से चले आ रहे सामाजिक आचार विचार, सस्थाएँ आदि थी, उनके प्रति प्रेमचन्द की आलोचनात्मक धारणा थी और बहुतो मे उन्हे विश्वास न था। वे परम्परा के अनुयायी पर आधुनिकता के अन्धभक्त भी न थे। उन्होने दोनो मे परस्पर सामजस्य स्थापित कर उपयोगी तत्वो को ही ग्रहण करने पर अधिक बल दिया है। वे जीवन मे प्रगतिशील मानदण्डो के हिमायती थे। प्रेमचन्द का परिवार मे विश्वास था, किन्तु दुर्भाग्यवश उसके समय में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा टूट रही थी, इसलिए उन्होने टूटती हुई साम्मिलित कुटुम्ब प्रथा का बडे क्षोभ के साथ वर्णन किया है। वे व्यक्ति को पारिवारिक परिधि से खीचकर सामाजिक परिधि तक ले जाना चाहते थे। प्रेमचन्द नैतिकता मे विश्वास रखते थे। मनुष्य मे इस बात का विवेक होना चाहिए कि क्या ठीक है, क्या गलत है। इसके साथ कर्तव्य भावना, आस्तिकता और हृदय एव आचरण की पवित्रता को भी वे आवश्यक समझते थे। उनकी भावना ईश्वरत्व से हीन नही थी। मनुष्य की मनुष्यता और जनवादी परम्पराओं मे प्रेमचन्द का बिश्वास था और वे स्वतन्त्रता, समानता और आत्मसम्मान के प्रति आग्रहशील थे। वे व्यक्ति एव समष्टि का समन्वय चाहते थे। वे वर्ग समन्वय चाहते थे और ट्रस्टीशिप मे विश्वास रखते थे। वे चाहते थे कि सम्पत्ति का विववण समाज मे समान रूप से हो और वितरण पर सबका अधिकार हो, जिससे वर्ग- वैषम्य और शोषण को प्रोत्साहन न प्राप्त हो सका यद्यपि यह बहुत कुछ मार्क्सवादी नारा प्रतीत होता है, पर गाँधी जी का विश्वास भी इन्ही बातो मे था। वे इस बात मे विश्वास रखते थे कि श्रद्धा, प्रेम, सम्मान, शाँति और सहानुभूति धन से नही, त्याग बलिदान और सेवा भाव से ही प्राप्त हो सकती हैं।

---

१ डॉ० इन्द्रनाथ मदान : प्रेमचन्द : चिन्तन और कला, पृष्ठ १८७-१८८।

प्रेमचन्द युग दृष्टा थे। उन्होने अपने युग की आत्मा को ही गहराई से नही समझा था, वरन आने वाले युग का भविष्य भी देखा था। वे सामाजिक समस्याओ पर बराबर मनन-चिन्तन किया करते थे और आर्थिक शोषण, वर्ग-वैषम्य, विपन्नता बूर्जुआ मनोवृत्ति एव पूजीवादी सस्कृति आदि से उत्पन्न विषमताओ का समाधान बराबर सोचा करते थे और अपने विचारो को प्रगतिशील मानदण्डो की पृष्ठभूमि पर स्थापित करने की चेष्टा करते थे। वे सामाजिक प्राणी थे, इसीलिए समाज मे रहकर भी उससे असम्पृक्त नही रह सकते थे। चूकि प्रेमचन्द एक प्रगतिशील कहानीकार थे, इसलिए उनकी कहानियो मे प्रगतिशील मूल्यो की स्थापना है। प्रगतिशील लेखक सघ के प्रथम अधिवेशन मे भाषण देते हुए उन्होने कहा था कि कलाकार को अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इस कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना मे वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता को जिस अवस्था मे देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नही देती। इसलिए वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओ से उसका दिल कुढता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओ का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया मे जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। प्रेमचन्द साहित्य को उद्देश्यहीन अथवा निष्क्रिय नही बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि हममे दृढता और कर्मशक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमे अपनी दु खावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्वाह्य कारणो से हम इस निर्जीविता और ह्रास की अवस्था को पहुच गये हैं और उन्हे दूर करने की कोशिश करें। प्रेमचन्द का सारा विचार-दर्शन इन्ही प्रगतिशील तत्वो पर आधारित था, जिसका सुन्दर एव प्रभावशाली चित्रण उनकी कहानियो मे हुआ है। सबसे पहले नारी सम्बन्धी विचार ले। प्रेमचन्द के लिए नारी एक महान आदर्श थी। वे उसे श्रद्धा की दृष्टि से तो देखते ही थे, निर्माण और सुख-शाँति की दृष्टि से भी पुरुषो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझते थे। प्रेमचन्द नारियो के लिए सेवा और त्याग का अनुपम महत्व समझते थे। वे स्वीकारते थे कि यही दो शक्तिया ऐसी हैं, जिनसे कोई भी अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। उस समय अधिकार प्राप्ति के लिए जो नारी आन्दोलन चल रहे थे, प्रेमचन्द उन्हे बहुत अधिक महत्व की दृष्टि से देखते थे। इस सम्बन्ध में अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' मे उन्होने प्रो० मेहता के माध्यम से कहलवाया है, 'संसार मे सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको मिले हुए हैं। इन अधिकारो के सामने वोट कोई चीज नही। मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है,

इसलिये कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओ का आदर्श कभी विलास नही रहा। उन्होने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का सचालन किया है। पश्चिम मे जो चीजे अच्छी हैं, वह उनसे लीजिए, सस्कृति मे सदैव आदान-प्रदान होता आया है। लेकिन अच्छी नकल तो मानसिक दुर्बलता का लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृहस्वामिनी नही रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृखल बना दिया है। वह अपनी लज्जा और गरिमा को जो उसकी सबसे बडी विभूति थी चचलता और आमोद प्रमोद पर होम रही है। जब मैं वहाँ की सुशिक्षित बालिकाओ को अपने रूप का, या भरी हुई गोल बाहो या अपनी नग्नता का प्रदर्शन करते देखता हू, तो मुझे उन पर दया आती है। उनकी लालसाओ ने उन्हे इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की भी रक्षा नही कर सकती। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है।' अपने आक्रोश और असतोष को इस सम्बन्ध मे और भी तीखे ढग से अभिव्यक्त करते हुए और सेवा एव त्याग पर बल देते हुए इसी उपन्यास मे प्रेमचन्द ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, 'जिसे तुम प्रेम कहती हो, वह धोखा है। उद्दीप्त लालसा का विकृत रूप, इसी तरह जैसे सन्यास केवल भीख मागने का सुसस्कृत रूप है। वह प्रेम अगर वैवाहिक जीवन मे कम है, तो मुक्त विलास मे बिल्कुल नही है। सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति केवल सेवा-व्रत मे है। वही अधिकार का स्रोत है, वही शक्ति का उद्गम है। सेवा ही वह सीमेट है, जो दम्पति को जीवन-पर्यन्त स्नेह और साहचर्य में जोडे रह सकता है। जिस पर बडे-बडे आघातो का भी कोई असर नही होता। जहाँ सेवा का अभाव है, वही विवाह-विच्छेद है, परित्याग है, अविश्वास है। और आपके ऊपर पुरुष जीवन की नौका का कर्णधार होने के कारण जिम्मेदारी ज्यादा है। आप चाहे तो नौका को आँधी और तूफान मे पार लगा सकती हैं और आपने असावधानी की, तो नौका डूब जाएगी और उसके साथ आप भी डूब जाएगी। प्रेम के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने लिखा है, 'आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और नि स्वार्थ प्रेम, जिसमे आदमी अपने को मिटाकर केवल प्रेमिका के लिए जीता है। उसके आनन्द से आनन्दित होता है और उसके चरणो पर अपनी आत्मा समर्पण कर देता है। मेरे लिए निरर्थक शब्द है। प्रेम सीधी-सादी गऊ नही, खुख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नही पडने देता।' इसी प्रकार प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा था, 'मेरी नारी का आदर्श' है एक ही स्थान पर त्याग, सेवा और पवित्रता का केन्द्रित होना। त्याग बिना फल की आशा के हो, सेवा सदैव बिना असन्तोष प्रकट किए हो और पवित्रता सीजर की पत्नी की भाँति ऐसी हो, जिसके लिए पछताने की आवश्यकता न पडे।

एक अन्य स्थान पर उन्होने लिखा है, 'मेरे जेहन में औरत वफा और त्याग

की मूर्ति है जो अपनी बेजवानी से, अपनी कुर्बानी से अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है, आप कहेगे, मर्द अपने को क्यो नही मिटाता ? औरत ही से क्यो इसकी आशा करता है ? मर्द मे वह सामर्थ्य ही नही है। वह अपने को मिटाएगा, तो शून्य हो जाएगा। वह किसी खोह मे जा बैठेगा और सर्वात्मा मे मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेज-प्रधान जीव है और अहकार मे यह समझकर कि वह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर मे लीन होने की कल्पना किया करता है। स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान, शाँति-सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष मे नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है। नारी मे पुरुष के गुण आ जाते है, तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष आकर्षित होता है स्त्री की ओर, जो सर्वांश मे स्त्री हो किन शब्दो मे कहू कि स्त्री मेरी नजरो मे क्या है ? ससार मे जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ।' मैं उससे यह आशा रखता हू मैं इसे मार ही डालूँ तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमे न आए। अगर मैं उसके सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे। ऐसी नारी पाकर मैं उसके चरणो पर गिर पड़ूँगा और उस पर अपने को अर्पण कर दू गा।' आगे लिखते हैं, 'स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अंधेरे से। मनुष्य के लिये क्षमा, त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श है। नारी इस आदर्श को पार कर चुकी है। पुरुष धर्म और अध्यात्म तथा ऋषियो का आश्रय लेकर इस लक्ष्य पर पहुचने के लिए सदियो से जोर मार रहा है, पर सफल नही हो सका।' इस तर्क के उत्तर मे, 'भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी मे सेवा और सयम तथा कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है, अगर उसमे इन बातो का अभाव है तो नारी मे भी अभाव रहेगा। नारियो मे आज जो यह विद्रोह है, इसका कारण पुरुष का इन गुणो से शून्य हो जाना है।' प्रेमचन्द स्पष्टतया जोर देकर कहते हैं, 'मातृत्व महान् गौरव का पद है और गौरव के पद मे कहाँ अपमान, धिक्कार और तिरस्कार नही मिला ? माता का काम जीवन-दान देना है। जिसके हाथो मे इतनी अतुल शक्ति है, उसे इसकी क्या पर्वाह कि कौन उससे रूठता है, कौन बिगडता है। प्राण के बिना जैसे देह नही रह सकती। उसी तरह प्राण को भी देह ही सबसे उपयुक्त स्थान है।...नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ भी है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व ससार की सबसे बडी साधना, सबसे बडी तपस्या, सबसे बडा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द मे उसे लय कहूगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।' प्रेमचन्द ने इसी प्रकार नारी-शिक्षा पर भी अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि, 'मैं नही कहता, देवियो को शक्ति की जरूरत नही है, है और पुरुषो से अधिक,

लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नही, जिससे पुरुष ने संसार को हिंसा-क्षेत्र बना डाला है। अगर वही विद्या और वही शक्ति आप भी ले लेगी, तो समार मरुस्थल हो जाएगा। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वस मे नही, सृष्टि और पालन मे है। क्या आप समझती हैं कि वोटो से मानव जाति का उद्धार होगा या दफ्तरो या अदालतो मे जबान या कलम चलाने से ? इन नकली, अप्राकृतिक विनाशकारी अधिकारो के लिए आप वह अधिकार छोड देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिए हैं ?' इसीलिए प्रेमचन्द ने स्त्री और पुरुष दोनो के लिये परिवार का अत्यधिक महत्व माना है, क्योकि, 'हम सभी पहले मनुष्य हैं पीछे और कुछ। हमारा जीवन हमारा घर है। वही हमारी सृष्टि होती है, वही हमारा पालन होता है, वही जीवन के सारे व्यापार होते हैं। अगर वह क्षेत्र परिमित है, तो अपरिमित कौन-सा क्षेत्र है ? क्या वह सघर्ष, जहाँ सगठित अपहरण है ? जिस कारखाने में मनुष्य और उसका भाग्य बनता है। उसे छोडकर आप इन कारखानो मे जाना चाहती हैं, जहा मनुष्य पीसा जाता है, जहाँ उसका रक्त निकाला जाता है। कहना न होगा कि पारिवारिक व्यवस्था मे प्रेमचन्द की गहनतम आस्था थी और वे किसी भी रूप मे नही चाहते थे कि यह व्यवस्था विच्छिन्न हो। क्योकि एक स्वस्थ सामाजिक परम्परा के विकास के लिये वे इसे हानिकारक समझते थे। प्रेमचन्द के नारी सम्बन्धी ये विचार देखने मे चाहे जितने आदर्शवादी जान पडें, पर उनमे पूर्ण प्रगतिशीलता है। वे परम्पराओ से सम्बद्ध या रूढ तथा अव्यावहारिक नही है। नारी विलासिनी बने, आमोद-प्रमोद को जीवन समझे और अपनी नग्नता का प्रदर्शन करे, प्रेमचन्द इससे अधिक लज्जास्पद बात कुछ और समझते ही न थे। इसलिये उन्होने भारतीय आदर्शों की इन मूल बातो को खोज निकाला, जो परिवर्तित परिस्थितियो मे भी रूढ नही हो पाई थी और जिनकी उपयोगिता तब भी असदिग्ध थी। उन्ही विचारो को पूर्ण प्रगतिशील ढग से प्रेमचन्द ने शान्ति', 'दुर्गा का मन्दिर', 'अग्नि-समाधि', 'माता का हृदय', 'एक्ट्रेस', 'सोहाग का शव', नया विवाह', 'दो सखियाँ', 'बेटो वाली विधवा', 'लैला', 'सती', आदि नारी जीवन से सम्बन्धित अपनी सभी कहानियो मे प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द शोषण के विरुद्ध थे। वे चाहते थे कि देश मे समाजवाद की स्थापना हो, जिसमें सबको समान अधिकार प्राप्त हो और किसी का शोषण न हो। उत्पादन और वितरण पर सबका समान अधिकार हो और वर्ग-वैषम्य को बढावा न मिले। वे पूँजीवादी सस्कृति और बुर्जुआ मनोवृत्ति को प्रगतिशील जीवन की दृष्टि से घृणास्पद समझते थे। प्रेमचन्द ने पाठको के मनोरंजन के लिये या उनकी वासना तथा प्रेम-भावना को शान्त करने के लिए अपनी कहानियो की रचना नही की। वे कला को जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार

व्यक्त करने का साधन मानते थे। यही कारण है कि उनकी कहानियो में सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना का समावेश है। वे एक ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण चाहते थे, जिसमे न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कठिनाइयाँ होगी और न ही किसी प्रकार का भय होगा। वे कुछ-कुछ समाजवादी हैं, पर उनका समाजवाद कुछ अशो में बौद्धिक आस्था पर टिका हुआ है और कुछ उच्च भावना पर। वे इसमें विश्वास करते हैं कि सबको समान अवसर मिले। उन्होने एक पत्र मे लिखा, 'हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिये मैं सामाजिक विकास मे विश्वास रखता हूं। अच्छे तरीको के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है कि सबको अवसर मिले। इसका निर्णय लोगो के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नही हैं, तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नही बढ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिये क्या होगा। यह सन्देह की बात है। हो सकता है कि यह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप मे हमारे सामने आ खडा हो। मैं शुद्धीकरण के पक्ष मे तो हू, उसे नष्ट करने के पक्ष मे नही। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमे स्वर्ग मिलेगा, तो मैं ध्वस की भी चिन्ता न करता।' इस तरह प्रेमचन्द एक विकासवादी समाजवादी है। वे गाँधीवादी नीति के अनुयायी हैं। वे क्रान्ति से भय खाते हैं। इस भय के कारण वे क्रान्ति की अपेक्षा शान्तिपूर्ण विकास के मार्ग पर चलना अधिक पसन्द करते हैं। जहाँ तक प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, वे स्पष्ट रूप से इस बात की घोषणा करते हैं कि अच्छा साहित्य सदैव प्रगतिशील होता है। साहित्य जीवन की गम्भीर समस्याओ के सम्बन्ध मे जनमत तैयार करने का शक्तिशाली साधन है। यह जीवन की व्याख्या करता है और उसे बदलता है। इसलिये प्रेमचन्द केवल उन फूलों से प्यार करते हैं, जो फल लाते हैं और बादलो को प्यार करते हैं, जो पानी बरसाते हैं। वे सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य को प्रेम नही करते। सौन्दर्य वह है, जो जीवन को ऊँचा उठाये। मनुष्य-मनुष्य का शोषण करने के लिये पैदा नही हुआ, बल्कि उसे ऐसा बना दिया गया है। दोनो मे कोई प्राकृतिक विरोध नही है। इसके विपरीत उसका जीवन समाज के विकास पर आधारित है। इसलिये प्रगतिशील लेखक मनुष्य को समाज से अलग करके नही देखता। वह मनुष्य और समाज के बीच और भी गहरे नाते की कल्पना करता है।

अपनी कहानियो मे जटिल आर्थिक समस्याओ एव सामाजिक विषमताओ का यथार्थ चित्रण करके प्रेमचन्द ने यह सदेश देने का प्रयत्न किया है कि जब तक देश की आर्थिक व्यवस्था वर्ग-वैषम्य एव शोषण पर आधारित रहेगी, किसी स्वस्थ एव प्राणवान सामाजिक परम्परा के विकास की तो कल्पना ही नही की जा सकती। शोषित एव प्रताड़ित किसान विपन्नता के अथाह सागर मे सघर्ष करते हुए अपना

अस्तित्व बनाने के लिये और जीने के लिये शोषक वर्ग से जो सघर्ष करते हैं, वह बहुत अर्थ इसलिये नही रखता क्योकि शोषक-वर्ग अधिक शक्तिशाली और सगठित है। इसलिये प्रेमचन्द कहना चाहते है कि जब तक कृषक वर्ग सगठित न होगा एकता के सूत्र मे न बधेगा और परिस्थितियो की माँग के अनुसार जीवन मे गतिशील न होगा, उसका जीवन सुरक्षित रह ही नही सकता और वह सिर्फ यही कहकर सतोष करता रहेगा कि कौन कहता है कि हम तुम आदमी है। हममे आदमीयत कहाँ ? आदमी वह है, जिनके पास धन है, अखत्यार है, इलम है, हम लोग तो बैल हैं, और जुतने के लिए पैदा हुए हैं। उस पर एक दूसरे को देख नही सकता। एकता का नाम नही। प्रेमचन्द इस नैराश्य से घृणा करते थे। वे यह भी जानते थे कि किसान पक्का स्वार्थी होता है। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बडी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-ताव मे भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुडाने के लिए वह महाजन की घण्टो चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाए वह किसी के फुसलाने मे नही आता, लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षो मे फल लगते हैं, जनता उन्हे खाती है, खेती मे अनाज होता है, वह ससार के काम आता है, गाय के थन मे दूध होता है वह खुद पीने नही जाती, दूसरे ही पीते हैं, मेघो से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी सगति मे कुत्सित स्वार्थ के लिए कहाँ स्थान ? इसीलिये कृषक जीवन से सम्बन्धित अपनी ढेर सारी कहानियो के माध्यम से प्रेमचन्द ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किसान हमारे लिये हेय नही हैं। हम उसे शोषण करने का साधन न समझे। वह त्याग करता है और हमारी माग पूरी करता है। खेत मे अन्न उपजाकर उसे स्वय नही खाता वह भूखो रहकर हमारा पेट पालता है। इसलिए वह हमसे कही महत्वपूर्ण है और जब तक उसे पूरी सुविधाए नही दी जाएगी, एक अच्छी आर्थिक व्यवस्था की आशा करना हास्यास्पद बात होगी। एक आलोचक ने लिखा है[1] कि प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओ का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे आर्थिक विषमताओ के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पडी और उन्होने अपने ढग से उस सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होने अर्थ वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नही बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओ से पीडित हैं, परन्तु वे बहिर्मुखी सघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुण्ठाओ के शिकार बनकर नही रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके सृष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है, वे अनुपात ज्ञान कभी नही खोते, समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझा कर उसके मूल कारणो को दूर करने

१. डॉ० इन्द्रनाथ मदान प्रेमचन्द : चिन्तन और कला, पृष्ठ १८४

से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नही। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति मे उनका साथ नही छोडता, और इसी कारण प्रेमचन्द मे किसी रूप मे अतिवाद नही मिलता। गाँधी दर्शन मे आस्था रखते हुए भी उन्होने कही भी उसके प्रति आवश्यक, विवेकहीन उत्साह नही दिखाया है। गाँधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादो को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धान्तो द्वारा। उधर किसानो और मजदूरो के प्रति उनके समय मे अगाध सहानुभूति है, वास्तव मे शोषित वर्ग का इतना बडा हिमायती हिन्दी मे दूसरा नही है परन्तु जमीदारो और पूजीपतियो के प्रति भी यह कलाकार अपना सतुलन नही खो बैठा उनके दोषो पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह इनके गुणो को सर्वथा नही भुला बैठा। किसानो और मजदूरो मे अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वो के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होने किया है, परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है अभावात्मक रूप को नही। कही भी उन्होने जमीदारो और किसानो के प्रति घृणा एव प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय नही समझा। दूसरे शब्दो मे वर्ग-सघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होने कही भी स्वतन्त्र महत्व नही दिया। सघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए सघर्ष करना जीवन का ध्येय है। परन्तु वर्ग-सघर्ष को मानव के प्रति मानव के सघर्ष को एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रगो में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रग मे रगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकागिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जिन किसानो को अपनी कहानियो मे प्रेमचन्द ने उजागर किया है, उन्हे जीवन की कठोर नियति सहनी पडी थी। ऋण और निर्धनता के अभिशाप से ग्रस्त किसानो की स्थिति बडी ही दयनीय प्रतीत होती है। और मजे की बात यह है कि यह स्थिति एक किसान की नही, सभी भारतीय किसानो की है। हर गाँव पर यह विपत्ति है। एक भी आदमी प्रेमचन्द के गाँव मे ऐसा नही था, जिसकी रोनी सूरत न हो। मानो उसके प्राणो की जगह वेदना ही बैठी थी, जो उन्हे कठपुतलियो की तरह नचा रही हो। वे चलते फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिए कि पिसना और घुटना ही उनकी नियति थी। जीवन मे न कोई आशा थी, न कोई उमग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गए हो और सारी हरियाली मुरझा गई हो। इसका परिणाम यह होता है कि सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेते है, उसी तरह जैसे इजिन कोयला खा लेता है। स्वाद से उन्हे कोई

प्रयोजन नही होता। वे इतना नीचे गिर जाते हैं कि इनसे धेले-धेले के लिए बेईमानी करवा ली। मुट्ठी भर अनाज के लिये लाठियाँ चल वाली। पतन की वह अन्तिम सीमा है, जब व्यक्ति मूल मर्यादा और आत्म-सम्मान को भी विस्मृत कर जाता है। इस दयनीय स्थिति मे प्रेमचन्द कारणो की खोज करते हुये एक निष्कर्ष निकालते हैं। जिनमे उनका सदेश निहित होता है कि इनका देवत्व ही इनकी दुर्दशा का कारण है। काश, ये आदमी ज्यादा और देवता कम होते, यो न ठुकराये जाते। देश मे कुछ भी हो, क्रान्ति ही क्यो न हो, इनसे कोई सम्बन्ध नही। कोई दल उनके सामने सबल रूप मे आये, उसके सामने सिर झुकाने को तैयार हो। उनकी निरीहता जडता की हद तक पहुच गई हैं, जिसे कोई कठोर आघात ही कर्तव्य बना सकता है। उनकी आत्मा जैसे चारो ओर से निराश होकर अब अपने अन्दर ही टॉगे तोड कर बैठ गई है। उनमे अपने जीवन की चेतना ही जैसे लुप्त हो गई है। यही स्थिति श्रमिको की भी थी। उनकी स्थिति कृषको की स्थिति से कम शोचनीय नही थी। अत यदि प्रेमचन्द स्वराज्य चाहते भी थे, तो इसलिए क्योकि स्वराज्य मे मजदूरो और किसानो की आवाज इतनी दुर्बल न होगी, ऐसा वे सोचते थे। वे समझते थे कि स्वराज्य कभी गरीबो को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। वे चाहते थे कि गरीब किसान और श्रमिको के जो अधिकार हैं ये उन्हे मिलें। अपनी कहानियो मे उनकी आर्थिक विषमता एव विपन्नता दिखाकर यही संदेश देने की चेष्टा की है।

जीवन की मार्मिक व्याख्या करते हुये प्रेमचन्द ने दार्शनिक, धरातल पर भी अपना सदेश देने की चेष्टा की है। ये विचार इन स्थलो पर कुछ अधिक बौद्धिक बन गए है, जो नितान्त स्वाभाविक ही था। उनमे पर्याप्त गम्भीरता और सौम्यता है तथा विचारो के आदान-प्रदान एव तर्क-वितर्क के लिये पर्याप्त मसाला है। वे स्वीकारते थे कि मनुष्य जीवन मे सुख तो मनुष्य की अपनी कल्पना मे है। एक ही बात एक व्यक्ति के लिए सुखकारक हो सकती हैं, पर दूसरे के लिये दु खदायी। इसी जीवन रहस्य की मीमाँसा करते हुए उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि जिसे ससार दु ख कहता है वही कवि के लिए सुख है। धन और ऐश्वर्य, रूप और बल, विद्या और बुद्धि, ये विभूतिया ससार को चाहे कितना ही मोहित कर ले, कवि के लिए यहा जरा भी आकर्षण नही है। उसके मोह और आकर्षण की वस्तु तो बुझी हुई आशाएँ और मिटी हुई स्मृतियाँ और टूटे हुए हृदय के आसू हैं। जिस दिन इन विभूतियो मे उसका प्रेम न रहेगा। उस दिन वह कवि न रहेगा। ज्ञान-अज्ञान के सम्बन्ध मे उन्होने लिखा है कि अज्ञान की भाँति ज्ञान भी सरल, निष्कपट और सुनहले स्वप्न देखने वाला होता है। मानवता मे उसका विश्वास इतना दृढ़, इतना सजीव होता है कि वह इसके विरुद्ध व्यवहार को अमानुषीय समझने लगता हैं। यह वह भूल जाता है कि भेड़ियो ने पेड़ो

का जवाब सदैव पजे और दाँतो से दिया है। वह अपना एक आदर्श ससार बनाकर उसको आदर्श मानवता से आबाद करता है और उसी मे मग्न रहता है । यथार्थता कितनी अगम्य, कितनी दुर्बोध, कितनी अप्राकृतिक है, उसकी ओर विचार करना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। प्रेमचन्द जीवन मे कृत्रिमता के बडे विरुद्ध थे। एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि मैं प्रकृति का पुजारी हू और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप मे देखना चाहता हू। जीवन मेरे लिये आनन्दमय क्रीडा है , सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नही। मैं भूत की चिन्ता नही करता, भविष्य की परवा नही करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमे कायर बना देती है। भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। स्पष्ट ही है कि प्रेमचन्द वर्गहीन समाज की परिकल्पना किया करते थे। वे चाहते थे कि बूर्जुआ मनोवृत्ति एव पूँजीवादी सस्कृति का प्रसार न हो, किसी का आर्थिक शोषण न हो, ऊँच-नीच का भेद न हो और उत्पादन पर सबका समान अधिकार हो, ताकि वितरण मे किसी प्रकार की अव्यवस्था न हो और विकास करने का सबको समान अवसर प्राप्त हो। यह भावना समाजवादी दृष्टिकोण पर आधारित थी, जो प्रेमचन्द की कहानियों का मूल स्वर है।

अपनी कहानियो मे देशकाल-वातावरण का चित्रण करने में प्रेमचन्द सिद्धहस्त हैं। उनकी सारी कहानियो मे मिलाकर उनके समय का युग और समाज सजीव एवं यथार्थ ढग से प्रतिबिम्बित हो उठा है। उन्होने स्थानीयता का पूर्ण ध्यान रखा है और भारतीय लोक-परम्पराओ, सस्कृति एव आदर्शो को उनके वास्तविक रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। यही कारण हैं कि उनकी कहानियो को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने जीवन का सजीव चित्र अपनी आँखो से देख रहे हैं, जिसमे कही भी अयथार्थता या कृत्रिमता नही है। प्रेमचन्द की कहानी कला की यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता है एक उदाहरण देखिये 'वाजिद अली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रग मे डूबा हुआ था। छोटे बडे, अमीर-गरीब सभी विलासिता मे डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता, तो कोई अफीम की पिनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग मे आमोद प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग मे, साहित्य क्षेत्र मे, सामाजिक व्यवस्था मे, कला-कौशल मे, उद्योग-धन्धो मे, आहार व्यवहार सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय वासना मे, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन मे, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने मे, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने मे लिप्त थे। सभी की आँखो मे विलासिता का मद छाया हुआ था। ससार मे क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों

की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कही चौसर बिछी हुई है, पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कही शतरज का घोर सग्राम छिडा हुआ है। राजा से लेकर रक तक इसी धुन मे मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरो को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरज, ताश, गजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलो को सुलझाने की आदत पडती है। ये दलीले जोर के साथ पेश की जाती थी (इस सम्प्रदाय के लोगो से दुनिया अब भी खाली नही है) इसलिये अगर मिर्जा सज्जाद अली और मीर रौशनअली अपना अधिकाँश समय बुद्धि तीव्र करने मे व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी ? दोनो के पास मौरूसी जागीरें थी, जीविका की कोई चिन्ता न थी, घर मे बैठे चखौतियाँ करते थे आखिर और करते ही क्या ! प्रात काल दोनो मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लडाई के दाव-पेंच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता-खाना तैयार है। यहाँ हाँ जवाब मिलता-चलो आते है, दस्तरखान बिछाओ। यहाँ तक कि बवरची विवश होकर कमरे ही मे खाना रख जाता था, और फिर दोनो मित्र दोनो काम साथ-साथ करते थे। मिर्जा सज्जादअली के घर मे कोई बड़ा-बूढा न था, इसलिए उन्ही के दीवनखाने मे बाजिया होती थी, मगर यह बात न थी कि मिर्जा के घर और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घर वालो का तो कहना ही क्या, मुहल्ले वाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बडा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पडे। आदमी दीन दुनिया किसी के काम का नही रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्जा की बेगम-साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताडती थी, पर उन्हे इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थी, तब तक उधर बाजी बिछ जाती थी और रात को जब सो जाती थी, तब कही मिर्जा जी भीतर आते थे। हाँ, नौकर पर अपना गुस्सा उतारती रहती थी—क्या पान माँगें हैं ? कह दो, आकर ले जाय। खाने की भी फुरसत नही है ? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खाँय चाहे कुत्ते को खिलाये। पर रूबरू वह भी कुछ न कह सकती थी। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्जा जी अपनी सफाई देने के लिए सारा इलजाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।[१]

वास्तव में वातावरण की सजीवता एवं स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक है कि वह संतुलित और समन्वित हो और यथार्थ के धरातल पर निर्मित किया गया

१. प्रेमचन्द : प्रेम-द्वादशी, (शतरंज के खिलाड़ी—कहानी), पृष्ठ १३०-१३१

हो । वातावरण का ढग अत्यन्त रोचक होना चाहिए । कहानीकार को अपनी कुशल एव सूक्ष्म दृष्टि से उन्ही बातो को चुनना चाहिए, जिनसे वातावरण की यथार्थता भी आभासित हो सके और रोचकता एवं उत्सुकता भी बराबर बनी रहे । प्रेमचन्द इस दृष्टि से पूर्णतया सफल रहे हैं : "मगल का शुभ दिन था । बच्चे बडी बेचैनी से अपने दरवाजों पर खडे गुरदीन की राह देख रहे थे । कई उत्साही लडके पेडो पर चढ गए और कोई-न-कोई अनुराग से विवश होकर गाँव से बाहर निकल गए थे । सूर्य भगवान् अपना सुनहला थाल लिये पूरब से पश्चिम जा पहुचे थे, इतने ही मे गुरदीन आता दिखाई दिया । लडकों ने दौडकर उसका दामन पकड़ा और आपस मे खींचा-तानी होने लगी । कोई कहता था, मेरे घर चलो, कोई अपने घर का न्योता देता था । सबसे पहले भानु चौधरी का मकान पड़ा । गुरदीन ने अपना खोमचा उतार दिया । मिठाइयो की लूट शुरू हो गई । बालको और स्त्रियो का ठट्ठ लग गया । हर्ष और विषाद, सतोष का मोह, ईर्ष्या और लोभ, द्वेष और जलन की नाट्यशाला सज गई । कानूनदाँ बितान की पत्नी अपने तीनो लडको को लिए हुए निकली । शान की पत्नी भी अपने दोनो लडको के साथ उपस्थित हुई । गुरदीन ने मीठी बातें करनी शुरू की । पैसे झोली मे रखे, धेले की मिठाई दी और धेले का आशीर्वाद । लडके दोने लिये उछलते-कूदते घर मे दाखिल हुए । अगर सारे गाँव मे कोई ऐसा बालक था, जिसने गुरदीन की उदारता से लाभ न उठाया हो, तो वह बाँके गुमान का लडका धान था ।"[1] इस प्रकार अपनी कहानियो में वातावरण की दृष्टि से स्थानीयता, ग्रामीण संस्कृति, लोक-व्यवहार, मुहावरे, बोलचाल की भाषा, प्रकृति चित्रण एव ग्रामीणो की मनोवृत्तियो तथा सस्कारो का अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्मदृष्टि से किया है । वातावरण का सृजन करने मे प्रेमचन्द को कमाल हासिल है । उनके वातावरण सृजन मे मानवीयता भी है, कलात्मकता भी । सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ब्यौरे भी उन्होने बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किये हैं, जिनसे वातावरण मे यथार्थता और सप्राणता आई है ।

भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और अभिव्यक्ति का ढग ही शैली है । कहानी की भाषा का रचना की सफलता मे प्रमुख हाथ रहता है । भाषा जितनी ही सरल, भावाभिव्यंजक एव बोधगम्य रहती है, वह उतनी ही प्रभावशाली होती है । प्राय अच्छी से-अच्छी कहानियाँ अपना प्रभाव डालने मे इसीलिए असफल रहती हैं कि उनमे भाषा मे बोधगम्यता का नही, पाण्डित्य-प्रदर्शन का प्रयास रहता है । प्रेमचन्द का साहित्य साधारण-से-साधारण पाठको तक इसीलिए पहुच सका कि उनकी भाषा अत्यन्त सरल थी । भाषा के सम्बन्ध मे एक अन्य आवश्यक बात स्वाभाविकता की रक्षा होती है । जिस काल का कथानक चुना जाता है, भाषा उसी

१. प्रेमचन्द प्रेम-द्वादशी, (शखनाद—कहानी), पृष्ठ १५८

के अनुरूप होती है। कहानियो में कथानक के स्थान एव समय के अनुसार ही भाषा का प्रयोग आवश्यक हो जाता है, जिससे उनकी स्वाभाविकता एव यथार्थता पर कोई आँच न आ सके। प्रेमचन्द भाषा मे जनवादी तत्वो को महत्व देने के पक्षपाती थे। उन्होने भाषा को सरल, बोधगम्य, सहज और मुहावरेदार बनाने की बराबर कोशिश की और इस दृष्टि से वे हिन्दी के पहले कहानीकार हैं, जिन्होने भाषा को यथार्थ रूप देने की सफल चेष्टा की। उनकी भाषा के सम्बन्ध मे डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि शैलीकार की दृष्टि से प्रेमचन्द जी का स्थान हिन्दी साहित्य मे असाधारण है। सरल, सुबोध, मुहावरेदार, सजीव गद्य शैली का अभ्यास उर्दू लेखक के रूप मे वे पहले ही कर चुके थे। अपने इस अभ्यास को वह अपने साथ ही हिन्दी के क्षेत्र मे लेते आए। हिन्दी शैली की सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह प्राय नुकीली और खुरदरी है। अभी वह काफी मज नही पाई है। मुहावरे से तो लोगो को जैसे चिढ सी है। बोलचाल की भाषा को भी यथासम्भव बचाने का उद्योग किया जाता है। इन बाधाओ के रहने पर भी प्रेमचन्द ने अपना रास्ता निकाला और दूसरों को उस पर चलने के लिए आमन्त्रित किया।

प्रेमचन्द की कहानियो मे भाषा का एक तो यथार्थ रूप है : 'सौत का पुत्र विमाता की आँखो मे क्यो इतना खटकता है, इसका निर्णय आज तक किसी मनोभाव के पण्डित ने नही किया, हम किस गिनती मे हैं, देवप्रिया जब तक गर्भिणी न हुई थी, वह सत्यप्रकाश से कभी-कभी बातें करती, कहानियाँ सुनती, किन्तु गर्भिणी होते ही उसका व्यवहार कठोर हो गया। प्रसवकाल ज्यो-ज्यो निकट आता था, उसकी कठोरता बढती ही जाती थी। जिस दिन उसकी गोद मे एक चाँद से बच्चे का आगमन हुआ, सत्यप्रकाश खूब उछला-कूदा और सौर गृह मे दौडा हुआ बच्चे को देखने गया। बच्चा देवप्रिया की गोद मे सो रहा था। सत्यप्रकाश ने बडी उत्सुकता से बच्चे को विमाता की गोद से उठाना चाहा। सहसा देवप्रिया ने सरोष स्वर मे कहा—खबरदार इसे मत छूना, नही तो कान पकडकर उखाड लूगी।'[1] दूसरा रूप वह है, जिसमे चित्रोपमता है, शब्दो का कुशल सयोजन है और चुस्ती है : 'मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था मे उछल पडी। उसे प्रतीत हुआ कि सगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुन्दरता और आनन्द अधिक प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेश-जनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यो कुछ नही माँगता? आह! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करने वाला। मैं अब तनिक भी धीरज नही धर सकती। पानी उतार मे जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गध उड जाने

१ प्रेमचन्द . प्रेम द्वादशी, (गृह-दाह—कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ ८७

के लिए जितनी उतावली होती है, मैं उसी तरह उस स्वर्गीय सगीत के लिए व्याकुल हू। उस सगीत मे कोयल की-सी मस्ती है, पपीहे की-सी वेदना है; श्यामा की-सी विह्वलता है—इसमे झरनो का-सा जोर है, आँधी का-सा वेग। इसमे सब कुछ है, जिसमे विवेकाग्नि प्रज्ज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है और अन्त करण पवित्र होता है। नाविक, अब एक क्षण का विलम्ब मेरे लिए मृत्यु की यत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुचा दे। मैं देख नही सकती, इस सगीत का रचयिता कही निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"[1] उनकी भाषा का तीसरा रूप पात्रानुसार है :

"मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइये न। औरते नाजुक मिजाज होती ही हैं।"

मिर्जा—जी हाँ चला क्यो न जाऊँ। दो किश्तो मे आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहियेगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहे और मात हो जाय! पर जाइये, सुन आइये। क्यो ख्वामख्वाह उनका दिल दुखाइयेगा।

मिर्जा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नही। आप जाकर सुन आइए।

मिर्जा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ, सिर दर्द खाक नही है, मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी पडेगी।

मिर्जा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हर्गिज नही, जब तक आप सुन न आवेगे, मैं मुहरे मे हाथ ही न लगाऊँगा।

मिर्जा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहब ने त्योरियाँ बदलकर, लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हे निगोडी शतरज इतनी प्यारी है। चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नही लेते। नौज कोई तुम जैसा आदमी हो।

मिर्जा—क्या कहू मीर साहब मानते ही न थे। बडी मुश्किल से पीछा छुडाकर आया हूं।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसा ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे है, या सबका सफाया कर डाला?

मिर्जा—बडा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पडता है।

बेगम—दुतकार क्यो नही देते?

---

१. प्रेमचन्द : मानसरोवर, (आत्म-सगीत—कहानी), बनारस

मिर्जा—बराबर के आदमी हैं, उम्र मे, दर्जे मे, मुझसे दो अगुल ऊँचे। मुलाहिजा करना ही पडता है।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हू। नाराज हो जायेंगे, हो जायें, कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया जा बाहर से शतरज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ ले जाइये।

मिर्जा—हाँ-हाँ, कही ऐसा गजब न करना, जलील करना चाहती हो क्या। ठहर हिरिया, कहाँ जाती है ?

बेगम—जाने क्यो नही देते ? मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानू ।[1]

उनकी भाषा के सम्बन्ध मे उल्लेखनीय बात यह है कि जिस समय वे साहित्य के क्षेत्र मे आए, उर्दू और हिन्दी का सघर्ष चल रहा था। वे सस्कृत नही जानते थे और वे उर्दू से हिन्दी मे आए थे। इन्ही तीन बातो ने मिलकर उनकी भाषा का स्वरूप निर्धारित किया था। प्रेमचन्द ने हिन्दी का जातीय रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया। सस्कृत के सरल शब्दो, कहावतो और मुहावरो का प्रयोग किया। उनकी भाषा वस्तु पात्र, देशकाल—तीनो के साथ सामजस्य स्थापित किए हुए है। कही-कही उन्होने कोमलता और मार्मिकता ग्रहण किए हुए काव्यानुकूल भाषा का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा कहावतो और मुहावरो से समन्वित है, पर कही भी उन्होने भाषा को बोझिल नही बनने दिया है। उनकी भाषा और शैली मे समन्वय है, पर उन्होने स्थूलत्व का ही आश्रय ग्रहण किया था। निष्कर्ष रूप मे प्रेमचन्द की कहानी कला के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा जा सकता है[2] कि प्रेमचन्द की कहानियाँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। उनकी प्रारम्भिक कहानियो मे वर्णनात्मक और घटनाओ का प्राधान्य मिलता है। उनमे चरित्रगत रहस्योद्घाटन नही है। धीरे-धीरे प्रेमचन्द की कहानियो मे भाषा और कला का परिष्कृत और प्रौढ रूप मिलने लगा और वे चरित्र क मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अध्ययन करने लगे। उन्होने कहानियो के कथानक सामाजिक, राजनीतिक, ग्रामीण, ऐतिहासिक आदि विविध और व्यापक क्षेत्रो से लिए हैं। राष्ट्रीयता और आदर्श उनकी कहानियो मे ओत-प्रोत है। प्रेमचन्द ने घटना-प्रधान, वातावरण प्रधान, ऐतिहासिक आदि अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी। उन्होने मानव-जीवन का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और अनेक प्रसगो और परिस्थितियो पर प्रकाश डाला है। उनमे रमणीयता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण मिलता है। मानव स्वभाव के मार्मिक चित्र उनकी कहानियो मे मिलते हैं। विषम-

१ प्रेमचन्द . प्रेम द्वादशी, (शतरज के खिलाड़ी), इलाहाबाद, पृष्ठ १३१-१३२
२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८७

विस्तार के साथ-साथ कहानियो के प्रकारो और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द का क्षेत्र बहुत व्यापक है। चरित्र-चित्रण करते समय उन्होंने मानवी विशेषताओ की ओर ध्यान दिया है। चरित्र-चित्रण की कला मे तो वास्तव मे प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। ऐतिहासिक कथावस्तु के संगठन मे भी उन्हें सफलता मिली है। संवेदनशीलता उनकी कला की विशेषता है। उन्होने पश्चिम से कहानी का ढाँचा लिया। उर्दू से एक चुस्त और धारावाहिक शैली ली और अपने चारो ओर के जीवन से प्रेरणा ली। कथोपकथनो से उनके पात्रो के चरित्र पर पूर्ण प्रकाश पडता है। वे स्वाभाविक और व्यावहारिक हैं। भाषा के कारण उनकी कहानियो मे और भी सजीवता आ जाती है। चुस्त मुहावरो और लोकोक्तियो से समन्वित चित्रोपम, प्रसाद गुण-युक्त और सजीव भाषा ने उनकी कहानी कला मे चार चाँद लगा दिए हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के इस मत मे पर्याप्त सार है, जिसका विस्तृत विवेचन पीछे किया जा चुका है।

प्रेमचन्द की कहानियो का विकास क्रम

[१]

प्रेमचन्द का 'सोजेवतन' नामक कहानी सग्रह १९०७ मे प्रकाशित हुआ था, जो ब्रिटिश साम्राज्यवादियो द्वारा जब्त कर लिया गया था। ये कहानिया उर्दू मे थी। १९१५ मे उनकी उर्दू कहानियो का हिन्दी अनुवाद 'सप्त-सरोज' नाम से प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष १९१५ मे प्रेमचन्द को प्रथम हिन्दी मौलिक कहानी 'पच-परमेश्वर' प्रकाशित हुई अत. उनकी कहानियो के विकास-क्रम के प्रथम-चरण को हम १९१५ से १९२० तक स्वीकार सकते हैं। इस चरण की कहानियाँ पूर्णत आदर्शवादी हैं। इसी समय प्रेमचन्द दो बडे उपन्यासो की रचना कर चुके थे और तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक परिस्थितियाँ इतनी जटिल हो चुकी थी कि प्रेमचन्द ने जब अपनी कहानियाँ उन पर आधारित की, तो स्वभावत. वे अधिक लम्बी हो गयी, उनमे इतिवृत्तात्मक गुणो का समावेश हो गया और उन जटिलताओ के यान्त्रिक समाधान की प्रवृत्ति प्रधान हो गई। इस प्रथम चरण की कहानियो मे घटनाओ, चरित्रो एव सवेदनाओ की भरमार है, जिसका कोई यथार्थ या सन्तुलित रूप उपस्थित करने मे प्रेमचन्द असमर्थ रहे हैं। उनमे वर्णनात्मकता अधिक है और प्रेमचन्द द्वारा व्याख्या पर अधिक बल है। स्वय कहानीकार द्वारा ही सारी घटनाए कहने का प्रयत्न है, इसलिए उनमे नाटकीयता का अभाव है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन कहानियो मे पात्रो के बाह्य चरित्रो की व्याख्या तो कहानीकार द्वारा हो गई है, पर उनकी आन्तरिक प्रवृत्तियो एव मनोभावो का स्पष्टीकरण नही हो सका है। उनमे सयोग तत्वो (Chance Elements) को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है और कहानियाँ फार्मूलाबद्ध तरीके से सगुफित होती हैं, जिससे स्वाभाविकता पर बहुत आघात पहुचा है। उनका एकमात्र लक्ष्य आदर्श की प्रतिष्ठापना है, न कि यथार्थ के

चित्रण मे। एक स्थान पर प्रेमचन्द ने लिखा है, 'हिन्दुस्तानी भाषाओ मे कहानी का कोई इतिहास नही है। प्राचीन साहित्य मे दृष्टान्तो और रूपको से उपदेश को काम लिया जाता था। उस समय की वे ही गल्पे थी। उनमे आध्यात्मिक विषयो का ही प्रतिपादन किया जाता था। महाभारत आदि ग्रन्थो मे ऐसे कितने ही उपाख्यान और दृष्टान्त हैं जो कुछ-कुछ वर्तमान समय की गल्पो से मिलते है। सिहासन बत्तीसी, बैतालपचीसी, कथा-सरित्सागर और इसी श्रेणी की अन्य कितनी ही पुस्तकें ऐसे दृष्टान्तो का सग्रह मात्र हैं जिन्हे किसी एक सूत्र मे पिरोकर मालाएँ तैयार कर दी गई हैं। योरप का प्राचीन साहित्य भी Short story से यही काम लेता था। आज-कल जिस वस्तु को हम Short story कहते हैं, उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का आविष्कार हैं। भारतवर्ष मे तो इसका प्रचार उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दिनो मे हुआ है। उपन्यासो की भाति आख्यायिकाओ का विकास भी पहले-पहल बगला साहित्य मे हुआ और बकिमचन्द्र और रवीन्द्रनाथ ने कई उच्चकोटि की गल्पे लिखी। बीसवी शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी-भाषा मे कहानियाँ लिखी जाने लगी और तब से इसका प्रचार दिन-दिन बढता जाता है। प्राचीन गल्पमालाओ का उद्देश्य मुख्य करके कोई उपदेश करना होता था। कितनी मालाएँ तो केवल स्त्रियो के चरित्र-दोष दिखाने के लिए ही लिखी गई हैं। मुस्लिम साहित्य मे अलिफ लैला गल्पो का एक बहुत ही अनूठा सग्रह है, मगर उसका उद्देश्य उपदेश नही है। वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्य-रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य मे जितनी ही दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि वर्तमान गल्प लेखक कोरी गप्पे लिखता है, जैसे बोस्ताने ख्याल या तिलस्मे होशरूबा हैं। नही, उसका उद्देश्य चाहे उपदेश करना न हो, पर गल्पो का आधार कोई न कोई दार्शनिक तत्त्व या सामाजिक विवेचन अवश्य होता है। ऐसी कहानी जिसने जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढियो की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य मे सद्भावो को दृढ न करे या जो मनुष्य मे कुतूहल का भाव जाग्रत न करे, कहानी नही है। योरप और भारतवर्ष की आत्मा मे बहुत अन्तर है। योरप की दृष्टि सुन्दर पर पडती है; पर भारत की सत्य पर। सम्पन्न योरप मे मनोरंजन के लिए गल्प लिखे, लेकिन भारतवर्ष कभी इस आदर्श को स्वीकार नही कर सकता। नीति और धर्म हमारे जीवन के प्राण हैं। हम पराधीन हैं, लेकिन हमारी सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता से कही ऊँची है। यथार्थ पर निगाह रखने वाला योरप, हम आदर्शवादियो से जीवन सग्राम मे बाजी क्यो न ले जाय, पर हम अपने परम्परागत सस्कारो का आधार नही त्याग सकते। साहित्य मे भी हमे अपनी आत्मा की रक्षा करनी ही होगी। हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर योरप से लिया है, लेकिन हमे इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर मे भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।' प्रथम

चरण की कहानियो के मूल भाव को समझने मे प्रेमचद का यह दृष्टिकोण बहुत सहायक होगा । वे परम्परागत सस्कारो का आधार नही त्यागना चाहते थे और न भारतीय आत्मा का तिरस्कार करना चाहते थे, इस चरण की ही नही, उनकी आगे की कहानियाँ भी इसी भाव-भूमि पर आधारित हैं । -

प्रथम चरण मे 'सप्त-सरोज', 'नवनिधि' तथा 'प्रेम-पचीसी' कहानी सग्रह प्रकाशित हुए, जिनमे 'पच-परमेश्वर', 'नमक का दरोगा', 'सौत', 'रानी सारधा'. 'बडे घर की बेटी' 'मर्यादा की बेदी', 'अमावस्या की रात्रि', 'पाप का अग्निकुण्ड', तथा 'ममता' आदि कहानियो को देखकर यही निष्कर्ष निकलता है :

१. इन कहानियो मे इतिवृत्तात्मक गुणो का प्राधान्य है ।

२ घटनाओ का वाहुल्य है, तथा वर्णनात्मकता ही अधिक लक्षित होती है ।

३. पात्रो की भरमार है, जिनमे चरित्रो की केवल व्याख्या की गई है, उनके आन्तरिक भावो का विश्लेषण या मनोभावो का स्पष्टीकरण नही हुआ है ।

४ ये कहानियाँ बहुत लम्बी हैं, जिनमे आदर्शवाद की प्रतिष्ठापना हुई है, यथार्थवाद के प्रति कम आग्रह है ।

५. भाषा पर उर्दू का प्रभाव बहुत अधिक है ।

६ सारी कहानियाँ किस्सागोई शैली मे हैं ।

इस चरण की कहानियो का प्रारम्भ भूमिका की भाँति होता है, जैसे बिना सारे परिचय के कहानी का प्रारम्भ होना उचित नही है, जैसे, 'बेनीमाधव सिंह गौरीपुर के जमीदार और नम्बरदार थे । उनके पितामह किसी समय बड़े धन-धान्य सपन्न थे । गाँव का पक्का तालाब और मन्दिर जिनकी अब मरम्मत भी मुश्किल थी, उन्हीं के कीर्ति-स्तम्भ थे । कहते हैं, इस दरवाजे पर हाथी झूमता था । अब उसकी जगह एक बूढी भैंस थी, जिसके शरीर मे अस्थि पजर के सिवा और कुछ शेष न रहा था, पर दूध शायद बहुत देती थी, क्योकि एक न एक आदमी हाडी लिये उसके सिर पर सवार ही रहता था । बेनीमाधव सिंह अपनी आधी से सम्पत्ति वकीलो की भेट कर चुके थे । उसकी वर्तमान आय एक हजार रुपए वार्षिक से अधिक न थी । ठाकुरसाहब के दो बेटे थे । बड़े का नाम श्रीकठ सिंह था । उसने बहुत दिनो के परिश्रम और उद्योग के वाद के बाद भी बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी । अब एक दफ्तर मे नौकर था । छोटा लडका लालबिहारी सिंह दोहरे बदन का सजीला जवान था । भरा हुआ मुखडा, चौड़ी छाती ।'[1] आदि । यह कहानी न केवल किस्सागोई ढग से ही प्रारम्भ होती है, वरन पात्रो आदि के सम्बन्ध मे सारी भूमिका भी पहले ही बाँध दी गई । आगे चलकर आनन्दी के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार की भूमिका दे दी गई है ।

---

१. प्रेमचद : प्रेम-द्वादशी, (बड़े घर की बेटी-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ६३-६४

इस चरण की कहानियो का अन्त चरम सीमा पर न होकर उपसंहार देने की प्रवृत्ति के अनुसार हुआ है। प्रेमचन्द ने प्रायः हर कहानी मे उपसहार दिए हैं। जैसे—

अलगू चौधरी फूले न समाय, उठ खडे हुए और जोर से बोले—पच परमेश्वर की जय !

चारो ओर प्रतिध्वनि हुई—पचा-परमेश्वर की जय !

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता—इसे कहते हैं न्याय। यह मनुष्य का काम नही, पच मे परमेश्वर वास करते हैं। यही उन्ही की महिमा है। पच के सामने खोटे को कौन खरा कह सकता है ?

थोडी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आये, और उनसे गले लिपटकर बाले—भैया, जबसे तुमने मेरी पंचायत की तबसे मैं तुम्हारा प्राण-घातक शत्रु बन गया था, पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे कुछ नही सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनों के दिल का मैल धुल गया मित्रता की मुरझाई हुई लता फिर हरी हो गई।[1] इस प्रकार की कहानियो मे न केवल उपसहार ही दिए गए हैं, वरन आदर्शवादी समाधान भी प्रस्तुत किए गए हैं। इस चरण की कहानियो मे अधिकाशत लम्बे-लम्बे कथोपकथन भी मिलते हैं, पर छोटे-छोटे सक्षिप्त कथोपकथन भी कई कहानियो मे आए हैं, हालांकि उनमे नाटकीयता का पूर्ण अभाव है—

"जब एकान्त हुआ, तो लालबिहारी ने कहा—भैया, आप जरा भाभी को समझा दीजिएगा, कि मुँह सम्भालकर बात किया करें, नहीं तो एक दिन अनर्थ हो जाएगा।

बेनीमाधव सिह ने बेटे की ओर साक्षी दी—हाँ, बहू बेटियो का यह स्वभाव अच्छा नही, कि मर्दों के मुह लगे।

लालबिहारी—वह बडे घर की बेटी है, तो हम भी कोई कुर्मी-कहार नही हैं।

श्रीकठ ने चिन्तित स्वर से पूछा—आखिर बात क्या हुई ?

लालबिहारी ने कहा—कुछ भी नही, यो ही आप ही आप उलझ पडी। मैके के सामने हम लोगों को तो कुछ समझती ही नही।

श्रीकठ खा-पीकर आनन्दी के पास गए। वह भरी बैठी थी, यह हजरत भी कुछ तीखे थे। आनन्दी ने पूछा—चित्त तो प्रसन्न है ?

श्रीकठ बोले—बहुत प्रसन्न है, पर तुमने आजकल घर मे यह क्या उपद्रव मचा

१. प्रेमचद प्रेम-द्वादशी, (पच-परमेश्वर-कहानी), इलाहाबाद, पृ० १५२

रखा है ।

आनन्दी की त्योरियो पर बल पड गए, झुंझलाहट के मारे बदन मे ज्वाला सी दहक उठी। बोली—जिसने तुमसे यह आग लगायी है, उसे पाऊं, तो मुह झुलस दूं ।

श्रीकठ—इतनी गरम क्यों होती हो ?

आनन्दी—क्या कहू, यह मेरे भाग्य का फेर है। नही तो एक छोकरा, जिसको चपरासगिरी करने का भी शऊर नही, मुझे खड़ाऊं से मारकर यो न अकडता ।

श्रीकठ—सब साफ-साफ हाल कहो, तो मालूम हो, मुझे तो कुछ पता नही ।[1]

इस कथोपकथन की तुलना अगले दो चरणो की कहानियो के कथोपकथन से की जाए, तो अनेक बातें स्पष्ट होती हैं, जहाँ कथोपकथनो से दुहरे-तिहरे उद्देश्य पूर्ण करके प्रेमचन्द ने अपनी कहानियो को अधिक नाटकीय बनाया है, वही इस चरण मे वे ऐसा करने मे असमर्थ रहे हैं। इस काल की कहानियो मे प्रेमचन्द ने परिस्थितियो का चित्रण भी भूमिका के साथ किया है, 'जब नमक का नया विभाग बना और एक ईश्वर प्रदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल प्रपचो का सूत्रपात हुआ। कोई घूस से काम निकालता था तो कोई चालाकी से। अधिकारियो के पौ बारह थे, परवारगिरी का सर्व सम्मानित पद छोड छाडकर लोग इस विभाग की बकरदाजी करते थे। इसके दरोगा पद के लिये तो वकीलो का भी जी ललचाया था। यह वह समय था जब अग्रेजी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और शृगार रस के काव्य पढ़कर फारसिदा लोग सर्वोच्च पद नियुक्त हो जाया करते थे। मुशी वशीधर भी जुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके मजनू और फरहाद के प्रेम-वृत्तान्त को नल और नील लडाई तथा अमरीका के आविष्कार से अधिक महत्त्व की बातें समझते हुए रोजगार की खोज मे निकले।'[2] यहाँ ऐसा लगता है जैसे कोई कहानी का अश न पढा जाकर इतिहास का अश पढा जा रहा है, जिससे सारी कहानी का प्रभाव नष्ट होकर नीरसता उत्पन्न होती है। प्रेमचन्द ने इस चरण की कहानियो मे नाटक के तत्त्वो को भी ग्रहण कर लिया है और प्रारम्भ मे ही 'बीज' रूप मे सारी घटनाओ का परिचय दे दिया है। ऐसा कई कहानियो में हुआ है, जैसे 'पण्डित देवदत्त का विवाह हुए बहुत दिए हुए। पर उनके कोई सतान न हुई। जब तक उनके मां बाप

१ प्रेमचाद : प्रेम-द्वादशी, (बड़े घर की बेटी-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ६३-६४

२. प्रेमचन्द : सप्त-सरोज, (नमक का दरोगा-कहानी), पृष्ठ ६१

जीवित थे तब तक वे उन से दूसरा विवाह करने के लिए आग्रह किया करते थे पर वे राजी न हुए। उन्हे अपनी पत्नी गोदावरी से अटल प्रेम था। सतान से होने वाले सुख के निमित्त वे अपना वर्तमान पारिवारिक सुख नष्ट नही करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे कुछ नए विचार के मनुष्य थे, वे कहा करते थे कि सन्तान होने से माँ-बाप की जिम्मेदारियाँ बढ जाती है जब तक मनुष्य मे यह सामर्थ्य न हो कि वह उसका भली प्रकार पालन-पोषण और शिक्षण आदि कर सके तब तक उसकी सन्तान से देश जाति और निज का कुछ भी कारण नही हो सकता. पहले तो कभी-कभी बालको को हँसते खेलते देखकर उनके हृदय पर चोट भी लगती थी, परन्तु अपने अनेक देश भाइयो की तरह वे भी शारीरिक व्याधियो से ग्रस्त रहने लगे। अब किस्से-कहानियो के बदले धार्मिक ग्रन्थो से उनका अधिक मनोरजन होता था। अब सन्तान का ख्याल करते ही उन्हे भय सा लगता था पर गोदावरी इतनी जल्दी निराश होने वाली न थी, पहले तो वह देवी देवता, गडे ताबीज और यत्र-मंत्र आदि की शरण लेती थी। परन्तु जब उसने देखा कि मैं औषधियाँ कुछ काम नही करती तो वह एक महोषधि की फिक्र मे लगी जो कायाकल्प से कम नही थी उसने महीनो बरसो इसी चिन्ता सागर मे गोते लगाते काटे। उसने दिल को बहुत समझाया परन्तु मन मे जो बात समा गई थी वह किसी तरह न निकली। उसे बडा भारी आत्मत्याग करना पड़ेगा। शायद पति-प्रेम के सदृश्य अनमोल रत्न भी उसके हाथ से निकल जाएगा पर क्या वैसा हो सकता है? पन्द्रह वर्ष तक लगातार जिस प्रेम के वृक्ष की उसने सेवा की है क्या वह हवा का एक झोका भी न सह सकेगा? गोदावरी ने अन्त मे अपने प्रबल विचारो के आगे सिर झुका ही दिया। अब सौत का शुभागमन करने के लिए वह तैयार हो गई थी।'[1] वास्तव मे यह वर्णन इस प्रकार भूमिकायुक्त है कि इसके पश्चात् कहानी कहने की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती। आगे घटित होने वाली सारी घटनाओ के 'बीज' इसी अश मे निहित हैं, जो कौतूहलता एव रोचकता को एक प्रकार से समाप्त ही कर देता है।

इस चरण की कहानियो मे मुख्य घटना की तैयारी भी प्रेमचन्द ने उस कुशलता से नही की है, जैसा कि अगले चरण की कहानियो मे लक्षित होता है। इस तैयारी से सारी बातें पहले से ही स्पष्ट हो जाती है, "जाडे के दिन थे और रात का समय। नमक के सिपाही, चौकीदार नशे मे मस्त पडे थें। मुंशी बशीधर को यहाँ आये अभी छ: महीनो से अधिक न हुए थे, आचरण से अफसरो को मोहित कर लिया था। अफसर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे। नमक के दफ्तर से एक मील पूरब की ओर जमुना बहती थी उस पर एक बम्बों का पुल बना हुआ था। दरोगा जी किवाड बन्द किए मीठी नीद सोते थे। अचानक आँख खुली तो नीद के

१. प्रेमचन्द सप्त-सरोज, (सौत-कहानी), पृष्ठ १५-१६

प्रवाह की जगह गाडियो की गडगडाहट तथा मल्लाहो का कोलाहल सुनाई दिया। उठ बैठे, इतनी रात गए गाडियाँ क्यो नदी के पार जाती हैं? अवश्य कुछ न कुछ गोलमाल है। तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया। वर्दी पहनी, तमचा जेब मे लिया और बात की बात मे घोडा बढाये पुल पार आ पहुचे। गाडियो की एक लम्बी कतार पुल से पार जाती देखी। डाँटकर पूछा, किसकी गाडिया हैं? थोडी देर तक सन्नाटा रहा। आदमियो मे कुछ कानाफूसी हुई तब आगे वाले गाडीवान ने कहा, पण्डित अलोपीदीन की।

कौन पण्डित अलोपीदीन?

दातागंज के।

मुशी बशीधर चौंके। पण्डित अलोपीदीन इस इलाके के सबसे बडे और प्रतिष्ठित जमीदार थे। लाखो रुपये का लेन-देन करते थे। . पण्डित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते कुछ जागते चले आते थे। अचानक कई गाडी वालों ने घबराये हुए आकर जगाया और बोले, महाराज दरोगा ने गाडिया रोक दी हैं और घाट पर खडे आपको बुलाते हैं।[1] यह तैयारी इस ढग से की गई है कि मुख्य घटना की निष्पति क्या होगी, यह अपने आप स्पष्ट हो जाती है। कहाँ मुंशी बशीधर जैसे सीधे-सादे दरोगा, जो ईमानदार थे और जिनता अफसर लोग विश्वास करते थे और दूसरी तरफ पण्डित अलोपीदीन, जो गाँव के सबसे बडे जमीदार थे, और लाखो का लेन-देन करते थे, अफसर जिनकी मुट्ठी मे रहते थे। अब मुख्य घटना की निष्पति इस प्रकार होती हैं, पण्डित जी को अपनी पूंजी पर पूरा विश्वास था। वे गाडी से चलकर दरोगा जी के पास पहुंचे तो उन्हे पूर्ण विश्वास था कि मिनट भर में रुपये के जोर से सारी समस्या सुलझ जायेगी। लेकिन जैसे ही पण्डित जी दरोगा जी के पास पहुचे और उन्होने घूस देने की बात चलाई। दरोगा ने कडककर कहा 'हम उन नमक हरामो मे नही है जो कौडियो पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप इस समय हिरासत मे हैं। सबेरे आपका कायदे के साथ चालान होगा। बस, मुझे बहुत बातो की फुर्सत नही है। जमादार बदलूसिंह तुम इन्हे हिरासत मे ले लो, मैं हुक्म देता हू।"

प० अलोपीदीन स्तंभित हो गए। गाडीवानो मे हलचल से गई। किन्तु अभी तक धन की सासारिक शक्ति का पूरा भरोसा था। अपने मुख्तार से बोले, "लाला जी एक हजार का नोट बाबू साहब को भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे हैं।"

बशीधर ने गरम होकर कहा, "एक हजार नही, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग को नही हटा सकता। अब दोनो शक्तियो मे सग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछल

---

१ प्रेमचन्द . सप्त सरोज, (नमक का दरोगा-कहानी) पृष्ठ ५०० ६३-६४

कर आक्रमण करने प्रारम्भ किए। एक से पाच, पाँच से दस, दस से पन्द्रह, और पन्द्रह से बीस हजार तक नौबत पहुची, किन्तु वीरता के साथ इस बहुसख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की तरह अटल, अविचलित खडा था । अत्यन्त दीनता से बोले, "वह साहब ईश्वर के लिये मुझ पर दया कीजिये। मैं पच्चीस हजार पर निपटारा करने को तैयार हू।

"असभव बात है।"

"तीस हजार पर।"

"किसी भी तरह सभव नही।"

"क्या चालीस हजार पर भी नही।"

"चालीस हजार नही, चालीस लाख पर भी असभव है।"

हृष्ट पुष्ट मनुष्य को हथकडियाँ लिये हुये अपनी तरफ आते देखा। चारो ओर निराश कातर दृष्टि से देखने लगे। इसके बाद एकाएक मूर्छित होकर गिर पडे।[1] अब यहाँ मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघात होना चाहिये था, पर यहा स्वय कहानीकार बीच मे आकर विश्लेषण करने लगता है। "दुनिया सोती थी, दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे ही देखिये तो बालक वृद्ध सबके मुह से यही बात सुनाई देती थी। जिसे देखिये वही पण्डित जी के इस व्यवहार पर टीका टिप्पणी कर रहा था, निन्दा की बौछारें हो रही थी मानो अब ससार से पाप कट गया। पानी को दूध के नाम पर बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनाने वाले सेठ और साहूकार, यह सबके सब देवताओ की भाँति गर्दने चला रहे थे।" पर अन्त मे असत् की सत् पर विजय होती है। पण्डित जी छूट जाते हैं और दरोगा जी मुअत्तल हो जाते हैं। इसके बाद कहानी समाप्त न कर प्रेमचन्द निष्कर्ष देते हैं कि पडित अलोपीदीन वशीधर के दरवाजे पर आते हैं और उन्हें अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियुक्त करते हैं—छः हजार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिये घोडे, रहने के लिये बगला नौकर-चाकर मुफ्त। इस तरह के उपसंहार 'बडे घर की बेटी', 'पच-परमेश्वर', 'उपदेश', 'जुगनू की चमक,' 'ममता,' 'परीक्षा', 'मर्यादा की बेदी,' 'धोखा' आदि कहानियो मे भी दिये गये हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इन कहानियों का मूल स्वर आदर्शवादी है, जिनका उद्देश्य नैतिक मूल्यो को उजागर करना और सुधार-मूलक है।

[२]

द्वितीय चरण १९२० से १९३० तक स्वीकारा जा सकता है। इस चरण मे आकर कला और शिल्प-निर्वाह की दृष्टि से अधिक परिवर्तन लक्षित होता है तथा

१—प्रेमचन्द ; सप्त-सरोज, (नमक का दरोगा-कहानी), पृष्ठ ६५-६६।

आदर्श से यथार्थ की यात्रा दृष्टिगत होती है। 'प्रेम-प्रसून' की भूमिका मे प्रेमचन्द ने लिखा है 'आजकल आख्यायिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। इसमे प्रेम की कहानियाँ, जासूसी किस्से, भ्रमण वृतान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बाते, यहां तक कि मित्रो की गपशप सभी बाते शामिल कर दी जाती हैं।'' इस दृष्टिकोण के अनुसार इस चरण की स्वय प्रेमचन्द की कहानियों में ही विषय का विस्तार प्राप्त होता है और अधिक व्यापक सन्दर्भों को सस्पर्श कर विस्तृत परिधि समेटने की आकुलता लक्षित होती है। उन्होने लिखा है, 'हमारा विचार है कि आख्यायिका मे यह तीन गुण अवश्य होने चाहिये—

१—उसमें कोई आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश हो।

२—उस की भाषा अत्यंत सरल हो।

३—उस की वर्णन शैली स्वाभाविक हो और उन्ही सिद्धान्तो के अनुसार इन कहानियो की रचना की गई हो।

इन बातो के अतिरिक्त प्रेमचन्द यह स्वीकारते थे कि ऐसी कहानी, जिसमे जीवन के किसी अग पर प्रकाश पडता है, जो मनुष्य मे सद्भावनाओ को दृढ न करे या जो मनुष्य मे कुतूहल का भाव न जागृत करे, कहानी नही है। इस चरण की कहानियो मे उनकी यह विचारधारा पूरी तरह प्रतिध्वनित हुई है इन कहानियो मे छोटे कथानक मिलते हैं, नाटकीयता का अधिक समावेश मिलता है, कहानी के बीच से लेखक का हस्तक्षेप धीरे-धीरे न्यून होने लगता है और केवल एक घटना या चरित्र के वर्णन की प्रवृत्ति लक्षित होती है। इससे कहानियाँ अधिक रोचक, स्वाभाविक और सुसंगठित भी प्रतीत होती हैं। इन कहानियो मे यद्यपि आदर्श से आगे बढकर यथार्थ की ओर दिशोन्मुख होने का आग्रह है, तथापि सत् की असत् पर विजय और नैतिक मूल्यो, आस्था एव सकल्प तथा मानवीय सवेदनाओ पर से उनकी दृष्टि किसी भी कहानी मे अलग नही हटती। इस चरण की कहानियो मे उपसहार देने की प्रवृत्ति भी काफी कम हो गई है और अनेक कहानियाँ चरम सीमा पर समाप्त होती है। 'प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रेम-पचीसी' तथा 'प्रेम द्वादसी, आदि कहानी-सग्रहो की भूमिकाओं मे ये विशेषताएँ स्पष्टतया परिलक्षित होती हैं। इन कहानियो मे कलात्मक प्रौढता तो लक्षित होती ही, स्वय पाठको को भी भाग लेने तथा अपनी बुद्धि का उपयोग करने के लिए आमत्रित किया गया है, जिससे कहानियो मे रोचकता एव सहजता के साथ किंचित दार्शनिक ढग की बौद्धिकता भी दृष्टिगोचर होती है। 'स्त्री-पुरुष', 'माता का हृदय', 'मैकू', 'मुक्ति-मार्ग,' 'डिक्री के रुपये', शतरज के खिलाडी', शखनाद', शान्ति', 'नैराश्य लीला', 'शिकारी राजकुमार', बैंक का दिवाला', 'लाल-फीता', 'बूढ़ी काकी,' 'आत्माराम', 'मूठ', 'गरीब का हाथ', 'नागपूजा', प्रारब्ध', 'पूर्व सस्कार', 'गुप्तधन', 'बलिदान,' 'विध्वस,' 'दुर्गा का मन्दिर', 'सफेद खून', 'आदर्श,' 'वज्रपात',

'बौडम', 'विरोध', 'दफ्तरी', 'महातीर्थ', 'ज्वालामुखी' 'सेवामार्ग', 'आभूषण', 'धर्म सकट' आदि कहानियाँ एक व्यापक परिवेश को समेटती हैं, जिनमे विविध आयाम उभरते हैं, और दृष्टि का विस्तार लक्षित होता है। ये कहानिया तीन वर्गों मे विभाजित की जा सकती है :

१ वे कहानिया, जिनमे पिछले चरण की भाँति पग पग पर लेखक की ओर से भूमिका बाँधी गई है, जैसे 'आत्माराम', 'लोकमत का सम्मान', तथा 'नैराश्यलीला' आदि कहानियाँ।

२ वे कहानियाँ, जिनमे भूमिकाएँ नही है और शिल्प सम्बन्धी किंचित 'स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे 'दफ्तरी', 'नागपूजा', 'शखनाद', 'विध्वस', शतरज के खिलाडी' आदि कहानियाँ।

३ वे कहानिया, जिनमे अत्यधिक कलात्मक प्रौढता लक्षित होती है, जो अगले चरण की कहानियो के प्रमुख युग का सूत्रपात सा करती है, जैसा 'मैकू' 'शान्ति' तथा 'वर का अन्त' आदि कहानिया।

इस सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है, 'आख्यायिका-साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है न समय यहा तो सरलता मे सरलता पैदा की जाये, यहीं कमाल है। कहानी वह ध्रुवपद की तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिया देता है--एक क्षण मे चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रातभर गाना सुनने से भी नही हो सकता।' इस काल मे समस्या की तैयारी इस प्रकार की गई है, 'सभी की आँखो मे विलसिता का मद छाया हुआ था। ससार मे क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड रहे है। तीतरो की लडाई के लिये पाली वदी जा रही है। कही चौसर विछी है, पौ बारह का शोर हुआ है। कही शतरज का घोर सग्राम छिडा हुआ है। राजा से लेकर रक तक इसी धुन मे मस्त थे। यहा तक कि फकीरो को भी पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरज, ताश गजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होनी विचारशक्ति का विश्वास होता है पेचीदा मसालो को सुलझाने की आदत पडती है। ये दलीले जोरो के साथ पेश की जाती थी। इसीलिये मिर्जा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकाश समय बुद्धि तीव्र करने मे व्यतीत करते थे, सो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनो के पास मौरूसी जागीरें थी। जीविका की कोई चिता न थी, घर मे बैठे चरबौनियां करते थे।'[1] इस चरण की कहानियाँ मे समस्या का प्रवेश और द्वन्द्व का जन्म भी बडे नाटकीय ढग से होता है, पिछले ढग की कहानियो की भाँति पहले से ही सारी बातें स्पष्ट नही हो जाती : 'प्रात काल दानो मित्र नाश्ता करके आसन

१. प्रेमचन्द, प्रेम—द्वादशी (शतरंज के खिलाड़ी—कहानी, पृष्ठ १३०

बिछाकर बैठ जाते, और लडाने के दाँव-पेच होने लगते। इधर राज्य में हाहाकर मचा था। प्रजा दिन दहाडे लूटी जाती थी। कोई फरियाद सुनने वाला न था। एक दिन दोनो मित्र बैठे हुए शतरज की दलदल मे गोते खा रहे थे कि इतने मे घोडे पर सवार एक बादशाही फौजी मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुचा। मीर साहब के होश उड गये। यह क्या बला सिर पर आई। घर के दरवाजे बन्द कर दिए। नौकरो से बोले कह दो घर मे नही हैं।[1] चरम सीमा की ओर गतिशीलता इस चरण की कहानियो में इस प्रकार हुई है, "बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिरजा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइए नवाब साहब के मातम मे हम मर्सिया कह डालें, लेकिन मिर्जा की राज्य भक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे। खेल होने लगी। झुझलाहट बढती गई। तकरार बढ़ने लगी। दोनो अपनी-अपनी टेक पर अडे थे। न यह दबता था न वह। अप्रासगिक बातें होने लगी, मिरजा बोले—किसी ने खानदान मे शतरंज खेली होती, तब तो इसके कायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये। आप शतरज क्या खेलियेगा। रियासत और ही चीज है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नही हो जाता। मीर—जबान सभालिये वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बाते सुनने का आदी नही हू यहा तो किसी ने आँखे दिखाई तो उसकी आँखें निकली। है हौसला। मिर्जा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइये आज दो-दो हाथ हो जाय, इधर या उधर। मीर—तो यहा तुमसे दबने वाला कौन है।[2] यह चरम उत्कर्ष की तैयारी थी। चरम उत्कर्ष इस प्रकार है "दोनो दोस्तो ने कमर से तलवारें निकाल ली? नवाबी जमाना था, सभी तलवार, पेशकब्ज, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनो विलासी थे, पर कायर न थे। उनमे राजनीतिक भावो का अध:पतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिये क्यो मरे? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनो ने पैंतरे बदले, तलवारे चमकी, छमाछमा की आवाजे आयी। दोनो जख्म खाकर गिरे, और दोनो ने वही तडपकर जान दे दी। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखो से एक बूद आसू न निकला, उन्होने शतरज के वजीर की रक्षा मे प्राण दे दिये' अधेरा हो चला था। बाजी बिछी हुई थी। दोनो बादशाह अपने-अपने सिहासनो पर बैठे मानो इन दोनो वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे। चारो तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। खडहर की टूटी हुई मेहरबें गिरी हुई दीवारे और धूल-धूसरित मीनारे इन लाशो को देखती और सिर धुनती थी।[3] यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि चरम-सीमा के पश्चात् कोई उपसहार

---

१. प्रेमचन्द · प्रेम-द्वादशी, (शतरज के खिलाड़ी—कहानी), पृष्ठ १३५
२ वही, पृष्ठ १४०
३. वही, पृष्ठ १४०

नही दिया गया है, वरन् दो तीन वाक्यो मे वातावरण का लक्ष्य चित्रण कर सीमा के प्रभाव को और भी तीव्रतर बनाने की चेष्टा की गई है।

इस काल मे कहानियो का प्रारम्भ इस प्रकार होता है 'भानुचौधरी अपने गाँव के मुखिया थे। गाव मे उनका बडा सम्मान था, दारोगाजी उन्हे टाट बिना जमीन पर न बैठने देते। मुखिया साहब की ऐसी धाक बंधी हुई थी, कि उनकी मर्जी के बिना गाँव मे एक पत्ता भी नही हिला सकता था। कोई घटना, चाहे सास-बहू का विवाद हो, चाहे मेड या खेत का झगडा, चौधरी साहब के शासनाधिकार को पूर्ण रूप से सकेत करने के लिये काफी था, वह तुरन्त घटनास्थल पर जा पहुचते, तहकीकात होने लगती, गवाह और सबूत के सिवा किसी अभियोग को सफलता सहित चलाने मे जिन जिन बातो की जरूरत होती है, उन सब पर विचार होता और चौधरी जी के दरबार से फैसला हो जाता। किसी को अदालत जाने की जरूरत न पडती। हा, इन कष्ट के लिए चौधरी साहब कुछ फीस जरूर लेते थे, यदि किसी अवसर पर फीस मिलने मे असुविधा के कारण उन्हे धीरज से काम लेना पडता तो गाव मे आफत मच जाती थी, क्योकि उनके धीरज और दरोगाजी के क्रोध मे कोई घनिष्ट सम्बन्ध था। साराश यह, कि चौधरी से उनके दोस्त दुश्मन सभी चौकन्ने रहते थे।'[1] और इस चरण की कहानियो का अन्त इस प्रकार होता है, 'बाँका गुमान अपनी कोठरी के द्वार पर बैठा हुआ यह कौतुक बडे ध्यान से देख रहा था। वह इस बच्चे को बहुत चाहता था। इस वक्त के थप्पड इसके हृदय मे तेज भाले के समान लगे, और चुभ गये। शायद उसका अभिप्राय भी यही था। धुनिया रुई को धुनकने के लिए ताँत पर चोट लगता है। जिस तरह पत्थर और पानी मे आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के हृदय मे भी चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यो न हो—उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते है। गुमान की आँखे भर आई, आँसू की बूदे बहुधा हमारे हृदय की मलिनता को उज्ज्वल कर देती हैं। परमात्मा ने चाहा तो कल से लोग इस घर मे मेरा और मेरे बाल-बच्चो का भी आदर करेगे। तुमने आज मुझे सदा के लिए इस तरह जगा दिया, मानो मेरे कानो मे शखनाद कर मुझे कर्म पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।'[2] इस अन्त मे भी हृदय परिवर्तन एव सत् की असत् पर विजय का चित्रण हुआ है, पर 'पंच-परमेश्वर' कहानी के भी लगभग इसी प्रकार के अन्त की तुलना मे यह अन्त अधिक मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है जिसमे अधिक स्वाभाविकता एव सहजता है। इस चरण की कहानियो मे कथोपकथन अधिक सक्षिप्त नाटकीय एवं भावाभिव्यक्ति की समर्थता से पूर्ण है

"एक आदमी ने आकर खबर दी—बुद्धू तुम यहा बैठे हो, उधर भेडो मे

---

१. प्रेमचन्द प्रेम-द्वादशी, (शखनाद—कहानी), इलाहाबाद, पृष्ट १५३

२. वही, पृष्ठ १५९-१६०।

बछिया मरी पडी है। भले आदमी, उसकी पगहिया भी नही खोली थी ?

बुद्धू ने सुना और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वही बैठा था। बोला—हाय मेरी बछिया! चलो, जरा देखू तो, मैंने तो पगहिया भी नही लगाई थी। उसे भेडो मे पहुचा कर अपने घर चला गया था। तुमने यह पगहिया कब लगा दी ?

बुद्धू—भगवान जाने, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेडो मे गया ही नही। झींगुर—जाते न तो पगहिया कौन लगा देता? गये होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मण—मरी तो भेडो मे ही न ? दुनियाँ तो यही कहेगी, कि बुद्धू की असावधानी से मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो ?

हरिहर—मैंने कल साँझ को इन्हे भेडो मे बछिया को बाधते देखा था।

बुद्धू—मुझे!

हरिहर—तुम नही लाठी कन्धे पर रखे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू—बडा सच्चा है तू! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था ?

हरिहर—तो मुझ पर काहे को बिगडते हो भाई ? तुमने नही बाँधी, नही सही।

ब्राह्मण—इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित करना कोई हसी ठट्टा है!

झींगुर—महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाधी नही।

ब्राह्मण—इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है, कोई गऊन को मारने नही जाता।

झींगुर—हा, गऊओ को खोलना—बाधना है तो जोखिम का काम।

ब्राह्मण—शास्त्रो मे इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नही।

झींगुर—हा फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इसका मान होता हैं। जो माता, से गऊ। लेकिन महाराज, चूक होगई। कुछ ऐसा कीजिये कि थोडे मे विचारा निपट जाय।[1]

इस प्रकार के कथोपकथनो मे प्रेमचन्द नाटकीय ढग से पात्रो के चरित्रो पर प्रकाश डालने मे तो सफल हो ही गये हैं, द्वन्द्व उपस्थित करने और कथानक का विकास करने मे भी उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। जहा तक इस चरण की कहानियो की शैली का प्रश्न है, प्रेमचन्द ने इस च ण मे अनेक शैलियां अपनाई और उन्हे पूरी समर्थता के साथ प्रस्तुत भी किया है। इन कहानियो मे निम्नलिखित

१. प्रेमचन्द . प्रेम-द्वादशी, (मुक्तिमार्ग—कहानी), पृष्ठ १२६-१२७

शैलियाँ मिलती हैं :

१. आत्म-कथात्मक शैली, जैसे 'यह मेरी मातृभूमि है', 'हार की जीत', 'बौडम' तथा शाप आदि कहानियाँ।

२ आत्म-विश्लेषणात्मक शैली, जैसे 'ब्रह्म का स्वाग' कहानी।

३. रूपकात्मक शैली, जैसे 'ज्वाला' तथा 'सेवापथ' आदि कहानियाँ।

४ नाटकीय शैली, जैसे 'दुराशा' कहानी।

५. कथोपकथनो पर ही आधारित शैली, जैसे 'धर्म-सकट' कहानी।

६ भाषणशैली, जैसे 'आभूषण' कहानी।

७ लघुकथात्मक शैली, जैसे 'मुक्तिमार्ग' तथा 'विध्वंस' आदि कहानियाँ।

इस चरण की कहानियो मे यथार्थता और स्वाभाविकता की ओर प्रेमचन्द का ध्यान अधिक रहा है। उन्होने जीवन को उपदेशात्मक रूप मे प्रस्तुत कर कहानी मे नाटकीय ढग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की, जिसमे उन्हे पर्याप्त अशो मे सफलता भी प्राप्त हुई। जीवन के विविध रग प्राप्त होते हैं और व्यापक सामाजिक सन्दर्भों को समेटा गया है, इसमे आदर्शवाद कम नही हुआ है, पर वह यथार्थ के साथ मिलकर आया है, दूसरे शब्दो मे इस चरण की कहानियो मे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मिलता है।

[३]

तृतीय चरण को १९३० से १९३६ तक अर्थात् प्रेमचन्द की मृत्यु तक स्वीकारा जा सकता है। इस चरण की कहानियाँ पूर्णत यथार्थवादी है और उनमे मनोविज्ञान का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया गया है। स्वय प्रेमचन्द ने लिखा है कि 'एक प्रसग का, आत्मा की एक झलक का सजीव और मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस तथ्य ने इसमे प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है' अब उसमे व्याख्या का अश कम और सवेदना का अश अधिक रहता है। उसकी शैली प्रवाहमयी हो गई गई है। लेखक को जो कुछ कहना है वह कम-से-कम शब्दो मे कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रो के मनोभावो की व्याख्या करने नही बैठता, केवल उसकी तरफ इशारा कर देता है।' वे इस प्रकार मनोविज्ञान एव यथार्थ पर अधिक बल देने लगे थे, क्योंकि, 'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ, स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमे कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक रहती है, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरजित होकर कहानी बन जाती है। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र मनुष्य स्वय हो सकता है, परन्तु कहानी के पात्रो के सुख-दुख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नही होते, जब तक यह निजत्व की परिधि मे न आ जाय। अगर हम यथार्थ को

हूबहू खीचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नही है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नही। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।' इसी सन्दर्भ मे उन्होने लिखा है, 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। ' अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना विन्यास से नही लगाते, हम चाहते हैं, पात्रो की मनोगति स्वय घटनाओ की सृष्टि करे। घटनाओ का स्वतन्त्र कोई महत्व नही रहा। उनका महत्व केवल पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है।' इस प्रकार इस चरण की कहानियो मे निम्नलिखित विशेषताएँ लक्षित होती हैं :

१ कहानियो मे मनोवैज्ञानिक चित्रण प्राप्त होता है।

२ घटनाओ के स्थान पर सवेदनशीलता को प्रश्रय मिलता है।

३ आदर्श के स्थान पर यथार्थ को उजागर किया गया और सायास ढग से आदर्शवादी समाधान या यांत्रिक ढग से सत् की असत् पर विजय नही चित्रित की गई है।

४. पात्रो के चरित्र निर्माण मे अभिनयात्मक ढग का प्रयोग हुआ है और स्वयं कहानीकार द्वारा उनकी व्याख्या न होकर पात्रो की मनोगति घटनाओ के माध्यम से स्पष्ट हुई है।

५ घटनाओ का कहानियो मे इस प्रकार अपने मे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रह गया, 'वरन् वे पात्रो के मनोभावो को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही रखी गई है।

६. कथोपकथनो पर भी कहानियो को अवस्थित किया गया और उन्हे अधिक से-अधिक नाटकीय बनाने की चेष्टा की गई है।

इस चरण की कहानियो मे कथानक कई प्रकार से सगुफित किए गए हैं। एक ढग तो वह है, जिसमे किसी व्यक्ति के जीवन के लम्बे भाग को लेकर सारी कहानी उस पर अवलम्बित की गई है, जैसे 'दो कब्रें', 'अलग्योझा' तथा 'नया-विवाह' आदि कहानियाँ। दूसरा ढग वह है, जिसमे एक व्यक्ति एक सवेदना या किसी समस्या के एक पक्ष को लेकर कहानी का सगुफन किया है, जैसे, 'गुल्ली-डण्डा', 'मिस पद्मा', 'कुसुम' तथा 'घासवाली' आदि कहानियाँ। तीसरा ढग वह है, जिसमे कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक सत्य पर ही आधारित है, जैसे 'कफन', 'बड़े भाई साहब', 'पूस की रात', 'नशा', 'मनोवृत्ति' तथा 'जादू' आदि कहानियाँ। इस चरण की कहानियो का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है, "जब मैं ससुराल आयी, तो बिल्कुल फूहड़ थी। न पहनने ओढने का सलीका, न बातचीत करने का ढग। सिर उठाकर किसी से बातचीत नही कर सकती थी। आँखें अपने आप झप जाती थी। किसी के सामने

जाते शर्म आती, स्त्रियो तक के सामने बिना घूंघट के झिझक होती थी। मैं कुछ हिन्दी पढी हुई थी, पर उपन्यास, नाटक आदि के पढने मे आनन्द न आता था। फुर्सत मिलने पर रामायण पढती। उसमे मेरा मन बहुत लगता था। मै उसे मनुष्य कृत नही समझती थी। मुझे पूरा-पूरा विश्वास था कि उसे किसी देवता ने स्वय रचा होगा। मैं मनुष्य को इतना बुद्धिमान् और सहृदय नही समझती थी। मै दिन भर घर का कोई-न-कोई काम करती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत काटती। अपनी बूढी सास से थरथर कापती थी। एक दिन दाल मे नमक अधिक हो गया। ससुरजी ने भोजन के समय सिर्फ इतना ही कहा—'नमक जरा अन्दाज से डाला करो।' इतना सुनते ही हृदय काँपने लगा। मानो मुझे इससे अधिक कोई वेदना नही पहुँचाई जा सकती थी।' और कहानियो का अत इस प्रकार होता है, "मैं दोनो हाथ जोडकर बाबूजी के चरणो पर गिर पडी। कंठ रुध गया, एक शब्द भी मुह से न निकला, अश्रुधारा बह चली। अब मैं फिर अपने घर पर आ गई हू। अम्मा जी अब मेरा अधिक सम्मान करती है, बाबूजी सतुष्ट दीख पडते हैं। वह अब स्वय प्रतिदिन सध्या-वन्दन करते हैं। मिसेज दास के पत्र कभी कभी आते है। वह इलाहाबादी सोसाइटी के नवीन समाचारो से भरे होते हैं। मिस्टर दास और मिस भाटिया के सम्बन्ध मे कलुषित बाते उड रही है। मैं इन पत्रो का उत्तर तो दे देती हू परन्तु चाहती हूँ कि वह अब न आते, तो अच्छा होता। वह मुझे उन दिनो की याद दिलाते है, जिन्हे मैं भूल जाना चाहती हू। कल बाबूजी ने बहुत-सी पुरानी पोथियाँ अग्निदेव को अर्पण की। उनमे आसकर वाइल्ड की कई पुस्तके थी। वह अब अग्रेजी की पुस्तके बहुत कम पढते है। उन्हे कार्लाइल, रस्किन और एडरसन के सिवा और कोई पुस्तक पढते मैं नही देखती। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत मे फिर वही आनन्द प्राप्त होने लगा है। चरखा अब पहले से अधिक चलाती हूँ क्योकि इस बीच मे चरखे ने खूब प्रचार पा लिया है।' इस प्रकार इस चरण की कहानियो मे प्रभावान्विति (Unity of impression) और पूर्वापर सम्बन्ध बड़ी सफलतापूर्वक सुरक्षित हुआ है।

इस चरण की कहानियो मे कथानक कई प्रकार प्रस्तुत किए गए हैं। पूरी कहानी किसी पात्र के मनोभावो पर आधारित होती है। मनोभावो से ही कहानी का प्रारम्भ, मध्य और अन्त होता है, जैसे नशा' कहानी। कहानी का प्रारम्भ दूसरे ढग से किसी यथार्थ समस्या से होकर पात्रो के मनोभावो पर बल देते हुए जीवन की विद्रूपता पर व्यग्य कसने के साथ समाप्त होता है, जैसे 'कफन' कहानी। कथानक का केन्द्र बिन्दु तीसरे ढंग मे एक विशेष पात्र होता है, पर विकास उस पात्र को देखने वाले दूसरे लोगो की प्रतिक्रियाओ से होता है, जैसे 'मनोवृत्ति' कहानी। इसमे गांधी पार्क मे विल्लौर के बेंच पर एक सुन्दरी युवती सोयी पड़ी है। सुबह पार्क मे

दूसरे कई लोग टहलने आते हैं और उस युवती को अकेली सोयी देखकर उनके मन मे विभिन्न प्रकार की मनोवृत्तियाँ जन्मती हैं, जिनके आधार पर बडी कुशलता से सारी कहानी का सगुफन किया गया है। चौथे ढग मे सारी कहानी का आधार कथोपकथन है। इनमे कोई घटना नही होती, केवल पात्रो के वार्तालाप मे सारी कहानी का प्रारम्भ, मध्य और अन्त होता है, जैसे 'जादू' कहानी। पाँचवें ढग में जीवन के लम्बे भाग पर आधारित कथानक को लिया गया है, जिसमे कहानी का प्रारम्भ किसी वर्णन से होता है, विकास विभिन्न पात्रो के कार्य-व्यापारो एव घटनाओ के माध्यम से होता है और अन्त किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित होता है, जैसे 'बेटो वाली विधवा', 'गुल्ली डण्डा' 'ईदगाह', 'शान्ति', 'नया विवाह', 'दो कब्रे', 'लैला', 'अलग्योझा', 'तीतर', 'दिल की रानी', 'नेउर' आदि कहानियाँ। छठे ढग मे कहानी का प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीन पात्रो के माध्यम से होता है, बीच मे कोई स्थूल पात्र नही आता, जैसे 'दो सखियाँ' कहानी। सातवें ढग मे कथानक का मूल सूत्र अस्पष्ट रहता है। दो पात्र आपस के वार्तालाप से उसका सकेत दे देते हैं और उसका विकास उन पात्रो के कार्य व्यापारो से होता है तथा अन्त उन पात्रो के मनोभावो से होता है, जैसे 'कुसुम' कहानी।

इस चरण की कहानी मे परिचय और घटना की तैयारी इस प्रकार होती है: झोपडी के द्वार पर बाप और बेटा दोनो एक बुझे अलाव के सामने चुपचाप बैठे हैं और अन्दर बेटे की जवान बीबी बुधिया प्रसव-पीडा से पछाड खा रही थी.. घीसू ने कहा—मालूम होता है बँरी नही। सारा दिन दौडते हो गया, जा देख आ। माधव चिढकर बोला—मरना ही है तो जल्दी मर क्यो नही जाती ? देख कर क्या करूँ ? चमारो का कुनबा था और सारे गाँव मे बदनाम घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कमजोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसीलिए उन्हे कही मजदूरी नही मिलती थी।[1] घटनाओ मे कौतूहलता लाने का उपक्रम इस प्रकार होता है सबेरे माधव ने कोठरी मे जाकर देखा तो उसकी स्त्री ठडी हो गई थी। माधव दौडा हुआ घीसू के पास आया, फिर दोनो जोर जोर से हाय हाय करने और छाती पीटने लगे। मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफन और लकडी की फिक्र करनी थी। एक घण्टे मे घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गई। कही से अनाज मिला, कही से लकडी। और दोपहर को घीसू बाजार से कफन लाने चला इधर लोग बाँस काटने लगे।[2] पात्रो के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व एव आन्तरिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण इस प्रकार होता है· बाजार मे पहुँचकर बीच मे बोला—लकडी तो उसे जलाने को मिल गयी

१ प्रेमचन्द कफन और शेष रचनाएँ, (१९४०), बनारस, पृष्ठ १-२
२. वही, पृष्ठ ८-९

है—क्यो माधव ?

माधव बोला—हाँ लकडी तो बहुत है, अब कफन चाहिए। तो चलो कोई हलका-सा कफन ले ले हाँ और क्या ? लाश उठाते-उठाते रात हो जायगी। रात को कफन कौन देखता है।

घीसू—कैसा बुरा रिवाज है कि जीते जी तन ढकने को चिथडा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिये।

माधव—कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है। और क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिले होते तो कुछ दवा-दारू कर लेते।

दोनो एक दूसरे का मन ताड रहे थे। बाजार मे इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गये कभी उस दूकान पर। तरह तरह के कपडे, रेशमी और सूती देखे मगर कुछ जँचा नही। यहाँ तक कि शाम हो गई।[1]

इस चरण की कहानियो का चरम उत्कर्ष पूर्णतया मनोवैज्ञानिक सत्य पर ही आधारित है, कही भी उपसहार या स्पष्टीकरण देने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नही होती : तब दोनो न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुचे और जैसे किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनो असमजस मे खडे रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहु जी, एक बोतल हमे भी दे देना। इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आयी और दोनो परामीर मे बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे। कई कुजियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनो सरूर मे आ गए।

घीसू बोला—कफन लाने से क्या मिलता ? आखिर जर ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता। लेकिन लोगो को जवाब क्या दोगे। लोग पूछेगे नही ? कफन कहाँ है ?

माधव हँसा—अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढा मिले नही। लोगो को विश्वास तो न आएगा लेकिन फिर वही रुपये देंगे।

और दोनो खडे होकर गाने लगे—

'ठगिनी क्यो नैना झमकाए।·· ठगिनी।··[2]

इस चरण मे कुछ अन्य शैलियो का भी प्रयोग प्रेमचन्द ने किया था, जैसे डायरी शैली मे लिखी हुई 'पडित मोटेराम की डायरी' कहानी; पत्रात्मक शैली लिखी हुई 'दो सखियाँ' कहानी तथा चिन्तन और पत्रो के माध्यम से लिखी गई कुसुम कहानी आदि। इस चरण की कहानियों में कथोपकथन बहुत सजीव बन पड़े

१. वही, पृष्ठ १०
२. वही, पृष्ठ १०

हैं। उनमे सूक्ष्मता, व्यग्य और स्वाभाविकता का अधिक समावेश हो गया है, जैसे :

घीसू—कफन लगाने से क्या मिलता है ? आखिर जल ही तो जाता है। कुछ बहू के साथ तो न जाता माधव आसमान की तरफ देखकर बोला-मानो देवताओ का अपनी निस्प्रहता का साक्षी बना रहा हो-दुनिया का दस्तूर है नही तो कौन बाँभनो को हजारो रुपये क्यो दे देते। कौन देखता है, परलोक मे मिलता है कि नही । बडे आदमियो के पास धन है फू के। हमारे पास फू कने को क्या है ?

लेकिन लोगों को जबाब क्या दोगे ? लोग पूछेगे नही कफन कहाँ है।

घीसू हसा—अबे कह देगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढू ढा मिले नही। लोगो को विश्वास तो न आएगा लेकिन वही देगे रुपये।

इस चरण की कहानियो के सम्बन्ध मे प्रेमचन्द ने लिखा है, वहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य, को चित्रित करना नही वरन उसके चरित्र का एक अग दिखाना है। यह परमावश्वक है कि हमारी कहानी के जो परिणाम या तत्व निकले वह सर्व-मान्य हो और उसमे बारीकी हो।' यह इस चरण मे लिखी गई कहानियो के सन्दर्भ मे सत्य सिद्ध होता है।

जयशकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद मूलत: सास्कृतिक चेतना के कहानीकार हैं। उनकी कहानियो की सबसे बडी विशेषता यह कि वे कहानियाँ होते हुए भी काव्य है और काव्य होते हुए भी कहानियाँ हैं। जिनमें प्रसाद ने जीवन के सौन्दय तत्वो का उद्घाटन किया है। उनका दृष्टिकोण यद्यपि व्यक्तिवादी था, पर उन्होने कही भी घोर वैयक्तिकता को प्रश्रय नही दिया। वे आदर्शवादी थे, पर उन्होने कही भी यथार्थ की उपेक्षा नही की है। डॉ० नगेन्द्र जी ते ठीक ही लिखा है कि शान्त गम्भीर सागर, जो अपनी आकुल तरंगो को दबाकर धूप मे मुस्कुरा उठा है। या फिर गहन् आकाश, जो झंझा और विद्युत को हृदय मे समाकर चाँदनी की हंसी हस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल रूप मे कवि मे कवि थे, जीवन मे उन्हे आनन्द इष्ट था, इस-लिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी मे हैं कि वे हलाहल को पान कर गये और उसको पचाकर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कठ चाहे नील हो गया हो। परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बडे गहरे जीवन दृष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओ को उन्होने देखा और सहा था। यह जहर उनके प्राणो में एक तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोडित हो उठी हो। इस आलोडन को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और

यही उनके साहित्य की मूल चेतना है। ऐसा व्यक्ति स्पष्ट है। ससार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नही देगा—प्राय वह उसको छोड कही अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा—एक शब्द मे उसका दृष्टिकोण रोमॉटिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण (जैसा रोमॉटिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर जाएगा—या कल्पना लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमाटिक दृष्टिकोण उनकी सॉंस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

यह बात उनकी ऐतिहासिक कहानियो के सन्दर्भ मे पूर्णतया सत्य है। उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ सस्कृति के तत्वो पर आधारित है। वे प्राचीन भारतीय सस्कृति के गौरव पर मुग्ध थे। कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम स्थल की खोज करते होगे, उस समय यह रगीन अतीत उन्हे सचमुच बडे वेग से आकर्षित करता होगा। आर्य सस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था थी। उन्होने सस्कृति का वह चरण चुना है, जिसमे ब्राह्मण और बौद्ध सस्कृतियो के सघर्ष से उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था। और भारतीय सस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी। उन्होने भारतीय सस्कृति के बिखरे अवयवो को जोडकर अपनी भावुकता, चिन्ता एव कल्पना द्वारा उसमे प्राण सचार किया।

प्रसाद की दूसरी कहानियाँ वे हैं, जिनमे जीवन के यथार्थ चित्रित हुए हैं। मानव चरित्रो को पहचानने और उनके उचित सन्दर्भो मे प्रस्तुत करने की उनमे अद्भुत क्षमता थी। उन्होने प्रेम का चित्रण विभिन्न परिप्रेक्ष्य मे किया है और नारी पुरुष के मध्य संयम, मूल्य-मर्यादा, गौरव एव आदर्श पर बल दिया है। प्रसाद कहानी शिल्प के आधुनिक स्वरूप से पूर्णतया परिचित थे। उनकी कहानियो के प्रारम्भ बडे नाटकीय ढंग से हुए हैं :

"बन्दी।"

"क्या है ? सोने दो"

"मुक्त होना चाहते हो।"

"अभी नही—निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बडा शीत है, कही से एक कम्बल डालकर शीत से मुक्त करना।"

"आँधी आने की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बधन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हा धीरे बोलो, इस नाव पर केवल नाविक और दस प्रहरी है।"

"शस्त्र मिलेगा ?'

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हा।"

समुद्र मे हलोरे उठने लगी। दोनो बन्दी आपस मे टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया।...[1]

दूसरा ढग कहानियाँ प्रारम्भ करने का वह है, जिसमे प्रसाद मानव रूप के भव्य चित्रण से कहानी का प्रारम्भ करते है : "दो—तीन रेखाए भाल पर, काली पुतलियो के समीप मोटी और काली बरौनियो का घेरा, घनी आपस मे मिली रहने वाली भवे और नासापुट के नीचे हल्की हल्की हरियाली उस तापसी के गोरे मुह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा करती थी। यौवन काषाय से कही छिप सकता है? ससार को दुखपूर्ण समझकर ही तो वह सघ की शरण मे आई थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरे लगी थी। तब भी यौवन ने साथ न छोडा। भिक्षुकी बनकर भी वह शान्ति न पा सकी थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी। चैत की अमावस्या का प्रभाव था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी सी सफेद डालो पर और तनो पर ताम्र अरुण कोमल पत्तिया निकल आई थी। उन पर प्रभात की किरणे लोट-पोट हो जाती थी। इतनी स्निग्ध शैय्या उन्हे कहाँ मिली थी। सुजाता सोच रही थी। आज अमावस्या है। अमावस्या तो उसके हृदय मे सवेरे से ही अन्धकार भर रही थी।[2] उनकी 'गुडा' कहानी का प्रारम्भ भी इसी प्रकार से हुआ है। उन्होने 'अपराधी', 'ज्योतिष्मती', बनजारा', 'स्वर्ण के खण्डहर' तथा 'पुरस्कार आदि कहानियो मे कथा का प्रारम्भ प्रकृति-चित्रण से किया गया है, जैसे 'आर्द्रनिक्षत्र' आकाश मे काले-काले बादलो की घुमड जिसमे देवदुदभी का गभीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्णपुरुष झाकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अचल मे समतल उर्वरा भूमि से सोधी बास उठ रही थी। नगर तोरण से जय-घोष हुआ, भीड़ मे गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पडा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरे भरता हुआ आगे बढने लगा। इसी प्रकार कहानियो का अन्त भी प्रसाद ने बडे नाटकीय दग से किया है। उसमे चमत्कार भरी कौतूहलता तो है ही, साथ ही कलात्मक पक्षता भी लक्षित होती है"[3] नन्हकू सिह ने ललकार कर चेतसिह से कहा—"क्या आप देखते हैं? उतरिये डोगी पर।—उसके घावो से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलगे भीतर आने लगे थे। चेतसिह ने खिडकी से उतरते हुमू देखा कि बीसो तिलंगो की सगीनो मे वह अविचल खडा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गोरिक की तरह रक्त की धार वह रही है। गुडे का एक एक अग कटकर वही गिरने लगा। वह काशी का गुंडा

१ जयशकर प्रसाद आकाशदीप

२ जयशकर प्रसाद : देवरथ-कहानी

३. जयशकर प्रसाद पुरस्कार-कहानी

था ।[1]

'मधूलिका बुलाई गई । वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई । कोशल नरेश ने पूछा—"मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लेना दो माँग ।" वह चुप रही ।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हू ।

मधूलिका ने एकबार बन्दी अरुण की ओर देखा उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए । अरुण हस पडा । राजा ने कहा—"नही मे तुझे अवश्य दूगा । माँग ले—"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई ।[2]

प्रसाद ने अपनी कहानियो मे विषय का विस्तार भी बडे नाटकीय ढग से किया है, जिसमे चरित्रो का उद्घाटन, मन.स्थितियों का स्थूल चित्रण, घटनाओ का विकास क्रम आदि बडे स्वाभाविक ढग से सगुफित हो जाते हैं, जिससे उनकी रोचकता बढ जाती है।

"दुलारी नन्हकू के पास बैठ गई । नन्हकू ने कहा क्या—"तुमको डर लग रहा है ।

"नही मैं कुछ पूछने आई हू "

"क्या "

"क्या ··यही कि ··कभी तुम्हारे हृदय मे···।"

"उसे न पूछो दुलारी । हृदय को बेकार समझ कर हो तो उसे हाथ मे लिए फिर रहा हू । कोई कुछ कर देना—कुचलता—चीरता—उछालता । । मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हू ; पर मरने नही पाता ।

"मरने के लिए भी कही खोजने जाना पडता है । आपको काशी का हाल क्या मालूम । न जाने घडी भर मे क्या हो जाय । उलट-पलट होने वाला है क्या ; बनारस की गलिया जैसे काटने को दौड़ती हैं ।"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या ?"

"कोई हेस्टिग साहब आया है । सुना है कि उसने शिवालाघाट पर तिलगो की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है । राजा चेतसिह और राजमाता पन्ना वही हैं । कोई कोई कहता है कि उनको पकड़ कर कलकत्ते भेजेगें···"

'क्या पन्ना भी·· रनवास भी वही है"···नन्दकू अधीर हो उठा था ।

'क्यो बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आप की आँखो में आसू क्यो आ गए ।"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा । उसने कहा—"चुप रहो तुम उसको

१. जयशंकर प्रसाद : गुण्डा-कहानी
२. जयशकर प्रसाद : पुरस्कार-कहानी

जानकर क्या करोगी।'' वह उठ खडा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा—''दुलारी जीवन मे आज यह पहला ही दिन है कि एकात रात मे एक स्त्री मेरे पलग पर आकर बैठ गई है, मैं चिरकुमार अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकडो असत्य, अपराध करता फिर रहा हू। क्यो ? तुम जाती हो ? मैं स्त्रियो का घोर विद्रोही हू और पन्ना ! किन्तु उसका क्या अपराध ! अत्याचारी बलवत सिंह के कलेजे मे बिछुआ मे न उतार सका किन्तु पन्ना ! उसे पकडकर गोरे कलकत्ते भेज देंगे ! वही ।

नन्हकू सिह उन्मन्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अधकार मे ही वट वृक्ष के नीचे पहुंचा और गगा की उमडती हुई धारा मे डोगी खोल दी उसी अन्धकार मे। दुलारी का हृदय काँप उठा।[1] इसी प्रकार, 'पुरस्कार,' 'समुद्र सतरण', 'अघोरी का मोह', 'आकाशदीप', 'आधी', 'गूदड साई', 'ग्राम गति', 'प्रणयचिन्ह', 'प्रलय की छाया', 'बेडा', 'मधुआ', तथा ममता आदि कहानियो मे भी विषय का विस्तार कुशलतापूर्वक सगुफित किया गया है।

अब प्रसाद की कहानियो के कथानक की कुछ अन्य सामान्य विशेषताओ पर विचार कर ले। उनकी आरम्भिक कहानियो में लम्बे कथानक भी प्राप्त होते हैं, जैसे 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'ममता', 'सुनहला साँप' 'बजारा', 'चूडीवाली', 'प्रणय चिह्न' और बिसाती' आदि कहानियाँ। दूसरे ढग की कहानिया वे हैं, जिनमे छोटे कथानक हैं, प्रासगिक घटनाओ का अभाव है, सुसगठन हैं और इतिवृत्तात्मक तत्वो का बहिष्कार है, जैसे 'प्रतिध्वनि', 'हिमालय के पथिक' 'समुद्र सतरण', 'वैरागी' तथा 'रूप की छाया' आदि कहानियाँ। प्रसाद की जो कहानियाँ लम्बे कथानको को लेकर लिखी गई हैं, उनमे भी यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्द जैसी अव्यवस्था या विशृ-खलता उनमे नही है, वरन् प्रसाद ने बड़ी कुशलता से सारी प्रासगिक घटनाओ एव पात्रो का प्रधान कथावस्तु के साथ वस्तु के साथ सगुफन किया है। हालाँकि इन दोनो ही प्रकार की कहानियों मे परिस्थितियो एव वर्णनात्मकता को हो प्रश्रय मिला है, पात्रो का मनोवैज्ञानिक चित्रण, सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वो का चित्रण एव आन्तरिक अनु-भूतियो का प्रकाशन उनमे नही प्राप्त होता। दूसरे शब्दो मे इन आरम्भिक कहानियो मे स्थूलता अधिक है, पर इसके अन्तिम चरण मे सूक्ष्मता की ओर दिशोन्मुख होने की प्रवृत्ति अवश्य ही लक्षित होती है। इन कहानियो मे सयोग तत्वो (Chançe Elem-ents) का प्रयोग अधिक हुआ है, और प्रेमचन्द जहाँ आदर्शवाद की स्थापना के लिये अधिक आकुल रहते थे, वही प्रसाद भारतीय सस्कृति और मर्यादा के गौरवशील तत्वो मे पुनरुत्थान के प्रति व्यग्र रहते थे, जिन्हें कहानियो मे उजागर करने की प्रयत्नशीलता सायास एव मात्रिक ही प्रायः प्रतीत होती हैं, उसमे स्वाभाविकता या सहजता लाने

१ जयशकर प्रसाद : गुण्डा-कहानी

मे प्रसाद पूर्णतया असमर्थ रहे हैं। पर जैसे-जैसे प्रसाद की कहानी कला का विकास होता जाता है, कहानी मे एक सूत्रता, प्रभावान्विति (Unity of impression) और व्यजना की तीव्रता प्राप्त होने लगती है, तथा सारा ध्यान मुख्य लक्ष्य के प्रकाशन की ओर ही रहता है, जिसमे प्रसाद साँकेतिक प्रणाली का भी प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार की कहानियो की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी सवेदनशीलता का विस्तार और अन्त मे पूर्ण नाटकीयता से सारी कथावस्तु को एक छोटे से इतिवृत्त मे समेट कर चरम सीमा पर कहानी को समाप्त कर देना, जिससे कौतूहलता एवं रोचकता की अभिवृद्धि होती हैं। इस कला मे प्रसाद को सफलता मिली है। चूकि प्रसाद सफल नाटककार और कवि भी थे, इसलिये वे अपनी इन विशेषताओ को अपनी कहानियो मे बडी सफलता से उभार पाए हैं। अपनी विकासकालीन कहानियो मे नाटकीयता की ओर उनका अधिक ध्यान रहा है—इसके लिए उन्होने कथोपकथनो से ही कहानियो का प्रारम्भ कर (आकाशदीप, सुनहला साँप और चूडीवाली आदि कहानियाँ) सारी कथा का बीज बडी नाटकीयता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है उसके बाद द्वन्द्व एव घात-प्रतिघात द्वारा सारी कहानी का विस्तार किया है। दूसरी शैली मे उन्होने प्रकृति वर्णन, या किसी पात्र के वर्णन से कहानी प्रारम्भ कर द्वन्द्व एव घात प्रतिघात को कथोपकथनो के माध्यम से स्पष्ट करते हुये कहानी का विस्तार किया है (ममता, स्वर्ग के खण्डहर, बनजारा आदि कहानियाँ) और चरम सीमा पर ले जाकर पूर्ण नाटकीयता से कहानी की परिसमाप्ति की है। इन दोनो ही शैलियो मे जहाँ कथावस्तु के सन्दर्भ पर जोर दिया गया है, वही नाटकीयता, व्यजना और वर्णनात्मकता को कुशलतापूर्वक सगुफित करके कहानी का निर्माण किया है। ये कहानियाँ नाटको का सा आभास देती हैं। इनमे व्यजना शक्ति की तीव्रता, साँकेतिकता, रूप विधान एव सवेदनशीलता के कारण कहानी तत्त्वो की पूर्ण रक्षा करने मे प्रसाद सफल रहे हैं। इस काल की एक कहानी 'देवदासी' पत्रात्मक शैली मे है, जो प्रत्येक दृष्टि से एक सफल कहानी है, पर जाने क्यो आगे प्रसाद ने इस शैली का उपयोग नही किया।

अपने जीवन के अन्तिम काल मे प्रसाद ने जो कहानियाँ लिखी है, उनमे कला का प्रौढतम रूप प्राप्त होता है। इस काल की लिखी गई कहानियाँ प्रसाद की ही नही, इस चरण की हिन्दी की भी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ है। इस काल मे कुल पच्चीस कहानियाँ प्राप्त होती है, जिनमे मानव जीवन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियो, सवेदनाओ एव जीवन सन्दर्भो का कुशल अकन हुआ है। इनमे प्रसाद का भावात्मक दृष्टिकोण मिलता तो है, पर वह मनोवैज्ञानिक एव दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है, इसीलिये सहज एव स्वाभाविक है, उसे यो ही भावुकता प्रधान कहकर टाला नही जा सकता। जीवन के सम्बन्ध मे प्रसाद का एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण था, जिस पर दार्शनिकता

एव मनन, चितन की पूरी छाप थी। इन कहानियो पर उसकी पूरी छाप है। इस चरण मे भी प्रसाद ने दो प्रकार की कहानिया लिखी—एक लम्बे कथानक को लेकर, दूसरे सक्षिप्त कथानक को लेकर। प्रथम कोटि की कहानियो मे अनेक घटनाएँ, सवेदनाएँ एव अनुभूतियो को सजोया गया है, जिनका निर्वाह नाटक के दृश्यो की भाँति किया गया है और विस्तार भी पूर्णतया नाटको की ही कथावस्तु के विस्तार की भाँति किया गया है। इन कहानियो मे एक पूरे युग की परिस्थितियो, सत्य, वातावरण एव देशकाल को समेटने की व्यग्रता (सालवती, आँधी, इन्द्रजाल और पुरस्कार आदि कहानिया) परिलक्षित होती है, इनके निर्वाह मे स्थूलता, अधिक है और राजनीतिक, दार्शनिक सास्कृतिक एव अन्य सम्बद्ध विषयो पर नाटको या उपन्यासो की भाँति वाद विवाद, भाषण-अभिभाषण, एव निष्कर्ष, स्वय कहानीकार का दार्शनिक का प्रवचन आदि बातो को सगुफित किया गया है, जिससे उनकी परिधि अत्यन्त व्यापक हो गई है। इन कहानियो मे फलस्वरूप प्रासगिक कथाओ एव इतिवृत्तात्मक गुणो का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही था—लेकिन भाव प्रधान एव कलात्मक होने के कारण प्रसाद उन्हे नीरस होने से बडी कुशलतापूर्वक बचा ले गये हैं (नीरा, दासी, नूरी गुण्डा तथा देवरथ आदि कहानियाँ। यही नही नाटकीय गुणो के समावेश हो जाने से इन लम्बी कहानियो मे भी रोचकता, कौतूहलता एव प्रवाह को बनाये रखने मे प्रसाद पूर्णत. सफल रहे है। इसके विपरीत दूसरी कोटि की कहानियाँ हे, जिनमे छोटे-छोटे कथानक लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ है, जिनमे एक ही घटना, पात्र, सवेदना या अनुभूति को प्रश्रय दिया गया है और अपूर्व कलात्मकता से उनका निर्वाह किया गया। है (मधुआ, घीसू, बेडी, ग्रामगीत, विजया, अमिट स्मृति, छोटा जादूगर, परिवर्तन, सन्देह, भोख, चित्र मन्दिर, अनबोला आदि कहानियाँ)। ये कहानियाँ यथार्थ भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हुई हैं और मुख्यत इनमे जीवन सन्दर्भों को लेकर स्केच शैली मे उनका विकास किया गया है। इनमे साँकेतिकता एव व्यजनात्मकता के प्रति आग्रह अधिक है और इनकी भावभूमि अत्यन्त सीमित हैं।

अब प्रसाद के पात्रो एव चरित्र-चित्रण पर विचार कर ले। प्रसाद मूलत: साँस्कृतिक चेतना के कहानीकार थे और आदर्शवादी प्रवृत्तियो के प्रति उनकी आस्था थी। उन्होने जो भी समस्या ली है, उसकी समाहित दिशा मे व्यक्तित्व का आदर्श अधिक मुखर हो उठा है। उनकी कहानियो मे अनुभूतियो का प्रत्यक्ष माध्यम न होकर व्यक्ति है और व्यक्ति की अनुभूतियो को सामने रख कर ही उन्होने समाज एव संस्कृति की मर्यादाओ को उभारा है। उन्होने प्रत्येक सामाजिक आदर्श एव सास्कृतिक मर्यादा के नीचे दबे हुए व्यक्ति के करुण क्रन्दन एव व्यक्तित्व के बारीक से बारीक रेशो को ही अपनी कहानियो मे चित्रित किया है और इसका समाधान आदर्शोन्मुख

व्यक्तिवाद मे खोजा है। प्रसाद सास्कृतिक तत्वो से जहा प्रभावित थे, वही बौद्ध के करुणावाद का भी उनके व्यक्तित्व पर गहन प्रभाव पडा था। दूसरी ओर कवि होने के नाते वे भावुक, सौन्दर्यनिष्ट और रोमाटिक प्रवृत्तियो के प्रति भी आकर्षित थे। उनके व्यक्तित्व की इन विशेषताओ का उनकी कहानियो मे पात्र योजना पर भी प्रभाव पडा है और वे पात्र या तो कारुणिक हो गए हैं, या भावुक प्रेमी के रूप मे चित्रित किए गए हैं। उन सभी मे सस्कार, सुरुचि, नैतिकता, मूल्य मर्यादा एव सौम्यता की रेखाओ को उभारने के प्रति प्रसाद अतिरिक्त रूप से सजग रहे हैं। प्रेम, करुणा, आदर्श, त्याग, विद्रोह और क्षमा—इन रेखाओ के बीच उनके पात्र विकसित होते हैं और सत् की असत् पर विजय पाते हैं। उनके पुरुष पात्र प्रारम्भ मे रहस्यवादी हो गए हैं और उन का चरित्र चित्रण बहुत स्पष्ट ढग से नही हो पाया है जैसे 'प्रलय', 'प्रतिभा', 'खडहर की लिपि', 'उस पार का योगी', आदि कहानियो के पात्र। इनमे कल्पनाशीलता अधिक है और उनके चरित्र-चित्रण मे स्थूलता अधिक लक्षित होती है। आरम्भिक काल मे 'ग्राम', 'गूदड साथी', 'अघोरी का मोह', 'पत्थर का मोह', 'दुखिया', 'जहानारा' तथा 'शरणागत' आदि कहानियो के पात्रो के मनोभावो के चित्रण से उनमे स्वाभाविकता एव सहजता लाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है, पर कुल मिलाकर उनके व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नही हो पाए हैं। हालांकि कही-कही प्रसाद ने उनमे इतनी सवेदनशीलता, चारित्रिक दृढता, त्याग एव क्षमा के भाव भर दिए हैं कि वे अलौकिक एव दिव्य हो गए है (हिमालय का पथिक कहानी मे) या जैसा कि 'आकाशद्वीप' का बुद्धगुप्त समुद्र की लहरो मे बन्दी चपा और स्वय अपने मुक्त करता है, एक नए द्वीप, राज्य, प्रजावर्ग की स्थापना करता है। दूसरी ओर 'हिमालय का पथिक' मे पथिक नूरी के प्रति अपनी भावनात्मकता और सत्य निष्ठा का प्रदर्शन करते हुए कहता है, मैंने देवता के निर्माल्य को और भी पवित्र बनाया है, उसे प्रेम के गन्ध से सुरभित कर दिया है। इसे तुम देवता को अर्पण कर सकते हो, इतना कहकर पथिक उठा और गिरिपथ से जाने लगा और भयानक शिखर पर चढने लगा उत्सर्ग के लिए।' बिसाती का प्रेमी अपनी प्रेमिका को दूसरे की पत्नी के रूप मे देखकर सदा के लिए दूर चला जाता है और प्रेम का कर्त्तव्य पर बलिदान कर देता है। इस प्रकार प्रसाद के पुरुष पात्र आगे चलकर भावुक एव कारुणिक होने के साथ ही जीवन मे सक्रिय हो गए। वे काल्पनिक लोक मे ही विचारण न कर जीवन से सम्बद्ध हो जाते है और प्रेम तथा कर्त्तव्य के मध्य उनका चरित्र विकसित होने लगता है। जहा तक स्त्री पात्रो का सम्बन्ध है, प्रसाद ने उनमे अधिक भावुकता, त्याग, ममता, स्नेह, मर्यादा एव गम्भीरता प्रदान की है। उनकी आरम्भिक कहानियो मे 'जहाँनारा' की जहाँनारा 'अशोक' की तिष्यरक्षिता 'पाप की पराजय' की नीला, 'चित्तौर उद्धार' की राजकुमारी', 'तानसेन की सौसन, 'चन्दा' की चादा, 'ग्राम' की ग्राम बालिका, 'रसिया बालम' की

सुमुखि, 'करुणा' की विजय आदि नारी पात्रो के चरित्रो मे उन्ही आदर्श, स्नेह, वीरता त्याग, बलिदान एव निःस्वार्थ प्रेम के साथ भावुकता तथा करुणा का चित्रण हुआ है। वे सब साहसी हैं और उनमे शौर्य है। 'चादा की चॉदा कहती है, 'हा लो मैं मरती हू। इसी छूरे से तूने हमारे सामने हीरा को मारा था, यह वही छुरा है, यह तुझे दुःख से निश्चय छुडाएगा। इतना कहकर चादा ने रामू के बगल मे छुरा उतार दिया। वह छटपटाया। इतने मे ही शेर को मौका मिला, वह रामू पर टूट पड़ा और उसकी इति कर आप भी वही गिर पडा।' नारी पात्रो की दूसरी सीमा वह है, जहा वह अपने प्रेमी के गले मे बाहे डालती हुई कहती है, अभिमान ही होता तो प्रयास करके तुम से क्यो मिलती। जाने दो, तुम मेरे सर्वस्व हो। तुमसे अब यह मागती हू कि अब कुछ न मागूँ, चाहे इसके बदले मेरी समस्त कामना ले लो। बाद की कहानियो मे भी प्रसाद के नारी पात्रो मे यही विशेषताएँ लक्षित होती हैं। यहा भी प्रेम, कर्त्तव्य, क्षमा, प्रतिशोध और फिर त्याग की रेखाओ के बीच नारी पात्रो के चरित्रो का विकास होता है, चपा कहती है, विश्वास कदापि नहीं बुद्धगुप्त : जब मै अपने हृदय पर विश्वास नही कर सकी, उसने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहू : मैं तुम्हे घृणा करती हू, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हू। अन्धेर है जलदस्यु ! तुम्हे प्यार करती हूँ" चपा रो पड़ी।' प्रेम की भावुकता की यह अन्तिम सीमा है—पर चपा त्याग करना भी जानती है। वह कहती है, 'बुद्धगुप्त मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकाक्षा हृदय मे अग्नि के समान प्रज्वलित नही। सब मिला कर मेरे लिए शून्य एक है। प्रिय नाविक तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवो का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो, इन निरीह भोले-भाले प्राणियो के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।' इसी प्रकार की चारित्रिक उच्चता मीना के व्यक्तित्व मे भी मिलती है, जब वह अपूर्व भावुकता से कहती है, 'वही स्वर्ग तो नरक है, जहा प्रियजनो से विच्छेद है। वही रात्रि प्रलय की रात्रि है, जिसकी कालिमा मे विरह का सयोग है। वह यौवन निष्फल है, जिसका हृदयवान उपासक नही। वह मदिरा हलाहल है, जो उन मधुर अधरो की उच्छिष्ट नही। वह प्रणय विषाक्त छुरी है, जिसमे कपट है।' अन्तिम काल की कहानियो मे यह भावुकता कुछ कम हुई है और यथार्थ की रेखाए अधिक उभरी हैं, वे स्त्री पात्र जीवन के अधिक निकट प्रतीत होती है। ये पात्र अधिक पूर्ण व्यक्तित्व के साथ सामने आते हैं।

पात्रो के चरित्र-चित्रण मे प्रसाद ने विश्लेषणात्मक एव अभिनयात्मक दोनों ही पद्धतियो का प्रयोग किया है। विश्लेषणात्मक ढग मे उन्होने सम्बन्धित पात्रो के चरित्र की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो का भी ध्यान रखा है और पैनी दृष्टि से सभी बारीक विशेषताओ को उजागर किया है, जैसे 'बेला साँवरी' थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोक पिंड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे

ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आखे लाली से भरी रहती। वह चलती तो थिरकती हुई, बाते करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारो ओर विखरी रहती।' या "वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवको से अधिक वलिष्ठ और दृढ था। चमडे पर झुरियाँ नहीं पडती थी। वर्षा की झडी मे, पूस की रात की छाया मे, कडकती हुई जेठ की धूप मे, नगे शरीर घूमने मे वह सुख पाता था। उसकी चढी मू छें बिच्छू के डक की तरह, देखने वालो की आँखो मे चुभती थी। उसका साँवला रग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर मे बनारसी सेल्दे का फेटा, जिसमें सीष की मूठ का बिछुआ खसा रहता था उसके घु घराले बालो पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कधे पर टिका हुआ चौडी धार का गडासा यह थी उसकी धज। पंजो के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थी। वह गुण्डा था' यह प्रसाद का सिद्धान्त नाटकीय ढग था। किसी चरित्र को प्रकाशित करने के लिए एक अन्य ढग था, जो प्रतीकात्मक ढ ग से विकसित होता था, जिसमे किसी चरित्र का प्रकाशन स्वय उसके मनोभावो उपमाओ एव विश्लेषणात्मक ढ ग के सहयोग से होता था, जैसे "दो तीन रेखाएँ भाल पर, काली पुतलियो के समीप मोटी और काली बौरानियो का घेरा, घनी आपस मे मिली रहने वाली भवें और नसापुट के नीचे हलकी-हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुँह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा करती थी। यौवन काषाय से कही छिप सकता है? संसार को दु खपूर्ण समझकर ही तो वह संघ की शरण मे आई थी। उसने आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरे लगी थी। तब भी यौवन ने साथ न छोडा भिक्षुकी बनकर भी वह शान्ति न पा सकती थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी। चैत की अमावस्या का प्रभाव था। अश्त्थ वृक्ष की मिट्टी सी सफेद डालो पर और तनो पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियाँ निकल आई थी। उन पर प्रभात की किरणें पड़कर लोट पोट हो जाती थी। इतनी स्निग्ध शैया उन्हे कहाँ मिली थी। सुजाता सोच रही थी। आज अमावास्या है। अमावस्या तो उसके हृदय मे सबेरे से ही अन्धकार भर रही थी।" अभिनयात्मक ढग से प्रसाद की कहानियो मे चरित्र प्रकाशन संवादो के ही माध्यम से अधिक हुआ है।

"भद्रे ? तुम्ही न कल के उत्सव की सचालिका हो?"

'उत्सव ! हाँ उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान .."

"क्यो आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्रे ! आप\क्या मुझे इस अवस्था मे सतुष्ट न रहने देगे?"

"मेरा हृदय तुम्हारी इस छवि का भक्त बन गया है देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडवना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित ! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हू—मेरे हृदय की भावना अवगुंजन मे रहना नहीं जानती। उसे..."

"राजकुमार ! मैं कृषक बालिका हू। आप नदन बिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दु ख से विकल हू, मेरा उपहास न करो।"

"मैं कौशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हे दिलवा दूंगा।"

"नही, वह कौशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदला नही चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दु.ख हो।"

'तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव हृदय का है, मेरा नही। राजकुमार नियमो से यदि मानव हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता।"

"मधूलिका उठ खड़ी हुई।"

"महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—'तुम्हें कही देखा है।"

"तीन बरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट मे बिताये, आज उसका मूल्य मांगने आई हो, क्यो ? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नही महराज मुझे मूल्य नही चाहिए !"

"मूर्ख ! फिर क्या चाहिए।"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिण वाले नाले के समीप की जगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूंगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्य मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा "कृषक बालिके ! वह बड़ी ऊबड-खाबड़ भूमि है, तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊ ?"

"सिहमित्र की कन्या ! मैं क्या कहू, तुम्हारी यह प्रार्थना .

"देव ! जैसी आज्ञा हो !"

"जाओ तुम श्रमजीवियो को उसमे लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हू।"

'जय हो देव ! "कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राज मन्दिर के बाहर आई।"

रमणी जैसे विकारग्रस्त स्वर मे चिल्ला उठी—"बाँध लो, मुझे बाँध लो, मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हस पडे, बोले—"पगली है।"

"पगली ! नही, याद वही हो तो, उतनी विचार वेदना क्यो होती ? मुझे बाँध लो राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर मे दस्युओ के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण हो गा"

सेनापति चौंक उठे। उन्होने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हू, शीघ्रता करो।"

इस अभिनयात्मक ढग मे बडी कुशलता से पात्रो के चरित्रो का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसमे नाटकीयता भी है और रोचकता भी—। प्रसाद ने मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो एव आन्तरिक प्रवृत्तियों के प्रकाशन पर भी बल दिया है, पर इसका चरित्र-चित्रण मे उन्होने अधिक उपयोग नही किया है।

जहा तक प्रसाद की कहानियो मे कथोपकथनो का प्रश्न पूर्णतः सफल रहे हैं। वे नाटकीय भी हैं, अभिनयात्मक भी। उनके कथोपकथन बिलकुल नाटको के कथोपकथनो की भाति ही लगते हैं :

"मैं भूल जाता हू मीना' हाँ मीनाः मैं तुम्हे मीना नाम से कब तक पुकारूँ और मैं तुम्हे गुल कहकर क्यो बुलाऊँ ?"

"क्यो मीना ! यहाँ भी तो हम लोगो को सुख ही हैं, न ! अहा क्या ही सुन्दर स्थान है, हम लोग जैसे एक स्वप्न देख रहे हैं, कही दूसरी जगह न भेजे जाए, तो क्या ही अच्छा हो।"

"नही गुल, मुझे स्मृति विकल कर देती है। कई वर्ष बीत गए वह माता के समान दुलार, उस उपासिका की स्नेहमयी, करुणा भरी दृष्टि आँखो मे कभी-कभी चुटकी काट लेती है, मुझे तो अच्छा नही लगता बन्दी होकर रहना तो स्वर्ग मे भी। अच्छा तुम्हे यहाँ रहना नही खलता।"

' नही मीना ! सबके बाद जब मैं तुम्हे अपने ही पास पाता हू तब और किसी आकाक्षा का स्मरण ही नही रह जाता, समझता हू कि तुम गलत समझते हो।"

इस तरह के कथोपकथन अपने आप मे स्वतन्त्र हैं। न वे पात्रो के चरित्रो पर कोई प्रकाश डालते हैं, न कथानक को ही कोई गतिशीलता प्रदान करते हैं। वे नाटको जैसी सारी विशेषताएँ लिये रहते है पर कहानियो मे स्वतन्त्र ही रहते हैं,

इसीलिए वे सफल नही हो पाते। निम्नलिखित कथोपकथन मे इन त्रुटियो का समाहार लक्षित होता है और प्रत्येक दृष्टि से वे सफल बन पडा है :

···धीवर बाला आकर खड़ी हो गई बोली—"मुझे किसने पुकारा ?

"मैंने।"

"क्या कहकर पुकारा ?"

"सुन्दरी।"

"क्यो मुझ मे क्या सौन्दर्य है ? और है भी कुछ तो क्या तुममे विशेष ?

"हाँ' मैं आज तक किसी को सुन्दर कहकर नही पुकार सका था, क्योकि वह सौन्दर्य विवेचना मुझमे अब तक नही थी।"

"आज अकस्मात यह सौन्दर्य-विवेक तुम्हारे हृदय मे कहाँ से आया ?"

"तुम्हें देखकर मेरी सोई हुई सौन्दर्य तृष्णा जग गई।"

"परन्तु भाषा मे जिसे सौन्दर्य कहते है, वह तो तुममे पूर्ण है।"

"मैं यह नही मानता, क्योकि फिर सब मुझी को चाहते सब तेरे पीछे बावले बने घूमते। यह तो नही हुआ। मैं राजकुमार हू, मेरे वैभव का प्रभाव चाहे सौन्दर्य का सृजन कर देता हो। पर मैं उसका स्वागत नहीं करता। उस प्रेम नियत्रण में वास्तविकता कुछ नही।"

"हा, तो तुम राजकुमार हो ! इसी से तुम्हारा सौन्दर्य सापेक्ष है।"

"तुम कौन हो ?"

"धीवर बालिका।"

"क्या करती हो ?"

"मछली फसाती हूं।" कहकर उसने जल को लहरा दिया।

"जब इस अनन्त एकात मे लहरियो को लिए प्रकृति अपनी हंसी का चित्र दत्तचित्त होकर बना रही हैं तब तुम उसी के अचल मे ऐसे निष्ठुर काम करती हो ?"

"निष्ठुर है तो, पर मैं विवश हू। हमारे द्वीप के राजकुमार का परिणय होने वाला है। उसी उत्सव के लिए सुनहली मछलिया फसाती हू। ऐसी ही आज्ञा है।"

"परन्तु यह ब्याह तो होगा नही।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं भी राजकुमार हू। राजकुमारों को अपने चक्र की बात विदित रहती है, इसलिए कहता हू।"

"धीवर बाला ने एक बार सुदर्शन के मुख की ओर देखा, फिर कहा···तब तो मैं इन निरीह जीवो को छोड़ देती हूं।"

या इससे भी सक्षिप्त एवं नाटकीय कथोपकथन :

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नही। निद्रा खुल जाने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बडी शीत है, कही से एक कम्बल डालकर कोई शीत मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल है।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो :"

"हाँ धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बन्ध-रज्जु काट सकोगे।"

'हाँ।"

जहाँ तक प्रसाद की कहानियो की भाषा का प्रश्न है, उन्होने अपनी भाषा मे सास्कृतिक तत्वो की पूर्ण रक्षा की है, जिससे वह सस्कृतनिष्ठ हो गई है। प्रसाद की भाषा मे कवित्व है, प्रवाह है, ओज है और, चित्रोपमता है : "वन्य कुसुमो की झालरें सुख शीतल पवन से विकम्पित होकर चारो ओर झूल रही थी, छोटे-छोटे करनी का कलाएँ कतराती हुई बह रही थी। लता वितानो से ढकी हुई प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प रचना पूर्ण सुन्दर प्रकोष्ठ बनाती जिसमे पागल कर देने वाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थी। स्थान-स्थान पर कुजों और पुष्प शाखाओ का समारोह, छोटे-छाटे विश्राम गृह—पात्र-पात्रो मे सुगधित मदिरा, भाँति-भाँति के सुस्वादु फल फूल वाले वृक्षो के झुरमुट दूध और मधु की महरो के किनारे गुलाबी बादलो का क्षणिक विश्राम। चाँदनी का निभृत रग-मच, पुलकित वृक्ष फूलो पर मधु मक्खियो की भन्नाहट, रह-रहकर पक्षियो के हृदय मे चुभने वाली तान, मणि-दीपो पर लटकते हुए पुलकित मालाएँ"। इस तरह के दृश्य उपस्थित करने या वातावरण का निर्माण करने मे प्रसाद की भाषा अत्यन्त सफल रही है, "एक धीवर कुमारी-समुद्र तट से कगारो पर चढ रही थी, जैसे पख फैलाये तितली नील भ्रमरी सी उसकी दृष्टि एक क्षण के लिए कही नही ठहरती थी। श्याम सलोनी-सी गोधूली-सी वह सुन्दरी सिकता मे अपने पद चिह्न छोडती हुई चली जा रही थी। सायकाल का समुद्रतट उसकी आँखो मे दृश्य के उस पार की वस्तुओ का रेखाचित्र खीच रहा था, जैसे वह जिसको नही जानता था, उसको कुछ-कुछ समझने लगा हो, और वही समझ, वही चेतना एक रूप रखकर सामने आ गई। उसके अधरो मे मुस्कान, आँखो मे व्रीड़ा और कपोलों पर यौवन की आभा खेल रही थी, जैसे नील मेघ खड के भीतर स्वर्ण किरण अरुण का उदय।" प्रसाद की ऐतिहासिक-सास्कृतिक कहानियो की भाषा भिन्न प्रकार की है और सामाजिक कहानियो की भाषा भिन्न प्रकार की। पर कुल मिलाकर उनकी

भाषा अलकृत और रोमाटिक है, जिसमे भावुकता का तीव्र प्रवाह है। वास्तव मे एक आलोचक ने ठीक ही कहा है[1] कि आधुनिक कहानी लेखको मे प्रसाद जी का अपना विशेष स्थान है। उन्होंने अपनी कठिनाइयाँ राष्ट्रीयता और सुधारवाद से प्रेरित होकर नही लिखी। उनकी कहानियाँ अधिकतर सास्कृतिक पृष्ठ भूमि पर स्थित रहती हैं। उनकी कहानियाँ प्राय: भाव-प्रधान और कल्पना-प्रधान होती हैं और वह पाठकों के हृदय को अधिक स्पर्श करती हैं, बुद्धि को नही। उनकी कहानियो मे मनुष्य का हृदय अधिक प्रस्फुटित हुआ है। उसका बाह्य जीवन नही। कवि होने के नाते उनकी अनेक कहानियो मे काव्यत्व भी आ गया है और भाषा, प्रकृति का मानवीकरण आदि विशेषताएँ भी उनकी कविताओ के अनुरूप हो गई हैं। कथा-भाग उनकी कहानियो मे कम रहता है। वास्तव मे प्रसाद आतरिक सौन्दर्य पर जोर देने वाले कहानी-लेखक है। उनकी कहानियो का वातावरण अद्भुत कवित्व शक्ति से ओतप्रोत रहता है। प्रसाद जी ने कुछ घटना-प्रधान चरित्र-प्रधान और ऐतिहासिक तथा यथार्थवादी कहानिया भी लिखी हैं। उनकी सब प्रकार की कहानियो मे खण्डकाव्य का आनन्द आता है। विविध प्रकार की परिस्थितियो मे उनके पात्रो का चरित्र प्रस्फुटित होता है। नाटकीयता उनकी अपनी विशेषता है। वास्तव मे अपनी कहानियो मे वे अपना कवि और नाटककार का रूप नही छोड़ सके है। नाटककार होने के कारण उनके कथोपकथनो मे नाटकीय सौन्दर्य और अर्थ-गाभीर्य मिलता है। साथ ही उनसे घटना-विकास और पात्रो के चरित्र विकास पर भी प्रकाश पडता है। उत्सुकता और कुतूहल द्वारा वे कहानी का सौन्दर्य बढ़ा देते हैं। शब्द चयन, वाक्य विन्यास आदि की दृष्टि से उनकी भाषा मे सौष्ठव और परिमार्जन है।

सुदर्शन

दैनिक और पारिवारिक जीवन की सहज एव सामान्य अनुभूतियो को लेकर सुदर्शन ने अनेक सफल कहानियो की रचना की है। उनकी सर्वप्रथम कहानी 'हार की जीत' १९२० ई० मे 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुई थी। उसके पश्चात् उनके दस कहानी संग्रह—'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन सुमन', पुष्पलता', 'तीर्थयात्रा', 'गल्प मजरी', 'सुप्रभात' 'चार कहानियाँ' 'नगीना', 'परिवर्तन' और 'पनघट' प्रकाशित हुए। 'ससार की सबसे बडी कहानी', 'कमल की बेटी', 'कवि की स्त्री', 'अलबम', 'एथेस का सत्यार्थी', 'सूरदास', 'मास्टर आत्माराम', 'सदासुख', 'सन्यासी', 'हेर-फेर' पत्थरो का सौदागर', 'फर ऊन का प्रेम' आदि उनकी अत्यन्त लोकप्रिय कहानियाँ हैं। इस काल

१. डॉ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा सस्करण १९६४), पृष्ठ २८९

काल मे सुदर्शन को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी कि उनकी तुलना बराबर प्रेमचन्द के समकक्ष की जाती थी। सुदर्शन ने कहानियो के सम्बन्ध मे लिखा है, 'हमे, ऐसी कहानियाँ चाहिए', जिनका प्रभाव राष्ट्र और समाज पर अमिट हो और यह तभी हो सकता है, जब हमारे समाज और राष्ट्र की बाते ही कहानी मे हो।' इस प्रकार स्पष्ट है कि सोद्देश्य कहानियाँ लिखना ही सुदर्शन की अभीष्ट रहा है। अपनी कहानियो मे उन्होने मनुष्य के उदात्त आदर्शो को उभारने की चेष्टा अधिक की है। उनकी कहानियो को कथावस्तु के आधार पर तीन भागो मे बाँटा जा सकता है ·

१ किसी एक घटना, पात्र, सवेदना या अनुभूतियो पर आधारित कहानियाँ, जैसे 'हार-जीत' कहानी।

२ मानव जीवन और इतिहास के किसी चिरतन सत्य को उद्घाटित करने वाली कहानियाँ, जैसे 'कमल की बेटी', 'एथेस का सत्यार्थी' तथा 'ससार की सबसे बडी कहानी' आदि।

३ दैनिक पारिवारिक एव सामाजिक जीवन की घटनाओ पर आधारित कहानियाँ, जैसे 'सूरदास', 'मास्टर आत्माराम' तथा 'सन्यासी' आदि।

सुदर्शन की कहानियो का मूल स्वर आदर्शवादी है, पर उन्होने उसके साथ यथार्थवाद को भी समन्वित किया है, अतः उनकी कहानियो मे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्राप्त होता है। उनकी कहानियो मे मनोविज्ञान या मानवीय आन्तरिक प्रवृत्तियो का विश्लेषण खोजना व्यर्थ होगा, हालाँकि अनेक स्थानो पर पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का उन्होने सुन्दर मनोविश्लेषण किया है। अपने युग के दूसरे कहानीकारो की भाँति प्रमुखत उनकी कहानी कला भी स्थूल है। वातावरण निर्माण मे अवश्य ही सुदर्शन को अपूर्व रूप से सफलता प्राप्त हुई है और उन्होने किसी वातावरण विशेष के बारीक से बारीक रेशे उभारने और उसे स्वाभाविक रूप से चित्रित किया है। ये वातावरण कहानियाँ कदाचित् उनकी सब से और प्रभावशाली कहानिया है। उनकी अनेक कहानिया जीवन के उच्चदर्शों तथा सामाजिक एव राजनीतिक आन्दोलनो से प्रभावित होकर लिखी गई हैं। जिनमे वर्ण-नात्मकता अधिक हैं, कहानी कला के गुणो का समावेश कम। वस्तुत जीवन के बहु विविध पक्षो का वे प्रेमचन्द की भाँति चित्रण करने मे असमर्थ रहे है और न उनमे जीवन की वह विराटता एव व्यापक परिवेश ही उपलब्ध होता है, जो प्रेमचद की कहानियों की अन्यतम विशेषता है, पर प्रेमचद की अपेक्षा सुदर्शन की कहानियो मे शिल्प सम्बन्धी रोचकता एव सुन्दर निर्वाह अधिक है। उनके पात्र अधिकतर स्थूल ही हैं, उनके बाह्य व्यक्तित्व की केवल विश्लेषणात्मक व्याख्या प्राप्त होती है। आन्तरिक

प्रवृत्तियो का उद्घाटन नही के बराबर है, उनके कथोपकथन अभिनयात्मक और नाट-कीय है; पर कम अधिकाश रूप मे उनकी कहानियाँ वर्णनात्मक ढग से लिखी गई हैं और जो कथोपकथन मिलते भी हैं, वे स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं, कथानक को गतिशीलता प्रदान करने अथवा पात्रों के चरित्रो का रहस्योद्घाटन करने मे वे विशेष सफल नही रहे हैं।

उन्होंने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा मे सहजता और प्रवाह है, तथा यथार्थ गुणो के साथ किंचित काव्यात्मकता का भी समावेश हो गया है, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है कि सुदर्शन ने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कहानिया अधिक लिखी हैं। उनकी कहानियाँ बड़े शान्ति और गम्भीर ढंग से आगे बढ़ती हैं। उत्सुकता और कुतूहल उनकी कहानियो मे विशेष रूप से पाया जाता है। उनकी दृष्टि मानव जीवन के साधारण पहलुओ की ओर गई है। उनकी कला का वास्तविक रूप हमे उनकी वातावरण प्रधान कहानियो मे मिलता है, जिसमे वे मनुष्य के सूक्ष्म मानसिक रहस्यो का उद्घाटन करते हैं। उन्होने पुराण शैली मे भी सामयिक तत्वो की व्यजना भी की है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे प्रेमचद के समीप हैं—यथार्थ से आदर्श की ओर उनके कथोपकथन सुन्दर और स्वाभाविक हैं और भाषा व्यावहारिक।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरी जी का हिन्दी कहानियो के क्षेत्र मे अन्यतम स्थान है, 'उसने कहा था' 'बुद्धू का काँटा' तथा 'सुखमय जीवन' उनकी तीन ही कहानिया हैं, पर इन तीन कहानियो के माध्यम से ही वे इतिहास मे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना गए हैं। ये तीनो कहानिया सामाजिक हैं। प्रेम और कर्त्तव्य के मध्य तीनो ही कहानियो मे कथानक का विकास हुआ है, जिसमे 'उसने कहा था' उन्ही की नही, हिन्दी की सर्व-श्रेष्ठ कहानियो मे से है।

'उसने कहा था' युद्ध की यथार्थ पृष्ठभूमि पर लिखी गई कदाचित हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी है। इसमें कर्त्तव्य और प्रेम के मध्य लहनासिह के चरित्र को माध्यम बनाकर अपूर्व कौशल एव नाटकीयता से उसका चरित्र प्रकाशित किया गया है। इस का प्रारम्भ इस प्रकार होता है बडे २ शहरो के इक्के गाडी वालो की जबान के कोडो से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालो की बोली का मरहम लगावे। जब बडे २ शहरो की चौडी सडको पर घोडो को चाबुक से धुनते हुए। इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थापित करते है। कभी राह चलते पैदलों की आँखो के न होने पर तरस खाते हैं कभी उनके पैरो की उंगलियो के पैरो को चीथकर अपने ही को लाया हुआ बताते हैं, और ससार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने

नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर मे उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियो मे, हर एक लट्ठीवाले के लिए हर सब्र का समुद्र उमडाकर 'बचो खालसा जी 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई' आने दो लालाजी', 'हटो बाछा' कहते हुए सफेद फेटो, खच्चरो और बतको, गन्ने और खोमचे और भारे वालो के जगल मे राह लेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' के बिना सुने किसी को हटना पडे । यह बात नही कि उनकी जीभ चलती ही नही, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई । यदि कोई बुढिया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नही हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने है—'हट जा जीने जोगिए, हट जा करमा वालिए, हट जा पुतॉ प्यारिए, बच जा लम्बी वालिए ।' समष्टि मे इनके अर्थ होते है, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यो वाली है, पुत्रो को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यो मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ? बच जा !' इसी वातावरण मे एक लडका और लडकी मिलते है, लडकी रसोई के लिए बड़िया लेने आई थी और लडका अपने मामा के केश धोने के लिए दही । वह पूछता है, तेरी कुडमाई हो गई है ? लड़की 'धत्' कहकर भाग जाती है । फिर वही प्रश्न पूछने पर लडकी कहती है, 'हा हो गई । कल देखते नही यह रेशम से कडा हुआ सालू ' लड़की भाग गई । लडके ने घर की राह ली । रास्ते मे एक लडके को मोरी मे ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले मे दूध उडेल दिया । सामने नहाकर आती हुई । किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई तब कही घर पहुँचा ।' इस बात के पच्चास वर्ष व्यतीत हो जाते हैं । लडका लहनासिंह हो जाता है और न० ७७ राइफल जमादार होकर अग्रेजो की ओर से फ्रास के युद्ध स्थल के मोर्चे पर जाता है, लडाई पर जाने से पूर्व उसे सूबेदार का पत्र प्राप्त होता है कि वह भी साथ चलेगा । लहनासिंह उसके गॉव जाता है । सूबेदारनी उसकी वही बचपन की लडकी है, जिसे उसने बिगडे हुए टागे के घोडे से बचाया था । उसे देखकर उसका प्रेम कर्त्तव्य में परिणत हो जाता है । जाते समय सूबेदारनी कहती है, 'अब दोनो जाते हैं, मेरे भाग : तुम्हे याद है एक दिन टाँगे वाले का घोडा दही वाले की दूकान के पास बिगड गया था, तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे, आप घोडो की लातो चले गए थे और मुझे उठाकर दूकान तख्ते पर खड़ा कर दिया था । ऐसे ही इन दोनो (उसके पति और पुत्र) को बचाना । यही मेरी भिक्षा है । तुम्हारे आगे मैं आचल पसारती हू ।' लहनासिंह युद्ध के मोर्चे पर ऐसा ही करना अपना परम कर्त्तव्य समझता है । उसके बीमार पुत्र को अपने सारे गरम कपडे पहनाता है उसकी ड्यूटी स्वयं पूरी करता है और जर्मन लेफ्टीनेण्ट की जालसाजी से उसके प्राण बचाता है जिसमे गोली लग जाती है । जर्मनो द्वारा किए गए आक्रमण के समय उसे एक और गोली लग जाती है, लेकिन जब तक वह सूबेदार हजारासिंह और बोधा को वहाँ से भेज

नही देता, स्वयं नही गिरता। सूबेदार के जाते समय वह कहता है: "सुनिये तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।" मृत्यु के कुछ क्षण पूर्व स्मृति बहुत स्पष्ट हो जाती है, "जीवन की सम्पूर्ण घटनायें चल चित्र की भांति मानस-पट पर घूम जाती हैं और इसके पश्चात् उसकी इहलीला समाप्त हो जाती है।"

'उसने कहा था' का कथानक गुलेरी जी ने बडी कुशलता से संगुफित किया है। उसमे आधुनिक कहानी कला के सभी गुणो का समावेश हो गया है। कहानी के सारे सूत्रो को सगुफित कर चरम-उत्कर्ष पर इस ढग से कहानी उन्होने समाप्त की है, जैसे कोई पारा अचानक झनझना कर टूट जाए और पाठको के मन पर विषाद की गहरी छाया अकित हो जाती है। इसके कथानक की सबसे बडी विशेषता इसकी नाटकीयता है। गुलेरी जी ने विभिन्न घटनाओ एव स्थितियो का तारतम्य इस प्रकार जोडा है कि पाठको की कौतूहलता अन्त तक बनी रहती है। कथानक की दूसरी विशेषता उसकी कलात्मकता है। इसमे कहानी का विकास अग लहनासिह की स्मृतियो के माध्यम से चित्रित किया गया है, जब लहना अपने कर्तव्य की बलिवेदी पर सूबेदारनी के पति और पुत्र की रक्षा और अपने कर्तव्य की पूर्णता मे मोर्चे पर घायल होकर मरणासन्न है। सूबेदार का लहनासिह को पत्र लिखना, लहनासिह का उसके गाँव जाना, सूबेदारनी को पहचानना, प्रेम का कर्तव्य मे परिणत हो जाना तथा सूबेदारनी की भिक्षा माँगना आदि अपूर्व कलात्मकता से Flash back पद्धति में सगुफित किए गए है। कथानक की तीसरी विशेषता उसकी स्वाभाविकता एव सहजता है। यद्यपि गुलेरी जी ने सयोग तत्वो (Chance Elements) और कल्पनाशीलता का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है, पर उनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इन सब बातो के होते हुए भी उन्होने सारी घटनाओ का कुशलतापूर्वक सगुफन किया है कि कही भी अस्वाभाविकता या अविश्वसनीयता नही मालूम पड़ती। कथानक की चौथी विशेषता रोचकता एवं प्रवाह है। सारी घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटती हैं कि पाठक उनके प्रवाह मे अवश सा बहता जाता है। गुलेरी जी अपने समय से आगे बढे हुए थे। उन्होने समाज के अन्तराल मे फैली हुई कुरीतियो की अवहेलना की। विवाह प्रथा मे, दहेज, निर्धनता एव परवशता का भी उन्होने सांकेतिक शैली मे चित्रण किया है, अतः सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन कथानक की पाँचवी विशेषता है। धार्मिक परिस्थितियो से गुजरने के बाद उन्होने देश के प्रति लगन और प्रेम का वर्णन किया है—"फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नही लेती। कहती है, तुम राजा हो मेरे मुल्क को बचाने आये हो।" जहाँ स्त्री के आत्म-त्याग का वर्णन है, वही वे सहज मानवीय प्रवृत्तियो का उद्घाटन भी कुशलतापूर्वक करते हैं—

"लाडी होरा को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरगी मेम ?" यही सत्य लहनासिंह की मृत्यु के समय अपनी अतिम आकाँक्षा मे भी उद्घाटित होता है। वह अपने पुत्र का अधिकार भाई को सौपते हुए मूक पीडा मे कहता है—'अबकी हाड मे यह आम खूब फलेगा। चचा भतीजे यही बैठकर खूब आम खाना। जितना बडा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने मे उसका जन्म हुआ था, उसी महीने मैने इसे लगाया था।' इस प्रकार इस कहानी का कथानक अत्यन्त सुसगठित है और उसने नाटकीयता, रोचकता, कौतूहलता, जीवन की सूक्ष्म बातो का मार्मिक चित्रण, विशदता एव हृदयग्राहिता का ऐसा अपूर्व समन्वय हुआ है कि सारी कहानी मन पर एक अमिट प्रभाव छोड जाती है।

'उसने कहा था' कहानी का शीर्षक बहुत व्यंजनात्मक एव सार्थक है। कहानी के प्रारम्भ मे लडके के पूछने पर कि 'तेरी कुडमाई हो गई'—उसने कहा था—धत्! इससे लडके को प्रोत्साहन मिलता है, वह उसके प्रति आकर्षित होता है, उसे बाल-सुलभ मन मे अनेक आकाँक्षाएँ जाग्रत होती हैं और वह स्वप्नशील बन जाता है। एक दिन फिर यही प्रश्न पूछने पर कि, 'तेरी कुडमाई हो गई'—उसने कहा था—'कल हो गई। देखते नही यह रेशमी बूटो वाला सालू—अमृतसर मे।' इससे लडके की सारी मोहकता भग हो जाती है और उसे शॉक लगता है। यहाँ से कथानक को दूसरा मोड मिलता है, इसके बाद वह फौज मे भरती हो जाता है। मोर्चे पर जाने के पहले जब सूबेदार का पत्र पाकर वह उसके गाँव जाता है और सूबेदारनी से मिलता है, तो फिर—उसने कहा था—'अब दोनो जाते हैं, मेरे भाग : तुम्हे याद है एक दिन टॉगेवाला का घोडा दही वाले की दुकान के पास बिगड गया था, तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खडा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनो (उसके पति और पुत्र) को बचाना यही मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आचल पसारती हू।' यह कहना कहानी को तीसरा मोड देता है और लहनासिंह का प्रेम कर्तव्य मे परिणत हो जाता है और अन्त मे जब वह मरने लगता है, तो उसे फिर याद आता है—उसने कहा था—और वह सूबेदार से कहता है, 'सुनिये तो, सूबेदारनी होरा को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो—उसने कहा था—वह मैंने कर दिया।' इस प्रकार सारी कहानी मे शीर्षक—उसने कहा था—का महत्वपूर्ण भाग होता है। उसी से घटनाओ मे विभिन्न मोड आते हैं, पूर्वापर का सम्बन्ध स्थापित होता है, प्रभावान्विति (Unity of impression) बनती है और कहानी एक सूत्रता मे आबद्ध होती है। इस शीर्षक की एक अन्य विशेषता यह है कि यह पाठको मे जिज्ञासा उत्पन्न करती है और कहानी प्रारम्भ करने के पूर्व उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है कि किसने कहा था, क्या कहा था और क्यो कहा था ?

'उसने कहा था' के पात्र एव चरित्र-चित्रण मे भी गुलेरी जी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। चरित्र-चित्रण के लिए उन्होने नाटकीय एव विश्लेषणात्मक दोनो प्रणालियो का प्रयोग किया है और उन दोनो के सुन्दर समन्वय से लहनासिह का चरित्र उच्चकोटि की कलात्मकता से प्रकाशित हुआ है। लेखक ने पात्रो का चरित्र-चित्रण मुख्यत उन्हे घटनाचक्र मे डालकर किया है और यदि कोई कसर रह गई है, तभी बीच मे आकर दो-चार अश विश्लेषणात्मक शैली मे चला दिए हैं। इससे पात्रों का पूर्ण व्यक्तित्व ही नही सामने आता, उनमे स्वाभाविकता एव यथार्थता का भी समावेश हो जाता है। लेखक ने उनके कार्य-व्यापारो मे अनाधिकार चेष्टा नही की है। घटनाचक्र मे पडकर जो चरित्र जैसा बन गया है, वह उसी रूप मे हमारे सामने आता है, लेखक ने अस्वाभाविकता को अपने पास फटकने तक नही दिया है। गुलेरी जी ने किसी भी पात्र को ऊँचा उठाने या नीचा गिराने के लिए कही भी सायास प्रयत्न नही किया है। लहनासिह की उदात्त अनुराग भावना अन्त मे त्याग एव उत्सर्ग का ऐसा अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करती है कि वह देवत्व के पद तक अत्यन्त स्वाभाविक गति से पहुच जाता है—उसके चरित्र-चित्रण मे गुलेरी जी की यही सफलता है। सारी कहानी मे केवल यही एक मूल बात है, जिसमे पूर्व के सारे प्रसार, प्रभावान्विति हो उठे हैं। लहनासिह की अनुराग वृत्ति का गुलाब ऐसा खिला दिखाई देता है कि पाठक की दृष्टि उसी पर जमी रह जाती है। वह उसी की सुन्दरता मे डूब जाता है। सात्विक प्रेम की प्रेरकता से उद्भूत और लहनासिह के चरित्र सौंदर्य से सबलित होकर जो उत्सर्ग की महिमा अन्त मे मुखरित हुई है। वही कहानी का यथार्थ प्रतिपाद्य और मूलभाव है। लहनासिह मे शौर्य है, साहस एव आत्मविश्वास है, त्याग एव बलिदान की सौ-सौ भावनाएँ हैं, कर्तव्य की पूर्णता एव दायित्व का निर्वाह करने की भावना हैं। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश से बहती हुई स्नेह-सरिता का एक बूँद जल भी वासना के पक से प्रभावित नही है।

'उसने कहा था' के कथोपकथन भी बहुत सफल बन पडे हैं। वे नाटकीय और अभिनयात्मक हैं। उनके माध्यम से गुलेरी जी ने दोहरा कार्य बडी कुशलतापूर्वक लिया है। वे पात्रो के चरित्रो का प्रकाशन तो करते ही हैं, कथानक को भी गतिशीलता प्रदान करते हैं। प्रारम्भ मे लडके और लडकी का वार्तालाप, लहनासिह और सूबेदारनी का वार्तालाप, लहनासिह और जर्मन लेफ्टिनेण्ट के वार्तालाप मे मनोविज्ञान का सूक्ष्म चित्रण मिलता है, पात्रो के मानस का विश्लेषण कर सकने की समर्थता प्राप्त होती है और घटनाओ को स्पष्ट कर सकने की सक्षमता भी। प्रत्येक पात्रों के कथोपकथन अत्यन्त स्वाभाविक एव सजीव हैं। पात्रो के चरित्रो का अवगुण्ठन कथोपकथनो के माध्यम से ही होता है और अन्त मे धीरे-धीरे वे अपना सम्पूर्ण चरित्र खोलकर रख देते हैं। कथोपकथनो की एक अन्य विशेषता यह है कि वे छोटे, चुस्त

एव व्यंग्ययुक्त हैं। पात्रो के वार्तालाप मे कृत्रिमता एव अनर्गल प्रलाप का पूर्ण अभाव है। कथोपकथन के माध्यम से ही सारी कहानी मगुफित की गई है और अन्त मे मरणासन्न लहनासिंह के स्वगत कथन से ही कहानी का अन्त होता है :

"लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ मे देकर कहा, 'अपनी बाडी के खरबूजो मे पानी दो।' ऐसा खाद का पानी पजाब भर मे नही मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मै तो लडाई के बाद सरकार से दस गुना जमीन यही माँग लूँगा और फूलो के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होरा को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरगी मेम।"

"चुपकर। यहाँ वालो को शरम नही।"

"देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नही पीते वह सिगरेट देने मे हठ करती है, ओठो मे लगाना चाहती है और मैं पीछे हटता हू तो समझती है कि राजा बुरा मान गया अब मेरे मुलक के लिए लडेगा नही।"[१]

'उसने कहा था' कहानी मे वातावरण एव देशकाल की दृष्टि से भी गुलेरी जी को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। प्रारम्भ मे ही उन्होने अमृतसर के सामाजिक जीवन का ऐसे सूक्ष्म यथार्थ चित्रण किया है कि इस वातावरण के बारीक-से-बारीक रेशे भी उभरकर आँखो के सामने घूम जाते हैं: बडे-बडे शहरो के इक्के-गाडीवालो की जबान के कोडो से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बबूकार्ट वालो की बोली का मरहम लगावें। जब बडे-बडे शहरो की चौड़ी सड़कों पर घोडो को चाबुक से धुनते हुए, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलो की आँखो के न होने पर तरस खाते हैं; कभी उनके पैरो की अँगुलियो के पैरो को चीथकर अपने ही को लाया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर मे उनकी बिरादरी वाले तग चक्करदार गलियो मे, हर एक लड्ढीवाले के लिए हर का सब्र का समुद्र उमडाकर, 'बचो खालसा जी।' 'हटो भाई जी।' 'ठहरना भाई।' 'आने दो लाला जी।' 'हटो बाछा' कहते हुए सफेद फेटो, खच्चरो और बत्तको, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जगल मे राह लेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' के बिना सुने किसी को हटना पडे। यह बात नही कि उनकी जीभ चलती ही नही—चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नही हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—'हट जा जीने जोगिए, हट जा करमा वालिए, हट जा पुता प्यारिए। बच जा लम्बी वालिए।' समष्टि मे

१ गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, (१९४५), पृष्ठ ४१

इनके अर्थ होते हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यो वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यो मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है? बच जा![1] इस तरह के सजीव एव स्वाभाविक वातावरण का निर्माण पूरी कहानी मे हुआ है। युद्ध-स्थल का तो इतना सजीव एव यथार्थ चित्रण इस काल की किसी कहानी मे तो क्या, बाद की हिन्दी कहानी में भी प्राप्त होना दुर्लभ है। 'कनस्तरो पर सोना', 'युद्ध की सीलन भरी खाइयाँ', 'मन-मन भर फ्राँस की मिट्टी का बूटो मे चिपकना' आदि छोटी-छोटी अनुभूतियो से युद्ध स्थल को अत्यन्त मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है। युद्ध से अवकाश मिलने पर सैनिको का गदा गाना, फिरगी मेम की बात और फूहड मजाक आदि सभी सूक्ष्म बातें वातावरण को यथार्थ रग देने के लिए ही सगुफित की गई हैं।

'उसने कहा था' की भाषा माधुर्य एवं प्रसाद गुणो से सम्पन्न है। भाषा मे प्रवाह होने के साथ साथ सजीवता भी हैं। उर्दू-हिन्दी मिश्रित मुहावरेदार चलती भाषा की सुन्दर छटा सम्पूर्ण कहानी मे दृष्टिगोचर होती है। कथावस्तु पजाब प्रदेश से सम्बधित है, अत उस प्रदेश मे नित्यप्रति प्रयोग मे आने वाले शब्दो एव मुहावरो का सुन्दर प्रयोग भाषा मे हुआ है, जिससे भाषा मे रवानी आई हैं।

'उसने कहा था' ने हिन्दी कहानियो को एक अभिनव दिशा प्रदान की और प्रेम कहानियो को विराट एव व्यापक परिवेश मे कर्तव्य एव प्रेरणा से सम्बद्ध कर जीवन यथार्थ के आयामो के मध्य विकसित होने का मार्ग खोला, जो एक महत्वपूर्ण उपलब्धि हैं। इसका कारण यही है कि गुलेरी जी का जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टिकोण था और उनकी दृष्टि साफ था; जैसा कि एक आलोचक ने कहा[2] है, 'जीवन मे नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी वे सेक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियो मे से नही था' एक अन्य आलोचक[3] के अनुसार इसमे पक्के यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम-मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सम्पुटित है। घटना इसकी ऐसी है, जैसी बराबर हुआ करती है। पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है निर्लज्जता के साथ प्रकार या कराह नही रहा। कहानी भर मे कही प्रेम की निर्लज्ज प्रगलभता, वेदना की वीभत्स निवृत्ति नही है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कही आघात नही पहुँचता। इसकी घटनाए ही बोल रही हैं,

१ गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, (१९४५), पृष्ठ ३६

२ डॉ० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, (१९४५), मुरादाबाद, पृष्ठ ४६

३. पं० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (५वा सस्करण), बनारस, पृष्ठ ३५२

पात्रो के बोलने की अपेक्षा नही। एक अन्य सुविज्ञ[1] के अनुसार 'उसने कहा था' गुलेरी जी की कृति का प्रधान स्तम्भ है। यह कहानी चरित्र-प्रधान कहानी है और निःस्वार्थ प्रेम, आत्मत्याग, बलिदान और वीरता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। इस कहानी अच्छी तरह समझने के लिए उसका प्रारम्भिक भूमिका भाग पहले समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रधान पात्र लहनासिह के चरित्र की कुंजी और सम्पूर्ण कहानी के वातावरण का मूल भाग इसी मे है। कथानक का विकास उत्तरोत्तर स्वाभाविक ढग से होता है। उसमे नाटकीयता है, प्रभाव- ऐक्य है, घटनाओ की सुसम्बद्ध शृ खला है, उत्सुकता और कुतूहल है। और सुन्दर प्रभावोत्पादक चरम सीमा है। पात्रो का चरित्र चित्रण करते समय लेखक को अपनी ओर से कुछ नही कहना पडता। विविध परिस्थितियो के बीच पडकर अपने कथोपकथन से वे अपने चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। लहनासिह का चरित्र चित्रण निर्दोष और साथ ही कलात्मक है। वह मानवता की उच्च भूमि पर स्थित है। वह सवेदनशील, वीर, निर्भय, निःस्वार्थी, देश प्रेमी, कर्त्तव्य-परायण और त्याग भावना से ओत पोत है। उसकी वीरता यूरोपियन Chivalry की याद दिलाती है। गुलेरी जी ने उसे चरित्र द्वारा एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया है। इस कहानी का कथोपकथन अत्यन्त कलात्मक, स्वाभाविक, सक्षिप्त, परिस्थिति के अनुकूल और भावात्मक है। भाषा सरल, मुहावरेदार, आडम्बरहीन और प्रभावोत्पादक है। कहानी मे शृ गार और वीर का निष्कलक और शुद्ध निरूपण हुआ है।

'बुद्धू का काँटा' गुलेरी जी की तीसरी कहानी है। इसमे रघुनाथ और भगवन्ती के जीवन के प्रणय पक्ष का सुन्दर विवेचन किया गया है। इन दोनो पात्रो का चित्रण अधिक मानवीय धरातल पर हुआ है और लहनासिह की भाँति वे देवतुल्य नही हो गए है। "रघुनाथ एक ऐसा पुरुष चरित्र है जिसने स्वभावतः स्त्री वर्ग के सम्मुख वह अपने मे हीन ग्रन्थि पाता है ऐसी क्यो है ? उसके लिए कहानी मे चरित्र चित्रण और विश्लेषण दोनो की विधि रखी गई है, पिता की कठोर शिक्षा का प्रभाव बालकपन से ही स्वभाव पर ऐसा पड गया था कि दो वर्ष प्रयाग मे स्वतन्त्र रहकर भी अपने चरित्र को केवल पुरुषो के समाज मे बैठकर पवित्र रखता था। जो कोने मे बैठकर उपन्यास पढा करते हैं उनकी अपेक्षा खुले मैदान मे खेलने वालो के विचार अधिक पवित्र होते हैं इसलिए फुटबाल और हॉकी के खिलाड़ी रघुनाथ को कभी के विचार अधिक पवित्र होते है इसलिए फुटबाल और हॉकी के खिलाडी रघुनाथ को कभी स्त्री विषयक कल्पना ही नही होती थी वह मानवीय सृष्टि मे अपनी माता को छोडकर और स्त्रियो के होने से अनभिज्ञ था। फलतः इस चरित्र मे एक अजीब राह

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा संस्करण १९५४), इलाहाबाद, पृष्ठ २८६

की सौम्यता मिलती है, जिसमे यद्यपि स्त्री वर्ग की ओर से हीन-ग्रन्थ अवश्य है। लेकिन फिर भी इस प्रेम विषयक भोलापन और बचपने के अतिरिक्त स्नेह और करुणा की तीव्रता भी है। रघुनाथ झझला कर भगवन्ती को उसकी नाक पर एक मुक्का जमाता है, तथा रघुनाथ के दौडाने से भगवन्ती के पैर के तलुवे मे एक काटा भी चुभ-जाता है। वस्तुत ये दोनो घटनाए रघुनाथ के भोलेपन की एक सीमा के उदाहरण हैं, लेकिन दूसरी सीमा पर जब वह उसकी नाक से लहू बहते देखता है, वह अपने को एकदम से भूल कर पश्चाताप और दुःख के पाश मे फस जाता है। उसका मुह पसीना पसीना हो जाता है। उसे इतनी ग्लानि हुई कि वह इन लहू के बूदो के साथ धरती मे समा जाय। दूसरी ओर रघुनाथ ज्यो ही भगवन्ती के पैर के तलवे मे चुभे हुए काँटो को देखता है और उसे पता चलता है कि यह सब उसके ही कारण हुआ, वह फौरन वही भगवन्ती के सामने घुटने टेककर बैठ जाता है और उसके पैर को खीचकर रूमाल से धूल झाडता हुआ काटे को निकालने लगता है। इस कहानी मे भी 'उसने कहा था' की भाँति विभिन्न घटनाओ का सगुफन गुलेरी जी ने बडी कुशलता से किया है और रोचकता, कौतूहलता एव नाटकीयता को अन्त तक बनाए रखने मे उन्हे पर्याप्त अंशो मे सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि यह कहानी कलात्मक सौष्ठव की दृष्टि से 'उसने कहा था' के समक्ष नही है, पर अपनी रोचकता मे वह उमसे कम नही है। इसमे भी कल्पनाशीलता एव सयोग तत्वो (blance element's) का प्रयोग हुआ है, जो कही कही अतिरिक्त सा प्रतीत होता है और कहानी को असतुलित बनाता है। यद्यपि घटनाए बडी तीव्रता से घटित होती हैं और उनमे बहुत प्रवाह है, पर उनमे स्वाभाविकता एव सहजता पर कही-कही आघात पहुचा है।

जहा तक इस कहानी में पात्रो के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, गुलेरी जी ने रघुनाथ और भगवन्ती के चरित्रो को नाटकीय ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, पर इसमे लहनासिह या सूबेदारनी के चरित्रो के प्रकाशन की भाँति सफलता नही प्राप्त हुई है। रघुनाथ का चरित्र मानवीय होने का सा आभास देता है, पर बहुत विचित्र एव अस्वाभाविक सा बन पडा है। भगवन्ती का चरित्र अवश्य ही सफलतापूर्ण उभरा है और उसमे उदात्त तत्वो का अकन बड़ी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से स्वाभाविकता से किया गया हैं।

इस कहानी का प्रारम्भ इस प्रकार होता है : 'रघुनाथ प् प् प्रा सा द् त् त् त्रिवेदी या रु ड ना त प र्शाद त्रिवेदी। यह क्या ? क्या करें दुविधा मे जान हैं। एक ओर तो हिन्दी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमे जैसा बोला जाता है। दूसरी ओर हिन्दी के कर्णधारो का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं कि हमारे कहने पर चलो हमारी करनी पर मत चलो। वैसे ही जैसे हिन्दी के आचार्य लिखे वैसे लिखो जैसे वे बोले, वैसे मत लिखो। शिष्टाचार भी कैसा ? हिन्दी साहित्य

सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरण कथापित कठ से कहे, पर्सोत्तमदास और हर्किसन लाल और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढा जाय, पुरुषोत्तम अ दास अ, और हरकृष्णलाल अ।' यह प्रारम्भ बडा असगत सा प्रतीत होता है और कहानी के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है यह अपने आप मे एक स्वतन्त्र अश प्रतीत होता है, जो पूरी कहानी के प्रभाव को नष्ट कर देता है। हालाँकि इसका अन्त थोडे स्वाभाविक एव तीव्रतर रूप मे करने की चेष्टा गुलेरी जी ने अवश्य ही की हैं।

"घू घट के भीतर जहाँ आँखे होनी चाहिए, वहाँ कुछ गीलापन दिखा।"

रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर मे डालकर उसे अपनी ओर खीचना चाहा मालूम पडा कि नदी के किनारे का किला, नीव के गल जाने से धीरे-धीरे धस रहा है। भगवती का बलवान शरीर, निराश होकर, रघुनाथ के कधे पर झूल गया। कंधा आँसुओ से गीला हो गया।

मेरा कसूर मेरा गवाँरपन मे उजड्ड मेरा अपराध मैंने क्या कह डा डा आ घिग्गी बँध चली।

"उसका मु ह बन्द करने का एक ही उपाय था। रघुनाथ ने वह किया।"[1]

यह चरमसीमा का नाटकीय रूप थोडा स्वाभाविक लगता है। 'सुखमय जीवन' में भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की चरम-सीमा चित्रित हुई है, जिसमे रोचकता और कौतूहलता है। "उन्होंने मुस्कराकर कहा दोनो मेरे पीछे-पीछे चले आओ। कमला! तेरी माँ ही सच कहती थी। वृद्ध बगले की ओर चलने लगे। उनकी पीठ फिरते ही कमला ने आँखे मूद कर मेरे कधे पर सिर रख दिया।" जबकि 'उसने कहा था' का अन्त इस प्रकार हुआ है, "कुछ दिन पीछे लोगो ने अखबारो मे पढा फ्रास और बेलजियम ६८ वी सूची मैदान मे घावो से मरा न ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिह।" इस प्रकार गुलेरी जी की कहानियो मे चरम-सीमा का निर्वाह बड़ी कुशलता से हुआ है। जिनमे नाटकीयता, उत्सुकता, तीव्रता, स्वाभाविकता एव सहजता बनाए रखते मे उन्हे बडी सफलता प्राप्त हुई है। अपनी कहानियो मे कथोपकथनो का भी बड़ा सुन्दर सगुफन किया है। उनके कथोपकथन नाटकीय एव विश्लेषणात्मक दोनो ही प्रकार हैं। उनके माध्यम से उन्होने पात्रो के मानस का विश्लेषण बडी सूक्ष्मता से किया है और उनके माध्यम से घटनाओ का विकास एव कथानक का विस्तार किया है। इस दृष्टि से वे कथोपकथन बडे सार्थक बन पडे हैं, उनमे व्यग्य है, पैनापन है, सूक्ष्मता एव भावाभिव्यक्ति की समर्थता है। एक उदाहरण इस प्रकार है।

"तुम्हारा नाम क्या है?"

---

१. गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, (बुद्धू का काँटा-कहानी), पृष्ठ ३७

"भगवन्ती।"

"रहती कहाँ हो ?"

"मामी के पास वही जिसने कुएँ पर पानी पिलाया था।"

उस दिन का स्मरण आते ही रघुनाथ चुप हो गया। फिर कुछ देर ठहर कर बोला—"तुम मेरे पीछे क्यो पडी हो ?"

"तुम्हे आदमी बनाने को, जो तुम्हे बुरा लगा हो, तो मैंने भी अपने किए का लहू बहाकर फल पा लिया, एक सलाह दे जाती हू।"

"क्या ?"

"कल से नदी मे नहाने मत आना।"

"क्यो ?"

"गोते खाओगे, तो कोई बचाने वाला नही मिलेगा।"

"रघुनाथ झेपा, पर सम्हल कर बोला, "अब कोई मेरी जान बचाएगा तो पीछा नही करूगा, दो गाली भी सुन लूगा।"

"इसलिए नही, मैं आज अपने बाप के यहाँ जाऊगी।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जहाँ अतड़ियो के डूबने के लिए कोई नदी नही है।"[1]

इसी प्रकार 'उसने कहा था' का भी कथोपकथन है।

"लहनासिह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ मे देकर कहा, 'अपनी बाडी के खरबूजो मे पानी दो।' ऐसा खाद का पानी पजाब भर मे नही मिलेगा।"

"हो देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लडाई के बाद सरकार से दस गुना जमीन यहाँ माँग लूगा और फूलो के बूटे लगाऊंगा।"

"लाड़ी होरा को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरगी मेम ?"

"चुपकर। यहाँ वालो की शरम नही।"

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख, तम्बाकू नही पीते वह सिगरेट देने मे हट करती है। ओठो मे लगाना चाहती है और मैं पीछे हटता हू, तो समझती है कि राजा बुरा मान गया अब मेरे मुलक के लिए लडेगा नही।[2] इस प्रकार गुलेरी जी कथोपकथन, वातावरण निर्माण की दृष्टि से सफल रहे हैं। यद्यपि उनकी तीन कहानियाँ ही प्राप्त होती हैं, पर वे सभी ऐतिहासिक महत्व की कहानियाँ हैं और हिन्दी कहानी की प्रगति एव परम्परा मे गुलेरी जी का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकारा जाएगा।

१ गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, (बुद्धू का कॉटा-कहानी), पृष्ठ ३०

२. गुलेरी जी की अमर कहानियाँ, (उसने कहा था-कहानी), पृष्ठ ४१

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' मुख्यतः सामाजिक सचेतना के कहानीकार हैं। उनकी कहानियो मे यथार्थ एव आदर्श का विशिष्ट सम्मिश्रण है, जिससे समाज मे पुनरुत्थान, सुधार एव नवजागरण की भावनाओ की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हुई है। उनकी कहानियो मे पारिवारिक जीवन के छोटे-छोटे यथार्थ चित्र, वैवाहिक सम्बन्धो के प्रति पवित्रतावादी दृष्टिकोण, भाग्यवाद मे अटूट विश्वास आदि मध्यवर्गीय समाज के नैतिक मूल्यो एव मर्यादा का चित्रण हुआ है। उन्होने अपनी कहानियो मे व्यक्ति के जीवन को नैतिकता और समाज कल्याण की कसौटी पर परखकर उसकी वैयक्तिक समस्याओ का समाधान सामाजिक सन्दर्भों के आयामो की सीमाओ मे अन्वेषित करने का प्रयास किया है और समष्टि चिंतन को अभिव्यक्ति दी है वे जीवन के वाह्य रूपो एव समस्याओ से अधिक सम्बद्ध हैं इसीलिए उनकी कहानियो का भी मूल स्वरूप सुधार-वादी एव आदर्शवादी है—हालाकि उनमे यथार्थवाद के प्रति भी आग्रह है। उनकी कहानियो मे मानव हृदय के स्पन्दन विविध आयामो मे मुखरित हुए है और मध्यवर्गीय मनोविज्ञान के अनुरूप सुधारवादी प्रवृत्तियो का निरूपण हुआ है, जो समकालीन आर्य समाज आदि विभिन्न सुधारवादी धार्मिक एव सामाजिक-सास्कृतिक आन्दोलनो की विचारधारा के फलस्वरूप हुआ है, जिनकी चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भ मे विस्तार से की जा चुकी है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की प्रथम कहानी 'रक्षाबन्धन' १९१३ मे प्रकाशित हुई थी, तब से उनकी कहानियो की संख्या प्रेमचन्द की कहानियो की सख्या के ही बराबर हो गई है। 'भिखारिणी', 'मणिमाला', 'कल्प-मन्दिर', और 'चित्रशाला', आदि उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह है। 'ताई', रक्षाबन्धन', 'पवन-पतित', 'स्मृति', 'छोटा-भाई', 'इक्केवाला', तथा वह प्रतिमा आदि अत्यन्त लोकप्रिय कहानिया हैं। कौशिक जी की अधिकाश कहानियाँ घटना-प्रधान हैं, पर उन घटनाओ की संयोजना बहुत ही कुशल ढग से हुई है, जिसमे रोचकता एव कौतूहलता अन्त तक बनी रहती है। ये घटनाएँ चूंकि अत्यन्त तीव्रगति से घटती है, इसलिए उनमे तीव्रता के साथ प्रवाह भी निरन्तर विद्यमान रहता है—इसमे कौशिक जी को बहुत सफलता प्राप्त हुई है। उन्होने पात्रो या उनके चरित्र चित्रण पर उतना ध्यान नही दिया है; जितना घटनाओ के कुशल सगुफन या विधि परिस्थितियो से उत्पन्न गुत्थियो को सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत करने की ओर। उन्होने दैनिक जीवन की साधारण घटनाओ को लेकर पूर्ण लेखकीय सहानुभूति के साथ उनका चित्रण किया है, पर प्रेमचन्द जैसी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि उनके पास न थी—वे उतनी मानवीय सवेदनशीलता उत्पन्न करने मे असमर्थ रहे हैं, जो प्रेमचन्द की कहानियो की अपनी ही विशिष्टता है। प्रेमचन्द की कहानियो के समान कौशिक जी की कहानियो मे विषय का विविध विस्तार मिलता

है और न बहु-विधिय जीवन-परिवेश के आयामों को यथार्थ सस्पर्श देने की प्रवृत्ति भी नही मिलती । अत प्रेमचन्द या कौशिक जी की तुलना करना दुराग्रह मात्र होगा, जैसा कुछ आलोचक प्राय करने की चेष्टा करते हैं । कौशिक जी की विशेषता यही है कि सयोग तत्वो (Chance Elements) और अपूर्व कल्पनाशीलता का घटनाओं के साथ वे अपनी कहानियो मे ऐसा समन्वय करते हैं कि सारी कहानी अत्यन्त तीव्रता से अग्रसर होती है और उस प्रवाह मे कहते हुए अवश पाठक का ध्यान आकस्मिकता स्वाभाविता या विश्वसनीयता की ओर नही जाता ।

'रक्षाबन्धन' मे सारी कहानी कथोपकथनो के माध्यम मे कहने का प्रयत्न किया गया है । एक भ्रातृहीन बालिका राखी बाँधने के लिए उदास अपने दरवाजे पर खडी है । अचानक ही एक युवक उसकी करुण इच्छा जानकर राखी बधवा लेता है और कुछ पैसे देकर चला जता है । घर आने पर युवक ने उस राखी को सुरक्षित अपने बक्स मे रख दिया । पाच वर्ष बाद इस युवक घनश्याम का मित्र अमरनाथ उसके विवाह के लिए एक लडकी ठीक करता है । वह लडकी और कोई नहीं, वह राखी बाँधने वाली लडकी है और दोनो भाई बहन का मिलन होता है । इस कहानी मे कथोपकथन इस प्रकार प्रयुक्त किए गए हैं .

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुलहिन ढूढ ली है ।
सब—(एक स्वर से) फिर क्या तुम्हारी चादी है ।
अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी । यार तुम लोग अजीब आदमी हो ।
तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूढी ?
अमरनाथ—यही लखनऊ मे ।
दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है ?
तीसरा—यह बुरी बात है ।[1]

इस प्रकार कहानी के कथोपकथन नाटको के कथोपकथन की भाति हो जाते हो जाते हैं, जो नाटको मे तो अच्छे लगते हैं, कहानियो मे नही । सयोग तत्वो का आश्रय लेकर भाई' 'बहन' को अन्त मे जिस प्रकार मिलाया गया है, उस पर विश्वास करना कठिन है पर जैसा कि मैंने ऊपर कहा न कि सारी कहानी बड़ी तीव्रता से घटित होती है और अन्त मे एक मोहक भावुकता या आदर्श का निर्माण कर जाती है, पर जब हम कहानियो मे स्वाभाविकता एव यथार्थ की बाते करते हैं, तो भावुकता या आदर्श, जो आकस्मिक रूप से प्रस्तुत किया गया हो, की प्रशसा नही कर सकते । उनकी प्रसिद्ध कहानी 'ताई' मे पति-पत्नी के प्रेम तथा दूसरे बच्चे के प्रति स्नेह एवं वात्सल्य की समस्या उठाई गई है । इसमे किंचित मनोवैज्ञानिक चित्रण बड़ी सूक्ष्मता

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक-रक्षाबन्धन-कहानी

से किया गया है, जिसमे कौशिक जी को अवश्य ही सफलता प्राप्त हुई है। रामजीदास का अपने भतीजे मनोहर के प्रति असीम स्नेह है और वे उसे अपने पुत्र की ही भाँति देखते-भालते, उसकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करते हैं। उनकी पत्नी रामेश्वरी को इससे बहुत खिढ होती है और वह मनोहर से स्पर्धा करने लगती हैं। यद्यपि वह भी माँ है और स्नेह एव वात्सल्य से वचित नही है। वह भी अपने अवचेतन रूप मे उसे मातृत्व एव स्नेह की भावनाओ से अकवारती रहती है, पर उसे कभी स्पष्टतया सामने नही आने देती, उस पर स्पर्धा एव विशेष का मोटा आवरण डाले रहती है। यहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण एव समान के विश्लेपण का अत्यन्त उपयुक्त अवसर था और कहानीकार सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के चित्रण से सारी कहानी विकसित कर सकता था, पर कौशिक जी ने यहा भी वर्णनात्मक शैली का ही उपयोग किया है और सभी कुछ अपनी ओर से ही कहा है। यह कदाचित् यथार्थ पर आदर्शवाद की आयास प्रतिष्ठा करने के लिए ही किया गया है, जिससे इसमे इतिवृत्तात्मक गुणो का समावेश अधिक हो गया है। उनमे साद्श्यता उतनी अधिक है कि चरम सीमा के बाद भी भूमिका और उपसंहार का सयोजन किया गया है और आदर्शवाद की पूर्ण एव स्पष्ट रूप मे प्रतिष्ठापना की गई है। इसमे वर्णन शैली का एक उदाहरण है :

"रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार मे पडी रहीं। कभी-कभी जोर से चिल्ला उठती और कहती—'देखो-देखो वह गिरा जा रहा है। उसे बचाओ—दौड़ो मेरे मनोहर को बचा लो।'

कभी वे कहती—'बेटा मनोहर मैंने तुझे नही बचाया। हा-हा मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।'

इसी प्रकार के प्रलाप वे किया करतीं।

मनोहर की टाग उखड़ गई थी। टॉग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगी।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ, अच्छी तरह होश आने पर उन्होने पूछा—'मनोहर कैसा है?'

रामजीदास ने उत्तर दिया—'अच्छा है।'

रामेश्वरी—'उसे मेरे सामने लाओ।'

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बडे प्यार से हृदय लगाया। आँखो से आँसुओ की झडी लग गई, हिचकियो से गला रुंध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनो बाद पूर्ण स्वस्थ हो गई। अब वे मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नही करती। और मनोहर तो अब उसका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नही पड़ती।'[१]

१. विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक : ताई-कहानी

इस प्रकार चरमसीमा के बाद भी उपसहार देकर लेखक ने अपनी ओर से रामेश्वरी का हृदय परिवर्तन का वर्णन किया है, जो प्रभाव को बढाता नही, वरन् कम करता है। 'ताई' मे इतिवृत्तात्मकता अधिक होते हुए भी परिस्थिति योजना का सघटन बहुत ही अनुकूल हुआ है। पतग के फेर मे ताई के देखते-देखते मनोहर छत पर से गिर पडता है और उसको बचाने की वह चेष्टा नही करती। उसके इस क्रूर निश्चय के मूल मे मनोवृत्ति का कैसा दूषित खेल है इसी को विधिवत् चित्रित करने मे लेखक ने अधिक समय लगा दिया है, और प्रसारित इतिवृत्त के माध्यम से यह दिखाने की चेष्टा की है कि इस सीमा तक क्रूरता ताई मे किस प्रकार अपना रूप सगठित कर सकी है। अपने पराये का भेद इतना पशुत्व-प्रेरक हो सकता है इसका उदाहरण ताई के आचरण मे मिलता है। परन्तु इस सीमा तक व्यक्ति कैसे और किन मानसिक स्थितियो मे पहुच सकता है, इसका विवरणपूर्ण इतिवृत्ति पहले दे दिया गया है। किस प्रकार ताई मे पुत्र प्राप्ति की प्रबल लालसा है, पर वह अपने भतीजे को उस रूप में ग्रहण नही कर पाती, जिस रूप मे उसके पति करते हैं। दूसरी परिस्थिति यह पैदा होती है कि उसके पति वकील साहब बालक के प्रति अपत्य-स्नेह का अधिकाधिक अनुभव करते हैं। इनसे उसमे तीव्र प्रतिहिंसा की भावना उद्दीप्त होती है। ताई के क्रूर रहने से बालक मनोहर मे भी जो उसके प्रति सहज अविश्वास दिखाई पडता है, उससे भी ताई की क्रूर वृत्ति उत्तेजित होती है। इन परिस्थितियो को लेखक ने जो विशेष क्रम से सजा दिया है उनसे प्रस्तुत परिणाम सहज और सजीव हो उठा है। मनोवैज्ञानिक उतार चढाव दिखाते हुए आगे बढना पडा है, इसलिए इतिवृत्त की अधिकता स्वीकार करनी पडी है और कहानी का विस्तार हो गया है।' वास्तव मे कौशिक जी ने अपनी किसी भी कहानी मे एक पात्र, घटना या सवेदना को न चित्रित कर बहुत विस्तार मे चले जाते हैं जिससे वे घटनाओ की ओर ही ध्यान दे पाते हैं, पात्रो की ओर नही।

इसका परिणाम यह हुआ है कि पात्रो का चरित्र-चित्रण बहुत कुशल ढग से या अभिनयात्मक ढग से उनकी कहानियो मे नही मिलता। उन्होने एक स्थान पर लिखा है 'नित्य जो चरित्र देखने को मिलते हैं, उन चरित्रो से भिन्न कोई ऐसा अनोखा चरित्र उपस्थित करना, जिसे देखकर विज्ञ पाठक फड़क उठे—उनके हृदय मे यह बात पैदा हो कि मनुष्य चरित्र के सम्बन्ध मे उन्हे कोई नई बात मालूम हुई, यही चरित्र चित्रण की कला है।' कौशिक जी ने अपने इस दृष्टिकोण को वर्णनात्मक शैली मे ढालकर ही प्रतिफलित किया है, जिससे अपने पात्रो के सम्बन्ध में उन्हे सारी बातें स्वय हीं कहनी पडती हैं, पाठको के लिए स्वय सोचने-समझने या कहानी मे भाग लेने का कोई अवसर नहीं रह जाता। उनकी 'वह प्रतिमा' कहानी मे भी यही बात देखी जा सकती हैं। यह कहानी भी पारिवारिक धरातल पर उपस्थित है और पति-पत्नी

दो चरित्रो को लिया गया है और उनके माध्यम से पति-पत्नी के सहज प्रेम निष्ठा की समस्या को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। कथानक का आरम्भ चमेली के विवाहित जीवन से आरम्भ होता है और उसके परिवार की विविध समस्याओ से विस्तार करते हुए अन्त मे चमेली की मृत्यु से कहानी समाप्त होती है। इसमे भी लेखक का उद्देश्य आदर्श की प्रतिष्ठापना की ओर रहा है, इसलिए चरित्र-चित्रण का ध्यान उसे कम रहा है या उसका अवकाश ही नही मिल पाया। चमेली या उसके पति के चरित्रो की कुछ अस्पष्ट रेखाए ही उभर आती है या वह वर्णन जो स्वय लेखक ने किया है। विभिन्न परिस्थितियो सन्दर्भ मे स्वय उन पात्रो के अपने कार्य-व्यापारो से व्यक्तित्व के विभिन्न रेशो का नाटकीय ढग से उद्‌घाटन नही हो पाया है। एक आलोचक[1] ने लिखा है कि कौशिक ने अधिकतर घटना प्रधान कहानियाँ लिखी हैं और वे घटनाएँ दैनिक सामाजिक या पारिवारिक जीवन से लेते है। पारिवारिक जीवन के उन्होने बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए है किन्तु उनकी कुछ कहानिया चरित्र-प्रधान भी है, जिनमे वे प्रभावपूर्ण और मनोवैज्ञानिक ढग से चरित्र-परिवर्तन उपस्थित करते हैं।अधिकतर उन्होने कुरीतियो और कुप्रथाओ का चित्रण किया है। उनकी कहानियो के पात्र ऐसे चरित्र का उद्‌घाटन करते हैं, जो मानवी होते हुए एकदम नवीन प्रतीत होता है। कथोपकथन द्वारा वे पात्र की मानसिक परस्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते है। उनके कथोपकथन सक्षिप्त, स्वाभाविक और भावो के अनुकूल होते हैं। भाषा उनकी साफ सुथरी और मुहावरेदार है।

पाँडेय बेचन शर्मा उग्र

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' मुख्यतः एक विद्रोही कहानीकार हैं। उनके समय मे एक तो प्रेमचद की कहानी परम्परा थी, दूसरे जयशकर प्रसाद की कहानी-परम्परा थी। उन्होने उनमे से किसी का पालन नही किया और दोनो के प्रति विद्रोही भाव धारण करते हुए एक नई कहानी परम्परा को जन्म देने का प्रयत्न किया। उग्र जी एक विद्रोही कलाकार ही नही, समाज की विकृतियो एव विषमताओ को पहचानने वाले कहानीकार है। अपने आरम्भिक काल मे सामाजिक क्षेत्र मे अभूतपूर्व परिवर्तन उनका परम लक्ष्य था और इसके लिए उन्होने अपने विचारो मे सूर्य जैसी तीक्ष्ण, भावना का विद्युद्रायित आवेग एव यथातथ्य चित्रण कर आक्रोश एव असयम का पथ चुना। उन्होने काल्पनिक आदर्शों एव नैतिक आडम्बरो, परम्परा एव रूढियो का तीव्र स्वरो मे विरोध किया और एक नए प्रकार के 'उपयोगितावाद' को चलाने का प्रयास किया। सरकार, प्रशासनिक नीति, नौकरशाही, राजनीतिक दल एव उनके नेताओं के हथकण्डे, वर्ण-जाति व्यवस्था, ऊंच नीच का भेद-भाव, निर्धन, पूंजीपति

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास' (छठा सस्करण-१६६४), इलाहाबाद, पृष्ठ २६०

के विषम सम्बन्ध, रूढि-परम्परा एवं अन्धविश्वास, स्त्री-पुरुष के अमर्यादित सम्बन्धों एव उच्छृखल वैवाहिक सम्बन्धो आदि का उग्र जी ने अपनी कहानियो मे भण्डा-फोड़ किया है। वेश्या, विधवा, भिखारी एव गुण्डे अनेक आक्रोश के अधिक बिन्दु रहे हैं। 'दोजख की आग', इन्द्र धनुष, 'रेशमी' 'निर्लज्ज' 'चिन्गारियाँ' 'बलात्कार', 'सनकी अमीर' आदि उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं। 'उनकी मा', 'चाँदनी', 'भुनगा', 'देश-भक्त', 'मुक्त', 'सगीत समाधि', 'मोको चुनरी की साध', 'चौड़ा छुरा' तथा 'रेशमी' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

उग्र को कुछ लोग प्रकृतवादी कहानीकार मानते हैं, पर वे शुद्ध रूप मे प्रकृत वादी कहानीकार हैं नही। उन पर प्रकृतवाद और अति—यथार्थवाद का प्रभाव पडा अवश्य है, पर वह आशिक रूप मे ही है। उग्र प्रकृतवाद की विशेषताओ का प्रतिनिधित्व नही करते। विलासिता अथवा मात्र घृणास्पद चित्रो का वर्णन करने से ही कोई लेखक प्रकृतवादी नही बन जाता। इसी भ्रान्तिमूलक धारणा के कारण उग्र को हिन्दी मे जितनी आलोचनाओ का सामना करना पडा है, वह एक दुर्भाग्यपूर्ण काल के हैं। उग्र ने पहली बार जमीदारो एव किसानो के सघर्ष के नाटक या ऐय्यारी, तिलस्मी एव जासूसी चमत्कारिता का प्रहसन न खोलकर समाज के उस घोर यथार्थ का चित्रण किया है, जिसमे तत्कालीन समाज पतनोन्मुख हो रहा था। उग्र ने ही समाज के घृणित परिवेश का द्वार खोला था, जिसमे मानवता अपने खडित रूप मे करुण आर्त्तनाद कर रही थी, और नारियाँ पुरुष के छल कपट एव कामलोलुपता की वेदी पर अपने सतीत्त्व एव मर्यादा को बलिदान कर रही थी। यह एक कठिन कार्य था, जिसे उग्र ने अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पादित किया। जो आलोचक घृणित एव दमघोट वातावरण के सौन्दर्यमूलक चित्रण की आशा करते हैं, वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि यथार्थ नग्न से नग्न एव भीषण से भीषण परिस्थितियो का भी बिना किसी भेद-भाव के साहस पूर्वक सामना करता है और उनका यथातथ्य चित्रण करता है। कोई लेखक कितना ही गंदा एव कामुक लगने वाला चित्रण क्यो न करे, यदि उसका उद्देश्य यथार्थवाद का चित्रण करना है, तो उसे किसी भी प्रकार 'घृणित' साहित्य देने के लिए लाछित नही किया जा सकता। फिर उग्र ने कभी भी स्थिति का रहस्यपूर्ण चित्रण करने का प्रयत्न नही किया है। कुछ न कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं, जो किंचित अमर्यादित एव असंयमित अवश्य हो गई हैं और जिन पर मूल्य-मर्यादा एव आदर्श का दावा करने वाले परम्परावादी आलोचक अपनी नाक-भौं सिकोड़ सकते हैं, पर वह लेखक का कलात्मक असयम नही, स्थिति के यथार्थ चित्रण की अनिवार्यता थी। उस यथार्थता के सम्बन्ध मे इन तथाकथित आलोचको ने या तो केवल उड़ती हुई खबरे सुन रखी हैं या फिर उनका ज्ञान किताबो या जर्नल्स के सहारे उन तक पहुचा है। अपनी आखो से उस यथार्थ के प्रत्यक्ष अवलोकन का 'दुर्भाग्य' (!) उन्हे कभी नही प्राप्त हुआ। उग्र ने

अपनी कहानियो के माध्यम से समाज के उस विलासी परिवेश का भण्डाफोड किया है, जिसमे तथाकथित आदर्शवादी पुरुष समाज अपना जीवन जीता है। उन्होने अपने सभी पात्रो को जीवन के यथार्थ से ग्रहण किया है और उन यथार्थवादी पात्रो के माध्यम से जीवन की आलोचना यथार्थ पृष्ठभूमि पर की है। उनकी कहानियो मे यथार्थवाद का स्वरूप आलोचनात्मक है, जो उनके तीव्र असतोष, आक्रोश एव परिवर्तनशीलता की अकुलाहट के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इन यथार्थवादी पात्रो मे उनके जीवन का आदर्श भी यात्रिक रूप मे नही वरन् यथार्थ पृष्ठभूमि पर ही अभिव्यक्त हुआ है। इन पात्रो का आदर्शवादी अलौकिक अथवा अविश्वसनीयता नही हैं, पर यह भी स्वीकारना होगा कि इन सभी पात्रो मे यथार्थ की सभी आवश्यकताए पूर्ण नही हुई हैं। उनके व्यक्तित्त्व अधिकाश कहानियो मे खडित हैं और उनमे एकाकिकता है। उनमे निरपेक्ष सन्तुलन एव व्यक्तित्त्व प्रकाशन के लिए जिन सूक्ष्म रेखाओ की आवश्यकता थी, उनसे वे एक प्रकार से रहित हैं। उग्र ने इन पात्रो के चरित्र चित्रण मे किसी प्रकार का मनोवैज्ञानिक आधार नही ग्रहण किया है। यद्यपि कई कहानियो मे उनके चरित्र-चित्रण मे नाटकीयता है, फिर भी मानवीय अन्तर्द्वन्द्वो के उद्घाटन मे तथा मानस मन के विश्लेषण मे उन्हे कोई विशेष सफलता नही प्राप्त हुई है। इसका कारण स्पष्ट था मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण करना उग्र का उद्देश्य था भी नही। ऊपर कहा जा चुका है, अपनी कहानियो मे समाज की अनैतिक समस्याओ का यथार्थ चित्रण करना ही उग्र ने अपना लक्ष्य बनाया था और उस जीवन से सम्बन्धित रहस्यो का उद्घाटन कर उसकी आलोचना करने तक ही अपने को सीमित रखा है। चूकि उनकी कहानिया घटना-प्रधान अधिक हैं, उसमे विषय का विस्तार अधिक है कि चरित्र चित्रण की ओर उग्र को अवकाश भी नही था। वे तो बस नए यथार्थ के उद्घाटन करने के प्रति ही अधिक आग्रहशील रहे।

उग्र की कहानियो पर राजनीतिक एवं सामाजिक आन्दोलनो का प्रभाव अधिक पडा है। स्वय उन्होने असहयोग आन्दोलन मे भाग लिया था और उस जीवन का उन्हे सूक्ष्म विवरण पता था, जिसका अपनी कहानियो मे उसी यथार्थता एव डिल्टेल्स के साथ उन्होने वर्णन भी किया है। उनकी आरम्भिक कहानिया राजनीतिक एव सामाजिक आन्दोलनों से ही सम्बन्धित हैं। अपनी बाढ की कहानियो मे उन्होने पीडित समाज के बहु-विविध पक्षो का सफलतापूर्वक चित्रण किया है। इनमे आदर्शवाद के प्रति उनका किंचित् मात्र भी मोह नही है और न आग्रह है—उनकी दृष्टि हर क्षण यथार्थ पर रहती है और उसी के विभिन्न सन्दर्भों को अपनी कहानियो मे समेटने के प्रति उनकी प्रयत्नशीलता रही है। 'चिन्गारिया' नामक कहानी-सग्रह में उनकी इसी रग की कहानियाँ सग्रहीत हैं, जिनमे राजनीतिक आन्दोलन, स्वदेश प्रेम, राष्ट्रीयता, प्राणोत्सर्ग एव नव-स्फूर्ति के चित्र प्राप्त होते हैं। यह संग्रह उस काल मे जब्त कर लिया

गया था। इसकी कहानियो मे सचमुच आग थी, क्रान्ति की ज्वाला थी और देश पर मर मिटने की प्रेरणा थी। उनकी कहानियो मे कथोपकथनो का विशेष महत्व है। वे बहुत चुस्त, व्यंग्यपूर्ण पैने एव भावाभिव्यक्ति की समर्थता से परिपूर्ण हैं। वे अभिनयात्मक भी हैं, नाटकीय भी। उनमे कथानक को गतिशीलता प्रदान करने की क्षम्ता भी है और पात्रो के चरित्रो को स्पष्ट करने की समर्थता भी। वस्तुत कथोपकथन भाषा शैली की दृष्टि से वे पूर्णत मौलिक कहानीकार हैं। उन्होने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है, जिससे कहानियो मे अधिक स्वाभाविकता एव सहजता आई है। उनकी भाषा पूर्णत यथार्थवादी है और बोलचाल की भाषा एव मुहावरो तथा जनवादी तत्वो को ग्रहण कर उसे पूर्ण रूप से सजीव एव प्रवाहमय बनाने मे उन्हे अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। उनकी भाषा जैसे छोटे २ चित्र या दृश्य उपस्थित करती चलती है, जिसमे सौन्दर्य, आलकारिकता एव शब्दो का कुशल सयोजन किया गया है। उनकी भाषा इसलिए इतनी प्रभावशाली एव स्वाभाविक प्रतीत होती है, ,'लडकपन के खो जाने पर उन्मक्त जवानी फूल-फूलकर हस रही थी। बुढापे के पाने पर फूट फूट कर रो रही थी। उस रोने मे दु ख नही सुख था। सुख ही नही स्वर्ग भी था। इस पाने में सुख नहीं है, दु ख ही नही, नरक भी है। लडकपन का खोना वाह! वाह!! बुढापे का पाना हाय! हाय!!' उनकी भाषा की दूसरी विशेषता उसका अलकरण ओजास्विता एव उपजा-प्रतीको आदि द्वारा प्रभावशाली बनाने की प्रवृत्ति है, "मेरी एक मा थी। मस्जिद की तरह बूढी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान पाक की तरह पाक!" रूपो के चमत्कार एव सादृश्य स्थापित करके भी उन्होने अपनी भाषा को चित्रोपम बनाया है. "रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हू, दुनिया भी देखती है। सायकाल अस्ताचल की छाती पर पतित-मूर्च्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लडकपन नही, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नही, वह ढलता हुआ कम्पित बाला व्यथित बुढापा नही श्री नही, तेज नही, ताप नही शक्ति नही। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशवान का मूल्य मिलता है? उनके कुछ वाक्य इस प्रकार है:

'हमारे यहाँ बाकायदा आर्य समाज भवन है और हैं उसके मन्त्री सभापति।'

'ईश्वर की इच्छा, उसी रात को हमारे गाव मे भयानक आधी आई और आई अपने साथ आग की एक चिनगारी लेकर।'

'पुरुष, खाने-पीने पहनने के दु ख के साथ, 'कोई साथ नही है' को भी दु.ख समझता है।'

वह बचपन के स्वर्ग से धकेल जरूर दिया गया था, पर अभी ड्योढ़ी के भीतर

ही था बाहर नही ।'

'मनुष्य की विवशता ही भगवान की जननी है ।'

'देखती हो देशभक्त के चरण स्पर्श से अभागा कारागार अपने को स्वर्ग समझ रहा है लोहे की जजीरो—हथकडी-बेडियो ने मानो पारस पा लिया है । संसार के हृदय मे प्रसन्नता का समुद्र उमड रहा है, बसुन्धरा फूली नही समाती ! यह है मेरी कृति, यह है मेरी कृति, यह है मेरी विभूति—प्रिये गाओ, मगल मनाओ, आज मेरी लेखनी धन्य हुई ।

'विजयिनी सध्या के प्रचड पराक्रम से पराजित, अपमानित और दुखित चंड कर रक्ताम्बरा पश्चिमा के लाल अचल से अपने क्लात कलेवर को छिपाता अस्ताचल के घोर अन्धकारमय गह्वर की ओर भागा चला जा रहा था ।'

अपनी इसी भाषा शैली के कारण उग्र जी को अपार सफलता प्राप्त हुई थी और अपने काल के प्रमुख कहानीकारो मे उनकी गणना की जाने लगी थी । उन्होने कहानी मे नाटकीयता का भी विशेष ध्यान रखा है और रोचकता तथा कौतूहलता अन्त तक बनी रहती है । उनमे वर्णन की अद्भुत क्षमता है 'मा ! तू ठीक भारत माता सी लगती है । तू बूढी, वह बूढी । उसका हिमालय उजला है, तेरे केश ! हाँ, मैं नक्शे से साबित करता हू—तू भारत माता है । सर तेरा हिमालय, माथे की दोनो गहरी बडी रेखाएं गगा और यमुना । यह नाक विन्ध्याचल, दाढी कन्याकुमारी तथा छोटी-बडी झुरियाँ रेखाए भिन्न-भिन्न पहाड और नदियाँ हैं । जरा पास आ मेरे ! तेरे केशो को पीछे से आगे बाए कन्धे पर लहरा दू । यह बर्मा बन जाएगा, बिना उसके भारत माँ का शृगार शुद्ध न होगा'[1] इस कहानी मे अखण्ड परिवर्तन की न्यूनता का रूप लक्षित होता है । जहाँ अदालत के निर्णय के बाद लाल और उनके अन्य साथी वृद्धा माँ को उत्स इसे स्वर्ग आने के लिए आमन्त्रित करते हैं और वह राजनीतिक व्यवहार के ज्ञान से सर्वथा वचित जिज्ञासा एव कौतूहलता से उनका मुह ही देखती जाती है और पूछती है—'तुम कहाँ जाओगे पगले !' यहाँ कहानी का चतुर्थ खण्ड समाप्त हो जाना चाहिए था, क्योकि इस वाक्य के बाद जो इतिवृत्त दिया गया है, वह एक सर्वथा नए खण्ड का सूचक है । उग्र की कहानियो मे इस प्रकार के कलात्मक दोष सर्वत्र लक्षित होते हैं । इस कहानी का विस्तार भी किंचित विचित्र ढग से हुआ है । कहानी का मध्य विन्दु इस प्रकार है :

'मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गई, जिस दिन ऊची अदालत ने भी लाल को, उस बंगड़ लठैत को तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कडी सजाएं दी ।

१. पाण्डेय बेचनशर्मा उग्र : उसकी मां-कहानी

वह अदालत के बाहर झुकी खडी थी। बच्चे बेडिया बजाते मस्ती मे झूमते बाहर आये। सबसे पहले उस बगड की नजर उस पर पडी—

'माँ ! वह मुस्कराया– 'अरे, हमे तो हलवा खिला २कर तूने गधे-सा तगडाकर दिया है ऐसा कि, फासी की रस्सी टूट जाय और हम अमर के अमर बने रहे। मगर तू स्वय सूख कर काटा हो गयी है। क्यो पगली—तेरे लिए घर मे खाना नही है क्या ?—

"माँ" ! उसके लाल ने कहा—'तू भी जल्दी वही आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहा से थोड़ी देर का रास्ता है माँ। एक साँस मे पहुचेगी वही, हम स्वतन्त्रता से मिलेगे। तेरी गोद मे खेलेगे। तुझे कन्धे पर उठाकर इधर से उधर दौडते फिरेगे। समझती है ? वहाँ बडा आनन्द है।

"आवेगी न माँ ?" बगड ने पूछा।

"आवेगी न माँ ? लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ ?" फाँसी दण्ड प्राप्त दो दूसरे लडको ने भी पूछा। और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही—'तुम वहाँ जाओगे पगले ?[1]

इस कथोपकथन मे अनेक उद्देश्य पूरे हुये हैं और कहानी मे तीव्रता ही नहीं आई है, वरन् एक सवेदनशीलता भी उत्पन्न होती है, जो अन्त मे एक करुण विषाद की छाया उत्पन्न करके समाप्त हो जाती है। उग्र की 'उसकी माँ' कहानी मे 'माँ की मातृ-भावना की तीव्रता और सहज सरलता का स्वरूप अधिकाधिक उभाडा गया है। पूरी रचना चार खण्डो मे विभाजित है। प्रस्तुत अंश चौथे खण्ड का है। यहाँ तक पहुँचने के पूर्व तक के विस्तार मे लेखक ने केवल माता के सरल हृदय का यथार्थ चित्रण किया है। लाल और उसके अन्य युवक मित्र किसी राजनीतिक षड्यन्त्र मे इतनी तीव्र गति से आगे बढ गये यह उसे नही मालूम पड़ा। उसके प्यारे बच्चे ऐसा ,कुछ कर सकते हैं—यह ससार मरने पर उसका निष्कपट चित्त स्वीकार ही नही कर सका और उसे दृढ विश्वास था कि मुकदमे मे कुछ दम नही है। वे बच्चे नितान्त दूध के धोए हैं और उन पर किसी प्रकार की आँच नही आ सकती—यही उसकी निश्चित धारणा थी। वह सारा और अपढ समाज और राजनीति की गतिविधि से बिल्कुल कोरी थी। विषम और परिस्थिति की गहनता का उसे कोई ज्ञान नही था। लाल और उसके अन्य युवक साथी जो गोला-गोली या बन्दूक की बातें करते हैं, उसे वह ममता भरी केवल पढे लिखो की अण्ट-सण्ट बकबक मात्र समझती है। चाचा जी के भयावह कथन और आशका प्रकट करने से भी वह निरीह कुछ समझ नही पाती और मुकदमा के दौरान मे भी अपने बच्चो को केवल बातूनी ही समझती है। 'भला फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं।' ऐसा कुछ उसके मस्तिष्क मे आ ही नही सकता। उसको

१. पाण्डेय बेचन शर्मा, 'उग्र' उसकी माँ—कहानी।

अन्त तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलिस की चालबाजी है । अदालत मे जब दूध का दूध और पानी का पानी किया जायगा तब वे बच्चे जरूर बेदाग छूट जायेगे। परन्तु अन्त मे अन्यथा सिद्ध हुआ। फिर भी वह सरला कुछ समझ ही न सकी और बच्चो की उल्लास एव उत्सर्ग भरी व्यग्योक्तियो का यथार्थ बोध उसे नही हो सका । वह बकर बकर उनका मुँह ताकती रही और सरल-सा प्रश्न करती रही—'तुम कहाँ जाओगे पगले ?'

इसी प्रकार 'मोको चुनरी की साध मे' मे एक आठ वर्षीय लडकी तुलसा का विवाह होता है। वह अबोध बालिका मड़वे मे चुनरी पाकर गाती फिरती है :

मोको चुनरी की साध।
मोको चुनरी की साध ॥

वह यह नही जानती थी कि विवाह का अर्थ क्या होता है, वह तो बस अपनी चपलता और लडकपन मे गाती है। सयोगवश दूल्हे को मडवे मे ही एक साँप डस लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। उसके सुहाग के कपडे तथा चुनरी वगैरह वापस ले लिए जाते हैं, क्योकि विचारी तुलसा अब विधवा हो गई थी वह बीमार पड जाती है और चुनरी-चुनरी की रट लगाये रहती है। वह चुनरी नही पाती—क्योकि समाज मे एक विधवा को चुनरी पहनने का भला क्या अधिकार! अन्त मे उसकी माँ सामाजिक परम्पराओ का बिल्कुल भी पर्वाह न करते हुये उसे चुनरी पहना देती है, पर भोली तुलसा बच नही पाती और मर जाती है। इस कहानी में उग्र का सुधारवाद एव आदर्शवाद अत्यन्त सशक्त ढग से मुखरित हुआ है। वास्तव मे उग्र की आलोचना करने के पूर्व यह न भूल जाना चाहिये कि उग्र सामाजिक सचेतना के कहानीकार थे। यथार्थ को बिना तोडे-मरोडे प्रस्तुत करना उन्हे प्रिय था, क्योकि वह यथार्थ उन्हे भयकर लगता था, असहनीय प्रतीत होता था। वे इसलिये प्रस्तुत करना चाहते थे क्योंकि उन्हें भय था, समाज मे चूकि सुधार उनका उद्देश्य था, अत आदर्श की स्थापना का वे एकमात्र पथ यही समझते थे कि यथार्थ से बिना संत्रस्त हुये उसका निस्संकोच चित्रण किया जाये। अपनी मौलिक भाषा-शैली एव अनूठे शिल्प-विधान के लिये वे इस युग के महत्वपूर्ण कहानीकारो मे हैं। और जैसाकि एक आलोचक[1] से लिखा भी है। उग्र ने राजनीतिक और सामाजिक उद्देश्य को लेकर कहानियाँ लिखी हैं और पुराण शैली मे अनेक सामयिक तत्त्वो की अभिव्यजना की है। उनके पात्र सजीव, सशक्त और आकर्षक होते हैं और कथोपकथन सरल सक्षिप्त और स्पष्ट । भाषा उनकी हृदय की चुटकी लेने वाली वक्र और स्वच्छन्द होती है। कहानीकार की अपेक्षा उग्र एक भाषा शैलीकार अधिक है।

1. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयः हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा सस्करण—१९६४, इलाहाबाद, पृष्ठ २९०।

वास्तव मे उद्देश्य की दृष्टि से उग्र एक सफल कहानीकार हैं। उन्होने अपनी कहानियो मे कोई स्वप्न नही देखा है, वरन् उनकी दृष्टि सत्य पर ही टिकी रही है। यह अपने आप मे तत्कालीन रचना परिस्थितियो को देखते हुये एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं।

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री भी उग्र की ही भाँति अति-यथार्थवादी कहानीकार हैं, पर उनका चित्रण वास्तविक रूप से अधिकाशतः अमर्यादित एव अमयमित हो गया है, जिसके पीछे सुधार या आदर्श की कोई सुनिश्चित प्रेरणा परिलक्षित नही होती। इस दृष्टि से वे अधिक प्रकृतवादी हैं। उग्र मे ऐसी बात नही थी—वे यथार्थ का यथातथ्य चित्रण एक महत्ती उद्देश्य की भावना से प्रेरित होकर करते थे, पर चतुरसेन शास्त्री उसमे रस लेने लगते हैं और इस चित्रण मे उनका मन रमने लगता है। उनके सम्बन्ध मे जब कलात्मक सुरुचि या साहित्य के सौन्दर्य-बोध की बात उठाई जाती है, तो ठीक ही उठाई जाती है। सामाजिक कुरीतियो एव अस्वस्थ पक्षो की ओर सकेत कर देना ही साहित्यकार का दायित्व होता है। उसका रसमय चित्रण करना नही। इस दृष्टि से चतुरसेन शास्त्री सफल नही रहे हैं।

चतुरसेन शास्त्री की कहानियाँ भी अधिकाश रूप मे घटना-प्रधान हैं और घटनाओ का सयोजन करने मे वे सिद्धहस्त थे। अपनी कहानियो मे कौतूहलता एव रोचकता अन्त तक बनाए रखने मे वे सफल रहे हैं। उन्होने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनमे अपेक्षाकृत वे अधिक सफल रहे हैं। 'रजकण', 'अक्षत' 'बाहर-भीतर' 'दुखवा मैं कासे कहूँ', 'सोया हुआ शहर', 'धरती और आसमान', 'कहानी खत्म हो गई', आदि उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं। 'ककडी की कीमत' 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'दुखवा मैं कासे कहू मोरी सजनी', 'नूरजहाँ का कौशल', 'सिहगढ विजय', 'वसन्त', 'पूर्णाहुति' और 'झण्डा' आदि उनकी लोकप्रिय कहानियाँ हैं।

चतुरसेन शास्त्री की कहानी कला वास्तविक रूप से उनकी ऐतिहासिक कहानियो में उभरी है। ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि, विभिन्न घटनाओ का चयन एव कुशल सगुफन, पात्रो के निर्माण एव समस्याओ के उद्घाटन मे उनकी कला खूब निखरी है। मानव विकास के प्रति उनकी दृढ आस्था है। वे साहित्यकार को महा मानव स्वीकारते है और उसका एकमात्र लक्ष्य अति मानव का निर्माण करना मानते हैं। उन्होने लिखा भी है कि साहित्य कला का चरम विकास है और समाज का मेरु-दण्ड। धर्म और राजनीति का वह प्राण है। इसलिए इसमे दो गुण होने अनिवार्य हैं—एक यह कि आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करे और दूसरे वह मानवता

के धरातल को ऊँचा करे। उन्होने अपनी ऐतिहासिक कहानियो मे प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति के अवशेषो तथा जन-जीवन का चित्रण मानवीय रूप मे किया है और देवताओ के चरित्रो को मानव-प्राण देकर उसी स्वरूप मे उपस्थित कर अपनी मानवतावादी जीवन दृष्टि का परिचय दिया है। वे समझते है कि सत्य मे सौन्दर्य का मेल होने से उसका मगल रूप बनता है। यह मगल ही हमारे जीवन का ऐश्वय है। इसी से हम लक्ष्मी को केवल ऐश्वर्य की ही देवी नही, मगल की भी देवी मानते हैं। यह मत उनकी जीवन-दृष्टि के विकास को स्पष्ट करता है। सत्य की साधना मे सुन्दर तथा शिव का समन्वय उन्हे प्राचीन काल की 'कुरूपताओ' तथा 'अश्लीलताओ' को अवाँछनीय नही समझने देता, क्योकि इसे वे धर्मसम्मत स्वीकारते हैं और इससे विमुख होना सत्य-साधना की उपेक्षा समझते है। चतुरसेन शास्त्री वास्तव मे भारतीय संस्कृति के उपासक हैं, किन्तु उनकी उपासना मे एकागी दृष्टिकोण का प्राधान्य है। उनका विचार है कि पराजित पाश्चात्य राजनीति तथा ह्रासोन्मुख पूँजीवाद मे सास्कृतिक विकास का कोई स्थान नही। उन्होने लिखा है कि मै मनुष्य का पुजारी हू और मनुष्य मेरा देवता है। परन्तु 'मनुष्य' 'मानवता' नही। मानवता का मैं पुजारी नही। मानवता मानवीय श्रेष्ठ गुणो की भावना की प्रतीति कराती है। जो लोग मानवता के प्रेमी हैं, वे धीर-पीर उदात्त, सच्चरित्र महापुरुष के पूरक हैं किन्तु मैं नही। मैं केवल मनुष्य का पुजारी हू। वह मनुष्य जो घृणित, पापी, अपराधी, खूनी, डाकू, हत्यारा, लुटेरा, कोढी, व्यभिचारी पागल है? वही मेरा देवता है। उसमे जो यह कलुष है, उसका अपना नही है—नैसर्गिक हैं। जब मनुष्य का समाज एकीभूत होकर अपनी शक्ति को सगठित कर लेता है और वह उसका उपयोग स्वार्थ मे नही, प्रत्युत कर्तव्य पालन मे लगाता है तो यह सामर्थ्य समष्टि मनुष्य की सामर्थ्य होने पर भी देवता की सामर्थ्य हो जाती है। अपने ऊपर प्रकृतवादी होने का आरोप लगाने वालो को उत्तर देते हुए उन्होने लिखा है कि साहित्य जीवन का इतिवृत्त नही है। जीवन और सौन्दर्य की व्याख्या का नाम साहित्य है। बाहरी संसार मे जो बनता-बिगडता रहता है, उस पर से मानव हृदय विचार और भावना की जो रचना करता है, वही साहित्य है। साहित्यकार साहित्य का निर्माता नही, उद्गाता है। वह केवल बासुरी मे फूक भरता है। शब्द ध्वनि उसकी नही, केवल फूंक भरने का कौशल उसका है। साहित्यकार जो कुछ सोचता है, जो कुछ अनुभव करता है, वह एक मन से दूसरे मन मे, एक काल से दूसरे काल मे मनुष्य की बुद्धि और भावना का सहारा लेकर जीवित रहता है। यही साहित्य का सत्य है। सत्य के द्वारा मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय से अमरत्व की याचना करता है साहित्य का सत्य ज्ञान पर अवलबित नही है, भाव पर अवलवित है। केवल सत्य की ही प्रतिष्ठा से साहित्यकार का काम पूरा नही हो जाता। उस सत्य को उसे सुन्दर

मनाना पडता है। साहित्य का सत्य यदि सुन्दर न होगा, तो विश्व उसे कैसे प्यार करेगा ? इस पर मोहित कैसे होगा ? इसीलिए सत्य मे सौन्दर्य की स्थापना करनी पडती है। सत्य मे सौन्दर्य की स्थापना के लिए आवश्यकता है संयम की। सत्य मे जब सौन्दर्य की स्थापना होती है, तब साहित्य कला का रूप धारण कर लेती है।

लेकिन ऐतिहासिक कहानियो को छोडकर जब उनकी सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित कहानियाँ चतुरसेन शास्त्री की इन्ही मान्यताओं की कसौटी पर कसी जाती हैं, तो निराशा ही होती है। वहाँ सत्य कही दृष्टिगोचर नही होता, असयमित एव असतुलित मर्यादा-च्युत चित्रण प्राप्त होता है, जो किसी भी दृष्टि से वाँछनीय नही कहा जा सकता। यह ठीक है कि साहित्य का सत्य ज्ञान पर नही, भाव पर अवलबित है। पर भावो का भी एक सौन्दर्य पक्ष होता है, जो वैयक्तिक रूप से चाहे न प्राप्त होता हो या प्राप्त होना अनिवार्य न समझा जाता हो, लेकिन साहित्य मे उसका प्राप्त होना ही नही अनिवार्य समझा जाता, अच्छे साहित्य मे वह पाया भी जाता है। सुरुचिपूर्ण वर्णन, सत्य का सौन्दर्य बोध, भावो का अनुरंजनकारी होना और प्रगतिशील सोद्देश्यता के कलात्मक समन्वय को ही मैं साहित्य स्वीकारता हूँ और खेद है, शास्त्री जी की सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित कहानियाँ इससे पूर्णतया च्युत हैं।

सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित चतुरसेन शास्त्री की कहानियां प्रमुखत: वेश्याओ और गुण्डो के जीवन से सम्बन्धित है ('अक्षत' की कहानियाँ)। उन्होने काल्पनिकता एव सयोग तत्वो (chance elements) का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है। पर उनकी कहानियाँ चूँकि बहुत तीव्रतर रूप में नही घटित होती, इसीलिए इसके कारण उनकी अस्वाभाविकता एव अविश्वसनीयता छिप नही पाती और उनकी सत्यता सदिग्ध हो जाती है। वे कहानियाँ इसलिए प्रभावशीलता की दृष्टि से शून्य रहती हैं। चरित्र प्रधान कहानियो मे 'खूनी' एक उत्कृष्ट कहानी है। इसमे एक गुप्त सस्था के युवक सदस्य को अपने मित्र की हत्या अपनी सस्था के नायक की आज्ञा से करनी पडती है। उसका मित्र भी उस सस्था का सदस्य था, जो संस्था के हत्या कार्यों का विरोध करता था। अपने मित्र की हत्या करने के बाद वह युवक उस सस्था से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है, किन्तु हत्या के समय अपने मित्र की निर्दोष दृष्टि को जीवन भर नही भुला सका। पूरी कहानी मे उसके चरित्र का अत्यन्त कलात्मक प्रकाशन हुआ है और उसके अन्तर्द्वन्द्वो एव मानसिक स्थितियो का उद्घाटन करने में चतुरसेन शास्त्री को बहुत सफलता प्राप्त हुई है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है .

"मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खडा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था, उसका ध्यान उसी के स्वाद मे था। मैने धीरे से पिस्तौल

निकाली, घोडा चढा था और अकम्पित स्वर मे उसका नाम लेकर कहा—"अमरूद फेक दो और भगवान का नाम लो, मै तुम्हे गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा, "बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो।"

मेरा धैर्य छूट रहा था था। मैने दबे कण्ठ से कहा—"अच्छा खा लो।"

खाकर वह खडा हो गया, सीधा तनकर। फिर उसने कहा—"अच्छा मारो गोली।"

मैने कहा, "हसी मत समझो, मै तुम्हे गोली ही मारता हू, भगवान् का नाम लो।"

उसने हँसी मे ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नकली गम्भीरता से खडा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबाकर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध ! हँसी मत समझो, मै तुम्हे गोली मारता हू।"

मेरी आँखो से वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिलाकर उसने कहा, "मारो"।

एक क्षण भर विलम्ब करने से मै कर्तव्य विमुख हो जाता। पल-पल मे साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पडा। दोनो गोलियाँ छाती को पार कर गई थी।[1]

इस कहानी का आरम्भ अत्यन्त आरोचक ढग से उपस्थित किया गया है : "उसका नाम मत पूछिए। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और उस मूरत को आँखो से दूर करने को पागल हुआ फिरता हू। पर वह नाम और सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हू, वह निडर है, मै रोता हू वह हसता है, मै मर जाऊँगा। वह अमर है। मेरी उसकी कभी की जान पहचान न थी। दिल्ली मे हमारी गुप्त सभा थी, सब दल के आदमी आये थे, वह भी आया था।' इसी प्रकार 'दुखवा कासे कहू मोरी सजनी' मे बेगम सलीमा और उसकी प्रिय बाँदी से कथानक का आरम्भ होता है। बाँदी सलीमा को शराब पिलाती है और जब वह नशे मे बेहोश हो जाती है, तो वह बादी, जो वस्तुत वेश परिवर्तित किए हुए उसका प्रेमी था, सलीमा का चुम्बन ले लेता है। सयोगवश बादशाह इस घटना को देख लेते है और इससे कहानी मे नाटकीयता तथा तीव्रता उत्पन्न करने मे शास्त्री जी को सफलता प्राप्त हुई है। सलीमा तथा बादी के चरित्र पूर्णतया काल्पनिक हैं और इतिहास मे नही प्राप्त होते, पर इस कहानी में ऐतिहासिक वातावरण का सुन्दर, सजीव एव स्वाभाविक चित्रण करने मे शास्त्री जी ने विशेष कलात्मकता प्रदर्शित की है।

चतुरसेन शास्त्री की भाषा शैली के सम्बन्ध मे भी दो-एक बाते कह देना अनिवार्य है। वे तत्सम शब्दो के साथ तदभव शब्दो का अत्यन्त सुन्दर सामजस्य

---

१ चतुरसेन शास्त्री खूनी-कहानी।

बिठाते है, जिससे शैली मे एक विशिष्ट प्रभावशीलता उत्पन्न होती है। वे बोलचाल के शब्दो एव मुहाविरो को प्रयोग करते हुए पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं, जिससे एक ही कहानी मे भाषा सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है। ऐतिहासिक कहानियो मे ऐसा बहुत हुआ है, वास्तव मे 'चतुरसेन शास्त्री' हिन्दी के पुराने लेखक हैं और उन्होने अनेक कहानियाँ समाज की जीर्ण-शीर्ण अवस्था को प्रकाश मे रखने के लिऐ लिखी। उनकी कहानियाँ छोटी, आकर्षक, कुतूहलपूर्ण, हृदय को गुदगुदाने वाली और मानव हृदय के रहस्यो का उद्घाटन करने वाली होती हैं। उन्होने ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं और उनमे वातावरण से पूर्ण कथानक की सृष्टि का अनुपम सौन्दर्य उपस्थित किया है। शास्त्री जी के पात्रो मे स्वतन्त्रता है। लेखक ने उनके मनोभावो को समझने की चेष्टा की है। उनमे अद्भुत वर्णन शक्ति है। तद्भव शब्दो, मुहावरो, व्यावहारिकता आदि गुणो से सम्पन्न उनकी भाषा उनके कथोपकथनो मे जान डाल देती है।[1] शास्त्री जी का अपने मे एक महत्व है। उन्होने रोचक कहानियाँ लिखी है और विशेपतया उनकी ऐतिहासिक कहानिया तो अवश्य ही उल्लेखनीय हैं। उनमे ऐतिहासिक यथार्थवाद, वातावरण के निर्माण की दक्षता एव युग विशेष को सजीव कर सकने की समर्थता विशेष रूप मे दृष्टव्य है।

वृन्दावनलाल वर्मा

वृन्दावनलाल वर्मा वर्मा मुख्यत ऐतिहासिक कहानीकार हैं। इन्होने सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ भी लिखी हैं और उसी सफलता के साथ, जिस प्रकार ऐतिहासिक कहानियाँ। ऐतिहासिक कहानियो का उत्कृष्ट कोटि का सकलन है। 'कलाकार का दण्ड' तथा 'युद्ध के मोर्चे से' आदि। आपके अन्य कहानी सग्रह हैं। 'टूटी सुराही', शरणागत' 'राखी बद भाई' 'तातार', 'एक वीर राजपूत', 'कहा-फटा झण्डा', 'तिरगे वाली राखी', 'हमीदा', 'मालिश', 'कौडी और अपनी बीती' उनादि उनकी अत्यन्त लोकप्रिय कहानियाँ है। 'युद्ध के मोर्चे से' मे चीनी संघर्ष के समय लिखी वीर रस की ओजस्वी कहानियो का अभूतपूर्व प्रेरणादायक कहानी सग्रह है,

वृन्दावनलाल वर्मा अपनी ऐतिहासिक कहानियो मे ऐतिहासिक यथार्थवाद की रक्षा करने मे पूर्ण रूप से सफल रहे हैं। ऐतिहासिक कहानियो मे किसी विशेष युग के जीवन की सामान्य विशेषताओ का व्यापक चित्र किसी एक घटना, पात्र या सवेदना के साथ जोडकर प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे विराटता का बोध रहा है और कहानी की लघु सीमाओ मे विस्तृत परिधि को समेटना का प्रयत्न होता है। बिना ऐतिहासिक यथार्थवाद के ऐतिहासिक कहानियाँ निर्जीव हो जाती हैं और कोई

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा सस्करण--१९६४) इलाहाबाद, पृष्ठ २९०।

प्रभाव डालने मे असमर्थ रहती है। ऐतिहासिक कहानियो मे लेखक ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करने के साथ साथ उसमे कल्पना का फुट भी देता चलता है अन्यथा वे कोरे इतिहास ही बनकर रह जाएँ और उनमे से कहानी तत्व समाप्त हो जाएँ। कोरी ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन ऐतिहासिक कहानीकार का कार्य नही होता। इतिहास मे नामों और तिथियो को छोडकर कुछ भी सत्य नही रहता, जबकि ऐतिहासिक कहानियो मे तिथियो एव नामो को छोडकर सब कुछ भी सत्य रहता, है। इतिहास लेखक मानव अन्तर्मन मे पैठकर उसकी अन्तश्चेतनाओ का उद्घाटन नही करता। यह उसका कार्य भी नही रहता, जबकि कहानीकार का यही प्रमुख धर्म होता है। ऐतिहासिक कहानियाँ वस्तुत साहित्यिक वर्णशकर होती हैं—वे पूरे अर्थों मे न तो इतिहास होती है और न साहित्यि ही, वरन् दोनो के मध्य की वस्तु होनी है। स्पष्ट है कि ऐतिहासिक कहानियाँ इतिहास और कथातत्व का समन्वित रूप हैं, जिनमे नव-अन्वेषित कहानी होती है और जो भूतकालीन सत्यता का दावा करती हैं।

यह अवश्य है कि इतिहासकार कल्पना का आश्रय नही, अपितु प्राप्त तथ्यो का आश्रय ग्रहण करता है। दूसरे शब्दो मे उसकी दृष्टिमात्र तथ्यात्मक होती है। पर ऐतिहासिक कहानीकार कहानी-रस एव सवेवनाजन्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक मात्रा मे कल्पना का आश्रय ग्रहण करता है। आवश्यक मात्रा से मेरा अभिप्राय उन सीमाओ से है जिनके आगे जाकर कहानीकार कल्पना का उपयोग नही करता और अपनी कहानी को अविश्वसनीय और अस्वाभाविक नही बनाता। जिन बिन्दुओ को इतिहास का सस्पर्श नही प्राप्त होता या जिन अघेरे-बन्द कोनो की ओर इतिहास की तथ्यात्मक दृष्टि नही जाती, उनका कल्पनापूर्वक सृजन करके ऐतिहासिक कहानीकार विस्मृत सत्यो का पुन• अन्वेषण करता है। ऐतिहासिक कहानियो से पाठक को और लेखक के समाज को कोई कल्याणकारी प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिए। जनमत मे दिव्यता लाने का सवेग उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है। इतिहास के तथ्य और जन परम्पराओ मे उन तथ्यो के प्रति श्रद्धा उसके साधन हैं। इतिहास मे जैसे वास्तविक घटना के बिना काम नही चलता, वैसे ही ऐतिहासिक कहानी मे बिना कल्पना का आश्रय ग्रहण किए काम नही चलता। ऐतिहासिक कहानिया वस्तुत इतिहास और कल्पना का समन्वय होती है, क्योकि ऐतिहासिक कहानियो मे आवश्यकता पडने पर जानबूझकर इतिहास के तथ्यो की-उपेक्षा की जा सकती है। इसका कारण यह होता है कि एक तो उनका पूर्ण ज्ञान सभव नही, दूसरे उसका काम तत्कालीन घटनाओं की सूची देना न होकर तात्कालिक समाज-प्रवाह का वेग दिखाना होता है। मेरे विचार से बिना इतिहास एव कल्पना के परस्पर समन्वय से सफल ऐतिहासिक कहानियो की रचना हो ही नही सकती। जैसे चाकू की तेजी बढाने के लिये उस पर सान धराया जाता है, उसी प्रकार कल्पना इतिहास पर सान धरकर

उसकी तीव्रता में वृद्धि तो करती ही है, साथ ही रोचकता, औत्सुक्य एवं मानवीय सवेदना भी उत्पन्न करती है, जिसमे इतिहास को कोई घटना, वातावरण पात्र या अपने परिवर्द्धित एव परिवर्द्धित रूप मे ऐतिहासिक कहानियो का रूप धारण कर लेती है, जो कहानीकार की कलात्मकता, मानसिक सतुलन सत्यान्वेषण की अणुवीक्षिक दृष्टि, दूरदर्शित एव सूझ-बूझ की भित्ति पर आधारित होती हैं।

प्रश्न उठता है, वस्तुतः इतिहास है क्या? विभिन्न आलोचको ने इसके भिन्न-भिन्न उत्तर दिए हैं। एक आलोचक के अनुसार यदि निर्वैयक्तिक इतिहास आदर्शवाद की सीमाओ मे आबद्ध है तो भी वह असम्भव परिस्थिति है। अतीतकाल के पर्यवेक्षण की हर इतिहासकार की अपनी विशिष्ट दृष्टि होती है। इस दृष्टि का इतिहासकार के लिये निराकरण करना उतना ही कठिन है जितना प्राण से शरीर अलग करना। एक दूसरा वर्ग इतिहास को विज्ञान नही मानता और उसे प्राप्त तथ्यो की एक क्रमिक सूची मात्र स्वीकार करता है। इतिहासकार इतिहास 'पर' नही देखता, वरन् इतिहास के, 'माध्यम' से देखता है। वास्तव में इतिहास और साहित्य की स्थिति समानान्तर है। एक श्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानी से इस बात की आशा की जाती है कि वह स्वय हमारे ही सम्बन्ध मे अनेक रहस्यो का उद्घाटन करेगा. उसी भाँति अतीत काल के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी एव अन्वेषण के उपरान्त प्राप्त घटनाओ को क्रमिक एव वैज्ञानिक रूप से उपस्थित करना इतिहासकार का कार्य है। सत्यान्वेषण इतिहासकार भी करता है, कहानीकार भी। पर कहानीकार का प्रमुख कार्य नवीन मानव मूल्यो की स्थापना होता है, जो इतिहासकार का कार्य नही होता। वह वैज्ञानिक सीमाओ मे बधा रहता है और किसी सदेश देने। सवेदना उत्पन्न करने अथवा सहानुभूति, प्रेम एव बधुत्व की भावना का प्रसार करना उसका उद्देश्य नही होता जो कहानीकार का प्रमुख दायित्व होता है। ऐतिहासिक कहानीकार का कार्य केवल घटनाओ का सयोजन करना या विवरण देना ही नही होता है। ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने के लिये पर्याप्त अध्ययन, चिंतन एव मनन शीलता की आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक कहानिया लिखना वस्तुत एक दुस्साध्य कार्य है। जिस काल पर कहानी आधारित की जानी होती है, जब तक उस काल की राजनीतिक, सामाजिक एव साँस्कृतिक परिस्थिति, मानव-जीवन और इतिहास का एक स्पष्ट चित्र सामने न हो, तब तक यह कार्य सरल नही होता। वास्तव मे ऐतिहासिक कहानीकार को चाहिये कि उस काल से वह अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले, जिस काल के आधार पर वह कहानी लिखना चाहता है। इतिहास को कहानियो मे देने की अनेक विधियाँ हैं। प्रथम तो इतिहास मे ही लेखक अपनी कथावस्तु को कलात्मक ढग से समन्वित करने की चेष्टा करता है। दूसरे कथावस्तु मे इतिहास की कल्पना की जाती है। एक तीसरी विधि यह है कि नितान्त काल्पनिक कथा को किसी ऐतिहासिक युग मे उसी वातावरण,

भाषा, पात्र, राजनीतिक सामाजिक तथा साँस्कृतिक परिस्थितियो के परिवेश मे इस प्रकार फिट कर दिया जाता है कि वह कहानी ऐतिहासिक होने का आभास देती है, जबकि वास्तव मे वह ऐतिहासिक कहानी होती नही । इसे ऐतिहासिक कल्पना (Historical fantasty) कह सकते हैं।

इस आधार पर ही वृन्दावनलाल वर्मा की ऐतिहासिक कहानियो की परीक्षा की जानी चाहिये । वर्मा जी ने अपनी कहानिया मे ऐतिहासिक सत्यो की पूर्ण रक्षा की है और उनकी प्रवृत्ति निरन्तर सत्यान्वेषण की ओर ही रही है । चतुरसेन शास्त्री की भाँति उन्होने अतीत के जुगुप्सा उत्पन्न करने वाली स्थितियो मात्र को अपनी कहानियो का आधार नही बनाया है, वरन् अतीत और वर्तमान का वास्तविक कलात्मक सम्बन्ध स्थापित कर एक स्वस्थ जीवन दृष्टि का ही परिचय नही दिया है, वरन् प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति की गौरव शील मर्यादा, मूल्यो एव विस्मृत प्रतिमानो को अपनी कहानियो मे नए सिरे से उजागर कर पुनरुत्थान करने एव प्रेरणा देने का श्लाघनीय प्रयास किया है । इस दृष्टि से देखे, तो वर्मा जी आदर्शवादी कहानीकार है और सुधारवाद उनका लक्ष्य है । पर इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि अपनी कहानियो के माध्यम से उन्होने किसी युटोपिया का निर्माण करने की चेष्टा की है । उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि ने वर्तमान के यथार्थ को भी पहचाना है और नये उभरने वाले सत्यो एव मूल्यो की परख भी की है, पर किसी आवेशजनित प्रक्रिया की बाध्यता मे उन्होने इन्हे ज्यो-का-त्यो नही स्वीकार किया है, वरन् गहराई मे बैठकर उन मूल्यो या सूत्रो की खोज करने का प्रयास किया है, जो आज विस्मृत हो चुके या जिन्हे आज 'आधुनिकता' के अतिरिक्त उत्साह मे विघटित समझा जाने लगा है । स्वाभाविक है कि इसके लिये कहानीकार की दृष्टि अतीत की और मुडेगी और वर्मा जी ने बड़ी सफलता के साथ विगत की विश्रृखलित परम्पराओ के ध्वसावशेषो मे दबी हुई सस्कृति की नई मर्यादाएँ खोज निकाली और इतिहास के अपने गहन् अध्ययन एव मनन-चिन्तन से वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे इस प्रकार सम्बद्ध कर दिया है कि अतीत और वर्तमान का अन्योयाश्रित सम्बन्ध स्थापित हो गया है और विगत की मर्यादा वर्तमान की ह्रासोन्मुखता मे प्रेरणा एव दिशोन्मुख करने का महती दायित्व पूरा करने मे सफल होती है । इस दृष्टि से वर्मा जी अकेले ऐसे हिन्दी के ऐतिहासिक कहानीकार हैं, जिन्होने ऐतिहासिक कहानियो मे भी सोद्देश्यता एव सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना को पूर्ण किया है । उनका उद्देश्य साहित्य के माध्यम से कभी मनोरजन नही रहा है, वरन् वे एक बडे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये रचना-प्रक्रिया मे सलग्न रहें हैं—और इस दृष्टि से वे पूर्णतया सफल रहे हैं, इसमे कोई दो राय हो ही नही सकती । 'कलाकार का दण्ड' जैनावादी बेगम' शेरशाह का न्याय', 'सौन्दर्य प्रतियोगिता' और 'खजुराहो की दो मूर्तियाँ आदि कहानियो को इस सन्दर्भ मे देखा जा

सकता है। इनमे ऐतिहासिक तथ्य एव निष्ठा के तत्व वर्तमान है।

वर्मा की कहानियाँ तीन श्रेणियो मे आएँगी :

१. घटना प्रधान कहानियाँ, जैसे 'खजुराहो की दो मूर्तियाँ' कहानी।

२ वातावरण प्रधान कहानियाँ, जैसे 'सौन्दर्य प्रगतियोगिता', 'शेरशाह का न्याय' आदि कहानिया।

३ चरित्र प्रधान कहानियाँ, जैसे 'कलाकार का दण्ड', 'जैनाबादी बेगम' 'राखीबन्द भाई', 'शरणागत' तथा 'हमीदा' आदि कहानियाँ।

वर्मा जी ने अपनी कहानियो मे कथावस्तु का सगठन दो प्रकार से किया है, एक तो वे कहानियाँ है, जिनमे वर्णनात्मकता है और इतिवृत्तात्मक गुणो का प्राधान्य है। दूसरे प्रकार की कहानियाँ वे है, जिनमे नाटकीय एव अभिनयात्मक शैली मे कथावस्तु का विस्तार किया गया है। इनमे इतिवृत्तात्मक तत्वो का अभाव है और ये कहानियाँ अधिक तीव्रता से आगे बढती है। घटनाओ का सगुफन करने मे वर्मा जी विशेष सफल रहे हैं। वे घटनाएँ इस प्रकार सयोजित करते है कि कौतूहलता एवं रोचकता अन्त तक वर्तमान रहती है। कुछ कहानियाँ उन्होने चरम-सीमा पर समाप्त की है और कुछ मे उपसहार दिए हैं, पर दोनो ही प्रकार की कहानियाँ अत्यन्त प्रभावशाली बन पडी है और पाठको के हृदय को छूने की समथता इन कहानियो मे है। वर्मा जी ने अपनी कहानियो के पात्रो का चरित्र चित्रण करने मे विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक दोनो ही शैलियो का उपयोग किया है। उन्होने पात्रो की आकृति वेश-भूषा एव वाह्य व्यक्तित्व के चित्रण के साथ उनका विश्लेषण करने की भी चेष्टा की है। ऐतिहासिक कहानियो मे अवश्य ही उन्होने कहानी की ओर ध्यान जितना ध्यान दिया है, उतना पात्रो की आन्तरिक अनुभूतियो एव अन्तर्द्वन्द्वो के चित्रण की ओर नही। इन कहानियो मे पात्रो को इतना अधिक सवेदनशील चित्रित किया गया है कि वे जरा-जरा सी बात पर प्रभावित होते हैं और उनकी कोई प्रतिक्रिया होती है। पर उनके कार्य-व्यापारो के चित्रण तक ही वर्मा जी अपने को सीमित कर लेते हैं, उनके अन्दर झाककर अन्तस के उदघाटन के लिए उन्हे अवकाश ही नही प्राप्त होता। पर उनकी विकासकालीन कहानियो मे यह प्रवृत्ति न्यून हो गई है और वहाँ चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक न होकर नाटकीय हो गए हैं जिनमे कथोपकथनो की खूब सहायता ली गई है। पात्रो के कथोपकथन के मध्य व्यक्त होने वाले उनके हाव-भावो का चित्रण तो वर्मा जी ने किया है, पर उनकी कहानियो मे पात्रो के अनुभाव चित्रण का वास्तविक महत्व पा ो की रुमानी भावनाओ और उन पर आधारित पात्रो के परस्पर सम्बन्धो के उद्‌घाटन मे निहित है। अपनी ऐतिहासिक कहानियो में जिस युग, वर्ग और लोगो का चित्रण वर्मा जी ने किया है, प्रेम की स्वतन्त्रता न थी और प्रेम करना कम खतरे की बात नही समझी जाती थी। इसलिए प्रेमी-प्रेमिकाए

एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव और आकर्षण रखते हुए भी इतने सयमित एवं मर्यादित रहते थे कि उनका प्रेम या हार्दिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति न पा सके। ऐसी परिस्थिति मे चरित्र-चित्रण एव पात्रो के व्यक्तित्वो का स्पष्टीकरण अत्यन्त कठिन कार्य था क्योकि इतिहास को भी दृष्टि पथ से ओझल नही किया जा सकता था--पर वर्मा जी ने प्रौढ कहानी शिल्प एव अभूतपूर्व कौशल से इसका सफल निर्वाह ही नही किया है, अपनी कहानियो मे कुछ अविस्मरणीय चरित्र भी उपस्थित किए हैं।

जहाँ तक वर्मा जी की सामाजिक कहानियो का सम्बन्ध है, वर्मा जी उनमे भी पूर्ण सफल रहे है और उनमे सामयिक सत्यो को पहचानने की उनकी समर्थता एव यथार्थ को परखने की क्षमता का परिचय मिलता है। इन कहानियो मे यद्यपि बहु-विधिय पक्षो का स्पर्श करने का प्रयत्न नही किया गया है और न विराट एव व्यापक भूमि को समेटने का ही प्रयास किया गया है, पर जिन पक्षो को वर्मा जी ने अपनी कहानियो मे उठाया है, उन्हे पूर्ण तन्मयता एव कुशलता से प्रस्तुत किया है। आज के समाज मे होने वाले परिवर्तनो, आचार-व्यवहारो, लोगो की मनोवृत्तियो, भावो एव विचारो, राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो, नए उभरने वाले मूल्यो एव परिवर्तित होने वाले मानदण्डो का उन्होने अपनी सामाजिक कहानियो मे इतनी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया है कि वे पूर्णतया सत्य एव स्वाभाविक प्रतीत होती है। इन कहानियो के पात्र यथार्थ जीवन से घुन गये है और उनसे सम्बन्धित वर्मा जी की चयनशक्ति की सूक्ष्मता प्रशसनीय है। ये पात्र वैसे अधिकाश रूप मे जातीय हैं, पर उनकी वैयक्तिक विशेषताओं का भी उन्होने ध्यान रखा है और दोनो का समन्वित रूप उपस्थित कर उनका पूर्ण व्यक्तित्व स्पष्ट करने मे वे सफल रहे है। खण्डित कान्तित्व, कुण्ठा, अनावस्था या घुटन के प्रति वर्मा जी को कोई मोह नही, इसीलिए आधुनिक जीवन के विशृंखलित परिवेश मे भी उन्होने प्रगतिशील जीवन दृष्टि का परिचय देते हुए स्वस्थ मन स्थितियो का चित्रण किया है, जो पूर्णतया स्वाभाविक है। इनके चरित्र-चित्रण मे उन्होने नाटकीय शैली का ही अधिकाशतः चित्रण किया है और उनके द्वन्द्वो एव घात-प्रतिघातो का बड़ी सूक्ष्मता से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित कहानियो का मूलस्वर प्रेरणादायक रहा है। उन्होने ऐसी घटनाओ एव पात्रो को चुना है, जिनके माध्यम से वे जन-मानस को एक विशिष्ट दिशा और बोध प्रदान कर सके तथा वीरता एवं ओजस्विता उत्पन्न कर देश प्रेम की भावना जागृत कर सके तथा त्याग बलिदान, स्वाधीनता की रक्षा और तन-मन-धन से देश के लिए निछावर हो जाने की भावना से ओत-प्रोत कर सके—इस दृष्टि से अपनी इन राष्ट्रीय कहानियो मे वर्मा जी पूर्णतः सफल रहे हैं।

रायकृष्ण दास

रायकृष्ण दास कल्पनाशीलता एव भावुकता के कहानीकार है। वे भावना-प्रधान मधुर कहानिया लिखने मे सफल रहे हैं। 'सुधाशु' तथा 'अनाख्या' उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह है। अन्त पुर का आरम्भ', 'गहूला', 'स्मरण का रहस्य' 'नर-राक्षस', 'भय का भूत', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', आदि उनकी लोकप्रिय कहानियाँ हैं। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'रायकृष्ण दास भाव-प्रधान कहानियाँ लिखने मे पटु है। उनकी कहानियो पर उनके गद्य-गीतो का प्रभाव है भाव, भाषा, और शैली की दृष्टि से। उनकी कहानियाँ ऐतिहासिक एव सामयिक सामग्री पर आधारित हैं। राय साहब ने पात्रो का मन टटोला है और फिर उनकी दार्शनिक व्याख्या की है, जिससे उनकी कहानियो मे कुछ दुरुहता आ जाती है। कथोपकथन और प्राकृतिक चित्रणो मे उन्होने क्रमश· स्वाभाविकता और चित्रोपमता को स्थान दिया है। उनकी भाषा सस्कृत की कोमल कात पदावली से समन्वित है।'[1] उनकी कहानियो मे विषय सामग्री काफी विस्तृत मिलती है और ऐतिहासिक, धार्मिक, कहानियो मे दर्शन का पुट अधिक दे दिया है, वहाँ वे दुरुह हो गई हैं और इसीलिए जन साधारण से भी दूर जा पडा है। इनमे पात्रो की मानसिक स्थितियो का अच्छा चित्रण किया गया है, लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि वे इतने से ही सन्तुष्ट नही हो जाते, साथ-ही साथ वाह्य रूप-रेखा पर भी प्रकाश डालते चलते है। आपके वर्णनो मे चित्रोपमता रहती है। किसी भी दृश्य का वर्णन चित्र के समान आखो के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। प्राकृतिक दृश्यो के प्रति आपका विशेष अनुराग है। अत· अपनी कहानियो मे जहाँ कही भी अवसर प्राप्त हुआ है, आपने उसका मनोहर चित्र अकित किया है। इन प्राकृतिक वर्णनो मे वे प्रकृति के सुन्दर उपादानो का उपयोग प्राय किया करते हैं। कही कही एक ही दृश्य के लिए अलकारिक ढग से उनके प्राकृतिक उपादान एकत्रित कर देते है। कथोपकथन सक्षिप्त, सरल और स्वाभाविक है। उनमे उन्होने किसी प्रकार की दुरुहता नही आने दी है। इनकी भाषा पात्रो के अनुरूप अपने स्वरूप मे आवश्यक सशोधन आप-ही-आप कर देती है। कथोपकथन मे कही-कही ग्रामीण भाषा का प्रयोग और कही-कही उर्दू शब्दो का भी प्रयोग किया गया है। यह इन्होने कहानी की व्यापकता को दृष्टिपथ पर रखते हुए किया है। अन्य स्थानो पर उनकी भाषाशैली की सबसे बडी खूबी यही है कि उसमे वे ठेठ परिचित शब्दो का सस्कृत का कोमल पदावली के साथ बहुत ही सुन्दर ढग से सामंजस्य स्थापित कर देते हैं। सस्कृत-पदावली का प्रयोग कहानी मे होना आवश्यक है, आप इस कथन से सहमत नही है। कहानियो मे सौन्दर्य वृद्धि के लिए ही उन्होने सस्कृत की

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छटा सस्करण १९६४) इलाहाबाद, पृष्ठ २९०

कोमल पदावली को अपनाया है। आपकी कहानियो मे उद्देश्य या सदेश उसी प्रकार छिपा रहता है, जैसे सीपी मे मोती। उन्होने बडी ही हल्की आवाज से अपने मन की बात पाठको के कानो तक पहुचाई है, जिससे उनमे आधुनिक रूप आ गया है? भाव और भाषा की दृष्टि से आपकी कहानियाँ अन्यतम है, आपकी कहानियो मे भाव प्रवणता पाठको को मोह लेती है और उनमे भाव-स्पन्दन करती है। उन्होने इतिहास-कालीन अतीत और वर्तमान का समन्वय कल्पना और भावुकता की प्रेरणा से की है। आपकी कहानियो की सर्वप्रमुख विशेषता वातावरण निर्माण की अद्भुत क्षमता है। वे वातावरण अपने आप मे एक दृश्य है और किसी कवि की मनोहारी कल्पना की भाँति आकर्षित करते है।

'अत पुर का आरम्भ' कहानी का आधार प्रागैतिहासिक काल है। स्त्री-पुरुष मे कैसे समय के विकसित चरणो के साथ भेद उत्पन्न हो गया और अन्त पुर का आरम्भ हुआ इसका रायकृष्ण दास ने इस कहानी मे अत्यन्त रोचक एव मनोहारी ढग से अपूर्व कल्पनाशील चित्रण किया है, जो अपनी तमाम कल्पनाशीलता के बावजूद इस कुशलता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि सारी कहानी कही भी अविश्वसनीय या अस्वाभाविक नही प्रतीत होती। जगल मे एक स्त्री-पुरुष रहते है। एक दिन वे एक सिह को देखते है, पुरुष स्त्री को गुफा मे रोक अकेले ही शिकार खेलने चला जाता है। इस बात का घात-प्रतिघात उन्होने बडी सूक्ष्मता से चित्रित किया है कि पुरुष अकेले ही सिह का शिकार करने क्यो जाए, स्त्री भी साथ क्यो न जाए? स्त्री के मन मे जिज्ञासा उत्पन्न होती है और पुरुष के मन मे द्वन्द्व उठता है। इस स्थिति का राय साहब ने बडा ही रोचक मनोविश्लेषण किया है।

"क्यो! मुझे ले चलने मे हिचकते हो?"
"नही तुम्हारी रक्षा का ख्याल।"
"क्यो, आज तक किसने मेरी रक्षा की है?"
"हाँ, मैं यह कहता कि तुम अपनी रक्षा नही कर सकती।"
"पर ?"
"मेरा जी डरता है।"
"क्यो ?"
"तुम सुकुमारी।"[1]

अत: पुरुष अपनी प्रिया को उस दिन सर्वप्रथम गुफा के अन्त पुर मे छोडकर अकेले शिकार पर जाता है और अपनी वीरता एव पराक्रम से सिह को मारता है। प्रिया गुफा द्वार पर खडी रहती है, उसका आधा शरीर लता की ओट मे था। वही

१. रायकृष्ण दास . अन्त पुर का प्रारम्भ कहानी

से वह अपने प्रियतम का पराक्रम देख रही थी और आनन्द की कूके लगा रही थी। इसी दिन से अन्त पुर का आरम्भ हुआ, इसकाशय साहब ने इस कहानी मे बडी नाटकीयता के साथ चित्रण किया है। प्रागैतिहासिक काल से ली हुई कल्पित कथा को यथार्थ वातावरण एवं परिवेश मे उन्होने इस तरह प्रस्तुत किया है कि सारी कहानी सजीव हो उठी है। 'गहुला' कहानी मे हूर अधिपति तोमारमल के राज्य मे मदसोर के हेमनाभ और राजकुमारी गहुला मे प्रेम था। राजकुमारी बिदा देने के प्रत्येक क्षण अपने प्रेमी को एक नील कमल देती। हेमनाभ उसे एक सुगन्धित रेशमी कपडे मे लपेट कर स्वर्णसूत्र से बाध कर सुन्दर मजूषा मे सुरक्षित रखता जाता था। प्रत्येक पर स्वर्ण की एक मुद्रा भी बनवा कर ग्रथित कर देता। उन पर पाने की तिथि और सवत भी अकित होते। कर न देने के कारण एक बार हूण अधिपति ने मदसोर प्रान्त पर आक्रमण किया, जिसमे हयनाभ को वीरगति प्राप्त हुई। सारा प्रान्त लूट लिया जाता है और लूट का सामान अधिपति के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। गहुला उस स्वर्ण मजूषा को पसन्द कर ले लेती है। पर उसमे हेमनाभ के अव्यक्त प्रेम की पवित्रता देखकर वह बेहोश हो जाती है। इस कहानी मे भी नाटकीयता एव वातावरण की यथार्थता के कारण रोचकता तथा कौतूहलता अन्त तक बनी रहती है। राय कृष्णदास की सभी कहानियो मे भावुकता का स्रोत है, भावनाओ का अनुपम प्रवाह है और कल्पनाशीलता का अपूर्व समन्वय है।

वाचस्पति पाठक

वाचस्पति पाठक की पहली कहानी सवत् १९८४ मे प्रकाशित हुआ था। उनके दो कहानी सग्रह 'द्वादशी' और 'प्रदीप' प्रकाशित होकर अत्यन्त लोकप्रिय हो चुके है। 'कागज की टोपी', 'सूरदास', 'कल्पना', 'फेरीवाला', 'प्रतीक्षा', 'जागरण', 'मालती', 'अध्यापक', 'यात्रा', 'पुनर्जो' तथा अभिवावक उनकी ही अत्यन्त प्रसिद्ध कहानियाँ नही हैं, वरन् इस काल मे लिखी गई हिन्दी कहानियो की अविस्मरणीय उपलब्धिया है। पाठक जी मूलत आदर्शवादी कहानीकार है। नवीन सत्यान्वेषण, सोद्देश्यता एव विस्मृत मूल्य-मर्यादा का स्वरूप निखार कर उपस्थित करना उनका लक्ष्य है, उसके लिए उन्होने यथार्थ पथ का अनुगमन किया है। प्रेमचन्द की भाँति उनकी कहानी कला का विकास आदर्श से यथार्थ की दिशा मे हुआ है और जयशकर प्रसाद की भाँति उन्होने भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परम्पराओ, विघटित मूल्यो के उपयोगी तत्वो के अन्वेषण एव जीवन गरिमा के चित्रण के प्रति अपना विशेष आग्रह प्रकट किया है। उनकी कहानियो मे नव-यथार्थ को पहचानने की उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि ही नही प्राप्त होती, वरन् अपने कला की आधुनिक सचेतना को ग्रहण कर परिवर्तित सन्दर्भो के विभिन्न आयामो को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। उनकी कहानियो मे आस्था एव संकल्प का स्वर प्राप्त होता है और मिलता है

जागरण का नव-संदेश। अपने चारो ओर के परिवेश एव समकालीन युग-बोध के विभिन्न परिपेक्ष्य का यथार्थ स्पष्टीकरण ही पाठक जी लेखकीय प्रतिबद्धता रही है, जिसका निर्वाह करने मे वे पूर्णतया सफल रहे हैं।

पाठक जी की विचारधारा पर दो बाते कहना आवश्यक है। वे स्वीकारते है कि हम मनुष्य सृष्टि की सर्वांगपूर्ण रचना है; बुद्धि विशेष ही हमारा अमूल्य साधन है। हम अजगर नही निष्काम नही, हमारी शक्ति ससार पर शासन करती है। इसीलिए वे व्यक्ति को समाज से असम्पृक्त कर उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही स्वीकारते, वरन् सामाजिक सन्दर्भों मे ही उसकी सत्ता स्वीकारते है। चाहे वह 'मालती' का नवीन हो, या 'रमेश' का रमेश हो, वे सभी अपनी सीमाओ मे छटपटाते है, पर न कही उनमे असयम है, न अमर्यादित होने की जिज्ञासा। वे सामाजिक प्राणी है, और सामाजिक सस्था के प्रति पूर्ण आश्वस्त होते हुए वे जीवन मे गतिशीलता चाहते है, गति-रुद्धता नही, इसीलिए उनमे सप्राणता है और अपने-अपने व्यक्तित्व हैं। इसे हम 'स्व' की उपेक्षा और 'पूरे' को प्राप्त करने की अकुलाहट भी कह सकते है, पर पाठक जी की कहानी कला के आदर्श कामू, काफ्का या सार्त्र नही रहे है, उन्होने भारतीय सस्कृति की वैभवशाली परम्परा मे अपनी आँखे खोली और भारती जीवन पद्धति से अपने प्राण पाए—उन्होने भारतीय चिंतन को अपनाने मे किंचितमात्र भी लज्जा नही समझी और न तथाकथित आधुनिकता के मोह मे पडकर अनास्था, अकेलेपन, अजनवी घुटन और अपरिचित परिवेश को बोदका, चीयन्ती और रम के साथ सयुक्त कर भारतीय जीवन पद्धति के साथ मिलने की असफल चेष्टा की है (डॉ० नामवर सिंह मुझे क्षमा करें क्योकि ऐसा न करना स्वस्थ जीवन दृष्टि एव प्रगतिशील स्वर' का विरोध है— मार्फत निर्मल वर्मा!)। उन्होने भारतीय दर्शन से प्रेरणा ग्रहण की हैं और भारतीय सस्कृति के वास्तविक स्वरूप को आत्मसात् किया है। यही वे दो बिन्दु है, जिनके मध्य पाठक जी की विचारधारा का विकास हुआ है।

पाठक जी की कहानियो मे हमे शिल्प सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है। शिल्प की दृष्टि से उनकी कहामियाँ निम्न श्रेणियो मे आएंगी

१ वर्णनात्मक शैली की कहानियाँ, जैसे 'कल्पना' सूरदास' 'कागज की टोपी' तथा 'रमेश' आदि कहानियाँ।

२ आत्म-कथात्मक शैली की कहानियाँ, जैसे 'अभिवावक' 'पुतली' 'मुन्नू' 'यात्रा आदि कहानिया।

३. मिश्रित शैली की कहानियाँ (पत्र और वर्णनात्मक), सेजै 'रानी' कहानी।

उन्होने अपनी कहानियो मे घटनाओ का सगुफन दो शैलियो मे किया है। एक तो वर्णनात्मक शैली मे दूसरे अभिनयात्मक शैली मे। कहानियो के व्यापक

जीवन परिधि समेट ने की प्रयत्नशीलता मे उन्होने साँकेतिक शैली का उपयोग किया है, 'जागरण इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यह स्मरणीय है कि इस काल मे साँकेतिक शैली की सूक्ष्म कहानियाँ प्राय नही के बराबर लिखी गई है और उनमे 'जागरण' का महत्वपूर्ण स्थान है। कहानियो मे नाटकीयता और संवेदन-शीलता उत्पन्न करने मे पाठक जी सिद्धहस्त हैं। उन्होने स्थितियो की सयोजना इस कुशलता से की है कि रोचकता और कौतूहलता अन्त तक वर्तमान रहती है। उन्होने कुछ कहानियाँ चरम सीमा पर ही समाप्त की हैं और कुछ मे उपसहार भी दिए है। पर वह उपसहार किसी उपदेश देने या सस्था अथवा आदर्शवादी समाधन करने की यान्त्रिक प्रयत्नशीलता से सम्बद्ध नही है, वरन् उस चरम उत्कर्ष को अधिक नाटकीय और तीव्रतर बनाने के लक्ष्य से ही दिया गया है। अत जब हम कहते है कि पाठक जी आदर्शवादी कहानीकार हैं तो इसका यह अभिप्राय नही है कि उन्होने यथार्थ की उपेक्षा की है, वरन् उनके दृष्टिकोण से है। अपनी कहानियो मे अपना यह दृष्टिकोण कथानक मे इस प्रकार सन्निहित कर दिया है कि उन दोनो मे अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित हो गया है और वे कहानियाँ अपने आदर्श को स्वय प्रस्तुत करती हैं, लेखक को अपनी ओर से कहने की कुछ भी आवश्यवता नही पडती। यह पाठक जी की कहानियो मे शिल्प सम्बन्धी एक विशिष्ट उपलब्धि है, विशेषतया उस वातावरण मे जब की कहानियो मे भी यूरोपिया वनाये जा रहे थे, सस्थाएँ बन रही थी और आश्रमो की स्थापना हो रही थी। उनकी कहानियो काँ प्रारम्भ बडे ही नाटकीय ढग से होता है ·

"वह वेश्या थी। उसकी मुखश्री यौवन के अचल से अन्तर की बिखरी हुई स्नेह राशि को एकत्रित कर जब कभी यो ही निष्फल हसी हस देती तब रन जाने क्यो वह रिक्त प्याली-सी आखो से सूनी दीवालो छाया मे छिही—भगी मानो अपनी हसी को ढूँढ लाने के लिए व्यग्र हो जाती। वह अपनी ही एक पहली थी। जब से अपने को वह जान सकी थी, अपने रूप, यौवन तथा जीवन की ममता का अनुमान कर सकी थी, तभी से वह एक पहेली बन गई थी। विधाता का यह उग्र आशीर्वाद शाप-भ्रष्टा गौतम नारी की भाति उसे कु ठित कर देता। उसकी मासल देह पत्थर बन जाती, वह अपने अन्तर की लज्जा से दबी-सी देह पत्थर बन जाती, वह अपने अन्तर की लज्जा से दबी-सी मरी सी जाती। डूबने-उतराने-सी लगती—किनारा खोजती।'

कुछ कहानिया कथोपकथनो से प्रारम्भ हुई हैं, जैसे

"तुम्हारी आखो मे बडा आकर्षण है' याज्ञिक।

---

१ वाचस्पति पाठक : द्वादशी, (रमेश कहानी), इलाहाबाद पृष्ठ ७८

"तुम कहते हो—कुछ सकुचित होकर मुस्कराते हुए याज्ञिक ने कहा,—तो हो सकता है भाई पर तुम देखना—मै इसमे अनिष्ट साधन कभी न करु गा ।"

"मुझे तो इसका विश्वास है, पर कोई दूसरा अपना अनिष्ट कर बैठे तो उसका दायित्व •?"

"भाई तुम्हे तो सर्वत्र परिहास ही सूझता है ! साधारण सभ्यता और शील का प्रेमपूर्ण निर्वाह क्या कोई अपवाद है ?"

वर्मा ने देखा वह लज्जित हो गया है इसलिए कुछ हस कर कहा—"नही जी, अभाग्य से मेरी दृष्टि बडी पैनी और मन बडा सतर्क रहता है, इसी से• ।"

"तो क्या आप कुछ और ही सोच रहे है ।"—याज्ञिक ने गम्भीर होकर कहा ।

"बडे पागल हो ! जाओ ।"—उसने खूब हंसकर बात उडा दी ।[१]

इस प्रकार की कहानियो मे कथानक का विकास कथोपकथनो के माध्यम से बडे ही नाटकीय ढग से हुआ है और कहानी तीव्रतर रूप मे गतिशील होती है । पात्रो के चरित्र चित्रण मे उन्होने दोनो ही प्रणालियो—विश्लेषणात्मक एव अभिनयात्मक का सफलतापूर्वक उपयोग किया है । विश्लेषणात्मक ढग मे किए गए चरित्र-चित्रण का एक उदाहरण इस प्रकार है, "उसकी अभी जवानी थी, उसके स्वभाव मे निर्भीकता थी । इसीलिए उसके भाई बन्धु उसे केवल अकडबाज समझते थे । उसकी बुद्धि पर किसी को विश्वास नही था । पर उसके विरुद्ध जाना पर पाप समझता था और आज सफलता के साथ उसने उसका परिचय भी दे दिया । उसके विरोधी उसका लोहा मानकर चुप हो गए थे । भीतर ही भीतर हामी भी भर ली थी, और उसके गौरव को भी इसने अधिक चमका दिया था । इसी विश्वास के कारण वह प्रसन्न था ।"[२] अभिनयात्मक शैली मे अपने पात्रो का चरित्र-चित्रण इस प्रकार किया है 'सूरदास जैसे अन्धकार मे से निकला हो ! उसकी ऐसी ही नीद टूटी थी । सूरदास स्वय इस नीद से जग कर सोचने लगा । कैसी स्तब्ध और शून्य जैसी मृत्यु थी ! वह इतनी सुन्दर है ? तभी तो—जैसे एक युग बीत गया हो ! अपने जिस प्रत्यक्ष मे वह उस अन्तिम पल मे सोया था—वह कितनी दूर तक है ? जिसे वह पता नही, किन्तु स्मरण है । वही तो—न जाने कितनी उत्तेजना मे वह दैत्य की तरह बरसात के उस बीहड मार्ग को रात मे तैर कर अपनी छाजन आ गया ।[३] मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के ऐसे चित्र उनकी कहानियो मे यत्र-तत्र मिलते है ।

१ वाचस्पति पाठक : द्वादशी, (प्रतीक्षा कहानी), इलाहाबाद पृष्ठ ७८
२ वाचस्पति पाठक . प्रदीप (कल्पना कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ ८३
३. वाचस्पति पाठकः प्रदीप, (सूरदास कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ ३

पाठक जी की कहानियो की सबसे प्रमुख विशेषता कदाचित् यह है कि हिन्दी मे चेतना प्रवाह पद्धति (Stream of consciosneess) प्रणाली प्रयोग करने का गौरव उन्हे ही है। 'यात्रा' हिन्दी की पहली कहानी है, जिसमे चेतना प्रवाह पद्धति का प्रयोग किया गया है और यह इस युग मे एक अभूतपूर्व बात है, क्योंकि शिल्प प्रयोगो के प्रति इस काल के कहानीकारो का कोई आग्रह नही था। पाठक जी की इस 'यात्रा' कहानी का एक अश इस प्रकार है हम दोनो भूले हुए बटोही की तरह आज मिलकर एक दूसरे के दु ख-सुख को भीतर ही भीतर जान लेना चाहते थे। पूछ-पूछ कर उसका इतिहास तैयार करना हमारे सकोची हृदय को सह्य न था। केदार ने थोडे मे पहले ही पूछ लिया—मजे मे तो मे कट रही है? मैंने उत्साह से कहा—हा जी खूब! पर एक लज्जा से मेरा मन जैसे सिहर गया। मेरा मित्र इस पर कहा तक विश्वास करेगा! जीवन भर दूसरो की कार्य—कुशलता पर जीने वाला मैं—मुझको वह नही जानता? और फिर केवल अपने सुख का सुखी यह मनुष्य मेरे सुख को कितना तुच्छ समझता होगा। एक दिन आपस मे तर्क मे जिसने नौकरी की निन्दा करके कहा—मैं सच कहता हू, नौकरी अभिशाप है। जीवन को इससे दूर रखना सबका कर्तव्य है। और जब मैं इसे आज समझता हू, तो मैं कल से नौकरी नही करू गा—वह मेरी जैसी समझ वालो की दृष्टि मे अपने सम्पूर्ण भविष्य को एक फू क मे धूल की तरह उडाकर इस पहाडी देश मे लौट आया।''[1] यद्यपि इसे इस शैली का अत्यन्त प्रारम्भिक रूप ही कहा जाएगा, पर वह परिभाषिक स्तर पर इसलिए नही सामने आया है, क्योकि पाठक जी कलावादी नही है। कला-कला के लिए सिद्धान्त मे विश्वास न कर वे कला जीवन के लिए स्वीकारते हैं। फिर भी मानस मे उठने वाली विभिन्न तरगो को—स्थूल ढंग से ही सही उन्होने जिस प्रकार सगुफित किया है वह अपने आप मे एक विशेष महत्व रखती है और नए प्रारम्भ का सकेत करती है, जिसका चरम विकास अगले युग मे जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की कहानियो मे देखने को मिलता है।

जहा तक कथोपकथनो का प्रश्न है, पाठक जी के कथोपकथन लम्बे भी हैं, सक्षिप्त भी' जो लम्बे कथोपकथन है वे विश्लेषणात्मक हैं और कई कहानियो मे वे ही गए हैं' इनसे कहानीकार का कोई उद्देश्य भी नही पूर्ण होता। वे न तो पात्रो का चरित्र ही स्पष्ट कर पाते है और न कथानक को ही गतिशीलता प्रदान करते हैं। वस्तुत वे अपने आप मे स्वतन्त्र कथोपकथन लगते हैं, पर सन्तोष की बात है, ऐसा कम ही कहानियो मे हुआ है। पाठक जी के सक्षिप्त कथोपकथन अभिनयात्मक हैं। उनसे उन्होने दोहरे उद्देश्य पूर्ण किए है। पूर्ण नाटकीयता के साथ वे कथानक को तीव्रतर रूप मे अग्रसर तो करते ही हैं, पात्रो के मानस का विश्लेषण या उनके

१. वाचस्पति पाठक : प्रदीप, (यात्रा कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ ७५

व्यक्तित्व की विभिन्न विशेषताओ का उद्घाटन करने मे सफल रहे हैं । ये कथोपकथन भावाभिव्यक्ति की समर्थता से तो परिपूर्ण है ही, साकेतिकता एव सार्थकता की विशेषताओ के कारण भी वे सफल रहे है;

"मै कुछ समझ न सका । मैने पूछा—तुम क्या चाहती हो ?

लडकी के सरल मुख की जिज्ञासा जैसे एक बार ही नष्ट हो गई । उसने धीरे से कहा—कुछ नही ।—और जैसे सकोच के कारण अपने को छिपा लेने के लिए ही वह जल्द मुडी ।

किन्तु मैने उसे पकड लिया और पूछा—बताओ क्या कहना चाहती हो ?—स्नेह से उसकी ठुड्डी पकडकर मैने हिला दिया । पर वह कुछ ऐसी घबरा गई थी कि उसके मुंह से बात ही नही निकाली । वह केवल अपना हाथ छुडा लेना चाहती थी ।

पैसे लोगी ।—मैंने फिर सहानुभूति से पूछा ।

नही—उसने दृढता से उत्तर दिया—अब कुछ काम करना · !

तुम क्या काम करोगी ?—मैने कुछ अजीब उलझन मे पडकर पूछा ।

ओह · ! मेरे बाबा तो है—उसने बडी चिन्ता के साथ कहा—उन्हे आज कई दिनो से काम नही मिला है ।—कह कर वह फिर मेरी ओर एक बार विश्वासपूर्वक देखने लगी ।

—तुम्हारे बाबा कहाँ है ? चलो !

मैं इसके सग चलने के लिए मुड पडा । वह मेरे आगे आगे चल रही थी । चलते-चलते मैने पूछा—तुम्हारे बाबा क्या करते हैं ?

उसने उत्तर दिया—यही· वही तो सब चीजो पर शान चढते है । बाबा कारीगर है । वही तो कमा कर मुझे खिलाते है ।[1]

पा क जी की भाषा मे यथार्थता एव परिष्कार है । उन्होने भाषा को वास्तविकता एव सहजता देने का प्रयत्न किया है, जिससे वह चित्रोपम बन गई है । शब्दों के कुशल सयोजन से उसकी अभिव्यजना मे वृद्धि करने मे वे विशेष सफल रहे हैं : 'चिन्ताओ का समुद्र, विपत्ति का बोझ, असहाय जीवन और उस पर यौवन का विभ्रम पूर्ण सकोच ! सभी उस पूर्णिमा के चाँद को राहु की भाति ग्रसने लगे । उन्माद की काली छाया मे छिपकर वह हसने लगी । वह हंसने लगी, जैसे आगध सिन्धुजल मे बाडव-ज्वाला तल प्रदेश को मथ कर अट्टहास करती है । असंख्य उर्मिल रेखाए विडम्बनापूर्ण जीवन की आकुलता मे विलीन हो जाती । वह रोने लगती, जैसे शरद विभावरी नि शब्द चन्द्रिका मे घुल-घुलकर वसुधा का अचल भिगोती है । असहाय जीवन के ज्वर मे उसकी सुन्दरता और उद्दाम यौवन कौतुक से मिलने लगे । वह

१ वाचस्पति पाठक · प्रदीप, (पुतली-कहानी), इलाहाबाद, पृ० १०६-१०७

पागल हो गई।[1] इस प्रकार पाठक जी ने प्रतीको एव उपमानो से भाषा में प्रभाव शीलता उत्पन्न करने की सफल चेष्टा की है, जिससे वह गरिमामय हो गई है। पाठक जी वस्तुत. सस्कारशील कहानीकार हैं, और हिन्दी कहानियो के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिह

राजा राधिकारमण प्रसाद सिह मूलत प्रेमचन्द की परम्परा के कहानीकार हैं। 'गाधी टोपी' और कुसुमाजलि उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं। 'गाँधी टोपी', 'दरिद्र नारायण', 'इस हाथ से दे उस हाथ से ले', 'बिजली', 'मरीचिका' 'कानो में कगना' तथा पद का मद' आपकी आदि बहु चर्चित कहानिया हैं। उनकी कहानियो मे कोई शिल्प सम्बन्धी नवीनता नही लक्षित होती, पर उन्होने जो चित्रण किया है, वह सत्यानुभूति से प्रेरित है। उन्होने यथार्थवाद का भी चित्रण किया है, पर प्रमुखतः वे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहानीकार है और जीवन की चिरन्तन समस्याओ का समाधान आदर्शवाद मे खोजने का प्रयत्न किया है, इसलिए उनकी कहानियो मे भाव प्रवणता है और उनमे आरम्भ से अन्त तक भावुकता का विचार होता है। उन्होंने अपने पात्रो को जीवन के यथार्थ से लेकर भी उनका स्वरूप यथार्थवादी नही रहने दिया है। वे पात्र या तो अतिशय भावुक बनकर कल्पनाशील सा लगने लगते हैं, या अति दैवीय भावनाओ से ओत-प्रोत होने के कारण कृत्रिम एव आदर्शों के पुतले प्रतीत होने लगते हैं। उन पात्रो के चारित्रिक विकास का उन्होने कोई मनोवैज्ञानिक आधार भी नही प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनकी कहानियो कुछ शिल्प प्रयोग अपनाने का आग्रह प्राप्त होता है और आत्म-कथात्मक एव सस्मरणात्मक शैली मे भी कुछ कहानिया लिखी हैं, पर उनकी प्रिय शैली विवरणात्मक ही है। उनमे विवरण देने की प्रतिभा खूब है। उन्होने अपने कथानको को सीधे-साधे ढग से प्रस्तुत किया है, उनमें जबर्दस्ती तोड मरोडकर नाटकीयता लाने का प्रयत्न नही किया है। इसलिए उनकी कहानियो मे अनावश्यक रहस्यात्मकता नही आने पाई है।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिह का दृष्टिकोण है कि इस जीवन मे ऐसा कोई चित्र नही है, जिसके श्याम और उज्ज्वल दो पक्ष न हो। दुनिया मे न कोई बिल्कुल अच्छा है, न तो बिल्कुल बुरा। न निछक्का पाप है, न निछक्का पुण्य। वेश्या की छाती मे भी दिल है और सन्यासी की छाती मे भी दिल। दिल के साथ सिल, सिल के साथ दिल। जिस कोष मे पराग है, उसी मे सचित आग भी है। जिस फूल मे रस है, उसी मे कही विष भी है, भोरे उसमे रस पाते हैं, बर्रे उसी से विष पाते हैं। जीवन मे इन दोनो का जोडा हमेशा मौजूद है कम या वेश। उनका यह दृष्टिकोण ही उनकी कहानियो की मूल भावधारा है और अपनी कला का विकास उन्होने जीवन के इसी

१ वाचस्पति पाठक · द्वादशी, (पगली-कहानी), इलाहाबाद, पृ० ११२

यथार्थ को चित्रित करने की दिशा में किया है। वे अपने काल के सम्बन्ध मे समझते थे कि यहाँ अध्यात्म के साये मे शृगार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है, इसीलिए वास्तविकता की सादी जमीन पर नैतिकता की किनगी टकी है—उन्होने नैतिक मूल्य मर्यादा एव परम्परा को अधिक महत्त्व दिया है, हालाँकि उन्होने परिवर्तनशीलता के नए सन्दर्भों को आत्मसात कर स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है। नारियो के सम्बन्ध मे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की धारणा है कि वह जिस हद तक हमारे सामने खुलती है, उससे कही अपने पर्दा रखती है। निरन्तर जो कुछ हम देख पाते हैं, वह उसका तमाम जलवा नही, जो कुछ हम ढूँढ पाते हैं, वह उसका तमाम सौरभ नही, और जो कुछ हम सुन पाते है वह कुछ उसके दिल की सदा नही, उसकी वाणी की ही व्यजना है अधिकतर ऐसी है नारी-प्रकृति की निराली अज्ञेयता बात नेति-नेति की पुकार हिलोरे लेती रहती है हमारे अन्दर। वह न अपनी मुस्कान मे आती है, न अपनी निगाह मे और न अपने आँसुओ के प्रवाह मे बहकर किसी किनारे लग पाती है कि कोई उसे उलट-पुलट कर ढूँढ ले, और बातो मे तो उसे कोई पा ही नही सकता। उन्होने नारी जीवन से सम्बन्धित कई कहानियो मे इस दृष्टिकोण को चित्रित करने का प्रयास किया है, पर उसे यथार्थ ढंग से उजागर कर पाने मे वे असमर्थ रहे हैं। वह वर्णनात्मक या उपदेशात्मक अधिक हो गया है, इसी-लिए प्रभावशाली नही प्रतीत होता।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियाँ अधिकाशतः घटना-प्रधान हैं। उन्होने घटनाओ का सयोजन बडे सीधे सादे ढग से किया है, अत उनकी कहानियो मे रोचकता, कौतूहलता या नाटकीयता न प्राप्त हो, तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। विवरणात्मकता एव घटना-बाहुल्य के प्रति उनका इतना अधिक मोह है कि कुछ कहानियाँ आवश्यकता से अधिक लम्बी हो गई हैं कानो मे कगना' पुरुष की शैली मे लिखी गई कहानी है। 'हिन्दी की कहानी-रचना मे राजा साहब की इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसका निर्माण उस काल मे हुआ था जब हिन्दी मे कहानी कला का स्वरूप सगठित हो रहा था और इस विषय के लिखने वाले इने-गिने थे। ऐसे समय मे ऐसी प्रौढ दृष्टि देखकर हिन्दी जगत प्रसन्न हो उठा था और प्रसाद जी के समान कलाकार भी गद्गद् हो गए थे। इस कहानी मे लेखक की भाषा शैली भाव-प्रधान, अलकृत और परिष्कृत है। साथ ही सारा कथानक कलात्मक ढग से सुगठित है आदि और अन्त कौशलपूर्वक सन्तुलित है, जिससे रचनात्मक सौष्ठव का पूरा परिचय मिल जाता है। सन् १६१३ तक विषय का इतना शृगारमय स्थापन सर्वथा नवीन था। इस दृष्टि से इस रचना की विशेषता का अनुमान लगाया जा सकता है। नशा के उतरने-चढने का इतना विवरणात्मक निवेदन बिना प्रतिभा-मल के कदापि सम्भव नही। किरण के अत्यन्तिक आत्मदान और नरेन्द्र की अज्ञानमूलक उपेक्षा की ही यह

करुण कहानी है—जो काव्यात्मक पद्धति से उपस्थित की गई है । विषय की भावात्मकता की प्रवृत्ति के अनुरूप ही सारा वातावरण और पूर्व पीठिका सजाई गई है। इस प्रकार दोनो पक्षो का अन्योन्य सम्बन्ध स्फुटित हो गया है । यही इस कहानी का मूलाधार है । शैली की यही काव्यात्मकता 'बिजली' कहानी मे भी लक्षित होती है, जिसमे नायक के अद्भुत और साहसपूर्ण प्रेम का भावात्मक चित्रण किया गया है। 'पद का मद' भी लगभग इसी शैली की कहानी है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है, जो आज की जैसी तंगी मे एक हद तक दवा पीकर जीता है उसे शायद कही दवा खाने की जरूरत नही, अगर पाव पर पाँव रख पुलाव कलिया सुडकने वाला अगर एक ऐडी का पसीना चोटी तक उठाते हुए सुबह शाम मैदान की हवा न खाय तो वह कलिया लगता है जैसे आँतो मे कुलाँच लेने ··और कही आगे छलाँग मार उसकी भूख ही को पकडकर खा गया, तो फिर लीजिए, बैठे बिठाये आतें गले पड़ीं ।·· मोटर चली गई, जोटीराम पेड के नीचे इस तरह टहलता रहा, जिसमे कोई जान-पहिचान वाला निकले, तो चीन्हने न पावे ।' उनकी भाषा मे चीन्हने जैसे ग्रामीण शब्द प्रायः मिलते है। उन्होने बोलचाल के शब्दो और मुहावरो का प्रयोग कर भाषा को प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है, जिससे उसमे प्रवाह और गति आ गई है।

विनोदशकर व्यास

प्रसाद जैसी भावुकता लेकर कहानियाँ लिखने वालो मे विनोदशकर व्यास का स्थान अत्यन्त प्रमुख है । 'तूलिका', 'भूली बात', 'मधुकरी दो भाग', 'नव पल्लव', 'उसकी कहानी', 'मणिदीप' तथा 'पचास कहानियाँ' आदि उनके प्रमुख कहानी-सग्रह हैं । 'विधाता', 'रूखा स्नेह', 'भूली बात', 'अपराध', 'हृदय की कसक', 'करुणा' 'कल्पनाओं का राजा' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं । उनकी प्रत्येक कहानी मे भावुकता का अविरल प्रभाव है और करुणा की छाया है, जिससे वह कहानियाँ एक अपूर्व सवेदनशीलता उत्पन्न कर सकने मे समर्थ होती है और पाठको के हृदय को स्पर्श करने मे सफल होती हैं । व्यास जी की कहानियो मे कथानक का सगुफन बडे सन्तुलित ढग से हुआ है और उन्होने आकस्मिकता या सयोग तत्वो (chance elements) को प्रथम न देकर स्वाभाविकता के पथ का अनुगमन किया, जिसके फलस्वरूप उनकी कहानियाँ अधिक विश्वासनीय एव सत्य प्रतीत होती हैं । उनकी कहानियो मे हृदय-तत्व का प्राधान्य है, पर मानस की उपेक्षा है—ऐसा समझना भूल होगी । छोटी २ कहानियो में गद्य-गीतो रेखा-चित्रो और कहानीकी शिल्प विधियोका अपूर्व समन्वय करके उन्होने ऐसी भाव-प्रवणता उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो मधुर सौन्दर्य की सृष्टि करती है । प्रसाद की ही भाँति व्यास जी भी करुणा, प्रेम और जीवन के सौन्दर्य पक्षो के उद्घाटन करने वाले कहानीकार हैं, इससे उनकी कहानियो मे एकागी दृष्टिकोण भी प्राप्त होता है—यह स्वीकारना होगा । उनकी कहानियो मे जीवन के बहु-विविध पक्षो का उद्-

घाटन नही मिलता और न सामयिक तत्वो के आधार पर विस्तृत जीवन परिधि को समेटने की ही कोई प्रयत्नशीलता लक्षित होती है । इस दृष्टि से देखे, तो व्यास जी की कहानियो मे एक सीमित परिवेश ही मिलता है और जीवन के कठोर यथार्थ या विषम सामाजिक सन्दर्भो से उन्होने अपनी आँखे बन्द ही कर रखी है, पर जिन थोडे से पक्षो को उन्होने लिया है, उसे पूरी तन्मयता के साथ चित्रित किया है, जिसमे उन्हे सफलता भी प्राप्त हुई है ।

विनोदशकर व्यास की कहानियो मे चरित्र-चित्रण सम्बन्धी अधिक कलात्मकता लक्षित होती हैं और पात्रो के मानस का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने, सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वो का चित्रण करने तथा नाटकीय शैली मे पात्रो के चरित्रो का उद्घाटन करने के प्रति उन्होने अधिक ध्यान दिया है—इसमे उन्हे यथेष्ट सफलता भी प्राप्त हुई है। उन्होने अपनी कहानियो मे अधिक पात्र नही रखे हैं और एक दो पात्रो से अपने लक्ष्य की प्राप्ति की है, पर उन पात्रो मे सजीवता है, प्रभाव डालने की क्षमता है।' 'विधाता' कहानी मे उन्होने लिखा है क्योकि ससार मे एक और बडी शक्ति है, जो इन सब शासन करने वाली चीजो से कही ऊ ची है, जिसके सहारे बैठा हुआ मनुष्य आख फाडकर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है ।[1] उनके अधिकाश पात्र इसी निष्क्रियता से बँधे हुए है और अवस्था एव कुण्ठा के शिकार है । उनके जीवन मे निराशा अधिक है और असफल प्रेम जीवन के चित्रण के कारण घुटन अधिक है । पात्रो की जिस सजीवता का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह अपवाद स्वरूप कहानियो मे ही प्राप्त होता है, वह उनकी कहानियो को कोई सामान्य विशेषता नही है । इनकी कहानियो चरित्र प्रधान अधिक है और पात्रो के मानस मे होने वाले घात-प्रतिघातो को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । कल्पनाओ का राजा' कहानी मे सारी कहानी नायक के मानस मे होने वाले घात-प्रतिघातो के आधार पर ही विकसित हुई है इसीलिए उसमे अधिक सूक्ष्मता आई है । कहानी का आरम्भ नायक के परिचयात्मक परिच्छेद से होता है । नायक एक वेश्या के कोठे पर जाता है, उसे खूब मदिरा पिलाकर स्वय भी खूब मदिरापान करता है—फिर अपने मानसिक आवेग की कहानी उसे सुनाकर वापस लौट आता है । कहानी का अन्त वेश्या की मानसिक प्रतिक्रिया पर होता है । इसमे बडी भाव प्रवणता उत्पन्न होती है और कहानी नाटकीय ही नही, बहुत प्रभावशाली बन जाती है । उनके कथोपकथन भी बहुत सफल हैं। प्रसाद की भाँति उन्होने स्वतन्त्र कथोपकथनो का सयोजन नही किया है । व्यग्य शैली से भरपूर, छोटे २ चुस्त सजीव एव भावाभिव्यक्ति की समर्थता से परिपूर्ण कथोपकथनो के माध्यम से उन्होने कहानियो का विकास ही नही किया है वरन् अपने पात्रो चरित्र चित्रण भी अभिनयात्मक शैली मे किया है—इससे अपनी कहानिया मे नाटकी-

---

१ विनोदशकर व्यास : विधाता-कहानी

यता लाने मे वे अधिक सफल रहे हैं। विनोदशकर व्यास की कहानियो मे सोद्देश्यता खोजना व्यर्थ होगा। उन्होने किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर अपनी कहानिया नही हैं, वरन भावो से प्रेरित होकर इसके फलस्वरूप उनकी कहानियो मे भाव-प्रवणता अधिक है, वैचारिक स्तर कम। न तो उनमे जीवन के कटु यथार्थ एव सामाजिक सचेतनता की चित्रित करने की प्रयत्नशीलता लक्षित होती है और न किसी व्यापक परिधि को समेटने की आकुलता। पाठको को भावुकता के प्रवाह मे बहाकर कहानियो मे व्याप्त संवेदनशीलता से द्रवीभूत कर देना आपका एक मात्र लक्ष्य प्रतीत होता है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

भगवती प्रसाद वाजपेयी का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। उन्होने व्यक्ति की समस्याओ को लेकर उसके व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने अथवा उसके द्वन्द्व को चित्रित करने के लिए कहानियो की रचना की है। हिलोर खाली बोतल और 'पुष्पकारिणी आपको प्रसिद्ध सग्रह हैं। अब तक आपने लगभग तीन सौ कहानियो की रचना कर डाली है। आपकी पहली कहानी स० १६८१ मे 'माधुरी मे प्रकाशित हुई थी। 'खाली बोतल', 'पेंसिल स्केच', 'स्वप्नमयी', 'गृह-स्वामिनी', 'चोर' मैना', 'शबनम', स्पर्धा', 'कला की दृष्टि', 'मिठाई वाला', अन्धेरी रात', 'हार-जीत' 'ट्रेन पर', 'इन्द्रजाल' 'अपमान का भाग्य' 'झाकी', 'त्याग', 'निदिया लागी, 'वन्शीवादन', 'आत्मघात' तथा 'हत्यारा' आदि कहानिया अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। उनकी कहानियो के सम्बन्ध में आचार्य रामचद्र शुक्ल ने लिखा है कि सादे ढग से केवल कुछ अत्यन्त व्यजक घटनाएँ और थोडी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गम्भीर सवेदना या मनोभाव मे पर्यवसित होने वाली हैं।

अपनी कहानियो मे भगवती प्रसाद वाजपेयी ने आज के मध्यवर्गीय समाज के ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो का यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया है। वर्ग सघर्ष, एक दूसरे के प्रति सहानुभूति, विश्वास का अभाव, हृदयहीनता, विद्वेष तथा घृणा आदि का अपनी कहानियो मे उन्होने अनेक मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। वे समझते हैं कि यदि व्यक्ति विकासशील होगा, तो समाज स्वय ही विकासशील हो जाएगा। दुःख और कष्ट सहन ही उनकी रचनाओ की मूल भावना हैं तथा मिलती है उनमे भावात्मकता एव कमुकता, जो उच्च तथा मध्यवर्गीय जीवन प्रमुख विशेषताएं है। उन पर शरत चद्र की भावुकता और करुणा का बडा प्रभाव पडा है, पर शरतचद्र जैसा मानवतावादी दृष्टिकोण नही है। उनके पात्र परिस्थितियो से सघष करते हुए जब पराजित हो जाते है, तो आत्महत्या करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। इन पात्रो के नैराश्य एव कुण्ठा का मूल कारण सामाजिक अगति है। वह उस विषम सामाजिक स्थिति के कहानीकार हैं, जिसमे व्यक्ति स्वय को जड स्थिति मे पाता है। वे ह्रासोन्मुख जीवन का अकन त्याग कर प्राय ह्रासोन्मुख कला का अनुगमन करने लगते हैं

और अगति मे ही प्रगति की कल्पना करने लगते हैं। अपनी कोमल प्रवृत्ति औरभावा-त्मकता के वशीभूत होकर वे ह्रासोन्मुख चित्रो मे जीवन का उच्चादर्श अन्वेषित करने की चेष्टा करते है। वाजपेयी जी के पात्र जीवन सघर्ष से दूर होकर भावुकता की कोमल क्रोड मे एक सहज दिव्यता का झीना आवरण डालकर पाठको का मनोरजन करने मे सफल होते हैं। उनके मध्यवर्गीय पात्र महत्वाकाक्षी होने के कारण सघर्षशील तो है, विकासशील नही। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि मै सत्य की सुन्दरता का पुजारी हू। पुरुष और स्त्री मे परस्पर आकर्षण ही प्रेम के स्वरूप को निर्धारित करता है। प्रेम कभी विकृत नही होता, वह सदैव एक रस रहता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार उन्होने अनेक कहानियो मे प्रेम चित्रण किया है, पर उसमे विशेषत. भावुकता घुटन एव कुण्ठा का ही चित्रण हुआ है कोई स्वस्थ दृष्टिकोण नही मिलता। वाजपेयी के प्रति कोई निश्चित दृष्टिकोण है भी नही, वे केवल भावुक कहानीकार है। जीवन दृष्टि के साथ आस्था एव सकल्प मे उनमे अभाव है। इसके फलस्वरूप उनकी कहानिया एक सीमित परिवेश मे ही रह जाती है और एक व्यापक परिधि को समेटने मे असमर्थ रहते हैं। जीवन सघर्ष या मानव यथार्थ का उनमे अभाव है और इसके चित्रण के प्रति उनकी कोई आस्था नही है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी ने अपनी कहानियो मे यथार्थ चित्रण का प्रयत्न किया है, पर एकांगी दृष्टिकोण होने के कारण वे उसमे विशेष सफल नही हो सके हैं।उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि मनुष्य वह मरता है, जो सग्राम से भाग खड़ा होता है या हार मानकर रो पड़ता है। जीवन की हार मे असफलता यदि यथार्थ है, तो आदर्श की ओर हमारी गति, आदर्श की ओर हमारा प्रस्थान, आदर्श की ओर हमारा सर्वस्व—उत्सर्ग, यथार्थ का अनुचर नही। उसके आगे का वरदान और विजय चिन्ह है। उनकी कहानियो के कथानक की ओर उतना ध्यान नही दिया गया है, जितना पात्रो के मनो-भावो के विश्लेषण एव चरित्र-चित्रण की ओर इसलिए वे कहानिया सूक्ष्म हो गई हैं। साकेतिकता एव प्रतीकात्मकता का भी उन्होने सफल उपयोग किया है, जिससे उनकी कहानियो मे बौद्धिकता का समावेश हो गया है, पर इसके बावजूद उन्होने अपनी कहा-नियो मे कथा-तत्वो का सगुफन इस प्रकार किया है कि वे बडे तीव्र रूप मे गतिशील होती हैं। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे अधिक ध्यान उन्होने उनके मन मे होने वाले घात प्रतिघातो एव मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो के मनोविश्लेषण से ही अधिक सहायता ली है। जिससे कहानियो मे नाटकीयता बडी है। इस दृष्टि से उनके कथोपकथन बहुत सफल रहे हैं। वे अत्यन्त सक्षिप्त, सार्थक, चुस्त एव अभिनयात्मक हैं। उनसे पात्रो के व्यक्तित्वो एव कार्य व्यापारो की गति स्पष्ट करने का उद्देश्य तो पूर्ण होता ही है, कहानियो की गतिशीलता भी बिना कहानीकार के हस्तक्षेप से होती है। इस कला की दृष्टि से भगवतीप्रसाद वाजपेयी सफल रहे हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार

चन्द्रगुप्त विद्यालकार सामाजिक सचेतना के कहानीकार है और इस युग के उन इने-गिने कहानीकारो मे हैं, जिन्होने प्रेमचन्द या जयशकर प्रसाद की कहानी परम्पराओ का अनुगमन न कर अपनी मौलिक परम्परा का निर्माण किया और सफल कहानियो की रचना की। चन्द्रगुप्त जी की पहली कहानी 'विशाल भारत' मे सवत् १६८५ मे प्रकाशित हुई थी। 'चन्द्रकला', 'भय का राज्य', 'अमावस', 'वापसी', 'पहला नास्तिक', 'तीन दिन' आदि आपकी कहानियो के प्रसिद्ध सग्रह हैं। 'एक सप्ताह', 'क ख ग', 'चौबीस घटे', 'हूक', 'काम-काज', 'ताँगेवाला', 'डाकू' आदि आपकी बहु-चर्चित एवं लोकप्रिय कहानियाँ हैं। 'एक सप्ताह' पत्रात्मक शैली मे लिखी गई उनकी सर्वोत्कृष्ट कहानियो मे है। 'हूक' मे कॉंग्रेस आन्दोलन के समय अचानक ही जेल जाने वाले बलराज के मन मे होने वाले घात प्रतिघातो, द्वन्द्वो एव मनोभावो का अत्यन्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया है। यह कहानी अत्यन्त सूक्ष्म और साकेतिक हो गई है। 'चौबीस घन्टे' मे भूकम्प के बाद की स्थिति का अत्यन्त यथार्थ चित्रण किया गया है। कहानी पूरे एक दिन की है। विभिन्न प्रभावो को लेकर लिखी गई कहानी 'काम काज' है, जिसमे एकसूत्रता के प्रति उपेक्षा दिखाते हुए विश्रृखलता सम्बन्धी सफल शिल्प-प्रयोग किया गया है। वे बिखरे हुए प्रभाव मिलकर जीवन की विराट्ता का चित्र ही उपस्थित करती हैं और यथार्थ के परिवेश को व्यापक बनाती है। कहानी की लघु सीमाओ मे चन्द्रगुप्त जी ने उन्हे अपनी प्रौढ कला से अत्यन्त सफलता के साथ सगुम्फित किया है। इसी प्रकार 'क ख ग' मे भी जीवन के तीन विभिन्न चित्रो का बडी सफलता के साथ चित्राकन हुआ है। इस प्रकार की प्रभाव-वादी कहानियाँ लिखने मे चन्द्रगुप्त जी अत्यन्त सिद्धहस्त हैं। वे प्रभाव देखने मे पूर्ण-तया विश्रृखलित दृष्टिगोचर होते हैं और उनमे आपस मे कोई तारतम्य नही रहता, पर वे सभी प्रभाव मिलकर जो सामूहिक चित्र उपस्थित करते हैं, वह कुछ और नही जीवन का यथार्थ ही होता है, जो कहानीकार के हस्तक्षेप के बिना नाटकीय शैली मे अत्यन्त प्रभावशाली ढग से स्पष्ट होता है। यह एक कठिन कार्य है और शिल्प का निर्वाह सफलतापूर्वक अपनी प्रौढ एव विकसित कला से ही चन्द्रगुप्त जी कर सके हैं।

उन्होने अपनी कहानियो के कथानक दैनिक जीवन की विभिन्न सामान्य-असामान्य घटनाओ से चुना है और उस पर कोई मुखौटा नही लगाया है और न असत् पर सत् की विजय चित्रित करने अथवा अगति मे प्रगति की भावुक कल्पना या ह्रासोन्मुख जीवन का चित्रण करने के बहाने ह्रासोन्मुख कला का अनुगमन करने का ही प्रयास किया है—इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त जी का दृष्टिकोण प्रगतिशील है। उन्होने समय के युगबोध और भावबोध को भली-भाँति समझा है और अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अपने काल की आधुनिकता के विभिन्न आयामो को भी परखा है। इनका एक

तटस्थ एव निर्वैयक्तिक भाव से सामजस्य कर यथार्थ धरातल पर उन्होने बहु विधिय सामाजिक सन्दर्भो एव परिवर्तनशीलता से निर्मित नए परिप्रेक्ष्य का वास्तविक चित्रण किया है। वे वस्तुत शिल्पवादी न होकर जीवनपरक दृष्टिकोण रखने वाले कहानीकार है, इसीलिए उनकी कहानियो मे एक ओर जहाँ स्वस्थ जीवन दृष्टि, आस्था एव सकल्प प्राप्त होता है, वही दूसरी ओर कथ्य एव कथन की ताजगी भी मिलती है—इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त जी इस युग के अकेले विशिष्ट कहानीकार है।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार की कहानियो की सबसे बडी विशेषता पात्रो का चयन एवं उनका चरित्र-चित्रण है। उन्होने जीवन के यथार्थ से पात्रो का चयन किया है और उसी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होने व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश मे ही देखा है, उसके समाज या परिवेश से असम्पृक्त कर उसे आत्म-परक, कुण्ठाग्रस्त, अस्वल्प, अस्तित्ववादी, अजनबी, अकेला या अनास्थावादी नही बना दिया है। उन्होने व्यक्ति को उसकी सही सज्ञा दी है और उसकी उचित सगति मे ही चित्रण भी किया है। पात्रो के चरित्र-चित्रण मे उन्होने प्रेमचन्द की वर्णनात्मक शैली का उपयोग नाम मात्र के किया है। वस्तुत· उन्होने आधुनिक कहानी कला को अधिक अपनाया है, अत· पात्रो के चरित्र चित्रण के लिए अभिनयात्मक शैली के प्रति उनका अधिक आग्रह रहा है। पात्रो के मन मे होने वाले घात प्रतिघातो, मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो एवं मनोभावो का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया है। उनके व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए उन्होने कथोपकथनो का भी आश्रय ग्रहण किया है, जो सक्षिप्त, चुस्त, नुकीले, भावाभिव्यक्ति की समर्थता से परिपूर्ण है और सार्थक है। उनकी भाषा मे यथार्थता है। बोलचाल के शब्दो एव प्रचलित मुहावरो का प्रयोग कर उन्होने अपनी भाषा मे जनवादी तत्वो को अधिक ग्रहण किया है, जिससे वह स्वाभाविक एवं चित्रोपम ही नही बन जाती, प्रभावशाली भी बन जाती है। भाव-विचार, शिल्प एव निर्वाह की दृष्टि से चन्द्रगुप्त जी सफल कहानीकार हैं और आधुनिक हिन्दी कहानी कला के विकास मे उनका महत्वपूर्ण योगदान है—यह निर्विवाद है।

जी० पी० श्रीवास्तव

जी० पी० श्रीवास्तव इस युग के एकमात्र हास्य रस के कहानीकार हैं। 'लम्बी दाढी' नामक इनका प्रसिद्ध कहानी सग्रह है। 'मैं न बोलगी', 'झूठमूठ', 'पिकनिक' तथा 'लम्बी दाढी' आदि आपकी कुछ प्रमुख कहानियाँ है। श्रीवास्तव जी का एकमात्र उद्देश्य किसी भी प्रकार हास्य उत्पन्न कर पाठको का मनोरजन करना होता है, इसलिए बहुधा उनकी कहानियाँ बे सिर पैर की ज्ञात होने लगती हैं। उनकी कहानियो मे शिष्ट हास्य का अभाव है और निकृष्ट कोटि का शिल्प प्राप्त होता है, जिसके कारण उनकी एक कहानी भी स्वाभाविक एव विश्वसनीय नही प्रतीत होती।

वास्तव मे श्रीवास्तव जी के पास न तो व्यग्य शैली है और न पैनापन है, जिससे वे सामाजिक विद्रूपताओ का तीखा वणन कर सके। साँड़ रसोईघर मे घुस आया या बीवी बनाम जोरू मैके चल दी और निखट्टू मौलवी घोडे बेचकर सोते रहे, जैसे वाक्यो से वे पाठको के मन मे क्षणिक हास्य उत्पन्न करने मे सफल हो जाते हैं, पर कोई भी कहानी किसी प्रकार का स्थायी प्रभाव छोड जाने मे असमर्थ रहती है। कथानक का सगुफन करने मे भी उन्हे कोई सफलता नही प्राप्त हुई है। उन्होने सयोग तत्वो (chance elements) या आकस्मिकता का इस प्रकार प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है, जैसे वे कहानी-कला के अनिवार्य गुण हो। पात्रो के चरित्र भी वे स्पष्ट नही कर पाते--केवल उनके रेखाचित्र भर ही सामने आ पाते हैं, कभी-कभी तो वह भी नही उभर पाता। वास्तव मे वे वर्णनात्मक शैली मे कहानियाँ कहते हैं और 'किस्सा' कहना उन्हे जितना प्रिय रहता है, उतना पात्रो के चरित्र-चित्रण या यथार्थ का वर्णन करना नही।

विश्वम्भर नाथ जिज्जा

विश्वम्भरनाथ जिज्जा की प्रथम कहानी 'परदेशी' संवत् १९६९ मे प्रकाशित हुई थी। यह कहानी वातावरण प्रधान कहानी है। एक परदेशी काशी मे सूर्यग्रहण के स्नान के सम्बन्ध मे आता है और सयोगवश जमुना के दरवाजे पर टिकता है। जमुना विधवा है। जमुना उसके प्रति आकर्षित होती है और उससे प्रेम करने लगती है, पर एक दिन परदेशी कही चला जाता है और फिर कभी वापस नही लौटता। उसके न आने के आघात् और जमुना की मन स्थिति का जिज्जा जी ने बडा ही भावुक चित्रण किया है, यद्यपि उसमे कोई मनोवैज्ञानिक आधार नही प्राप्त होता और न कोई आग्रह ही उस दिशा मे है, पर वह चित्रण स्थूल रूप मे ही सही, बडा प्रभावशाली बन पडा है। 'विदीर्ण' मे दो बहुत दिनो की बिछडी हुई सखियो का आकस्मिक मिलन होता है। एक सखी अपने विगत की दारुण कथा सुनाती है और अन्त मे विश्राम करके मर जाती है। उसकी सखी विदीर्ण हृदय लिए तडपती रह जाती है। इस कहानी मे भी वर्णनात्मक शैली मे करुणा का अत्यन्त भावुक चित्रण किया गया है। जिज्जा जी की कहानियो मे भी यथार्थ चित्रण नही मिलता और न जीवन के प्रति कोई सुलझा हुआ दृष्टिकोण। वे कहानियाँ केवल कहानी कहने के लिए कही गई हैं, उनमे कोई निश्चित लक्ष्य या उद्देश्य खोजना व्यर्थ होगा। शिल्प निर्वाह की दृष्टि से भी जिज्जा जी विशेष सफल नही रहे हैं।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के 'नदन-निकुंज' और 'वनमाला' आदि कहानी सग्रह हैं। उनकी कहानियो मे कथानक की उपेक्षा है और भावुकता तथा कल्पनाशीलता का प्राधान्य है। 'विलासिनी' कहानी इसका प्रतीक है। उनकी कहानियाँ प्रमुख रूप से वर्णनात्मक शैली मे हैं। वे आदर्शवादी कहानीकार है और कोई-न-कोई आदर्श प्राप्ति

के लिए ही कहानियो की रचना करते हैं। 'गोविन्दवल्लभ पन्त' भी प्रमुखतः आदर्श-वादी कहानीकार है। उनकी कहानियो का जो सग्रह मिलता है, उसमे 'जूठा आम' तथा 'प्रियदर्शी', 'मिलन मुहूर्त', तैमूर लग', 'अबर' तथा 'सबसे बड़ा रत्न' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ है। वे वातावरण कहानियाँ लिखने मे पटु है। उनकी कहानियो मे कोई शिल्प सम्बन्धी नवीनता नही प्राप्त होती। भावुकता एव काव्यात्मकता लाने के प्रति वे अधिक आग्रहशील रहे है, इसीलिए आपकी कहानियाँ भावात्मक हो गई है। 'ज्वालादत्त शर्मा' की 'विधवा', 'अनाथ बालिका' तथा 'दर्शन' आदि कहानियो मे लेखक का सुधारवादी एव आदर्शवादी दृष्टिकोण ही प्रतिफलित हुआ है। उनकी कहानियाँ घटना-प्रधान हैं, जिसके कारण वे वणनात्मक है। उनमे सयोग तत्वो को अधिक प्रश्रय ग्रहण किया है, जिससे स्वाभाविकता को बहुत आघात पहुचा है, सामाजिक रूढियो के प्रति असतोष एव अव्यावहारिक परम्पराओ का खण्डन कर हिन्दू परिवार के सास्कृतिक जीवन परिवेश का चित्रण करना आपका लक्ष्य रहा है।

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', श्रीरामशर्मा 'राम', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', शिवरानी प्रेमचन्द आदि अन्य कहानीकार है, जिन्होने इस युग मे अच्छी कहानियाँ लिखी हैं और इस काल मे हिन्दी कहानियो के विकास मे अपना उल्लेखनीय योगदान प्रदान किया है।

: ६ :

हिन्दी कहानियों पर पाश्चात्य प्रभाव

युग दशा

कहानियों के आधार पर

इस काल तक पहुँचते-पहुचते भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद पूर्णतया जम चुका था और वे अब अपनी स्थिति सुदृढ कर लेने के पश्चात् दमन-चक्र का प्रसार कर रहे थे, ताकि भारतवासियो के मन मे स्वतन्त्रता के प्रति कोई मोह न उत्पन्न हो और राष्ट्रीय आन्दोलन शक्तिशाली न होने पाए। पर यह उनका गलत दृष्टिकोण था वे जितना ही जन-भावनाओ का दमन करते थे, राष्ट्रीय आन्दोलन उतना ही तीव्रतर रूप धारण करता जा रहा था। सन् १९०५ भारतवासियो मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध व्यापक असन्तोष प्रसारितहो चुका था और उस समय तक तरुण वर्ग का,पुरानी वैधानिक नीति की उपयोगिता मे से विश्वास उठ गया था। तरुण लोग एक कठोर नीति अपनाकर आतक की स्थिति उत्पन्न करना चाहते थे। इसके विपरीत एक दूसरा वर्ग था, जो इस उग्रता अनावश्यक समझता था और सयम से काम लेना चाहता था। फलस्वरूप भारतीय राजनीति मे उग्रदल और नरम दल विभाजन हो गये; जिनके दृष्टिकोणो में पर्याप्त अन्तर था। नरम दल, ब्रिटिश सत्ता के अन्तर्गत स्वशासन के पक्ष में था उग्र दल स्वशासन का आदर्श अव्यावहारिक समझता था। वह पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्ष मे था। नरम दल की दृष्टि मे स्वशासन का आदर्श भी सुदूर था, किन्तु उग्रदल इस सम्बन्ध मे अधिक आशावादी था। नरम दल यह समझता था कि अधिवेशनों मे प्रस्तावो के पास करने, समाचार पत्रो मे वक्तव्य देने तथा शिष्ट मण्डलों के आदान प्रदान से वह अपने उद्देश्य मे सफल हो जाएगा-वह अग्रेजी साम्राज्यवाद से किसी प्रकार के संघर्ष या टकराव के पक्ष मे नही था। उसकी नीति मे दृढ़ निश्चय, साहस एव त्याग की महत्ती भावनाएँ न्यून थी। इसके विपरीत उग्र दल सरकार का कार्य कठिन बना देना चाहता था। वह अंग्रेजी सम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष करने को प्रस्तुत था। विदेशी वस्तुओ और सस्थाओ के बहिष्कार, स्वदेशी का प्रचार, राष्ट्रीय आधार पर स्कूलो और पचायतो आदि की स्थापना तथा अग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना उग्र दल के प्रमुख कार्यक्रम थे। नरमदल के

नेताओं मे गोपाल कृष्ण गोखले, फीरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। उग्र-दल के नेताओं मे बालगगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल थे। सन् १९०५ मे कांग्रेस के बनारस अधिवेशन मे, बाल, लाल, पाल के नेतृत्व मे एक नए राष्ट्रीय दल की स्थापना हुई।

दोनो दलो के मध्य भेद इतने बढने लगे कि कॉग्रेस के विभाजित होने की आशका होने लगी। १९०६ मे दादाभाई नौरोजी कॉग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कॉग्रेस का लक्ष्य 'स्वराज्य' घोषित किया और राष्ट्रीय एकता तथा दोनो दलो मे विकार-साम्य बनाए रखने की अपील की। उस समय वे कॉग्रेस के वयोवृद्ध नेता थे और लोगो उनका बडा आदर करते थे। उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप किसी प्रकार कॉग्रेस के दोनो दलो का विच्छेद हल गया, पर यह स्थिति अधिक नही बनी रह सकी। सन् १९०७ ई० मे सूरत अधिवेशन मे दोनो दल बडे ही अशोभनीय ढग से अलग हो गए। कॉग्रेस पर नरम दल वालो का ही अधिपत्य बना रहा। उग्र दल के समर्थको ने अपना कोई दल नही बनाया, किन्तु तिलक के 'केसरी' और पाल के साप्ताहिक पत्र के माध्यम से उग्र विचारों का प्रकाशन होता रहा। देश का युवक वर्ग इस नीति की ओर अधिकाधिक झुकता गया। बग-भग विरोधी आन्दोलन मे सरकार ने कठोर दमन-चक्र की नीति चलती रही। भारतीय राजनीति मे उसकी प्रतिक्रिया आतकवाद और क्रान्तिकारी सगठन के रूप मे हुई। आतंकवाद के जन्म के अन्य कई कारण थे। पर भारतीय राजनीति को गुप्त धाराओ मे ढकेलने का बहुत बडा हाथ साम्राज्यवादी दमन चक्र की नीति थी। उग्र नीति के समर्थको की भाँति आतकवादी भी भारतीय राजनीतिक स्थिति से असतुष्ट थे। इटली एबीसीनिया और रूस जापान युद्ध के परिणामो ने उनमे अग्रेजो के विरुद्ध सशस्त्र सघर्ष का साहस भर दिया था। राजनीतिक आन्दोलन की ओर सरकारी नीति को पृष्ठ भूमि मे वे इस अन्तिम निर्णाण पर पहुचे कि अग्रेजी सैन्य शक्ति के सामने किसी प्रकार का वैधानिक सघर्ष सफल नही हो सकता। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने भारत को शक्ति से ही जीता हैं, उन्हे यहाँ से शक्ति से ही निकाला जा सकता है।

जब सरकारी दमन के कारण प्रकट रूप से वैधानिक राजनीतिक मे भाग लेना कठिन हो गया, तो आतकवादियो का दल शक्तिशाली होता गया और उनके समर्थको की सख्या भी बढती गयी। इस विचारधारा के नेताओ मे बारीन्द्रकुमार घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त थे। ये लोग पश्चिमी क्रान्तिकारी उपायो, विशेषकर पिस्तौल और बम की सहायता से राजनीतिक हत्याओ और डकैतियो मे विश्वास रखते थे ताकि देश मे आतक फैल जाय और अराजकता की स्थिति मे सरकार को अपना शासन चलाने मे कठिनाई हो। पूर्ण स्वतत्रता इन लोगो का लक्ष्य था और उसका साधन था

आतंकवाद और क्रान्तिकारी भावनाएँ। ६ दिसम्बर १९०७ को तत्कालीन पूर्वी बंगाल के उप-गवर्नर की रेल को बम से उड़ा देने का प्रयत्न हुआ। २३ दिसम्बर १९०७ को ढाका के भूत पूर्व जिलाधीश मि० ऐलन पर गोली चलाई गई। ३० अप्रैल १९०८ को मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड की हत्या के प्रयत्न में दो अंग्रेज महिलाओं की हत्या हुई। २ मई को कलकत्ते में एक क्रान्तिकारी षड्यन्त्र का पता लगा, जिसके सम्बन्ध में ३९ व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया। श्री अरविन्द घोष भी उनमें से एक थे, जिन्हें बाद में रिहा कर गया था। सितम्बर १९०८ में नरेन्द्र गोसाईं नामक मुखबिर की हत्या की गई और उसके दो ही माह पश्चात् मुजफ्फरपुर हत्याकाण्ड के अपराधी खुदीराम बोस को गिरफ्तार करने वाले थानेदार नन्दलाल को मार डाला गया गया। इस प्रकार क्रान्तिकारी दल दिन-प्रति दिन शक्ति शाली होता जा रहा था और उसकी गतिविधियों का भी विस्तार हो रहा था। अनेक प्रान्तों में उसका संगठन कार्य गुप्त रूप से चल रहा था, जिनमें महाराष्ट्र प्रमुख था। रैण्ड-हत्या के पश्चात प्रकट रूप से वहाँ शान्ति थी पर क्रान्तिकारी चुप न थे, वे अन्दर ही अन्दर गुप्त रूप से अपना संगठन कर रहे थे। वहाँ के नेताओं में श्यामजी कृष्ण वर्मा, गणेश सावरकर और विनायक सावरकर थे। पर दुर्भाग्य से इसी समय मुस्लिम साम्प्रदायिक भावना का भी प्रसार हो रहा था, जिसका सारा श्रेय सर सैयद अहमद खां को था। यद्यपि सर सैयद ने कई बार दिखाने के लिए 'राष्ट्रीय' विचारों को प्रकट किया, पर मूलतः वे साम्प्रदायिक विचारधारा के व्यक्ति थे और उनका दृष्टिकोण धर्म पर आधारित था, जो बहुत संकीर्ण था उन्होंने जाति व्यक्ति के लिए देशभक्ति का बलिदान किया और राजभक्ति के लिए राष्ट्रीयता का विरोध किया। १ अक्टूबर १९०६ को श्री आगा खाँ के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्टमंडल वॉयसराय से शिमले में मिला और मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों की माँग की। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इस शिष्ट मण्डल के सुझाव और संगठन में अंग्रेजों का हाथ था, अतः वॉयसराय ने उस शिष्ट मण्डल को प्रोत्साहन दिया और बिना भारत-मंत्री की सहमति से भारत सरकार की ओर से पृथक निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धान्त को स्वीकार लेने का आश्वासन दे दिया।

पंजाब में कृषि की स्थिति अत्यन्त असंतोषजनक थी। पंजाब सरकार की उदासीनता और अव्यवहारिक नीति के कारण खेतिहर आन्दोलन बहुत जोर पकड़ता जा रहा था। इस सम्बन्ध में सरकार ने सन् १८१८ के विनिमय नं० ३ के अन्तर्गत सरदार अजीतसिंह और लाला लाजपतराय को देश से निष्कासित कर दिया, इससे भी क्रान्तिकारी विचारधारा के समर्थकों को बहुत बल मिला। १९०९ में ही दक्षिणी अफ्रीका में बसे भारतवासियों के नागरिक सम्मान में रक्षा के लिए गाँधी जी ने अपना सत्याग्रह आन्दोलन चला दिया था। गाँधी जी के साहसपूर्ण विरोध के समाचारों से

राष्ट्रीय विचारधारा के सभी भारतीयो को एक दिशा मिली। व्यापक असन्तोष के वातावरण मे मार्ले मिण्टो सुधार जनता के सामने आए। इसके मूल मे साकार का लक्ष्य भारतवासियो मे वैमनस्य उत्पन्न करना था, उसमे वह सफल भी रही। उग्रदल इन सुधारो को अपर्याप्त एव असतोषजनक समझता था, किन्तु नरम दल ने पृथक् निर्वाचन प्रणाली और परिमित मताधिकारो की आलोचना करते हुए सुधारो का स्वागत किया। मुस्लिम लीग को सुधारो से सन्तोष था। एक प्रकार के मार्ले-मिण्टो सुधारो को मुस्लिम लीग की ही विजय समझना चाहिए। सरकार का यह विश्वास था कि सुधारो से नरम दल और मुस्लिम लीग साम्राज्यवाद का समर्थन करेगा और जनता को ये दोनो दल प्रभावित कर राजभक्ति की ओर प्रेरित करेगे, पर इसमे वह भ्रम मे ही रही क्रान्तिकारी विचारधारा के समर्थको ने इन सुधारो का अर्थ अपनी विजय समझा और उन्होने अपने आन्दोलन को और भी शक्तिशाली बनाकर सरकार को झुकाने के कार्यक्रम निश्चित कर लिया। इस निश्चय के अनुसार नए वॉयसराय लॉर्ड हार्डिज पर बम फेका गया और आन्दोलन मे उग्रता की वृद्धि हो गई। सरकार अपनी पुरानी दमन नीति पर उतारू हो गई, पर उसमे उसे मनोवाँछित सफलता नही प्राप्त हुई।

जून १६१४ मे लोकमान्य तिलक का निर्वासन समाप्त हुआ और उन्होने पुन: भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया। उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप नरम दलो और उग्र दलो का पुर्नमिलन हुआ। विभिन्न कारणो से सन् १६१६ में अंग्रेजो के विरुद्ध असन्तोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। प्रथम महायुद्ध की भारतीय जीवन पर विषम प्रतिक्रिया हो गई थी और निराशा की विचित्र लहर दौड रही थी। राजकीय कर बढ गये थे, चीजे महगी हो गई थी और आर्थिक व्यवस्था पूर्णतया विश्रृंखलित हो गई थी। क्रान्तिकारी प्रयत्नो एव राजनीतिक आन्दोलनो का सामना करने के लिए सरकार कठोर दमन नीति से काम ले रही थी। इस उग्र दमन नीति की प्रतिक्रिया व्यापक असन्तोष मे हुई। स्वतन्त्रता की आशा मे भारत ने युद्ध के लिए धन और जन से पूर्ण सहयोग किया था, पर वह पूरी न हो सकी। पजाब में सर माइकेल ओडायर के प्रशासन से पजाबी जनता और भी चिढ गई थी। इसी समय सरकार ने रौलट ऐक्ट बिल पास कर दिया। ये ऐक्ट मुख्यतः सैनिको के लिए थे। अराजकतापूर्ण एव क्रांतिकारी कार्यों को ऐसे अधिकार दिए जा रहे थे, जिनसे सारे राजनीतिक जीवन को कुचला जा सकता था। इसके विरोध मे गाधी जी ने सत्याग्रह प्रारम्भ किया। अमृतसर मे आन्दोलन ने भयकर रूप ले लिया था—डॉ० सत्यपाल और डॉ० किचलू को गिरफ्तार कर लिया गया था। सारे नगर मे जनरल डायर का सैनिक शासन स्थापित कर दिया गया था। इसके विरोध मे अमृतसर निवासी जलियाँवाला बाग मे एक सभा करने के लिए एकत्रित हुए। जनरल डायर

ने सशस्त्र सैनिको से सारे बाग को घेर लिया। बाग मे एक ही फाटक था, जिस पर सैनिक जमा थे। उसने गोलियाँ तब तक चलवाईं जब तक कारतूस समाप्त न हो गये, कोई भाग न सका, कोई बच न सका। अमृतसर हत्याकाड के विरोध मे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी।

सुधारो की माँगो को बढते देखकर ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थितियो का अध्ययन करने के लिए सन् १९२७ मे सर जॉन साइमन की अध्यक्षता मे एक कमीशन नियुक्त किया, जिसमे एक भी भारतीय सदस्य न था। साइमन कमीशन का भारत मे सभी राजनीतिक पार्टियो ने तीव्र विरोध किया और इसके साथ सहयोग करने से अस्वीकार दिया। ३ फरवरी १९२८ को बम्बई मे जब यह कमीशन उतरा, तो 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारो से सारे देश ने उसका बहिष्कार किया। स्थान-स्थान पर उसे काले झडे दिखाए गए और सरकार ने फिर अपनी दमन नीति प्रारम्भ कर दी। लाहौर मे पजाब केसरी लाला लाजपतराय को लाठियो से इतना पीटा गया कि कालान्तर मे उनकी मृत्यु हो गई। देश मे एक ओर तो असहयोग आन्दोलन समाप्त हुआ और दूसरी ओर राजनीतिक एकता समाप्त हो गई। इसके फलस्वरूप कुछ काल के लिए भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण मे अनिश्चयात्मकता छा गई। देश का नवयुवक समुदाय काग्रेस नीति की असफलता से असतुष्ट होकर फिर क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो, हिंसा और तोड-फोड की ओर आकर्षित होने लगा। सरकारी दमन-चक्र ने तरुण रक्त को उत्तेजित किया। स्थान स्थान पर बम और पिस्तौलें बनने लगीं। लोग सशस्त्र क्रान्ति के लिए देश को तैयार करने लगे। चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिह, राजगुरु, सुखदेव और बी० के दत्त आदि इस दल के नेताओं मे थे। अंग्रेजो की अनीति एव अन्याय प्रदर्शन के लिए भगतसिह और बटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली मे बम फेका। लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिए पुलिस कप्तान सौण्डर्स की हत्या की गई। क्रान्तिकारियो ने स्थान स्थान पर आतक फैला दिया। मेरठ और लाहौर के षडयन्त्र उनकी वीरता एव असीम साहस के ज्वलत प्रमाण है। मेरठ षड्यन्त्र मे साम्यवादी प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील थी।

लन्दन मे १२ नवम्बर १९३० से प्रथम गोलमेज परिषद् हुई और ३१ मार्च सन् १९३१ को गाँधी इर्विन समझौता हो गया। इसके अनुसार सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और सारे राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए गये। सरकार द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने और इस सम्बन्ध मे काग्रेसी नेताओ की ढुलमुल नीति से अनेक नेता बहुत असन्तुष्ट हुए और सन् १९२४ प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय हिन्दू महासभा के मच पर आ गये। पर मुस्लिम लीग गन्दी मनोवृत्ति का शिकार थी और हिन्दु-मुस्लिम वैमनस्य

बढाने के सम्बन्ध में निरन्तर प्रयत्नशील थी, जिसका श्रेय मि० जिन्ना और श्री लियाकत अली खाँ को है। इन सकीर्ण मनोवृत्ति वाले नेताओ ने काग्रेस मत्रीमण्डलो को बदनाम करना प्रारम्भ किया और मुसलमानो के उत्पीडन एव उनके हितो पर कुठाराघात करने का आरोप लगाया । मुमलमानो मे प्रचार किया गया कि 'हिन्दू काग्रेस' के शासन के अन्तर्गत उनकी सभ्यता, सस्कृति एव धर्म खतरे मे है। तत्कालीन काग्रेस अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने निष्पक्ष जाच का प्रस्ताव रखा, पर मि० जिन्ना ने उसे अस्वीकार दिया। १ सितम्बर १६३६ को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और इगलैण्ड ने ३ सितम्बर १६३६ को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने बिना काग्रेसी मत्री मण्डलो से पूछे और भारतवासियो की राय जाने भारत को भी युद्ध मे सम्मिलित कर दिया।

काँग्रेस ने इस एकतरफा घोषणा का विरोध किया और २२ अक्टूबर १६३६ काँग्रेसी मन्त्रीमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिया। इसे श्री जिन्ना बडे प्रसन्न हुये और २२ दिसम्बर १६३६ को मुसलमानो से 'मुक्ति-दिवस' मनाने के लिये कहा। काँग्रेस की सतुष्टीकरण की नीति और ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के प्रोत्साहन के कारण जिन्ना साहब की माँगे दिन-प्रतिदिन बढती जाती थी और अन्त मे मार्च सन् १६४० मे उन्होने लाहौर प्रस्ताव के द्वारा पाकिस्तान की माँग उपस्थित की।

गाधी जी के आदेश से विनोबा भावे ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया। काग्रेस सम्बन्धी साम्राज्यवादी नीति के विरोध मे थी और जर्मनी और इटली के फासिज्म के भी विरोध मे थी। १६४० मे सरकार ने सारे नेताओ को जेलो मे ठूंस दिया। १६४१ मे जेल-अवधि समाप्त कर फिर ये नेता जेलो के बाहर आये और असहयोग आदोलन जोर पकडता गया। सन् १६४१ मे युद्ध की स्थिति भयकर हो गई थी। जर्मनी ने सारे यूरोप को पराजित कर दिया था। जापान, जर्मनी और इटली की तरफ से युद्ध मे सम्मिलित हो गया था और उसकी सेनाओ ने द्रुतगति से पूर्वी सीमाओ पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ कर दिया। इससे भारत की पूर्वी सीमाओ के लिये भी खतरा उपस्थित हो गया था। अत कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता समझकर मार्च १६४२ मे मजदूर दल के नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत आये। उन्होने जिस ढग से समझौता करना चाहा, वह अत्यन्त अपमानजनक था, इसलिये उन्हे कोई सफलता नही प्राप्त हो सकी और १३ अप्रैल १६४२ को वे इगलैण्ड वापस चले गये। इससे कांग्रेस को यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज साम्राज्यवादी सीधे से सत्ता हस्तातरित न करेंगे और स्वराज्य न मिल सकेगा। मुस्लिम लीग के सहयोग की भी अब कोई आशा न रही क्योकि वह पाकिस्तान की माँग पर अटल थी। उसके प्रभाव मे श्री राजगोपालाचारी जैसे नेता भी गद्दारी कर गये और पाकिस्तान की माँग का

समर्थन करने लगे । राजाजी अब भी अपने देशद्रोही विचार प्रकट करते रहते है । ८ अगस्त १९४२को महात्मा गाधी के नेतृत्व मे बम्बई कांग्रेस मे भारत छोडो का नारा पास हुआ, जो सारे देश मे गूंज गया । सारे काग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिए गये और कांग्रेसी संस्थाएं अवैध घोषित कर दी गई । पर जनता मे विद्रोह की भावना अत्यन्त तीव्र हो गई थी । स्थान-स्थान पर रेलवे स्टेशनो डाकखानो एव सरकारी कार्यालयो को जलाना तथा लूटना शुरू हो गया, तार काटे गये, पटरियाँ उखाडी गई बालिया, सतारा और बिहार के कुछ स्थानो पर तो ब्रिटिश शासन कुछ दिनो के लिये लगभग समाप्त ही हो गया था । सरकार ने अपना दमन चक्र और तेज किया । नेताओ को तो जेल मे ठूंस ही दिया गया था, जनता के सामने कोई दिशा न थी । उनके घर सरकार ने फूंक दिये, उन्हे गोलियो से भून दिया और तबाही का ऐसा क्रूर चक्र सामने आया, जिसका कोई उदाहरण ससार के इतिहास मे मिलता दुर्लभ है । नौकरशाही की सगठित बर्बरता के समक्ष नेतृत्वहीन, अस्त्रहीन एव सगठनहीन जनता दबा तो अवश्य दी गई; परन्तु उसके हृदय मे अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की जो ज्वाला धधक रही थी, वह शान्त न हो सकी ।

इस महान् राष्ट्रीय आन्दोलन का मुस्लिम लीग और कम्युनिस्ट पार्टी ने विरोध किया और सरकार के साथ पूरी तरह सहयोग किया । १९३४ मे जयप्रकाश नारायण, अच्युत परवर्धन और अशोक मेहता आदि के नेतृत्व मे कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हो चुकी थी, वह इस समय पूर्णरूप से क्रियाशील थी । यह दल कांग्रेस के अन्तर्गत होते हुये भी गाधीवादी न था और हिंसात्मक उपायो को काम मे लाने में उसे कोई सकोच न था । सन् १९४२ की जन-क्रान्ति का श्रेय बहुत कुछ इस समाजवादी दल को ही था । इस दल के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने सन १९४२ मे मे फरार होकर गुप्त रूप से कार्य किया, इनमे अच्युत परवर्धन और अरुणा आसफअली का प्रमुख स्थान था । सन् १९४३-४४ मे सारा देश एक बडे कारागार के समान प्रतीत होता था । सरकार ने समाचार पत्रो की स्वतन्त्रता छीन ली थी, जनता की भावनाओ को पूर्ण रूप से कुचल देने के लिये कठोर हिंसात्मक कार्यवाई हो रही थी और सारे नेता जेलो मे बन्द थे। इन दिनो राष्ट्रीय जीवन लुप्त सा हो गया था । सन् १९४३ मे गाधी जी ने, जो पूना मे आगाखाँ के महल मे बन्दी थे, २१ दिन का उपवास किया । उपवास से गाँधी जी की स्थिति बडी शोचनीय हो गई । चारों ओर से गाँधीजी को छोड देने की माँग हुई, पर वॉयसरॉय लिनलिथगो ने झुकना नही स्वीकारा । सन् १९४४ मे लॉर्ड वैवेल वॉयसराय बनकर आये और अस्वस्थता के कारण गाँधी जी को रिहा कर दिया गया । स्वस्थ होने पर गाधी जी ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर मि० जिन्ना से कई बार बातचीत की, जिसके जिम्मेदार राजाजी थे । जून १९४५ मे दूसरे कांग्रेसी नेताओ को रिहाकर दिया गया । इस समय तक जर्मनी और इटली की हार हो चुकी थी और जापानी सेनाएँ भी पीछे हट रही थी

इन्ही दिनो इगलैण्ड मे नये निर्वाचन मे विन्सटन चर्चिल का अनुदार दल हार गया और लॉर्ड एटली के मजदूर दल का मत्री मण्डल स्थापित हुआ। शिमले मे लॉर्ड वैवेल ने सभी राजनीतिक पार्टियो के नेताओ की एक मीटिंग बुलाई और एक अस्थाई राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया गया। इसमे कोई समझौता नही हो सका।

इससे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पुनः सक्रिय हुआ। मजदूर मत्री मण्डल ने २ जनवरी १९४६ को दस सदस्यो का एक ससदीय दल भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिये भारत भेजा। इस दल की रिपोर्ट के आधार पर मार्च १९४६ मे कैबिनट मिशन भारत मे आया और कॉग्रेस तथा लीग के मतभेदो को दूर करने का प्रयत्न किया। इसमे कोई सफलता मुस्लिम लीग के हठ और जिन्ना साहब की सकीर्णता तथा स्वयं राजाजी की गद्दारी से नही प्राप्त हो सकी। ब्रिटिश सरकार ने एक योजना भारतीय नेताओ के सामने प्रस्तुत की। इसके अनुसार भारत के सभी प्रान्तो को तीन भागो मे सगठित किया गया, एक मे सीमाप्रान्त, पजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बिलूचिस्तान, दूसरे मे बगाल और आसाम तथा तीसरे मे शेष प्रान्त रखे गए। योजना ने इन तीनो भागो को एक सघीय शासन के अन्तर्गत रखने की व्यवस्था की। तीनो भाग अपने आन्तरिक शासन मे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होने पर रक्षा और यातायात तथा विदेशी नीति के विषय मे संघ शासन के अधीन रहने। सम्पूर्ण देश के लिए सविधान बनाने के हेतु एक सविधान सभा का निर्माण किया गया। जब तक यह व्यवस्था पूर्ण न हो एक अन्तरिम सरकार बनाने का विधान किया गया। कॉग्रेस और लीग मे पुन: मतभेद उत्पन्न हो गया। लीग इस बात से सहमत नही हुई कि अन्तरिम सरकार के लिए कॉग्रेस किसी मुस्लिम प्रतिनिधि को चुने। लॉर्ड वैवेल ने २ सितम्बर १९४६ को पं० जवाहरलाल नेहरू को अन्तरिम सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। अपनी इच्छाओ को पूरा होते न देखकर मुस्लिम लीग ने प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का निश्चय किया। उसके लिए १६ अगस्त को इसका दिन निश्चित किया गया और कलकत्ते मे भीषण नर-हत्या प्रारम्भ हो गई। मुसलमानो ने सगठित रूप से हिन्दुओ को मारना और उनके घरो को जलाना प्रारम्भ किया। ४ दिनो तक भीषण हत्याकाण्ड होता रहा। लगभग ३००० व्यक्ति मारे गए और करोडो रुपयो की सम्पत्ति नष्ट हुई। नोआखाली मे कलकत्ते के हत्याकाण्ड की पुनरावृत्ति हुई। मुस्लिम नेता इस्लाम का नाम लेकर मुसलमानो को उत्तेजित कर रहे थे और उन्हे काफिरो को—मारेगे मर जाएगे, पाकिस्तान बनायेगे—का नारा लगाकर मारने के लिए प्रोत्साहित किया। नोआखाली मे भी मुसलमानो ने हिन्दुओ की निर्मम हत्या करनी प्रारम्भ की। गाँव-गाँव मे हिन्दुओ को खोज-खोजकर मारा गया, स्त्रियो का धर्म पवित्रता लूटी गई।

मुस्लिम गुण्डो ने अबाध बच्चो को भी न छोड़ा, चारो ओर मौत का हाहाकार छा गया।

शासन मे गतिरोध और भीषण साम्प्रदायिक दगो के कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादी समझ गए थे कि बिना पाकिस्तान की स्थापना के भारतीय समस्या का हल नही हो सकता। दूसरी ओर राजनीतिक जागृति और साम्राज्यवाद-विरोधी दल की शक्ति से यह स्पष्ट हो गया कि भारत को स्वाधीनता देनी पडेगी। अत: फरवरी ४७ मे ब्रिटिश ससद मे घोषणा की गई कि जून १९४८ तक भारत मे ब्रिटिश सत्ता को समाप्त कर दिया जाएगा। लॉर्ड वैवेल के स्थान पर लॉर्ड मॉउण्टबेटेन को नियुक्त किया गया। उन्होने सरकार की नई योजना प्रकाशित की, जिसके अनुसार सीमाप्रान्त, सिन्ध, पश्चिमी पजाब और पूर्वी बगाल पाकिस्तान बना दिया गया और शेष भाग भारतीय सघ के अन्तर्गत रखा गया। तत्कालीन परिस्थितियाँ इतनी विषम थी कि जून १९४८ तक रुकना असभव था अत. १५ अगस्त १९४७ को स्वाधीनता दे दी गई।[1]

आधुनिक युग के आरम्भ मे भारत का आर्थिक जीवन बहुत कुछ सतुलित था। देश की जनता कृषि के साथ-साथ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धो मे लगी हुई थी। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि जब विदेशो से बना हुआ सस्ता माल भारतीय बाजारो मे आने लगा और स्वदेशी हाथ का बना हुआ माल उसकी बराबरी न कर सका, तो भारतीय धधो का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। इसकी प्रतिक्रिया कृषि पर हुई और धरती का भार बढ़ने लगा। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यातायात के साधनों मे सुधार से घरेलू उद्योगो के नष्ट होने और कृषि का बोझ बढने मे ही सहायता मिली। देश की अग्रेजी सरकार की नीति भी इसी पक्ष मे थी कि भारत से इगलैण्ड के कारखानो में कच्चा माल अधिकाधिक परिमाण मे पहुचे और इगलैण्ड का बना हुआ माल भारतीय बाजारों मे अधिकाधिक बिके। इस प्रकार सरकारी नीति ने भी भारतीय जीवन की बिगडती हुई आर्थिक स्थिति की जान-बूझकर उपेक्षा की। खेती के लिए जमीन की माँग बढने लगी। ऐसी दशा मे जमीन का लगान बढ़ना स्वाभाविक ही था। इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो अधिकाधिक जनता खेती की ओर झुकी और दूसरी ओर खेती से निर्वाह करना भी कठिन हो गया। देश मे गरीबी और बेकारी द्रुतगति से बढने लगी। उपर्युक्त समस्या को हल करने के दो साधन थे। एक तो यह कि देश मे औद्योगीकरण हो और इस प्रकार धरती का भार कम हो और देश का धन-निकास (Economic drain) रुके। दूसरा यह, कि खेती के ढग मे उन्नति की जाय और उत्पादन को बढ़ाया जाय।

१. विशेष विवरण के लिए देखिये डॉ० ईश्वरीप्रसाद : भारत का इतिहास और मौलाना आजाद : इण्डिया विन्स फ्रीडम।

अंग्रेजी सरकार ने अन्त तक भारत के औद्योगीकरण को यथासम्भव रोकने का ही प्रयत्न किया। दूसरी ओर कई कारणो से खेती के ढग मे भी उन्नति नही की जा सकी। पहला कारण यह था कि भारतीय किसान अशिक्षित था और वह पश्चिमी देशो की वैज्ञानिक पद्धति से अनभिज्ञ रहा। दूसरा कारण यह था कि सरकार ने उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक स्वय कृषि को उन्नत करने की दिशा मे भी कोई काम नही किया। तीसरा कारण यह था कि भारतीय उत्तराधिकार नियमो के कारण हर पीढी मे खेतो का विभाजन होता जाता था और विभिन्न स्थानो पर बिखरे हुए खेतो की देख-रेख करना असम्भव था। यदि खेत एक चक और बडे होते, तो उन पर आधुनिक यत्रो का उपयोग किया जा सकता था, किन्तु भारतीय खेतो की स्थिति ही भिन्न थी। अन्तिम कारण यह था कि जो किसान कुछ आगे बढना भी चाहते थे, वे अर्थाभाव से दबे हुए थे। साराश यह है कि विभिन्न कारणो से भारतीय कृषि का पिछडापन दूर नही किया जा सका। आज भी हमारी कृषि मे साधारणतया आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणो का कोई उपयोग नही होता। अन्य उन्नत देशो का उत्पादन हमारे यहाँ से कई गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त जनसख्या मे असाधारण वृद्धि होने के कारण, भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी भयकर खाद्य-सकट का सामना कर रहा है।

इसके परिणाम भयकर हुए। इस काल मे देश को कई दुर्भिक्षो का सामना करना पड़ा। १९४४ मे बगाल का अकाल समाजद्रोही व्यापारियो की लोलुपता एव ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की उदासीनता का परिणाम था, जिसने भारतीय जन-मानस पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला और यहाँ का बौद्धिक वर्ग निराश, कुण्ठाग्रस्त एव यथार्थ से घबराने लगा। उसमे निराशा की एक लहर दौड गई।

इस काल मे १९३० के बाद भारत के औद्योगिक विकास की दिशा मे थोडा-बहुत ध्यान दिया गया और दो एक उद्योग-धधे—यहाँ भी स्थापित किए गए। सरकार ने बहुत से समझौते किए और विदेशो में भारतीय ट्रेड कमिश्नर नियुक्त किए। औद्योगिक अन्वेषण एव शिक्षा के लिए सुविधाएँ देने का प्रयास भी किया गया, जिससे बड़ा लाभ हुआ। प्रान्तीय सरकारो ने भी इस दिशा मे कुछ प्रयत्न किया, पर इन सबमे परस्पर कोई सामंजस्य न था और न एक सुनिश्चित नीति ही थी। फिर भारत जैसे बडे देश को देखते हुए ये सारे प्रयत्न अपर्याप्त थे। सन् १९३७ मे प्रान्तीय स्वाधीनता प्राप्त होने के पश्चात् लोकप्रिय सरकारो ने इस दिशा मे राष्ट्रीय हितों को ध्यान मे रखते हुए ध्यान दिया। काँग्रेस ने प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता मे एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना की। पर इस समिति के कोई विशेष कार्य करने के पूर्व ही दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और राष्ट्रीय हितो की बात धरी ही रह गई। युद्ध की आवश्यकताओ ने भारत के औद्योगिक विकास को

प्रोत्साहन दिया। विभिन्न उद्योगो को सहायता दी गई। हथियार, गोला-बारूद, बिजली के तार आदि युद्ध के आवश्यक पदार्थो को बनाने वाले बहुत से कारखानो की स्थापना की गई, साथ ही उन्ननत औद्योगिक शिक्षा की सुविधाएँ भी प्रदान की गई भारत-सरकार ने द्वितीय युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् अपनी आर्थिक नीति की प्रथम घोषणा की। ६ अप्रैल १९४५ की घोषणा मे यह स्पष्ट किया गया कि इजन बनाने वाले, लोहा व फौलाद, कोयला व मुख्य रासायनिक पदार्थो का उत्पादन करने वाले तथा मशीन-पुर्जे। रेडियो और जहाज बनाने वाले उद्योग-धन्धो के अतिरिक्त अन्य उद्योग धन्धो की स्थापना की जा सकती है। इससे औद्योगिक विकास की दिशा मे निश्चित सहायता प्राप्त हुई, जिसका स्पष्ट परिणाम दो वर्ष पश्चात् स्वाधीनता मिलने पर देखने को मिला।

भारत के औद्योगीकरण के साथ-साथ पूजीवाद और श्रम की समस्याओ का भी आरम्भ हुआ। डॉ० ईश्वरीप्रसाद के मिल-मालिक औद्योगीकरण की दौड मे जल्दी से-जल्दी आगे बढ़ना चाहते थे, पर उन्होने मजदूरो की दशा पर ध्यान देना अपना कर्तव्य नही समझा। आधुनिक उद्योगवाद के अभिशापो से मजदूरो को बचाने के लिए सरकार ने भी कोई हस्तक्षेप नही किया। मिल-मजदूरो को बारह घटे प्रतिदिन काम करना पडता था। दोपहर को केवल आधे घटे की छुट्टी मिलती थी। स्त्रियो को भी लगभग उतने ही घटे काम करना पडता था। छोटे बच्चे भी मजदूरी के लिए भर्ती किये जाते थे। इन मजदूरो का वेतन बहुत कम होता था। उनके रहने के मकानो की कोई ठीक व्यवस्था नही थी। मजदूर बस्तियाँ गन्दी और अस्वास्थ्यकर होती थी। चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नही था। मजदूरो के बच्चो की शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। उनके लिए मनोरजन के साधनो का अभाव था। उनके जीवन की नैतिक दशा बराबर बिगडती गई। दशाब्दियो तक यही क्रम चलता रहा। उसमे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। इस दशा से पूँजीपति आँखे बन्द किए रहे। सरकार भी हाथ पर हाथ रखे बैठी रही और मजदूरो ने भी कोई उल्लेखनीय हलचल नही की। पर मजदूर वर्ग बराबर जगता गया। कष्टो की सामूहिक अनुभूति बढती गई। धीरे-धीरे मजदूरो के सगठन बनने लगे। आरम्भ मे ये सगठन छोटे, स्थानीय और पिछडे हुए थे। प्रथम महायुद्ध के समय महगाई के कारण मजदूरो का जीवन और भी दयनीय हो गया। पूजीपतियो ने अपार धन सग्रह किया, किन्तु उन्होने श्रमिको की दशा सुधारने के लिए कोई प्रयत्न नही किया। फलत मजदूरो मे अशान्ति बढी। हड़ताल के हथियार का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। सयुक्त प्रयत्न और सगठन की सामर्थ्य से सफलताएँ भी हुई और मजदूर सगठन दृढतर होते गए। सन् १९२० मे इस दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। उस वर्ष अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गई। मजदूर आन्दोलन के

फलस्वरूप मिल-मालिको और मजदूरो के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या इतनी महत्वपूर्ण हो गई कि सन् १९२६ मे ट्रेड यूनियन ऐक्ट पास किया गया और मजदूर सगठनो को वैध रूप मे काम करने का अधिकार मिला। इस समय तक देश मे कम्यूनिस्ट पार्टी गुप्त रूप से काम करने लगी थी। उसने ट्रेड यूनियन कॉग्रेस मे भाग लिया और कुछ ही समय मे उस पर अधिकार कर लिया। समय-समय पर अन्य प्रतियोगी सस्थाएँ भी खोली गई किन्तु ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस का प्रभाव बराबर बना रहा। यह ट्रेड यूनियन कॉग्रेस अब भी कम्यूनिस्ट पार्टी के ही प्रभाव मे है। पिछले कुछ वर्षो से इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस ने मजदूरो के लिए एक नया सगठन बना दिया है, जो इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कॉग्रेस के नाम से काम कर रहा है। अस्तु मजदूर-आन्दोलन और सगठन के कारण, सार्वजनिक जाग्रेस की पृष्ठभूमि मे सरकार ने मजदूरो की दशा सुधारने के लिए अनेक महत्वपूर्ण कानून बनाए है और मिल मालिकों ने भी उन्हे अनेक सुविधाएँ प्रदान की हैं। पहले की अपेक्षा मजदूरो का जीवन बहुत सुधर गया है, किन्तु आधुनिक उद्योग-व्यवस्था की बहुत-सी समस्याए अब भी हल करने को पडी हुई हैं।

हिन्दू सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे पिछले अध्याय के प्रारम्भ मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि प्राचीन भारत मे हिन्दू-समाज ने अपना सगठन वर्ण-व्यवस्था के आधार पर किया था। भाई-भतीजे आदि, सब मिलकर संयुक्त रूप से रहते थे। कुटुम्ब का सचालन आयु, अनुभव और पद मे बडे सदस्य के हाथो मे होता था। पारिवारिक आजीविका, पारस्परिक सहयोग पर अवलम्बित थी। सामाजिक सगठन मे स्त्री जाति का मान और समुचित स्थान था। पर्दे की प्रथा अपरिचित थी। विद्याध्यन समाप्त करने के बाद परिपक्व अवस्था मे नवयुवक-गण विवाह करके गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करते थे। समाज-व्यवस्था परिपक्व अवस्था मे नवयुवक-गण विवाह करके गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करते थे। समाज-व्यवस्था परिस्थितियो एव आवश्यकताओ के अनुसार अपने आपको सनुलित करने मे समर्थ थी। सामाजिक सगठन लचीला था। कालान्तर में, धार्मिक, नैतिक आधार के लुप्त हो जाने पर, राजनीतिक पराधीनता के वातावरण मे हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था विकृत हो गई और उसमे विकास तथा प्रगति के द्वार बन्द हो गये। वर्ण-व्यवस्था की दयनीय दशा हो गई। विभिन्न जातियो मे अनेक उप-जातियाँ हो गई। समाज के अविवेक ने उनके बीच की रेखाओ को मिटाने के स्थान पर उन्हे अलघ्य खाइयो के रूप मे परिणत कर दिया। अस्पृश्यता का कलक मानवता का उपहास करने लगा। पुरोहितवाद, कर्मकाण्ड और विकृत परम्पराओं के भवर मे पडकर हिन्दू-समाज बहु-विवाह, बाल-विधवा, सती-प्रथा, पर्दा, शिशु-हत्या और रूढिवादिता के बोझ से डूबने लगा। आधुनिक युग के आरम्भ में हिन्दू-समाज

की ऐसी दशा थी। धार्मिक सुधार-आन्दोलन और आधुनिक शिक्षा ने हिन्दू-समाज-व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। वस्तुत हिन्दुओ का धार्मिक तथा सामाजिक सगठन परस्पर गुँथा हुआ था। इस प्रतिक्रिया से नए आर्थिक ढाँचे की प्रवृत्तियो ने भी योग दिया। इन बातो के फलस्वरूप सामाजिक जीवन क्रमश सुधरने लगा। आरम्भ मे वर्ण व्यवस्था के बधनो के अनुसार विभिन्न जातियो तथा उप-जातियो मे परस्पर खान-पान, विवाह और सामाजिक समागम वर्जित था। विदेश यात्रा निषिद्ध थी। विदेश जाने वालो को प्रायश्चित करना होता था अथवा उनके कुटम्ब को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शिक्षित वर्ग ने क्रमश इन नियमो की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया। आर्थिक परिस्थितियो के प्रहार से विवश होकर सभी लोग विभिन्न प्रकार के व्यवसायो को स्वतन्त्रतापूर्वक करने लगे। आधुनिक औषधियो के सेवन, नलो के पानी, यात्रा और प्रवास की आवश्यकताओ ने जातीय छुआछूत और खान-पान के बन्धनो को शिथिल किया। धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे। वर्तमान स्थिति यह है कि वर्ण-व्यवस्था के बधन पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गए है, किन्तु उनका अस्तित्व अब भी बना हुआ है। विभिन्न जातियो मे पारस्परिक खान-पान मे कोई विशेष झिझक नही है। किन्तु विवाह के क्षेत्र मे जातीय बन्धन बहुत हद तक बने हुए है। वर्ण-व्यवस्था का सबसे अधिक विकृत स्वरूप अछूत वर्ग की समस्याओ मे व्यक्त हुआ। अछूत कहे जाने वाले लोग हिन्दू समाज के अग होते हुए भी हिन्दू समाज मे बहिष्कृत थे। वे हिन्दू मन्दिरो मे जाकर देवताओ की उपासना करने से वचित थे। कुछ स्थानो मे विशेष कर दक्षिण मे, सवर्ण हिन्दू उन अछूतो की छाया मात्र का स्पर्श हो जाने पर अपने आपको अपवित्र समझने लगते थे। उनका आत्म-सम्मान लुप्त हो गया था। निर्धनता और अशिक्षा ने उनका नैतिक स्तर भी गिरा दिया था। उच्छिष्ट भोजन पाकर भी वे अपने आपको धन्य समझने लगते थे। इस अछूतवर्ग की दशा सुधारने का सर्व-प्रथम उल्लेखनीय प्रयत्न ईसाई प्रचारको और आर्य समाज ने 'शुद्धि' द्वारा उनमे से बहुतो को फिर हिन्दू परिधि मे ले लिया। दूसरी ओर स्वयं हरिजन लोग भी अपने मानवीय अधिकारो के लिए आन्दोलन करने लगे। श्री गोखले और बाद मे गाँधी जी ने स्वय उनका पक्ष लिया। उनकी दशा पहले से सुधर गई है। सार्वजनिक स्थानो के उपभोग का उन्हे समान अधिकार है। आपत्ति करने वालो को सरकारी नियमानुसार दण्ड दिया जा सकता है। बहुत से मन्दिरो के द्वार हरिजनो के लिए खुल गए है। अन्य मदिरो मे भी हरिजन-प्रवेश पर प्रतिबन्ध क्रमश दूर होता जा रहा है। रेल यात्रा और आधुनिक यातायात के साधनो ने छुआछूत को मिटा दिया। किन्तु उनकी आर्थिक दशा अब भी बहुत असतोष प्रिय है। परिवर्तित परिस्थितियो मे कुटुम्ब व्यवस्था भी बदल गई है। परिवार के विभिन्न सदस्यो को निजी नौकरी, वाणिज्य अथवा उद्योग के

कारण विभिन्न स्थानो मे रहना पडता है। आय और श्रम मे विभिन्नता के कारण प्रचलित उदारता और सहयोग का अन्त होता जा रहा है। व्यक्तिवाद की वृद्धि हो गई है। अस्तु संयुक्त कुटुम्ब की व्याख्या द्रुतगति से लुप्त होती जा रही है।

भारत मे धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार होता जा रहा था और उसी के अनुरूप भारत मे सामाजिक चेतना भी आती जा रही थी। १६१७ मे भारत मे कुल पाच विश्वविद्यालय थे। १६२२ मे उनकी सख्या चौदह हो गई। इसके पश्चात तो अन्य अनेक विश्वविद्यालय अनेक नगरो मे स्थापित किए गए, जिससे प्रकट होता है कि लोगो मे धीरे-धीरे जागरूकता की वृद्धि हो रही थी। उसका एक अच्छा परिणाम तो यह हुआ कि जाति-पाँति के जो बन्धन अभी तक लोगो को जकडे हुए थे, वे अब शिथिल होते जा रहे थे। परम्पराओ के प्रति लोगो का मोह धीरे धीरे कम होता जा रहा था। अब अपनी जाति, अपना वर्ग और अपनी विरादरी जैसी रूढ भावनाओ की तीव्रता कुछ अशो मे न्यून होती जा रही थी और उसके स्थान पर विश्व-बन्धुत्व की भावना लोगो को प्रभावित करने लगी थी,जिससे लोग शीघ्र ही स्वाधीनता प्राप्त कर अपने देश के नव निर्माण के सपने देख रहे थे, पर सम्मिलित परिवार की टूटती प्रथा मे कोई स्थिरता नही आ रही थी, वह निरन्तर टूटती और विशृंखलित होती जा रही थी। नारियो की अवस्था इस युग मे भी बहुत अधिक नही सुधर पाई थी। दहेज की ऊंची माँगो के कारण लड़कियो के लिए योग्य वरो से सम्बन्ध स्थापित करने मे कठिनाइयाँ उपस्थित होती थी, जिससे उनका जीवन बहुत अधिक सुखमय नही हो पाता था। यद्यपि कहा गया है। दहेज-प्रथा धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। पर सच तो यह है कि वह अभी तक एक अभिशाप के रूप मे पली आ रही है। विधवा विवाह अभी भी सामाजिक मान्यता नही प्राप्त कर सके थे और बाल-विवाह के कारण अधिकाश बालक-बालिकाओ को अपने स्वास्थ्य से हाथ धोना पडता था। पति की अकाल मृत्यु पर नासमझ उम्र की बालिकाएँ, जो विधवा बन जाती थी, हमारे समाज की रूढ परम्पराओ के कारण बहुत दुख से बचने के लिए अनेक नारियाँ गलत दिशा मे जाने लगी और रूढ परम्पराओ का दुष्परिणाम वेश्यावृति के रूप मे प्रकट होने लगा। समाज सुधारको ने धीरे-धीरे सामाजिक क्रान्ति लाने का प्रयास किया और विधवा-विवाह की आवश्यकता पर बल देते हुए देश के तरुणो को उस दिशा मे प्रोत्साहित भी किया, पर इसका कोई उत्साहजनक परिणाम नही हुआ। विधवा नारियो की समस्या ज्यो-की-त्यो बनी रही। यह आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक युग मे भी पर्दे की प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त होने के बजाय कुछ बढ ही गई। इस दिशा मे भी कोई विशेष प्रगति नही हुई। पर दूसरी ओर जहाँ तक नारियो की प्रगतिशीलता का प्रश्न है। वह उत्साहहीन नही रहा। नारियो मे अनेक सामाजिक सगठन स्थापित हो गये थे और नारियाँ उनके माध्यम से सामाजिक कार्यों

तथा भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन मे सक्रिय भाग ले रही थी। अब लडकियो के अभिवावक उनकी उच्च शिक्षा के प्रति उदासीन नही रहते थे और नारी-शिक्षा मे वृद्धि होने लगी।

यह तो हुई नारियो की बात। पर देश के दुर्भाग्य से उनका सामाजिक ढाँचा सुदृढ होने के बजाय रोज बिगडता ही जा रहा था। हिन्दू मुसलमानो का वैमनस्य प्रतिदिन बढ रहा था। हिन्दुओ ने बार-बार अपनी परम्परा एव संस्कृति के अनुसार मित्रता और सद्भाव का हाथ मुसलमानो की ओर बढाया, पर स्वार्थी, कुत्सित भावनाओ से पूर्ण, सकुचित दायरे मे बढे, नाम की लालसा मे पागल मुस्लिम नेताओ के नेतृत्व मे मुसलमानो ने मित्रता और सद्भावना से प्रेरित असख्य बाहो को ठुकरा दिया और पाकिस्तानी स्वर्ग की कल्पनाओ मे हिलोरे मारने लगे हिन्दुओ ने अपनी गौरव शाली परम्परा के अनुरूप ही बराबर मुसलमानो को अपना भाई समझा और उन्हें अपनी पलको पर बिठाया,पर मुसलमानो के हृदय मे उनके नेताओ ने हिन्दुओ के के प्रति अत्यन्त घृणा एव विद्वेष का भाव भर दिया था तथा सारे देश का वातावरण विषाक्त कर दिया था। हिन्दुओ के प्रति विष उगलना ही उन्होने अपना धर्म बना लिया था। यह हिन्दुओ की सहिष्णुता और उदारता थी कि १५ अगस्त, १९४७ को पाकिस्तान का निर्माण हुआ। यहा एक बात मुख्य है कि यह कहा जाता है और इस बात का प्रचार किया जाता हैं कि मुसलमानी जिद से ही पाकिस्तान का निर्माण हुआ। पर सत्य तो यह है कि यह हिन्दुओ की उदारता और अपने मुस्लिम मित्रो को सन्तुष्ट करने की भावना के ही कारण हुआ। यद्यपि इसका उन्हें बहुत बडा मूल्य चुकाना पडा। अपने हृदय के टुकडे को काटकर उन्होने पाकिस्तान बनने पर सहमति दी। इस प्रकार हम देखते है कि १५ अगस्त, १९४७ तक प्रायः सभी समस्याएँ लगभग वैसी ही बनी रही, जैसीकि पिछले युग मे थी। इसका प्रमुख कारण यही है कि अंग्रेजी साम्राज्यवादी भारत के चतुंमुखी विकास के लिए किंचित् मात्र भी उत्कसुक नही थी। १९४७ के पश्चात् समस्याएँ अवश्य परिवर्तित हो गई, जिसने अगले चरण की कहानियो पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। इस युग की पृष्ठ भूमि की व्याख्या के पश्चात् समस्याओ को सक्षेप मे हम इस प्रकार निर्धारित कर सकते है:

१—स्वाधीनता प्राप्ति की समस्या इस युग मे भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही।

२—अंग्रेजी साम्राज्वादियो द्वारा 'प्रोत्साहित' न किए जाने पर आर्थिक निर्माण की समस्या प्रायः सभी चेतन-सम्पन्न भारतीयो के सम्मुख प्रस्तुत थी। भारतीयो को खादी वस्त्रो को पहनने के लिए कांग्रेस द्वारा उत्साहित किया जाता था, जिससे हथकरघों पर बने वस्त्रो की बिक्री हो सके और जहाँ तक सम्भव हो सके। भारत का धन देश के बाहर जाने से रोका जाय। इसी प्रकार के अन्य उपाय भी

किए जाते थे ।

३—जिस प्रगति शील और जागरूक वातावरण को तैयार करने का कार्य पिछले युग मे प्रारम्भ हो गया था वह इस युग मे भी चलता रहा इसका अच्छा परिणाम यह हुआ कि लोगो मे शिक्षा का महत्व घर कर था, जिससे परम्पराओ के प्रति उनका मोह और धार्मिक आडम्बर प्राय. टूट गये थे । अब सात समुद्र पार जाने लोगो को कोई बुराई नजर नही आती थी । पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि लोग पूर्ण रूप से जागरूक हो गए थे । समस्याएँ तो ज्यो-की-त्यो ही बनी हुई थी । हाँ उस दिशा मे धीरे-धीरे सफलता अवश्य ही प्राप्त हो रही थी ।

४—विधवा नारियो की समस्या समाज के सम्मुख एक प्रश्न चिन्ह था । दूसरे नारी-समाज के सामने एक और प्रमुख समस्या थी कि वे पुरषो द्वारा केवल इसलिए नियत्रित थीं कि वे आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र और पुरुषो के आश्रित हैं ? अर्थात नारी की मुक्ति किसमे हैं ? केवल विवाहित जीवन मे, अथवा वह अपना जीवन मापन गौरवपूर्ण ढग से कर सकती हैं ।

५—सामाजिक व्यवस्था की शृ खलाएँ टूट गई थी, उन्हे नये सिर से जोड नए समाज की रचना की समस्या अभी भी थी । उसके लिए जो प्रयत्न किए जा रहे थे, उसमे विशेष सफलता नही प्राप्त हो रही थी ।

६—स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् बहु सख्या मे आये हुए शरणार्थियो के बसाने की समस्या, हिन्दू मुस्लिम एकता की समस्या, देश के नवनिर्माण और आर्थिक पुनरूत्थान की अन्य समस्याएँ भी इस युग मे थी ।

इसका भारतीय जीवन पद्धति पर क्या प्रभाव पडा, यह प्रश्न विचारणीय है । डॉ लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय के अनुसार अग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण उन्नीसवी शताब्दी मे जिन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था उनका पूर्ण विकास बीसवी शताब्दी मे मिलता है । वास्तव मे उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध मे नवीन शिक्षा, वैज्ञानिक आविष्कारो, प्राचीन सस्कृत साहित्य के अध्ययन, पुरातत्व विभाग की खोजो आदि के फलस्वरूप समाज, धर्म स्त्री-शिक्षा, राजनीति आदि के क्षेत्र मे जो स्फूर्ति और चेतना उत्पन्न हुई थी, और जो इतिहास मे भारतीय पुनरूत्थान की भावना से अभिहित की जाती है, उसी चेतना या पुनरुत्थान की भावना का विकसित रूप या द्वितीय चरण ही बीसवी मिलता है । स्वामी दयानन्द अथवा नवीन शिक्षा के फलस्वरूप स्वय सनातन धर्म मे सुधार की भावना के फलस्वरूप समाज और धर्म मे सुधार की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गई । भारतवासियो ने मध्ययुगीन सामाजिक एव धार्मिक प्रथाओ का परीक्षण किया और उनके स्थान पर वैज्ञानिकता पर आधारित प्रथाओ को जन्म देने की चेष्टा की । साथ ही नवयुग के अनुकूल उपनिषद-और गीता-धर्म की स्थापना की गई । एक निर्धन, पराधीन और

विभिन्न धर्मावलम्बियो से बसे हुए देश को कर्मठ और सगठित बनाने के लिए उपनिषद और गीता-धर्म से अधिक श्रेष्ठ और दूसरा धर्म हो ही क्या सकता था। ईश्वर भी मानव- सापेक्ष्य बना। वह मन्दिर, मस्जिद, और गिरजाघर मे निवास न कर गरीबी की झोपडियो मे निवास करने लगा। दूसरे शब्दो मे, मानव की सेवा ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन बनी और इस प्रकार उपनिषद और गीता धर्म के साथ सेवा-धर्म को भी महत्व दिया गया। यह सेवा धर्म भी एक निर्धन,पराधीन, अशिक्षित, अंध परम्पराओ से सवेष्टित देश के जीवन के प्रसग मे उचित ही था। लोकमान्य तिलक, श्रीमती ऐनी बेसेंट, स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, लाला लाजपत राय, योगी अरविंद, रमण महर्षि, महात्मा गाँधी आदि भारत के आधुनिक निर्माताओ ने उपनिषदो और गीता पर आधारित यही सेवा धर्म ग्रहण किया। उसका प्रचार एव प्रसार किया। बहु देववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद पर बल दिया गया भारत के प्राचीन गौरव के प्रति निष्ठा होना तो ऐसी परिस्थिति मे स्वाभाविक ही था। भारतवर्ष के जगद्‌गुरुत्व की स्थापना करने की आकाक्षा फिर से उत्पन्न हुई। किन्तु इस जगद्‌गुरुत्व की स्थापना के लिए देश का स्वतन्त्र होना अनिवार्य स्वीकारा गया, क्योकि निर्धनो और दासो की न तो कोई सस्कृति होती है और न धर्म तथा दर्शन। अत देश का सारा सामूहिक प्रयास स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ओर लग गया और फलत· सामाजिक एव धार्मिक सुधारो की ओर अधिक ध्यान न जाकर लोगो का ध्यान राजनीति पर अधिक केन्द्रित हो गया। आर्य समाज का प्रभाव अभी बना हुआ था, यद्यपि वह धीरे-धीरे देश के व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन मे घुलामिल रहा था, और वैसे भी देश मे सुधार की भावना विद्यमान थी। किन्तु यह सुधार भावना सिद्धान्त रूप मे अधिक और व्यवहारिक रूप मे कम थी। गाँधीजी के राजनीतिक आन्दोलन मात्र राजनीतिक आन्दोलन नही थे। उनके आन्दोलनो ने महिला जगत् मे क्रान्ति मचा दी और स्त्रियो को वे अधिकार स्वयमेव प्राप्त हो गये, जिनके लिए यूरोप की स्त्रियो को काफी दिनो तक संघर्ष करना पडा था। अछूतोद्धार तथा अन्य अनेक सुधारो की दृष्टि से भी गाँधीजी के आन्दोलन प्रेरणा स्रोत बने। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतवासियो का यूरोप के साथ सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढता चला गया और साथ ही देश मे राष्ट्रीय भावना की लहर फैलती चली गई। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और बाल गगाधर तिलक ने धर्म, अध्यात्म और राजनीति मे भारतवर्ष की श्रेष्ठता प्रारम्भ से ही घोषित की। इस आदर्श भारतीय साहित्य पर प्रभाव पडे बिना न रह सका। १९०४ मे वर्ग-विच्छेद के कारण उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलनो के फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना को बल प्राप्त हुआ। देश का मध्यम वर्ग अब काफी जग गया था। स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय साहित्य और ललित कलाओ की गतिविधि निर्धारित की और प्राचीन सिद्धान्तो के

प्रकाश मे उनका नवीन सस्कार होने लगा। स्वदेशी आन्दोलन के पश्चात् १९२१ मे महात्मा गाधी द्वारा प्रचलित सत्याग्रह आन्दोलन भी एक महत्वपूर्ण आन्दोलन था। सत्याग्रह आन्दोलन ने निश्चित रूप से साहित्य, समाज और धर्म मे नवीन चेतना उत्पन्न की। उसके साथ-साथ आर्य समाज ने भी अपने विविध सुधार जारी रखे, जिससे साहित्यिक रचनाओ के लिये अनेक विषय और उपादान मिले। देश से बाहर की घटनाओ मे १९०४ मे रूस-जापान युद्ध मे जापान की विजय का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। रूस जैसी महान् शक्ति पर जापान जैसे छोटे और पूर्वी राष्ट्र की विजय से भारतवासियो मे नवीन आशा का सचार हुआ। १९१४ १८ और १९३९-४५ के दो महायुद्धो ने हिन्दी साहित्य मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया और हिन्दी के साहित्यिक पहले से भी कही अधिक विदेशी भाषाओ और साहित्यो के सम्पर्क मे आये और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक, आदि विचार धाराओ से प्रेरित और प्रभावित हो साहित्य-सृष्टि करने लगे।

इसने धीरे-धीरे निश्चित रूप से भारतीय साहित्य मे परिवर्तन की नवीन दिशाएँ लक्षित होने लगी और एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात हुआ। न केवल शिल्प-प्रयोग या आधुनिक कहानी शिल्प के उपयोग की ओर ही कहानीकारो का ध्यान गया, वरन् मनोविज्ञान, समाजवाद, मनोविश्लेषणवाद और व्यक्तिवाद आदि विभिन्न विचारधाराओ का सस्पर्श भी हिन्दी कहानीकारो को प्राप्त हुआ फलस्वरूप कहानी के तथ्य और कथन दोनो पर ही विशिष्ट प्रभाव पडा। 'आधुनिक काल की भूमिका यह बताया जा चुका है कि अँगरेजो की विजय के बाद भारतवर्ष मे अनेक राजनीतिक आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक विषमताएँ उत्पन्न हो गई थी और हिन्दी के अनेक लेखको ने जन-जीवन को सुधारने की दृष्टि से उच्चतम आकाँक्षाओ की व्यजना की उन्होने जीवन की कुरुपताओ पर दृष्टिपात कर पीडितो और दलितो की सुख-समृद्धि का पक्ष लेकर साहित्य का मार्ग आलोकित किया था। यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है कि अँगरेज शासको की आर्थिक और राजनीतिक नीति के फलस्वरूप भारतीय समाज की बुनियाद ही बदल रही थी और चीजो तथा माल तैयार करने के तरीको तथा वर्ग-सम्बन्धो, सभी मे भारी परिवर्तन हो रहा था। भारतीय सामन्तो और पूँजीपतियो ने साम्राज्यशाही के साथ सहयोग प्रदान कर देश की जनता को पीस डाला। इसी समय भारत को राष्ट्रीयता का सदेश मिला और प्रजातन्त्रवादी भावनाओ से स्फूर्ति ग्रहणकर जनता ने एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण ग्रहण किया। नवीन विचारो के प्रचार से रूढ़िग्रस्त सामाजिक ढाँचे का सारा महत्व जीर्ण-शीर्ण हो चला था। और यह प्रक्रिया भारतवर्ष मे ही नही, ससार के सभी देशो मे चल रही थी। पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था ने सब देशो मे haves और have-nots के विभाजन द्वारा विषय परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। उत्पत्ति और वितरण के साधनों

पर पूँजीवादी-साम्राज्यवादी वर्ग का एकाधिपत्य स्थापित हो जाने से भयकर दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहे थे। ऐसे ही प्रधान कारणो से रूस मे राज्य-क्रान्ति हुई है और १९१९ मे जार शाही का अन्त हो जाने पर मार्क्सवाद से प्रेरित बोल्शेविक पार्टी की सत्ता स्थापित हुई और साम्यवादी विचारधारा ने साहित्य मे एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म दिया। भारतवर्ष मे नवीन चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न मानवतावाद और पीडितो तथा दलितो के प्रति सहानुभूति के साथ प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप विश्व-पूँजीवादी के विकास मे अवरोध और उसके फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता पर उसका प्रहार, स्वतन्त्रता आन्दोलन की उन्नति, दमन की बाढ और असहयोग द्वारा जनता का उद्धार, मजदूरो का सगठन, हडतालो का चलन, पूँजीवाद का निकृष्टतम और विश्व-साम्राज्यवाद का कुत्सित रूप और सस्कृति तथा प्रगति के भीषण शत्रु फासिज्म और नात्सीज्म का उत्थान आदि कुछ ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ थी, जिनका समाज और अन्त मे साहित्य मे व्यक्त होना अवश्यम्भावी था। मानव को केवल व्यक्ति के रूप मे ही नही, समष्टि के रूप मे भी देखा जाने लगा और मानवीय सस्कृति को सामूहिक शक्ति का आधार मिला। पढे—लिखे लोगो ने मानसिक उथल-पुथल का अनुभव किया और ज्यो-ज्यो चेतना विकसित होती गई, त्यो-त्यो प्रत्येक वर्ग का स्थान और उसका कार्य क्षेत्र स्पष्ट होता गया और मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के स्थान पर नवीन पार्टियो, नवीन शक्तियो और नवीन भावनाओ का उदय होने लगा। भारतीय राजनीति मे इन विचारो को लेफटिस्ट' (वामपथी) कहा गया है। १९३० मे भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। धीरे-धीरे साहित्यकारो पर भी जन-सामान्य की भावना का स्पर्श करने वाले रूस के साहित्य का प्रभाव पडने लगा और १९३६ मे 'प्रगतिशील लेखक' सघ की स्थापना हुई।

यह विस्तृत पृष्ठभूमि इस युग की कहानियो को समझने मे विशेष सहायक होगी। मैंने ऊपर कहा कि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध ने जिस प्रकार यूरोप और दूसरे देशो मे नैराश्य, कुठा, घुटन और विभ्रान्तता उत्पन्न कर दी थी, उसे इस युग के कहानीकारो ने अपने ऊपर सायास ढग से ओढ लिया और पलायनवादी बन गये। भारतीय जीवन पद्धति मे नव—उत्साह था, सघर्ष की प्रेरणा थी और अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये मर मिटने की भावना थी—और यहाँ वह नैराश्य न था, पर इस युग के कहानीकारो ने (कुछ अपवादो को छोड कर) मात्र फैशन के तौर पर ही वह विदेशी कुठा, निराशा और घुटन अपनी कहानियो पर आरोपित कर एक विचित्र आत्मपरक एव पलायनवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया, इसका आगे यथा स्थान उल्लेख किया जायेगा।

युगीन कहानियो का कलात्मक आधार

प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानियो को एक निश्चित दिशा प्रदान की थी और उसे

विकास के चरमोत्कर्ष की ओर ले जाने का अथक परिश्रम किया था, किन्तु युग हर क्षण परिवर्तनशील है। विश्व प्रत्येक क्षण नई करवट लेता रहता है। यह युग क्रान्ति का युग था, जिसे भारतीय पुनरुत्थान काल की सज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है। प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान इस युग की विशेषता है। विज्ञान ने लोगो को अधिक तार्किक शक्ति प्रदान की थी। अब प्राचीन रूढिवादी परम्पराओ समाज की सकुचित सीमाओ तथा जीवन मे स्थिरताओ के प्रति लोगो को कोई मोह नही रह गया था। वे अब जीवन मे विविधता की आकाँक्षा करने लगे थे। यह नवीन भावना अब लोगो को अत्यधिक प्रभावित करने लगी थी और कहानीकारो ने इसे हृदयगम कर लिया था। अब उन्होने युग की समस्याओ को अधिक पैनी दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। वे अब उसे तर्क की कसौटी पर कस उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना चाहते थे। आदर्शवाद-मात्र अब उनकी दृष्टि मे न था। उन्होने मानव मन के अन्तरमन मे पैठकर उसके अन्तर्द्वन्द्वो और आन्तरिक प्रवृत्तियो को समझने का प्रयास किया। इस प्रकार इस युग की कहानियो की दिशा ही पूर्णतया परिवर्तित हो गई। जिन प्रवृत्तियो को पिछले युग के कहानीकार या तो समझ ही नही पाये, या समझते हुए भी उन्होने उसकी अवहेलना की और जबर्दस्ती समस्याओ पर आदर्शवादी आवरण डालने का प्रयास, इस युद्ध के कहानीकारो ने उन्ही प्रवृत्तियो को महत्ता प्रदान की। मानव मन मे अनेक प्रकार के भाव ज्वार-भाटे की भाँति उठते-गिरते तथा बनते-बिगडते रहते है, उनका सम्यक् चित्रण करना ही इस युग का नया कहानीकार अपनी सार्थकता समझने लगा। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप मे कल्पित करके उसे अपने साहित्य का आलम्बन बनाया था और प्रेमचन्द के समसामयिक प्राय सभी कहानीकारो ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई के रूप मे अस्वीकृत किया। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, आत्मपरक भावना, पलायनवादी प्रवृत्ति, मनोविश्लेषण तथा अन्तश्चेतनावाद के सूक्ष्म विवेचन से मानव जीवन की समस्याओ का नया अध्ययन और उनका मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। अत इस युग की कहानियो को हम दो भागो मे बाँट सकते है :

१ जीवन के सामाजिक यथार्थ एव युग-बोध तथा भाव-बोध को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ।

२. आत्म-परक दृष्टिकोण को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ।

जीवन के सामजिक यथार्थ एव युग-बोध तथा भाव-बोध को लेकर लिखी जाने वाली कहानियो की परम्परा मुख्यत प्रेमचन्द की कहानियो की परम्परा का ही विकास है, जिसे यशपाल, विष्णु प्रभाकर, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, अमृतराय, बलवंतसिंह, भगवतीचरण वर्मा तथा भैरव प्रसाद गुप्त आदि कहानीकारो ने आगे बढ़ाया। एक आलोचक ने इस युग की सामाजिक कहानियो के सम्बन्ध मे ठीक ही

लिखा है कि ये कहानियाँ पिछले युग की कहानियो का विकास है। 'सामाजिक कहानियाँ समाज के आधुनिक स्वरूप और उसकी समस्याओ को लक्ष्य करके लिखी जाती है। समाज की समस्याओ एव विषमताओ का हल या समाधान इनका लक्ष्य नही होता। ये उनका वास्तविक स्वरूप, यथार्थ चित्रण, उनकी भीषण एव उनकी प्रवृत्तियो को हमारे सामने उपस्थित करती है। कहानियो के रूप मे उनका मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है। प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' आदि कहानी लेखक जब आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर इन समस्याओ को चित्रित करने बैठते हैं, तब ये समस्याएँ इतने भीषण रूप मे हमारे सामने नही आती थी। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि इन लेखको के सामने प्राचीन नीतिशास्त्र था, प्राचीन आदर्श थे और उनकी नित्यता पर विश्वास था। भौतिकवादी दृष्टिकोण की यथार्थता इनके सामने इतने भयानक रूप मे नही आई थी कि सब कुछ आधी के तिनके की तरह लगने लगता। दूसरा कारण यह हो सकता है कि इनके सामने की सामाजिक अवस्था इतनी विषम नहीं थी जितनी आज है। जब जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी नही हो पाती तब मनुष्य क्या-क्या कर डालता है, यह आज हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सामने धर्म दर्शन, जीवन की अन्य अमूर्त्त मान्यताएँ, नीति की ऊँची-ऊँची बातें, सब हवा हो जाती है। इस युग के पूर्वार्द्ध मे समाज सुधार, जैसे अछूत-उद्धार, विधवा विवाह, बाल विवाह, सम्बन्धियो की स्वार्थ वृत्ति आदि कहानी के विषय थे। उस समय समाज की बाहरी या अपनी बुराइयो का विषमताओ का ही चित्रण का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण होता था। वहाँ समाज की प्रवृत्तियो का सुधार चित्रित होता होता था। गरीबी उसकी प्रवृत्तियो का सूक्ष्म अध्ययन और उसके आधार पर किया गया वैज्ञानिक, सूक्ष्म एव क्रान्तिकारी विद्रोहात्मक चित्रण नही था। यह अध्ययन काल के उत्तरार्ध मे हुआ। उस समय का दृष्टिकोण व्यक्तिगत था व्यापक सामाजिक या ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर विनिर्मित विस्तार एव पूर्णता युक्त नही था। दृष्टि मे यह नवीनता नही था। समाज के अन्दर ये विचार एवं ऐसी परिस्थितियाँ उस समय भी थी।' यह स्मरणीय है कि उस समय सयम, मर्यादा, मूल्यो की प्रतिष्ठा तथा आदर्श की स्थापना आदि प्रश्न कहानीकारो के सामने थे, पर आज उनके सामने प्रश्न यथार्थ का है।

इस युग की कहानियो के कथानक दो रूपो मे प्राप्त होते है·

१. स्थूल कथानक वाली कहानिया

२. कथानक के ह्रास की कहानियाँ

जीवन के सामाजिक यथार्थ एव युग-बोध तथा भाव बोध को लेकर लिखी जाने वाली कहानिया में मुख्यतः स्थूल कथानको वाली कहानियां ही प्राप्त होती हैं। इनमे घटना-प्रधान कहानिया अधिक है, जिनमे जीवन की व्यापक सवेदनाओ को यथार्थ

परिवेश में चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इसके विपरीत आत्मपरक दृष्टिकोण को लेकर लिखी जाने वाली कहानियो मे मनोविज्ञान का अधिक आश्रय ग्रहण किया गया है और उनमे कथानक का पूर्ण ह्रास लक्षित होता है, उन कहानियो में वातावरण, पात्र, सवेदना या मनःस्थितियो का चित्रण किया गया है। इन कहानियो मे ही शिल्प प्रयोग प्राप्त होते, हैं और अवचेतन विज्ञप्ति या चेतन प्रवाह पद्धति (Stream of Consciousness) प्रतीक योजना, साकेतिकता एव बिम्बो आदि की नवीनतम शिल्प प्रणालियो का उपयोग किया गया है। ये कहानियाँ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई है और अधिक व्यजनात्मक तथा बौद्धिक हो गई हैं। पहली श्रेणी की कहानियो का प्रारम्भ इस प्रकार होता है "ज्योतिषियो ने अभूतपूर्व दैवी प्रकोपों और भयकर घटनाओ से व्यापक सहार की भविष्यवाणी की थी . फरवरी के प्रथम सप्ताह मे आठ परस्पर-विरोधी ग्रह एक रेखा मे आ रहे है। उनके प्रभाव से प्रकृति के तत्व और महामतियो के मस्तिष्क भी विचलित हो जाएगे। विश्वास भीरु लोग काँप रहे थे : 'क्या नही हो जाएगा ?'

कारोबार के लिए दूर-दूर बिखरे परिवारो के लोग आशका और भय से एकत्र हो गए थे। सर्वनाश के समय कम से कम एक साथ तो रहेगे।

नगर मे हमारे ममिया ससुर की बहुत बडी तिमजली हवेली है। उन्होने भूकम्पो से सपरिवार दबकर समाप्त हो जाने की आशका से अपनी देहात की जमीन में काम चलाऊ झोपडियाँ बनवा ली थी। अष्टाग्रह के एक दिन पहले ही देहात चले जाने की तैयारी कर ली थी। हमे भी साथ चलने के लिए समझाने आये थे।

पिताजी के मित्र मुंशीजी सन्ध्या समय अमीनाबाद से चौक लौटते है। गली के सामने से गुजरते हुए चाय के समय का अनुमान कर हाल-चाल पूछने के लिए पुकार लेते हैं। उस दिन भी आ गये थे। मुशी जी के फलित ज्योतिष मे हमारे मामाजी से भी अधिक विश्वास है। वह बोल पडे, 'विधि का लिखा को मेटन हारा' भाग्य से कोई बच सका है ? अपने देहात में झोपडिया बनवा ली हैं, भाग्य क्या वहा साथ नही जाएगा ? धरती फटकर झील बन जाए। बिहार के भूकम्प मे धरती फटकर जल नही निकल आया था ! गाँव डूब गये थे ?" उन्होने तर्जनी से ऊपर की ओर सकेत किया, 'हम तो कहते हैं, उसे बचाना है, तो बचाएगा ही।"[1]

दूसरी श्रेणी की कहानियो का प्रभाव इस प्रकार होता है .

"वे दोनो उस टीले की चोटी पर खडे थे। चारो ओर काले-काले बादल घिरे हुए थे, धारासार वर्षा हो रही थी, टीले के नीचे घहराता हुआ ह्वांगो हो नदी का प्रवाह था और जहा तक दृष्टि जाती थी, पानी-ही-पानी नजर आता था।

---

१ यशपाल : फलित ज्योतिष, (सारिका : अगस्त १९६२), बम्बई पृष्ठ १५

वे दोनो वर्षा की तनिक भी परवाह न करते हुए टीले के शिखर पर खडे थे ।

वह चीनी प्रजातन्त्र सेना की वर्दी पहने हुए था, और भीगता हुआ सावधान मुद्रा मे खडा था ।

स्त्री ने एक बडी-सी खाकी बरसाती मे अपना शरीर लपेट रखा था । उसके वस्त्राभूषण कुछ भी नही दीख पडते थे । उसने वेदन-भरे स्वर मे कहा, "मार्टिन, तुम्हे भी अपना घर डुबा देना होगा । मेड काट देना, नदी स्वय भर आयेगी ।"

मार्टिन कुछ देर चुप रहा । फिर बोला, "क्रिस, क्या इसके अतिरिक्त कोई उपाय नही है ?"

स्त्री ने चौककर कहा, "मार्टिन, यह क्या ? सेनापति की जो आज्ञा है, उसका उल्लघन करोगे ?"

"उल्लघन नही । लेकिन अगर बिना शत्रु को आश्रय दिये ही घर बच जाय, तो क्यो न बचा लिया जाय ?"

"औरो के भी तो घर थे ?"

'वे किसान थे, मैं राष्ट्र का सैनिक हू । शायद अपने घर की शत्रु से रक्षा कर सकू ।"

"मार्टिन तुम्हे क्या हो गया है ? तुम अकेले क्या करोगे ? हम सब यहा से चले जाओगे । शत्रु के लिए इतना विशाल भवन छोड दोगे, तो हमारे बलिदान का क्या लाभ होगा ? हमने अपने घर डुबा दिये हैं, केवल इसीलिए कि शत्रु को आश्रय न मिले, और तुम अपना घर रह जाने दोगे ?"[1]

इन दोनो श्रेणियो की कहानियो का विस्तार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है । पहले मे स्थूलता अधिक है, दूसरे मे सूक्ष्मता । पहले मे जीवन का यथार्थ प्रतिध्वनित होता है, दूसरे मे द्वन्द्वो एव घात-प्रतिघातो का विश्लेषण । पहली श्रेणी मे कहानी का विस्तार इस प्रकार होता है :

"१६ जून, १९५४ ।

आज मै बहुत प्रसन्न हू । सचमुच बहुत प्रसन्न हू, क्योकि आज मेरी पहली कहानी छपी है । मैं जैसे उडा जा रहा हू । पर इस हर्ष को किससे बाटू, किससे कहु मन की बात । कहा ढूढू मन का मीत ··?

यही आकर अशोक सहसा एक दीर्घ नि श्वास खीचता है और स्मृतियो की कडी उसी क्षण अचानक टूट जाती है । इसी टूटने के साथ वह फिर बिल्कुल अकेला रह जाता है । वह निश्वास उसे अतीत से वर्तमान मे लाकर खडा कर देता है और उसी के साथ जो दुस्वप्न उसे परेशान कर रहा था, वह जैसे दूर होने लगता

---

१. अज्ञेय : अमर वल्लरी और अन्य कहानिया, (अकलंक-कहानी), पृष्ठ ८५

है। वह अनुभव करता है, जैसे सुनीता ने उसे चुनौती दी थी और वह चुनौती उसके रोम-रोम मे एक जुदाई सम्मोहन भरती जा रही है। जैसे वह जाग रहा है। वह जाग गया है। वह मुक्त हो गया है। वे स्मृतिया कच्ची धूप मे सिमटी पुराने खण्डहरो की छाया की तरह मौन हो जाती हैं और वसन्त की मादकता मानो मदिरा के नशे की तरह जकडने लगती है। वह इतना सुखी कभी नही हुआ था। वह कुछ क्षण आखें बन्द करके उस सुख को भोग लेना चाहता है। उसे व्यतीत से छुटकारा मिल गया है। वह सम्पूर्ण वर्तमान उसका है। सम्पूर्ण प्यार उसका है।

रात काफी बीत चुकी है। मौन ने वातावरण को अपने आलिगन मे बांध लिया है। दोनो एक दूसरे की आखो मे झाँकते हुए जैसे खो गए हैं। लेकिन वह शीघ्र ही अपने को उस वातावरण से तोड लेता है। जल्दी-जल्दी कपडे पहनता है और तेजी से बाहर निकला चला जाता है। नीचे सब कही मौन है। उसके अपने पैरो की पदचाप ही उसकी एकमात्र सगिनी है, जैसे दोनों सग-सग स्लीपवाकर की तरह चले जा रहे हो और उनके स्वर प्रतिध्वनि बनकर गूज रहे हो। लेकिन कौन किसकी प्रतिध्वनि है, यह पहचानना कठिन हो जाता है। वह एक दूसरे में सिमटे मकानो के पास से गुजरता है। खुली सडको को पार करता है। घने छायादार वृक्षो के नीचे से गुजर जाता है, जिनकी टहनिया और पत्ते इस समय स्तब्ध हैं। उसका मन करता है कि वह यही हरी घास पर दो क्षण लेट जाये। न जाने कितनी बार इस पार्क के एकाकी कानो मे उसने अपने अकेलेपन को सहलाया है।

लेकिन सहसा उसे लगता है कि वह अब और अकेला नही है। कोई अनजाने प्यार उसे घेरता आ रहा है। वह उसे धकेल नही सकेगा, उसे स्वीकार करेगा[1]

"डेपुटेशन के लोग चले गये और वह लम्बे डगो से टहलता ही रहा। आरम्भ किया भाषण पूरा करने मेज पर जल्दी नही आ गया अन्त मे टहलते-टहलते वह मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखा, लिखा कहे कि खीचा—

SWARAJ LOVE INDEPENDENCE MARRIAGE

Swaraj is our birth right—as indisputable elsewhere as in politics,

But there is marriage too Marriage gives man a foot hold, society a unit. It gives a home

Alright. Perfectly alright But—? And there is love in the human breast Love gives us glow, gives us bliss Love makes us transcend the physical and touch the spiritual That makes us

१. विष्णु प्रभाकर . आघात और मुक्ति, (सारिका . सितम्बर १९६५), पृष्ठ ११

reach out beyound the here and the now, reach out with the eternal varity of life

God made love Did God make a marriage also ? No, man did the making of it And I say love is not chaos It is never that. Never. Never !

Ah, how slavish of me thus unwittingly to use English. Must write Hindi !

हिन्दी-हिन्दी । हिन्दी हमारा देश, हिन्दुस्तानी है हम, हिन्दी हमारी भाषा, हिन्दी हमारा बाना—भाइयो !

हरीदपुर—२३ मील सबेरे की गाडी, मै नही जा सकता ।

Oh Damn it all ! make a misery of it—Dear Jairaj, mind, lest—

इतना बनाकर वह सिर को हाथो मे थामे मेज से उठ खडा हुआ और भूल गया कि एक हफ्ते मे उसे अपना सभापति का भाषण जिला कान्फ्रेस के स्वागत मन्त्री को छापने के लिए भेज देना है ।[१]

इस युग की कहानियो के अन्त भी दोनो श्रेणियो मे भिन्न भिन्न प्रकार से होते है । पहली श्रेणी मे कहानियो का अन्त चरम सीमा पर भी होता है, उपसहार के साथ भी । हालाकि यह उपसहार पिछले युग की कहानियो की भाँति किसी समाधान या निष्कर्ष देने की प्रवृत्ति के अनुसार नही, वरन् चरम सीमा को और भी तीव्रतर रूप मे प्रस्तुत करने के लिए ही रखा जाता है । दूसरे वर्ग की कहानियो मे अनिवार्य रूप से कहानियो का अन्त चरम सीमा पर ही होता है । पहले वर्ग की कहानियो का अन्त इस प्रकार होता है

"आज अन्तिम बार मै किसी के हाथ बिकने गयी थी । तुम मुझे गुडिया की तरह सजाकर ले गयी थी । गाहक ने ठुकरा दिया—"लड़की सावली है ।" क्या इतना ही मेरा कुल परिचय नहीं है ? नही, यह कोई देखना नही है । यह तो अधूरा देखना है अब मै अच्छी तरह दिखाऊगी अपने को·· जैसे अभी यह आईना मुझे देख रहा है ··रग पर ही क्यो ठहर जाय आख हर बार, और भी तो देखे कुछ जो मेरे पास है · न देखे हृदय जिसमे लालसा है, समर्पण है, शरीर तो देखे अच्छी तरह जिसमे वासना भी है- यौवन भी ··

अब तुम मुझ से कभी कही चलने के लिए मत कहना, माँ, अब मैं खुद निकलूगी और परीक्षा करके देखूगी कि जो शरीर नारी के रूप मे लोभनीय हो सकता

१ जैनेन्द्रकुमार . जैनेन्द्र की कहानिया, पांचवा भाग, (एक रात-कहानी), दिल्ली, पृष्ठ २२-२३

है, पत्नी के रूप में कैसे इतना तिरस्करणीय हो जाता है ! आसन खेल नही है यह ·· मैं नही जानती, इसका अन्त कहा होगा शायद रेल की पटरी···दो जो हो···

विदा, माँ, अब मैं निकलती हू, बिकने के लिए ··हाँ, बिकने के लिए पर, किसी अनमने खरीदार के हाथो नही, ऐसे किसी के हाथो जो पहले मेरे हाथ बिक चुका होगा। · जहाँ सुख पाना और देना एक ही क्रिया है, वहाँ उसकी प्रस्तुत भी खरीदने और बेचने की एक क्रिया होगी, एक मे एक प्रविष्ट सलग्न [१]

दूसरी श्रेणी की कहानियों के अन्त मे जैसा कि उन पर बताया जा चुका है, कोई उपसहार नही होता और वे कहानियाँ चरम सीमा पर ही समाप्त होती हैं। उनमे सूक्ष्मता या मनोविश्लेषण का आग्रह अधिक होता है, किसी समस्या के समाधान का कम

"मालती मे आवेश चढ आया। कुछ फुफकार के साथ बोली, "यानी तुम साहस नही कर सकते ? और कुण्ठा को ही अपनाए रहना चाहते ?" कहते हुए मालती ने आदित्य के दोनो हाथो को नोचकर अपने से अलग कर दिया।

"शायद !"

सुनकर मालती फनफनाती हुई खडी हो गई, बोली, "तुम मुस्करा रहे हो। क्या ऐसे मेरा अपमान करना चाहते हो ?"

आदित्य भी अपनी जगह से उठ आया उसने बाँह डालकर कन्धे से मालती को सभाला, कहा, "अभी सात भी नही बजा है। अच्छा सुहावना होगा बाहर। आओ कही चले।"

आदित्य की बाह को अलग फेकते हुए मालती ने कहा, "हटो मुझे नही जाना है कही।"

आदित्य ने घुटनो बैठकर अत्यन्त आदर से मालती के दाहिने हाथ को लिया और उसकी उगलियो के पोरो को बहुत हल्के से चूमा। कहा, "कैसी रानी हो, आओ चलें।"

मालती की आखो मे देखते-देखते आसू भर आए। धीरे-धीरे वह ठहरने भी लगे। लेकिन फिर उसने अपने को थामकर कहा, "चलो तुम कहते हो तो चलो, पर सुन लो तुम देवता हो सकते हैं मैं देवी नही हो सकती,"

इस बार आदित्य ने अपनी दोनो हथेलियो के बीच मालती के दोनो हाथो को थामा और उन्होने होठो तक ले गया, बोला, "तुम देवी न होती, तो मुझ जैसा का पुरुष अपने वश मे रह सकता था ! आओ, चलो !"

---

१ अमृतराय : एक सावली लडकी, (सारिका मार्च १९६३), बम्बई पृष्ठ ९४

और दोनो नगर की सैर के लिए बाहर निकल गए ।[1]

दोनो ही श्रेणियो के प्रारम्भ, विस्तार एव अन्त के इस विश्लेषण के पश्चात् हम कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते है। पहले वर्ग की कहानियो मे लेखको का ध्यान स्पष्ट व्यजना, यथार्थ की अभिव्यक्ति एव सत्यान्वेषण की है, जबकि दूसरे वर्ग के कहानीकारो का ध्यान अस्पष्ट व्यजना, दुरूहता, बौद्धिकता, अवचेतन-विज्ञप्ति एव द्वन्द्वो के विश्लेषण मात्र की ओर रहता है, ये कहानिया घात-प्रतिघातो के माध्यम से ही बढती है कथानक के माध्यम से नही, जब कि पहली श्रेणी की कहानिया प्रमुखतः कथानक के माध्यम से ही गतिशील होती है। यद्यपि विष्णुप्रभाकर अमतराम तथा बलवन्तसिंह आदि कहानीकारो की कुछ रचनाए कथानक के ह्रास को भी लेकर प्राप्त हो जाती है, पर उनका बाहुल्य नही है। वे समष्टि चितन के कहानीकार हैं और जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण उनका उद्देश्य होता है, इसीलिए वे सब कलावादी नही हैं। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के कहानीकारो के पास कोई जीवन दृष्टि नही है, और आत्म-परक धारा के अनुसार वे मात्र कलाबाजियो के चक्कर मे पडकर पलायनवादी बन जाते हैं। इसी प्रकार कथोपकथनो के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। पहले वर्ग की कहानियो मे कथोपकथनो का उद्देश्य पूर्ण नाटकीयता लिए हुए कहानी को गतिशील करना, पात्रो के चरित्र-चित्रण को स्पष्ट करना और नए यथार्थ का उद्घाटन होता है, जैसे .

"हा, लाला ! वर्ष-भर रोककर एक दिन हँसना, या एक दिन हँसकर वर्षभर रोना—सौदा काफी महँगा है। है न देवर जी ?"

"भावी !"

"झूठ कहती हू मै। हंसना-रोना क्या कभी एक साथ होता है। जब एक रोता है, तभी दूसरे को हँसी आती है।"

"नही भाभी ! आज के दिन कोई नही रोता। सभी हँसते हैं।"

सहसा वह उठ बैठा। दृष्टि नीचे की ओर गई। पाया अधिकांश यात्री ऊँघ रहे हैं। कुछ पढ भी रहे है, कुछ दीवार से सटे खडे है। और गाडी है कि अपनी रफ्तार से चली जा रही है, निर्मुक्त निर्द्वन्द्व। सोचा सभी हसते है ? सचमुच क्या सभी हँसते है ? आज भी चारो ओर रोना ही कुछ अधिक है। भूख, अभाव, आत्म-हत्याएँ, पुलिस, जेल—सभी कुछ पूर्ववत है। फिर भी हँसने वाले हसते है। लेकिन जिनके प्रिय बिछुड गए हैं, वे भी क्या हस सकते है ? इसके लिए रोना ही सत्य है। वे रोएगे, तभी तो हसने वाले हसेगे। कैसे विडम्बना है ! कैसा चक्रव्यूह है ! हसना रोना, रोना हँसना !

---

१. जैनेन्द्रकुमार : अविज्ञान, (सारिका अक्तूबर १९६३), बम्बई पृष्ठ ५४

सहसा भाभी की एक और बात याद आ जाती है, "देवर जी हसना और रोना, क्या यही जीवन के मूल तत्व है ?"

"तो ?"

"आत्मसमर्पण !"

"भाभी ! !"

पल के उस सहस्त्रवे भाग मे कहकर भाभी लज्जा आई और मुकुल हो उठा आत्म-विभोर। प्रेम की सिहरन जैसे उसकी सिराओ मे उमड आई। भाभी मुस्कराई' बोली, "किसी के होना चाहते हो ?"

"किसका ?"

"किसी के भी?"

अनायास ही जैसे अपने से ही कहता है, मुकुल बोल उठा, 'तुम्हारा ?

भाभी तनिक भी चकित नही हुई । जैसे वह यही सुनना चाहती हो। सहज स्वाभाविक स्वर मे बोली, "मेरे भी हो सकते हो। लेकिन अब मुझमे आत्म-समर्पण कहा है ? तुम नही चाहोगे ..."[१]

इस प्रकार के कथोपकथनो मे साथ साथ व्याख्या एव विश्लेषण भी होता है, क्योकि कहानीकार का उद्देश्य व्यापक सवेदनाओ एव मानवीय अनुभूतियो का अकन करना होता है, पर दूसरी श्रेणी की कहानियो के कथोपकथन साकेतिक, सक्षिप्त और सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति की सकर्ठता लिए होते है, जिनका कथानक को गतिशील करना उतना लक्ष्य नही होता (कथानक इस प्रकार की कहानियो मे होते भी नही)। जितना सम्बद्ध पात्रो के मानस का विश्लेषण करना, जैसे,

"हारिति, कुछ सुनायी पडता है ?"

"नही, क्या है ?"

"मुझे भ्रम हुआ कि मैंने कही गोली चलने की आवाज सुनी।'

"सम्भव है। हमारा सब समान तो ठीक है न ?"

"हाँ, चिन्ता की कोई बात नही।"

क्षणभर शान्ति।

"क्वानियन, वह देखते हो ?"

"किधर ?"

"वह दहानी ओर। कही आग का प्रकाश है।"

'हाँ-हाँ—"

"वह है शत्रु का शिविर—"

१. विष्णुप्रभाकर : सच मैं सुन्दर हू, (नई कहानियाँ · फरवरी १९६३), दिल्ली, पृष्ठ ८०

'हमने गोलियाँ भर रखी हैं। कितनी दूर और जाग है ?"

"अभी बहुत है—कोई ३५ मील।"

"पुल कितनी दूर है ?"

"तीस मील।"

फिर क्षणभर शान्ति।

"क्वानियन, साथियो को सावधान कर दो। लडाई होगी। वे घुडसवार हम से भिडने आरहे है।"

"रुक कर लडना होगा ?"

"नही। रुकने का समय नही है। हम बढते जाएँगे।"

"पर—"

"क्या ?"

"हमारे घोडे थक गये है।"

"फिर ?"

"हमे रुककर लडना चाहिए और उनके घोडे छीन लेने चाहिए।"

"और अगर हमारे घोडे भी मारे गए तो ?"

"घोडो पर से उतर कर अलग हटकर लडेंगे, उन्हे बचा लेगे।"

"वे बहुत आदमी हैं, हम थोडे।"

"वे वेतन के लिए लडते है, जान देने के लिए नही।"

"अच्छा, जैसा तुम उचित समझो।"[1]

या जैसे इस उदाहरण मे :

"तू कहाँ जा रहा है रे ?"

उसने अपनी सूनी आँखे फाड दी।

"दुनिया सो गई, तू ही क्यो घूम रहा है ?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खडा रहा।

"कहाँ सोएगा ?"

"यही कही।"

"कल कहाँ सोया था ?"

"दुकान पर।"

"आज वहाँ क्यो नही ?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी ?"

---

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (हारिति—कहानी), बनारस, पृष्ठ ३६-३७

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा?"

"हाँ।"

"बाहर चलेगा?"

"हाँ…।"

"आज क्या खाना खाया?"

"कुछ नही।"

"अब खाना मिलेगा?"

"नही मिलेगा।"

"यो ही सो जाएगा?"

"हाँ …।"

"कहाँ?"

"यही कही।"

"इन्ही कपडो से?"

बालक फिर आँखो से बोलकर मूक खडा रहा। आँखे मानों बोलती थी—

"यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न!"

"माँ-बाप हैं?"

"हैं।"

"कहाँ?"

"पन्द्रह कोस दूर गाँव मे।"

"तू भाग आया?"

"हाँ…।"

"क्यो?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहन है, सो भाग आया। वहाँ काम नही, रोटी नही। बाप भूखा रहता था और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थीं, सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का था—मुझसे बड़ा। दोनो साथ यहाँ आये। वह अब नही है।"

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

इस जरा-सी उम्र मे ही इसकी मौत से पहचान हो गई। मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूँछा, "मर गया?"

"हाँ साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा, हमारे साथ चल।"[1]

इन कथोपकथनो मे एक एक शब्द का महत्व होता है, जो कहानी के विभिन्न सूत्रो को जोडते है, कहानी को अग्रसर करते हैं, साकेतिक प्रणाली मे बहुत सी अनकही बाते स्पष्ट करते है और पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वो को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे लडके का यह कहना, बाप भूखा रहता था और मारता था, माँ भूखी रहती थी और रोती थी, सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का था—एक और ही कहानी स्पष्ट करता है। यह कथोपकथन लडके के माता-पिता की करुणा ही नही, सारे गाँव की स्थिति को स्पष्ट करता है कि यह स्थिति एक दो घरो की नही, पूरे गाँव की थी। इन कथोपकथनो की तुलना सहज रूप मे पिछले युग के कथोपकथनो से की जा सकती है, जहाँ इस बात के लिए कहानी मे भी पूरी एक अप्रासगिक कहानी जोड दी जाती थी। इस युग की ही कहानियो की चर्चा करे और दोनो ही श्रेणियो की कहानियो के कथोपकथनो की तुलना करे, तो यह बात स्पष्ट होती है कि दोनो ही कथोपकथन सक्षिप्त, सार्थक, सूक्ष्म एवं चुस्त होते हैं, बस दोनो के उद्देश्यो में किंचित् अन्तर है। एक कथोपकथन अधिक व्यापक उद्देश्यो को समाहित करते हुए जीवन के यथार्थ के उद्घाटन के साथ पात्रो के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण, कथानक को गतिशीलता प्रदान करना और विभिन्न मन स्थितियो के वर्णन के साथ वातावरण की सृष्टि करना होता है। दूसरे कथोपकथनो का उद्देश्य थोडा परिसीमित होता है। उनका एकमात्र लक्ष्य पात्रो के मानस का विश्लेषण कर उनके मन मे होने वाले घात-प्रतिघातो को स्पष्ट करना। इनके साथ दूसरी आवश्यकताएँ स्वय पूरी हो जाएँ, तो ठीक है, कहानीकारो का ध्यान उधर नही रहता। जहाँ तक कहानी को गतिशीलता प्रदान करने का प्रश्न है, दूसरी श्रेणी की कहानियो मे कथानक के ह्रास की प्रवृत्ति लक्षित होती है, अतः उनमे किसी पात्र के चरित्र-चित्रण या मनोभावो एवं ग्रन्थियो के मनोवैज्ञानिक आधार पर मनोविश्लेषण ही लक्ष्य होता है। ये कथोपकथन केवल इसी के सहायक बनकर आते है। वैसे दोनो ही प्रकार के कथोपकथनो मे नाटकीयता होती है और वे अभिनयात्मकता का सृजन करते हैं, जिससे कहानी मे औत्सुक्य की अभिवृद्धि के साथ कौतूहलता एवं रोचकता उत्पन्न होती है। यशपाल की 'खच्चर और इन्सान', 'फूलो का कुर्ता', जैनेन्द्रकुमार की 'पत्नी', 'पाजेब', अज्ञेय की 'हीलीबोन की बत्तखे', 'पठार का धीरज', विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है', तथा 'एक और दुराचारिणी', भगवतीचरण वर्मा की 'दो बाँके', 'जब मुगलो ने सल्तनत बख्श दी', अमृतराय की 'एक साँवली लडकी', 'मंगलाचरण', अमृतलाल नागर की 'जुएँ' तथा 'लगूरा', बलवन्तसिह की 'गलियाँ', 'काको के प्रेमी',

---

१. जैनेन्द्रकुमार : जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, (अपना-अपना भाग्य—कहानी), दिल्ली, पृष्ठ ३८-३९

इलाचन्द्र जोशी की 'अपत्नीक', 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ', रांगेय राघव की 'गदल', 'अभिमान' तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'पलग', 'काँकडा का तेली' आदि कहानियाँ एक साथ इसी सदर्भ मे देखी जा सकती है।

इस युग की कहानियो मे वातावरण भिन्न प्रकार से चित्रित किए जाते है। अब वातावरण के निर्माण मे भी सूक्ष्मता आ गई और वे सार्थक तथा सोद्देश्य हो हो गए। पहले की कहानियो मे वातावरण का निर्माण केवल कहानी को तीव्रता प्रदान करने, प्रकृति चित्रण या यो ही निरुद्देश्य भावुकता उत्पन्न करने के लिए किया जाता था, पर इस युग की कहानियो मे वातावरण का निर्माण जीवन के यथार्थ को लेकर किया जाने लगा "सृष्टि और जीवन की इस अथहीनता पर कुढना, उलझना, रोना, बिसूरना आसान है, लेकिन कितनो मे इस अर्थहीनता के सौन्दर्य को देखने की शक्ति है, पर यह राजकुमारी सितारो के एक धनुष से दूसरे धनुष तक, शीतल हवा के एक झोके से दूसरे झोके तक झूला-झूलती है। अर्थहीन मुस्कराहटें बिखेरती है·· कुछ देर बाद विशाल आकाश के कोनो से अँधेरा जलूम-पर-जलूम निकलेगा और उनका नगर इस अँधेरे मे गुम हो जाएगा। काली-काली गलियो मे उसके बच्चे··· कुएँ में डूब मरने का भी प्रोग्राम हो तो गलियो में से होकर भागना पडता है। यदि मजिल तक पहुचने के लिए एक गली भी पार न करनी पडे, तो वह मंजिल ही कैसी ? या शायद मजिल उसी स्थान पर होती है जहाँ से मनुष्य मजिल तक पहुँचने के लिए भाग निकलता है। वह रुक गई। उसके पाँव से उडने वाली धूल के बादल उसकी पिडलियो के आस पास मँडराने लगे। वह हाँफ रही थी। उसने हाथ रखकर अपने सीने के नीचे-ऊपर होती लहरो को समतल करना चाहा। उसे कुएँ और उसकी गहराई मे छिपी हुई मृत्यु से डर नही लग रहा था। फिर भी धीरे-धीरे घूमकर उसने पीठ कुएँ की ओर फेर दी। वह बहादुर नही बन गई थी। उसे अपना भविष्य उज्ज्वल नही दिखाई दे रहा था। वह अपने सिद्धान्त और अपनी पवित्रता की बलि नही देने जा रही थी, फिर भी उसने बडे सुघडपन से अपने सीने पर दुपट्टे की तह जमाई और उसका पल्लू सिर के ऊपर वाले भाग तक खीच लिया, यहाँ तक कि उसके उज्ज्वल माथे और दुपट्टे के होठ एक दूसरे से घुल-मिल गए। उसने हिचकियाँ लेते हुए अपने आँसू पोंछ डाले और आँसुओ से धुली जगमगाती आँखो से नगर पर एक ऐसी दृष्टि डाली, जैसे वह उस नगर से बहुत ऊँची हो। कब और किस गली से धरती माता आई। उसकी आखो मे आखे डालकर मुस्कराई और फिर कब और किस गली मे वह घुल मिलकर खो गई।"[१] इसमे वातावरण की रेखाएँ पूरे वर्णन मे बिखरी हैं, जिनका रूप स्वतन्त्र ढग से स्पष्ट नही है, वरन् वे सब सामूहिक रूप से मिलकर

१. बलवन्त सिह : गलिया, (नई कहानिया दिसम्बर १९६४), दिल्ली, पृष्ठ १०६-१०७

कहानी के स्वरूप को अभिव्यजित करती है।

इस युग की कहानियो मे वातावरण का दूसरा रूप वह है, जहा प्रकृति-चित्रण या वातावरण का निर्माण पात्रो की मन.स्थितियो को अभिव्यक्त करने या उनके मानस का विश्लेपण करने के माध्यम के रूप मे होता है। इस प्रकार के वातावरण इस प्रकार चित्रित होते है, जैसे वे स्वय घात-प्रतिघात की तरह प्रतीत हो और पात्रो के द्वन्द्व के साथ उनका सामजस्य हो जाए। यह प्रकृति का एक प्रकार से मानवीकरण होता है, जो पात्रो के दृष्टिकोण को तीव्रतर रूप मे स्पष्ट करने मे सहायक होता है: "वसन्त सुमन, पराग, समीर, रसोल्लास ' कैसा सयोग होता है ! पर अब अपने जीवन के हेमन्तकाल मे, क्यो मैं वसन्त की कल्पना करता हू ? अब वे सब मेरे जीवन मे नही आ सकते, अब मैं एक और ही ससार का वासी हो गया हू, जिसमे सुमन नही प्रस्फुटित होते, स्मृतिया जागती है, जिसमे मदालस नही, विरक्ति-शैथिल्य भरा हुआ है ! मेरे चारो ओर अब भी वसन्त मे अलसी और पोस्त के फूल खिलते हैं, हँसते है, नाचते है, फिर चले जाते है। मेरा हृदय उमड आता है, पर उसमे अनुरक्ति नही होती, उस रूप-सागर के मध्य मे खडा होकर भी मैं अपनी सुदूरता का ही अनुभव करता हू, मानो आकाश-गगा का ध्यान कर रहा होऊँ ! जिस सृष्टि से मैं अलग हो गया हू, उसकी कामना मै नही करता, उसमे भाग लेने की लालसा मेरे हृदय मे नही होती। मेरा स्थान एक दूसरे ही युग मे है और उसी का प्रत्यावलोकन मेरा आधार है, उसी की स्मृतिया मेरा पोषण करती है। यह वल्लरी अमर है, अनन्त है। जब मै गिर जाऊँगा, तब भी शायद यह मेरे शरीर पर लिपटी रहेगी और उसमे बची हुई शक्ति को चूसती रहेगी। पर जब इसका अकुर प्रस्फुटित हुआ था, तब मै क्षीण नही था। मेरे सुगठित शरीर मे ताजा रस नाचता था; मेरा हृदय प्रकृति-सगीत मे लवलीन होकर नाचता था। मै स्वय यौवन रग मे प्रमत्त होकर नाच रहा था ··जब मेरी विस्तृत जडो के बीच मे कही से इसका छोटा सा अकुर निकला, उसके पीले-पीले, कोमल, तरल तन्तु इधर-उधर सहारे की आशा से फैले और कुछ न पाकर मुरझाने लगे थे। तब मैने कितनी प्रसन्नता से इसे शरण दी थी, कितना आनन्द मुझे इसके शिशुवत् प्रथम कोमल प्रथम स्पर्श से हुआ था !"[1]

इस युग की कहानियो मे वातावरण-निर्माण का तीसरा रूप वह है, जो पिछले युग की ही भाति है [कफन, पूस की रात, ताई, शरणागत आदि कहानियो की भाति] और उसमे कोई नवीनता दृष्टिगोचर नही होती। यदि कोई नवीनता है भी, तो मात्र इतनी कि वह कुछ अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है और कहानी पर आरोपित या उससे असम्पृक्त नही प्रतीत होता:

१. अज्ञेय: अमरवल्लरी तथा अन्य कहानिया (अमरवल्लरी—कहानी), बनारस, पृष्ठ १३-१४

"घण्टे के घण्टे के सरक गए, अन्धकार गाढा हो गया। बादल सफेद होकर जम गए। मनुष्यो का वह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सडक पर छतरी लगा कर निकल रहा था। हम वही के वही बैठे थे । सादी सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे-फिर कर देखा। वह लान बर्फ की चादर की तरह बिल्कुल स्तम्भ और सुन्न पड़ा था।

अब सन्नाटा था। तल्ली ताल की बिजली की रोशनियाँ दीपमालिका सी जग-मगा रही थी। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल दर्पण पर प्रति-बिम्बित हो रही थी और दर्पण का कापता हुआ, लहरे लेता हुआ वह तल उन प्रति-बिम्बो को सौ गुना। हजार गुना करके उसके प्रकाश को मानो एकत्र और पुन्जी भूत करके व्यस्त कर रहा था। पहाड़ो को सिर की रोशनिया तारो-सी जान पड़ती थी।

हमारे देखते-देखते एक घने परदे ने आकर इन सबको ढक दिया। रोशनियाँ मानो मर गई: जगमगाहट लुप्त हो गई। वे काले-काले भूत से पहाड भी इस सफेद परदे के पीछे छिप गए। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो वह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इसी घनी, गहरी सफेदी से दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैल कर सस्मृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर-नीचे, चारो तरफ, वह निर्भेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने कि घोसलो मे जा छिपा था।

उस बृहदकार शुभ्र शून्य मे, कही से ग्यारह टन्-टन् हो उठा, जैसे कही दूर कब्र में से आवाज आ रही हो।

हम अपने-अपने होटलो के लिए चल दिए।[1]

इस युग की कहानियो मे हमे भाषा के विविध रूप प्राप्त होते हैं। इस काल में भाषा की व्यजना शक्ति, अमूर्तता, साकेतिकता एव भावाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता समर्थता मे अभिवृद्धि हुई, जिस पर प्रत्येक कहानीकार के व्यक्तित्व की अलग-अलग छाप है और भिन्न-भिन्न सन्दर्भों मे ही देखा जा सकता है। यो भाषा सम्बन्धी एक सामान्य वर्गीकरण तो कर ही सकते हैं—

१. सस्कृतगर्भित भाषा।

२ यथार्थ भाषा।

---

१. जैनेन्द्र : जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानिया, (अपना-अपना भाग्य-कहानी), दिल्ली पृष्ठ ३६-३७

संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग अज्ञेय ने अपनी कहानियो मे अधिक किया है, जो अलंकृत है और वाक्य विन्यास स्वाभाविक प्रतीत न होकर सायास गढे हुए प्रतीत होते है। इस प्रकार की भाषा बोझिल अधिक हो गई है, इसीलिए कृत्रिम होती है : "जीवन ; वे मानो प्रौढावस्था के फूल ! वसन्त मे, जब और सब वृक्ष फूल रहे होते तब उसमे केवल आगे से चपटे बडे २ कठोर पत्ते पकते हुए दीखते मानो सजीले सामन्तो की पाँत मे एक बूढाशूद्र पुत्र और ग्रीष्म मे मरुस्थल की ललपाती गर्म सांस से बचने के लिए सब पेड सजाव-सिंगार छोडकर एक मोटी हरी चादर ओढ चुके होते तब उसके पके पत्ते एक-एक करके झर जाते, मानो नगी निरीह शाखो ने पल्ला फाड़ कर मरुभूमि के दस्यु को दिखा दिया हो कि हम नि स्व है केवल जब वर्षा के दोहरे आकाश के कसैले रोष को शान्त कर देते थे, तब वृक्ष की चिरसचित आत्मग्लानि द्रवित होकर फूट पडती थी विराट वेदना सुन्दर ही होती है, और उस वृक्ष की वेदना पुष्पित हो उठती थी, और वह मानो अपने आन्तरिक सौन्दर्य के उन्मेष से जलाकर स्वय उसमे छिप जाता था या सौन्दर्य के आवरण मे और नंगा हो जाता था मानो किसी बुड्डे के संसार की तिरस्कार भरी दृष्टि से लज्जित होकर अपने को यौवन के आवरण मे लपेट लिया हो।"[1] इसके विपरीत भाषा का यथार्थ रूप मिलता है, जिसमे बोलचाल के शब्दो और मुहावरो तथा अन्य जनवादी तत्वो को मिलाकर भाषा को यथार्थ, स्वाभाविक, सजीव एवं प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यह भाषा जीवन के अधिक निकट प्रतीत होती है क्योकि वह प्रयासहीन और अनगढ़होती है : "कई दिनो से शरबती मेरे मन और मस्तिष्क पर छाई हुई है। नही जानता। इसके माँ-बाप ने उसका नाम रखते समय उसकी आँखो मे झोका था। वे सचमुच शरबती थी। श्यामवर्णी शरबती की वाणी बुन्देलखड की सहज मिठास से छलछलाती थी। कभी कभी मुझे लगता था, वह इतना काम कैसे कर लेती है। पर वह जितनी कामल मधुर है, उतनी ही पुरुष कठोर भी। सोचते-सोचते पाता हू कि शरबती आँखो मे उभर आती हैं, रोज देखता हू कि वह तेज-तेज कदम धरती दूध लाती है। काँछा बाँधे घर बुहारती है, एक वस्य पहनकर खाना बनाती है, बेबी को हँसाने के प्रयत्न में स्वय हँसती है और फिर फूट-फूटकर रो पडती है। लेकिन इसके पूर्व कि कोई उसके आँसुओ को देख सकें, वह उन्हे सुखा देती है। परन्तु शरबती आँखों मे पडे वह लाल डोरे उसके छल को प्रकट कर ही देते हैं - और तब उनके पीछे से झाँकती वेदना मुझे चीर-चीर देती है। शरबती रोती क्यो है ? क्योकि गत वर्ष उसके दोनो बच्चे दस दिनो के भीतर ही भीतर चेचक का शिकार हो गये थे ? क्योकि उसका पति शराब पी-पीकर निकम्मा हो गया है, क्योकि उसकी जालिम सास उसे पीटने के लिए बेटे को

---

१ अज्ञेय अमरवल्लरी तथा अन्य कहानिया, (पगोडा वृक्ष-कहानी), बनारस, पृ० ११९

शराब पीने को प्रोत्साहित करती है ।'[1]

भाषा का एक तीसरा रूप मिलता है, जिसे प्रयोगवादी मनोवैज्ञानिक भाषा कह सकते हैं, जिसका उपयोग जैनेन्द्र कुमार ने प्रमुखत किया है। इस भाषा की प्रमुख विशेषनाए हैं कि वाक्य छोटे २ पूर्ण-अपूर्ण और शब्दो का क्रमहीन ढग से सयोजन, जो पात्रो की मिन की अकुलाहट, बेचैनी और विचित्र मन स्थितियो को स्पष्ट करने मे पूर्ण सफल होती है। इसमे शब्द गढे भी गए हैं, क्योंकि किसी परिस्थिति विशेष मे हम अनायास शब्दो को गलत या टेढा-मेढा बोलते हैं, जो हमारे अवचेतन मन की उलझनों एव जटिलताओ के परिणामस्वरूप होता है। इस भाषा को मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (Psychological Realism) से सम्बद्ध स्वीकारा जा सकता है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है, "ठहरो, मुझे आफ साफ देखने दो। मै क्या हू ? मैं एक उद्देश्य पर समर्पित व्यक्ति हू। मेरा निजत्व क्या ? कुछ नही है। मेरा स्वार्थ क्या है ? कुछ नही है। क्या मेरे लिए परमार्थ भी कुछ है ? कुछ नही है। मेरे लिए एक ही वस्तु है। वही मेरा स्वार्थ, वही मेरा परमार्थ, वही मेरा निजत्व, वही मेरा लक्ष्य। जब मैं समर्पित हू, तब मै किसी भी और अन्य विचार के लिए खाली नही हू, बचा नही हू, जीवित नहीं हू। मेरी देह, मेरे मन, मेरी बुद्धि मे कही भी कुछ और के लिए अवकाश कैसे हो। सिवाय उसके, जिसके लिए मैं न्यौछावर हू ? किसके लिए मैं न्यौछावर हू ? राष्ट्र के लिए। राष्ट्र के स्वराज्य के लिए। राष्ट्र क्या ? वह राष्ट्र कहाँ है ? मेरे हृदय मे वह राष्ट्र कहाँ है ? क्या अमुक और अमुक भौगोलिक परिधियो मे परिमित भारतवर्ष नामक भूखंड का चित्र मेरे भीतर गहरा उतर कर सदा जाग्रत रहता है ? क्या वही यो जी की धड़कन मे सदा स्पन्दन करता रहता है ? नही, स्पदन करता हृदय है, राष्ट्र की भावना के बिना भी वह स्पन्दन करता है। जान शेष और विश्वात्मा का निर्देश है तब तक वह स्पन्दन रुकेगा नही, होता ही रहेगा। तब राष्ट्र क्या है ?...लेकिन ठहरो, मैं शक्तिचित्र नही बनूंगा। सशयात्मकता विनश्यति। यह प्रश्नातीत रहे कि राष्ट्र है। मैं राष्ट्र सेवक हू। और कुछ भी नहीं हू। जयराज मात्र नाम है। जयराज का कोई पार्थक्य नही, कोई व्यक्तित्व नही है। जयराज राष्ट्र सेवक है, एक निरा,बस"[2] प्रयोगवादी मनोवैज्ञानिक भाषा का जैनेन्द्रकुमार ने अपनी कहानियो मे तो प्रचुर मात्रा मे उपयोग तो किया ही है, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की कहानियो मे भी उसके प्रयोग यत्र तत्र प्राप्त होते है।

इस काल की कहानियो की शैली पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

---

१ विष्णु प्रभाकर . एक और दुराचारिणी, (सारिका : मार्च १९६५), बम्बई पृष्ठ २१

२ जैनेन्द्रकुमार . जैनेन्द्र की कहानियाँ पांचवा भाग (एक रात-कहानी), दिल्ली . पृष्ठ २४ २५

शैली सम्बन्ध नवीनता पिछले काल के अन्तिम चरण मे दृष्टिगोचर होने लगी थी। इस काल मे उसका पूर्ण विकास पाप्त होता है। इस काल की कहानियो मे शिल्प प्रकार के आधार पर हम निम्न वर्गीकरण कर सकते हैं—

१ कथात्मक शैली की कहानिया—जैसे यशपाल की 'कुत्ते की पूंछ', जैनेन्द्र कुमार की 'मास्टर जी' अज्ञेय की 'कैसेन्ड्रा का अभिशाप' विष्णु प्रभाकर की 'द्वन्द्व' अमृतलाल नागर की 'लगूरा' 'अमृतराय की 'इतिहास' उपेन्द्रनाथ अश्क की 'काकडा का तेली' बलवन्त सिह की 'मै जरूर रोऊगी' रागेय राघव की 'गदल' भगवतीप्रसाद वर्मा 'जब मुगलो ने सल्तनत बख्श दी' आदि कहानियाँ

२ आत्म कथात्मक शैली की कहानियाँ—जैसे जैनेन्द्र की 'नादिरा' अज्ञेय की 'मेजर चौधरी की वापसी' इलाचन्द्र जोशी की 'मै' विष्णु प्रभाकर की 'एक और दुराचारिणी' अमृतराय की एक साँवली लडकी' आदि कहानियाँ।

३ नाटकीय शैली की कहानियाँ—जैसे जैनेन्द्रकुमार की 'परदेशी' अज्ञेय की 'कविप्रिया' विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' अमृतलाल नागर का 'जुएँ यशपाल की 'उत्तराधिकारी' अमृतराय की 'गीली मिट्टी' बलवन्त सिह की 'गलियाँ' भगवतीचरण वर्मा की 'दो बाँके' तथा राँगेय राघव की 'मृत्यु' आदि कहानियाँ।

४ पत्रात्मक शैली की कहानियाँ—जैसे जैनेन्द्र की 'परावर्तन' तथा अज्ञेय की 'सिगनेलर' आदि कहानियाँ।

५. प्रतीकात्मक शैली की कहानियाँ—जैसे अज्ञेय की 'पठार का धीरज' जैनेन्द्रकुमार की 'पाजेब' आदि कहानियाँ।

६. मिश्रित शैली की कहानियाँ—जैसे अज्ञेय की 'छाया' 'द्रोही' तथा 'नबर दस कहानियाँ।

७ स्वगत भाषण शैली की कहानिया—जैसे जैनेन्द्रकुमार की 'क्या हो' कहानी।

८. सम्वाद शैली की कहानिया—जैसे जैनेन्द्रकुमार की 'बीएक्ट्रिस' अज्ञेय की 'हारिति आदि।

९ डायरी शैली की कहानिया—जैसे इलाचन्द जोशी की 'मेरी डायरी के दो नीरस पृ०' अज्ञेय की 'आदम की डायरी' विष्णु प्रभाकर की 'आघात और मुक्ति' आदि कहानिया।

१० स्वप्न शैली की कहानिया—जैसे अज्ञेय की चिडियाघर' कहानी।

इस युग की कहानियो की कुछ अ य सामान्य विशेषताओ की चर्चा करना उपयुक्त होगा, जिससे पिछले युग की कहानियो से उनकी विभिन्नता स्पष्ट हो सकती है। इस युग की कहानियो की मूलाधार मनोवैज्ञानिक है। पिछले युग के अन्तिम चरण

मे मनोवैज्ञानिक कहानियो के प्रारम्भिक स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगा था [प्रेमचन्द भगवतीप्रसाद वाजपेयी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' वाचस्पति पाठक आदि की कहानिया इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य है] पर वे शुद्ध अर्थों मे मनोवैज्ञानिक कहानिया नही थी। शुद्ध अर्थों से मेरा अभिप्राय सिद्धान्तत मनोविज्ञान का चित्रण करने की प्रवृत्ति से है, जो इस युग मे जैनेन्द्र, इलाचन्द और जोशी और अज्ञेय की कहानियो मे परिलक्षित होता है। यह मनोविज्ञान का चित्रण दो रूपो मे मिलता है—

१ अन्तर्द्वन्द्व।

२. प्रतीकत्व।

अन्तद्वन्द्वो का चित्रण इस युग की कहानियो का अनिवार्य अग समझा जाने लगा। विभिन्न परिस्थितियो मे पात्रो को डालकर उनके अपर वैयक्तिक, सामाजिक आर्थिक, साँस्कृतिक, नैतिक आदि समस्याओ की पडने वाली प्रतिक्रियाओ का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। अन्तर्द्वन्द्वो का यह चित्रण कहानियो को अधिक बौद्धिक बना देता है, जिससे उनमे सश्लिष्ट एव जटिल तत्वो का प्राधान्य हो जाता है और वे सामान्य पाठको की पहुच से दूर हो जाती है [जैनेन्द्रकुमार एक रात, इलाचन्द्र जोशी. अभिनेत्री]। दूसरा रूप प्रतीकत्व का है, जिसमे किसी सवेदना या समस्या या अर्थात् को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यक्ष प्रणाली का उपभोग नही किया जाता, वरन् किसी प्रतीक की योजना कर अप्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट किया जाता है। इस प्रतीक योजना से भी कहानियो मे जटिलता एव दुरुहता का प्राधान्य होने लगा और उनमे बौद्धिकता का आग्रह बढने लगा। इन प्रतीको की सयोजना मे विशेष सतर्कता आपेक्षित होती है और उनकी चित्रित की जाने वाली समस्या या अभीष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के सन्दर्भ मे सार्थक होना आवश्यक होता है, नही तो अच्छी से अच्छी कहानियाँ असफल हो जाती है। 'समाजवादी विचारधारा के प्रसार के साथ-साथ मनुष्य के एकाकित जीवन एव व्यक्तिगत व्यक्तित्व का महत्त्व कम होता गया। व्यक्ति को अपने समाज और अपने वर्ग का प्रतीक भी समझा गया। अपने परिवार वालो के साथ या स्वय अपने सम्बन्ध मे वह जैसा कुछ होता है वह तो है ही, किन्तु इसके साथ ही साथ वह समाज की प्रवृतियो का प्रतिनिधित्व भी करता है। उसके अन्तर्मन की प्रवृत्तियाँ भी एक विशेष प्रकार या वर्ग के अन्तर्मन की प्रवृतियो का प्रतिनिधित्व भी कर सकती है। तात्पर्य यह है कि उसका वाह्य और आन्तरिक दोनो प्रतीक या प्रतिनिधि के रूप मे चित्रित हो सकते है। पत्नी या प्रेमिका के साथ हमारा जो कुछ सम्बन्ध या व्यवहार या जीवन है, सच कहिए तो, वह बिलकुल निजी बात है उसमे कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जिनके देखे जाने पर पशु भी शरमा जाते है। मानव की लेखनी उसके इर्द-गिर्द का चित्रण भी निडर और बेहिचक होकर कर देती है। सब कुछ समाज का होने पर भी मनुष्य के पास कुछ गोपनीय व्यक्तिगत भी रह जाता

है। कला उसके चित्रण मे अपनी सफलता न समझे, तो अच्छा होगा। जीवन के इस स्वरूप के केवल इस अंश का चित्रण होना चाहिए, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज के व्यापक स्वरूप से हो। सुगृहिणी केवल अपने देवर की ही भाभी है। शेष समाज के लिए वह आदरणीय महिला है। अवाछित साहित्य मे जो वैसा अनिष्टकारी चित्रण प्रारम्भ हुआ है, उसके स्थान पर व्यक्ति का प्रतिनिधि स्वरूप ही सद् साहित्य मे चित्रित होना चाहिए। ऐसा होना बहुत ही आवश्यक है क्योकि कलात्मकता से शून्य अनिष्ट चित्रण की कलापूर्ण अभीष्ट चित्रण मे परिणति तभी हो सकेगी। टाइप चित्रण, प्रतिनिधि स्वरूप का चित्रण या वर्ग विशेष की प्रवृत्तियो के द्योतक व्यक्ति का चित्रण इसलिए स्वागतार्थ है। ऐसा चित्रण सरल तो नही है, किन्तु इसका सफल प्रयोग हिन्दी कहानियो मे हो चुका है।

इस युग की कहानियो की अन्य सामान्य विशेषता काव्यात्मकता का या भावुकता का अभाव है। पिछले युग मे जयशकर 'प्रसाद', विनोदशकर व्यास या चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियो की भाँति इस युग की कहानियो मे अतिरिक्त कलात्मकता, अलकरण की प्रवृति और आरोपित भावुकता के साथ दिव्यता लाने की प्रवृति का पूर्ण तिरस्कार किया गया है। दूसरी विशेषता बौद्धिकता का प्राधान्य होना है, जो विषय या उपादान मे भी प्राप्त होता है। सिद्धान्त प्रचार के लिए भी इस युग मे कहानियाँ लिखी गई, जिनमे किसी मत या सिद्धान्त विशेष के प्रचार के लिए ही सारी कहानी का ताना-बाना सगुफित किया जाता है। यशपाल ने साम्यवादी सिद्धान्तो के प्रचार के लिए अनेक कहानियाँ लिखी हैं। अज्ञेय की जीवन शक्ति कहानी भी प्रगतिशील विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए लिखी गई हैं, इस युग की कहानी में वक्तव्य प्रणाली का भी उपभोग कर पाठको से प्रत्यक्षतः वार्तालाप करने की प्रवृति भी लक्षित होती है। आक्षेप की 'परम्परा एक कहानी' इसी प्रकार की रचना हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है, "किन्तु क्या मेरी कहानी में सचमुच विश्वास और निष्ठा की कमी है? क्या उसका व्यग एक बन्द गली मे जाकर समाप्त होने वाला वह करुण विश्वास ही नही है। जो प्रत्येक मानव मे समूची मानवता की आत्मा में समाया है और जो मेरी कहानी को epic quality देता है—इतनी विराट और इतनी कटु! मेरी कहानी की सड़क का मोड आपकी समूची सभ्यता का चित्र है-पहली सन्तान के होने की खुशी में फूली न समाती हुई वह मदहोश होकर बाहर को भागी जा रही है, एक नृशस दानवी यत्र के नीचे, बजरी से लदी हुई एक निष्प्राण मशीनो के नीचे कुचली जाने के लिए! मेरी कहानी मे आपको विश्वास नही दीखता तो मे क्या करू? जबकि वह आपके विश्वास की ट्रेजडी की कहानी है, आप को लगता है, जैसे आपके पेट मे किसी ने लात मार दी हो, तो मैं क्या करू जब कि लात आपकी है।" इसी प्रकार की प्रवृत्ति सर्वथा भिन्न रूप मे यशपाल, रागेय राघव

और अमृतराय की कहानियों में भी परिलक्षित होती है।

पिछले युग की कहानियो मे विश्लेषण करने की जो प्रवृत्ति प्रचलित थी, वह इस युग की कहानियो मे भी दृष्टिगोचर होती है। पहले वह विश्लेषण सीमित रूप मे होता था और प्रधान पात्र या कथावस्तु से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होता था, पर इस चरण की कहानियो मे ऊपर से आरोपित और प्रधानपात्र या कथावस्तु से पूर्णतया असम्पृक्त भी चित्रित किया जाता है। इसका स्वरूप भी अत्यन्त विस्तृत हो गया है और चिन्तन मनन से लेकर मार्क्सवाद, धर्म, दर्शन, कला, मनोविज्ञान राजनीति, आयु सीमा आदि सभी समस्याओ के सम्बन्ध मे इस युग की कहानियो मे विश्लेषण की प्रकृति परिलक्षित होती है जो बहुधा आरोपित है और कहानी को इतनी बोझिल बना देती है कि सारी कहानी नीरस और फलस्वरूप असफल हो जाती है। प्रवृत्ति इस युग के सभी लेखको मे है। जनेन्द्र कुमार की 'भाभी' कहानी का एक प्रसग इस प्रकार है, 'यह भाभी का प्यार था, जो माँ का प्यार नही होता क्योकि उससे स्निग्ध होता है; स्त्री का प्यार नही होता क्योकि उससे निरपेक्ष होता है। बहन का प्यार नही होता, जो क्रमश पुष्ट और परिपक्व होता है, जैसे सोता फूल निकला, हृदय मे स्वत. स्फुरित होता है।' इन्ही की 'राजीव और भाभी' कहानी का एक उद्धरण इस प्रकार है। "बीस-बाईस वर्ष की अवस्था मे मनुष्य की आकाक्षाएँ स्वप्निल होती है। उनको परवरिश मिले, तो वह पनपे, नही तो सूख कर मुरझा जाती है, और यौवन बीतते बीतते आदमी अपने को झुका हुआ अनुभव करता है। वे आकाक्षाएँ स्नेह माँगती है। स्नेह अनुकूल समय पर और यथानुपात मिले, तो वे हरी-भरी होकर कैसे कैसे फूल न खिला आए, कहा नही जा सकता। नही तो वे अपने को ही खाती चुकाती रहती है। मूल जिनके दृढ हो, ऐसी प्रकृतियाँ विरोध मे भी इसे खीचती हैं। अवश्य, और वे मानो चुनौती पूर्वक बढती रहती है। पर इस शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है, और प्रतिभा सरल नही है, वह तो विरल ही है। "यह प्रवृति अज्ञेय मे भी प्राप्त होती है। उनकी 'अमरबल्लरी' कहानी का एक उदाहरण इस प्रकार है "मैं देखता हू ससार दो महच्छक्तियो का घोर सघर्ष है। ये शक्तियाँ एक दूसरे से भिन्न नही हैं, एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ है। एक सयोजक है—इसका भास फूलो से भौरो के मिलन मे, विटप से लता के आश्लेषण मे . होता है। कभी-कभी दोनो शक्तियो का एक ही घटना मे ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भौचक हो जाते है, कुछ भी समझ नही पाते। प्रेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है ..।" यह प्रवृत्ति यशपाल, अमृतराय, राँगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, बलवन्त सिह, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि कहानीकारो मे भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होती है।

वर्गो के अनुसार इस युग की कहानियो मे कोई विशेष नवीनता लक्षित नही होती। जहाँ तक सामग्री की दृष्टि से वर्गीकरण का सम्बन्ध है, लगभग सभी वर्ग,

वही है, जो पिछले युग मे प्राप्त होते थे; यथा '

१ सामाजिक कहानियाँ—जैसे यशपाल की 'कुत्ते की पूछ' अमृतलाल नागर की 'लगूरा', भगवतीचरण वर्मा की 'प्रायश्चित', 'उपेन्द्रनाथ अश्क की 'चारा काटने की मशीन', रागेय राघव की गदल, विष्णु प्रभाकर की 'धरती अब भी घूम रही है' अमृतराय की 'गीली मिट्टी' तथा बलवतसिह की 'अलबेला' कहानियाँ।

२ मनोवैज्ञानिक कहानियाँ—जैसे अज्ञेय की 'हारिति', जैनेन्द्रकुमार की 'ग्रामोफोन का रिकार्ड', तथा इलाचन्द्र जोशी की 'अप्रतीक' आदि कहानियाँ।

३ राजनीतिक कहानियाँ—जैसे अमृतलाल नागर की 'जुएँ' अज्ञेय की 'द्रोही' उपेन्द्रनाथ अश्क की "कैप्टेन रसीद' आदि कहानियाँ।

४ सैद्धातिक कहानियाँ—जैसे यशपाल की 'मोटर वाली-कोयले वाली', तूफान का दैत्य', 'सन्यासी' तथा 'अभिशप्त' आदि कहानियाँ।

५ ऐतिहासिक कहानिया—जैसे यशपाल की 'ज्ञानदान', जैनेन्द्रकुमार की 'गदर के बाद' आदि कहानियाँ।

इस युग की कहानियो मे चित्रित प्रवृत्तियाँ

यह ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग की कहानियो का मूलाधार मनोविज्ञान ही रहा है, अत मुख्य प्रवृत्तिया मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण से सम्बन्धित हैं। चूकि इस युग मे कहानीकारो ने सिद्धान्तवादिता को भी प्रश्रय दिया, अतः समाजवाद आदि प्रवृत्तिया भी सामने आई। पिछले युग मे जिन प्रवृत्तियो का उल्लेख किया गया है, यथा; यथार्थवाद, आदर्शवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, ऐतिहासिक यथार्थवाद, अति-यथार्थवाद, प्रकृतवाद तथा ऐतिहासिकता आदि का। चित्रण उसी प्रकार इस युग के कहानीकार भी करते रहे। इसका उल्लेख आगे यथास्थान विभिन्न कहानीकारो के सन्दर्भ मे किया जाएगा। यहाँ कुछ नवीनतम प्रवृत्तियो की चर्चा की जाएगी, जो इस युग की कहानियो मे लक्षित होती है। सबसे पहले समाजवाद को ले। समाजवाद वस्तुत. मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित है। मार्क्स ने अपने दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा है। वह सृष्टि के पार्थिव रूप को ही चरम सत्य मानकर चलता है। वह परिवर्तन के निरर्थक चक्रो मे अपनी आस्था न प्रकट कर विकास के सिद्धान्त को ही स्वीकारता है। हीगल ने विचार को सत्य तथा भौतिक जगत् को उसकी वाह्य अभिव्यक्ति के रूप मे कल्पना की है, पर मार्क्स इसे नही स्वीकारता। मार्क्सवाद भूमि, व्यक्ति और उसकी आवश्यकताओ को आधार मानता है। यदि किसी व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकता सौ रुपये की है, तो उसे सौ रुपये ही मिलने चाहिये, उससे अधिक नही। मार्क्सवाद इन दोनो न्यूनाधिक स्थितियो पर नियत्रण रखना चाहता है। मार्क्स के अनुसार पूर्ण दृश्य और सूक्ष्म जगत् का निर्माण वस्तु पदार्थ से हुआ है। मेधा भी इसी वस्तु पदार्थ से ही निर्मित है, फलस्वरूप सृष्टि मे

केवल एक ही सत्ता है—भौतिकता। मार्क्सवादी भौतिक दर्शन मे ही विश्वास करते हैं। उसके अनुसार इस सृष्टि की सत्ता बाह्यगत है और हमारी सत्ता से स्वतत्र है। यह सृष्टि स्थिर नही वरन् परिवर्तनशील और निरन्तर गतिशील है। आध्यात्मिकता, मन आदि भ्रान्तिपूर्ण है इस सृष्टि का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन है, इससे अन्यथा कुछ हो ही नही सकता। समाज का सत्य उसकी यथार्थ अर्थ व्यवस्था है और समाज मे दो महत्वपूर्ण तत्व है—पूजीपति और सर्वहारा वर्ग। उन दोनो मे निरन्तर सघर्ष होता है, जिसके परिणामस्वरूप यह सृष्टि गतिशील होती है और उसमे परिवर्तन के आसार लक्षित होते है। अतः समाजवादी लेखक अपना दो उद्देश्य बना लेता है—एक तो अर्थ के प्रकाश मे समाज की कटु आलोचना करना तथा दूसरे आधिभौतिक शक्तियो को कला का उपजीव बनाना।

जहाँ निराशा और कटुता का दर्शन, सृष्टि एवं सस्कृति के विनाश एव पतन पर करुण रुदन करता है, वहाँ मार्क्सवाद को एक नये सृष्टि के उदय की आशा लक्षित होती है। जहाँ समानता होगी एवं श्रमिको का शोषण न होकर उनकी पीडाओ मे न्यूनता आएगी। समाजवाद ने साहित्य मे सूक्ष्मता एव समाज-विमुखता के प्रति विद्रोह किया। 'कला-कला के लिये या स्वान्त. सुखाय के सिद्धान्त मे उसकी आस्था नही है। अपने विशेष अर्थ मे समाजवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक रूपान्तर है। समाजवादी विचारधारा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) और वर्ग—सघर्ष मे विश्वास रखती है और अर्थ उसका मूलाधार है। मार्क्स के विचार यूरोप मे रोमांटिसिज्म के विरोधी और बुद्धिवादी दार्शनिक अतिवादियो के प्रति प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे : उन्होने भौतिकवाद की पुनः स्थापना की और हीगल के बाद मानव-जीवन के विकास का एक बुद्धि-सगत रूप रखा। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-सघर्ष के विस्तृत अध्ययन से ये निष्कर्ष निकलते हैं कि ससार के निर्माण का कारण भौतिक है, न कि दैवी और ज्ञान-विज्ञान के अनुभव के प्रकाश मे उसकी प्रत्येक स्थिति की व्याख्या की जा सकती है; मानव जीवन और इतिहास का मूल आर्थिक है, उत्पादन और वितरण के साधनो मे परिवर्तन होने के साथ-साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है। वर्ग-सघर्ष ही समाज की प्रगति का स्रोत है, व्यक्ति के स्थान पर समष्टि अधिक महत्वपूर्ण है, सामाजिक मूल्य और आदर्श वर्ग-विशेष के होते हैं; वर्गहीन समाज मे ही वास्तविक मूल्यो और आदर्शों की स्थापना हो सकती है, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला आदि सब कुछ आर्थिक व्यवस्था और वर्ग-व्यवस्था पर आधारित है। वर्ग-सघर्ष मे प्रत्येक व्यक्ति का झुकाव किसी-न-किसी एक वर्ग की ओर अवश्य रहता है, पूजीवादी व्यवस्था अपने आन्तरिक विरोधो के कारण समाप्त होगी और उसके बाद सर्वहारा वर्ग के हाथ मे सत्ता आएगी, जिसे सर्वहारा

वर्ग का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) कहा जाता है। समाजवाद की सहानुभूति सर्वहारा वर्ग या शोषित वर्ग के प्रति रहती है। उसके पीछे राजनीतिक सिद्धान्त प्रमुख है। रागात्मकता अर्थात् हृदय-पक्ष के स्थान पर उसमे बौद्धिकता या बुद्धि-पक्ष अधिक है। इसीलिये उसमे नीरसता है। 'रोटी' और 'सेक्स' के आगे समाजवादी जीवन के अन्य महत्वपूर्ण पक्षो का अस्तित्व ही स्वीकार नही करता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे भी उसे विश्वास नही। साम्राज्यवाद और पू जीवाद द्वारा शोषण-नीति की घोर निन्दा उसका लक्ष्य है। वह वर्ग-सघर्ष और हिंसा को प्रश्रय देता है और ईश्वर तथा धर्म का मजाक बनाता है। इस प्रकार समाजवादी किसी ईश्वरीय नियम, नियति, ब्रह्मवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि को साहित्य का लक्ष्य नही मानता। इस प्रकार के बाहर या परे उसके लिये कुछ भी शेष नही। वह विज्ञानवाद मनोविज्ञान (सामूहिक) आदि को अधिक महत्व देता है। वह जीवन या साहित्य के चिरन्तन सिद्धान्त को मान्यता नही प्रदान करता। समाजवादी के लिए सामाजिक व्यवस्था अपरिवर्तनीय और शाश्वत नही है। वह मनुष्य के शरीर और मन, पृथ्वी और समाज के अतिरिक्त जो कुछ शेष रह जाता है, उसकी सत्ता स्वीकार नही करता। समाजवादी साहित्य का मुख्य उद्देश्य साहित्य को जीवन के समीप खीच लाना है—अपने कम्यूनिस्ट दृष्टिकोण के अनुसार। क्योंकि उसका जीवन दर्शन मार्क्स द्वारा विवेचित आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है, इसलिए वह राजनीति से असम्पृक्त भी नही है और साधन-साध्य, हिंसा-अहिंसा, घृणा प्रेम आदि मे कौन अच्छा है, कौन बुरा इस पचडे मे नही पड़ता और पू जीवाद को प्रतिक्रियावादी शक्ति समझता है। उसके लिए अन्तिम लक्ष्य ही सब कुछ है, साधन की पवित्रता मे उसे विश्वास नही। उसका यह दृष्टिकोण गाधीजी के दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है। समाजवाद का पोषक साहित्यकार प्रत्येक वस्तु को तर्क, विज्ञान और बुद्धि की दृष्टि से देखता और यथार्थवाद का समर्थन करता है, जो व्यक्ति अतीत के मोह मे ग्रस्त रहते है, जो केवल यौन तत्वो को जीवन के अन्य पक्षो से अधिक महत्व देते है, जो भौतिक सघर्ष से मु ह मोडकर किसी अज्ञात के फेर मे पड जाते हैं, जो बाह्य जीवन से विमुख होकर चिंतनशील हो जाते हैं अर्थात जो पलायनवादी है, जो मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण की दुहाई देते हैं, वे समाजवादियो की निन्दा के पात्र बनते है। इसमे सन्देह नही कि समाजवाद ने विकृत मन को बहुत कुछ साहित्य की परिधि से दूर किया है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी समाजवाद ने नवीन आदर्श स्थापित किया है। वाक्पटुता, वक्रोक्ति, बनाव-श्रृंगार आदि को वह बुर्जुआ कहता है और स्वय परुषा वृत्ति से काम लेता है।[१] समाजवाद को कला कला की दृष्टि से स्वीकार नहीं। कला स्वान्त सुखाय नहीं जनहिताय होनी चाहिए।

मार्क्सवादी दर्शन मनुष्य का विश्लेषण उसके पूर्ण रूप मे ही करता है और

मानव विकास क्रम का इतिहास पूर्ण रूप मे निर्धारित करता है। वह उन छिपे नियमो को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है, जिनके आधार पर मानवीय आस्था एव सम्बन्ध निश्चित होते हैं। इस प्रकार प्रोलिटेरियन मानवतावाद का कार्य एव मुख्य उद्देश्य पूर्ण मानव व्यक्तित्व को पुनर्गठित करना एव उसको अनावश्यक शोषण एव पीडा से बचाना है, जो उसे वर्गगत सामाजिक व्यवस्था मे सहना पडता है। ये सैद्धातिक एव क्रियात्मक मान्यताएँ उस स्थिति को जन्म देती है, जिसके माध्यम से मार्क्सवादी सौन्दर्य तत्व पिछले क्लासिकल की स्थिति स्पष्ट करता है, साथ ही समकालीन साहित्यिक सघर्षों मे नवीन क्लासिको का अन्वेषण करता है। आज की उलझनो, कठिनाइयो, कुठाओ, वर्जनाओ एव निराशा के दमघोट वातावरण की भयकरता को न्यून करके अथवा उन भौतिक एव नैतिक आयामो, जिनके परिवेश मे आज का मानव गहन रूप से आबद्ध है, की अन्धकार पूर्ण सीमाओ की उपेक्षा करके मार्क्सवाद किसी को थोथी और असत्य सान्त्वना देने का प्रयत्न नही करता क्योकि वह यथार्थ नही। मार्क्सवादी यह स्वीकारते हैं कि सृष्टि का स्वय अपने मे कोई अस्तित्त्व है, इसी लिए वह एकता के सूत्रो मे बँधा है—यह भ्रांति पूर्ण धारणा है। उनके अनुसार सृष्टि की एकता भौतिकता के ही कारण हैं। इसीलिए समाजवादी साहित्य की कल्पना एव आदर्श की असत्यता को अस्वीकार कर व्यावहारिक सत्य एव कठोर यथार्थ से है। एक समाजवादी लेखक के अनुसार प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग मे आने वाली अन्धविश्वास, रूढिवाद की अडचनो को दूर करना है। समाज को शोषण के बन्धनो से मुक्त करना है। कार्यक्रम मे प्रगतिशील क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनाना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखो की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का मार्ग है। मार्क्स के अनुसार मनुष्य अपने भाग्य एव जीवन इतिहास का निर्माण स्वय करता है और वही उसके प्रति उत्तरदायी है। यद्यपि अठारहवी शताब्दी के अधिकाश भाग मे जीवन के प्रति इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को निर्विवाद रूप से अग्रेजी लेखको ने भी स्वीकारा, पर बाद मे साहित्यिको मे उसकी प्रतिक्रिया हुई और उनके अनुसार कल्पना एव भौतिकता का परस्पर सफल समन्वय नहीं हो सकता। परिणामस्वरूप इस समन्वय से कोई सृजन कार्य हो ही नही सकता, पर यह आलोचना थोथी है क्योकि सृजनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न लेखक के लिए विशेषतया एक कथाकार के लिए, जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाने से अच्छी और कोई स्वाभाविक दिशा नही सम्भव हो सकती। भौतिकता और आत्मा के परस्पर सम्बन्धो की व्याख्या मार्क्सवाद इस प्रकार करता है कि मनुष्य का अस्तित्व ही चेतना को निश्चित करता है। सृजनात्मक साहित्यकार के सृजन का कार्य का यही आधार होता है और सभी कल्पनापूर्ण सृजन-कार्य मे उसी

यथार्थ युग का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनित होता है जिसमे वह लेखक स्वयं जीता है, उसका सृजन कार्य उसके इस सृष्टि के सम्बन्ध एव प्रेम की प्राप्त उपलब्धियो का परिणाम होता है।

मार्क्सवाद के अनुसार कला आर्थिक आवश्यकताओ और औपचारिकाओ का रूपमात्र है। जीवन की आत्मिक प्रतिक्रियाओ जिसका कल्पनात्मक सृजन एक पक्ष है, तथा जीवन के भौतिक आधारो के मध्य मार्क्स के विचार स्पष्ट है। मार्क्स का यह दृढ विश्वास था कि जीवन की भौतिक दिशा ही अन्त मे बौद्धिकता को निश्चित करती है। एंजिल्स की धारणा थी कि यथार्थ जीवन मे उत्पादन और पुर्नउत्पादन ही इतिहास के अन्तिम निर्णयात्मक तत्व होते है। मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नही करता, वह व्यक्ति को अपने दर्शन के मध्य मे अवस्थित करता है, क्योकि उसका दावा है कि भौतिक शक्तिया मनुष्य को परिवर्तित कर सकती है वह इस बात की घोषणा करता है कि मनुष्य भौतिक शक्तियो मे परिवर्तन तो लाता है, पर उस प्रक्रिया मे वह स्वय ही परिवर्तित हो जाता है। एंजिल्स के अनुसार इतिहास स्वय अपना स्वरूप इस प्रकार निर्मित कर लेता है कि उसका अन्तिम परिणाम अनेक व्यक्तिवादी इच्छाओ के मध्य सघर्ष से उत्पन्न होता है। कहानीकार व्यक्ति के भाग्य के सम्बन्ध मे अपनी रचना तब तक नही कर सकता। जब तक कि वह इस पूर्णता का स्वय आभास न कर ले। उसे इस बात को निश्चित रूप से समझ लेना पडेगा कि किस प्रकार उसका अन्तिम परिणाम उसके पात्रो के व्यक्तिगत सघर्षो से विकसित होता है। इस प्रकार समाजवाद चाहता है कि समाज मे वर्ग-वैषम्य न हो, शोषण-वृत्ति का अन्त हो और पूँजीवाद का नाश हो। उत्पादन पर सबका समान अधिकार हो और किसी का भी अनाधिकार रूप मे उपयोग (Exploitation) न हो। यह समाजवाद एक दर्शन के रूप मे ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप विकसित हुआ। यह पिछली शताब्दी के प्रथम उन सत्तर वर्षो तक सभव नही हुआ जब पूजीवाद अपने सशक्त रूप मे उपस्थित हुआ। कार्ल मार्क्स ने सन् १८७६ मे दास कैपिटल। प्रकाशित किया, जो समाजवाद की पृष्ठभूमि है। मार्क्स के अनुसार श्रमिको को अपने आपको उस सामाजिक क्रान्ति के लिए तैयार करना चाहिए जिससे वह वर्तमान सामाजिक रूप विधान का तख्ता पलट दे और सारी आर्थिक व्यवस्था एव उत्पादन पर अपना अधिकार कर ले। उसने तो यहाँ तक घोषित किया कि प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन घोषित लोगो द्वारा अधिकार-प्राप्त लोगो के विरुद्ध छोडे गये सघर्ष के पश्चात् होता है और भौतिक परिस्थितियाँ ही लोगो के चरित्र एव सस्कृति का निर्णय करती हैं। समाजवाद का अर्थ आज उत्पादन, आर्थिक व्यवस्था, वितरण एँव विनिमय पर सामूहिक नियन्त्रण के अर्थ में ही समझा जाता है। इस मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित समाजवाद के सर्वसम्मत ढग विवरण स्वीकृत कर लेने के लिए दो तर्क

उपस्थित किए जाते हैं—एक तो यह कि उत्पादन एवं वितरण तथा आर्थिक व्यवस्था पर सामूहिक नियंत्रण, अर्थात् उद्योग आदि व्यक्तिगत क्षेत्र (Private sector) मे न स्थापित होकर सार्वजनिक क्षेत्र (Public sector) मे स्थापित हो, से राष्ट्रीय आय का सामूहिक जनता मे समान रूप से बिना किसी भेदभाव के वितरण होगा, जिसके परिणामस्वरूप• बहुसख्यक जनता सुखी और समृद्ध होगी, जो अनावश्यक रूप से पीड़ित है और ग्रस्त होकर आर्थिक कठिनाइयो का सामना करती है ।

इस सम्बन्ध मे दूसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रजातन्त्र की स्थापना होगी । प्रश्न उठता है, समाजवाद का उद्देश्य क्या है ? समाजवाद सामान्य लोगो उनकी विवशतापूर्ण परिस्थितियो से उपर उठाकर उन्हे निर्धनता के अभिशाप से मुक्ति देना चाहता है । वह जब तक सभव नही है, जब तक पूँजीवाद की जडे समूल नष्ट न हो और अधिकाँश आर्थिक व्यवस्था का नियत्रण सार्वजनिक क्षेत्र मे न होकर व्यक्तिगत क्षेत्र मे हो और राष्ट्रीय आय के वितरण की नीतियाँ मुट्ठी भर विशेष अधिकार प्राप्त लोगो की इच्छाओ के अनुसार हो ।समाजवादी का दूसरा उद्देश्य समाज मे वास्तविक प्रजातन्त्र की स्थापना है । प्रजातन्त्र का केवल इतना ही अर्थ नही है कि अपना वोट देकर अपने प्रतिनिधियो को ससद भेजे और वे परस्पर गाली गलौज करे लात जूता चलाएँ और कुर्सियो तोड़े । प्रजातन्त्र को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश करना चाहिए, जहाँ लोग साथ रहते हैं और साथ कार्य करते हैं । ऐसा कोई समाज प्रजातांत्रिक नही कहा जा सकता । जहाँ बहुसख्यक लोग अपनी जीविका, सुख समृद्धि एवं आर्थिक व्यवस्था एवं उत्पादन तथा वितरण के स्वामी होने हैं, यही अल्पसख्यक लोग वास्तव मे पूँजीवाद के प्रतिनिधि होते हैं और अपने उद्देश्य-प्राप्ति के लिए शोषण-वृत्ति का मार्ग अपनाते हैं, क्योकि उनके हाथ मे वास्तविक सत्ता होती है और वे राष्ट्रीय प्रशासन को अत्यधिक अशो मे प्रभावित करते है । समाजवाद इस पूँजीवाद इस का जबर्दस्त रूप मे विरोध करता है और उसके विरुद्ध बहुसंख्यक ग्रस्त एवं पीडाग्रस्त शोषित लोगो मे शान्ति के लिए प्रेरित करता है । समाजवाद की इन विशेषताओ को दूर-दूर असख्यक लोगो तक पहुचाने और क्रान्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने का कार्य कथा साहित्य करता है । समाजवादी रचनाओ का नायक शोषित मानव होता है और पूँजीवाद खलनायक । वर्ग- वैषम्य शोषण, पराधीन पीडाग्रस्त मानव की घुटन, आर्थिक विवशता और कुठाए तथा पूँजीवादी वर्ग शाप नैतिकता की निम्नतम सीमा पर किए जाने वाले कार्य की समाजवादी रचनाओ की घटनाएँ होती हैं, जिसका उद्देश्य समाजवादी व्यवस्था पर आधारित सामाजिक रूप विधान की स्थापना होती है । ऐसे समाजवादी साहित्य का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए एक कथाकार ने लिखा है कि मध्यम श्रेणी का साहित्य व्यक्तिगत आत्मसिद्धि का साहित्य है, वह स्वान्त:सुखाय की बात कहकर झूठा सन्तोष करता

है । उसकी परिस्थिति उसे सुख की इच्छा और कल्पना का सस्कार और अवसर तो देती है, परन्तु साधन नही देती । इसलिए वह काल्पनिक आत्मलिप्त मे सुख पाता है। जो चाहता है, वह पा नही सकता, तो न पाने को ही सुख समझना चाहता है। वह शृंगार रस का सुख वियोग मे भोगना चाहता है। यह उसकी भौतिक, सामाजिक परिस्थितियो मे परास्त मनोवृत्ति और कल्पना है। मध्यम श्रेणी साधन-हीन वर्ग मे मिलती जा रही है, परन्तु उसका परम्परागत सफेदपोशी का अहकार शेष है, इसलिए वह ऐसे सुख की कल्पना करती है, जिसे साधनो का अभाव न बिगाडे । साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तभी लेता है, जब वह सामूहिक जीवन मे सघर्ष और असुविधा देखकर मैदान से भागना चाहता है। वह अपनी और अपनी श्रेणी की महत्वाकाँक्षा के पूर्ण होने की सभावना नही देखता, तो अभाव को, वियोग को, आत्मरति को ही सुख बताने की दार्शनिकता का दम्भ करता है।

अत साहित्य को उस क्रान्ति के मूल प्रेरणा लेकर सृजन कार्य मे प्रवृत्त होना चाहिए जिसके माध्यम से समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होगी । पर समाजवादी कथाकार जब केवल प्रचारक बन जाता है और अपने स्वत्व मे से कथाकार का लिबास उतार फेकता है तो उसके सृजन कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न कला का स्वरूप वास्तविक न होकर कृत्रिम प्रतीत होता है। उसकी रचनाओ मे मृगतृष्णाओं का निर्माण होती है, न कि समाजवादी व्यवस्था की। उसके पात्र मानवीय सवेदना एव स्वभाव से युक्त मानव नहीं होते, वे कंठपुतलियाँ मात्र होते हैं, जिनका सृष्टा और द्रष्टा कोई और होता है, स्वय अपने को उपस्थित करने की सामर्थ्य उनमे नही होती। कला के साथ समाजवादी रचनाकारो का यह सबसे बडा उपहास है। जो अक्षम्य है। उनके थियेटरो के से पात्र होते हैं, जो जबर्दस्ती उछलते-कूदते हैं, प्रेम और घृणा करते हैं तथा क्रान्ति मे भाग लेते या उससे विमुख होते हैं और जब वे समाजवाद पर लेक्चर देने लगते है, जो उनकी अपनी चेतना की उपज नही होती, जिसका उनके व्यक्तित्व से कोई सामजस्य भी नही होता और सबसे बडी बात तो यह कि कहानी की परिस्थितियो मे जिसकी उनसे कोई आशा ही नही थी, तो बडा हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। कहानीकार प्रचारक हो सकता है, राजनीतिक मतवादो से प्रभावित हो सकता है, पर उसके लिए अपनी रचना का हत्या करना किसी प्रकार भी न्यायोचित नही सिद्ध किया जा सकता । समाजवादी कहानियो के नाम पर यशपाल, रागेय राघव, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त आदि अनेक कहानीकारो ने अपनी कहानियो को बहुत कुछ बनाया बिगाड़ा है। इन सभी मे पर्याप्त कहानी शिल्प है, कथा कहने का अपूर्व कौशल है, पर पता नही क्यो, ये सभी अपनी बहुत सी कहानियो में प्रचार से बच नही सके हैं और वे कहानियाँ निश्चित रूप से सिद्धान्त की तग-गली से होकर गुजरती हैं ।

जीवन सन्दर्भों के यथार्थ परिवेश एव प्रगतिशील दृष्टिकोण की चर्चा के परिप्रेक्ष्य मे ही समाजवादी यथार्थवाद की चर्चा की जा सकती है। इन दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यथार्थवाद का चित्रण जब लेखक समाजवादी दृष्टिकोण से करता है, तो वह समाजवादी यथार्थवाद ही कहलाता है। समाजवादी यथार्थवाद समाज और उसकी समष्टिगत चेतना से सम्बन्धित है। यह सामाजिक जन-क्रान्तियो से अत्यधिक अशो मे प्रभावित रहता है। उन्नीसवी शताब्दी का लगभग सम्पूर्ण रूसी साहित्य यथार्थवाद को समाजवादी सन्दर्भ मे चित्रित कर ही गतिशील होता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद मे समष्टिगत चेतना का उन्मीलन होता है, जिसके पर्याय के रूप मे इतिहास अवस्थित है। सामाजिक और समाजवादी मे अन्तर है। सामाजिक से एक पग आगे बढकर समाजवादी कला का एक रूप है, जिसमे जन मन के स्पन्दनो के सस्पर्श से फॉर्म का आविर्भाव होता है। समाजवादी भावना इसी जन मन को फॉर्म के आश्रय एव स्रोत के रूप मे ग्रहण करता है। व्यष्टि मन जन-मन की एक लघु लहर के रूप मे ही है, जिसका अपना कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। समाजवादी यथार्थवाद सौन्दर्य की स्थिति वस्तु मे स्वीकार करता है। समाज को ऐसी विविध प्रवृत्तियाँ प्राप्त रहती है या समाज मे उनका उदय एव विकास होता रहता है, जिनके माध्यम से समाजवादी रूप-विधान की स्थापना कर शोषण, वर्ग-वैषम्य, आर्थिक असमानता एव सामाजिक अत्याचार की स्थापना की जा सकती है। इससे समाज के लोगो मे प्रगतिशीलता आएगी। सजग सामाजिक चेतना सम्पन्न कलाकार का यह दायित्व है कि इन विविध प्रवृत्तियो के स्वरूप को पहचाने और उनका पूर्ण कलागत इमानदारी से चित्रण कर समाजवादी रचना विधान मे सहायता प्रदान करे। उचित सगति मे जब वह इन प्रवृत्तियो का यथार्थवादी चित्रण करता है, तो वह समाजवादी यथार्थवाद का ही चित्रण करता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी समाज के उद्देश्यो एव विशेषताओ से सम्बद्ध रहता है जैसे कि वे हैं, या जैसे कि वे निर्मित हो रहे है। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य मे समाजवादी रचनात्मक प्रवृत्तियो—जिस रूप मे वे वास्तविक रूप से वर्तमान हैं—का सत्य प्रतिबिम्ब होता है। समाजवादी यथार्थवाद का क्रान्तिकारी अर्थ यही है कि वह समाजवादी समाज का पूर्ण विश्वास के साथ समर्थन करता है। समाजवादी यथार्थवाद के द्वारा सचालित आशावाद के अपने तर्क हैं।

वास्तव मे वह अस्तित्व को क्रियात्मक रूप मे स्वीकारता है। वह यह भी मानता है कि यह अस्तित्व निर्माण है तथा यह मनुष्य की उन शक्तियो की पूर्णता है, जिसके माध्यम से उसने प्रकृति की शक्तियो पर विजय प्राप्त किया है। समाजवादी यथार्थवाद वास्तविक चित्रण के साथ सामाजिक संघर्षों के चित्रण पर बल देता है। वह पूँजीवादी व्यवस्था के विच्छिन्न होने की प्रवृत्तियो—जिनसे इस सत्य की प्रतीति

हो सके कि समाजवाद किस प्रकार उभर रहा है, के चित्रण पर बल देता है। वह ऐसे समाजवाद का वर्णन करता है, जो सहज रूप से नही प्राप्त है, वरन् प्रतिक्रियावादी शक्तियो से सघष करते हुए विकसित होता है। इस प्रकार वह पूँजीवादी बुर्जुआ सस्कृति को एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप मे ही देखता है और प्रकृति की अवरोधक शक्ति के रूप मे स्वीकारता है तथा इनका पूर्ण विनाश चाहता है। उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता और ज्ञान के प्रकार के रूप मे कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति का परस्पर समन्वय ही वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद है। इसका मूलमत्र 'सघर्ष' है। बुर्जुआ और पूँजीवादी वर्ग शोषण, वर्ग वैषम्य एव सामाजिक अत्याचार मे विश्वास रखता है और शोषण के मार्ग पर ही गतिशील होता है। शोषित लोगो की भावनाएँ, उनके स्वप्न, इच्छाए सभी कुछ उनकी स्थिति की दयनीयता, विवशता-जन्य परिस्थितियाँ, वर्ग वैषम्य के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक दासता के कारण मूल्यहीन है। इसीलिए उनके हाथ मे कोई अधिकार नही है। प्रकृति ऐसा नही चाहती पर शोषक वर्ग ऐसा जबर्दस्ती करने का प्रयत्न करता है और प्रकृति के मार्ग मे अवरोध उपस्थित करता है। समाजवादी यथार्थवाद इस बात की माँग करता है कि प्रत्येक जागरुक एव प्रगतिशील लेखक ऐसे सघर्ष को बल प्रदान करे, जो इन शोषक वर्गों का नाश कर प्रकृति की अवरोधक शक्तियो को मिटाए। वह घृणित, कुत्सित एव नग्न चित्रण के प्रति नितान्त रूप से भी आग्रहशील नही है, वरन् उसका तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी रचना विधान के पथ पर सघर्ष के माध्यम से अग्रसर कर समाजवादी मानवता के निकट हमे ले आता है। यह समाजवादी मानवतावाद मनुष्य की असीम शक्तियो के प्रति गहन रूप मे आस्थावान रहता है और मनुष्य पर, उसकी प्रवृत्तियो पर एवं उसके रचनात्मक कार्यों पर पूण विश्वास रखते हुए उसे समाजवाद की ओर दिशोन्मुख करता है। समाजवादी यथार्थवाद इस तथ्य को अस्वीकारता है कि मनुष्य की जीवन प्रक्रिया कई स्तरो पर गतिमान रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामो मे होता रहता है।

वह मनुष्य के आत्मान्वेषण को केवल बुर्जुआ सस्कृति एव पूँजीवादी मनोवृत्ति द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए जबर्दस्ती उत्पन्न भ्रान्ति के रूप मे स्वीकारता है और इतिहास की अनिवार्यताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे मूल्याकित करता है। समाजवादी यथार्थवाद व्यक्ति को समाज की एक सामान्य इकाई के रूप मे स्वीकारता है। वह वैयक्तिक स्तर पर व्यक्तिगत अनुभूतियो को, अहवादी शक्तियो को एव अस्तित्ववादी भ्रान्तियो को अस्वीकारता है। वह जो कुछ भी निरखता या परखता है, समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे विस्तृत धरातल पर समाजवादी दृष्टिकोण से ही। इस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद समष्टि की व्यष्टि पर विजय प्रतिपादित करता है

और समष्टि की वर्गाश्रित प्रवृत्तियो की समीक्षा करता है। वह प्रकृति को निरन्तर गतिशील मानते हुए जीवन की व्याख्या करता है। समाजवादी यथार्थवाद मे साहित्य का आधार आर्थिक व्यवस्था पर आधारित है, इसके लिए आवश्यक है कि समाज मे क्रान्ति हो। बहुसख्यक पीडाग्रस्त एव आर्थिक विवशताओ से पीडित लोगो के हाथ मे ऐसे अधिकार हो कि वह पूँजीवाद को समूल नष्ट कर दे, जिससे समाज मे शोषण का अन्त हो, वर्ग-वैषम्य समाप्त हो। किसी को असमानता का शिकार न होना पडे, राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो और वितरण-उत्पादन पर सामूहिक नियन्त्रण हो। समाजवादी यथार्थवाद इस पर बल देता है कि यथार्थ के क्रान्तिकारी पहलू को प्रत्येक जागरुक लेखक को आत्मसात् करके ही साहित्य सृजन मे प्रवृत्त होना चाहिए, जिससे जीवन के उदात्त तत्व तो विकसित ही हो, पूँजीवाद के काले कारनामो और सफेद-पोशी का भी रहस्योद्घाटन हो।

प्रश्न स्वभावत. उठता है कि ये यथार्थ के क्रान्तिकारी पहलू क्या है? यह वह शक्ति है, जो पूँजीवादी व्यवस्था एव शोषण पर आधारित सामाजिक रूप-विधान को समूल उखाड फेकेगी और वे अल्पसंख्यक लोग, जो समाज के अगुआ हैं, 'राष्ट्रीय आय' के पूर्ण भाग के दावेदार हैं और सारी पूँजी के परिश्रमहीन भागीदार है, नष्ट हो सकें और समाजवादी व्यवस्था की पूर्ण स्थापना हो सके। जो कहानीकार इस यथार्थ के क्रान्तिकारी पहलू को पहचानने मे असमर्थ है, वे कभी भी सच्चा समाजवादी यथार्थवाद चित्रित नही कर सकते। आधुनिक मनोविज्ञान ने निर्विवाद रूप से हमारे सम्मुख व्यक्ति के उन रहस्यो का उद्घाटन किया है, जिनसे अभी तक हम अपरिचित थे। इस प्रकार प्रथम बार हम व्यक्ति के वास्तविक रूप को समझ सकने मे समर्थ हुए हैं। पर यह सोचना कि मात्र इस रहस्योद्घाटन से ही व्यक्ति के सभी कार्य-प्रक्रियाओ, विचारो तथा भावनाओ को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—भ्रमपूर्ण होगा। यदि मनोविज्ञान मनुष्य के कार्य-प्रक्रियाओ, विचारो तथा भावनाओ की व्याख्या विषयगत कारणो से करता है, तो यथार्थवादी इसका विरोध करता है। फ्रायड, हैवलाक एलिस, पॉवलोव, एडलर तथा युंग आदि मनोवैज्ञानिको के सिद्धान्तो की सहायता से व्यक्ति का कभी कोई पूर्ण चित्र उपस्थित नही किया जा सकता तथा मनुष्य को उसके व्यक्तिगत क्रान्ति मे चित्रित नही किया जा सकता। हालाँकि यह स्वीकारने मे किसी को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि इनकी वैज्ञानिको ने मानव ज्ञान की यथेष्ट मात्रा मे अभिवृद्धि की है और उसे नवीन परिवेश मे नित्य नवीन आयाम प्रदान किए हैं और यदि कहानीकार इनकी उपेक्षा करता हैं, तो वह उसका अविवेकपूर्ण दुराग्रह है। लेकिन इस नवीन मनोवैज्ञानिक ज्ञान ने व्यक्ति को उसके पूर्ण रूप मे परख करने मे अपने आपको नितान्त रूप से असमर्थ पाया है। उन्होने हमे जीवन का वह असत्य, कृत्रिम और अस्वाभाविक दृष्टि परिवेश प्रदान किया है,

जिसने जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय को उनके कला सृजन मे सहायता प्रदान की है। उन्होने इसी कृत्रिमता के आवरण मे बजाय पूर्ण मानव व्यक्तित्व के निर्माण के खण्डित मानव व्यक्तित्व का ध्वसात्मक सृजन किया है। आज मानव जीवन मे भीषण विषमताएँ है। मानव की प्रमुख समस्या रोटी की है, प्रेम की नही। हमारे राष्ट्र की सीमाओ पर बर्बर एव पशुवत् चीनी-पाकिस्तानी आक्रमण से राष्ट्र की स्वतन्त्रता को जबर्दस्त चुनौती दी गई है। आज हमारी परीक्षा का समय है। १९६२ मे चीनी आक्रमण के समय स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि अभी तक हम अपने ही निर्मित एक कृत्रिम सृष्टि मे साँस ले रहे थे और आगे बढ रहे थे। चीनी आक्रमण ने उस कृत्रिमता के आवरण को दूर किया है और हमे एक नए सत्य से परिचित होने का अवसर दिया है। ५ अगस्त १९६५ को कश्मीर में घुसपैठियो को भेजने और तत्पश्चात् २ सितम्बर १९६५ को छम्ब-जौडियाँ क्षेत्र पर अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा को पार कर पाकिस्तानी आक्रमण के समय वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा है कि शाति की नीति की भी एक सीमा होती है। शाति का अर्थ कायरता नही होता। गाँधी जी ने स्पष्टतया कहा था कि हिंसा और कायरता मे मुझे एक चुनना पडे तो मै हिसा ही चुनूँगा। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार कभी-कभी सुरक्षा का सर्वोत्तम ढग आक्रमण भी होता है। परिवर्तित परिस्थितियो मे ये सब नए सत्य एव यथार्थ है। हमारी कृषि अवस्था बहुत अधिक सतोषजनक नही है। हमे अधिकाश मात्रा मे अपनी अन्न की माग 'मित्र' राष्ट्रो से मगाकर पूर्ण करनी होती है, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय का काफी भाग अनावश्यक रूप से विदेशो को चला जाता है। व्यक्ति व्यक्ति के मध्य में घृणा का प्रसार हो रहा है। शोषण मे वृद्धि और पूँजीवाद को शक्ति प्राप्त हो रही है। जो देश के शासक है, मन्त्री हैं, वे भ्रष्टाचार के दलदल, परिवार पोषण, मित्र वर्ग-पोषण और आत्म-पोषण मे सलग्न हैं। युद्ध की स्थिति बनी हुई है। बेरोजगारी बढ रही है। व्यक्ति मर रहा है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को इस रूप विधान को पूर्णतया परिवर्तित कर नवीन क्रान्तिकारी समाज की रचना के लिए महान् सघर्ष करना पडेगा। यह एक ऐसा द्विपक्षीय सघर्ष है, जिसमे दोनो ही पक्ष एक दूसरे के ऊपर प्रभाव डालते और प्रभावित होते हैं। मनुष्य को इस तथाकथित सभ्यता को परिवर्तित करने के लिए क्रान्ति करनी पडेगी। मनोविज्ञान ऐसी प्रेरणा देने मे असमर्थ रहता है। यह प्रेरणा व्यक्ति के स्वय उसकी विषमताएँ, उलझनें, कुण्ठाएँ, वर्जनाएँ और समकालीन सकट ही प्रदान कर सकते हैं।

मानवीय आत्मा मे पूँजीवाद ने जो अराजकतावाद प्रसारित कर रखा है और निरन्तर मानव के रक्त की एक एक बूँद चूमकर उसका शोषण कर रहा है और प्राणहीन कर उसे दिशाहारा की भाति भटकने के लिए विवश कर रहा है, उसी पूँजीवाद के नाश के लिए व्यक्ति को क्रान्ति करनी होगी, नही तो वह जीवन-पर्यन्त

ही नही, आगे आने वाली अनेक शताब्दियो तक घुट-घुटकर मरता रहेगा, पूँजीवादी निर्दयता उस पर कभी तरस नही खाएगी—अत व्यक्ति को समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए सामूहिक रूप से जुटना होगा। पर यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल ऐसी स्थितियो के चित्रण करने से ही समाजवादी यथार्थवाद का उद्देश्य नही पूर्ण हो जाता है। हिन्दी के बहुत से मार्क्सवादी सिद्धान्तो मे विश्वास रखने वाले लेखक अपनी रचनाओ मे किसी सामाजिक क्रान्ति का चित्रण करते हैं, हड़ताल कराते है, सघर्ष अकित करते है, समाजवाद की स्थापना पर कथोपकथनो के माध्यम से भाषण देते है, वे वास्तव मे अपनी रचनाओ की पृष्ठभूमि को ही सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं। वह उनकी भयकर भूल है। केवल इसमे ही उनकी कहानिया समाजवादी यथार्थवाद को स्वाभाविक अभिव्यक्ति और प्राण नही दे सकती। इसके लिए आवश्यक है कि इस पृष्ठभूमि मे व्यक्ति का पूर्ण विकास चित्रित किया जाए, जो समाजवादी यथार्थवाद का चरम लक्ष्य है। मनुष्य मनुष्य है, जिसमे स्वय उसके और उसकी कार्य-प्रक्रियाओ के मध्य कोई अन्तर नही किया जा सकता। वह अपना जीवन स्वय जीता है और स्वय ही उसमे परिवर्तन करता है। मनुष्य स्वय अपना निर्माण और सृजन करता है। अत समाजवादी यथार्थवाद को मनुष्य का पूर्ण विकास उसी के सन्दर्भ मे चित्रित करना चाहिए। एजिल्स और मार्क्स दोनो ने ही शेक्सपीयर को एक आदर्श के रूप मे स्वीकारा है कि मानवीय व्यक्तित्व का प्रस्तुतीकरण किए प्रकार होना चाहिए और समाजवादी यथार्थवाद चित्रित करने वाले लेखको को शेक्सपीयर के पात्रो से और उसकी पद्धति से प्रेरणा करनी चाहिए। मानव व्यक्तित्व को जनमत का भी प्रतिनिधि होना चाहिए और स्वय अपना भी प्रतिनिधित्व करना चाहिए। यह तथ्य, इस सन्दर्भ मे, विशेष उल्लेखनीय है कि पूजीवादी और समाजवादी यथार्थवाद मे अन्तर है। एक स्पष्टत. सीमित परिवेश मे गतिशील होता है, दूसरा असीमित सीमाओ मे दिशोन्मुख होता है। यह राजनीतिक या दलगत दृष्टिकोण नही है, वरन् व्यापक रूप से यह एक विशेष दृष्टिकोण है, वास्तव मे पूँजीवादी यथार्थवाद शोषण और विध्वस तक सीमित है, पर इसके विपरीत समाजवादी यथार्थवाद निर्माण एव व्यक्ति के विकास पर बल देता है। साहित्य मे एक भ्रान्ति और फैली हुई है कि समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने वाले अधिकाश कहानीकार अपने को मार्क्सवाद का उत्तराधिकारी समझते हैं और अपनी रचनाओ मे खुलकर इसका प्रचार किया है। उनकी इस प्रचार वृत्ति का कोई और प्रभाव पडा हो या न पडा हो, इतना तो उन्होने प्रचारित कर ही रखा है कि जो मार्क्सवादी नही है, उन्हे सामाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करने का कोई अधिकार नही है। पर यह नितान्त भ्रातिमूलक धारणा है। समाजवादी यथार्थवाद के चित्रण का और कम्यूनिस्ट होने से कोई सम्बन्ध नही है। दूसरे क्षेत्रो से आने वाले

ऐसे लेखक जो साम्यवादी नही हैं, भी समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण कर नवीन आयाम इस दिशा मे स्थापित करने मे समर्थ होते है। इसके लिए यह आवश्यक नही है कि वे अपने को साम्यवाद होने की घोषणा करे और अपनी रचनाओ मे केवल इसी सत्य को प्रचारित करने का प्रयत्न करे। साम्यवादी कहानीकार जब तक इसे नही स्वीकारते, वे अपने क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर देते हैं। समाजवादी यथार्थवाद समाज की विषमताओ और उनसे व्यक्ति के सघर्ष एव स्वय मानव व्यक्तित्व के विकास का चित्रण करता है। पर केवल 'सघर्ष और 'क्राति शब्दो के आ जाने से उसे साम्यवादी रग मे रगना तर्क सगत नही है। समाजवादी यथार्थवाद का परिवेश इस सीमित दायरे से भी अधिक व्यापक है और उसे सकुचित अर्थो म ग्रहण करना विवेकहीनता का परिचायक है। समाजवादी यथार्थवाद भविष्य के प्रति आशावान् बना रहता है और सत्य की प्रतिष्ठा करना अपना धर्म समझता है।

मानव की नवीन भावभूमियो पर मूल्यॉकन कर सत्यान्वेषण के प्रति समाजवादी यथार्थवाद आग्रहशील रहता है और मानव व्यक्तित्व का विकास कर उसमे आशा और विश्वास का सचार करता है। समाजवादी यथार्थवाद वर्ग-वैषम्य को समाप्त कर पू जीवाद का नाश चाहता है और ऐसे समाज की स्थापना चाहता हे जिसमे विकास करने जीवन जीने सुखी रहने का सबको समान अवसर प्राँप्त हो। समाजवादी यथार्थवाद मनुष्य मे आशा एव आत्मविश्वास की भावना जगाकर उसे नवीन प्रेरणा देता है। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य और कला मे यथार्थवादी चित्रण पर बल देता है। मानवीय शक्तियो के विकास के प्रति वह आग्रहशील है। वह मानव प्रगति की अवरोधक शक्तियो का रहस्योद्घाटन करता है। इसका कार्य अतीत काल का व्याख्यात्मक चित्राकन मात्र नही वरन् वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओ को एक सूत्रता मे आबद्ध करने मे सहायक होना एव भविष्य के लिए महान् समाजवादी उद्देश्यो का स्पष्टीकरण करना भी है। समाजवादी यथार्थवाद व्यापक दृष्टिकोण को अपनाता है और इसकी क्षमता उन्ही लेखको मे व्याप्त हो सकती है, जो वर्तमान को भविष्य के सन्दर्भ मे मूल्याकित कर सकने मे समर्थ है। यही दृष्टिकोण वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद की आधारशिला होनी चाहिए। उसकी विशेषता प्रमुख रूप से दूरदर्शिता मे ही निहित है। वह भविष्य के प्रति अत्यधिक आस्थावान् एव मानव जीवन की अखण्डता के प्रति निष्ठावान् है। वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद अतीत की व्याख्या, वर्तमान का मनन चिंतन एव भविष्य के प्रति दूरदर्शिता की शक्ति अपनाने पर बल देता है। समाजवादी यथार्थवाद उस वर्ग की भाँति, जिसका वह निर्माण करता है, वर्तमान और भविष्य मे अवस्थित रहता है। यह पूण साहस एव आत्मविश्वास से भविष्य का सामना करता और आशावादी भविष्य के परिप्रेक्ष्य मे ही वर्तमान को चित्रित करता है। इस प्रकार बर्जुआ समाज

के सामाजिक यथार्थवाद से समाजवादी यथार्थवाद बिल्कुल अलग हो जाता है। एक हमे रूढियो की सकीर्णता मे पीछे खीचता है, तो दूसरा हमे रूढि मुक्त कर प्रगतिशीलता की ओर लिये चलता है। इस प्रकार एक सीमित है दूसरा गतिशील है। समाजवादी यथार्थवाद किसी राजनीतिक मतवाद का घोषणा-पत्र नही : वरन् आस्था एव सकल्प से सम्बन्धित एक प्रगतिशील दृष्टिकोण है। इस प्रकार स्पष्ट है और ऊपर कहा भी जा चुका है कि इसके चित्रण के लिए लेखक का कम्यूनिस्ट होना किसी भी रूप मे आवश्यक नही है। जिस लेखक मे सजग सामाजिक चेतना होगी, प्रगतिशील दृष्टिकोण होगा और सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने की भावना होगी, वह चाहे कम्यूनिस्ट हो, या न हो, वह समाजवादी यथार्थवाद का ही चित्रण करेगा और करता है।

हिन्दी मे समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण प्रारम्भ करने का श्रेय वैसे प्रेमचन्द को है और उसे यशपाल ने कुछ आगे बढाया भी, पर दोनो ही समाजवादी यथार्थवाद का सफल चित्रण करने मे असमर्थ रहे हैं। प्रेमचन्द तो अपने आदर्शवाद के कारण असमर्थ रहे और यशपाल अपनी अतिरिक्त सिद्धान्तवादिता के कारण ऐसा नही कर सके। उन्होने कभी अपना कदम सिद्धान्तवादिता के आगे नही बढाया, इसीलिए उनकी रचनाओं मे गढनशीलता अधिक है। वे अपने सिद्धान्तो के लिये पात्र गढते हैं, जो अपने आप मे प्राणहीन होते हैं . इसीलिये वे पात्र कोई क्रान्ति या सघर्ष उत्पन्न नही करते, वरन् कहानीकार स्वय अपनी घोषणाओ द्वारा यह करने का प्रयत्न करता है। यशपाल के अतिरिक्त रागेय राघव, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त आदि कहानीकारो ने इस युग मे समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण अपनी कहानियो में किया है।

पीछे कहा जा चुका है कि इस युग की कहानी का मूलाधार मनोविज्ञान बन गया और इस सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के प्रति कहानीकारो का आग्रह बढा। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद यद्यपि वाह्य जगत् की सत्ता को अस्वीकारता नही तथापि मानवीय अन्र्जगत, उसकी बौद्धिकता एव भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यष्टि चेतना की गहनता की माप एव चेतना मन के आधारभूत उपचेतन एव अचेतन का रहस्योद्घाटन करता है। मानवीय चेतन मन दुर्बल एव शक्तिहीन है। वह प्रगतिशील जीवन के परिस्थितिजन्य बन्धनो की शृ खलाओ को विच्छिन्न करना चाहता है और अवचेतन मन की अतृप्त कामनाओ, कुण्ठाओ एव वर्जनाओ से प्रेरणा ग्रहण कर तृप्ति के अन्वेषण के प्रति गतिशील होता है। यह अवचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है और प्रत्येक नियत्रण एवं सीमाओ को अस्वीकृत कर देता है, पर मनुष्य जीवन जीने के लिये मर्यादाओ एव अनुशासन का पालन करना होता है। अवचेतन मन के लिये सभ्यता, संस्कृति

एवं श्लीलता अर्थहीन होते है, पर चेतन मन के लिये यही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य होती है। इस प्रकार एक विरोधाभास एव कटुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रकाशन मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद करता है। यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप मे करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रन्थियो को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध विक्षिप्त, काम लोलुप और मानसिक विकारो से ग्रस्त रोगी के रूप मे परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एव अवाँछनीय तत्वो के चित्रण पर बल दिया जाने लगा। जहा तक मानव-स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य जैसा है, उसे स्वीकारने मे न तो किसी को आपत्ति होनी चाहिये और न ही उस पर किसी को लज्जा होनी चाहिये। यह सत्य है कि इस क्षणवादी युग में कोई भी मनुष्य स्वय मे पूर्ण नही है। सभी भीतर से टूटे हुए है, बिखरे हुए हैं, सभी की आत्माएँ खडित है, सभी के विश्वास जर्जरित हैं। यह सभी सत्य है कि मनुष्य मे वासना है, पाप है, घृणा है, कोई मनुष्य इससे वचित नही है और इसे अस्वीकारना सत्य-विमुख होना होगा। यथार्थवाद की रक्षा के नाम पर कहानियो मे इसके चित्रण पर भी किसी को आपत्ति नही होना चाहिये। पर जब मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम पर यथार्थवाद की रक्षा एव सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण करने के बहाने मनुष्य की अन्य समस्याओ को छोड केवल काम इच्छाओ एव उनके हनन से होने वाले 'दुष्परिणामो' का रसमय चित्रण किया जाने लगता है, तो यह अवाछनीय होता है, साथ ही साहित्य की श्रेष्ठता एव गौरव के लिए कलकपूर्ण भी :

दुःख तो तब होता है, जब ऐसे गोपनीय स्थलो के चित्रण मे लेखक साकेतिकता छोड़ विवरणात्मकता पर उतर आता है और यह भूल जाता है कि साहित्य सृजन की भी कुछ सीमाएँ हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक लेखक के लिए वाँछनीय होता है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मोपलब्धि पर तो बल देता है, पर उसकी सृजन प्रक्रिया मे आत्मान्वेषण का मार्ग अत्यन्त सीमित, सकीर्ण एव विषमताओ से पूर्ण है। वह मनुष्य के आत्मत्व को पूर्ण निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यत: विकृत प्रवृत्तियो से परिपूर्ण स्वीकारता है, इसीलिये मनुष्य का अत्यन्त घृणास्पद चित्र उपस्थित करने मे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद सहायक होता है। मोटे रूप से मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर ही अधिक बल दिया है और उसकी अवचेतन मन की प्रक्रियाओ का यथार्थवादी ढग से चित्रण किया जाने लगा। इस प्रक्रिया मे व्यक्ति की सामाजिकता समाप्त हो गई और व्यक्तिवादी सत्ता वियसित होने लगी व्यक्ति और समाज के मध्य खाई बढने मे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद महत्वपूर्ण रूप से क्रियाशील रहा है। मानव अन्तस मे बडी जटिलताएँ हैं। वहा आदर्श और आदर्शहीनता का साम्य है। वहाँ लज्जा और लज्जाहीनता का साम्य है। वहाँ सभ्यता और असभ्यता

का साम्य है। मनुष्य इसी साम्य को बनाये रखने का निरन्तर अथक प्रयास करता है, पर वह कम ही सफल हो पाता है। यह साम्य बनता-बिगडता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अत्यन्त विचित्र-विचित्र व्यवहार करने लगता है और उसका व्यक्तित्व विचित्रताओ का सग्रहालय बन जाता है। एक व्यक्ति प्रेम मे अत्यधिक वासनापरक होता है। वह प्रेम के सम्बन्ध मे सामाजिक अनुशासन को अस्वीकृत करता है। उसका प्रेम केवल स्वार्थ पर आधारित होता है और भोग को ही वह प्रेम का एकमात्र उद्देश्य समझता है और जीवन मे नित्य नई-नई नारियो से सपर्क की कामना करता है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद मानव व्यक्तित्व की इस बाह्य विशेषताओ का वर्णन तो करता ही है, वह थोडी और गहराई मे जाकर उन प्रवृत्तियो के अन्वेषण का प्रयत्न करता है, जिसके परिणामस्वरूप वह व्यक्ति इस विशेष स्वभाव का बन गया। उन अन्वेषित प्रवृत्तियो के वर्णन मे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी सयम-असयम जैसे प्रश्नो को ठुकरा देता है और यथार्थवाद पर बल देते हुए उनका सत्य चित्रण करता हैं। आधुनिक कहानियो का यही धर्म स्वीकारा गया कि वे व्यक्ति के अतिरिक्त जीवन भावनाओ एव विचारो को चित्रित करे। वैसे आज नैतिकता की परिभाषाएँ काफी परिवर्तित हो चुकी हैं और कल उनमे और भी परिवर्तन होगा यह सर्वथा निश्चित है। इसके साथ ही आज सामाजिक अनुशासन पूर्णतया विच्छिन्न हो गया है और कल सामाजिक अनुशासन का कोई नाम भी लेगा, इसमे सन्देह है। सामाजिक सयम और मर्यादा तो आज ही अस्वीकार जाने लगे हैं। ऐसी स्थिति मे प्रश्न उठता है कि कहानीकार का दायित्व क्या है? निर्माण का या विध्वश का? क्या वह ऐसी कृतियो का सृजन करे, जिनमे यथार्थवाद के नाम पर ऐसी प्रवृत्तियो का चित्रण हो, जो व्यक्ति की मन स्थिति पर निराशा और घुटन के कुहासे बादल चीरकर आशा और विश्वास की नवीन राशियाँ बिखेर कर उसे निर्माणोन्मुख करे, या वह ऐसे कामुक साहित्य का सृजन करे, जिसे पढकर पाठक 'रसास्वादन' करे! जहाँ तक मैं समझता हू ध्वसात्मक साहित्य सृजन से तो अच्छा है कि 'साहित्यकार' कोई व्यवसाय प्रारम्भ करे, या कुछ और करे, पर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को गुमराह करके उसे दिशाहारा की भाँति भटकने की प्रेरणा देने का उसे कोई अधिकार नही है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की इन परिस्थितियो मे कठिन परीक्षा होती है, यथार्थवाद के चित्रण के साथ किसी को भी शिकायत नही हो सकती, पर यथार्थवाद के चित्रण के साथ यह महत्वपूर्ण तथ्य सदैव ही स्मरण रखना चाहिए कि यथार्थवाद के साथ निर्माण का भी प्रश्न कम महत्वपूर्ण नही है।

मनुष्य के अन्तस की सभी भावनाओ के सत्य चित्रण पर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद बल देता है। पर इसने साहित्य और समाज को कामुक तथा उत्तेजक कथानक दिए हैं, जो अवाछनीय एव अशोभन है। इसने ऐसे पात्रो का सृजन किया है, जो

बीमार है कामलोलुप है, काम एव अतृप्त वासना के कारण जिनके व्यक्तित्व खण्डित है जिनके जीवन मे प्रारम्भ से अन्त तक सेक्स ही सेक्स है। उनके अन्दर ऐसी गर्मी है कि १०३° या १०५° के बीच मे बुखार होने के बावजूद नल पर नहाती हुई किसी कमला, बिमला या नीला को देख या अपनी खिडकी के नीचे से जाती हुई किसी नीता रीता, या अनीता को देखकर 'सौन्दर्य बोध' से अभिभूत हो झट ऊपर मंजिल से नीचे कूद जाएगे, उसे अपनी बॉहो मे भरकर उसके 'गर्म' ओठो पर अपने 'गर्म' ओठ रख देगे और चुम्बनो की बौछार कर देगे। डी० एच० लोरेंस ने तो यहा तक कहा कि मनुष्य के अन्तस को किसी कैदी की भाति पिंजडे मे बन्द न रखकर मुक्त कर देना चाहिये। उसकी इच्छाओ एव भावनाओ को नियन्त्रित करना श्रेयस्कर नही है, उन्हें 'स्वतन्त्र वायु' मिलती रहनी चाहिए, जिससे उन्हे प्राण सजीवनी मिलती रहे। मानव जीवन का सुख और उल्लास इसी मे निहित है। आधुनिक युग इसी विचार-धारा मे बह चला, जिसकी उपलब्धि शून्य है। मैं पूर्ण विश्वास से कह सकता हू कि ऐसे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के चित्रण से कोई लाभ न हो रहा और न होगा, जो मनुष्य के निर्माणोन्मुख न करके उसे कामलोलुप बनाए और प्रेरणादायक यथार्थवादी साहित्य न प्रदान कर वासनापरक कामोत्तेजक साहित्य प्रदान करे। यहॉ यह सब कहने का मेरा यह अभिप्राय बिल्कुल ही नही है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का पूर्ण तिरस्कार होना चाहिये और उसका चित्रण कहानियो मे न होना चाहिये। मनुष्य के अन्तस मे ऐसे अनेक भाव है, जिन्हे हम सांकेतिक ढग से भी चित्रित करके मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के महत्व की रक्षा कर सकते है और साहित्य को विकृतियो विध्वस की छाया एव कामोत्तेजना के प्रभाव से बचा सकते है।

मनोविज्ञान का दूसरा रूप मनोविश्लेषणवाद के रूप मे प्राप्त होता है जो मुख्यतया फ्रायड के सिद्धातो से सम्बन्धित है। उसके सिद्धात व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ होते है और उसकी मृत्यु के समय रुक जाते है, जब उसका अवचेतन क्रियाहीन हो जाता है और मृत्यु-जीवी की विजय होती है। उसके सिद्धातो मे हमारे जीवन के अवचेतन काल और हमारी निद्रा का समावेश है। प्लेटो के 'Republic' का उल्लेख करते हुए फ्रायड का कथन है कि प्राय सभी विशेषताओ से सपन्न कोई व्यक्ति उन सभी अवाछनीय कार्यों को करने का स्वप्न देखकर ही सतोषकर लेता है, जो कोई व्यक्ति मे होते हैं। फ्रायड न केवल अवचेतन मस्तिष्क अस्तित्व को स्वप्नो के लक्ष्य से सिद्ध ही करता है, अपितु उसका मनुष्य जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान भी सिद्ध करता है। अवचेतन वह गहन सुरक्षित स्थान है। जहा अवाँछनीय तत्व सग्रहीत होते रहते हैं। जीवन के ये अवाँछनीय तत्व अधिकाँश रूप मे काम से सम्बन्धित होते हैं। स्वप्न इस कथन की साकारता सिद्ध करते हैं क्योकि स्वप्नो के

प्रत्येक तत्व की काम सबधी व्याख्या होती है । फ्रायड के अनुसार स्वप्नों की व्याख्या मानसिक जीवन मे अवचेतन के ज्ञान का साधन है । यह अवचेतन किसी प्रकार भी प्रकार की सीमा बन्धन नही स्वीकारना चाहता, इस लिए फ्रायड ने यह तर्क उपस्थित किया कि एक प्रकार का चेतन प्रहरी भी अवचेतन के साथ क्रियाशील रहता है, जो अवचेतन की इच्छाओ एव प्रक्रियाओ को नियन्त्रित करता है । इस नियन्त्रण का कारण यह है कि अवचेतन की इच्छाएँ या प्रतिक्रियाएँ, जो काम सम्बन्धी हैं, उनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति मनुष्य की चेतनता से टकराती है, जो बाह्य सृष्टि से सचालित होती है तथा जिसमे नैतिक मान्यताओ, सभ्य व्यवहारो की अनिवार्यता और अनुशासन सम्बन्धी आवश्यकता का समावेश होता है । इस अवचेतन की काम सम्बन्धी भावनाओ के नियन्त्रण के दुष्परिणाम होते हैं और जीवन मे अत्यन्त विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । जीवन स्वाभाविक अवस्था मे आस्थाहीन ढग से तभी जीया जा सकता है, जब किसी प्रेम बिन्दु की दिशा मे काम भावनाओ की गतिशीलता स्वतन्त्र और अवरोध मुक्त रहती है । काम भावनाओ की शक्तियो का सामाजिक उद्देश्यो के लिए उदात्तीकरण पूर्णतया कृत्रिम और खतरनाक है, क्योकि यह उदात्तीकरण 'त्याग' की माग करता है और इस प्रकार कुण्ठित काम भावनाएँ अन्य प्रकार से अपने को 'शान्त' करने का प्रयत्न करती है । उदाहरणार्थ आत्मप्रेम, आत्महनन और आत्मपीडन आदि मे मनुष्य सन्तोष खोजने लगता है, जो मानव-व्यक्तित्व के लिए हानिप्रद है । और क्योकि इसमे से किसी के भी परिणाम अवाछनीय हैं नियन्त्रण रखने का कार्य भी अवाछनीय है । पर वास्तव मे काम-भावनाएँ हैं क्या, इसका फ्रायड ने कभी सन्तोषजनक उत्तर नही दिया । पहले उसने कहा था कि यह पूर्व-चेतन मे स्थित है और चेतन की रक्षा उन अवाछनीय अशोभन विचारो से करता है, जिनका जन्म अवचेतन मे होना है किन्तु इस व्यवस्था मे वह बाद मे सन्तुष्ट नही हुआ और उसने मनुष्य के मानसिक स्थान वृत्त को पुन सगठित करने का निश्चय किया और इस प्रकार उसने मनोधात्व को Super Ego, Ego और Id मे विभाजित कर दिया ।

फ्रायड के इस नए विभाजन की अत्यन्त तीव्र आवश्यकता थी, क्योकि उसके पहले के चेतन, पूर्व-चेतन और अवचेतन का विभाजन सन्तोषजनक नही था । उसका सेन्सर का सिद्धान्त ही पूर्णतया असन्तोषजनक था । मानसिक जीवन के उसके नवीन विवरण में ID द्वारा प्रकट की गई इच्छाओ का Ego दमन कर्त्ता है । ID का सम्बन्ध काम-भावनाओ से रहता है । Super Ego सभी सामाजिक अनुशासन सम्बन्धी विचारो का प्रतिनिधित्व करता है । तब भी ego और Super ego का क्षेत्र अवचेतन मे भी पडता है, साथ ही पूर्व-चेतन और अचेतन से क्षेत्रो मे भी । ऐसी स्थिति मे स्पष्ट है कि ego काम-भावनाओ के दमन का कार्य करता है, क्योकि Super ego

एक नैतिक आलोचक बन जाता है, जो ego मे अचेतन अपराध भावना बनाए रखता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रायड ने Super ego का एक छोटा सा अग चेतन क्षेत्र मे स्वीकारा, जबकि I) पूर्णतया अचेतन है। इस प्रकार फ्रायड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अब सेन्सर का दमन कार्य स्वयमेव होगा, न कि व्यक्ति पर अपनी इच्छा पर निर्भर होगा। जब यह चेतन मन का प्रतिरोधक सुप्तावस्था मे होता है, तभी स्वप्नो का निर्माण होता है, जिनके मूल मनुष्य की अतृप्त आकाक्षाएँ और वासनाएँ होती है। फ्रायड का मनोविश्लेषण का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। उसके अनुसार मनुष्य की काम सम्बन्धी इच्छाएँ स्वाभाविक और अनिवार्य हैं और उसने जीवन के विकास मे इसकी सापेक्षिकता प्रमाणित की है। काम इच्छाओ से कोई व्यक्ति विमुख नही हो सकता और इसके आधार पर निर्मित पाप पुण्य, नीति-अनीति आदि की मान्यताएँ भ्रातिपूर्ण है। मनोविश्लेषणात्मक पद्धति के अनुसार व्यक्ति का असन्तोष, उसकी पीडाएँ निराशा आदि कुठाजन्य परिस्थितियो के कारण उत्पन्न होती हैं। ये कुंठाए व्यक्ति के अचेतन मे सग्रहीत रहती हैं और मानव जीवन को सचालित करती हैं। यह चेतन मन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। मनुष्य इसलिए इसके हाथो मे अवश सा जीवन मे गतिशील होता है। मनुष्य के आन्तरिक जगत का अध्ययन ही साहित्य मे मनोविश्लेषणवाद कहलाता है। फ्रायड मन की सक्रियता मे विश्वास प्रकट करता है। मन का वास्तविक कार्य बुद्धिपरक नही, अपितु आवेगात्मक है तथा चेतन और अचेतन दोनो ही अवस्थाओ मे मन प्रयत्नशील होता है। फ्रायड ने अचेतन पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार मन एक गम्भीर और तरगित सागर है। वह प्रत्यक्षो, बौद्धिक, प्रतिक्रियाओ, विचारो और सवेदनाओ का ही समूह नही है और न विचार या सवेदना आदि से मुक्त एक आध्यात्मिक पदार्थ ही है। अपने सिद्धान्तो मे फायड ने काम' शब्द का प्रेम के लिए अत्यधिक व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया है। तथा काम के नियन्त्रण का प्रबल विरोध किया है। फ्रायड के अनुसार शिशु मे आत्मरति होती है। वह अपने शरीर से प्रेम करता है और स्वाभाविक प्रवृत्तियो की तृप्ति से सुख लाभ करता है। इस अवस्था को आत्माशक्ति की अवस्था कहते हैं। ज्यो-ज्यो वह बडा होता जाता है, त्यो-त्यो वह समलिंग कामुक या समलिंगिय के साथ व्यभिचार करने लग जाता है। एक लडका ज्यो-ज्यो प्रौढ होता जाता है। एक युवक युवती से प्रेम करता है। इसी प्रकार आत्मरति, समलिंगिय रति और विषमलिंगिय रति है, जो मातृ-ग्रथि और पितृ-ग्रथि का रूप लेती है। मातृ-ग्रथ पुरुष शिशु का अपनी माता के प्रति आकर्षण और अपने पिता के प्रति द्वेष की प्रवृत्ति है। जब विषमलिंगीय रति के आगमन के साथ वास्तविक लिंगीय कामुकता का उदय होता है, उसके पूर्व ही ये ग्रन्थियाँ निर्मित हो जाती हैं।

जैसे-जैसे बालिका की आयु वृद्धि होती जाती है, सामाजिक नियन्त्रण के कारण

पिता के प्रति उसकी वासना का दमन होता जाता है और वह एक अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। यह दबी हुई अचेतन पितृ ग्रन्थि अनेक मानसिक विकृतियो को जन्म देती है। फ्रायड ने दो अन्य अभिव्यक्तियो की भी बात कही है, जो स्व-पीडन जनित कामानन्द और पर-पीडन जनित कामानन्द का रूप लेती है। पहले अपने को पीड़ित करने की प्रवृत्ति, दूसरी प्रेम के विषय को पीडित करने की प्रवृत्ति है। फ्रायड निर्दयता और विनाशता के सभी अन्य रूपो का समावेश करके काम प्रत्यय को व्यापक बना देता है। इसे उसने जीवन-प्रवृत्ति कहा है। जिसकी विरोधिनी मृत्यु प्रवृत्ति है। कुछ व्यक्तियो मे आत्मघात की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। शाश्वत शान्ति या निर्वाण की इच्छा मृत्यु प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति के अन्दर कोई प्रवृत्ति ऐसी होती है, जिसका लक्ष्य मृत्यु होता है। वह आत्म-पीडन और प्रेमी व्यक्ति के पीडन तक की जीवन प्रवृत्ति और मृत्यु प्रवृत्ति का सम्मिलित फल मानता और दोनो के विरोध को स्वीकारता है। वास्तव मे फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धात कामुकता दमन और शैशवावस्था के तीन स्तम्भो पर आधारित है। शैशवावस्था मे बालक की अतृप्त कामुकता दबी हुई अचेतन इच्छा का रूप धारण कर लेती है। इससे स्थायी ग्रन्थि का निर्माण हो जाता है। यह ग्रन्थियाँ पीडा की अनुभूति से रगे हुए विचारो के समुच्चय हैं। इस प्रकार फ्रायड के अनुसार अचेतन मन की सबसे प्रबल वासना काम वासना है। काम-वासना सम्बन्धी भावनाओ पर सामाजिक नियन्त्रण रहता है।

एक दूसरे मनोवैज्ञानिक विद्वान एडलर ने इससे भिन्न अपना विचार प्रकट किया। उसके अनुसार प्रभुत्व कामना या आत्माभिव्यक्ति ही मनुष्य की प्रबल इच्छा होती है। मनुष्य जन्म लेने के कुछ समय पश्चात ही अपनी हीनता या असहायावस्था की अनुभूति से पीडित होने लगता है। वह अज्ञात रूप से अपनी हीनता और विवशता से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करना प्रारम्भ कर देता है। जाने अनजाने प्रत्येक व्यक्ति दूसरे पर विजय प्राप्त कर उस पर अपनी महिमा प्रतिपादित करने का प्रयास करता है। उसमे महत्त्वाकाक्षाएँ होती हैं। सबसे उच्च स्थान प्राप्त करने और सम्मानित होने का स्वप्न होता है और उसे ही साकारता प्रदान करने का वह प्रयत्न करता है। अपने व्यक्तित्व मे न्यूनताओ को छिपाकर अपनी विशेषताओ को अधिकाधिक विकसित कर वह समाज मे दूसरो की श्रद्धा का पात्र बनना चाहता है। प्राय पढने-लिखने मे कमजोर विद्यार्थी कुशल खिलाड़ी बन जाते है। इसका कारण यही है कि विद्यार्थी की मन स्थिति मे शिक्षा के प्रति कोई रुचि नही है और अपनी असफलताओ से भी वह अनभिज्ञ नही रहता, अत वह अपने खेलने की कला का अधिकाधिक विकास कर अपनी शिक्षा की कमी पूर्ण कर मानसिक तुष्टि प्राप्त करता है। यही पौरुष विरोध है, जिससे मानस जीवन सचालित होता है। वास्तव मे मानव अपनी कमियो को छिपा कर, अपनी विशेषताओं में वृद्धि कर दूसरों को प्रभावित करने का जो प्रयत्न करता

है, उसी मे जीवन की गति भी सन्निहित होती है और मानव जीवन के सचालन का सूत्र उन्ही के हाथो मे रहता है, मनुष्य अपने अन्दर एक जीवन शैली का निर्माण कर है और उसी के अनुरूप जीवन को गतिशील करने का प्रयास करता है। फ्रायड ने मानसिक विकृतियो की पृष्ठभूमि मे दमित-शमित काम-वासनाओ की क्रियाशीलता स्वीकृत की थी। उसके अनुसार मानसिक सन्तुलन इसलिए समाप्त हो जाता है क्योकि दमित-शमित काम भावनाएँ अचेतन से मुक्त हो चेतन के साम्राज्य मे घोर अराजकता और प्रबल अशान्ति की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। किंतु एडलर ने इसे नही स्वीकारा। मानसिक विकृतियो का कारण उसके अनुसार यह है कि अपने को अत्यन्त श्रेष्ठ और सबकी श्रद्धा का पात्र बनाने की जिस जीवन शैली का निर्माण मनुष्य के अन्दर हुआ है, उसमे सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शो का सामजस्य सम्भव नही हो सकता। इस जीवन शैली का निर्माण सभी मे होता है क्योकि सभी हीनता की भावना से पीडित होते है।

युग ने समाज प्रेम की वासना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे अपने प्रभुत्व आकर्षण व्यक्तित्व और दूसरो पर अपनी उच्चता का भाव जमाने की प्रबल आकाक्षा होती है, उसी भाति समाज के साथ ऐक्य स्थापित करके समाज के साथ अपने आदर्श सम्बन्ध बनाने की इच्छा भी वर्तमान रहती है। युग ने मानव को दो वर्गों मे विभाजित किया है—बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी व्यक्ति मे सामाजिक वृत्तिया, दूसरो से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की भावना प्रबल रहती है। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति मे सामाजिक भावनाओ की न्यूनता होती है, वह अपने को अपने तक ही सीमित रखता है।

इसी समय गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का भी अधिक प्रचलन हुआ। उसके अनुसार अनुभव या व्यवहार का प्रत्येक रूप एक अपूर्व समष्टि है, जिसका तत्वो मे विश्लेषण नही हो सकता। इसने सगठित समष्टियो पर बल दिया है। मानव तन एक गेस्टाल्ट है, वह भागो या अवयवो का योग-मात्र ही नही है। हम किसी वस्तु को एक समष्टि या इकाई के रूप मे ही देखते है, हम उसे भागो के समूह के रूप मे नही देखते प्रत्यक्ष का विषय सदैव एक समष्टि एक गेस्टाल्ट होता है। प्रत्यक्ष मे आकृति और पृष्ठभूमि मे अन्तर है, पृष्ठभूमि आकृति का प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार शशि आकृति होता है, नभ पृष्ठभूमि। पृष्ठभूमि की सीमा अनन्त होती है, जो आकृति की अपेक्षा महत्वहीन होती है, क्योकि आकृति अधिक ध्यान आकर्षित करती है। मनोविश्लेषण की इन नवीन विचारधाराओ ने हिन्दी कहानीकारो को इस युग मे एक नवीन दृष्टि दी और उनमे शैलीगत नवोन्मेष की भावना का जन्म हुआ। जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय,और इलाचन्द जोशी तथा पहाड़ी आदि कहानीकारो ने अपनी कहानियो मे मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्तियो का चित्रण किया है।

इस युग की कहानियो मे अन्य प्रवृत्ति व्यक्तिवाद है। साधारण व्यक्तियो के दैनिक जीवन से कहानियो का सम्बन्ध प्राय. दो महत्वपूर्ण तथ्यो पर आधारित रहता पहला तो यह कि समाज को प्रत्येक व्यक्ति का अत्यन्त उच्चस्तर पर मूल्याकन करना चाहिए और गम्भीर साहित्य के लिए उसे विस्तृत विवरणो मे विश्वास और कार्यों मे यथेष्ट अन्तर होना चाहिए। यह विवरण कम से कम इस प्रकार का होना चाहिए कि दूसरे साधारण व्यक्ति अर्थात जो पाठक है, वे भी अपनी रुचि प्रकट कर सकें। पर कहानी के अस्तित्व से सम्बन्धित दोनो तथ्यो मे से कोई भी अत्यन्त व्यापकता अभी हाल तक नही प्राप्त कर सका, क्योकि वे दोनो ही समाज के विकास पर निर्भर हैं, जिसमे व्यक्तिवाद से प्रतिपादित एक दूसरे पर निर्भर रहने के तत्व प्राप्त होते हैं। व्यक्तिवाद शब्द बहुत प्राचीन नही है। १९वी शताब्दी के मध्य से ही इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज मे असदिग्ध रूप से ऐसे कुछ व्यक्ति निश्चय ही रहते हैं, जो अपनी असाधारण स्थिति तत्कालीन विचारधारा से स्वतन्त्र रहने और अपनी 'स्वतत्र' चेतनशीलता के कारण व्यक्तिवादी कहे जा सकते हैं, पर व्यक्तिवाद का सिद्धात इससे भिन्न कुछ और ही है। इसकी परिधि मे एक पूरा समाज आ जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्वतत्र विचारधारा जो उसे दूसरे व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न स्थान प्रदान करती है तथा विचार एव कार्यों की प्राचीन परम्परा से अलग रहने की प्रवृत्ति से सचालित होता है : परम्परा एक ऐसी शक्ति है, जिसमे सदैव ही सामाजिक तत्वो का समावेश होता है, न कि व्यक्तिवादी तत्वो का। इस प्रकार के समाज का अस्तित्व स्पष्ट है एक विशिष्ट ढग से वैचारिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। विशेष रूप से एक आर्थिक और राजनीतिक सगठन पर, जो कि अपने सदस्यो को अपने द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों मे विभिन्न वैचारिक दृष्टिकोण अपनाने की तथा उस व्यक्तिगत आयडियोलॉजी अपनाने की स्वतंत्रता व्यापक, जो प्राचीन परम्पराओ पर नही, वरन व्यक्तिगत इच्छाओ पर आधारित होती है। चाहे उनकी सामाजिक स्थिति कुछ भी हो और चाहे उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाएँ कुछ भी हो।

यह साधारणतया निश्चित है कि आधुनिक समाज असाधारण रूप से इस सदर्भ मे व्यक्तिवादी है और इसके आविर्भाव को अनेक ऐतिहासिक कारणों मे दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। एक तो आधुनिक व्यावसायिक पूजीवाद का उदय एव विकास और दूसरे विरोधवाद का व्यापक विस्तार, विशेषता उसके शुद्धतावादी रूप काविस्तार पूँजीवाद ने आर्थिक संचयन मे यथेष्ट वृद्धि की और सामाजिक रूप विधान एव प्रजातात्रिक, राजनीतिक व्यवस्था से इसके परस्पर साम्य से व्यक्त की भावाभिव्यक्ति की स्वतत्रता की भावना की भी वृद्धि की। इसके परिणामस्वरूप नवीन आर्थिक सगठन तथा नवीन सामाजिक रूप-विधान आदि एक सामूहिक परिवार की भावना धार्मिक

भावना, एकता एवं सगटन की भावना, नागरिक भावना और किसी अन्य इसी प्रकार की सामूहिक एकता की भावना पर आधारित नही हुए । वरन व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता पर आधारित हुए । व्यक्ति अब स्वय अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक अभिनयो की पूर्णता के लिए अपने ही प्रति उत्तरदायी रहने लगा । यह कहना कठिन है कि कब इस नवीन परिवर्तन ने समाज को समग्र रूप मे प्रभावित करना प्रारम्भ किया । कदाचित् उन्नीसवी शताब्दी तक ऐसा नही हुआ था, पर इस आन्दोलन का सूत्रपात निश्चय ही १६वी शताब्दी के पूर्व हो चुका था । सोलहवी शताब्दी मे सुधारो और राष्ट्रीय राज्यो के उदय एव विकास मे आशिक सामाजिक समानता एव एकता को निर्णयात्मक ढग से चुनौती दी और प्रथम बार 'राज्य' ने पूर्ण 'व्यक्ति' का राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक परिवेश के बाहर सामना किया। यद्यपि परिवर्तन की गति पूर्णतया मद थी और सम्भवत व्यावसायिक पू जीवाद का तब और अधिक विकास हुआ, तभी प्रमुखतया एक व्यक्तिवादी सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का आविर्भाव हुआ और उसके कुल जनसख्या के अधिकाँश भाग को अपनी विचारधारा की उत्तेजना से प्रभावित करना प्रारम्भ किया । कम से कम यह सामान्य रूप से निश्चित है कि इस नवीन सगठन की नीव १६८६ की शानदार क्राति के पश्चात् पड चुकी थी ।

व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग, जो इस व्यक्तिवादी सामाजिक रूप-विधान की स्थापना की पृष्ठभूमि मे विशेष रूप से क्रियाशील थे, उन्होने और भी अधिक व्यापक राजनीतिक एव आर्थिक शक्ति प्राप्त कर ली थी । यह शक्ति पहले ही साहित्य मे प्रतिध्वनित होने लगी थी । नगरो मे मध्यवर्ग का उदय और विकास अत्यन्त तीव्रगति से हो रहा था और पाठक वर्ग मे उनकी सख्या तथा उनके महत्व मे आशातीत वृद्धि होती ही थी । किन्तु ठीक इसी समय साहित्य ने व्यवसाय एवं उद्योग का पक्ष ग्रहण करना आरम्भ कर दिया । यह एक प्रकार का नवीन विकास था । पूर्व लेखको, जिनमे स्पेन्सर, शेक्सपीयर, डॉन, बेन जॉन्सन, ड्रायडेन, आदि प्रमुख थे, ने परम्परागत सामाजिक एव आर्थिक रूप को अपना अन्यतम समर्थन प्रदान किया था और नवीन उदित होने वाले व्यक्तिवाद के अनेक सिद्धान्तो पर तीव्र प्रहार किए थे, किन्तु अठारवी शताब्दी के प्रारम्भ होने के साथ एडीसन, स्टील और डेनियल डेको आदि लेखको ने अपने पूर्व लेखको से विरोध प्रकट किया था और उनके द्वारा अपनाए गए मार्ग से अलग अपना एक नया मार्ग अपनाया । उन्होने सप्रयत्न आर्थिक व्यक्तिवाद पर समाजिक मुहर लगाना प्रारम्भ किया । यह नवीन उदय समान स्तर पर दर्शन के क्षेत्र मे भी परिलक्षित होता है । सत्रहवी शताब्दी के महान् ब्रिटिश साम्राज्यवादी अपने राजनीतिक और तर्क-शास्त्रीय विचारो मे उतने ही कट्टर व्यक्तिवादी थे, जितने कि वे अपने अध्यात्म क्षेत्र मे थे । बेकन ने कुछ

विशेष व्यक्तियों के वास्तविक विवरणों को एकत्रित कर सामाजिक सिद्धान्तों मे से अपने नवीन ढग को अपनाकर एक नवीन परम्परा की आशा प्रकट की थी। हॉब्स ने भी हर बात का अनुभव किया कि वह ऐसे विषय को उठा रहा है, जिस पर न पहले कभी उचित ढग से सोचा गया और न लिखा गया। यहाँ तक कि उसने अपने राजनीतिक और तर्क-शास्त्रीय सिद्धान्तो को व्यक्ति के मूलभूत मनोवैज्ञानिक रूप संगठन पर आधारित किया जबकि लॉक ने अपनी पुस्तक 'Two Treatise of Government" (१६६०) मे व्यक्तिगत अधिकारो पर आधारित राजनीतिक विचारो की वर्गगत व्यवस्था निर्मित की यह चर्चा परिवार या सम्राट की परम्पराओ से बिल्कुल ही विरुद्ध था। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन विचारको और चिन्तको ने व्यक्तिवाद के राजनीतिक एव मनोवैज्ञानिक पक्षो की अनुपम व्याख्या कर उनका प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। साथ ही ज्ञान के इस व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अग्रगण्य नेताओ के भी अथक प्रयत्नो से इस बात का आभास मिलता है कि कैसे इन्होने इस सिद्धान्त और अपने निष्कर्षो को स्वय अपने से और अपनी कृतियो की भिन्न-भिन्न धाराओ से सम्बद्ध किया था। और किस प्रकार ग्रीक के साहित्यिक रूपो के अयथार्थवादी प्रवृत्तियो और उनके सामाजिक नागरिक एव नैतिक दृष्टिकोणो तथा सृष्टिगत सत्ता के लिए उनकी दार्शनिक प्रमुखता मे आधारभूत साम्य है, उसी प्रकार आधुनिक साहित्य एक ओर तो आधुनिक अन्तात्मवाद से घनिष्ट रूप मे सम्बन्धित है और दूसरी ओर अपने सामाजिक क्षेत्र मे व्यक्ति से ठीक आदर्शवादी एव विश्वव्यापी भावनाओ पर क्लासिकल दृष्टिकोण की भाति, परिणामस्वरूप आधुनिक युग मे परिस्थितियाँ पूर्णतया परिवर्तित हो गई है।

इसकी प्रतिक्रियास्वरूप आधुनिक चेतना का परिवेश और व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्णतया व्यक्तिवादी हो गया है। व्यक्तिवादी दर्शन ने भी व्यक्ति की चेतना पर ही नही नवीन सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक एव आर्थिक सगठनो पर भी अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। व्यक्तिवादी आर्थिक सिद्धान्तो के कारण व्यक्तिगत एव सामूहिक सम्बन्धो का विशेषतया काम पर आधारित सम्बन्धो का महत्व पूर्णतया समाप्त हो गया और जैसा कि बेबर का कथन है कि मानव जीवन के बुद्धिहीन तत्वो मे काम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने का कारण यह है कि यह व्यक्ति के आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए किए गए कार्यों मे सबसे बडा सिरदर्द बन गया है। फलस्वरूप इसे व्यावसायिक पूजीवाद की आयडियोलॉजी के कठोर नियत्रण मे डाल दिया गया है। एक अन्य सुविज्ञ टी० एच० ग्रीन का कहना है कि श्रम के प्रगतिशील वर्गीकरण मे जब कि हम अत्यधिक उपयोगी नागरिक बन जाते हैं। तो हम मनुष्य के रूप मे अपनी पूर्णता समाप्त कर देते है। आधुनिक समाज का पूर्ण सगठन, नवीन सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्र प्रयत्नशीलता को समाप्त कर

देते हैं। और तब बहुत न्यून मात्रा मे मानव रुचि शेष रह जाती है। इस स्थिति का समाधान या तो कथा-साहित्य मे या फिर समाचार पत्रो मे प्राप्त किया जा सकता सकता है। वास्तव मे व्यक्तिवाद की स्थायी उपलब्धि धार्मिक आन्दोलन एव सुधार के कारण प्राप्त हुई, न कि धर्म निरपेक्षिता एव पुनर्जागरण के कारण। यद्यपि इस प्रकार के विवाद बहुत अधिक महत्व नही रखते और न तर्क-सगत ही कहे जा सकते हैं कि व्यक्तिवाद के उदय एव विकास की उपलब्धियो मे कौन तत्व अधिक महत्वपूर्ण थे और कौन तत्व महत्वशून्य थे। केवल इसी पर विवाद कर अपने मतो की प्रतिष्ठापना करना कोई विशेष लाभप्रद स्थिति नही होगी। किन्तु इतना निश्चित है कि साथ ही सत्य भी कि एक तत्व प्रोटेस्टेन्ट के सभी रूपो मे सव-सामान्य है कि मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य मध्यस्थ के रूप मे चर्च की सत्ता समाप्त हो गई। और उसके स्थान पर धर्म का एक सर्वथा भिन्न रूप प्रतिपादित हुआ, जिसमे व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत की गई और अपनी स्वय की आत्मिक अभिव्यक्तियो एव तत्सम्बन्धित रूप मे दिशोन्मुख होने का पूर्ण उत्तरदायित्व व्यक्ति के कन्धो पर ही डाल दिया गया। इस नवीन प्रोटेस्टेन्ट भावाभिव्यक्ति की दो मुख्य विशेषताएँ थी।

१ वह व्यक्ति द्वारा स्वय एक आत्मिक सता के रूप मे अपनी चेतना की वृद्धि करने की प्रवृत्ति।

२ नैतिक एव सामाजिक दृष्टिकोण को प्रजातान्त्रिक आधारभूमि पर स्थापित करने की प्रवृत्ति।

ये दोनो प्रवृत्तियाँ, विशेषतया राबिन्सन क्रूसो के लिए भी महत्वपूर्ण थी, साथ ही उस भावी अनुमान की भावना के विकास के लिए भी जिस पर कथा-साहित्य का रूप-गत यथार्थवाद आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक महत्वपूर्ण कर्तव्य के रूप मे स्वय अपना आत्मिक निरीक्षण एव दिशोन्मुख होने का यह धार्मिक विचार प्रोटेस्टेंट विचारधारा से भी प्राचीन है इसका अविर्भाव व्यक्तिवाद से हुआ और उसकी चरम अभिव्यक्ति आगस्टीन के 'Confessions' मे हुई। यदि ईश्वर ने स्वयं अपनी आत्मिक प्रवृतियो के मूल्यॉकन करने एवं फलस्वरूप दिशोन्मुख होने का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर डाल दिया है। तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उसने उनके दैनिक जीवन की घटनाओ मे अपने उद्देश्यो का आभास देकर उस सत्य को सम्भव कर दिया। अत शुद्धतावादियो ने अपने व्यक्तिगत अनुभवो मे प्रत्येक तथ्यो को नैतिक एव आत्मिक अर्थों मे अधिक शक्ति सम्पन्न एव तर्क-सगत रूप मे देखना एवं समझना प्रारम्भ कर दिया। इस व्यवस्था मे सभी आत्माओ के लिए समान अवसर उपलब्ध हो गया। परिणामस्वरूप सभी व्यक्तियो को जीवन के साधारण आचरणो मे अपनी आत्मिक विशेषताओ के विकास एव प्रदर्शन के लिए भी समान अवसर प्राप्त

हुआ। यह नैतिक एव सामाजिक मान्यताओ को प्रजातान्त्रिक आधार भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए शुद्धतावादियो द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नो का एक कारण था। इसमे अन्य अनेक तत्वो द्वारा भी सहायता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ ऐसे बहुत से सामाजिक, राजनीतिक एव नैतिक कारण हैं कि शुद्धतावादियो द्वारा पुरातनपथी मूल्यो की सीमाओ के प्रति क्यो आक्रामक रुख अपनाया जाना चाहिये था और न वे परम्परागत रोमॉटिक नायको मे इसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को अस्वीकृत करने मे ही असफल हो सके। इस विवेचन से प्राय यह स्पष्ट है कि शुद्धतावादियो ने सामाजिक एव साहित्यिक दृष्टिकोण मे विशिष्ट परिवर्तन ला दिया था, जिसका विवरण मिल्टन की 'Paradise Lost' की पक्तियो मे प्राप्त होता है तथा और भी तर्कसगत ढग से डेनियल डेफो के एक लेख मे, जो 'Applele's Journal' (१७२२) मे मॉरबोर की शवयात्रा के अवसर पर प्रकाशित हुआ था, प्राप्त होता है। फ्रेन्च यथार्थवादियो का कैथॉलिक विरोधी डी वोग ने प्राकृतिक एवं अस्वाभाविक तत्वो के बहिष्कृत किए जाने का समर्थन किया था और यह निश्चित है कि कथा-साहित्य के सामान्य अर्थ अर्थात् रूपगत यथार्थवाद का यह अभिप्राय ही है कि उसमे ऐसे तत्वो का समावेश किसी भी रूप मे न होना चाहिए जो चेतना द्वारा समर्थित न हो। परिणामस्वरूप इस नवीन भावधारा के उदय एव विकास के लिए धर्म निरपेक्षता की माप एक निश्चित शर्त बन गई। कथा साहित्य अपना ध्यान केवल व्यक्तिगत सम्बन्धो पर ही केन्द्रित कर सकते है, जैसा कि एक बार अधिकाँश लेखको और पाठको ने यह विश्वास प्रकट किया था कि केवल व्यक्तियो के हाथ मे ही इस सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता हो, न कि चर्च, सप्रदाय या धार्मिक नेताओ के हाथो मे।

यहाँ यह कहने का अभिप्राय. नही है कि कहानीकार स्वयं या उसकी कहानी धार्मिक नही हो सकती, वरन् यह कि कहानीकारो का जो भी अन्तिम उद्देश्य हो, उसका अर्थ उसके द्वारा चित्रित किये जाने वाले पात्रो एवं उनके क्रिया कलापो तक ही सीमित होना चाहिये भावनाओ की यथार्थता पात्रो के विषयगत अनुभवो के माध्यम से ही प्रकट किया जाना चाहिए। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि कहानियो मे एक स्वर्ण-यापी भावना की आवश्यकता होती है, जो व्यक्तिगत लोगो के मध्य सामाजिक सम्बन्धो की आधार भूमि पर आधारित रहता है। इसमे धर्म निरपेक्षता एव व्यक्तिवादिता भी सम्मिलित रहती है, क्योकि सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक व्यक्ति की भिन्न सत्ता नही स्वीकारी गई थी, वरन् उसे चित्र का एक तत्व समझा जाता रहा जो अपने अर्थाभिव्यक्ति के लिए ईश्वरीय व्यक्तियो पर निर्भर रहता था, साथ ही अनेक परम्परागत संगठनो पर, जैसे चर्च आदि। किन्तु इसके साथ ही शुद्धतावादियो द्वारा आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास तथा कहानियो के विकास मे प्रदान किए गए सहयोग को किसी भी मात्रा मे न्यून न समझा जाना चाहिए। वस्तुतः व्यक्तिवाद के आधुनिक

स्वरूप के विकास एव कहानियो के विकास की पृष्ठभूमि इन शुद्धवादियो की महत्वपूर्ण देन है, जिसका उचित मूल्याकन होना चाहिए। यह शुद्धतावाद ही था, जिसके माध्यम से डेनियल डेफो ने व्यक्ति की सत्ता स्वीकार की और उसके मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात किया। डेफो ने मनोवैज्ञानिक सम्भावनाओ से अपने को पूर्णतया असम्पृक्त कर दिया था, जिससे वह व्यक्ति की एकान्तिकता का चित्रण कर सके और यही कारण था कि उसकी कृतियाँ उन पाठको मे अधिक लोकप्रिय हुई, जो अपने को सबसे अलग स्वीकारते थे। ऐसे लेखको ने डेफो को महान् लेखक की सज्ञा से विभूषित किया, क्योकि उसने प्रथम बार व्यक्ति की सत्ता स्वीकार कर उसकी एकान्तिकता का चित्रण करने का प्रयत्न किया था। व्यक्ति-वाद की इस विचारधारा का विरोध भी किया गया और कहा गया कि व्यक्ति की एकान्तिकता अत्यन्त हानिप्रद तथा पीडादायक है। इस पथ पर चलकर मानव-जीवन पशु-जीवन के समान हो जाता है और मानसिक ह्रास होता है।

इन आलोचनाओ का डेफो ने बडे विश्वासपूर्ण ढग से उत्तर दिया। उसने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य को समझ लेने के पश्चात् उसकी आत्मानुभूतियो को उपयोगी ढग से एकान्तिक बनाया जा सकता है और पिछली दो शताब्दियो मे व्यक्ति-वाद के एकान्तिक पाठक इसकी आलोचना नही, वरन् इस पर अपना हर्ष प्रकट करेंगे कि व्यक्तिवादी अनुभव की विश्वव्यापी प्रति मूर्ति एकान्तिक बन गई है। यह सर्वव्यापी है—यह शब्द व्यक्तिवाद के सिक्के' की दूसरी तरफ बराबर अकित मिलेगा, पर यह शब्द वस्तुत असन्दिग्ध है। यद्यपि डेफो स्वय इस नवीन सामाजिक एव आर्थिक सगठन का एक आशावादी प्रवक्ता था, किन्तु तब भी उसने आर्थिक व्यक्तिवाद से सम्बन्धित न्यून मात्रा मे प्रेरणा दायक व्यक्तियो का चित्रण अपनी रचनाओ मे किया, जिसने परिणामस्वरूप व्यक्ति को उसके परिवार एव राष्ट्र से असम्पृक्त कर दिया। व्यक्तिवाद के अनुसार दूसरे व्यक्तियो के सुख-दुख हमारे लिए क्या महत्व रखते हैं? सम्भव हो सकता है कि हम सहानुभूति की शक्ति से प्रेरित होकर उनके कुछ भावो से द्रवित हो जाए और छिपे तौर पर उन्हे अपनी सहानुभूति भी दे डाले, किन्तु अगत्या सभी ठोस प्रतिध्वनिया हमारे स्वय मे समाहित हो जाती है। हमे अलग-अलग पूर्ण ढंग से रहना है। हमारी भावनाएँ हमी तक सीमित हैं। हम प्रेम करते हैं। हम घृणा करते है, व्यथित होते है, हम उल्लसित होते हैं—किन्तु यह सब अपनी व्यक्तिगत सत्ता के परिवेश मे एकान्तिकता की पृष्ठभूमि पर ही होता है, इन तथ्यो के सम्बन्ध मे यदि हम किसी से कुछ कहते है तो केवल इतना ही कि अपनी इन एकान्तिक इच्छाओ की पूर्ति मे हम उनकी सहायता चाहते है और परिवार, राष्ट्र एव दूसरो से अलग रहना चाहते हैं। यह स्वय हमारे तक सीमित रहता है कि हम सुखी होते है या पीडित होते हैं। किन्तु अन्य चरम प्रवृत्तियो की भाति इस प्रवृत्ति की भी शीघ्र प्रतिक्रिया होनी

आरम्भ हो गई। जैसे-जैसे व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारी जाने लगी और इस तथ्य करे कि व्यक्ति समाज के ऊपर निर्भर करता है तथा उसका एक अभिन्न अग है तथा जो अभी तक सर्वसम्मत एव मान्य लगा, को भ्रमपूर्ण सिद्ध किया जाने लगा, एव जिसे व्यक्तिवाद ने सबसे जबर्दस्त चुनौती दी थी, तो इसकी अत्यन्त विशद व्याख्या एव विश्लेषण होना आरम्भ हुआ। मनुष्य अनिवार्यत एक सामाजिक प्राणी है—ऐसी चर्चा प्रमुख रूप से अठारहवी शताब्दी के दार्शनिको मे प्रारम्भ हुई जिनमे डेविड ह्यूम सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। उन्होने कहा कि हम अपने अन्दर किसी ऐसे भावना को जन्म नही दे सकते, जिसका सम्बन्ध समाज से न हो। प्रकृति की सभी शक्तियो और तत्वो को एक ही व्यक्ति (ईश्वर) की सेवा करनी चाहिए और उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रमा को उसी के सकेतो पर निकला और डूबना चाहिए समुद्र और नदियो को उसी रूप मे बहना चाहिए, जैसा वह चाहता है। सृष्टि को उसी पथ पर अग्रसर होना चाहिए, जिसे वह लाभप्रद समझता हो। पर यह सब होने के बावजूद व्यक्तिवाद की गतिशीलता अवरुद्ध नही की जा सकी और व्यक्तिवाद ने इन सभी तर्कों को ठुकरा दिया। व्यक्तिवाद की सशक्तता ने कहानीकारो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होने अपनी कहानियो मे इस दृष्टिकोण को प्रतिध्वनित किया।

व्यक्तिवादी कहानियाँ वैयक्तिक जीवन चित्रण पर ही प्रमुख रूप से आधारित होती है। उनमे पहले शब्द से अन्तिम शब्द तक सभी कुछ व्यक्तिवादी ढग से विकसित होता है। पात्र व्यक्तिवादी होते हैं। कथानक का विकास व्यक्तिवादी दर्शन के अनुसार होता है। उनमे व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता स्वीकृत होती है, समाज की सत्ता का पूर्णतया तिरस्कार होता है। व्यक्तिवादी कहानियो के पात्रो की सामाजिक रूढियो मे कोई आस्था नही होती। परम्परागत रीति-रिवाजो, अन्ध-विश्वासो, सामाजिक शोषण एवं अन्याय, विवाह, प्रेम आदि विभिन्न समस्याओ के प्रति उनके व्यक्तिवादी विचारो की अभिव्यक्ति होती है और वे समाज मे एक ऐसी 'क्रान्ति' चाहते हैं, जिससे परम्परावादी समाज ध्वस्त हो जाए और उसके स्थान पर व्यक्तिवादी समाज की रचना हो, जिसमे व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सर्वमान्य हो। ये पात्र किसी भी रूप मे समाज की पर्वाह नही करते। उनके लिए समाज कोई अस्तित्व नही रखता। स्वय उनका अपना अस्तित्व एव उनके अपने विचारो का अस्तित्व ही उनके लिए सब कुछ होता है। व्यक्तिवादी जीवन दर्शन मे व्यक्ति का अपना अह ही सभी कुछ होता है और उस अह की रक्षा मे ही व्यक्ति गतिशील होता है। व्यक्तिवाद की चरम सीमा मे यह व्यक्तिगत अह अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेता है। व्यक्तिवाद मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की आस्था, विश्वास विधान के परम्परागत रूप मे बनाए रखता है, पर जब समकालीन सामाजिक परिस्थितियो की कटुता उसके विश्वासो को ध्वस्त करती है,

तो वह अपनी उस आस्था को ठुकराकर प्रेम का विकास व्यक्तिवादी स्तर पर करता है, फिर दो प्रेमी जनो के विवाह-सूत्र मे बँधने मे समाज मध्यस्थ नही रह जाता। इस प्रकार व्यक्तिवादी जीवन दर्शन विवाद सस्था को भी धीरे-धीरे तोड रहा है, जर्जरित कर रहा है और उसके स्थान पर नारी और पुरुष के मध्य ऐसे व्यक्तिवादी प्रेम का विकास हो रहा है, जो उन्हे जीवन पर्यन्त मित्र' बनकर रहने की प्रेरणा देता है। विवाह मे उनकी विशेष रुचि नही रह जाती। यह एक प्रकार से सस्कारयुक्त प्रेम का पूर्ण तिरस्कार कर सस्कार-मुक्त प्रेम का विकास होता है, जिसकी पृष्ठभूमि मे व्यक्तिवादी चेतनशीलता, समाज की निडरता और अह की प्रधानता क्रियाशील रहती है। व्यक्तिवाद जाति-भेद और वर्णव्यवस्था को भी नही स्वीकारता। एक ब्राह्मण की लडकी का मुसलमान युवक से प्रेम या ब्राह्मण कन्या का अछूत से प्रेम व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार मान्य है और उसमे ऐसा कुछ भी नही है, जिससे मु ह बिचकाया जाय। व्यक्तिवाद वेश्या-विवाह और विधवा-विवाह का समर्थन करता है। यदि वेश्या मे स्नेह है, ममता है, जीवन मे गरिमा प्राप्त करने की लालसा है, तो व्यक्तिवाद उसे किसी गृहिणी नारी से कम नही मानता और देवी के ही रूप मे उसकी श्रद्धा करता है—ऐसी देवी, जिसे समाज का अभिशाप और परिस्थितियो की विषमता समाज के नर्क मे ढकेल देती है। व्यक्तिवाद की गरिमा और एकनिष्ठ प्रेम की महत्ता को अन्यतम रूप मे स्वीकारा जाता है।

हिन्दी कहानियो के क्षेत्र मे पूर्व प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल मे व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का अधिक प्रभाव नही पड पाया। इन दोनो ही काल के कहानीकारो ने व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नही स्वीकारी। वे व्यक्ति को समाज की एक अभिन्न इकाई मानते थे और उसी रूप मे चित्रित करते थे। वे सभी सामाजिक सुधार तो चाहते थे और रूढियो का नाता भी, विशेषतया प्रेमचन्द काल मे, पर सामाजिक रूप-विधान को पूर्ववत बनाए रख समाज की परम्परागत सत्ता का विकास चाहते थे। वे व्यक्ति के अह को नही, सामाजिक अनुशासन को महत्व देते थे और व्यक्ति का विकास और जीवन की गतिशीलता समाज के नियत्रण मे चाहते थे। पर प्रेमचन्द की मृत्यु तक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गई थी। ज्वालामुखी फट चुका था और उसके विस्फोट को तथाकथित 'सामाजिक सुधारक' रोक सकने मे असमर्थ थे। समाज मे मध्यवर्ग नवीन चेतना से सचारित हो रहा था और उसे अपना भी महत्व समझ मे आने लगा था। वह यह समझने लगा था कि उसकी पीडाए, उसका दुख-दर्द उसकी भावनाए प्रेम, विवाह सम्बन्धी निराशा और कुण्ठाए—इन सबके अपने-अपने अर्थ हैं और समाज को उनके वैयक्तिक मनोभावो को समझना होगा। उनके अन्दर एक ज्वाला सुलग रही थी, 'क्रान्ति' की चिनगारी आग उगलने को तैयार थी और सामाजिक रूप-विधान का तख्ता पलट देने के शोले भड़क चुके थे। समय बड़ा

नाजुक था और उस समकालीन नाजुकता से कहानीकार विमुख नही रह सकता था। फलस्वरूप उत्तर—प्रेमचन्द काल मे स्थिति मे परिवर्तन हुआ और व्यक्तिवादी भावनाओ ने कहानीकारो की मन स्थिति को अपने स्पन्दन ने गुदगुदाना और झकृत करना प्रारम्भ किया। हिन्दी मे जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा तथा उपेन्द्रनाथ अश्क आदि कहानीकारो ने इस काल मे व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन पर आधारित कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियो मे समष्टिगत जीवन चिन्तन की तुलना मे व्यष्टिगत जीवन-चिन्तन का अधिक महत्व दिया गया है। इनमे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना का सबल स्वर उद्घोषित होता है।

जैनेन्द्रकुमार

पिछले चरण मे स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर 'कफन', 'नशा' आदि कहानियो के माध्यम से प्रेमचन्द ने कहानियो मे गतिशील होने की जिस परम्परा का निर्माण किया था, उसे बहुत कुछ विकसित किरने का श्रेय इस काल मे जैनेन्द्रकुमार को है। जैनेन्द्रकुमार एक विचारक और बुद्धिवादी दार्शनिक पहले हैं, कहानीकार पीछे। अपनी कहानियो मे वे इसी रूप मे अधिक सामने आते हैं। उन्होने व्यक्ति की महत्ता स्वीकारी है और उसे व्यक्ति रूप मे ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। वैयक्तिक स्थितियो का चित्रण करने मे वे वाह्य से अन्तस् की ओर गतिशील होते है और उनके कार्य व्यापार का क्षेत्र प्रमुखत: व्यक्ति का अन्तर्जगत है। उनकी कहानियो में व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन-दर्शन अथवा व्यक्तिगत मनोविज्ञान का प्रकाशन होता है और वे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अभिव्यक्तियो के निरूपण के प्रति आग्रहशील रहते है। उनकी कहानियो के प्रमुख पात्र अधिकाशत. मध्य वर्ग के हैं और उनके माध्यम से उन्होने अपने समय के युग-बोध और भाव-बोध का प्रकाशन व्यक्तिवादी चिन्तन के आधार पर किया है। उनके पात्र एकाकी जीव होते हैं, सामाजिक विकास परम्परा से जो पूर्णतया असम्पृक्त होते है, उनमे नैराश्य, कुण्ठा, घुटन और पीडन की प्रवृत्तियाँ होती हैं और ऐसी ही विषम पर वैयक्तिक समस्याओ के जाल मे उलझाकर जैनेन्द्रकुमार उनके मनोभावो एव अन्तर्द्वन्द्वो का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। वे अधिकाँश रूप मे अपने को सामाजिक रूप-विधान के अनुसार ढाल नही पाते, इसीलिये व्यक्तिवादी बन जाते हैं और गाँधीवादी या क्रान्तिकारी बनकर कष्ट-सहन करने या 'पर' की पीडा स्वय लेकर मूकभाव से सहने का अमित पोज करते हैं। आधुनिक मध्यवर्ग सामाजिक द्वन्द्वो, दृश्यो की कठोरता एव स्थिति की विकृतियो मे घुट रहा है, फलस्वरूप उसकी जीवन दृष्टि कुण्ठाग्रस्त है—इसीलिए जैनेन्द्रकुमार के पात्र भी कुण्ठाग्रस्त हैं और नैराश्य के पुजारी हैं, वरन् उनका रग अतिरिक्त रूप से गाढा करने के प्रति जैनेन्द्रकुमार आग्रहशील रहे हैं। जैनेन्द्रकुमार की कुछ कहानियो के पात्र क्रान्तिकारी हैं, जो राष्ट्रीय दायित्व को समझने एव

'आदर्शवादी' होने का दावा कर एक 'महान' अनुष्ठान मे अपने जीवन को झोकने ['एक रात' कहानी का नायक जयराज इस सदर्भ मे विशेष रूप से दृष्टव्य है] को प्रत्येक क्षण प्रस्तुत रहते हैं। इस प्रकार के पात्रो की स्थिति विरोधाभास की रहती है, जिसका कोई स्पष्टीकरण देने मे जैनेन्द्रकुमार असमर्थ रहते हैं। इनमे एक ओर प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा की क्षीण, अस्पष्ट एव आरोपित रेखाए प्राप्त होती है, दूसरी ओर घोर कुण्ठा, निराशा एवं वासनात्मक अतृप्ति की भावना की घुटन लक्षित होती है। इन पात्रो के जीवन मे झूठी गरिमा एव मूल्य-मर्यादा स्थापित करने तथा उन्हे राष्ट्रीय 'दायित्व' को निर्वाह करने वाले आदर्शवादी बने रहने देने के लिए जैनेन्द्रकुमार उनकी वासनात्मक अतृप्ति की भावना एव काम-जन्य कुण्ठापरक परिस्थितियो को रहस्यमय बनाने के लिये दार्शनिकता का आवरण डालने की असफल चेष्टा करते है, जो इतना झीना होता है कि जरा मे आघात से फट जाता है और इन पात्रो का वास्तविक रूप सामने आते देर नही लगती। जब प्राचीन परम्पराएँ एव सर्वमान्य सामाजिक बन्धन शिथिल होकर विशृखलित हो जाती है, तो उच्छृखलता के साथ अव्यवस्था, अराजकता, अनैतिक वातावरण से सम्बद्ध परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका समाधान प्रगतिशील विचारधारा मे आस्था न होने के कारण जैनेन्द्रकुमार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार करने का प्रयत्न करते है। व्यक्ति चारो ओर से विभ्रान्त होकर नई दिशाओ एव सभावनाओ का निर्माण चाहता है, पर जब तक वह जीवन शक्ति या सामाजिक यथार्थ से असम्पृक्त रहता है, वह सफल नही हो पाता, तब वह हारकर आत्मपीडन एव कष्ट सहन करने तथा 'पर' के लिए 'स्व' का उत्सर्ग करने का मुखौटा लगाकर क्रान्तिकारी हो जाता है और हवा मे कलाबाजियाँ करता हुआ क्रान्ति का वादक बन जाता है। पर उनकी नियति वही होती है, जो जैनेन्द्र की इस प्रकार की कहानियो मे हुई है—वे घुट-घुट कर किसी नारी की गोद मे ही अगत्या आत्मपुष्टि प्राप्त करते है।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियो मे नारी पात्रो की स्थिति भी अत्यन्त विचित्र है। इन नारी पात्रो पर शरत् बाबू की कहानियो के नारी पात्रो का बडा प्रभाव है और वे भी ऐसी ही भावुकता मे बहती रहती है, पर शरत् बाबू के नारी पात्रो की सी गरिमा एव मूल्य मर्यादा को समझने की समर्थता का जैनेन्द्रकुमार की कहानियो के नारी पात्रो मे सर्वथा अभाव है। वे भावुक हैं, पर उनमे निष्ठा नहीं, दिग्भ्रमित होकर भटकने की प्रवृत्ति हैं, इसीलिये उनकी करुणा, स्नेह, बलिदान, उत्सर्ग आदि सभी आरोपित और सायास की प्रतीत होती हैं क्योंकि स्वय वे भी काम-जन्य कुण्ठाओ से प्रताडित रहती है, इससे उन्हे तुष्टि प्राप्त होती है, उनकी कहानियो के नारी पात्रो पर व्यक्तिवादी तथा अहवादी युग की प्रवृत्तियो का अधिक प्रभाव है, वे अत्यधिक स्नेहशीला नारियाँ हैं और चूँकि भावुक भी हैं, इसीलिये उन्हे इतनी वेदना

या पीड़ा भोगनी पडती है। जैनेन्द्रकुमार का दृष्टिकोण हे कि बुद्धि भरमाती है, वह द्वैत पर चलती है। उनके साहित्य का परम श्रेय अखण्ड और अद्वैत सत्य है, उसका व्यवहारिक रूप समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा है। वे लेखक का यह उद्देश्य स्वीकारते हैं कि वह एक को दूसरे के हृदय के निकट देखे और सबको विश्वहृदय के निकट देखे और इस प्रकार जीवन मे सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो'''किसी के प्रति भी तिरस्कार या बहिष्कार का भाव रखने के भाव को साहित्य मे मजबूत नही होने देगा। अपने भीतर की प्रेम शक्ति का अकुण्ठित दान ही साहित्य के पास एक अस्त्र है, जो अमोघ है। इसी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होने अपनी कहानियो में पात्रो की परिकल्पना की है। अपने दृष्टिकोण को इस सम्बन्ध मे अधिक स्पष्टता से प्रतिपादित करते हुए वे लिखते हैं कि हम सत्य के प्रसार के लिये लिखते हैं। सत्य मे जो बाधा है वही गिराना सत्य का ऐक्य है। कुछ एक-दूसरे के निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए हैं, अ।वे समझे हुए हैं, कुछ त्याज्य है त्रस्त है, अपराधी हैं, अभियुक्त हैं, दीन हैं, बेजुबान हैं, कुछ गर्वीले हैं, दुष्ट हैं निरकुश हैं—यह सब सत्य है। यह क्यो ? मनुष्य की अहकृत मान्यताओ मे घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारो ओर दुर्ग की-सी दीवारे खडीकर उसमे अपने स्वार्थ को सुरक्षित बनाकर चलने के लिये सब अपने को लाचार समझते है। वे दीवारें सबको अलग बनाए हुए हैं। हृदय को हृदय से दूर बनाए हुए हैं। औ' इस आधार पर जब जैनेन्द्रकुमार अपनी कहानियो के पात्रो मे प्रेम चित्रण करते है, तो वह मात्र एक वि ूप बनकर रह जाता है क्योंकि उनका प्रेम चित्रण मानव-स्वभाव को रूपान्वित करने मे समर्थ नही होता जबकि शरत बाबू का प्रेम चित्रण इसी बिन्दु पर ही टिका रहता था। इस उद्देश्य मे असफल होने पर वे अपने प्रेम चित्रण को दर्शन का 'अमर-तत्व' प्रदान करने, आधुनिक मानव-सम्बन्धो का उदघाटन करने और उनके बीच से कृत्रिम दीवारो को गिराने की भावना पर बल देने लगते हैं, पर इसमें वे कितना सफल हो सके हैं यह तो मात्र जैनेन्द्रकुमार ही जाने, पाठको के लिए तो सब 'अगम-अगोचर-माया' है।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियो के पाँचवें भाग मे कहा गया है, "प्रेम के विषय मे जैनेन्द्र जी का अपना एक व्यापक और मौलिक दृष्टिकोण है। उनके प्रेम का आधार आत्मा है जो सबमें—स्त्री-पुरुष मे भी—सम्बन्धो के यथातथ्य रूपो के अन्तस्तल में यथार्थ रूप में धडकती रहती है। जैनेन्द्र की प्रेम कहानियो मे इसीलिए स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण की जो मूल भावना है, वह केवल सेक्स-सम्बन्धी नही, बल्कि आत्मिक गहराई की यथार्थता की द्योतक होती है। उसमे एक उदात्त मानवीय सत्य की प्रतिध्वनि होती है।' यदि सत्य की यह प्रतिध्वनि इस सग्रह की एक भी कहानी मे प्राप्त होती, तो किसी भी पाठक को शिकायत होने का कोई

कारण ही नही हो सकता। वास्तव में जैनेन्द्रकुमार का प्रेम चित्रण एक उदात्त मानवीय सत्य की प्रतिध्वनि नही, कुण्ठा निराशा घुटन और सस्ती किस्म की सायास भावुकता (जिसमे यान्त्रिक करुणा उत्पन्न हो सके—जिसे स्वय जैनेन्द्रकुमार ने बुद्ध की करुणा कहा है!) की टकराहट से उत्पन्न एक विस्फोट की प्रतिध्वनि मात्र ही है, जो काम-लोलुप व्यक्तियो मे ही सामान्यत प्राप्त होता है। और काम-लोलुप व्यक्तियों का सत्य ही जैनेन्द्रकुमार के लिए एक उदात्त मानवीय सत्य की प्रतिध्वनि है, तो फिर मुझे कुछ नही कहना है। पर यहा मै यह उल्लेख करना आवश्यक समझता हू कि जैनेन्द्र कुमार ने अपनी कहानी कला से इन्ही काम-लोलुप व्यक्तियो पर दार्शनिक-विचारक का मुखौटा लगा दिया है, ताकि उससे वितृष्णा न हो सके। इस प्रेम का दूसरा पक्ष-यानि कि उनकी कहानियो के नारी पात्र मध्य वर्ग से सम्बन्धित है, जिनमे न कोई चेतना है न कोई व्यक्तित्व। वे आने-जाने वाले हर किसी को आत्म समर्पण करके अपने सतीत्व से मुक्ति पा लेना चाहती है, जो अव्यावहारिक भी होता है। मजे की बात यह है कि जैनेन्द्रकुमार इन नारी पात्रो को आर्य नारी कहते हैं, जो आर्य धर्म को निबाहने वाली होती है—आर्य सभ्यता एव सस्कृति की मर्यादाओ का कैसा सुन्दर विश्लेषण अपनी कहानियो मे वे कर देते है! और क्यो न हो, जैनेन्द्र कुमार स्वय दार्शनिक और विचार जो ठहरे!

उस सम्बन्ध मे यह भी स्पष्ट कर दू कि जैनेन्द्रकुमार कलावादी है, पर उनके पास जीवन की कोई दृष्टि नही है और यदि है भी, तो वह दिग्भ्रमित, असमर्थ एव अस्वस्थ है। इसीलिए जैनेन्द्रकुमार के पास जीवन के कोई सन्दभ (Contents) भी नही हैं और जिन 'सन्दर्भों' को उठाने की वे चेष्टा करते है, तो वे प्रतिक्रियावादी तत्व ही होते हैं जिन्हे जैनेन्द्र कुमार की ओर आत्मपरकता एव उनकी पलायनवादी मनोवृत्ति और भी प्रतिक्रियावादी बना देती है। उन्होने अपनी इन विकारग्रस्त रोगी पात्रो का चित्रण किया है, तथा मध्य वर्ग के एक अत्यन्त सकीण परिवेश का चित्रण करने का प्रयत्न किया है, जो बौद्धिक, भावुक और आधुनिक होने का दावा करता है, जिसके कारण वह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को अपनाकर परम्परागत नैतिक मूल्यो एव मर्यादा की नई मान्यताओ की अवहेलना करता है, क्योकि उसे वे वाछनीय प्रतीत होते हैं।

जैनेन्द्रकुमार के दूसरी श्रेणी के पात्र ऐतिहासिक हैं, जो 'जय सधि' नामक ऐतिहासिक कहानी में देखे जा सकते हैं। इसमे चार पात्र हैं; यशोविजय और उसकी पत्नी बसत तिलका, तथा जय वीर और उसकी पत्नी मशस्तिलका। इन सबके प्रेम मे भी वही स्वार्थ' भावना लक्षित [illegible] यांत्रिक ढग से [illegible] बलिदान एव आदर्श के झूठे नामो से अभिहित करते हैं। जैनेन्द्रकुमार के कुछ पौराणिक पात्र भी प्राप्त होत है जो उनकी पौराणिक कहानियो मे लिए गए हैं, जैसे

शंकर-पार्वती, इन्द्र, शची, नारद, कामदेव, रति और गुरु कात्यायन आदि पात्र। पर इन पात्रो मे पौराणिकता कम है, मानवीयता अधिक है। वे लोग भी चिंतक और दार्शनिक है, द्रष्टा है और निरपेक्ष न होकर समाज सापेक्ष हैं। वे सब पात्र वो कदाचित जैनेन्द्रकुमार के पात्रो मे सर्वाधिक हास्यापद पात्र हैं। ये सभी हमारे पौरणिक काल के जाने-पहचाने पात्र हैं और उन्हे कहानियो मे प्रस्तुत करने के लिए जिस सावधानी और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी, जैनेन्द्र कुमार उससे चूक गए है, इसलिए वे मात्र धुंधले रेखाचित्र भर ही बन पाए है, कुछ और नही। पात्र लौकिक राजा-रानी जैसे हैं जैसे रानी महामाया, जनार्दन की रानी और राज पथिक का राजकुमार। ये सब भी भावुक हैं, उत्सर्ग के लिए व्याकुल है, दार्शनिक है और आत्म समर्पण का जैनेन्द्रीय टिकट हाथ मे लिए हर क्षण प्रस्तुत रहते है। कुछ आध्यात्मिक चरित्रो की परिकल्पना भी जैनेन्द्रकुमार ने की है, जैसे 'लाल सरोवर' वैरागी, जो आदर्श सेवा भाव के प्रतीक के रूप चित्रित किया गया है या वैसा करने का प्रयत्न किया गया है। आदर्श मे अपार निष्ठा, मानवता की सेवा करने का उच्च भाव तथा ईश्वर भक्ति आदि विशेषताएँ इस पात्र मे कूट-कूट कर भरी गई है। उसके चरित्र को उभारने के लिए जैनेन्द्रकुमार ने इसकी विपरीत विशेषताओ वाले एक पात्र मगलदास की परिकल्पना की है। वैरागी मे इतना सयम और आध्यात्मिक बल है कि वह जहाँ भी जाता है अशर्फियो, सोने-चाँदी की वर्षा होती है, पर वह उनकी तरफ आँख उठाकर भी नही देखता। लालची और स्वार्थी मगलदास यह देखकर वैरागी का भक्त बन जाता है। वैरागी को अनेक परीक्षाए देनी पडती है, अन्त मे उसे अशर्फी के रहस्य का पता चलता है। तब वह ईश्वर से उसकी परिसमाप्ति की प्राथना करता है और अपने अभीष्ट को प्राप्त होता है, और इस प्रकार कहानी का एक दार्शनिक सत्य निकल आया परोक्ष सत्ता की महिमा और आध्यात्म बल की निष्ठा से ऊपर उठ कर रहस्यात्मक शक्ति की ओर प्ररित होने की भावना का। कहना न होगा कि इस प्रकार की कहानियो मे सत्य के सूरज उसी प्रकार उगाए गए है, जैसे कि पूर्व-प्रेमचन्द्र काल की कहानियो या स्वय प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियो मे। वस्तुन आदर्श और यथार्थ-यह जैनेन्द्र कुमार का क्षेत्र है नही और इसमे जब-जब उन्होने पदार्पण करने की है, असफल रहे हैं। उन्होने कुछ भावात्मक एव काल्पनिक पात्रो का सृजन भी किया है, जैसे 'नीलम देश की राजकन्या' के पात्र। इतका वर्णन उन्होने राजा रानी वाली शैली मे किया है, " सात समुन्दर पार नीलम का देश है वहा लाल पन्नो का महल है। उसमे अकेली नीलम देश की रानी रहती है। समुद्र के नीचे से पानी की परियाँ सीप के पात्रो मे तरह-तरह के फल फूल लाती है। फूलो को वह सूंघ लेती है, वहा की हवा स्वच्छ-दूध की सी है, उसको वह पीती है वह चाँदनी से बारीक एपनो के कपड़े पहनती हैं। ऐसी है वह रानी, जो सोने के महलो मे सहस्त्रो वर्षों से अकेली

उस द्वीप की रानी है और आदि से प्रतापी राजकुमार के आने की प्रतीक्षा मे अकेला-पन काट रही है।' पर इस प्रकार की कहानियो मे पात्रो का कोई सफल चित्रण नही हो सका है, इस दृष्टि से वे अपनी मनोवैज्ञानिक कहानियो मे अधिक सफल रहे है।

जैनेन्द्रकुमार के अधिकाश पात्र इसी वर्ग के है। ये पात्र अन्तर्मुखी होते है और उनके घात-प्रतिघातो अन्तर्द्वन्द्वो आदि का सूक्ष्मता से चित्रण करने के प्रति ही उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहता है। ये पात्र देखने मे बहुत समर्थ एव शक्तिशाली लगते है, पर परिस्थितियो के भवर मे पडकर मोम की भाँति पिघल जाते हैं और असाधारण से मानव की भाँति व्यवहार करने लगते हैं—उनकी कहानियो मे पात्रो के चरित्र चित्रण की यह सर्वप्रमुख विशेषता है। इस सम्बन्ध मे स्वय जैनेन्द्रकुमार का कहना बनावट से स्वाभाविकताकी ओर बढना होगा,सजावट से रुचिरताकी ओर और आडम्बर से प्रसाद की ओर बढता है कि यह बात अच्छी तरहसे समझ लेनी होगी कि शरीर से प्राणो की ओर बढना होगा स्थूल वासनाके नीचे धरातल पर इस प्रगतिशील जगत मे टिकना नही हो सकेगा, सूक्ष्म की ओर अग्रसर होना होगा। इसी का नाम विकास है पात्रोमे यह विकास जैनेन्द्रकुमार मनोविश्लेषण द्वारा चित्रित करते थे इसलिए उनका चरित्र चित्रण किंचित साकेतिक फलस्वरूप बौद्धिक दुसह एव जटिल हो गया है उनके लिए इसका अत्यधिक महत्व है, इसीलिए इन कहानियो के कथानक है ही नही, है भी तो नाममात्र का। वे कहानिया चरित्रो का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करती है। इन कहानियो में कथानक साधन स्वरूप हैं, साध्य चरित्रो का मनोविश्लेषण है। 'एक रात' का जयराज एवं सुदर्शना, 'मास्टर जी' के घोषाल बाबू और श्यामकला 'राजीव का भाभी' का राजीव, 'क्या हो' का बन्दी और सुषमा, 'जाह्नवी, की जान्हवी, 'नादिरा' की नादिरा आदि उनके अत्यन्त सफल पात्रो मे हैं, जो अविस्मरणीय रहेगे। ये प्रतिनिधि चरित्र व्यक्तिगत होते हुए भी टाइप हैं और किन्ही वर्गगत विशेषताओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी व्यक्तिगत विशेषताएँ भी सुरक्षित रहती हैं—इन प्रतिनिधि पात्रो के चरित्र-चित्रण मे उनकी कहानी कला की यही अन्यतम विशेषता है। उन्होने स्वय लिखा है कि कुछ लोग अपने मे व्यक्ति नही होते, वे एक टाइप के प्रतिनिधि हुआ करते हैं। ये सब जगह सब नामो के नीचे एक ही मूल्य के द्योतक हैं। कामादिक प्राणी की हैसियत से अमूक ही उनसे जीवन की नीति होती है। वस्तुओ का अमूक मूल्य और विचारो की वही एक आठ की बनावट, वे अपना निज का व्यक्तित्व बनाने की झंझट से आरम्भ ही से बचे होते हैं और अपने विश्वास आप गढने का कष्ट भी उन्हे उठाना नही होता ('ग्रामोफोन का रिकॉर्ड' की विजया 'पत्नी' की सुनन्दा, प्रियव्रत आदि पात्र)। जैनेन्द्रकुमार ने अपने पात्रो का चरित्र निम्न पद्धतियो से किया है

१—आत्मविश्लेषण

२—मानसिक द्वन्द्व एवं घात—प्रतिघात

३—अवचेतन विज्ञप्ति
४—संकेतो और कार्य
५—वर्णनात्मक
६—अभिनयात्मक

आत्म-विश्लेषण की पद्धति का उपयोग अधिकाश रूप मे आत्म-कथात्मक शैली मे लिखी गई कहानियो मे हुआ है, जैसे "याद करता हू तो चेहरे एक से अधिक हैं जो ध्यान से नही उतरते। यह भी अचरज की बात है कि वे सिर्फ चेहरे हैं, चरित्र नही, जानने का मौका नही आया। जिन्हे जाना है और भुगतना है, ऐसे लोगो के चेहरे मन पर उतने साफ नही रह गए, उनकी याद इतनी सचित्र नही हो पाती, जैसे उनको समेटना और जुटाना पड़ता है। और जो ध्यान से हटते नही, वे है जिनके साथ लगभग व्यवहार-बरताव का मौका ही नही आया। चरित्र खुलता है और धीरे धीरे खुलता है। चरित्र जब सामने होता है, तो चेहरा ओझल होने लगता है। उसके मुकाबले चेहरा खोलता है, कभी खुद पूरी तरह नही खुलता 'इसलिये हम अपनी तरफ से जितना चाहे उसमे डाल दे सकते है। प्रेम चेहरे से होता है ज्ञान से नही। यहाँ उल्लेख मैं उस चेहरे का करूगा जो सबको ही एक उम्र मे दीखता है। पन्द्रहवे वर्ष मे मैं आया हूगा। कच्ची आँखे थी और दूधिया दृष्टि। तब दुनिया मे चीजे ही नही दीखती थी, सपने भी दीखते थे। देखता क्या हू कि चेहरा है जिस पर एक रग नही, पल पल जिस पर रग आते और जाते हैं निश्चय ही उसका रग उजला है और गोरा है और वही बना रहता है। लेकिन गोराई मे अनेक रग हैं और उन्ही की छायाएँ भागती-सी उस चेहरे पर लहराती रहती है। दूर से देखता हू, पास जा नही सकता। चेहरा कभी मुस्कराता है, कभी हंसता है और कभी जैसे सिर्फ विस्मत प्रतीक्षा मे सूना ही रहता है। उसका वर्णन नही हो सकता। उस चेहरे पर अवयवो को अलग से देखना मुश्किल है। सब साथ, एक ही झलक मे दीखता है। उसकी आकृति नही दी जा सकती। आकार-प्रकार है, पर चेहरा वह उसमे समाप्त नही है। अपने अभाव मे भी वह दीख आता है। मैं मैट्रिक की तैयारी मे हू और विलायत की पत्रिकाओ मे झाकने का अधिकार पा गया हू। देखता हू कि उनमे कितनी ही सुन्दरियो के चित्र हैं। किन्तु मुझसे पूछिए तो सब एक उसी चेहरे के हैं। कोई सुन्दरता उस चेहरे से बाहर हो नही सकती। जहाँ सुन्दर है, वही वह चेहरा है। इसलिए उस चेहरे की आकृति-प्रकृति निश्चित नही हैं। मानुषी नही वह देवी है। किसी परी की मूरत कभी रेखाओ से घिरी नही हो सकती। अपने आस-पास को अपनेपन से वह मुखरित किये रहती हैं, इसलिए उसके साथ वह तत्सम होती है। उसका शरीर सपने का है और ओस और हवा का। मैं बैठा हू, बैठा पढ रहा हू। क्या पढ रहा हूं ? मालूम नहीं। पढ़े जा रहा हूं। कोई आया, कोई गया—लेकिन मैं पढ़ रहा हूं। वह कोई

माँ के पास पहुचा । वहाँ से एक साथ खिलाखिलाहट उठकर लहराती व्याप्त हो गई। लेकिन इम्तिहान मैट्रिक का है और मुझे पढना है किताब मे मैंने आख गाड रखी। माँ के पास से खिलखिलाहट के बाद किसी की बाते आयी, लेकिन मेरे कान बन्द थे।"[१] आत्म-विश्लेषण की पद्धति से चरित्र चित्रण करने की प्रवृत्ति जैनेन्द्रकुमार मे बहुत अधिक है। जो कहानियाँ आत्म-कथात्मक शैली में नही भी लिखी गई हैं, उनमे भी उन्होने किसी न-किसी सन्दर्भ मे इस शैली का उपयोग अपने चरित्रो को स्पष्ट करने के लिये किया है।

मानसिक द्वन्द्व एव घात-प्रतिघात के मनोविश्लेषण से चरित्रो को स्पष्ट करने की प्रणाली तो कदाचित् जैनेन्द्रकुमार की लगभग प्रत्येक कहानी मे प्रयुक्त हुई है। वास्तव मे मनोविज्ञान का चित्रण करने वाले कहानीकारो की यह अत्यन्त प्रिय शैली है और बिना इसके आज कोई भी कहानी पुरानी शैली की ही समझी जाती है। जैनेन्द्रकुमार द्वन्द्वो को स्पष्ट करने मे मनोवैज्ञानिक भाषा का भी उपयोग करते हैं, और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते है, "आदित्य ने कमरे को देखा। दीवारो को देखा और सामान के अम्बार को देखा। जाने क्या-क्या इधर-उधर सब जगह फैला हुआ था—कुरसी पर, फर्श पर, बिस्तरे पर। आखिर दो—एक चीजें परे सरकाकर वह बिस्तर पर आकर बैठा। कुछ देर वह सूनी और फटी-सी निगाह से सब ओर देखता रहा। उसी मे कमरे की चाबी उसे मेज पर पडी हुई दीखी। क्या वह उसे उठाए, दरवाजा खोले और बाहर निकल जाये? बहुत चाहा कि यही करना उचित है। लेकिन वह बैठा का बैठा ही रहा। चार, छ आठ मिनट हो गये कि मालती निकलकर आयी। बदन पर वही गाउन था।"[२] या यह प्रसग . "इसलिए उसने सोचा कि रात अपनी एकान्त रखूगा और चित्त की शान्ति जुटा लूगा। इस महीने-भर से सोने से पहले आध घण्टा बिस्तर पर वह एकान्त शान्त बैठता और भगवान को समक्ष लेने का प्रयत्न करता है • तो अधेरा घना हो रहा था और वह बिस्तर पर उठ बैठा था। जैसे भीतर-बाहर सब ओर से वह खाली हो। समय मानो उसके चारो तरफ अधियारा होकर जम गया था। उसने नाम जपा, फिर जपा फिर जपा। लेकिन अन्त मे जब आँख खोलकर देखता तो कही अन्धेरे के सिवा कुछ न दीखता था। न कोई आहट, न हलन-चलन, बस काला ही काला सुन्न चारो ओर से उसे घेर कर, अचल खडा था। जैसे लील ही लेगा। उसे अनुभव हुआ कि अपने से छिनकर मानो वह काल मे समाया जा रहा है ..वह डरा। क्या? मैं डर रहा हू!...वह मानो चुनौती देता सा उस ओर अनुमान से चलकर उसने खिड़की खोली। खिड़की के खुलते ही ठण्डी हवा का झोंका

१ जनेन्द्र कुमार : जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, (वह चेहरा-कहानी), दिल्ली, पृ० ७२-७३।

२. जैनेन्द्र कुमार : अ-विज्ञान कहानी, (सारिका . अक्टूबर १९६३), बम्बई, पृ० ६।

मुह पर लगा जो अच्छा मालूम हुआ। लेकिन बाहर दीखा कि वही अँधेरा वहाँ है और नीम का पेड सामने भूत हुआ खडा है। एक मिनट वह उसी तरह खिड़की खोले खडा रहा, जैसे भूल रहा हो और याद करना चाहता हो। सहसा वह स्वय अपनी याद मे हुआ, खिडकी बन्द की और तय किया कि उस ठण्डी हवा से बचना चाहिए। डॉक्टर का आदेश है और उसका अपने प्रति कर्तव्य। पलँग पर आकर उसने मफलर टटोला और गर्दन के चारो ओर कस लिया। फिर रजाई ऊपर ले ली। इस तरह वह बैठा और सोचने लगा कि क्या मैं डरा था, डरा हू ?...उसने भगवान का नाम लेने की कोशिश की, पर दो-चार बार से अधिक वह नाम कण्ठ से ऊपर नही आया। और यही प्रश्न समूचे उसमे समाकर मानो चेतना की परत पर ठोकर दे उठा—मै डर रहा हू ? उसने आखे मीची। फिर खोली तो अन्धेरा ही चारो ओर था। अन्धेरा बन्द करने पर अन्दर वही दीखता था। खोलने पर बाहर वही दीखता था। उसने सोचा, वह आवाज दे, पर किसको आवाज दे ?

पत्नी को ?—पत्नी कौन है।
बेट को ?—बेटा कौन है।
बेटी को ?—बेटी कौन है।
बहू को ?—बहू कौन है।
नौकर को ?—नौकर कौन है।[1]

अवचेतन विज्ञप्ति द्वारा चरित्र चित्रण करना भी मनोवैज्ञानिक कहानीकारो की प्रिय शैली है। इससे बिना कहानीकार के हस्तक्षेप से पूर्ण नाटकीयता के साथ चरित्र स्वय स्पष्ट होते हैं और अन्तस के मनोभावो एवं सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रतिक्रियाओ का अभिनयात्मक ढग से प्रकाशन होता है। जैनेन्द्रकुमार ने इस प्रणाली का अपनी कई कहानियो में उपयोग सफलता पूर्वक किया है।

SWARAJ LOVE INDEPENDENCE MARRIAGE

Swaraj is our birth right—as indisputable elsewhere as in politics,

But there is marriage too Marriage gives man a foot hold, society a unit It gives a home

Alright. Perfectly alright But—? And there is love in the human breast. Love gives us glow, gives us bliss Love makes us transcend the physical and touch the spiritual That makes us

१. जैनेन्द्रकुमार : जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, (मौत और...कहानी), दिल्ली पृ० ६६-६७

reach out beyond the here and the now, reach out with the eternal varity of life

God made love Did God make a marriage also ? No, man did the making of it And I say love is not chaos. It is never that. Never Never !

Ah, how slavish of me thus unwittingly to use English. Must write Hindi !

हिन्दी हिन्दी । हिन्द हमारा देश, हिन्दुस्तानी हैं हम, हिन्दी हमारी भाषा, हिन्दी हमारा बाना—भाइयो ! हरीपुर २३ मील, सबेरी की गाडी । मै नही जा सकता ।

Oh Damn it all ! make a misery of it—Dear Jairaj, mind, lest—

इतना बनाकर वह सिर को हाथो मे थामे मेज से उठ खडा हुआ और भूल गया कि एक हफ्ते मे उसे अपना सभापति का भाषण जिला कान्फ्रेंस के स्वागत-मत्री को छपने के लिए भेज देना है ।[1]

सकेतो और कार्यों द्वारा चरित्र-चित्रण करने वाली प्रणाली का उपयोग जैनेन्द्रकुमार ने ऊपर की प्रणालियो के साथ ही अपनी अधिकांश कहानियो मे समन्वित रूप से किया है । "कहते-कहते कमरे मे फिर मास्टर वापस लौट पडते, हिस्ट्री मे आर्य जाति विजय, और उनकी सौम्यता, खूब याद करना चाहिए । कौन-कौन लोगो ने भारत पर चढ़ाई किया । ओह ! तुम लोग सोओ, हम चला जाता है . ऊपर दरवाजे की तरफ बढते और गणित अथवा अग्रेजी या भूगोल-इतिहास की बहुत जरूरी बात बतलाते-बतलाते फिर लौट पडते । वास्तव मे उनका अभ्यन्तर उस अपने मकान मे इस रात्रि के अधेरे मे अपने को अकेला पाने से बचाता था ।[2] यह प्रकृति अन्य कहानियो मे भी देखी जा सकती है।

वर्णनात्मक ढंग से चरित्र-चित्रण करने की प्रणाली पुरानी है, पर जैनेन्द्रकुमार ने इस शैली का उपभोग अपनी कहानियो मे किया है । इस पद्धति मे वे अपने पात्रो की सारी विशेषताओ का वर्णन स्वय ही कर देते हैं । पर उनके और प्रेमचन्द की वर्णनात्मक ढग से चरित्र-चित्रण करने की प्रणाली मे अन्तर यही है कि प्रेमचन्द एक भी ऐसी विशेषता पात्रो के कार्य-व्यापारो एवं परिस्थतियो के बीच स्वय स्पष्ट होने के लिए नही छोडते और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो का भी वर्णन कर देते थे, जब कि

१. जैनेन्द्रकुमार जैनेन्द्र की कहानियाँ-पाँचवाँ भाग, (एक रात-कहानी); दिल्ली पृ० ३२-

२. जैनेन्द्रकुमार: मास्टर जी-कहानी, पृ० ६५

जैनेन्द्रकुमार केवल कुछ स्थूल विशेषताओ का ही वर्णन करते हैं। शेष का परिस्थितियो के माध्यम से विश्लेषण कर या ऊपर की अन्य प्रणालियो का उपभोग कर स्पष्ट करते है, 'कुछ दिन से, करीब महीने भर से, उसने इस कमरे मे अकेला सोना शुरू कर दिया है। भरा-पूरा परिवार है और सब उसकी ओर देखते है । वह सफल आदमी समझा जाता है। बाहर मान-प्रतिष्ठा है, घर मे आदर और आतक हैं। पर इधर जैसे जीवन का उद्देश्य उसमे से मिट चला है । उसे बहुत कुछ अब बेस्वाद मालूम होता है । बडा कारोबार उसके ऊपर है और वह उसने खुद जमाया है। उमर के तीस वर्ष उसने इसमे गला दिए हैं। इधर उधर का इस बीच उसने कुछ नही देखा। व्यवसाय को बढाने और फैलाने मे ही लगा रहा है।'[1] इस प्रसग की तुलना प्रेमचन्द की वर्णनात्मक ढग से की गई चरित्र प्रणाली के किसी प्रसग से सहज ही की जा सकती है।

अभिनयात्मक प्रणाली से चरित्र-चित्रण करने की पद्धति मे ऊपर की चार प्रणालियाँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं, जो सर्वथा नवीनतम हैं, पर अभिनयात्मक प्रणाली की चिर-प्रचलित पद्धति कथोपकथनो के माध्यम से चरित्र-चित्रण करने की शैली का प्रयोग भी जैनेन्द्रकुमार ने अपनी कई कहानियो मे किया है 'उसने अन्दर जाकर झिझकते मन से पत्नी से कहा, "अभी लोग आए थे। कह गये है कि १८ तारीख को मालती जी आयेगी और यहाँ ठहरेगी ।"

"कौन हैं ? तुम्हारी कोई लगती है ?"

"नही। तुमने नाम नही सुना, बडी लीडर हैं।"

"तो यहाँ क्यो ठहरेगी ? हम तो कोई बडे नही है।"

"मालूम नही। कह गये है कि यही ठहरने को लिखा है।"

"तुम उन्हे क्या बहुत जानते हो ?"

"पन्द्रह वर्ष पहले जानता था। पर मैं तो नौकर की तरह था और वे बडी आदमिन थी। कुछ मेरी भी समझ मे नही आ रहा है।"

"तुम्ही सोचो, मैं कैसे करूगी ! और जगह इन्तजाम नही हो सकता ?"

"इन्तजाम तो सब वे ही सभापति बन कर आ रही हैं। लीडरनी है। लेकिन अब बताओ, क्या किया जाय ?"

"तुम्ही ने किया होगा कि उन्हे मेरे सिर पर ला बिठाओ ! यहाँ काम के मारे वैसी ही मरी जा रही हू।...लेकिन होगा, सो सब हो जाएगा। फिकर न करो।"

"तभी तो कहता हू कि मैं कितना भाग्यवान हू !"

"मेरा सिर भाग्यवान हो ! अह .छोड़ो नहीं, मुझे काम करने दो।"'[2]

---

१. जैनेन्द्रकुमार : जैनेन्द्र की कहानियाँ, (मौत और ..कहानी), दिल्ली पृ० ६५

२. जैनेन्द्रकुमार : म-विज्ञान, (सारिका अक्टूबर १९६३), बम्बई, पृ० ८-९

अब जैनेन्द्रकुमार की कहानियो के 'कथानक' पर भी कुछ बाते—उनकी कहानियों मे कथानक का ह्रास लक्षित होता है, पर यह उनकी कोई मौलिक परम्परा है, यह समझना भूल होगी। पिछले चरण मे प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियो मे इसका आरम्भिक रूप स्पष्ट होने लगा था, जैनेन्द्रकुमार ने उसका पूर्ण विकास किया। इस सम्बन्ध मे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नही जानता जो मात्र लौकिक हो, जो सम्पूर्णता से शारीरिक धरातल पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है, जो सपने देखता है। सबके भीतर आत्मा है। जो जगती रहती है, जिसे शास्त्र छूता नही, आग जलाती नही, सबके भीतर वह है जो अलौकिक है। मै वह स्थान नही जानता जहाँ 'अलौकिक' न हो। कहाँ वह कण है, जहाँ परमात्मा का निवास नही है? इसलिए आलोचक से मै कहता हू कि जो अलौकिक है, है वह भी कहानी तुम्हारी ही, तुमसे अलग नही है। रोज के जीवन मे कार्य करने वाली, तुम्हारी जानी-पहचानी चीजो का और व्यक्तियों का हवाला नही है तो क्या, उन कहानियो मे तो वह अलौकिक है, जो तुम्हारे भीतर अधिक तहो मे बैठा है। जो और भी घनिष्ट और नित्य रूप मे तुम्हारा अपना है। अपनी दार्शनिकता के सम्बन्ध मे भी उन्होने स्पष्ट किया है कि दार्शनिक तत्व के रूप मे सत्य अत्यन्त गरिष्ठ है। उस रूप मे वह सत्य अपराक्षित भी है। वह अधिकाँश के लिए अग्राह्य है उसको दृष्टान्तगत, चित्रगत और कथा के रूप मे परिवर्तित करो, तभी वह रुचिकर और कार्यकारी बनता है, इस प्रकार जैनेन्द्रकुमार की सभी कहानियो के 'कथानक' दार्शनिकता एव विचार पक्ष के बोझ से दबे हुए है। वे नित्य-प्रति के जीवन से प्राय: कोई एक घटना चुन लेते हैं और उसी को फुलाकर कहानी का रूप दे देते है। वह घटना फूलकर और विभिन्न पात्रो की मनः स्थितियो, प्रतिक्रियाओ, घात-प्रतिघातो एव अवचेतन विज्ञप्तियो के साथ मिलकर इतनी फैल जाती है कि वह घटना भी अस्पष्ट बन जाती है और फलस्वरूप सारी कहानी दुरुह, जटिल एव सश्लिष्ट बन जाती है।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियो मे समाज या सामाजिक यथार्थ को खोजना व्यर्थ होगा। यह चित्रित करना उनको अभीष्ट भी नही है। इस सम्बन्ध मे उनके तर्क विचित्र हैं। वे कहते हैं, आप समाज के बारे मे मुझसे न पूछिये। मै उसे जानता ही नही। वह धारणात्मक सज्ञा है। वस्तु या तत्व की दृष्टि से वाचक और बोधक सज्ञा नही है। इसलिए समाज है तो मेरे लिए वह अपनी बीबी या पड़ोसी से शुरू हो जाता है। अन्यथा मुझे कहीं उपलब्ध ही नहीं हो पाता। पडोसी को छोड दें, तो समाज की कोई स्थिति बनती है। ऐसा भी मुझे नही लगता। तब यदि वह है, तो इसी अर्थ मे कि जैसे देवता होता है—है भी, नहीं भी है। मैं सुधार और सशोधन की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करता। मुझे वह स्वार्थ की भाषा जान पड़ती है। स्वार्थ से मुझे चिढ

नही लेकिन वह हो, तो उस पर नकाब डालने की क्या जरूरत है ? इसलिये सामाजिक या राजकीय सारा आदर्शवाद मुझे सिर्फ थोथा जान पडता। ' इसलिये अपनी रचनाओ द्वारा किसी सिद्धान्त या मत या अभीष्ट का प्रचार चाहू तो लगता है, यह अहकार का प्रचार है। मैं तो अपने को सबका सब उढेल फेंकना चाहता हू। इस स्पष्टीकरण के बाद कथानक न होने या उनकी कहानियो के उद्देश्यहीन होने की शिकायत करने का अर्थ ही क्या रह जाता है। इसी सन्दर्भ मे उनकी कहानियो मे व्याप्त 'आस्था' की बात भी की जा सकती है। उनके विचार से आदमी को आस्था का सूत्र जरूर चाहिये। नही तो व्यक्तित्व के अवयव बिखरे रहेगे। द्वन्द्व नासूर बनकर आपको ऐसा काटेगा कि धीमे-धीमे वह क्षय बन जायेगा, लेकिन आस्था धारण ही की जा सकती है, उसका मालिक नही बना जा सकता। पकड मे आ गई, तो वह आस्था नही रहेगी, विद्या बन जाएगी। उनकी कहानियो मे आस्था का स्वरूप इसीलिये रहस्यात्मक या 'मिस्टिक' बन जाता है, जो उनके दृष्टिकोण से अनिवार्य है। इस रहस्यात्मकता को यदि न भेदा जा सके, तो कहानीकार सफल है, ऐसा वे स्वीकारते हैं, क्योकि हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमे है, धौला उसमे है, उस सबको स्वीकार करके शनै-शनै उसे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त करते जाना ही महत्वपूर्ण है। इससे असम्बद्ध होकर सृजन कार्य को किस सज्ञा से अभिहित किया जाता है, इसे जैनेन्द्रकुमार नही जानते। वे तो लिखते हैं कि कहानी के उद्देश्य के बारे मे मैं कुछ अधिक सचेत नही हू, इतना अवश्य होगा कि मेरे भीतर जो रहा, विचार और भाव उससे कहानी को अमुक दिशा मिल जाती रही होगी। कहानी लिखता हू, तो मेरे मन मे कुछ स्पष्ट नही होता। प्लॉट तो होता ही नही। सिर्फ कहानी का अन्त कुछ-कुछ मन मे रहता है, कभी विचार बिन्दु, तो कभी भाव-ग्रन्थि के रूप मे। उस बिन्दु तक कैसे पहुचा जाय, बस इसमे प्लॉट-प्लॉट जो होता, बन रहता है। इससे ज्यादा कुछ मैं नही जानता नही और शिल्प आदि के बारे मे सर्वथा बेभान होकर लिखता रहा हू। मुझे लगता है, जिसने टेकनीक जाना, वह डूबा जी हाँ, ऐसा कई बार हुआ है,कि अन्त कुछ मन मे था और कहानी बीच मे या कही और जाकर खत्म हो रही। वास्तव मे जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उन्होने अपनी कहानियो मे कथानक, उद्देश्य या दृष्टिकोण को उतना महत्व नही दिया है, जितना चरित्रों के अध्ययन को और उनकी कहानियो का सर्वाधिक सफल पक्ष भी यही है।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियो मे दूसरा सफल पक्ष कथोपकथन है, जो चुस्त, सक्षिप्त नाटकीय एव पैने है। उनसे अपने दुहरे-तिहरे उद्देश्यो की प्राप्ति मे उन्हे बहुत सफलता प्राप्त हुई है। वे कथा के सूत्रो को जोड़ते ही नही, कहानी को अन्तिम बिन्दु तक पहुचाते भी हैं और सबसे बड़ी बात, बिना कहानीकार के हस्तक्षेप के पात्रो

के व्यक्तित्व के रहस्यात्मक सूत्रो का उद्घाटन भी करते हैं। उनकी सक्षिप्तता, पर भावाभिव्यक्ति की समर्थता अनूठी है

"कमरे मे ले जाकर मैने उससे फिर पूछताछ की, "क्यो बेटा, पतग वाले ने पाच आने तुम्हे दिये थे न ?"

"हा।"

"और वह छुन्नू के पास है ?"

"हाँ।"

"अभी तो उसके पास होगे न ?"

"नही।"

"खर्च कर दिए ?"

"नही।"

"नही खर्च किए ?"

"हाँ।"

"खर्च किये, कि नही खर्च किए ?"

उस ओर से प्रश्न करने पर वह मेरी ओर देखता रहा, उत्तर नही दिया।

"बताओ, खर्च कर दिये कि अभी हैं ?"

जवाब मे उसने एक बार 'हाँ' कहा तो दूसरी बार 'नही, कहा।

मैने कहा कि तो यह क्यो नही कहते कि तुम्हे नही मालूम है ?

"हा।"

"बेटा मालूम है न ?"

"हाँ।"

'पतग वाले से पैसे छुन्नू ने लिये है न ?"

"हाँ।"

"तुमने क्यो नही लिये ?"

"वह चुप।

"पांचो इकन्नी थी, या दुअन्नी और पैसे भी थे ?"

वह चुप।

"बतलाते क्यो नही हो ?"

चुप।

"इकन्नियाँ कितनी थी, बोलो ?"

"दो।"

"बाकी पैसे थे ?"

"हाँ"

"दुअन्नी नही थी ?"

"हाँ ।"

"दुअन्नी थी ?"

'हाँ ।'[1]

उनकी कहानियो मे लम्बे कथोपकथन भी मिलते है, जो प्रेमचन्द की कहानियो मे प्राप्त होने वाले भाषणो की ही भाति प्रतीत होते है

"आदित्य मुस्कराया। बोला।" यह काम इतना जरूरी था—मुझे अपनी नग्नता दिखाना ? मेरे लिए स्वय अपनी नग्नता तक आना क्या इतना दुष्कर था कि तुम समय निकालो और दायित्व ओढो ? तुम्हारे मिनट-मिनट की कीमत है। नही ?

'हो कीमत । शायद है । लेकिन बाकी सब फालतू है । एक यही काम ऐसा है कि "सुनो, स्वय अपनी नग्नता पाना दुष्कर नही, असम्भव है । एक अपने को सही सही सदा दूसरे मे ही देख सकता है । मुझे भी तो अपना आत्मदर्शन चाहिये । दुनियाँ में असंख्य जन हैं । और अपनी सार्वजनिकता मे असख्य के सम्पर्क मे मुझे जाना होता है। पर इन पन्द्रह वर्षों मे एक तुम्ही मेरे लिये दुर्गम बने रहे हैं।" कोई और काम न आ सका और तुम तक ही जो मुझे आना पडा सो इसलिए कि दूसरा कोई इतना निरपेक्ष नही दिखाई दिया । याद करोगे, कितनी बार मैं अकेली तुम्हारे बराबर बिस्तर डालकर सोयी हू । तुमसे कोई परदा रखने की चेष्टा नही की है । फिर भी कभी कोई आशा या अभिलाषा मैंने तुम्हारे व्यवहार मे नही देखी । कभी तो शका हुई है कि क्या तुम आदमी तक भी हो, लेकिन उसी कारण आज तुम तक आना पडा है कि तुम्हारे साथ के परस्पर मे मैं अपने को देखूं और तुम अपने को देखो । और इस दर्शन के बीच मे कही कोई भी आवरण न रह जाये ।"[2]

जैनेन्द्रकुमार ने भाषा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये हैं जिन्हे मनोवैज्ञानिक भाषा की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है । विशेष परिस्थिति मे हम शब्दो को और तरह से प्रयुक्त करते हैं या टेढा-मेढा बोलते हैं, इसके मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं । जैनेन्द्रकुमार ने बडी सूक्ष्मता से अभिव्यक्ति कर अपनी कहानियो मे व्याप्त मनोवैज्ञानिकता के सन्दर्भ मे अपनी भाषा को भी समर्थ बनाया है । उनके वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं और बहुधा वाक्य-विन्यास सायास ढग से बिगाडकर प्रस्तुत किये जाते हैं, जो मनोविश्लेषणात्मक परिस्थितियो मे अत्यन्त अनिवार्य सा हो जाता है । उन्होने स्थानीय शब्दो, बोलचाल की भाषा एव मुहावरो का प्रयोग किया है, इससे उनकी कहानियो की भाषा बडी समर्थ, चित्रोपम एव सजीव बन पड़ी है ।

१. जैनेन्दकुमार . जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, (पाजेब-कहानी), दिल्ली पृष्ठ ५६-६०

२. जैनेन्द्रकुमार : अविज्ञान, (सारिका : अक्टूबर १९६२), बम्बई पृष्ठ ११

वातस्व मे वे हिन्दी के अन्यतम गद्यकारो मे हैं। जहां तक शैली का प्रश्न है, उन्होने निम्न शैलियो का प्रयोग किया है :

१ पत्रात्मक शैली मे लिखी गई कहानिया, जैसे 'परावर्तन' कहानी।

२ नाटक शैली मे लिखी गई कहानिया, जैसे 'परदेशी', 'पाजेब' आदि कहानियाँ।

३ सवाद शैली मे लिखी गई कहानियाँ, जैसे बीडट्रीस' या 'ध्रवयात्रा' आदि कहानियाँ।

४ स्वागत भाषण शैली में लिखी गई कहानियाँ, जैसे, क्या हो' कहानी।

५ आत्म-कथात्मक शैली मे लिखी गई कहानिया, जैसे 'नादिरा', 'पाजेब' या 'समाप्ति' आदि कहानियाँ।

६ ऐतिहासिक शैली मे लिखी गई कहानियां, जैसे 'मास्टर जी' कहानी।

जैनेन्द्रकुमार शैली की दृष्टि से अत्यन्त सफल कहानीकारो मे से हैं। एक आलोचक[1] ने ठीक ही लिखा है कि वे दार्शनिक और विचारक कहानी-लेखक के रूप मे हमारे सामने आते है।उन्होने प्राय मध्यम वर्ग की मनोवैज्ञानिक असगतियाँ और कमजोरियाँ परखी हैं। वे व्यक्ति पर जोर देकर उसके मन का विश्लेषण करते हैं। दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण उनकी कुछ कहानियो मे दुरूहता और अस्पष्टता का आ जाना स्वाभाविक ही है। विषय-सामग्री अधिकतर वे अपने आस पास के जीवन से ही लेते हैं। फलत: उनकी कहानियो के कथानको का क्षेत्र बहुत व्यापक नही है। उनकी कहानियो मे मनोरम खण्ड-दृश्य हैं, जिनमे वे किसी न किसी एक केन्द्रीय भावना को स्थान देते है, इसी आसपास के जीवन को वे असाधारण परिस्थिति मे रखकर इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं। चरित्र प्रधान कहानी लिखने मे जैनेन्द्र जी कुशल है। उनकी कहानिया पढकर मानव-जीवन की तह मे क्या है, यह समझने की उत्सुकता होती है। जैनेन्द्र जी के कथानक चुस्त और प्रवाहपूर्ण हैं। कथोपकथन और भाषा का व्यवहार करते समय वे अपनी दार्शनिकता से अपने को बचा नही पाए। इसीलिये कथोपकथनो और भाषा मे दार्शनिकता-जन्य वक्रता और असाधारणत्व हैं। उनके वाक्य छोटे-छोटे और मनोभावो को लपेटे हुए होते हैं और उनसे चारित्रिक विशेषताओ पर प्रकाश पड़ता है। उनकी कहानियो के अब तक नौ सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

सियारामशरण गुप्त

सियारामशरण गुप्त मूलतः आदर्शवादी विचारधारा के कहानीकार हैं और शैली एव शिल्प तथा निर्वाह की दृष्टि से वे पिछले युग की कहानी परम्परा के अधिक

---

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . हिन्दी साहित्य का इतिहास, (१९६४-छठा सस्करण), इलाहाबाद, पृ० २९१

निकट हैं। उनकी कहानियो का एक सग्रह 'मानुषी' प्रकाशित हुआ है। 'झूठ-सच', 'कोटर और कुटीर', 'पथ में से', 'काकी', मुशी जी', तथा बैल की बिक्री' उनकी लोकप्रिय कहानियो मे से हैं। 'बैल की बिक्री' कहानी उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी समझी जानी चाहिये। एक आलोचक के अनुसार यह कहानी कचना विधान की दृष्टि से उत्तम है। इसमे कथा-तत्व के प्रकृत उतार-चढ़ाव के साथ चरित्राकन के सौन्दर्य की सगति बड़ी अच्छी बैठी है। परिस्थिति जन्य भाव-परिवर्तन का चित्रण सूक्ष्मता से किया गया है। शिबू जो मूलतः स्वच्छन्द, उच्छृखल, उद्धत और नितान्त अविनीत था, वह सूदखोर, जमीदार ज्वालाप्रसाद की कठोरता मे आबद्ध अपने पिता की दीन स्थिति को देखकर बदल जाता है और दृढ निश्चय के साथ उसमे कर्मठता जाग उठती है। इस जागरण एव परिवर्तन मे जीवन की आशका भी बाधा नही डाल सकी। उसके निर्भीक उत्साह से ज्वालाप्रसाद भी प्रभावित हो जाता है। इसके अतिरिक्त मोहन को अन्तर्वृत्ति-निरूपण मे लेखक की सहृदयता अधिक स्फुट हुई है सच्चे किसान की सहज सरलता और यथार्थ भावुकता के उद्घाटन मे वह पूर्ण सफल हुआ। मोहन वात्सल्यपूर्ण ममत्व की प्रतिमा है। उसकी ममता अपने पुत्र तक ही परिचित नही है, उसका प्रसार बैल तक फैल गया है। मोहन अपने सुख दुख के साथी बैल के बिछुडने से विचलित हो जाता है और शिबू ने जो उसके प्रति कठोर वचन कहे उसके लिए जैसी सेवा-तत्परता मोहन ने दिखाई उससे उसके अन्तःकरण की मानवोचित कोमलता प्रकट होती हैं। कहानी का आरम्भ सर्वथा विषय के अनुरूप हुआ है। डाकुओ के व्यापार से कुतूहल उत्पन्न होकर कहानी को आद्यन्त रुचिकर बनाये रहता है निरर्थक विस्तार-सकोचके कारण अन्त अनुमानाश्रित होकर आकर्षण उत्पन्न करने मे सहायक है। भाषा वक्रोक्तिमूलक अभिव्यजना से अपूर्ण हैं। सर्वत्र वाक्यो की लघुता और सीधेपन के कारण विषय कथन मे स्वच्छता उत्पन्न हो गई है।

'कोटर और कुटीर' कहानी मे भी आदर्शचरित्र प्रतिष्ठापना का प्रयास है। यह कहानी सूत्र और भाष्य शैली में लिखी गई है। कोटर का चातक अपने पिता से लड़कर पृथ्वी का पानी पीने के लिये निकाल पडता है। उडते-उडते यह एक निर्धन किसान की कुटी पर बैठता है, जहा उसे चारित्रिक निष्ठा का उपदेश मिलता है और वह दुबारा अपने कुटीर वापस लौट आता है। इनमे प्रतीक चित्रो की अवतारण हुई है और उनका निर्वाह करने मे सियारामशरण गुप्त पूर्णतया सफल रहे हैं। वास्तव मे गुप्तजी पर गाधीवाद का बहुत प्रभाव पडा था।[१] वे आदर्शवाद की स्थापना के साथ सुधारवाद भी चाहते थे, पर अहिंसात्मक ढग से सामाजिक विषमताओ या विकृतियो को देखकर उनका कवि जैसा सवेदनशील एव भावुक मन इतने आक्रोश मे नही आ जाता था कि अपनी कहानियो का माध्यम से वे किसी क्रान्ति का सृजन करने लगते।

१. डॉ० नगेन्द्र : सियारामशरण गुप्त, (दिल्ली), पृ० ४

धीर प्रशान्त जैसा उनका व्यक्तित्व था, वैसी ही उनकी कहानियाँ भी हैं। उनमे कही वर्णन की उच्छृ खलता नही है, सयमित एव मर्यादित कथानक मिलते हैं और परपरागत ढग से उनके निर्वाह भी हुए है। अपने पात्रो को उन्होने जीवन के यथार्थ से लिया अवश्य है, पर उनका चरित्र-चित्रण यथार्थवादी ढंग से न कर आदर्शवादी ढग से किया है और गाँधीवादी विचारधारा के अनुसार ही हृदय परिवर्तन, सेवा, निष्ठा, सहानुभूति का वर्णन किया है। इसलिए उनके पात्रो के चरित्र चित्रण मे वर्णनात्मकता अधिक नाटकीयता कम है। उनके माध्यम से व्यापक जीवन तत्वो का अन्वेषण कर आदर्शवादी ढग से प्रतिपादित करना उनका उद्देश्य रहा है, इसलिए वह अभिनयात्मक कौशल सम्भव ही नही हो सकता था, क्योकि अगत्या गुप्तजी जीवन से अधिक सम्बद्ध थे, कला के कम। उन्होने अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण मे मनोविज्ञान का आश्रय ग्रहण करने की चेष्टा भी की है, पर इस दिशा मे उनका कोई विशेष आग्रह नही रहा। उनकी कहानियो मे शिव एव नैतिकता का चित्रण प्राप्त होता है। वे विशुद्ध नैतिकताके प्रति आस्थावान् हैं और यही उनकी कहानियोमे व्याप्त सार्वभौमिक मानवतावाद का मूलाधार है। उनकी कहानी कला का लक्ष्य व्यक्ति न होकर उनका जीवन समाज और युग है, जिसकी विस्तृत पृष्ठभूमि उनकी कहानियो मे अकित हुई है। वे यह स्वीकारते थे कि मनुष्य मूलत बुरा नही है, परिस्थितिया उसे बुरा-भला बनाती हैं। अत कला को यदि मानवता के उत्थान मे सहयोग देना है, तो उसे शिव होना पडेगा। इस प्रकार सत्य अर्थों मे सियारामशरण गुप्त इस चरण के गाँधीवादी कहानीकार हैं। एक आलोचक[1] ने ठीक ही लिखा है कि सियारामशरण गुप्त ने अपनी कहानियो के लिए समाज को आधार बनाया है और अनेक भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनके पात्र आध्यात्मिक धरातल पर ऊ चे उठते हुए प्रतीत होते हैं। उनके पात्र सरल हृदय होते है और वैसी ही उनकी भाषा होती है।

अज्ञेय

अज्ञेय मनोवैज्ञानिक कहानीकार है पर जैनेन्द्रकुमार की भाँति वे घोर आत्मपरक नही हैं। उन्होने सामाजिक यथार्थ को लेकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं। पर प्रमुख रूप से वे व्यक्ति चेतना के ही कहानीकार कहे जायेंगे उनकी कहानी व्यक्ति और व्यक्ति के सघर्ष की कहानियाँ है। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था एव जटिलता के युग मे एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आते हैं और उसके कारण उनमे जो सघर्ष चल रहा है, मानवता के सचित अनुभव के प्रकाश मे ईमानदारी से उसे पहचानने का प्रयास करना अज्ञेय की कहानी कला का लक्ष्य है। इस प्रकार उनकी कहानियाँ व्यक्ति चरित्रो एव मनोभावो की

१ डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ; हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा सस्करण १९६४ इलाहाबाद पृ० २९२

कहानिया हैं, क्योकि उनकी रुचि सदा व्यक्ति में ही रही है। सामाजिक दृष्टिकोण को वे त्रुटिपूर्ण या अव्यावहारिक नही स्वीकारते, पर उसे निर्णायक भी नही मानते, क्योकि व्यक्ति को दबाकर किसी भी सम्बन्धित समस्या का जो भी विधान प्रस्तुत किया जायेगा--गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा। उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारो का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओ का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियो से वह बनता है, उन्ही को बनाता और बदलता भी चलता है, वह निरा पुतला, निरा जीव नही है वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक सम्पन्न व्यक्ति। अज्ञेय अभिमान या अहकार को एक सामाजिक कर्त्तव्य स्वीकारते हैं। अज्ञेय की इस धारणा से किसी को भी असहमति नही हो सकती, पर यह जीवन की सम्पूर्ण नही, एक पक्षीय आधार है,इसीलिए अज्ञेय का दृष्टिकोण एकागी है। अभिमान या अहकार व्यक्ति व्यक्ति के सदर्भ मे महत्वपूर्ण हो सकती है, पर एक व्यापक सदर्भ मे वह अव्यावहारिक हो जाती है। व्यापक सदभ से मेरा अभिप्राय: सामाजिक सदर्भ से ही जिसमे यदि यही स्थिति सत्य के रूप मे स्वीकार ली जाए, एक अव्यवस्था एव अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से असम्बद्ध हो जायेगा और समाज छोटे २ खडो मे बटकर, यहाँ तक कि एक-एक व्यक्ति की यूनिटो मे विभाजित हो जायेगा क्योकि वर्तमान असहिष्णुता, घृणा, विद्वेष एव अविश्वास की परिस्थितियो मे किसी भी व्यक्ति का अहकार या अभिमान अन्य को सह्य नही हो सकता और तो और जिस 'आधुनिक' परिवेश का चित्रण अपनी कहानियो मे अज्ञेय करते हैं, उसमे पत्नी और सतान भी व्यक्ति के अतिरिक्त अहकार एव दम्भ को स्वीकारने को प्रस्तुत नही हैं और अज्ञेय इतना तो स्वीकारेगे ही कि किसी न किसी पग पर प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग की आकाक्षा ही नही होती, वह जीवन की अनिवार्यता भी होती है और कम से कम भारतीय सामाजिक सदर्भों मे अभी भी अलगाव, अजनबीपन एवं एक दूसरे से असम्पृक्त रहकर अपने मिथ्या दम्भ एव अहकार का पोषण करने की प्रवृत्ति विकसित नही हुई है, जिसका अज्ञेय अपनी कहानियो मे (मैं सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित उनकी कुछ इनी गिनी कहानियो को अपवाद स्वरूप मानकर यह बात कह रहा हू क्योकि उस प्रवृत्ति के विकास के प्रति न तो अज्ञेय आग्रहशील रहे हैं और न वे उनकी कहानी कला का प्रतिनिधित्व करती हैं) चित्रण करते हैं। यह विदेशी समाज एव वातावरण की बातें हैं, जहाँ से अज्ञेय अपनी कहानियो के सदर्भ लेते हैं और अपनी कहानियो मे भारतीयकरण करके प्रस्तुत करते हैं।

वास्तव मे अज्ञेय के पास कोई भारतीय दृष्टि है।[1] वे केवल भारतीय दृष्टि

---

१ यह बात उनकी कहानियाँ ही नही, कविताए और तीनो उपन्यास—शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप तथा अपने-अपने अजनबी भी प्रमाणित करते हैं।

रखने का एक भ्रमित आभास मात्र देते हैं। कुछ इने-गिने अपवादों को छोडकर उनकी किसी भी कहानी को उठा लीजिए, उसमे जो 'जीवन' या वातावरण या पात्र आपको चित्रित मिलते हैं,वे आपको भारतीय प्रतीत होगे—नाम भारतीय होगे भारतीय शहरो का उल्लेख होगा या भारतीय क्राति की चर्चा होगी, पर उन नामो या वातावरण को जर्मनी या फ्रास के नामो या वातावरण से बदल दीजिए, कहानी के मूल रूप मे कोई परिवर्तन नही होगा और यदि कला का यह लोच (Flexiblart) कहानियो मे अपना महानता का परिचायक है, तो अज्ञेय सचमुच इस चरण के प्रतिनिधि कहानीकार के रूप मे स्वीकारे जाने चाहिए।

अज्ञेय की कहानियो मे जैनेन्द्रकुमार ही की भाति कथानक का ह्रास लक्षित होता है। उन्होने कथानक की अपेक्षा चरित्रो के अध्ययन, उनके द्वन्द्वो के मनोविश्लेषण एवं घात प्रतिघातो की सूक्ष्म व्याख्या के प्रति आग्रहशीलता प्रकट की है। उन्होने मनोविज्ञान सम्बन्धी अधिक प्रयोग किए हैं और उनकी कहानियो के एक-एक शब्द मे मनोवैज्ञनिक अभिज्ञता प्राप्त होती है। उन्होने 'अलिखित' कहानी मे मनोवैज्ञानिक मान्यता को कलात्मक रूप देने का प्रयत्न किया है। यह कहानी स्वप्न पद्धति पर आधारित है। 'पहाडी जी न' मे 'ईडियस' ग्रन्थि को स्पष्ट करने के लिए कहानी का सगुफन किया गया है। 'को ›री की बात', 'जयबोल' एवं 'परम्परा' आदि कहानियो मे मनोवैज्ञानिक सूत्रो की व्याख्या एव विश्लेषण के लिए ही कहानी के सूत्र सयोजित किए गए हैं। जयदोल' कदाचित् शुद्ध अर्थों मे हिन्दी की पहली ऐसी मनोवैज्ञानिक कहानी है, जिसमे चेतना प्रवाह पद्धति का अक्षरश· पालन किया गया है कि उसके शब्द चित्र तक उभर कर सामने आते हैं। यद्यपि वाचस्पति पाठक की कहानी 'यात्रा' मे इस प्रणाली का आरम्भिक रूप मिलता है, पर वह मनोवैज्ञानिक कहानी नही थी —उनकी और अज्ञेय की कहानी मे यही अन्तर है। 'जयदोल' मे कथानक की क्षीण रेखाएँ स्पष्ट या अस्पष्ट कुछ भी नही प्राप्त होती, उसमे मन की तरगो एव प्रवाहो का सूक्ष्म ब्योरा है, उसमे कहानी के इतिवृत्त के स्थान पर मानसिक लहरो का सगुफन है, उनकी कहानियो की यह एक अभिनव दिशा थी, क्योकि इसके पूर्व की कहानियो मे शैली प्रतिक्रिया (Response) तथा उत्तेजन (Sttmulus) के मध्य बिन्दु पर स्थिर होकर प्रहार करने से सम्बद्ध था। 'इसे यो समझिए जैसे कोई पानी का स्रोत हो विपरीत दीवारो से क्रमश और लगातार टकराकर ऊपर को उछलता चला जाता है और ऊपर उछलकर जाने की अधिकाधिक प्रगति उन दो दीवारो की टकराहट की शक्ति पर निर्भर करती है, ठीक उसी तरह उत्तेजन और उसकी प्रतिक्रिया के बीच मे कोई भावधारा उछाल खाती हुई ऊपर को उठती है और उसके उठने (अभिव्यक्ति) की क्षमता उत्तेजन और प्रतिक्रिया की शक्ति पर अवलम्बितरहती है। जैनेन्द्र की तकनीक भी इसी उत्तेजन और प्रतिक्रिया के बीच मनोवैज्ञानिक धारा

की कथा कहती है, किंतु वह अज्ञेय की भावधारा की भाँति ऊपर को नही उछलती बल्कि उत्तेजन और प्रतिक्रिया की कुछ ऐसी टक्कर वह खाती है कि उसमे उछाल न आकर भीतर हलचल और घुमडन अधिक बढती जाती है। दूसरे शब्दो मे अज्ञेय की धारा मे मानसिक विस्फोट होते हैं और जैनेन्द्र की धारा मे मानसिक पुटपाक।' अज्ञेय का ध्यान पात्रो के मानसिक विस्फोट के बिन्दु पर ही टिका रहता है और वे अधिक गहरे और सूक्ष्म हो जाते है, जबकि जैनेन्द्रकुमार का ध्यान पात्रो मे होने वाली मानसिक घुटन की दिशा तक ही सीमित रह जाता है, जिससे वह करुणा उत्पन्न करने की दार्शनिक चेष्टा करते है। अज्ञेय ने उत्तेजन और प्रतिक्रिया के क्रमिक एव निरंतर घात-प्रतिघातो से किसी भाव धारा की व्याख्या एवं मनोविश्लेषण किया है। 'जयदोल' • सग्रह मे ही 'मेजर चौधरी की कहानी' कहानी मे कथानक' इतना है कि मेजर चौधरी युद्ध मे विकलॉग हो जाते है और मोर्चे पर टिके रहने मे सर्वथा अयोग्य हो जाते हैं, उन्हे पेशन देकर वापस भेज दिया जाता है। इस प्रक्रिया मे मेजर चौधरी के मन मे जो भाव तरगे उठती है और जो मानसिक लहरे आगत-विगत एव वर्तमान की स्थितियो के ससर्ग मे उत्पन्न होती है—चेतना प्रवाह पद्धति मे उन्ही की सूक्ष्म व्याख्या की गई है और मेजर चौधरी की प्रतिक्रिया मे अनेक भावधाराए मिलकर कहानी को पूरा कर देती है। इस कहानी मे मेजर चौधरी का विकलाग होकर पेशन पाना वह ककडी है, जो उनके जीवन रूपी तालाब मे गिरकर स्वय तो डूब जाती है, पर डूबने के पहले असख्य लहरो का निर्माण कर जाती है। कहानी के समाप्त होने पर मूल घटना से हटकर दूसरी ही बाते सामने आती है। ऐसी असख्य लहरो को समेटकर कहानी निर्माण की अपूर्व क्षमता अज्ञेय मे है और 'जयदोल' सग्रह की अनेक कहानियाँ इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है, जिनमे अनेक मानसिक स्तरो को एक ही प्रवाह मे छूते चले जाने की समर्थता परिलक्षित होती है। इन कहानियो मे इतिवृत्तात्मकता को पूर्णतया तिरस्कृत किया गया है और किसी घटना या बात को पृष्ठ भूमि मे रखकर उसकी प्रतिक्रियाओ को भावधारा के रूप मे आगे गतिशील कर और विभिन्न तरगे उत्पन्न कर 'विश्रृंखलित' शैली मे सारी कहानी सगुफित करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

अज्ञेय की कहानियो का दूसरा वर्ग वह है, जिसमे कथानक तत्व प्राप्त होते हैं और सामाजिक यथार्थ को चित्रित कर परिवर्तित सदर्भों को उद्घाटित करने की प्रवृत लक्षित होती है इनमे प्रगतिशील दृष्टिकोण आस्था, सकल्प एवं सोद्देश्यता के साथ नैतिक आलोचना के तत्त्वो का कुशल सगुफन मिलता है। 'रोज', 'सभ्यता का एक दिन' 'परम्परा एक कहानी', 'जीवन शक्ति', 'शरणदाता', 'बदला', 'लेटर बाक्स', 'बसत' और 'कविप्रिया' आदि कहानियाँ इसी वर्ग मे रखी जा सकती हैं। इन कहानियो मे आंतरिक साधनों एव बाह्य साधनो का सामजस्य करके कथानको का निर्माण

किया गया है, राजनीतिक तथा बन्दी जीवन से सम्बन्धित कहानियो मे इस प्रवृत्ति का और प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है। पेगोडा वृक्ष', 'केसेन्ड्रा का अभिशाप' और 'एक घटे कहानिया इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। इनमे जहा एक ओर राजनीति 'प्रेम' 'घृणा' और विद्रोह का चित्रण हुआ है, वही आतरिक प्रवृत्तियो, मनोभावो एव द्वद्वो का सूक्ष्म विश्लेषण भी हुआ है, जिससे ये कहानियाँ पूर्ण प्रतीत होती है, इसलिए इस वर्ग की कहानी अधिक प्रभावशाली है। उदाहरणार्थ 'छाया' कहानी मे एक बदी के कारुणिक जीवन एव प्रतिक्रियाओ को सगुफित करके कहानी का निर्माण किया गया है। अरुण जिस जेल मे बद होना है, सयोग से उसी जेल मे उसकी बहन सुषमा भी बदी होकर आती है। अरुण के सामने ही सुषमा को फाँसी का दण्ड प्राप्त होता है। इससे अरुण के ऊपर जो प्रतिक्रियाए होती है और उसके मन मे बदी जीवन तथा विवशता की जो अनुभूतियाँ उत्पन्न होती है, वे समेटी जाकर कहानी का रूप पा गई हैं। गहराई से देखा जाए, तो उनमे कथानक के कोई विशेष तत्त्व नही है, केवल कुछ क्षीण रेखाए मात्र है, जो माध्यम बनकर आती है। 'कॅसेन्ड्रा का अभिशाप' या 'रोज' कहानी मे भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'पुरुष का भाग्य' मे एक स्त्री के चरित्र का विश्लेषण है, जिसका पैर एक बच्चे के गीले पैर की छाप पर पड जाता है और वह काँपने लगती है। और उसे कभी जेल का कठोर कारावास भी सहना पडा था, उसके पति को फाँसी दे दी गई थी और वह स्वय अध्यापिका थी, जब उसे बदी बनाया गया था और सात वर्ष का दंड दिया गया था। जेल मे ही वह माँ बन जाती है, लेकिन बच्चा उसकी गोद से छीनकर न जाने कहाँ भेज दिया जाता है। जेल से बाहर आने पर उस के अवचेतन मन मे अपने बच्चे की खोज की प्रबल भावना व्याप्त होती है और किसी भी दूसरे बच्चे की जरा-सी व्यथा पीडा यहाँ तक कि किसी छाया पर पाव पड जाने से भी उसे बहुत आघात पहुचता है और वह कम्पन की स्थिति मे डूबकर रह जाती है। ये अस्पष्ट धाराएँ है, जिन्हे अनुमान एव दिए गए सकेतो के आधार पर निश्चित किया जा सकता है और इन्ही पर सारी कहानी की रचना हुई है, जिसमे उस स्त्री के मानस की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रतिक्रियो का मनोविश्लेषण हुआ है। हीलोबोन की बतखे' मे भी कहानी की रचना इसी आधार पर हुई है।

अज्ञेय की कहानियो में 'कथानक' प्रतीको के सहारे भी सगुफित किए गए हैं। व्यक्ति अपने आत्म-विश्लेषण से विगत वर्तमान एव आगत के सम्बन्ध मे कुछ सूत्र प्रकट करता है, जो छोटी-छोटी घटनाओ, बातो एव कार्य-व्यापारो से सम्बन्धित होती हैं और उनके परस्पर समन्वय से सारी कहानी का निर्माण होता है, 'पठार का धीरज', 'सिगनेलर', 'नवम्बर दस', 'साँप', 'कोठरी की बात', 'पुलिस की सीटी' आदि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। 'साप' मे यह प्रवृत्ति इतनी सूक्ष्म हो गई है और कथा की गति इतनी रहस्यात्मक हो गई है कि जब तक पाठक मनोविज्ञान की कुछ

साधारण शास्त्रीय बातो से परिचित न हो और यौन-प्रेम से साँप की प्रतीकात्मकता की सगति का उसे बोध न हो, कहानी के मूल भाव को समझना उसे कठिन ही नही असभव-सा प्रतीत होगा।

अज्ञेय की कहानियो मे लक्ष्य या अनुभूति का परिवेश अत्यन्त सीमित है। उनमे विराट मानवीय चेतना का बोध नही होता और न समकालीन युग जीवन के विभिन्न आयाम ही अपने-अपने यथार्थ परिप्रेक्ष्य मे अभिव्यक्त हुए हैं। प्रेम-सेक्स, घुटन, पलायन, विद्रोह एव तीव्र अह—ये सूत्र है, जो उनकी प्रत्येक कहानियो मे मिलते हैं और इन्ही के सयोग पर सारी कहानियाँ टिकी हुई है। अज्ञेय ने अपनी कहानियो मे अनुभूति की प्रेरणा को अत्यधिक महत्व दिया है क्योकि उनकी धारणा है, लेखक अपनी अनुभूति से ही लिखे, जो अनुभूति नही है, कोई सैद्धान्तिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे लिखना ऋणशोध हो सकता है, साहित्यिक सिद्धि नही। वास्तव मे अज्ञेय एक मनोवैज्ञानिक कहानीकार है और कुछ विशिष्ट पात्रो को लेकर विशिष्ट घटनाओ के जाल मे उलझाकर उनके ऊपर होने वाली प्रतिक्रियाओ, मन मे होने वाले घात-प्रतिघातो एव मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो का मनोविश्लेषण करना ही उनकी चरम लक्ष्य और अनुभूति है। उनके पास जीवन के कोई सन्दर्भ नही है और न अपने समय के यथार्थ को उदघाटित करने का आग्रह ही—इसीलिए अज्ञेय जैसे प्रतिभाशाली कहानीकार के इतने शीघ्र चुक जाने का खेद उनके असख्य पाठको को हुआ अवश्य, पर विस्मय नही। कहानीकार जीवन-सन्दर्भो और अपने समय के यथार्थ परिवेश को लेकर ही बनता है, गतिशील होता है, कला को लेकर नही। कलावादी होकर एक अवधि तक वह चमत्कृत करने वाला प्रतिक्रियावादी बन सकता है, पर उस निश्चित अवधि के पश्चात् वह नाटक रचने की समर्थता से भी वह पगु बनकर निष्क्रिय हो जाता है।

अज्ञेय की कहानियो का प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय ढग से होता है। उन्होने कहानियो का प्रारम्भ नई-पुरानी दोनो ही शैलियो मे किया है : "कितने भोले थे हम—जो सच्चे दिल से इस शिक्षा को अपना कर सतुष्ट हो गये!" कहकर बूढ़े ने एक बहुत लम्बी सास ली और उठ खडा हुआ। खडे होकर एक बार उसने अपने चारो ओर देखा, फिर धीरे-धीरे खिडकी के पास जाकर चौखट पर बैठ गया, और घुटने पर ठोडी टेक कर धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा। खिडकी के बाहर कोई बहुत सुन्दर दृश्य हो, यह बात नही थी। वह घर, जिसकी कोठरी मे वृद्ध बैठा था, मद्रास नगर की एक बहुत छोटी, बहुत गन्दी गली मे था, और उस कोठरी तक सूर्य का प्रकाश कभी नही आ पाता था—उस खिड़की के बाहर का दृश्य'''एक तग गली, जिसके दोनो ओर नालियाँ बह रही थी, जिसमे छोटे-छोटे श्यामकाय बच्चे खेल रहे थे'''इसके ऊपर एक पकौड़ी की दूकान थी जिसमे एक तेल के कड़ाहे के पास बैठी

धीरे-धीरे कुछ गा रही थी "कभी-कभी वह रुक कर कीच से लथपथ लडको को धमकी देती थी, जिससे वे दूर भाग जाते थे और फिर नाली की बीच मे कूद पडते थे ..."[1]

या फिर बहुत सी कहानियो का प्रारम्भ बिल्कुल प्रेमचन्दकालीन कहानियो की भाँति होता है, जैसे .

"वह सुन्दरी नही थी। उसके मुख पर सौन्दर्य की आभा का स्थान तेज की दीप्ति ने ले लिया था। उसकी आँखो मे कोमलता न थी, वहाँ कृत निश्चय की दृढता ही झलकती थी। उसके सिर की शोभा उस पर की अलकावलियो मे नही थी, वरन् कटे हुए बालो के नीचे उस उघडे हुए प्रशस्त ललाट मे। कहते हैं, स्त्री के जीवन मे आनन्द है, स्नेह है, प्रेम है, सुख है। उसके जीवन मे वे सब कहाँ थे ? जब से उसने होश सभाला, जब से उसने अपने चारो ओर चीन से प्राचीन देश का विस्तार देखा, जब से उसने अपनी चिरमार्जित सभ्यता का तत्व समझा, तब से उसके जीवन मे कितनी दु खमय घटनाएँ हुई थी ! जब वह छ वर्ष की थी, तभी उसके पिता का जर्मन सेना ने तोप के मोहरे से बाँध कर उडा दिया था, क्योकि वे 'बाक्सर' गुप्त समिति के सदस्य थे, उसके बाद १९०० वाले 'बॉक्सर'—विप्लव मे जब उसकी आयु ११ वर्ष की भी नही हुई थी, जर्मन और अग्रेज सेना ने आकर उसके छोटे-से गॉव मे आग लगा दी थी। वहाँ के स्त्री-पुरुष सब जल गये—उनमे उसकी वृद्धा विधवा माता भी थी। केवल उसे, उस अनाथिनी को, जो उस समय सीक्याग नदी मे पानी भरने गयी हुई थी, न-जाने किस अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए, किस भैरव यज्ञ मे आहुति रूप अर्पण करने के लिए विधाता ने बचा लिया।"[2]

अज्ञेय की कहानियो मे अन्त दो प्रकार से हुआ है। अपनी प्रारम्भिक कहानियो मे उनमे किंचित उपसहार देने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। अक्तूबर १९३१ मे लिखी हुई 'अमर वल्लरी' कहानी का अन्त इस प्रकार हुआ है : "पर उसी समय मेरे हृदय मे यह भाव उठता है कि मुझे यह दुखडा रोने का कोई अधिकार नही है। मैंने जीवन मे सब-कुछ नही पाया। बहुत अनुभूतियो से मैं वचित रह गया, पर जीवन की सार्थकता के लिए जो कुछ पाया है वह पर्याप्त है। न जाने कितनी बार मैंने बसन्त की हँसी देखी है, पक्षियो का रव सुना है, न जाने कितनी देर मैंने मानवो की पूजा पायी है, न-जाने कितनी सरलाओ की श्रद्धापूर्ण अजलि प्राप्त की है, और उन सबसे अधिक, न-जाने कितनी बार मुझे इस अमरवल्लरी के स्पर्श मे एक साथ ही बसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की तरलता का, शरद् की स्निग्धता का, हेमन्त की शुभ्रता का और शिशिर के शैतल्य का अनुभव हुआ है,

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (गृहत्याग-कहानी), बनारस, पृ० ४८
२. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (द्वारिति-कहानी), बनारस, पृ० २९

न-जाने कितनी बार इसके बन्धनो मे बँधकर और पीडित होकर मुझे अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान हुआ है ! एक कथा, एक जलन, मेरे अन्तस्थल मे रमती गयी है—कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी—पर मुझे इस ध्यान मे सान्त्वना मिलती है कि मै ही नहीं, सारा संसार ही मूक है जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मै मानव की विवशता देखता हू, जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की उपेक्षा करके मेरे प्रति अन्याय किया है, तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वय भी तो इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का, इसकी अभिव्यक्ति-चेष्टा का, नीरव प्रस्फुटन ही हू !'[१]

पर चरम सीमा पर कहानी का नाटकीय अन्त करने की प्रवृत्ति अज्ञेय मे शीघ्र ही विकसित हो गई, और उनकी बाद की सारी कहानियाँ इसी चरम-उत्कर्ष के बिन्दु पर समाप्त होने लगी :

"लोगो ने देखा, जिन रस्सियो मे मार्टिन बाँधा गया था, वे टूट गयी थी। मार्टिन दीवार की ओर पैर किये औंधे मुँह पडा था। भीड को एकाएक मानो खोयी हुई वाणी मिल गयी।

"यह कब हुआ ?"

"उसकी चीख सुनकर ही। मैं देख रहा था वह चौका, फिर झटका देकर घूम गया।"

"मैने भी देखा था। वह खुद भी चिल्लाया था—"

"क्या ?"

"क्राइस्ट" !

"नही, क्रिस्टाबेल ही !"

सैनिको ने जब आकर मार्टिन के शव को उठाया, तब उनके मुँह पर आदर का भाव था। एक ने कहा, "यह देखो, सभी गोलियाँ छाती मे लगी है।"

लोग मार्टिन के शव को देखने और उसकी आलोचना करने मे इतने लीन हो गये कि बेचारी क्रिस्टाबेल—हाथ मे प्रजातत्र की मोहरवाला एक कागज लिए खडी क्रिस्टाबेल—की ओर किसी का ध्यान ही नही गया। वह एक बडी लम्बी, बडी थकी हुई, बडी उत्सर्गपूर्ण सी साँस लेकर गिरते-गिरते बोली, "अकलक !"[२]

अज्ञेय की कहानियो मे पात्र विशिष्ट है। वे जीवन के यथार्थ से न लिये जाकर अनुभूति एव लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गढे गये हैं। जीवन के यथार्थ से न लिए जाकर वे गढे इसलिये गये हैं, क्योकि उनकी कहानियो मे व्याप्त अनुभूति एव लक्ष्य

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (अमरवल्लरी कहानी), बनारस, पृ० २८

२. वही; अकलंक—कहानी, पृ० १०३-१०४

का सम्बन्ध भी जीवन से न होकर एक विशेष दृष्टिकोण से है, जो आत्मपरक है, फलस्वरूप पलायनवादी है। उनकी कहानियो मे पात्रो के चरित्र चित्रण निम्न पद्धतियो से होते है .

१ आत्म विश्लेषणात्मक
२ मानसिक ऊहापोह
३ सकेतो द्वारा
४. अभिनयात्मक
५ वर्णनात्मक

आत्म-विश्लेषणात्मक ढग उनकी आत्मकथानक शैली मे लिखी हुई कहानियो मे अधिकॉश रूप मे से युक्त हुआ है ' मै भावुक प्रकृति का आदमी नही हू। पुराने फैशन का एकदम साधारण व्यक्ति हू। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल मे इतिहास के अध्यापक का पद है। मैं सिनेमा-थियेटर देखने का शौकीन नही हू। न मेरा कविता मे ही मन लगता है। मनोरजन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियो के इतिहास पढ लिया करता हू। एक-आध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये है। इससे अधिक कुछ नही कर सकता, क्योकि यह विदेश है।''' पर जो बात मै कहना चाहता था, उससे मैं भटक गया। हाँ, मैं भावुक प्रकृति का नही हू। मेरी रुचि इसी सग्रह मे या कभी-कभी क्रान्ति सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बाते मैं नही जानता। फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन मे उसी तरह उथल-पुथल मचा गई, जिस तरह एक उद्यान मे झझावात। उस दिन से जाने क्यो एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय मे घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पडती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक में कम्पायमान ध्वनि मेरे कानो मे गूँज उठती है।"[1]

मानसिक ऊहापोहो, घात-प्रतिघातो एव द्वन्द्व के विश्लेषण से अज्ञेय ने अपने पात्रो का चरित्र चित्रण लगभग सभी कहानियो मे किया है. "किन्तु जब वह किवाड़ खोलकर वापस आयी, तब एकाएक उसके हृदय पर मानो कोई दैवी प्रकाश छा गया 'उसे किसी दिव्य ज्ञान की एक रेखा ने कहा, ये झूठे हैं।'

सूर्य्यकान्त मरा नही, वह मर सकता ही नही था'''यह विचार भी असम्भव था—असम्भावना से भी अधिक असम्भव ''

वह ज्ञान रेखा कह रही थी, 'ये झूठे हैं! वह नही मरा! तुम्हारे कर्म की सफाई के लिये यह आवश्यक नही है कि उनकी मृत्यु हो गई हो।'

सुखदा इस ज्ञान के प्रकाश के आगे यह सोच ही नही सकी कि उसे कैसे

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (विपथगा-कहानी), बनारस, पृ० ६४-६५

पुलिस के कथन पर विश्वास हो गया—चाहे क्षण भर के लिये ही 'जब उसे याद आया कि यह समाचार सुन कर ही उसकी आत्मा की पीडा के साथ साथ शान्ति का अनुभव हुआ था, तब उसका हृदय लज्जा से भर गया'''

वह धीरे-धीरे झोपडे के सामने वाले पगोडा वृक्ष की ओर अग्रसर हो रही थी। पुलिस वाले उसे बाहर आया देखकर इकट्ठे हो रहे थे। वह उनकी उपेक्षा करती हुई वृक्ष की ओर देखती हुई चल रही थी।

वह रुकी। एकाएक उसका हृदय एक अदम्य सुख से, एक ज्वलन्त उल्लास से, भर आया।

यही जीवन का चरम उद्देश्य है—सृष्टि का चरम साफल्य, अनुभूति का अन्तिम विकास—सुख की अन्तिम पराकाष्ठा पीडा का, उत्कट पीडा का ज्ञान—ऐसी पीडा का, जो कि स्वय अपनी इच्छा से, अपने हाथों, स्वागत की भावना से, अपने ऊपर ली गई है यह आत्म निछावर की चेतना ''

सुखदा को ऐसा प्रतीत हुआ, उसका वर्षों का वैधव्य, और उससे पूर्व की जीवित मृत्यु, आज एकाएक अपनी सीमा पर पहुच गये हैं— समाप्त हो गये हैं, और आज एक नयी स्त्री, एक नयी शक्ति हो गयी है ''[1]

सकेतो द्वारा चरित्र चित्रण करने की प्रणाली का उत्कृष्टतम प्रयोग 'मनुष्य का भाग्य कहानी में हुआ है जिसमे एक स्त्री, जिसका बच्चा छीन लिया गया है, अवचेतन मैं अपने बच्चे को खोजने की लालसा, लिये घूमती है, और उसका पैर एक बच्चे के पदचाप पर पड जाता है जिससे वह अप्रत्याशित रूप से काँप जाती है —इस सकेत से उसके चरित्र का मनोविश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार 'पुलिस की सीटी' मे सत्य को सीटी की आवाज सुनते ही उसे जान पडा, मानो अभी ससार मे अधेरा हो जायगा, पृथ्वी स्थापना च्युत हो जाएगी। उसने सहारे के लिए हाथ आगे बढाया। हाथ कुछ थाम नही सका। मुट्ठी भर उडती हुई हवा को अगुलियो मे से फिसल जाने देकर खाली ही रह गया तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा। गिरकर रहेगा। उसने आँखे बन्द कर ली।[2] यहाँ एक सा ारण से लडके की सीटी बजने की ध्वनि मात्र के सकेत से सत्य के चरित्र का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। उसके अवचेतन मन मे एक बहुत बडी ग्रन्थि थी, जिसे मनोविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में (Prosecution Mariea) कहा जा सकता है।

---

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (पगोडा वृक्ष-कहानी), बनारस, पृ० १४३-१४४।

२. अज्ञेय : परम्परा, (पुलिस की सीटी-कहानी), पृ० १५६।

अभिनयात्मक प्रणाली द्वारा चरित्र चित्रण करने की शैली अज्ञेय के समय मे सामान्य रूप से प्रचलित हो चली थी और उन्होने इसका प्रचार मात्रा मे उपयोग भी किया है।

मैं क्षण भर उस की ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नही। मैंने ही मौन भग किया, "कहिए, क्या आज्ञा है?" कोई उत्तर नही मिला। मैंने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हू?'

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौल कर रखा हो, मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियो से आपको सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिये हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आयी हू।"

मैं काँप गया। मैने उपेक्षा से कहा, "आप साफ-साफ कहिए, बात क्या है? मैं आप का अभिप्राय नही समझा?"

वह बोली, 'मै क्रान्तिकारिणी हू। मुझे अभी कुछ धन की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे?"

"किस लिए?"

वह कुछ देर के लिए असमजस मे पड गयी, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नही। फिर उसने धीरे धीरे ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार-रक्त रजित तलवार—निकाली। इतनी देर मे उसने आँख पल भर भी मुझ पर से नही हटायी। मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तरतम विचारो को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध होकर देखता रहा

वह बोली, "यह देखो! जानते हो, यह किस का रक्त है? कर्नल गोरीव्स्की का! और उस की लोथ उसके घर के बाग मे पड़ी हुई!"

मै भौचक हो कर बोला, 'हैं?" कब?"

"अभी एक घटा भी नही हुआ। उस की तलवार, इन हाथो ने उसी के हृदय मे भोक दी? तुम पूछोगे, क्यो? शायद तुम्हे नही मालूम की स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है!"

"तुम यहाँ क्यो आयी?"

"मुझे धन की जरूरत है। मॉस्को से भागने के लिये।"

"मैं तुम्हारी सहायता नही कर सकता। तुम हत्यारिणी हो।"[1]

वर्णनात्मक ढग से चरित्र चित्रण करने की प्रणाली का उपयोग अज्ञेय ने बहुत बहुत कम किया है, पर यह उनकी आरम्भिक कहानियो मे प्राप्त होता हैं: "इस का कारण था। पति की अनुपस्थिति मे उसे कोई कष्ट या क्लेश होता है, या वियोग

१. अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (विपथगा-कहानी), बनारस, पृ० ६७-६८।

की पीडा उसके लिए असह्य हो, यह बात नही थी। वर्ष भर पति के साथ रह कर भी उसने इतनी घनिष्ठता नही उत्पन्न की थी, जितनी कॉलेज के लडके-लडकियाँ सप्ताह भर मे कर लेते हैं ..उसका और उसके पति का जीवन मानो दो अलग और समानान्तर दिशाओ मे बह रहा था, और वे निकट नही आ पाते थे। इसी लिए, वह अपने पति के पतित्व का अनुभव एक खास दूरी पर करती थी—जब वह उस के निकट आता, तब वह सुखदा के लिए बिल्कुल अजनबी हो जाता। जब वह घर मे होता, तब सुखदा के हृदय मे उस के प्रति एक उद्वेग, एक प्रकार की झुंझलाहट के अतिरिक्त कोई भावना नही होती थी, जब वह दूर पुल पर होता तब सुखदा अपने हृदय को यह समझाया करती थी कि वह तेरा पति है'। स्वच्छन्द, शीतल निरपेक्षता से जैसे कोई बच्चे को इशारे से चिडिया दिखा कर बताये—'यह अबाबील है। उसे स्वय कभी कभी इससे अत्यन्त कष्ट होता था। पतिव्रत्य के जो सस्कार उसे मिले थे, वे उसे कभी कभी अत्यन्त दुःखी कर डालते थे। वह इस निरपेक्षता को दूर करने की चेष्टा भी करती थी, किन्तु इसमे मुख्य अडचन होता था स्वय उसका पति''[1]

इस प्रकार स्पष्ट है अज्ञेय की कहानियो मे पात्रो का चरित्र चित्रण मनोवैज्ञानिक धरातल पर अधिक हुआ है, जिसकी तीन धाराएँ :

१—विश्लेषणात्मक रूप।

२—अहं रूप।

३—विद्रोहात्मक रूप।

विश्लेषणात्मक रूप अज्ञेयकी चरित्र सम्बन्धी अवतारणा मे अधिक प्राप्त होता है। यह भी दो दिशाओ मे लक्षित होता है। एक सीधे चरित्र-विश्लेषण की दिशा, जैसे "चिन्तन से उसे पीडा होती थी, किन्तु पीडा उसे चिन्तन का आधार देती थी और इसलिए वह पागल नही हुआ, इसलिए जब तूफान आकर उसे अशान्त करके प्रशान्त करके चला जाता था, तब वह उन्मद दानव की भाति उस छोटी सी कोठरी मे टहलने लगता था। एक सिरे से दूसरे सिरे तक, एक, दो, तीन, चार, पाँच कदम फिर वापस एक दो, तीन चार, पाँच फिर लौट कर एक, दो, तीन और इसी तरह वह सारी रात बिताता था, तब उसकी टाँगे थक जाती, वह एकाएक रुककर भूमि पर बैठ जाता और चुपचाप मन ही मन रोने या कविता करने लगता है। इस धारा की दूसरी पद्धति मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो द्वारा मनोविश्लेषण करने की प्रवृत्ति है, जैसे, 'नालायक वह ?'

चौककर रतन उठ बैठा, क्या उसने कुछ देखा, या कुछ याद आ गया ? कोडे की मार से आहत-सा वह उठ बैठा। नालायक वह। अगर मै नही नालायक, जिस

१. अज्ञेय : वही, पगोडा वृक्ष-कहानी, पृ० १२१-१२२।

ने एक तो चोरी की, दूसरे अपनी बहन को बुलाया और तीसरे हाथ आई दौलत फेंक दी ? चोर, दस नम्बर का बदमाश और बेवकूफ ।[1]

अह रूप का अज्ञेय के लिए अत्यधिक महत्त्व है । व्यक्ति के अह को वे सर्वोपरि स्थान देते है इसीलिये उनके चरित्र सम्बन्धी अवतारण मे भी इस अह रूप का विशेष उल्लेखनीय स्थान है। इसके कारण उनके पात्र आत्मपरक एव व्यक्तिवादी हो गये है । यह तीन रूपो मे उनकी कहानियो मे अभिव्यक्त हुआ है

१—चिन्तक मे, जैसे 'छाया' कहानी का वार्डर, जो अपने अह रूप से कहानी का प्रारम्भ करता है । अरुण और सुषमा के अह अलग-अलग सूत्रो के रूप मे कहानी का विकास करते है ।

२—स्वत नायक के रूप मे, जैसे साँप' कहानी मे ।

३—अन्य पुरुष के रूप मे, जैसे 'द्रोही' कहानी मे । इसमे अह रूप का इतना विस्तार हो जाता है कि दूसरे चरित्रो की अवतारणा भी होती चलती है । 'द्रोही' कहानी मे ही अन्य पुरुष का रूप वह बुद्धिमान था या मूर्ख, दर्बल या हठी, साहसी था या कायर,हम नही कह सकते हम केवल इतना ही कह सकते है कि वह द्रोही था, सिर से पैर तक द्रोही । स्वत रूप मे—आँख बन्द करके सोचता हू भविष्य के क्रोड मे क्या है, जो मुझमे छिपा हुआ है ? बहुत सोचता हू, पर एक प्रशस्त अधकार के अतिरिक्त कुछ नही दीखता । विस्तृत रूप मे—

एक स्मृति आती है : एक व्यक्ति कठहरे मे खडा है ।

कमला—कमला, तुम्हे कैसे पाऊ गा ।[2]

अपनी सामाजिक, राजनीतिक, तथा व्यक्तिगत प्रश्नो एव मूल्यो को लेकर लिखी गई कहानियो मे अज्ञेय ने चरित्र सम्बन्धी अवतारणा मे विद्रोहात्मक रूप का प्रयोग किया है । 'रोज' की मालती, 'दु ख और तितलिया' का शेखर, सूक्ति और भाषा' की 'जसुमति', 'परम्परा—एक कहानी' का दरबान तथा 'सभ्यता का एक दिन' का नरेन्द्र इसी विद्रोहात्मक रूप के अनुसार ही चित्रित पात्र हैं । एक स्थान पर अज्ञेय ने लिखा है, द्रोह मेरे हृदय मे है, मेरी अस्थियो मे है, मेरी नस नस मे है, मैं द्रोही हू । इस दृष्टिकोण को लेकर अधिक विस्तृत धरातल पर विद्रोहात्मक चरित्रों की अवतारणा 'शत्रु' का ज्ञान, 'नम्बर दस' का रतन, द्रोही' कर मैं और कमला, 'कैसेड्रा का अभिशाप' की कर्मेन और मेरिया आदि पात्रो के रूप मे हुई है, जहाँ अपने दृष्टिकोण को विस्तार देते हुए अज्ञेय ने स्पष्ट किया है कि मै यदि विद्रोही हू, तो इसलिए कि मेरी प्रकृति यह माँगती है मेरी जीवन-शक्ति की वही निष्पत्ति है ।

अज्ञेय की कहानियो मे कथोपकथन महत्वपूर्ण स्थान रखते है। वे सूक्ष्म भावा-

१. अज्ञेय परम्परा, (नम्बर दस-कहानी) पृ० १०९ ।

२ अज्ञेय . कोठरी की बात, (द्रोही-कहानी), पृ० ३१-३२-३३ ।

भिव्यक्ति की समर्थता से परिपूर्ण, साकेतिक, नाटकीय, चुस्त एव सार्थक होते हैं। वे सोद्देश्य ही होते हैं और कथानक का विकास करने, उसकी अस्पष्ट एव विशृंखलित रेखाओ को सयोजित करने तथा पात्रो के मनोभावो, द्वन्द्वो एव चरित्रो को स्पष्ट करने मे पूर्णतया सफल होते हैं

"कैसा बाँका जवान है।"

"अभी बिल्कुल बच्चा है।"

"वह देखो बाँह से खून निकल रहा है।"

"फौजी वर्दी पहने हुए हैं।"

"युवान शिकाई का आदमी तो नही है ?"

"नही, सिर पर चोटी नही है, कैंटन का सिपाही होगा।"

"यह बाह मे गोली लगी है।"

"कितना खून बह गया है, पीला पड गया है।"

"मर गया है।"

"नही, अभी जीता है।"

वह शरीर कुछ हिला फिर उसने आँखे खोली। "मैं कहाँ हू ?"

"यह है कैंटन। कहाँ से आ रहे हो ?"

"कैंटन, वह लाल मकान !"

आँखे फिर बन्द हो गई। थोडी देर बाद शरीर मे कम्पन हुआ, आंखें खुली, उनमे एक विचित्र तेज था।

"मुझे उठा कर ले चलो।"

"कहाँ ?"

"वह बडा मकान-डायना पेइफू का उस मे !" वे उसे उठा कर सावधानी से धीरे-धीरे ले चले।

"जल्दी ! जल्दी !"

वे तेज चलने लगे, तब भी उसे सन्तोष न हुआ।

"और जल्दी !"

वे दौडने लगे।[१]

अज्ञेय ने कही-कही प्रेमचन्दकालीन कहानियो की भाँति विश्लेषणात्मक कथोपकथनो का सयोजन किया है, हालाकि यह प्रवृत्ति आरम्भ की कुछ कहानियो के बाद विकासकालीन कहानियो में कम लक्षित होती है। "मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हू। मैं चाहता हू कि ससार मे साम्य हो,

१ अज्ञेय : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानिया, (हारिति-कहानी), बनारस, पृ० ४५-४६।

शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नहीं होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उसके लिये अगर यह करना पडता हो, तो उस क्रान्ति का विरोध करूंगा। इसके लिये अगर प्राण भी—"

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम? सूर्य का उदय होता है, उसको रोकने की चेष्टा की है? समुद्र में प्रलय लहरी उठती है, उसे रोका है? ज्वालामुखी मे विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है। उसे रोका है? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्ति मान, प्रलय से भी अधिक भयकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है "उसे क्या रोकोगे।"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्तव्य है, वह तो पूरा करूगा।"

"क्या कर्तव्य? लेक्चर झाडना?"

"देश मे अपने विचारो का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिंसात्मक क्रान्ति! जो भूखे, नगे प्रताडित है, उन को जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ रूस की भयकर सर्दी मे बर्फ के नीचे दब जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्र पुरुष के रास्ते मे न आ जाय। रोते हुए बच्चो से कहोगे। माता की छातियो की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खाकर भूख मिटाओ। और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देख कर मन ही मन हँसेंगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड मे निर्धनो का रक्त चूसकर ले जायेगे। यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिस का तुम्हे इतना अभिमान है।"

"अगर शासक अत्याचार करेंगे, तो उनके विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म, होगा।"

"धर्म? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो? वही धर्म, जिसके नाम पर तुम स्कूल मे इतिहास पढ़ते समय इतने झूठ बकते हो?[1]

भाषा की दृष्टि से अज्ञेय अत्यन्त सफल रहे है। उनकी भाषा मे गारिमा है है और सस्कृति की तत्वो की पूर्ण रक्षा है, इसीलिए वह सस्कृति निष्ठ हो गई है, पर उसमे प्रवाह है, क्लिष्टता नही। उनकी भाषा भाव पूर्ण है। उनकी शैली भी सफल रही है। अपनी कहानियो मे उन्होने निम्न शैलियो का प्रयोग किया है।

१—कथात्मक शैली, जैसे 'कैसेन्ड्रा का अभिशाप', 'आदम की डायरी', 'पगोडा वृक्ष', 'शरणदाता', 'हीलीबोन की बत्तखें' आदि कहानियाँ।

२—आत्म-कथानक शैली, जैसे, 'अमर बल्लरी', 'विपथगा', 'लेटर बक्स' रमन्ते तत्र देवता', साँप', 'मेजर चौधरी की वापसी' आदि कहानियाँ।

---

१ अज्ञेय अमर वल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, (विपथगा—कहानी), बनारस पृ० ६९-७०।

३—नाटकीय शैली, जैसे, कविप्रिया 'और 'बसत आदि कहानियाँ।

४—पत्रात्मक शैली, जैसे सिगनेलर, कहानी, इसमे अंतिम दो पृष्ठ डायरी के रूप मे भी हैं।

५—प्रतीकात्मक शैली, जैसे, चिडिया घर', 'पुरुष का भाग्य', 'कोठरी की बात', पठार का धीरज', तथा 'साँप' आदि कहानियाँ, जिनमे क्रमश विभिन्न प्रकार के जीव जन्तु, धूल पर दो गीले पावो की छाप, कोठरी, पठार तथा साँप के प्रतीको से कहानियो का विकास हुआ है।

६—मिश्रित शैली, जिनमे आत्म-कथात्मक, सवादात्मक, पत्रात्मक और प्रतीकात्मक शैलियो के मिश्रण से कहानी का निर्माण हुआ है, जैसे 'छाया', 'द्रोही' और 'नम्बर दस' आदि कहानियाँ।

जहाँ तक अज्ञेय की कहानियो के वर्गीकरण का प्रश्न है, उन्हे निम्न चार वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है :

१—सोद्देश्य सामाजिक यथार्थ परक कहानिया, जैसे 'राज', 'सभ्यता का एक दिन', 'परम्परा—एक कहानी', 'जीवन शक्ति' 'शरणदाता', 'बदला', 'लेटर बक्स', 'कविप्रिया' तथा बसत' आदि कहानियाँ।

२—राजनीतिक बँदी जीवन सम्बन्धी कहानियाँ, जैसे 'पेगोडा वृक्ष', 'छाया', 'केसेन्ड्रा का अभिशाप', 'एक घटे मे' आदि कहानियाँ।

३—चरित्र विश्लेषण प्रधान कहानियाँ, जैसे पुरुष का भाग्य', 'हीलीबोन की बत्तखे' आदि कहानियाँ।

४—प्रतीको के सहारे मानसिक सघर्षो के अध्ययन सबधी कहानियाँ, जैसे 'पठार का धीरज', 'सिगलेनर' 'नम्बर दस', साँप', कोठरी की बात' तथा 'पुलिस की सीटी' आदि कहानियाँ।

अज्ञेय मे शिल्प विधान सम्बन्धी मौलिकता है और आधुनिक हिन्दी कहानी कला को उन्होने पुष्ट करके विविधता का स्वरूप प्रदान किया-यह उनकी एक महत्व-पूर्ण उपलब्धि है। जैसा कि एक सुविज्ञ[1] ने कहा है, अज्ञेय की कहानियाँ प्रभाववादी होती है और वे किस न किसी सामयिक सत्य की व्यजना करते है। उन्होने किसी प्रकार के दर्शन का आश्रय ग्रहण नही किया और न जीवन को वर्गीय खण्डो मे बाँट कर देखा है। वे अपनी सामग्री अधिकतक दैनिक जीवन से लेते हैं। उनकी कहानियो मे प्रतीको, स्वप्नो, स्मृतियो और वातावरण के कुछ प्रयोग के साथ साथ कोमल मान-वीय प्रवृत्तियो का भी सुन्दर सवेदनीय चित्रण रहता है अज्ञेय ने अपनी कहानियो मे मध्य वर्ग के जीवन की विषमताओ का वर्णन किया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयः हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा संस्करण-१९६४), इलाहबाद पृष्ठ २९२-२९३।

और उनके अपने व्यक्तित्व की छाप भी उनकी कहानियों की विशेषताएं हैं। उनके कथोपकथन और भाषा मे स्वाभाविकता रहती है।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक निष्पत्तियो पर आधारित कहानिया लिखने वाले कलाकार हैं। 'रोमांटिक छाया', खण्डर की आत्माए', डायरी के नीरस पृष्ठ', आहुति' तथा 'होली और दिवाली' नामक कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। किड-नैप्ड', 'प्रेम और घृणा', आत्महत्या का खून', 'विद्रोही', 'पागल की सफाई', 'यज्ञ की आहुति', 'सजनवा', 'फोटो', 'अनाश्रित', 'क्रय-विक्रय' आदि उनकी लोकप्रिय कहानियो है। जोशी जी का मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन है और आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के हिन्दी मे कदाचित वे सर्वाधिक सम्पन्न कहानीकार है, पर उनके साथ दुर्भाग्य यही है कि कहानी कला के आधुनिक आयामो से या तो वे अनभिज्ञ हैं या जानते हुए भी सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने की समर्थता से वंचित हैं। वे कोई केस हिस्ट्री तैयार कर लेते है और बडे शुष्क एव नीरस ढग से ब्यौरेवार किसी घटना मे फिट कर प्रस्तुत कर देते हैं, जो मनोविज्ञान के विद्यार्थियो के लिए तो रोचक हो सकती है, कहानी के पाठको के लिए नही। क्योकि उनकी कहानियाँ कोई संवेदन शीलता उत्पन्न करने या मानवीय सम्बन्धो का उद्घाटन करने मे पूर्णतया असमर्थ रहती हैं।

जोशी जी का विश्वास है कि आधुनिक पूँजीवादी सस्कृति की सबसे बडी विशेषता व्यक्ति का अहं भाव है। उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दी के लेखको ने भी व्यक्ति की आत्मचेतना और अहभाव के दर्शन की रचना कर डाली थी और वे व्यक्ति के अह के चित्रण को कला का महान् उद्देश्य मानने लगे थे। व्यक्ति की आत्म चेतना के आगे समष्टि-चेतना का तनिक भी महत्त्व नही था। व्यक्ति के अह को सारे विश्व का केन्द्र स्वीकार जाने लगा था। यह ऐतिहासिक दृष्टिकोण सामन्ती युग की विरासत थी जिसे पूजीवाद युग ने अधिक पुष्ट कर लिया था। यह संस्करण आज भी बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय समाज के मस्तिष्क पर छाया हुआ था। यह अहवादी सस्करण सहज मे उखडने वाली वस्तु नही है। जनवादी दृष्टिकोण अपनाने के पथ मे यह सस्करण अवरोध उपस्थित करता है। पूँजीवादी युग के कृत्रिम आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण का जोशी जी ने विरोध किया है क्योकि उनके मतानुसार प्रेमचन्द या शरत्चन्द्र के आदर्शवाद एव सुधारवाद से जीवन की समस्याओ का समाधान नही किया जा सकता। शरत्चन्द्र का एकमात्र उद्देश्य अकर्मण्य, आलसी आत्म-केन्द्रित और चरित्रहीन नायको के अध-पतन को गौरवशाली करता रहा है। आधुनिकतम कला का यदि अपनी कथाओ मे चरित्रहीन और रोमैंटिक पात्रो की अवतारणा करता है, तो मात्र इस कारण से कि वह अपने मनोवैज्ञानिक अस्त्र से

उनकी आत्मा का सस्पर्श कर उसके घोर अहभावपूर्ण कवित्वमय प्रेम को प्रकाश मे लाना चहता है। पर शरत्चन्द्र मे भग्न प्रेम की मोहमयी खुमार अहभाव को पुष्ट करने वाले आदर्शवादी जीवन-दर्शन का परिचायक है। वह सुलाने वाली लोरी है, जगाने वाला शखनाद है, पर खेद की बात यह है कि यह शखनाद स्वय जोशी जी भी अपनी कहानियों मे फूँकने मे असमर्थ रहे है। उन्होने केवल कुठा निराश, विभ्रान्ता एव अस्वस्थ दृष्टिकोण उत्पन्न करने मे ही सफलता प्राप्त की है। वे समझते हैं कि यह आधुनिक पूँजीवादी सस्कृति का परिणाम है मरणोन्मुख तथा हताश समाज मे असामाजिक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन प्राप्त होता है, जिससे कला का निखार हुआ है, तथा भावनाओ मे सकोच आया है। हिन्दी मे शरत-साहित्य के प्रचार एव प्रसार तथा उनकी आदर्शवादी धारणा ने इस सिद्धान्त का प्रचलन कर दिया है कि पापी से प्रेम करना चाहिए तथा पाप से घृणा। इसका कारण यह है कि दलितो और पतितो के प्रति सहानुभूति रखना मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है, जो युगचेतना के अनुकूल है और जड नीतिवादी दृष्टिकोण के प्रतिकूल है परन्तु व्यक्ति उच्च आदर्शो को तथा अपने विकृत अहवादी आकाँक्षाओ को चरितार्थ करने के लिए भी अधीर थे उठता है। वह अपने अह की तृप्ति करता हुआ स्वयं को झुठलाने की भी क्षमता रखता है। जोशी जी की कहानियो मे इसके प्रमाण खोजे जा सकते हैं। अच्छे खासे पात्र अपने अह की तुष्टि के लिए स्वय को झुठलाते ही नही मानसिक विक्षिप्तियो के शिकार बनकर जीवन की गरिमा एव दायित्व से भी मुक्ति पा लेते हैं।

आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी सस्कारो के लेप से अपने सफेद मन मे, अवश्य सफेद-पोशी कर ली है। पर जिस परदे पर वह सफेद-पोशी की गई है वह इतना झीना है कि जरा-जरा सी बात मे फट जाता है और उसमे तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पडी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुरित होने लगती हैं। यही वह बिन्दु है, जिस पर जोशी जी का ध्यान अपनी प्रत्येक कहानी मे टिका रहता है और इसी सीमित परिवेश मे उनकी कहानियो का विस्तार हुआ है।

जोशी जी का मत है कि मानव हजारो बल्कि लाखो वर्षों से नाना विपरीत और विरोधी परिस्थितियो से जूझता हुआ, अपनी अन्तश्चेतना के क्रमिक विकास परिष्करण और उदात्तीकरण के उद्देश्य से, जाने अनजाने, निरन्तर अथक रूप से से प्रयासशील है। बर्बर युग से आगे बढता हुआ वह सभ्यता के प्रागण तक पहुचने मे समर्थ केवल इसी कारण से हुआ। यह ठीक है कि सभ्य बनने का बहुत बडा मूल्य उसे चुकाना पडा। अपनी जगली अन्त प्रवृत्तियो की सगति बाहर के शिष्ट समाज के निर्देशों के साथ बिठाने में उसे अपने ही अवरोधो से विकट सघर्ष करना पड़ा, जिसमे अपनी बहुमूल्य शक्ति का अपव्यय करने को वह बाध्य हुआ। इसलिए

यह स्वाभाविक था कि अपनी मूलगत और आदिम प्रवृत्तियो के अनिवार्य रूप से आवश्यक दमन के फलस्वरूप सौम्य मानवीय समाज मे अनेक विचित्र विकृतियाँ उत्पन्न हो गई। मूल-मानवीय अन्तश्चेतना अधिक चतुर अधिक शक्तिशालिनी और अपने महान भावी लक्ष्य के प्रति सचेत रूप से सतत जागरूक है उसकी योजना अवचेतना की अन्धी और सकटी गलियो मे भटक कर नही रह जाती। वह अपने प्रत्येक भटकाव को सुनियोजित दिशाओ की ओर परिचलित करने मे भलीभाँति सक्षम है। सभ्यता के दस पाच हजार वर्ष का काल उसके लिए कुछ ही क्षणो के बराबर हैं, क्योकि वह महाकाल के साथ सम्पृक्त रहने पर भी मूलतः उससे असम्पृक्त हैं। वही वह शक्ति है, जिसने मानवीय प्रगति के घोर अन्धकार पूर्ण युगो मे भी ऐसे-ऐसे महामानवो को परिपूर्ण प्रकाश के बीच लाकर खडा किया, जिन्होने अवचेतना की अन्ध गुहाओ मे भटकती मानवता के लिए उनके दिव्य लक्ष्य का प्रशस्त कर दिया। मूल प्रकृति की सहचारिणी वह अन्तश्चेतना, अपनी एक विशेष योजना से ही एक ओर बीच-बीच मे किन्ही विशेष युगो मे तुम जैसे शैतानो को विविध क्षेत्रो मे अवतरित करती रहती है, और दूसरी ओर पर परवर्तित युगो मे महामागलिक प्रतिभाशाली देव-पुरुषो की भी सृष्टि करती रहती है और इस प्रकार प्रत्येक बार यह दोनो के परस्पर विरोधी दर्शनो के टकराव से एक अपूर्व और नित-नूतन दिव्य चेतना का शान्त, शीताम और समुज्जल प्रकाश विश्व मे बखेरती रहती है। इसी चिर मगलमय और अनिर्वचनीय आनन्दमय प्रकाश की स्नेहमयी छाया मे स्थायी निवास करने की स्वाभाविक आकाक्षा मानव को अवचेतना के अन्धतमस् लोक से निरन्तर ऊर्ध्व चेतना के उज्जवल से उज्जवलतर लोक के लिए जाने अनजाने परिचालित करती रहती है।

फ्रायड ने दूसरी समस्या सेक्स की उठाई थी। जोशी जी कहानियो मे सेक्स सम्बन्धी कुठा, निराशा, विक्षिप्तियाँ एव घुटन का मनोविश्लेषण हुआ है और मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियो का उद्घाटन हुआ है। जोशी जी ने सेक्स को उतनी घृणित वस्तु नही स्वीकारा है, जितना फ्राइड उसे सिद्ध करता था। जोशी जी उसे आग, बिजली, आधी और पानी की तरह एक प्राकृतिक शक्ति के रूप मे ही स्वीकारते है। सभी प्राकृतिक शक्तियो की तरह सभ्य मनुष्य उसे भी नियत्रित करके मागलिक दिशाओ की ओर नियोजित करने के उद्देश्य से सतत् प्रयत्नशील रहा है। इस नियत्रण की प्रक्रिया मे उसे स्वभावत कुछ जटिल प्रतिक्रियाओ और विक्रियाओ का सामना करना पडा है और पड रहा है। पर इन प्रतिक्रियाओ से इस कदर बिदकने का कोई कारण नही है, क्योकि वे प्रतिक्रियाएँ भी स्वाभाविक हैं। मानव से मानवोत्तर विकास का पथ आसान नही है। उसमे युगो तक मनुष्य को विकट अवरोधो और प्रतिरोधो का सामना करना पड़ सकता। पर इतना मूल्य चेतना की उस उन्नत और

सन्तुलित उपलब्धि के लिए अधिक नही है । जिसका सपना सभ्यता के आदिम काल से मनुष्य देखता चला आ रहा है । मनुष्य का वह महा-मागलिक स्वप्न निश्चय ही एक दिन सार्थक होकर रहेगा, क्योंकि वही उसके युगयुगीन सामूहिक जीवन का अन्तिम लक्ष्म है । उस लक्ष्य के बिना मानव-जीवन की प्रगति या दुर्गति का कोई अर्थ नही रह जाता।

जोशी जी की कहानियो मे प्रयुक्त स्वप्न-प्रणाली के सम्बन्ध मे भी दो बातें—स्वप्न अधिकाशत. प्रतीकवादी होते है, इसमे सन्देह नही, पर वह प्रतीकात्मकता बच्चो का सा सरल फॉर्मूला वाला खिलवाड नही है, जिसे फ्रायड ने एक नये और 'महान' आविष्कार के रूप मे पेश किया है । सपनो के अधिकाश प्रतीक मानव के लाखो वर्षों के क्रमिक विकास के दौरान प्राप्त गहन और रहस्यमय अनुभवो के अतलगत महा-सागर की तरगो से उठने वाले फेनिल चित्र भी हो सकते है और प्रचण्ड वात्याचक्र भी । उनको किन्ही निश्चित पारिभाषिक शब्दावली मे बाधकर वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे परीक्षित और विश्लेषित नही किया जा सकता । फ्रायड ने मनुष्य की उस सामूहिक अवचेतना को कोई विशेष महत्व नही दिया जो आदिम प्राकृतिक द्वारा परिचालित रहस्यमय नियमो की विराट योजनाओ के अनुसार विकास और ह्रासाभास के चक्रनमि की गति से निरन्तर आगे को बढती हुई, युग-युग मे संघर्ष विघर्ष के द्वन्द्वो से जूझती हुई, हर युग मे पिछले सभी अनुभवो के बीजो को अपने साथ लेकर बाहर और भीतर के नये-नये राज्यो पर विजय प्राप्त करती हुई, हर युग के अन्धकार मे डुबकियाँ लगाकर नित नये प्रकाश पथ का आविष्कार करती हुई जीवन को महामहिम करती चलती है । इतने विराट और अकल्पित विस्तार वाली यह जो मनुष्य की सामूहिक अवचेतना है, उसकी प्रगति को और उसके प्रतीको को केवल अत्यन्त तुच्छ और क्लिष्ट-कल्पित सेक्सीय विकृतियो से भरे शिशु मनोविज्ञान को अत्यन्त सकुचित दायरे मे बाँधने की कुचेष्टा करके आधुनिक बुद्धिवादी मानव को बरगलाने का फ्राडीय उद्देश्य अन्तत दुर्गतिपूर्ण विफलता की स्थिति को प्राप्त हुए बिना वह नही सकता । यही कारण है कि आज की बिखरी हुई सामूहिक मानसिकता और लक्ष्य भ्रष्ट और भ्रमित बौद्धिकता के युग में उसकी (फ्रायड की) सामान्यता, कल की एक अलक्षित बरसाती नदी को वेगवती धारा से कटते चले जाने वाले कगारो की तरह, दिन-पर-दिन ध्वस्त होती चली जा रही है ।

कहानी के क्षेत्र मे इस तरह की विचारधारा लेकर जोशी जी ने पदार्पण किया । उन्होने मुख्यत. व्यक्ति के अन्तस का अध्ययन करने की चेष्टा की है और उपर्युक्त विचारों एव मतों की मूल बातों की परीक्षा कर सत्यान्वेषण करने का प्रयास किया है । इसमे उन्होने मनोविश्लेषणवाद का भी आश्रय ग्रहण किया है, पर मूलतः वे व्यक्ति चेतना के ही कहानीकार हैं । वास्तव मे व्यक्तिवादी जीवन दर्शन

अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर व्यक्ति को उस स्तर तक पहुचा देता है, जहाँ उसका अहं प्रबल हो जाता है और वह समाज के प्रति विद्रोह की भावना निर्मित कर लेता है। उनका प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अह भाव की एकान्तिकता पर निर्भय प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज मे पुरुष की बौद्धिकता ज्यो-ज्यो विकसित होती जा रही है, त्यो-त्यो उसका अह भाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला चता है। अपने इस कभी न तृप्त होने वाले अह भाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा मे जब उसे पग पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म विनाश की योजना मे जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया कर सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पडता है नारी को। युगो से प्रपीडिता और अधिक शोधित करने की चेष्टा मे आज का अहवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है। इसलिये अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण इसके भीतर विस्फोटक सघर्ष मचते रहते हैं। इसीलिए जोशी जी की कहानियो में कथानक के रेशे मध्यवर्ग के ह्रासोन्मुख जीवन से एकत्रित किए गये हैं और उनका मनोविज्ञान के आधार पर मनोविश्लेषण किया है ('चरणो की दासी', 'होली', 'अनाश्रित' 'रक्षित धन का अभिशाप', 'रोगी', परित्यक्ता', 'जारज', एकाकी', 'दुष्कर्मी', और 'पतिव्रता या पिशाची' आदि कहानियाँ इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य हैं)। इनके कथानको के निर्माण दो पद्धतियो पर हुए है। एक तो प्रधान पात्र को लेकर उसके जीवन परिचय जीवन सम्बन्धी विभिन्न घटनाओ के विश्लेषण की प्रणाली के अनुसार लिखी जाने वाली कहानियाँ, जैसे 'चरणो की दासी', 'होली', तथा 'अनाश्रित' आदि। दूसरी प्रणाली कोई चरित्र अन्य व्यक्ति सम्बन्धी उसके जीवन सम्बद्ध घटना का निरपेक्ष ढग से मनोविश्लेषण करने की है, जैसे 'एकाकी', 'पतिव्रता या पिशाची', 'कापालिक' और 'दुष्कर्मी' आदि कहानियाँ। वे कहानियाँ अधिक सूक्ष्म जटिल एव दुर्बोध हो गई है, जिनमे व्यक्ति के अह विश्लेषण अह की एकातिकता पर निर्भय प्रहार करने की चेष्टा की गई है। ये कहानियाँ शास्त्रीय अर्थों मे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की व्याख्याएँ करती है और केस-हिस्ट्री अधिक बन गई हैं, कहानी कम, जैसे 'मैं', 'मिस एल्किन्स', 'रात्रिचर', 'पागल की सफाई', 'मेरी डायरी के दो नीरस पृष्ठ' आदि। इनमें कथानक का ह्रास लक्षित होता है और मनोविश्लेषण की प्रधानता है। इनमे कथानक निर्माण केवल भावो एव मनोवेगों की व्याख्याओ के माध्यम से हुआ। इसमे न कोई घटना है, न कार्य व्यापार, बस विश्लेषण ही भर है, जिससे इस कोटि की कहानियाँ कोई सवेदनशीलता उत्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। 'चिट्ठी-पत्री' कहानी मे एक पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लडकी की कहानी है, जो विवाहोपरान्त एक रूढ़िग्रस्त परिवार मे पहुँचकर स्वयं ही आधुनिकताओ का विरोध करने लगती है।

बस इतनी सी को फुलाकर कहानी का निर्माण किया गया है और उस लडकी के चरित्र का विश्लेषण कर एव उसके अन्तर्जगत मे प्रवेश कर चिर रहस्यो का उद्घाटन कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि उसमे मानसिक शक्ति का अभाव है जिसके कारण रूढ़ियो का विरोध करने अथवा बन्धनो एव जड परिस्थितियो के प्रति विद्रोह करने के बजाय इनका समर्थन करने लगती है। यह अति-पूर्ति (over compensation) या प्रतिक्रिया पूर्ति (Reaction for motion) के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित कहानी है, जिसके मूल मे एडलर का हीन-ग्रन्थि वाला सिद्धान्त क्रियाशील रहता है इसी प्रकार 'विद्रोही' मे एक आवारा व्यक्ति के मनोविकारो का मनोविश्लेषण करके कहानी का निर्माण किया गया है। 'मै' कहानी भी घटना-चक्र या कार्य व्यापार की उपेक्षा कर आत्म विश्लेषण के आधार पर निर्मित हुई है।

जोशी जी की कहानियो मे पात्रो का चयन एक विशिष्ट दृष्टिकोण से किया जाता है वे सभी मनोविकारो से ग्रस्त, आस्वस्त, हीन-भावना से ग्रसित, कुंठाग्रस्त, पराजित, विश्वाच्युत एव आस्थाहीन, पर तीव्र अहं के शिकार होते है, जिनके बहाने उनके चरित्रो का अध्ययन एव मनोभावो, द्वन्द्वो एव मानसिक तरगो का सूक्ष्म मनोविश्लेषण जोशी जी करते है। उनके पात्र कई श्रेणियो मे आएगे

१ पूर्णत. असाधारण एव विशिष्ट पात्र जैसे कापालिक, रात्रिचर, शराबी और एकाकी।

२ सामान्य और मध्यवर्ग के यथार्थ परिवेश से चुने पात्र, जैसे रोगी, परित्यक्ता, 'दिवाली और होली की विन्दी, मोहन और रज्जन, 'रेल की रात' का महेन्द्र आदि।

३. वे पात्र जो 'मैं' के रूप मे प्रतिष्ठित हुई है, और बहु-सख्या मे लिखी गई जोशी जी की आत्म-कथात्मक शैली की कहानियो मे प्राप्त होते हैं।

इन पात्रो का चरित्र-चित्रण दो पद्धतियो से होता है :

१. आत्मविश्लेषण "मैं उन आदमियो मे से हू, जो सब समय केवल अपने ही अन्तर की भावनाओ के लिये रहते है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार मादा कंगारू अपने नवजात शिशु को हर घडी छाती से जकडे रहती है। मैं इसी प्रकृति का आदमी हू अर्थात् मैं आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा मे इन्ट्रोवर्ट हूं।"

२. निरपेक्ष विश्लेषण : "श्यामा के हृदय मे एक नया आन्दोलन मचने लगा। अपने हृदय मे वह पति का एक निराला चित्र अकित करने लगी। विवाह के समय उसने अपने पति के मुख की क्षणिक झलक देखी थी, वह बिल्कुल अस्पष्ट थी, उससे उनकी आकृति के सम्बन्ध मे कोई धारणा उसके मन मे नही हो सकती थी।"

यशपाल

यशपाल समाजवादी विचारधारा के कहानीकार हैं। वे कला को कला के लिए

नही स्वीकारते। इनकी दृष्टि मे कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का यत्न है। लेखक यदि कलाकार है, तो उसको प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे आदमियो की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने मे है। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने मे ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है। इस प्रकार वे साहित्य की सामाजिक उपयोगिता के प्रति विशेष रूप से आग्रहशील है और यही उनकी कहानियो की मूल भावधारा है। समाज निरपेक्ष लेखक का कोई अस्तित्व नही होता। साहित्य की सार्थकता समाज की अनुभूतियो एव आदर्शों के चित्रण मे ही है। वे मानते है कि हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल शिष्णोदर का चीत्कार है। वह श्रेणी-सघर्ष और राष्ट्रो के सघर्ष के रूप मे प्रकट होता है। वह जघन्य है, परन्तु वह हमारी सामाजिक स्थिति की वास्तविकता है। कलाकार का कर्तव्य इस चीत्कार को मिथ्या विश्वास और प्रवचना की कला के आवरण मे छिपा लेना नही, अपितु विवेक और विश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा जनता को उसके प्रति सजग और सचेत रखते हुये समाज की वह अवस्था प्राप्त करना है, जिसमे शिष्णोदर की अतृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे। इसी सन्दर्भ मे एंजिल्स का कथन है कि सभी सामाजिक परिवर्तनो और राजनीतिक क्रान्तियो के कारण किसी युग के दार्शनिक विचारो में नही, वरन् उस युग की आर्थिक परिस्थितियो मे पाए जाते है। मार्क्सवाद भी व्यक्ति आर्थिक परिस्थिति पर अधिक बल देता है। व्यक्ति को बनाने-बिगाडने मे उसकी आर्थिक परिस्थितियो का विशेष हाथ रहता है, यशपाल भी कुछ ऐसा ही स्वीकारते हैं क्योकि हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल शिष्णोदर का चीत्कार है। वे प्रगतिशील दृष्टिकोण के हिमायती है और समझते है कि प्रगतिशील साहित्य का काम समाज के विकास के मार्ग मे आने वाली अन्धविश्वास, रूढिवाद की अडचनो को दूर करना है। समाज को शोषण के बन्धनो से मुक्त करना है। कार्यक्रम मे प्रगतिशील क्रान्ति-कारी, सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। काल्पनिक सुखो की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके मानवता की भौतिक और मानसिक समृद्धि की रचनात्मक कार्य के लिये प्रेरणा देना प्रगतिशील साहित्य का काम है।

यशपाल की कहानियो मे यह प्रगतिशील दृष्टिकोण एव आस्था अपने यथार्थ परिवेश मे ही चित्रित हुई हैं। उनका मत है कि मध्यम श्रेणी का साहित्य व्यक्तिगत आत्मलिपि का साहित्य है।वह स्वात सुखाय की बात कहकर झूठा सन्तोष करता है। उसकी परिरिस्थितियाँ उसे सुख इच्छा और कल्पना का सस्कार और अवसर तो देती है, परन्तु साधन नही देती। इसलिए वह काल्पनिक आत्मलिपि मे सुख पाता है। जो चाहता है, वह पा नही सकता, तो न पाने को ही सुख समझना चाहता है। वह शृंगार रस का सुख वियोग के रूप मे भोगना चाहता है। वह उसकी भौतिक,

सामाजिक परिस्थितियों में परास्त मनोवृत्ति और कल्पना है। मध्यम श्रेणी साधन हीन वर्ग मे मिलती जा रही है। परन्तु उसका परम्परागत सफेदपोशी का अहकार शेष है, इसलिए वह ऐसे सुख की कल्पना करती है, जिसे साधनों का अभाव न बिगाडे। साहित्यिक व्यक्तिवाद की शरण तभी लेता है, जब वह सामूहिक जीवन मे सघर्ष और असुविधा देखकर मैदान से भागना चाहता है। वह अपनी और अपनी श्रेणी की महत्वाकाक्षा के पूर्ण होने की सम्भावना नही देखता, तो अभाव को, वियोग को आत्मरति को ही सुख बताने की दार्शनिकता का दम्भ करता है। यशपाल साहित्य मे पलायनवादी दृष्टिकोण से चिढते हैं, उनके जीवन मे सघर्ष प्रिय है, अपनी कहानियो मे उन्होने जीवन संघर्ष का ही यथार्थ चित्रण किया है वे स्वय भी क्रान्तिकारी रह चुके है और कई बार जेल भी जा चुके हैं। उन्होने जीवन का कटु सत्य देखा है और विषमताओ को झेला है, इसलिए जीवन की भयकरता भरी यथार्थता से दूर भाग उसके निकट रहकर उसका साहसपूर्वक चित्रण करना स्वाभाविक ही है। वे समाज से असम्पृक्त होकर कला सृजन कर ही नही सकते, क्योकि उनकी कला या प्रयत्न समाज की अनुभूति और आदर्श है। हमारी अनुभूति यथार्थ का सार है और आदर्श, हमारी मजी हुई कल्पना। आदर्श के बिना हम जीवन की आकाक्षा खो बैठेगे। आदर्श हमारे जीवन का लक्ष्य है, परन्तु यथार्थ की हमारी अनुभूति कम महत्वपूर्ण नही। वह असतोष और उत्साह उत्पन्न कर आदर्श की सृष्टि करती है। आदर्श की तुलना मे यथार्थ अरुचिकर होगा ही, वरना आदर्श की कल्पना और उसके लिए प्रयत्न ही क्यो किया जाए ? यथार्थ से खिन्न हो हम आदर्श की ओर बढना चाहते हैं, इसलिए उसके अरुचिकर बीभत्स रस की नग्नता को प्रकटकर उससे मुक्ति की इच्छा को उत्कट और दुर्दमनीय बनाना आवश्यक है। हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल शिष्णोदर का चीत्कार है। हमारा साहित्य, कला, नैतिकता और न्याय इस शीष्णोदर की पूर्ति की व्यापक और रूपान्तरित प्रयत्न है। हमारी सुरुचि और सस्कृति उसे आवरण मे रख तृप्ति प्राप्त करती है। जिन्हे सुरुचि और सस्कृति का अवसर और सौभाग्य नही, हैं वे भी मनुष्य ही, परन्तु उनका आवरण मे छिप नही पाता। यह असन्तोष व्यापक है, गम्भीर है। यशपाल के अनुसार इस मिथ्या विश्वास एव प्रवचना प्रछन्न कर देने से कोई युक्ति या सकट से त्राण नही मिल सकता है।

यशपाल की कहानियो मे समाज और वर्ग-वैषम्य के बाद दूसरी महत्वपूर्ण बात यथार्थ एवं आदर्श सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि आदर्शवादी एव यथार्थवादी पक्षों के लक्ष्यों मे एक भेद यह है कि आदर्शवादी पक्ष के आदर्श, अतीत की मान्यताओं क अनुमोदक है और यथार्थवादी पक्ष के अनुसार समाज की विशेषताओं को दूर कर सकने योग्य कार्यक्रम है। इस प्रकार हमें यह

मानना पडता है कि भिन्न-भिन्न पक्षो के चिंतन और उसकी विचारधारा के अनुसार उसके आदर्शों मे भेद हो सकता है और आदर्श अनेक हो सकते हैं । ' प्रश्न है कि कलाकार समाज के यथार्थ का चरित्र विश्लेषण किस उद्देश्य से करता है । यथार्थवाद के क्षेत्र मे भी इस प्रकार की आत्मगत प्रवृत्तियो के धनी मौजूद है, जो समाज के वर्तमान यथार्थ मे से ऐसे मूर्तों या उन आदर्शों को या ऐसे पात्रो को खडा कर देना चाहते है, जो आज वास्तव मे मौजूद नही है दूसरी ओर ये कुछ ऐसे यथार्थ पर पर्दा डाल देना चाहते है, जो दलित वर्ग की ग्लानि उत्पन्न करने वाली वास्तविकताओ को प्रकट करते हैं । वे प्रत्येक रचना से भी आशा करते है कि श्रेणीहीन सम अवसर प्राप्त समाज के निर्माण के सुझाव उनके सामने आ जाये । परन्तु ऐसी आत्मगत दृष्टि या आत्मगत लक्ष्य काल्पनिक ही धिक होगे यथार्थ कम । इस प्रकृति के यथार्थवादी मूर्तों की सृष्टि कर वायवीय आदर्शों का प्रतिपादन करना तो चाहते हैं परन्तु समाज के 'और' बीभत्स यथार्थ की उपेक्षा कर उन्हे छिपे हुये केसर की तरह छोड देना चाहते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि अपने समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार यशपाल ने समाज के नग्न यथार्थ को यथातथ्य रूप मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है, क्योकि यही कलागत ईमानदारी है, इस पलायन करना कायरता का परिचायक है । पर यशपाल के यथार्थवादी चित्रण के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनकी यथार्थवादी दृष्टि एकागी है । उन्होने सामाजिक यथार्थ मे केवल आर्थिक विषमता को ही पहचाना है, कटुता भरी अन्य समस्याओ को कम । उन्होने अपनी समस्त शक्ति का उपयोग पू जीवादी समाज पर प्रहार कर सामन्ती व्यवस्था के खोखलेपन को सिद्ध करने मे ही लगाया है । इसके अतिरिक्त कुछ भी पहचानने या समझने की उन्होने आवश्यकता नही समझी है ।

यशपाल की अनेक कहानियो को लेकर श्लीलता-अश्लीलता का प्रश्न बराबर उठाया जाता रहा है । उनकी बहुत सी कहानियो मे असयमित एव अमर्यादित चित्रण प्राप्त होता है, जो प्रकृतवाद एव अति-यथार्थवाद की सीमाओ को सस्पर्श ही नही करता, पार कर जाता है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने लिखा है कि सन्तान की उत्पत्ति के उद्देश्य से प्रकट होने वाला प्रेम सभी जीवो और मनुष्यो में होता है। अपने क्रम को जारी रखने के लिए ही सृष्टि स्त्री-पुरुष मे आकर्षण पैदा करती है। प्रेम और आकर्षण का प्राकृतिक, शाश्वत और मूल रूप यही है । बुद्धि और शिक्षा बढ़ने से प्रेम का रग बदलने लगता है । इन्द्रियाँ थक जाती हैं। उनके साथ सीमा तक ही तृप्ति हो सकती है । इसलिए मनुष्य कल्पना और बुद्धि द्वारा सुख भोगता है । परंतु इस मानसिक सुख का आधार इन्द्रिय सुख की कल्पना ही है । इसलिए जब इन्द्रिय प्रेम का सुख अहिंसात्मक रूप से केवल कल्पना मे भोगा जाता है, तब उसे आत्मिक प्रेम कहते हैं । आध्यात्मिक प्रेम नपुंसक प्रेम है, सारहीन है । इन्द्रियों की विफलता

से मन मे उठने वाले उफान को नष्ट करने का यह एक ढग है जिसमें बाधाओ का सामना नही करना पडता। मन की तृप्ति और बुद्धि का सुख भी वायु मे कुलाचे नही मार सकता। कुलाचे मारने के लिए भी किसी स्थान पर पाव टिकाने की आवश्यकता होती है। कदाचित् इसीलिए यशपाल अपनी कहानियो मे अनियत्रित प्रेम का चित्रण करते हैं। जीवन मे एक अनुशासन की आवश्यकता होती है। जीवन-जीने की भी कुछ सीमाएँ होती है। कुछ नियम होते हैं। इन सयमो एव अनुशासन का समाज से कोई सम्बन्ध न होकर नैतिकता और संयम से होता है, जिसकी भीत्ति पर मूल्य मर्यादा का निर्माण होता है। इसकी उपेक्षा करने पर ही जीवन अनियंत्रित होता है। प्रेम के अनियत्रित होते ही उसमे वासना का ज्वार उबलता है और इसलिए यशपाल की प्रेमिकाएँ वासना के ज्वार मे इस सीमा तक पीडित रहती हैं कि चाहे अनचाहे किसी भी पुरुष को सामने पाकर उनके गले लिपटकर अपने नारीत्व का नीलाम करने तथा लज्जाहीनता एव बेहयाई को आत्मसात् करने मे उन्हे जीवनगत मर्यादा एव गौरव का अनुभव होता है। श्लीलता-अश्लीलता की समस्या यशपाल की प्रेमिकाओ के समुख नही रहती। उनके सम्मुख प्रमुख समस्या यह रहती है कि वे अपने नारीत्व को अपने से अलग कर किस प्रकार अपने को सतीत्व से मुक्ति दे, जिसके बन्धनो मे उनके प्राण छटपटाते है, उनकी आत्मा तडफडाती है। इसका चित्रण करने मे बहुधा यशपाल ऐसे व्यस्त हो जाते है कि उन्हे यह भी स्मरण नही होता कि उनका उद्देश्य समाजवादी यथार्थवाद का चित्रण करना है, जिससे सामाजिक वैषम्य दूर होकर समाज मे परस्पर समानता स्थापित हो। जिस मार्क्सवादी भावना से अभिभूत हो वे यह करते हैं, उसकी अतिशय सिद्धातवादिता के अनुगमन मे वे दुर्भाग्य से यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक दर्शन या विचारधारा की सारी बाते हर जगह लागू नही होती। मार्क्सवाद से प्रभावित दूसरे पूर्वी यूरोपियन समाजवादी देशो मे या चीन रूस मे ऐसा होता होगा, पर भारत की अपनी एक विशिष्ट सस्कृति की मूल्य-मर्यादा रही है, जो अपनी तमाम परिवर्तनशीलता के बावजूद खण्डित होकर विलुप्त नही हो गई है और यहाँ दूसरे देशो की उधार ली गई विचारधाराओ से टकराहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही होगा, जो स्पष्टतया आरोपित प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध मे ध्यान रखने वाली बात यह है कि यशपाल अपनी कहानियो मे प्रचारवादी अधिक लगते हैं, कलाकार कम। हालाँकि इसका स्पष्टीकरण करते हुये उन्होने लिखा है कि कला के प्रेमियो को एक शिकायत मेरे प्रति है कि मैं कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हू। कला को कला के निर्लिप्त क्षेत्र मे ही सीमित न रख मैं उसे भावो या विचारो का वाहक बनाने की चेष्टा क्यो करता हू? क्योकि जीवन मे मेरी साध केवल जीवन यापन ही नही बल्कि जीवन की पूर्णता है। इसी प्रकार कला से सम्बन्ध जोड़कर भी मैं कला केवल कला के लिए नही समझ सकता। कला का उद्देश्य है—जीवन मे पूर्णता का यत्न। इसी सबध

मे एक अन्य स्थान पर उन्होने लिखा है कि कोई भी साहित्य प्रचार रहित नही हो सकता। उद्देश्यो, आदर्शों और विचारो की कलापूर्ण अभिव्यक्ति या विचारार्थ समस्याओ की ओर कला का ध्यान दिलाना ही साहित्य है। विचारो को प्रकट करना यदि प्रचार करना है तो प्रभावशाली सम्पूर्ण साहित्य प्रचारात्मक साहित्य है। केवल विचारशून्य साहित्य ही प्रचार रहित अथवा 'कला मात्र के लिये' हो सकता है, पर इस सम्बन्ध मे यशपाल से मेरा कहना है कि यह उचित है कि प्रत्येक साहित्य मे लेखक की मान्यताओ, आदर्शों एव विचारो का प्रचार होता है इससे साहित्य का महत्व बढता है, घटता नही। पर यह विचार भी एक सतुलित रूप में कला मे पूर्णतया निर्लिप्त होना चाहिये, जैसाकि वे स्वय भी स्वीकारते हैं। कहानीकार खुल्लमखुल्ला कला को ठोकर मार कर प्रचारक नही हो सकता, इसे इस बात का अधिकार भी नही है यदि कला-कला के लिए नही है, तो पूर्णतया जीवन के लिये भी नही है—प्रचार के लिए तो वह खैर है ही नही। कला कला के लिए भी है, जीवन के लिए भी है—दोनो की समन्वयात्मक स्थिति मे ही उसकी पूर्णतया एव सार्थकता सिद्ध होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यशपाल समाजवादी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित कहानीकार हैं। उनकी कहानियो का सम्बन्ध मध्यवर्गीय समाज से है, जिसके बौद्धिक वर्ग पर मार्क्सवादी सिद्धातो का प्रभाव पडा है। उन्होने अपनी कहानियो मे राजनीति समाज एव रोमास का समन्वय व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याओ एव विशेषताओ के सदर्भ मे किया है, जिससे उनका समाजवादी दृष्टिकोण एव मध्यवर्गीय चेतना प्रतिध्वनित होती है। उनकी कहानियो की एक सीमा मध्य वर्ग के व्यक्तिवादी सस्कार हैं, दूसरी सीमा मार्क्सवादी जीवन दर्शन है। यशपाल का रोमाँटिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का परिणाम है और उनकी सिद्धाँतवादिता समाजवादी चेतना का प्रभाव है। चूकि वे क्रातिकारी भी रह चुके है, यह भावना भी उनकी कहानियो मे चित्रित हुई है। इन कहानियो मे व्याप्त क्रातिकारी घातकवाद भी व्यक्तिवादी जीवन दर्शन का परिणाम है। इस व्यक्तिवाद से समाजवाद की ओर गतिशीलता ही यशपाल की कहानी कला का विकास है। पर यह गतिशीलता केवल बौद्धिक स्तर पर ही परिलक्षित होती है, इसीलिए यशपाल की कहानियाँ सतुलित एव प्रचारवादी प्रतीत होती हैं। समाजवादी चिंतन जीवन के यथार्थ परिवेश के विभिन्न आयामो मे अन्तर्निहित करने मे यशपाल असफल रहे हैं, इस अन्तर्विरोध की स्थिति मे ही उनकी कला के दोष देखे जा सकते हैं। उनकी सामाजिक विचारधारा समाजवादी जीवन चिंतन से प्रभावित है, पर सस्कार व्यक्तिवादी जीवन चिंतन से प्रभावित हैं। इन दो बिंदुओ के मध्य ही उनकी कहानी कला का विकास देखा जाना चाहिये।

यशपाल की कहानिया अधिकाश रूप में समस्याप्रधान है और सम-सामयिक जीवन एव समाजगत समस्याओ एव यथार्थ के विभिन्न आयामो का चित्रण करती

हैं। इसमें प्रेमचन्द जैसी स्थूलता एव वर्णनात्मकता ही अधिक लक्षित होती है (काला आदमी', 'आदमी का बच्चा', 'रोटी का मोल' आदि कहानियाँ), हालाकि उनका आग्रह सूक्ष्मता की दिशा मे रहा है, पर उसमे यशपाल को विशेष सफलता नही प्राप्त हुई है। ये कहानियाँ दैनिक जीवन की छोटी २ घटनाओ को लेकर लिखी गई है और नवीन सत्यान्वेषण एव यथार्थ परिवेश को उजागर करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। दूसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं, जो दैनिक जीवन की छोटी २ घटनाओ को लेकर व्यापक जीवन सदर्भों को समेटने का प्रयत्न करती हैं और इनमे अधिक विस्तृत पृष्ठ भूमि अपनाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है (उत्तराधिकारी', 'फूलो का कुर्ता', 'दास धर्म' 'मक्रील', 'हिंसा' और 'पराई' आदि कहानियाँ)। इनमे इतिवृत्तात्मकता अधिक है और घटनाओ का बाहुल्य अधिक है। इनमे कथानक लम्बे २ है, जिनका विस्तार महीनो और वर्षों तक है। इन कहानियो में यशपाल की सोद्देश्यता और लक्ष्य तथा अनुभूति के प्रति आग्रहशीलता अधिक लक्षित होती है, यशपाल की कहानियो का द्वद्व नए-पुराने दोनो ही ढगो से होता है : "गत वर्ष हमारे नगर की यूनिवर्सिटी के एक अव-काश प्राप्त अध्यापक का देहात हो गया था। नगर के बुद्धि जीवियो मे उनके उदार विचारो और अध्ययनशील प्रकृति के कारण उनके लिए बहुत आदर था। अध्यापक महोदय का एक मात्र चाव और समय-यापन का साधन था अध्ययन। इस वर्ष इनके व्यवसाय प्रवृत्ति युवा पुत्र ने अपनी बैठक आधुनिक ढग से सजा सकने के लिए पिता की बहुत सी पुस्तकें पत्र-पत्रिकाएँ अध्ययन प्रेमी परिचितो मे बाँट दी हैं। मेरे भाग मे आयी पुस्तके और पत्रिकाओ मे एक रजिस्टर आ गया है जो वास्तव मे अध्यापक जी की डायरी थी। इस डायरी के कुछ पृष्ठ सर्वसाधारण के लिये रुचिकर हो सकते हैं,इन पृष्ठो पर शीर्षक और लेखन इस प्रकार है।

सत्य का द्वन्द्व ?

सत्य सम्बन्धी धारणाओ मे भी कैसा द्वन्द्व सम्भव है ? कल क्या हुआ :

धूल भरी लू जोर से चल रही थी। रिटायर हो जाने पर मितव्ययिता के विचार से मई-जून मे पहाड जाना स्थगित कर दिया है। लू चलने पर बैठक के किवाडो मे चिटखनी लगा लेता हू। सड़क की ओर की खिड़की पर खस की टट्टी बँधवा ली है। भयकर लू के समय किसी को समय पर जाकर खस की टट्टी पर पानी डालने के लिये कैसे कहा जाए ? पानी भरी बाल्टी और झरनेदार पिचकारी बैठक मे रख ली है। लू के समय। कुछ २ देर बाद टट्टी पर पिचकारियाँ भर-भरकर छोड़ लेने से लू शीतल वायु बनकर कमरे मे आती रहती है। गर्मी अधिक होने के कारण दोपहर मे घंण्टे भर झपकी आ गई थी।'[1]

---

१. यशपाल : सत्य का द्वन्द्व, (सारिका : दिसम्बर १९६४), बम्बई, पृ० ८

या फिर उनकी कहानियो का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है, जिनमे प्रारभ से ही औत्सुक्य उत्पन्न कर नाटकीयता बनाये रखने मे यशपाल सफल रहे हैं, "इस रहस्य की चर्चा मे नगर, बाजार, मुहल्ले और व्यक्तियो के नाम न बताने ही उचित है। यदि नामो के अभाव मे सर्वनामो के ही प्रयोग से आपको कुछ उलझन या असुविधा हो, तो औचित्य की दृष्टि से उसे क्षम्य समझें। हावडा स्टेशन पर अपने नगर का टिकट खरीद लेने से पहले उसके मन मे काफी समय विकट ऊहापोह और दुविधा रही····"इकतीस वर्ष पूर्व की अपनी पत्नी और बेटे के पास अपने घर मुहल्ले और नगर मे लौट चलना उचित होगा ?·· पिता तो अब क्या रहे होगे ? परिचय देने पर भी वे लोग उसे पहचान सकेगे ?···पहचानकर चकित तो होंगे···उनका व्यवहार कैसा होगा ?···वह बात क्या अब भी लोगो को याद होगी ?"[1]

उनकी कहानियाँ चरम सीमा पर बडे नाटकीय ढग से समाप्त होती हैं। यद्यपि अपनी आरम्भिक कहानियो मे उपसहार देने की प्रवृत्ति यशपाल मे भी थी, पर शीघ्र ही इसको दूर कर उन्होने शिल्प को अधिक सवार दिया और कहानियाँ रोचक ढग से चरम-उत्कर्ष पर समाप्त होने लगी . "नवलसिह ने ठकुरानी को लाचारी प्रकट कर समझाया। मा ने बिटिया को तसल्ली देकर बात की, तो राज खुला। बादी और लौडी से ठकुरानी को पता लगा। अजी साहब, परदे का तो उनके यहाँ यह हाल था कि बहू डोली मे बैठ ड्योढी के भीतर आए और उसका तन अरथी पर ड्योढी से बाहर जाए। मन्दिर कुआ सब हवेली मे। लडकी ने आठ-दस वर्ष की उमर के बाद ड्योढी के बाहर कभी कदम नही रखा था। हवेली के पिछवाडे घोसी रहते थे। भैसे थी। दूध बेचते थे। उनका लडका था खूब कडियल जवान। लडकी की झरोखे और छत से घोसी के लडके से आख लड गई थी। मिलने और बात करने का कोई मौका नही था, लेकिन उनका मन ऐसा मिला कि जब मौका मिलता, झाका करते। लौंडी-बादी देखती, तो आँख बचा जाती। ठाकुर की इकलौती लडकी लाड़ली और मुहजोर थी। चढती उम्र मे खून का उफान···। लडकी ने घोसी का हौंसला बढ़ाया। छत पर से रस्सी लटका देने लगी। लडका छत पर पहुच जाता। कमबख्त को डर नही लगा कि कोई देख ले और चोर-चोर का हल्ला मच जाए और नवलसिह जैसा ठाकुर, जरा शक हो जाता, तो कमबख्त की बोटी-बोटी काट देता। नवलसिह ने कलेजे पर पत्थर रखकर चुपके से पण्डित को बुला, भौरें फेरे करा दिये और लड़की को डोली मे बिठा घोसी के घर पहुचा दिया। इज्जत तो लडकी ने गवा दी थी, उसका धर्म बचा लिया। गम में हवेली और हाता आधे-पौने मे बेच दिये। आधी रकम बिटिया को दे दी और ठकुरानी के साथ तीर्थों को निकल गये। फिर लौटे नही।"

१. यशपाल : भाग और चोरी, (नई कहानियाँ : फरवरी १९६३), दिल्ली, पृ० १९

मुंशी नन्दन की ओर घूम गये और तर्जनी उठाकर बोले, "समझे कुछ, इसे कहते है फलित ज्योतिष !"

नन्दन ने शका की और आपत्ति के लिए गरदन ऊंची की, "लेकिन···।"

मुंशी जी ने डाट दिया, 'लेकिन क्या ? तुम्हे कोई समझा सकता है ? तुम हो नास्तिक !"[१]

यशपाल ने अपनी कहानियो के पात्र जीवन के यथार्थ से चुने हैं, जो मुख्यतः मध्यवर्ग के हैं और उनका चित्रण पूरी स्वाभाविकता से उन्ही के यथार्थ परिवेश मे किया है, उनकी कहानियो के पात्रो की दूसरी विशेषता यह है कि वे जातीय (Type) पात्र हैं और पूरे वर्ग या जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। यशपाल बडी कुशलता से उस वर्ग या जाति की सारी विशेषताओ एव प्रवृत्तियो को उन पात्रो के व्यक्तित्व मे ऐसा अन्तर्निहित कर देते हैं कि उनका व्यक्तित्व बोझिल नही हो पाता और वे स्वाभाविक रूप से ही हमारे सामने आते हैं। इन पात्रो की अवतारणा आर्थिक संघर्ष एव वर्ग-चेतना के धरातल से हुई है, जो इतिहास, पुराण, समाज और कल्पना-जगत से ग्रहण किए गए है, पर उनका चरित्र-चित्रण पूरी यथार्थता से किया है। चरित्र-चित्रण की नवीनतम मनोवैज्ञानिक प्रणालियो को अपनाने के प्रति यशपाल का आग्रह नही रहा है, यह उनका उद्देश्य भी नही था। उनके यहाँ अधिकाँशत विश्लेषणात्मक या अभिनयात्मक प्रणालियाँ ही प्राप्त होती हैं। वर्णनात्मक प्रणाली मे वे अपने पात्रो की सारी विशेषताएँ स्वय ही कह देते हैं "बस्ती मुहल्ले मे अब भी जब तब द्रोपदी की चर्चा हो जाती है। जब वह मुहल्ले से गई, कई दिन उसी का नाम लोगो की जबान पर रहा। गरीब भोले पुरोहित के घर जन्म लेते समय उसने किसी का ध्यान आकर्षित नही किया था। लडकी थी, लडकी के जन्म के समय कोई समारोह या प्रसन्नता का प्रदर्शन नही होता। कोई फूल की थाली तक नहीं बजाता। वह माँ-बाप की पहली सन्तान भी नही थी। उससे पूर्व दो भाई मौजूद थे। जन्म से ही वह नगण्य थी। उसे कोई उसके पूरे नाम से भी नही पुकारता था···। पोदी ने गत जन्म मे क्या अनाचार-अन्याय और अपराध किये थे, इस पर न तो सामाजिक ज्ञान के पण्डित प्रकाश डाल सके, न आध्यात्मिक ज्ञान के। पोदी को अभी न अपने शरीर की सुध थी, न वह दो बात ही कर सकती थी। अनाचार, अपराध के फल और उत्तरदायित्व की बात वह क्या समझती ? भोले पुरोहित के द्विज समाज ने, अपनी प्रथा और रीति को दैव का विधान बताकर पोदी को हिन्दू वैधव्य का आजन्म दण्ड दे दिया। हिन्दू-वैधव्य—नारी शरीर और नारी का स्वभाव और प्रकृति पाकर, नारीत्व के स्वभाव और प्रकृति के अधिकारो से वचित हो जाने, निरन्तर अपनी ही प्रकृति से लड़ने, अपने मे जलते रहने, मरते रहने का धर्म निबाहने का

१. यशपाल . फलित ज्योतिष, (सारिका : अगस्त १९६२), बम्बई, पृ० २८

दण्ड। पोदी तो अपने दण्ड और दुर्भाग्य को जान भी न पाई, न उसके लिए रोई। लडकी आँखे और नाक तो मलती ही रही, लेकिन वैधव्य के शोक मे नही, बाल-शरीर के कष्टो और आदत के कारण।"[1] इस प्रकार के चरित्र-चित्रण की प्रणाली का प्रयोग यशपाल ने अधिक किया है, क्योकि इसमे उन्हे अपनी बात कहने का अवसर अधिक प्राप्त होता है, पर इसमे सबसे बडा अभाव यह मिलता है कि वे अपने पात्रो की केवल कुछ स्थूल विशेषताएँ ही प्रकट कर पाते है, उनका कोई पूर्ण व्यक्तित्व सामने नही आ पाता। अभिनयात्मक प्रणाली मे भी यह दोष बहुत अशो तक दूर नही हो पाया है :

"क्या बात है ?" कर्तार ने बैरे और भावेश मे तनाव भाँपकर बैरे से पूछ लिया।

"पहर भर से बैठे है तीन रुपये का खा चुके है ' चार प्याले चाय पी चुके है।" बैरे ने झुझलाकर कहा—"बिल लाते हैं तो और चाय माँग लेते है। कह रहे हैं अभी और लाओ ?"

कर्तार ने स्थिति का अनुमान कर लिया। उसकी स्मृति मे सहसा बहुत कुछ कौंध गया। "फिक्र मत करो, दो प्याले चाय लाओ।" उसने बैरे को आदेश दिया।

' चाय के साथ कुछ और नही लोगे ?"

'नही अब आवश्यकता नही है।' भावेश ने आँखें चुराकर उत्तर दिया। दोनो हाथो की उगलियो को पजो मे बाँधकर कर्तार की ओर दृष्टि उठाई और अग्रेजी मे पूछ लिया, "मुझे क्या भूख से व्याकुल हो जाने पर भी कुछ खाने का अधिकार नही है ? कलाकार को भूख नही लगती ?"

कर्तार ने सकोच से विश्वास दिलाया, "वाह, कैसी बात कह रहे हो ! तुम जो चाहो—"

भावेश ने आश्वासन पाकर क्रोध थूक दिया और पूछ लिया, "कुछ बीड़ी सिगरेट है ?"

"आजकल क्या लिख रहे हो ? बहुत दिनो से तुम्हारी कोई चीज देखने का अवसर नही मिला।"

"नही मैं नही लिखूँगा, अकृतज्ञ लोगो के लिए क्यो लिखूँ, लिखने से मुझे फायदा क्या है ?"[2]

यशपाल की कहानियाँ कथोपकथनो की दृष्टि से विशेष सफल नही रही हैं। उनके कथोपकथन लम्बे और विचार-बोझिल होते है। उनमे वर्णनात्मकता अधिक रहती है, नाटकीयता कम। न तो वे सफलतापूर्वक कथानक को गतिशील कर पाते हैं

---

१ यशपाल : वैष्णवी, (नई कहानियाँ : जून १९६३), दिल्ली, पृ० १४-१५

२. यशपाल : कलाकार की आत्महत्या, (सारिका . जून १९६३), बम्बई, पृ० १२

और न पात्रो के चरित्रो को स्पष्ट कर पाते हैं। उनके संक्षिप्त कथोपकथन बहुत ही कम मिलते हैं :

"आर्य", रत्नप्रभा ने जिज्ञासा की—"क्या यह कृति पूर्ण है ?"

"देवी, मेरे अभिप्राय से यह पूर्ण है।" मारिश ने उत्तर दिया।

रत्नप्रभा ने मुसकान से आग्रह किया—'आर्य, मेरे मत से यह नारी का अंग-मात्र है, पूर्ण नारी नही।"

मारिश ने अपने रूखे केशो को उंगली से खुजाकर उत्तर दिया, "देवी का कथन उचित है, परन्तु यह अंग नारी के अस्तित्व की सार्थकता के लिए पुरुष का आह्वान करता है और फिर उस फलीभूत सार्थकता का पोषण करता है। यही नारी है, देवी!"

रत्नप्रभा ने गम्भीर होकर मारिश की ओर आदर से देखा—"आर्य, मैं इस विलक्षण कृति को अब समझी।" उसका स्वर पुलक उठा—"यह पाषाण के चिर-स्थायी स्वर मे नारी के जीवन की एक व्याख्या है।" रत्नप्रभा के स्वर मे स्तुति थी।

"ठीक है, देवी, पर नारी जीवन की अन्य व्याख्याएँ तो मै अपनी कृतियो में चित्रित करता ही रहा हू। यह व्याख्या किसी अन्य व्याख्या से कम महत्वपूर्ण नही है।"

यह कथोपकथन विशेष नाटकीय या सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति की समर्थता से सम्पन्न नहीं बन सका है। इस प्रकार के भी कथोपकथन यशपाल की कहानियो मे कम मिलते है, नही तो उनके कथोपकथन लम्बे और भाषण देने की शैली मे है : कर्मचन्द ने उभरती रेखो के रोएँ मरोड़कर फज्जे को धमका भी दिया था, "क्यो मियाँ, क्या सलाह है ?"

फज्जे ने हाथ जोडकर उत्तर दिया था, "बादशाहो, मालिको, तुम्हारी जो सलाह हो हुकुम हो! चालीस बरस से इस गली का नमक खा रहे हैं, कोई दूसरी जगह अपनी है नही। तुम धक्का दे दोगे, तो निकल जाएगे। हमे तो जाने को कोई जगह है नही। बादशाहो, ऐसी आँधियाँ तो आती जाती रहती हैं। सिर गरम करने से क्या फायदा ?"

हरचरण पंसारी ने बीच बचाव कर दिया था, "रहने दो, रहने दो। क्या लेते हैं किसी का ? कल गली की बेटियो-बहुओ को धोतियाँ, चुन्नियाँ रगाने की जरूरत होगी तो कौन आएगा ?"

उसने (नसरु) दाँत पीसते हुए बाप से कहा, "इन काफिरों की माँ को सुअर···अब यहाँ गुजारा नहीं। कोठरी नहीं मिलेगी तो किसी मसजिद या दरगाह मे ही पडे रहेगे।"

फज्जे ने दबे स्वर मे बेटे को डाँट दिया, "चुप रह, सूर देआ तुख्मा (सूअर

के बीज) । बडा दुर्रे खाँ बनता है ! ऐसी नोक-झोक हुआ ही करती है । बेवकूफों की बाते ''यह दुकान मेरे बाप ने जमाई थी । तू इसी कोठरी मे पैदा हुआ था । इसी गली की औरतो ने तेरी माँ को सँभाला था । इसी कोठरी मे वह मरी । इसी गली का नमक खाकर तेरे हाथ-पॉव लगे हैं । चुप बैठा रह, सब ठीक हो जाएगा ।"

फज्जे ने हिन्दुओ से पाए अपमान की चिन्ता न कर उलटे नसरु को ही डाँट दिया, तो नौजवान बेटे की आँखो मे पानी आ गया । वह आँसू निगलकर फुकार उठा, "तुम मुसलमान नही हो ?"

फज्जे को और भी क्रोध आ गया, "तेरी माँ नू सूर ' । तेरी माँ का सूअर'''। तू बडा मुमलमान है ! तू ही बडा दीनदार गाजी है ! मेरा बाप मुसलमान नही था ? मै साठ बरस का हो रहा हू, अब तक मुसलमान नही था ? तू किस मुमलमान का तुख्म है ? तू नया मुमलमान बनेगा ? चुप रह ।''[१]

इस प्रकार यशपाल की कहानियो मे 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के भीतर यशपाल की एक उन्मुक्त दृष्टि है, जिसे केवल लालफीता मे नही बाँधा जा सकता । भौतिक सघर्ष के समानान्तर उनमे आन्तरिक सघर्ष भी है जो व्यक्ति की व्यावहारिक प्रति-क्रियाओ मे पनपता है । सामाजिक सत्य के साथ वैयक्तिक सत्य और भौतिक द्वन्द्व के साथ आन्तरिक द्वन्द्व ने यशपाल को एक हद तक भारतीय भूमि मे पनपने वाला सहज जनतात्रिक कलाकार सिद्ध किया है । जीवन की विषमताओ के मूल मे वे किसी समस्या पर पाठको को खडा कर देते हैं और स्वाभाविक उत्थान-पतन के भीतर से एक ऐसा हल निकालते हैं जो एक ओर तो मार्क्सवादी दृष्टि का परिणाम होता है और दूसरी ओर मानवीय चेतना की ऐतिहासिक त्रुटियो की एकमात्र पूर्ति जान पडता है । इसके लिए यशपाल की भाषा-शैली बडी प्राणवान है । घटनाओ के तार्किक कुतूहल से पाठक आद्यन्त अभिभूत रहता है, पर यदि ध्यान से देखा जाय, तो सम्पूर्ण चित्र के भीतर कोई ऐसी गाठ दिखाई पड जाती है, जो ऊचे-नीचे जीवन-मूल्यों के रूप में सामाजिक, अन्तर्बाह्य विषमता के रूप मे वैयक्तिक और जड़ चेतन के रूप में ऐतिहासिक समाधान मागती है । यशपाल की कहानियो की, बल्कि उनके समस्त साहित्य की यह प्रक्रिया है, जो उनके कलाकार की सीमा होते हुए भी उनका प्रौढ़ पैतरा है । यशपाल के अभी तक 'पिंजरे की उडान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलो का कुर्ता', 'धर्मयुद्ध', 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक', तुमने क्यो कहा था मैं सुन्दर हू' आदि कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं । 'शर्तें', 'दुख', 'तीसरी चिन्ता', 'आदमी का बच्चा', 'काला आदमी', 'चार आने', 'जीत का हार', 'खुदा और खुदा की लडाई', 'कलाकार की आत्महत्या', 'रोटी का मोल', 'चोरी

१. यशपाल खुदा और खुदा की लड़ाई, (नई कहानियाँ : नवम्बर १९६१), दिल्ली, पृ० ७

और चोरी', 'खच्चर और इसान', 'दास धर्म', 'फूलो का कुर्ता', 'उत्तराधिकारी', 'वैष्णवी' तथा 'फलित ज्योतिष' 'मक्कील', 'हिंसा', 'पराई', 'नारद-परसुराम सवाद' तथा 'सत्य का द्वन्द्व' आदि उनकी अत्यन्त लोकप्रिय कहानियाँ हैं। एक सुविज्ञ[1] ने ठीक ही लिखा है कि यशपाल प्रगतिवादी कहानी लेखक हैं और उन्होने जीवन के विविध सघर्षों का सजीव, किन्तु वर्गगत चित्रण किया है। जीवन की विविध परिस्थितियो का चित्रण की, ऐसा प्रतीत होता है, उन्होने अपने व्यक्तिगत अनुभवो के आधार पर किया है। मानव-भावनाओ से वे भली-भाँति परिचित है और उनका सूक्ष्म विश्लेषण करना उनकी विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वे कट्टरपंथी नही हैं।

भगवतीचरण वर्मा

इस चरण के सफल कहानीकारो मे भगवतीचरण वर्मा का प्रमुख स्थान है। 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेन्ट', 'दो बाँके', उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह है। 'दो बाँके', 'प्रायश्चित', 'जब मुगलो ने सल्तनत बख्श दी', 'प्रेजेण्ट्स', 'विक्टोरिया क्रॉस', 'दो पहलू', 'विवशता', 'पराजय और मृत्यु' तथा 'इन्स्टालमेन्ट' आदि आदि उनकी अत्यन्त लोकप्रिय कहानियाँ हैं। उनकी कहानियो मे प्रमुख रूप से मध्यवर्गीय समाज की व्यक्तिवादी चेतना को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। भगवती बाबू का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। प्रेम के सम्बन्ध मे वे सोचते हैं कि दुनियाँ मे प्रेम है कहाँ ? जो कुछ है, वह पैसा है। पैसा सब कुछ खरीद सकता है—मनुष्य की आत्मा तक। रुपया ही शक्ति है, रुपया ही मुक्ति है और प्रेम एक ढकोसला है। हम सब पैसो के दास हैं। धन हमारा ईश्वर है। हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया मे न पाप है, न पुण्य है, न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन है, जिसके पास है वह सब कुछ खरीद सकता है, रूप, यौवन, शरीर और आत्मा। इसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध मे भी भगवती बाबू का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। वे समझते हैं कि धर्म के दो रूप होते हैं, एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक दोनो धर्मों का समान रूप से पालन करना हरेक साधारण गृहस्थ का धर्म है। समाज छुआछूत को मानता है, समाज वर्गों में ऊँच-नीच का भेद-भाव करता है, यह सब हमे स्वीकार करना पडेगा क्योकि हम सब समाज द्वारा शासित है, हम सबकी रक्षा समाज करता है। इन सामाजिक नियमो को तोडा नही जाता, इन नियमो को केवल बदला जाता है और इन्हे बदलने की क्षमता महान व्यक्तियो और तपस्वियो मे ही मिलेगी। हम जैसे साधारण गृहस्थो मे नही। इस सामाजिक धर्म के बाद वैयक्तिक धर्म आता है—दया त्याग, ममता, प्रेम, सत्य, अहिंसा आदि का। लेकिन यह धर्म व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं समाज से नही। हम वैयक्तिक धर्म का पालन करते हुए सामाजिक धर्म का पालन करने को बाध्य है यदि सामाजिक व्यवस्था के आगे हम सिर नही

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . नई कहानी का परिपार्श्व, (१९६६), इलाहाबाद

झुकाते, तो हम अराजकता के पाप के भागी होते हैं, और सामाजिक प्राणी होने के नाते हम गृहस्थ लोग अराजक बन ही नही सकते। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने ठीक ही लिखा है।[1] कि वैचारिक दृष्टि से भगवती बाबू बुद्धिवादी है। ज्ञान के अतिरिक्त और किसी देवता पर उनका विश्वास नही, बुद्धि ही मनुष्य को पशु से अलग करती है। उनका विश्वास है कि बुद्धि का विकास मानवता का चरम विकास (?) है। वैसे बुद्धि द्वारा बहुत सी बाते नही समझी जा सकती। जैसे सृष्टि का रहस्य, तो भी बुद्धि निम्न-स्तर की चीज नही। मनुष्य मे कुरूपता और अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है। इसलिए नही कि बुद्धि अर्द्ध-विकसित है वरन् इसलिए कि मनुष्य मन की कमजोरी को बुद्धि की कमजोरी कह डालता है। (बुद्धिवादी होने के कारण न मुझे धर्म पर विश्वास है, न उपासना पर।) उनका विश्वास है कि बुद्धि से ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त कर रहा है, वहाँ अपनी पशुता पर विजय प्राप्त नही कर सका। वह मुह चमकाती ही रहती है। जीवन मे भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्धि उसका नियन्त्रण करती है। बुद्धि ने पशुता को थोडा सा दबाया अवश्य है, किन्तु पशुता कभी-कभी उभड़ कर बुद्धि को अपना साधन बनाकर महानाश का ताण्डव नृत्य करती है। पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को अपने पर विश्वास करना चाहिए। वह स्वयं कर्ता है, स्थायी है। बुद्धि द्वारा मनुष्य को अपनी विवशता नामक कमजोरी से लडना है। जटिल समस्याओ के वर्तमान युग मे यह और भी आवश्यक है। इन सब बातो के साथ-साथ भगवती बाबू ने अह और 'अहमन्यता' पर भी विचार किया है। लेखक चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अहमन्यता छोडकर अह का विकास करे, क्योकि अह व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है। अहं और दूसरो के पार्थक्य से अहंमन्यना उत्पन्न होती है। अहमन्यता सीमित और अविकसित अह का गुण है। जिसमे बुद्धि और ज्ञान, जो मानवता के लिए वरदान स्वरूप है, अभिशाप बन जाते हैं। हमारी आज की दुखस्था का मूल कारण, लेखक की दृष्टि मे, यह सीमित और संकुचित अह है। मानवता का यह अभिशाप कैसे दूर हो ? लेखक का मत है कि अह को असीमत्व प्रदान करना, दूसरो को दूसरा न समझ कर अपना समझना--यही अह का विकास है और यही अहमन्यता का विनाश है। अपने जीवन के साथ सघर्ष, भूख और बेकारी से सघर्ष करते हुए भगवती बाबू ने आत्मसम्मान और 'अपनेपन' की रक्षा की और यद्यपि वे बहुत दिनो तक खोते ही खोते रहे, पाया कुछ नही, तो भी अह को असीमत्व प्रदान करने की दृष्टि से उन्हे एक सत्य मिल गया। भगवती बाबू यह स्वीकार करते है कि मनुष्य का अपना हित कठोर सत्य है। किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य का एक और पहलू होता है—वह है दूसरो का सत्य। प्रत्येक कार्य का निजी

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय . नई कहानी का परिपार्श्व, (१९६६), इलाहाबाद

पहलू बुरा नहीं है; अच्छा भी नही है। वह प्राकृतिक है। मनुष्य अपने को सन्तुष्ट करना चाहता है; यह भी स्वाभाविक है। दूसरो का रक्त चूसने वाला और महादानी दोनो ही आत्मतुष्टि की दृष्टि से अपने-अपने कार्य मे प्रवृत्त होते है, यह सत्य है। किन्तु दूसरो का हित मानवता का सत्य है। अपने लिए तो पशु भी जीता है। जो उससे ऊपर उठा हुआ है वही मनुष्य है। सीमित अह पशुता के निकट और मानवता से दूर है। अपने सत्य और मानवता के सत्य का सामजस्य उपस्थित करना ही अह को असीमत्व प्रदान करना है। सक्षेप मे, भगवती बाबू सैद्धान्तिक दृष्टि से नियतिवाद परिस्थितियो के चक्र और अह के असीमत्व इन तीनो बातो मे विश्वास करते हैं। उनका यह जीवन दर्शन जीवन के व्यावहारिक अनुभवो पर आधारित है, न कि तात्विक चिन्तन पर और उसमे परस्पर विरोध है। नियति और परिस्थिति के चक्र की बात उठाकर अह के विकास की चर्चा करना बेतुका सा लगता है।

भगवती बाबू ने अपनी कहानियों मे इस विचारधारा को चित्रित करने का कलात्मक प्रयास किया अवश्य है, पर उसमे वे पूरी तरह सफल नही हो सके हैं। ये विचार या तो ऊपर से आरोपित प्रतीत होते हैं या उनमे पूरी तरह स्पष्ट नही हो सके हैं। अपने कहानी शिल्प मे भगवती बाबू प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। उनके कथानक विधान मे उतनी ही स्थूलता और विवरणात्मकता प्राप्त होती है और वे घटनाओं के विस्तार तथा अधिक से अधिक बातो को समेटने के प्रति प्रेमचन्द की ही भाँति आग्रहशील रहते हैं। उनकी कहानियाँ समस्या प्रधान भी है, घटना प्रधान भी। वे घटनाओ के सयोजन मे विशेष पटु हैं और कौतूहलता तथा रोचकता अन्त तक बनाए रखने मे सफल रहते हैं। इन घटनाओ का संगुफन किस्सागोई शैली मे ही अधिक हुआ है, पर इसके बावजूद नाटकीयता बनाए रखने में भगवती बाबू को पर्याप्त अशो मे सफलता प्राप्त हुई है। ये कथानक विस्तृत परिधि मे फैले हुए हैं। और उनका विकास यथार्थवादी ढग से होना, जिसे रोमाँटिक यथार्थवाद कह सकते हैं। भगवती बाबू की कहानी कला का एक सर्वप्रमुख गुण उनकी व्यग्य शैली है। सामाजिक विकृतियो एव असगतियो पर वे इतने तीखे व्यग्य कसते हैं, जिनमे पैनापन होता है। 'प्रायश्चित' मे बिल्ली के मर जाने की घटना को लेकर रूढिवादिता, सामाजिक जडता एव धार्मिक परम्पराओ के प्रति मिथ्या अहकार का व्यग्य प्रधान शैली मे अत्यन्त रोचक चित्रण हुआ है। इसी प्रकार 'जब मुगलों ने सल्तनत बख्श दी' में भी व्यग्य प्रवृत्ति ही उभरी है। 'दो बाके' में विलासिता एव वैभव के प्रतीक लखनऊ में पुरुषत्व एव शौर्य के पतन तथा बाह्य प्रदर्शन एवं कृत्रिम जीवन के विकास का सूक्ष्म अध्ययन किया गया है। वास्तव में भगवती बाबू अपनी जिन्दादिली अथवा भाव-प्रवणता के लिये प्रसिद्ध हैं। उनके वस्तु एव विषय के संकलन और चुनाव में बड़ी उद्‌भावना और बाँकापन रहता है।

कथानक के प्रसार में जहाँ संवादों का अवसर आ जाता है, वहाँ प्रवाह के साथ यथार्थता का अच्छा चमत्कार दिखाई पडता है। भाषा को विषय के अनुरूप सजा देना और वाक्यांशो मे यथास्थान आवश्यक बल को केन्द्रित कर देना इनकी अपनी विशेषता है। यह सौन्दर्य उपन्यास और कहानियो मे सर्वत्र समरूप से प्राप्त होता है। सामान्य से विषय को लेकर एक खासी कहानी कह डालने वाली पटुता इस रचना मे मिल जाती है। यहाँ लखनऊ की नाक-शोहदो और उनके सरगनो का सच्चा चित्र खीच दिया गया है। जनानो के शहर की एक बारीक बहादुरी का आँख देखा विवरण उपस्थित कर लेखक ने अपने तत्पर चित्त पर पडी छाप का अच्छा प्रदर्शन किया है। बाँको के स्वरूप विन्यास मे लेखक ने सूक्ष्म अध्ययन की पूरा परिचय दिया है—एक खासा चित्र सामने ला खडा किया है। इसी तरह खानदानी नवाब इक्केवान के सवाद मे भी बाकी सजीवता उत्पन्न कर दी है। सारी कहानी मे यथार्थता अनुस्यूत और लखनवी समाँ का अमिट वैभव भरा है। भगवती बाबू की भाषा शैली भी बहुत सजीव बन पडी है। उनकी भाषा मे बोलचाल के शब्दो एवं मुहावरो के साथ साधारण उर्दू के शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। उनकी भाषा मे ओज है, प्रभाव है। एक आलोचक[1] ने ठीक ही लिखा है कि भगवतीचरण वर्मा ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से हिन्दी की कहानी कला को समृद्ध किया है। किसी चीज की तह तक पहुचना, उसके वास्तविक रूप को समझना वे अच्छी तरह जानते है। कहानी कहने का उनका ढग अत्यन्त मनोरजक, कल्पनापूर्ण और आकर्षक है और उनके द्वारा वे किसी ऐतिहासिक या सामयिक सत्य की व्यंजना करते है, जिसमे व्यग्य का पुट रहता है। उनकी कहानियों मे पात्र बहुत कम होते हैं, किन्तु उनमे मांसलता रहती है। उनके कथोपकथन चटकीले और अनूठे हैं। वर्मा जी पर आधुनिक वैज्ञानिक युग द्वारा उत्पन्न बौद्धिकता और फलत असन्तोष का प्रभाव है। उनकी कहानिया पाठक के मन पर प्रभाव छोड़ जाती है।

अमृतलाल नागर

अमृतलाल नागर की कहानियों मे जीवन का यथार्थ अपने स्वाभाविक रूप में चित्रित हुआ है। सोद्देश्यता उनकी कहानी कला का गुण है। नागर जी ने एक स्थान पर लिखा है कि स्वार्थ के पीछे सारी सृष्टि तबाह हुई जा रही है। किन्तु यह स्वार्थ है क्या ? और क्यो है ? अपने अस्तित्व की चेतना को मनुष्य सर्वव्यापी और सामूहिक रूप मे क्यो नही देखता ? सृष्टि से असम्पृक्त रहकर मैं अपनी वास्तविकता का अनुभव क्यों कर सकता हूं। सम्मिलित रूप से, समाज की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव मुझ पर पडता है और मुझे चैतन्य बनाता है। मैं अपने हर अच्छे और बुरे काम का

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक साहित्य ' बीसवी शताब्दी का परिप्रेक्ष्य, (१९६६), इलाहाबाद।

निर्णय समाज के तराजू पर ही करता हू। इस प्रकार नागर जी का दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित है, क्योकि उनके अनुमार समाज की समस्याओ से लेखक किसी प्रकार अछूता नही रह सकता। उनकी कहानियो मे उनका यह दृष्टिकोण पूरी यथार्थता के साथ प्रतिध्वनित हुआ है। कहानी शिल्प मे वे प्रेमचन्द के अधिक निकट हैं। उनकी कहानियो मे कथानक का सुसगठन प्राप्त होता है और बडे नाटकीय ढग से अपनी कहानिया प्रारम्भ करते हैं : "भला इस सजा की भी कोई हद है कि मनुष्य जिस बात या दृश्य से बेहद नफरत करे, वही आठो पहर उसके मन पर छाया रहे, बाहर से सब उसे सुखी और पुण्यात्मा समझे और कलेजे की हजार तहो को छेदकर मन की किसी अगम खोह से स्वर उठता रहे, 'पापी ! पापी ! !' ऐसे मनुष्य को जीने मे भला कौन सुख ? कभी किसी बहाने निर्मल आनन्द का एक क्षण भूखे-भटके मिल भी जाता है, तो मन यो करता है जैसे ओचक मे जीभ कट जाती है .अपने लिए मैं क्या कहूं, मैं ऐसा प्राणी हू, जिसका पाप वरदान बनकर आया था, ऐसा भाग्यशाली हू, कि अभागा बन गया। आज मेरी आयु के उनसठ वर्ष पूरे हुए, साठवें वर्ष की नयी राह पर मेरी थकी-हारी सासे दौडने लगी है। सच कहता हू, अब मुझसे जिया नही जाता। शायद अब अधिक दिन मैं जियू गा भी नही मैं अपने मन का बोझ अपने प्राणो पर लादकर नही ले जाना चाहता। अठारह वर्षों तक उसे सह न पाऊ गा, इसीलिए मैंने उसे लिख डालने का निश्चय किया है।[१] नागर जी की कहानियाँ चरम सीमा पर ही समाप्त होती हैं, जिसे रोचक एव औत्सुक्य से परिपूर्ण बनाने मे नागर जी पूर्ण सफल रहे है बडी मुश्किल से राजकिशोर ब्याह की बची रस्मे पूरी करने गये। राम-राम करके तीसरे दिन सबेरे बरात बिदा गई। घराती लोग निश्चिन्त होकर बरातियों की नीचता का बखान करने लगे। लच्छू खीझ भरे स्वर मे बोला, 'ये हमारे पढ़े-लिखे बरातियो का हाल है, फिर जाहिलो को क्या कहा जाय ?"

रिश्ते मे पुन्ती गुरु की बहन लगने वाली गुन्नो जिया चट से ताली बजा, एक हाथ का पजा आगे बढ़ाकर बोली, अरे भैया, तुम भी तो सब पढे लिखे लोगे होगे। जब तुमरी लोगन की बरातै चढ़ैगी तो तुम भी यही करौगे। आजकल तो सब जगह पढे-लिखे बराती हैं और यही करत हैंगे।"

"हम तो ये नही करेंगे। अगर सभ्यता न आयी तो पढ़े-लिखे होने का फिर अर्थ ही क्या रहा ?" रमेश जोश मे बोला।

"अर्थ ?" पुन्ती गुरु कान पर जनेऊ चढाए, अगौछा पहने, चूना तमाखू मलते-मलते बोले, "हमसे पूछो। घर मे भाई से लेकर बाहर तक अँग्रेजी पढने-लिखने का एक ही अर्थ समझ मे आया है कि बाबू बनो, रौब फटकारो, नौकरी करो, मुनाफा

१. अमृतलाल नागर—पाप मेरा वरदान, (सारिका : अक्तूबर १९६३), बम्बई, पृ० १९।

करो, जैसे बने दूसरो को लूटो औ 'बडे आदमी बनो । पढने-लिखने से और सभ्यता से कोई सम्बन्ध नही रहा आज ।

रमेश पहली बार अपने पिताजी की बात न काट सका, स्वय मन-ही-मन कट-कर रह गया ।[1]

नागर जी की कहानियो की सबसे बडी विशेषता उनकी व्यग्य शैली है । सामाजिक विसगतियो एव विकृतियो पर वे ऐसे मर्मान्तक व्यग्य अपनी पैनी शैली मे कसते हैं कि उनका लक्ष्य तीव्रतर रूप मे अभिव्यक्त होता है । 'जुएँ', 'अकबरी लोटा' 'प्याले मे तूफान' 'पाप मेरा बरदान' या 'लगूरा' आदि कहानियो मे यह विशेषता देखी जा सकती है । नागर जी की भाषा यथार्थ तत्त्वो को लेकर विकसित हुई है । वे पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं और शब्दो का चयन व्यग्य को उभारने के लिये करते है ।" उसने उनकी लिक्वडेशन मे आई हुई आँख को शान मे चन्द चुने हुए अल-फाज कह दिये ।' जैसे वाक्य उनकी अनूठी शैली एव चुटीले कथोपकथनो की विशेष-ताओ को स्पष्ट करते हैं ।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियाँ अधिकाशतः निम्नवर्ग के यथार्थ को लेकर विक-सित हुई है । सोद्देश्यता एव प्रगतिशील दृष्टिकोण उनका लक्ष्य था, किन्तु पलग' कहानी सग्रह के प्रकाशित होने के पश्चात् उनके पाठको को विस्मय ही नही खेद हुआ । 'पलग' की कहानिया सफल है, पर वे फैशन के प्रवाह मे आकर लिखी गई हैं, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही । अश्क की कहानियो के दो छोर हैं । उनका उद्देश्य सामाजिक यथार्थ का चित्रण करना होता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, जो ध्वसोन्मुख मध्यवर्गीय जीवन चेतना का परिणाम है । कहानियो मे यह दो सीमाएँ समानान्तर स्तर पर लक्षित होती हैं । अश्क की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनकी व्यग्य शैली एव दृष्टि का पैनापन है पर जाने क्यो अपनी कहानियो मे वे इसका उप-योग अधिक नही किया है, जहाँ किया है वे कहानियाँ अत्यन्त सफल रही है, जैसे फितने' कहानी । अश्क की कहानियाँ तीन-श्रेणियो मे आएगी घटना-प्रधान कहानी जैसे, 'जीवन । समस्या प्रधान कहानी जैसे 'पत्नीव्रत' सेक्स सम्बन्धी कहानी जैसे 'पलग' । अन्तिम वर्ग की कहानियो में मनोविज्ञान की आधुनिक प्रणालियो का सफ-लतापूर्वक प्रयोग किया गया है । 'काकडा का तेली' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी है । 'चट्टान' 'डाची', 'दालिये', 'बच्चे' कैप्टेन रशीद' आदि कहानिया कथ्य एव कथन-दोनों ही दृष्टियो से सफल कहानियां है । शैली की दृष्टि से वे प्रेमचन्द परम्परा के कहानीकार है ।

---

१. अमृतलाल : पढ़े-लिखे बराती, (सारिका . अक्तूबर १९६२), बम्बई, पृ० ५५ ।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर सामाजिक सचेतना के कहानीकार है। लक्ष्य एव अनुभूति की प्रधानता, नए यथार्थ का उद्घाटन, सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति एव परिवर्तित परिवेश के यथार्थ तत्त्वो को आत्मसात् कर नई, स्वस्थ जीवन दृष्टि का निर्माण उनकी कहानियो की सर्वप्रमुख विशेषताएँ हैं। धरती अब भी घूम रही है। द्वन्द्व', 'एक और दुराचारिणी', तथा 'आघात और मुक्ति' आदि उनकी प्रसिद्ध कहानिया है। उनकी कहानियो मे कथानक का सगठन बहुत सफल ढग से हुआ है और रोचकता एवं कौतूहलता अन्त तक बनाए रखने मे वे पूर्णतया सफल रहे है। उन्होने जीवन के यथार्थ से अपने पात्रो को चुना है और स्वाभाविकता एव यथार्थता से उनका चरित्र चित्रण भी किया है। लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप न होने से वे कहानिया साफ-सुथरी है और पात्रो का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व विकसित होता है जिससे कहानियाँ सजीव एवं प्रभावशाली बन पडी हैं। विष्णु प्रभाकर का दृष्टिकोण प्रगतिशील है, इसलिए ये कहानियाँ अपूर्व जिजीविषा भाव, आस्था एवं सकल्प से पूरित है। उनकी भाषा भी बडी सजीव एवं स्वाभाविक है। बोलचाल के शब्दो एव प्रचलित मुहावरो के प्रयोग से उनकी भाषा मे बडा प्रवाह उत्पन्न हो गया है।

रागेय राघव

रागेय राघव की 'देवदासी', 'अनुवर्तिनी' 'गदल' 'साम्राज्य का वैभव' तथा 'अभिमान' आदि सफल कहानियो मे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण, स्वस्थ जीवन दृष्टि एव यथार्थ चित्रण के प्रति आग्रहशीलता का परिचय मिलता है। अपने युग बोध और भाव बोध को समझने मे रांगेय राघव पूरी तरह समर्थ थे और उन्होने वर्ग-सघर्ष तथा मध्यवर्ग की व्यापक समस्याओ का अपनी कहानियो मे अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया है। उनकी कहानिया घटना-प्रधान समस्या प्रधान और चरित्र प्रधान हैं। कुछ कहानिया वातावरण प्रधान भी हैं, पर बहुत कम। उनकी कहानियो मे इतिवृत्तात्मक तत्वो को आधिक्य है और वर्णनात्मकता की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। रागेय राघव की कहानी कला को वहाँ बहुत आघात पहुँचता है, जहाँ वे पात्रो एव कथानक की उपेक्षा करके पूँजीवादी सभ्यता, बूर्जुआ मनोवृत्ति एव सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपना असतोष एव आक्रोश प्रकट करने लगते हैं। सोद्देश्यता उनकी कहानी कला की सर्वप्रमुख विशेषता है।

अमृत राय

अमृतराय समाजवादी चेतना के कहानीकार है और एक साँवली लडकी' 'मिट्टी', भोर से पहले' 'कस्बे का एक दिन', 'लाल धरती' तथा' जीवन के पहलू' आदि अनेक कहानियों मे उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण सफलतापूर्वक उभरा है। उन्होंने यथार्थ जीवन से पात्रों को लेकर उनके व्यक्तित्व की पूर्णता को चित्रित किया है और

सामाजिक असमानता, शोषण एवं वर्ग-वैषम्य से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं को पूर्ण यथार्थता से अंकित किया है, उनकी भाषा यथार्थ है और शैली ओजपूर्ण। उनके कथोपकथन सार्थक होते है और भावाभिव्यक्ति की समर्थता से परिपूर्ण होते है।

बलवन्तसिंह

बलवन्तसिंह कहानीकार है। उन्होने आधुनिक जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर 'ग्रन्थी', 'गलियाँ', 'अपरिचित', 'पहला पत्थर' 'जग्गा', 'तीन-बाते', और 'बाँध' आदि अच्छी कहानियाँ लिखी है। उनकी कहानियो मे पजाब की सस्कृति, लोक जीवन, आचार व्यवहार एव भाषागत संस्कार बडी यथार्थता एव स्वाभाविकता से उभरा है उन्होने अपनी कहानियो मे यथार्थ चित्रण पर अधिक बल दिया है और पात्रो को उनके यथार्थ परिवेश मे देखने की चेष्टा की है।

पहाडी भैरव प्रसाद गुप्त, उषादेवी मित्रा, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' सुमित्रानन्द पन्त, महादेवी वर्मा, कमला चौधरी, होमवती देवी, अन्नपूर्णानन्द, मोहनसिंह सेगर, प्रभाकर माचवे, तथा अचल आदि अनेकानेक कहानीकारो ने इस इस चरण मे कहानियाँ लिखी है पर उनकी कहानियो मे मिलने वाली विशेषताओं का ऊपर के वर्णित कहानीकारो मे समाहार हो जाता है। इस कहानीकारो के रचना विधान या दृष्टिकोण मे कोई नवीनता लक्षित नही होती। प्रभाकर माचवे ने चेतना प्रवाह पद्धति को लेकर अवश्य ही कुछ कहानिया लिखी हैं, जिनमे मनो-विश्लेषणावादी प्रवृत्ति स्पष्ट होती है। फिर भी इन सभी कहानीकारो का अपना स्थान है।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर इस युग के सफल कहानीकारो मे हैं। उनकी कहानियाँ जीवन के बहुविधिय पक्षो का प्रतिनिधित्व करती हैं और विविधता के रग प्राप्त होते हैं। विष्णु जी का मूल स्वर सामाजिक है। उन्होने सामाजिक दायित्व का निर्वाह अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है और मानव मूल्य एव मर्यादा को यथार्थ अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है 'वे', 'धरती अब भी घूम रही है', 'अगम अथाह', 'अभाव', 'शरीर से परे', 'खण्डित पूजा' तथा 'गृहस्थी' आदि उनकी अविस्मरणीय कहानिया हैं। उनकी कहानियो मे यथार्थ धरातल उजागर तो हुआ है, पर उनकी दृष्टि आदर्श पर भी रही है। कह सकते हैं कि उन्होने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को अभिव्यक्ति देते हुए समस्याओं के मध्य घिरे हुए व्यक्ति को अर्थ की सज्ञा दी है। उन्होने जिस मानव जीवन को लिया है, वह जैनेन्द्रकुमार की भाति किसी बुद्धिजीवी की टेबल पर निर्मित नही है और न अज्ञेय की भाति काल्पनिक है वह हमारे आपके मध्य का यथार्थ जीवन है, जिसकी समस्याएं, आचार व्यवहार, भाव-विचार एवं विविध रूप अत्यन्त सशक्त ढग से विष्णु जी की कहानियों मे उभरे हैं। उनमे अपूर्व सवेदनशीलता है

तथा नव मानवतावाद के प्रति विशेष आग्रहशीलता है। विष्णुजी का सारा साहित्यिक सघर्ष ही निश्चित आदर्शों एव जीवन की गरिमा-मर्यादा के प्रति रहा है और यह सघर्ष अत्यन्त सूक्ष्म ढग से उनकी कहानियो मे उभरा है। उन्होने किसी यूटोपिया का निर्माण नही किया है पर असत के साथ सत् पक्ष का सतुलन स्थापित करते हुए नव निर्माण की ओर, दिशोन्मुख होने का सदेश दिया है। कहना चाहे तो कह सकते हैं कि विष्णु जी की कहानियो मे आस्था एव सकल्प, अपूर्व जिजीविषा भाव, कर्म एव दायित्व की सजगता तथा मानव मूल्य एव मर्यादा की अभिनव जीवन दृष्टि मिलती है।

वर्तमान जीवन की सक्रान्ति को विष्णु जी ने भली भाँति समझा है। आज के जीवन की विसगतियो पर उनका तीव्र आक्रोश प्रकट हुआ है तथा जीवन की परिवर्तन-शीलता की अकुलाहट भी इस प्रकार इन प्रकार इन कहानियो मे समष्टिगत चितन को ही प्रश्रय मिला है, जिसकी जडें भारतीय मन स्थितियो मे ही गहरी हैं, कही से आरोपित नही। हमारे आज के नए-पुराने सभी कहानीकारो मे कदाचित विष्णु जी ही एकमात्र एसे कहानीकार हैं, जिनमे नयापन भी है और परम्परा का मोह भी पर परम्परा का यह मोह किसी जडता की ओर नही ले जाता, अतीत के उस गौरवपूर्ण मर्यादा का स्मरण दिलाता है, जो आज भी हमारे लिए उपयोगी ही नही, अनिवार्य हैं तथा हमारी भारतीय मनःस्थितियो के सर्वथा अनुकूल है। उन्होने सस्कारच्युत मर्यादा को कभी प्रश्रय नही दिया और न विघटित मूल्य-गरिमा को। उन्होने जीवन सघर्ष का चित्रण किया है, उसकी तमाम अच्छाइयो-बुराइयो के साथ, पर उनका ध्यान सदैव मूल्यो के उत्कर्ष पर रहा है। इस प्रकार उनकी कहानिया एक विशिष्ट भाव उपलब्धि बन गई है।

विष्णु जी का शिल्प चमत्कारी नही है। वे वस्तुतः जीवन सवेदना के कहानी-कार हैं। कलात्मक सौष्ठव के नही। पर इसका अभिप्राय यह नही है कि इनका शिल्प उल्लेखनीय नही है। वास्तव मे प्रयासहीन शिल्प मे भावो की सशक्त अभि-व्यक्ति ही उनकी कहानियो की महत्वपूर्ण कलात्मक उपलब्धि है। उन्होने अपनी कहानियो का प्रारम्भ वर्णनात्मक ढग से भी किया है, नाटकीय ढंग से भी। यहा दोनो के एक-एक उदाहरण प्रस्तुत हैं।

१. "उस दिन अचानक चाची के दो मास पूर्व स्वर्गवास होने का समाचार पाकर सन्न रह गया। इतने दिन तक कोई सूचना नही, कही कोई हलचल नही मेरे आसपास कोई उसे जानता तक नही। इस विशाल गुंजायमान नगर की तो चर्चा ही क्या उसके अपने कस्बे मे जैसे वह अनेको मे एक बन गई। स्वतन्त्रता ने भूचाल की तरह देश के एक भाग का रूप ही पलट दिया। जैसे पुरानी नदियाँ मिट जाती है, नई उभर आती हैं, वैसे ही एक जन समूह देखते-देखते लुप्त हो गया, दूसरा आ गया,

दूसरा जो अपना है पर जिसकी भाषा अलग, वेश भूषा अलग खान-पान अलग, नितान्त अपरिचित'' उसी अपरिचित मे चाचा ऐसे दूर जा पडी जैसे बरसाती नदी के किनारे''[१]

२. "सुशील की माँ अक्सर कहा करती थी और अक्सर क्या, अब तो कहने के लिए उसके पास एकमात्र यही कहानी शेष रह गई थी। लम्बी सॉस खीचकर, गर्व और वेदना भरे स्वर मे वह कहती, 'भगवान की कृपा से उसने चौदह पुत्रो को जन्म दिया था।''

सुनने वालियो की आंखो मे कौतूहल साकार हो उठता। कोई वाचाल पूछ बैठती, 'चौदह पुत्र! पर मॉ जी अब तो केवल दो है।'

'हा, बेटी! देखने के लिए ये ही दो है। वैसे मेरे चार बेटे दिसावर रहते हैं।'

'अच्छा, कमाने के लिए गए है?'

'हाँ कमाते ही होगे।'[२]

विष्णु जी की कहानियो के शीर्षक अभिव्यजनात्मक हैं और सार्थक हैं। उन्होने चौकाने वाली प्रवृत्तियो को कभी प्रश्रय नही दिया, इसी लिए उनमे पर्याप्त सहजता एव स्वाभाविकता है। उन्होने कथोपकथनों के माध्यम से अपनी कहानियो मे सफलतापूर्वक नाटकीयता उत्पन्न की है। ये कथोपकथन सक्षिप्त, सार्थक, चुस्त एव पैने हैं, उनसे दुहरा-तिहरा कार्य लिया गया है। वे पात्रो के चरित्रो को स्पष्ट करते है, कथानक का विकास करते हैं तथा पात्रो एव कथानक के मध्य परस्पर सतुलन भी स्थापित करते है।

मैं जैसे ही ऊपर चढी, वे बोले, 'रश्मि'!

'जी'।

'घूमने गई थी?'

'जी।'

'प्रदीप के साथ?'

'जी।'

'फिर उसे कहाँ छोड आई?

'वे अपने घर गए।'

'और तुम?'

१ विष्णु प्रभाकर: धरती अब भी घूम रही है, (चाची कहानी), दिल्ली पृ० १५२।

२ विष्णु प्रभाकर: धरती अब भी घूम रही है, (नाग फाँस-कहानी), दिल्ली, पृ० ४५।

'मैं अपने घर आ गई।'

'यह तुम्हारा घर है?'

'जी हाँ।'

'दुष्टा! दूर होजा मेरी आखो के सामने से। यह तेरा घर नही। मैं तुझे अन्दर नही आने दू गा।'[1]

विष्णु जी की भाषा मे यथार्थ गुणो का समावेश हुआ है। उन्होंने भाषा के रूढ़ सस्कारो का निराकरण कर उसे सहज एव स्वाभाविक बनाया है। उसमे प्रवाह तथा ओज तो है ही, अर्थवत्ता तथा गारिमा भी है। इस प्रकार उन्होने आज की नवीन परिवर्तनशीलता को पूर्ण तया आत्मसात् कर लिया है और एक लिहाज से वे नई कहानी के अधिक निकट पडते है। उन्होने आधुनिकता का चित्रण किया है, पर आधुनिकता के ये रेशे उन्होने पश्चिमी जीवन या भावधारा मे नही खोजे है भारतीय जीवन के सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दुओ मे खोजे है, इसलिए उनकी आधुनिकता मे न क्षणो का आरोपण हैं, न कु ठा या घुटन का आधिक्य है, 'वरन् उनकी कहानियो मे एक स्वस्थ सामाजिक दिशा है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

परिवार तथा वातावरण की कुण्ठाओ तथा विसगतियो ने अश्क को कहानीकार बनाया है और वे व्यक्ति के दर्द का स्रोत खोजते-खोजते समाज के दर्द का आभास पा लेते हैं। वे सामाजिक यथार्थ के कहानीकार न होकर वैयक्तिक यथार्थ के उद्घोषक है। इस युग मे, जहाँ मनोविश्लेषण एवं एक विचित्र सी अनास्था ने सारी कहानी विधा को आक्रान्त कर दिया था, वहाँ कदाचित् अश्क ही एक ऐसे अकेले कहानीकार थे, जिन्होने व्यक्ति तथा समाज को समानान्तर बिन्दुओ के बीच अर्थ की गरिमा प्रदान की और उसके बहुविधिय पक्षो को यथार्थ धरातल पर रूपायित किया। वे सामाजिक सचेतना की उपेक्षा नही करते, पर व्यक्ति की निष्ठा की भी अवहेलना नही करते। इस काल मे जीवन और समाज के साथ व्यक्ति की समस्याओ एव प्रवृत्तियो का जितना यथार्थ चित्रण पूर्ण कलागत ईमानदारी के साथ अश्क ने किया है, इतना किसी भी अन्य कहानीकार ने नही। इस दृष्टि से अश्क अन्यतम है, सजग जागरूक और प्रगतिशील दृष्टिकोण का चित्रांकन करने मे अकेले है। एक ओर जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी जीवन के प्रति भ्रमित है और उस विभ्रान्तता को अध्यात्मवाद, दर्शन मनोविश्लेषण अथवा विचित्र सी रहस्यात्मकता के असत्य आवाजों मे छिपाने का प्रयत्न कर अस्वस्थ पात्रो एवं विकृत दृश्यो से व्यक्ति को विभ्रान्त कर मानव सघर्ष को सीमित करने का प्रयत्न करते है, वही दूसरी ओर अश्क ने जीवन और समाज का सत्य चित्रित कर व्यक्ति को यथार्थ दिशा प्रदान की है। उसकी गुत्थियों, उलझनो को पूर्ण व्यापकता एव विराटता की पृष्ठभूमि पर

१. वही, (शरीर से परे-कहानी), पृ० १६४।

परिचित कराते हुए स्पष्ट कर उसे निरन्तर सघर्षरत रहने की प्रेरणा दी है। उन्होने व्यक्ति का कुछ छिपाया नही और न जानबूझकर अस्वस्थ बनाया है। उन्होने मानवता को खण्डित करने का प्रयत्न किया है और न जीवन के प्रति उनका कोई नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण ही है।

चेखव ने एक स्थान पर लिखा है कि मैं एक साधारण लैण्डस्केप पेण्टर नही हू, वरन् एक नागरिक भी हू। मै यह अनुभव करता हू कि यदि मै लेखक हू, तो यह मेरा दायित्व है कि मै अपने लोगो के सम्बन्ध मे लिखू । उनके द्वारा भोगे जाने वाले जीवन एव भविष्य के सम्बन्ध मे लिखू । अश्क का भी यही विश्वास है। अपने साहित्य मे, चाहे व नाटक हो, कविताएँ हो, कहानियाँ या उपन्यास हो, प्रकृति के सौन्दय का चित्रण अनुभव करते हुए, वे मानव को नही भूलते, साथ ही यह भी नही कि मानव समाज का एक अग है। उसी ने समाज को निर्मित किया है और वह समाज को बदलता है।

अश्क के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वे व्यक्तिवादी कहानीकार हैं। कुछ अन्य उन्हे प्रकृतिवादी कहते है। पर ये सब भ्रांतिमूलक धारणाए है। अश्क न तो व्यक्तिवादी हैं, न प्रकृतिवादी। वे रोमाटिक भी नही है। व्यक्तिवादी कहानीकार का फतवा देने वाले आलोचको के अनुसार अश्क ने सामती सस्कृति की मान्यताओ का विरोध व्यक्तिवादी चिंतन के अनुसार किया है और समाज के कल्याण से सम्बद्ध विचारो को व्यक्ति के मगल की कसौटी पर परखने का प्रयत्न किया है। ऐसे सुविज्ञ यह मूल सत्य कदाचित् समझते हुए भी नही समझना चाहते कि सामती व्यवस्था एव परम्पराओ का विरोध आज की सजग प्रगतिशील चेतना एव सृजनशीलता के दायित्व की पूर्णता का परिचायक है। प्रश्न उठता है कि यह विरोध व्यक्ति स्तर पर होता है या सामाजिक स्तर पर। व्यक्तिवाद की विशेषताओ के सम्बन्ध मे अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है। उसके प्रकाश मे यह कहा जा सकता है कि अश्क की कहानी कला का मूल उद्देश्य व्यक्ति की पूजा नही है। वे रूसो के इस कथन का कि 'मनुष्य जन्म से स्वतत्र है' परन्तु इस दासता की शृखलाओ मे आबद्ध पाते हैं : (जो कि व्यक्तिवादियो का सूत्र वाक्य है और इसीलिये उसके अनुसार वे चाहते हैं कि समाज को छिन्न-भिन्न करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए)—वहीं तक समर्थन करते हैं, जहाँ तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रश्न है। अश्क व्यक्ति की स्वतन्त्रता तो चाहते है, पर इसके लिए वे उसकी रूढ़ियो एव जर्जरित मान्यताओ को समाप्त कर ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण चाहते है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति का समान अवसर मिले। उसे अपने व्यक्तित्व को खण्डित न करना पड़े, अपने विश्वासो को तोड़ना न पडे—पर ये सब वे समाज के भीतर ही चाहते हैं, समाज के बाहर पूर्ण वैयक्तिक स्तर पर नही। यहाँ

यह समझ लेना चाहिये कि व्यक्ति का विकास समाज के भीतर चाहते हुए भी उसी के अनुरूप सामाजिक रूप-विधान को ढालना व्यक्तिवादी दृष्टिकोण नही है, क्योंकि इसमे व्यक्ति और समाज दोनो का ही समान महत्व है। यही अश्क की कहानी कला की मूल भावधारा है। वे व्यक्ति का हित समाज मगल के लिए चाहते है और समाज का हित भी व्यक्ति मगल के लिए।

अश्क को कुछ आलोचक प्रकृतिवादी इसलिये कहते हैं कि उनके पात्र बॉयोलॉजिकल हैं; कुछ इसलिये कि उनके पात्र यन्त्रात्मक न होकर गत्यात्मक है और कुछ इसलिए कि उसके पात्र कुण्ठित एव दयनीय हैं। ये सभी मान्यताएँ जैसा कि कहा जा चुका है, अश्क को ठीक से समझ न पाने के कारण ही उत्पन्न हैं। प्रकृतवादी मानते हैं कि व्यक्ति मूलत. पशु है, अत उसे सुधारने के लिए उसकी मूल पाशविक प्रवृत्तियो का नि सकोच चित्रण होना चाहिए। ये सिद्धान्त किसी भी रूप मे अश्क की कहानियो पर लागू नही होते और यदि कोई सुविज्ञ यह समझ बैठे कि अश्क के अनुसार मनुष्य पशु है और उनकी कहानियो मे इसीलिए पात्र व्यक्ति की मूल पाशविक प्रवृत्तियो का चित्रण कर व्यक्ति को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। अश्क के पात्र न तो बॉयोलॉजिकल है और न पशु। वे केवल मनुष्य हैं—अच्छाइयो और बुराइयो का जीवन जीते हैं, जो पाप एव पुण्य तथा आदर्शो एव कुरूपताओ के समन्वित रूप हैं। वे वही जीवन जीते हैं, जो हम। वे इसी वातावरण मे सास लेते हैं, जिसमे हम। वरन् कहा जा सकता है कि वे अश्क के पात्र हैं भी नही। वे समाज के पात्र हैं। अश्क ने विराट जीवन के यथार्थ से चुनकर उन्हे कहानियो मे अपूर्व कलात्मकता से प्रस्तुत कर दिया है। उनमे इतनी ही सप्राणता, सजीवता एव स्वाभाविकता है, जितनी कि किसी भी साधारण मानव मे हो सकती है, उन्हे अश्क ने गढा नही है।

अश्क का प्रारम्भिक जीवन बडा ही कष्टमय रहा है और उन्हे जीवन मे अनेक भयावह दु ख झेलने पड़े हैं। इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है—कहा जा चुका है। मध्यवर्गीय लोगो का जीवनवृत्त कष्टो एव विषमताओ का करुण इतिहास है, जिसके ससपर्श ने अश्क के कलाकार मन को यथार्थ की अनुभूतियाँ तो दी ही हैं वह सूक्षम एवं पैनी अन्तर्दृष्टि भी दी, जो यथार्थ के रग को गाढा एवं प्रभावशाली बनाने मे सहायक सिद्ध हुई हैं। अश्क ने यथार्थ की इन अनुभूतियो को अपने सवेदनशील मन से ग्रहण करने और कला के माध्यम से अभिव्यक्त करने मे किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विशेष दृष्टिकोण का आश्रय नही ग्रहण किया। उन्होने जो कुछ भी देखा—गलन, सड़न और दुर्गन्ध— इन सभी को यथातथ्य रूप मे बड़े सीधे-सादे ढग से प्रस्तुत कर दिया। केवल प्रकृतवादी की भाँति उसे दिखाने के लिए नही बल्कि उस गलन-सड़न और दुर्गन्ध की आलोचना करते हुए उसे हटाने के

उद्देश्य से। इस प्रकार अश्क ने आलोचनात्मक यथार्थवाद को प्रश्रय दिया है। अश्क का कहानी शिल्प पूर्णतया यथाथवादी सजीव एव प्रभावशाली है। उनकी कहानियो की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनका हास्य-व्यग्य, सक्षिप्त किन्तु भावाभिव्यक्ति से परिपूर्ण कथानक, दृष्टि का पैनापन है। उनमे बडी जीवन शक्ति और मार्मिकता है। समाज की विकृतियो पर उन्होने अत्यत तीखे व्यग्य कसे है, इसमे भी उन्होने सार्थकता एव यथार्थता का पूर्ण ध्यान रखा है और कही भी असतुलित नहीं होने पाए हैं। इस सम्बन्ध मे अश्क की 'डाची' नामक कहानी उल्लेखनीय है। इसमे एक व्यक्ति का छोटा सा मानसिक सकल्प है, जो निर्धनता के अभिशाप के कारण कभी पूर्ण नही हो पाता। मुह मे दिए हुए ग्रास की भाँति बाहर निकलकर गिर पडता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक अपूर्व जिजीविषा भाव, आस्था एव सकल्प तथा कर्म-प्रेरणा का स्रोत अश्क की कहानियो मे अविरल गति से बहता रहता है।

अश्क की कहानियो के चार वर्ग बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उनकी हास्य-व्यंग्य कहानियो का है, जिसमे समाज की विकृतियो पर तीखे, पर मार्मिक व्यग्य कसे गए है। दूसरा वर्ग चरित्र प्रधान कहानियो का है। तीसरा वर्ग दुरूह एव साँकेतिक कहानियो का है। इस प्रकार की कहानियाँ अश्क ने बहुत कम लिखी हैं जो मुख्यतया प्रयोग के तौर पर लिखी गई है और 'पलग' नामक कहानी सग्रह मे सग्रहित है, चौथा वर्ग समस्यामूलक कहानियो का है, जिनमे कोई न-कोई समस्या उठाई गई है और उनका समाधान व्यष्टिमूलक भावधारा के अनुसार प्रस्तुत किया गया है।

अश्क की कहानियो के शीर्षक अत्यत सार्थक हैं। वे कहानी के मूल भाव को स्पष्ट करने मे पूर्णतया समर्थ हैं। उनकी यह साकेतिकता उनकी कहानियो मे एक विशेष आकर्षण उत्पन्न करती है, जैसे 'पलग', कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल', 'काकडा का तेली', 'बच्चे', 'कैप्टन रशीद' आदि। इन शीर्षको से कहानियो की मूल सवेदना का सहज ही आभास मिलता है। अश्क की कहानियो का प्रारम्भ नाटकीय ढग से भी हुआ है, विवरणात्मक ढग से भी। यहाँ इस सम्बन्ध मे दो उदाहरण प्रस्तुत हैं

१ "लाल ने कनखियो से देखा—आया दरवाजे मे खडी थी और दबी निगाह से उस ओर देख रही थी।

कुछ निमिष—जिनका बोझ लाल के लिए असह्य हो गया—उसे लगा, जैसे फिर आया आगे बढकर उसके चेहरे पर प्यार से हाथ फेरना चाहती है—और वह क्रोध से चिल्ला उठा—"आया, तुम जाओ! मैने मेम साब से कह दिया है, तुम्हे एक महीने की पगार ज्यादा दे दे। अब तुम्हारा गुजर यहाँ नही, तुम

जाओ ! !''[१]

२ 'फिटकरी, शोरे और नमक के पानी मे धुले, कमरे के अँधेरे मे जगमगाते, पीले, सुनहरे गोखरू देखते देखते मलावी की आँखो मे आँसू भर आए। निमिषमात्र के लिए उसके सामने एक चित्र घूम गया—उसका अपना ही चित्र—उन दिनो का, जब जीवन मे सब कुछ अच्छा लगता था। भाई से लडाई-झगडा, पिता का क्रोध से झुझलाकर गालियाँ देना और खीझकर माँ का पीट बैठना—सब कुछ भला मालूम होता था। बसन्त की अपेक्षा कृत लम्बी दुपहरी, जब अपनी स्निग्ध, सुनहरी, धूप से सपनो का ससार बसा देती थी और अपने बडे खुले आँगन मे त्रिजन के गीत गाते-गाते वह किसी ऐसे ही सपनो की दुनिया मे खो जाती थी।'[२]

इसी प्रकार अश्क की कहानियो मे विकास एव अन्त भी बडे स्वाभाविक रूप मे हुआ है। अधिकाश कहानियाँ चरम सीमा पर समाप्त हुई है और कई-कई कहानियो मे तो दो-तीन चरम बिन्दु प्राप्त होते है, पर यह किसी चौकाने की प्रवृत्ति के प्रति आग्रहशीलता के कारण नही है, वरन् कथानक की अनिवार्य आवश्यकता के कारण। अश्क कलावादी नही है, पर कलागत सादगी ही उनकी कहानियो का अन्यतम कलात्मक सौष्ठव है। उनकी भाषा मे यथार्थ गुणो का समावेश हुआ है और सहजता तथा स्वाभाविकता के साथ उसमे रवानी भी है। उनकी भाषा और भाव मे परस्पर सन्तुलन है, जिससे कहानियो की प्रभावशीलता मे वृद्धि हुई है। यहाँ अश्क के सम्बन्ध मे आधुनिकता पर भी दो शब्द कह देना उचित होगा। अश्क ने आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नवीन आयामो को भलीभाँति समझा है और आत्मसात किया है। भारतीय मनःस्थिति से उनका पूर्ण तादात्म्य है और उन्होने स्थानीय रगो एव रेशो से प्रसूत आधुनिकता को ही प्रश्रय दिया है, चाहे वह समष्टिगत आधार पर हो या व्यक्तिगत आधार पर।

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : पलग, (बेबसी कहानी) इलाहाबाद, पृष्ठ १४३

२. उपेन्द्रनाथ अश्क : सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, (गोखरू-कहानी), इलाहाबाद, पृष्ठ २०

: ७ :

नवीन परिवेश नये आयाम

युग दशा:

कहानियों के आधार पर

इस चरण की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना १५ अगस्त १९४६ को भारत पाकिस्तान का कृत्रिम विभाजन और स्वतन्त्रता प्राप्त होना है। इस अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने जो भारतीय स्वतन्त्रता एक्ट बनाया, उसके अनुसार अग्रेजी शासन और देशी राज्यो के साथ हुई सारी सन्धिया समाप्त हो गई और उन्हे निर्देश दिया गया कि या तो वे स्वतन्त्र रह सकती है, या भारत और पाकिस्तान मे किसी एक साथ मिल जाना चाहिये। यह कुत्सित साम्राज्यवादियो की एक भयकर चाल थी। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को प्रोत्साहित तो उन्होने किया ही, जिसकी चरम परिणति भारत-पाकिस्तान के विभाजन मे हुई, साथ ही उन्होने इस ऐक्ट से देशी राज्यों को भी छोटी-छोटी यूनिटो मे बटे रहने का कुचक्र रचा। अनेक रियासतें उस समय किसी मे भी न मिलकर स्वतन्त्र रहना चाहती थी। जूनागढ और हैदराबाद की रियासते पाकिस्तान मे मिलना चाहती थी। पर सरदार पटेल की सूझबूझ, अपूर्व कूटनीतिज्ञता एव सन्तुलित प्रयासो से सारी रियासते भारत मे मिल गई, केवल जम्मू एवं कश्मीर की रियासत स्वतन्त्र बनी रही। स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही पाकिस्तानी शासको ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के प्रोत्साहन से कश्मीर को हडप लेने और वहाँ ब्रिटेन का सैनिक अड्डा बनाने के निश्चय से अपनी सेनाओ को कश्मीर पर आक्रमण कर लेने की अनुमति दी। जम्मू एव कश्मीर के तत्कालीन शासक महाराजा हरीसिंह ने अपने राज्य के भारत में विलय होने की प्रार्थना की, जिसे भारत सरकार ने स्वीकार लिया। लेकिन कोई सहायता देने के पूर्व भारत सरकार ने महाराजा हरीसिंह ने सन्धि पात्रो पर परस्पर हस्ताक्षर किए, इस बीच पाकिस्तानी लुटेरे काफी आगे बढ आए थे। जब इस सन्धि के अनुसार जम्मू और कश्मीर का पूर्ण विलय भारत मे हो गया और वह स्वतन्त्र भारत का एक अभिन्न अग बन गया, तभी जनरल थिमैया के नेतृत्व मे भारतीय सेनाएँ कश्मीर भेजी गई। अपूर्व साहस एवं वीरता से भारतीय सेना ने कश्मीर की भूमि से पाकिस्तानी लुटेरो का न केवल

सफाया ही किया, वरन् जब वे विजय प्राप्त करती हुई रावलपिंडी की तरफ बढ रही थी, प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने युद्ध-विराम का प्रस्ताव स्वीकार किया और भारतीय सेनाओ की विजय से भारत कोई लाभ नही उठा सका। यदि स्वय भारतीय भूमि पर से कश्मीर मे पाकिस्तानी नियंत्रण को नही समाप्त किया जा सका, तो इसका सारा उत्तरदायित्व स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू की अदूरदर्शिता एव त्रुटिपूर्ण कूटनीतिज्ञता को ही है, जिसका मूल्य भारत को आज तक चुकाना पड रहा है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ५ जुलाई १९४७ को भारत ने देशी राज्यो के लिए एक विभाग (States Department) स्थापित किया। दोनो डोमीनियन सरकारो ने विचार-विनियम के पश्चात देशी राज्यो से सम्पर्क स्थापित किया। अनेक देशी राज्य सम्मिलन सन्धि के अनुसार भारतवर्ष मे सम्मिलित हो गए। कुछ राज्य तत्काल सम्मिलित न हुए और वार्तावधि तक उन्होने भारत सरकार के साथ एक समझौता कर लिया। परन्तु इसी समय ट्रावनकोर, हैदराबाद एव कश्मीर ने भारत सघ के बाहर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार देशी नरेश दो दलो मे विभक्त हो गये—एक वे जो सघ मे सम्मिलित होने के पक्ष मे थे और दूसरे वे जो स्वतन्त्र रहना चाहते थे। इस मत-भेद के कारण नरेन्द्र मण्डल भग कर दिया गया, पर काल की प्रगति से भयभीत होकर अन्त मे ट्रावनकोर भी भारत सघ मे सम्मिलित हो गया। अब कश्मीर और हैदराबाद ऐसे दो राज्य थे, जिन्होने उलझने उत्पन्न की। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से कश्मीर की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसकी सीमाएँ पाकिस्तान, रूस और चीन से मिलती हैं। कश्मीर के तत्कालीन प्रधान मत्री शेख अबदुल्ला और उनकी नेशनल कॉन्फ्रेंस जिन्ना साहब की सकीर्ण मनोवृत्ति और साम्प्रदायिक नीति की कट्टर विरोधी थी। कश्मीरी जनता पर शेख अब्दुल्ला और नेशनल कॉन्फ्रेंस का बडा प्रभाव था, अत. पाकिस्तान को सीधे से कश्मीर मिलने की आशा जाती रही और उसने २२ अक्टूबर १९४७ को कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। इस सन्दर्भ मे 'शाति के दूत' जवाहर-लाल नेहरू ने दूसरी गलती यह की कि बिना कोई निर्णायक स्थिति आए कश्मीर की समस्या सयुक्त राष्ट्र सघ मे ले गए। वहाँ पश्चिमी देशो के कुत्सित स्वार्थ एव कुटिल नीतियो के कारण शिकायत करने वाले और आक्रमक के शिकार भारत को न केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान के साथ समान स्तर पर रखा गया, वरन् पाकिस्तानी आक्रमण को जनमत की माँग का रूप दे दिया गया। इसी प्रकार हैदराबाद का प्रश्न भी जटिल हो गया। वह भारतवर्ष मे सम्मिलित न हुआ। भारत सरकार ने समझौते का यथासम्भव प्रयत्न किया, परन्ते वे सभी विफल रहे। वहाँ का निजाम वास्तव मे एक साम्प्रदायिक सस्था रजाकारो की हाथो की कठपुतली बन गया था। रजाकारो का नेता कासिम रिजवी ही हैदराबाद का वास्तविक शासक बना हुआ था। उसने अपनी साम्प्रदायिक उग्र नीति से जनता को उत्पीड़ित

करना प्रारम्भ कर दिया। सैनिक साम्प्रदायिकता ने चारो ओर हत्या, अग्निकाण्ड और बलात्कार करना प्रारम्भ किया। अन्त मे विवश होकर भारतवर्ष को नागरिको की रक्षा के लिए सैनिक कार्यवाही करनी पडी। १३ सितम्बर १९४८ को भारतीय सेनाओ ने चार दिशाओ से हैदराबाद मे प्रवेश किया और चार दिनो की लड़ाई के पश्चात १७ सितम्बर १९४८ को हैदराबाद ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके पश्चात् जनरल चौधरी के नेतृत्व मे वहाँ सैनिक शासन स्थापित हुआ। इस शासन ने साम्प्रदायिकता और साम्यवाद की बर्बरता से नागरिको की रक्षा की और राज्य मे व्यवस्था स्थापित की।

इस प्रकार समस्त देशी राज्यो को सघ के अन्तर्गत करने के पश्चात् स्टेट्स विभाग ने उनकी शासन व्यवस्था का प्रबन्ध करना प्रारम्भ किया। इस दिशा में तत्कालीन गृहमत्री एव उप-प्रधान मन्त्री सरदार पटेल ने अपूर्व कार्य कुशलता प्रदर्शित की। उनकी प्रेरणा, निर्णयकारिता एव परिश्रमशीलता के परिणामस्वरूप अनेक राज्यो ने भौगोलिक स्थिति का ध्यान रखते हुए आपस मे अनेक सघो का निर्माण कर लिया और यदि स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने उनके कार्य मे अनावश्यक हस्तक्षेप न किया होता, तो आज भारत के सामने कश्मीर की कोई समस्या ही न रह जाती और १९४७ मे ही पाकिस्तान को अपने जीवन का प्रथम और अन्तिम पाठ मिल गया होता। पर दुर्भाग्य से ऐसा नही हो सका। सविधान सभा ने २६ नवम्बर १९४९ को सविधान का निर्माण कार्य पूर्ण करके उसे अगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित' किया। यह सविधान २६ जनवरी १९५० को लागू हुआ और उसी दिन भारत एक 'सर्वप्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' बना तथा स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पहले राष्ट्रपति बने। १५ अगस्त १९४७ ई० के पूर्व भारत की परराष्ट्र नीति ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा सचालित होती थी। भारत का अन्य राष्ट्रों से सीधा सम्पर्क नही था। ब्रिटिश राजदूत ही भारतीय राजदूत का भी कार्य किया करते थे। फलस्वरूप भारत की कोई विदेश नीति नही थी, परन्तु स्वतन्त्रता के बाद भारत की अपनी एक विदेश नीति बनी, जो मित्रता, सद्भाव, शान्ति एव सह-अस्तित्व के सिद्धान्तो पर निर्धारित हुई। पहले तो भारत की विदेश नीति को सन्देह एव घृणा से देखा गया। रूस और अमरीका ने भारत को अपने विरोधी का पिछलग्गू समझा। ब्रिटेन ने इस नीति को पाखण्डपूर्ण बताया। फ्रान्स ने इसे निष्क्रियता पर आधारित नीति समझा। पर जैसा कि डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है, यह तो भारत की परम्परागत सच्ची अहिंसक एव निर्भीक नीति थी, जिसके आदर्शों का शिलान्यास गाँधी जी के सिद्धान्तो पर हुआ था। पाखण्ड, भय या पिछलग्गू से तो इस नीति का विरोध हुआ, पर धीरे-धीरे यह सत्य स्पष्ट होने लगा। भारत की निष्पक्ष आलोचना और स्वतन्त्र नीति से लोग प्रभावित हुए। राजनीतिज्ञो ने अनुभव किया कि

निष्पक्षता की नीति भारत की सुविचारित और सुविकसित नीति है। धीरे-धीरे भारत की तटस्थता मे सबको विश्वास होने लगा। भारत ने कोरिया मे युद्ध बन्द करवाने में प्रमुख भाग लिया था। कोरिया मे बन्दी प्रत्यावर्तन कमीशन का वह अध्यक्ष भी बनाया गया। इन्डोचीन मे भी युद्ध बन्द करवाने मे भारत का ही प्रमुख हाथ था और वह लाओस अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन का भी अध्यक्ष बनाया गया। सूडान मे निष्पक्ष चुनाव के लिये भारत से ही चुनाव-कमिश्नर माँगा गया था।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त स्वतत्र भारत के नव-निर्माण का कार्य देश की जनप्रिय केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो ने अपने हाथ मे लिया। शताब्दियो के शोषण से देश की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था जर्जर हो चली थी। उसके पुनरुद्धार के हेतु एक सुविचारित एवं सम्यक् निर्मित योजना की आवश्यकता थी। जीवन स्तर को ऊपर उठाने के लिए यह आवश्यक था कि उत्पादन मे वृद्धि की जाय, देश की अपार जनशक्ति व प्राकृतिक सम्पत्ति का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय। आर्थिक विषमता दूर हो, सबको उन्नति के समान अधिकार प्राप्त हो, शिक्षा का प्रचार तथा सहकारिता का विकास हो। इसके लिए प्रथम पचवर्षीय योजना बनाई गई। भारत जैसे निर्धन देश के लिए इतनी महत्ती योजना के निमित्त धन जुटाना एक समस्या थी। योजना को सफल बनाने के लिए २०६९ करोड रुपये की आवश्यकता थी, अतएव भारत को विदेशी सहायता स्वीकार करनी पडी। भाखरा और नगल बाँध, दामोदर घाटी के बाँध और हीराकुण्ड बाँध-योजना, रिहण्ड बाँध-योजना—आदि कुछ ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिनसे कृषि सुधार मे सहायता मिली। द्वितीय और तृतीय पचवर्षीय योजनाएँ भी इस दिशा मे कुछ सीमा तक सफल हुई हैं। पर पूँजीवादी शक्तियो के प्रभाव के कारण इस सम्बन्ध मे भारतीय सरकार कोई रचनात्मक कार्य करने में असमर्थ रही है और यह लज्जाजनक बात है कि कृषि-प्रधान देश भारत स्वतंत्रता मिलने के २० वर्ष पश्चात् भी आत्म-निर्भर नही हो सका है।

यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि स्वतत्रता के पश्चात् देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्था की एक नूतन रूपरेखा का विकास हो रहा है। इस रूपरेखा को समाजवादी रूपरेखा की सज्ञा दी गई है। राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र मे इस नई रूपरेखा के अनुरूप परिवर्तन हो रहे हैं। स्वय संविधान में राजनीति के नियत्रक सिद्धान्तो के अध्याय मे समता पर आधारित समाज-व्यवस्था स्थापित करने की अपेक्षा की गई है। कांग्रेस ने अवादी सम्मेलन मे राष्ट्र को समाजवादी रूपरेखा मे नव-निर्मित करने का प्रस्ताव पारित किया। सरकार ने समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के हेतु महत्वपूर्ण कदम उठाये। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण समाजवाद का सर्वप्रथम लक्ष्य है। सरकार ने यद्यपि सभी उद्योगो के पूर्ण राष्ट्रीय-करण का निश्चय नहीं प्रकट किया है, क्योंकि उसके लिए वांछित धन एव क्षमता

का अभाव है और दूसरे उपलब्ध धन को वर्तमान उद्योगो के राष्ट्रीयकरण मे न लगाकर नये-नये उद्योगो को स्वय खोलने की नीति ही वर्तमान अवस्था मे समीचीन है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे भी राज्य धन का क्षेत्र व्यक्तिगत धन के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। द्वितीय और तृतीय पचवर्षीय योजनाओ मे भी राज्य धन का क्षेत्र अधिक विस्तृत रखा गया, पर प्रश्न उठता है कि इन सब बातो का भारतीय जीवन पद्धति पर प्रभाव क्या पड़ा, जिसका इस चरण की कहानियो से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सर्वप्रथम भारत-पाकिस्तान के कृत्रिम विभाजन को ही ले। विभाजन के पश्चात् जो दगे हुए, हत्याएँ हुई, आगजनी की घटनाएँ हुई, लोगो के घर-बार छूटे, देश छूटा, इससे नैराश्य की एक विचित्र स्थिति भारतीय तरुण वर्ग के सामने उपस्थित की। जो स्थिति प्रथम एव द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोप मे उत्पन्न हुई थी, वही स्थिति लगभग इस काल मे भारत मे भी आई। लोगो के सामने ही उनके घर वालो की हत्याएँ हुई, उनकी स्त्रियों-बच्चियो की पवित्रता एव धर्म लूटा गया, उनके सतीत्व का अपहरण किया गया और फिर सगीनो से उनकी आवाजें सदैव के लिए बन्द कर दी गई। नोआखाली जल रहा था ··कलकत्ता ··ही नही सारा बगाल आग की लपटो मे राख हो रहा था ·पजाब मे गले कट रहे थे, स्त्री-पुरुषो एवं मासूम अबोध बच्चो के रक्त गदी नालियो मे बह रहे थे कश्मीर मे कश्मीरी अपनी वीरता, शौर्य एवं साहस से बर्बर पाकिस्तानी लुटेरो से अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए प्राण दे रहे थे, अपनी आँखो से अपने जलते हुए घरो को देख रहे थे, खेतो की जवान फसलो को राख होते देख रहे थे · हर तरफ तबाही का क्रूर चक्र···हर गली, हर कोनो से सडी गली लाशो की दुर्गन्ध, जिन्हे गिध, चील और कौए नोच-नोचकर खा रहे थे यह था, स्वतन्त्रता का उपहार, जो नई पीढी को मिला था और जिसका एक वर्ग सृजनात्मक प्रतिभा से विभूषित था। उसकी आँखो के सामने अँधेरा छा गया और ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे वह स्वय अँधेरे का एक बुत बन गया है, जिसका कोई अस्तित्व नही है, वह मात्र एक शून्य है। मृत्यु बन्दूको की एक गोली, तलवार की नोको एव राइफलो के एक शॉट पर टिकी हुई थी और बन्दूकें, तलवारें तथा राइफले सस्ती हो गई थी—मृत्यु—यानी कि मनुष्य का जीवन उससे भी सस्ता हो गया था। घृणा हिंसा और विद्वेष, धार्मिक मदाधता, 'हँस-हँस कर लिया है पाकिस्तान—लडकर लेगे हिन्दुस्तान', 'मारेगे मर जाएगे, काफिरो को मार भगाएगे' तथा 'हर-हर महादेव' के नारो मे सारा देश और समाज टूट रहा था, आस्थाएँ टूट रही थी, निराशा और कुण्ठा फैल रही थी, विभ्रान्त हो नई पीढ़ी दिशाहारा की भाँति भटक रही थी और खोयी हुई दिशाओ को पाने की चेष्टा कर रही थी। मैंने ऊपर नई पीढी के जिस सृजनशील प्रतिभा सम्पन्न वर्ग की चर्चा की

है, वह इस दिशा में एक नई परम्परा का निर्माण करने की दिशा मे सर्वाधिक आकुल थी और जब उसने पीछे मुडकर देखा तो 'नीलम देश की राजकन्या'[१] की 'पाजेब'[२] खोजी जा रही थी, या 'डायरी के नीरस पृष्ठो'[३] मे 'पठार का धीरज'[४] कल्पित किया जा रहा था। एक दूसरा तबका भी इन कलाकारो का था, जो 'फूलो का कुर्ता'[५] पहनकर 'इतिहास'[६] लिखने मे सलग्न था और 'उबाल'[७] आने पर 'पगोडा वृक्ष'[८] के नीचे बैठा 'हीलोबोन की बत्तखो'[९] का नाटक देख रहा था और तब नई पीढी ने एक नई परम्परा के निर्माण पथ पर अपना पहला कदम रखा—यह सर्वथा एक नए युग की शुरुआत थी।

इस युग मे मध्य वर्ग की स्थिति अत्यन्त विचित्र थी। निम्न वर्ग आगे बढ़ रहा था और तथाकथित उच्च वर्ग के हाथो देश की नियति आ गई थी। मध्यवर्ग ही एक ऐसा वर्ग था जिसका निरन्तर ह्रास हो रहा था और विघटनकारी शक्तियाँ ही जिसकी धरोहर थी। यह वर्ग मुख्यतया नौकरी-पेशे पर आधारित था और तथाकथित भाई-भतीजवाद वाली भारतीय प्रजातन्त्र मे नौकरियाँ बिना जोर सिफारिशो के मिलती नही थी। ध्वसोन्मुख मध्यवर्ग मे अभी भी ऊंची-ऊची महत्वाकाक्षाएँ थी और बड़े-बडे सपने थे। उन्हे योग्यता होते हुए भी पूरा न कर पा सकने के कारण कु ठा, घुटन एव, नैराश्य की प्रवृत्तियाँ बढ रही थी। एक ओर लोगो की दैनिक आवश्यकताएं आधुनिकता के चक्कर मे बढ रही थी; तो दूसरी ओर आर्थिक विषमताएँ मु ह किए खड़ी थी पर आए दिन चीजो की मूल्य-वृद्धि तथा करो का भार सबकी कमर तोड़ रहा था। ऐसी स्थिति मे जो नया समाज सामने आ रहा था, उसके सामने अनेक समस्याएँ थी, जिनका कोई समाधान नही था; अनेक प्रश्न थे, जिनका कोई उत्तर नही था। १९६२ मे चीनी आक्रमण और भारतीय नेताओ का मायाजाल विच्छिन्न होना एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना है, जिसे इस युग मे भुलाया नही जा सकता जिस हिन्दी-चीनी भाई भाई का नारा लगाते जवाहरलाल जी थकते नही थे, १९६२ मे अपने 'अभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय' मित्र चाऊ-एन लाई का २० अक्तूबर १९६२ को उत्तरी

१. जैनेन्द्रकुमार
२. जैनेन्द्रकुमार
३. इलाचन्द्र जोशी
४. अज्ञेय
५. यशपाल
६. अमृतराय
७. उपेन्द्रनाथ अश्क
८. अज्ञेय
९. अज्ञेय

सीमाओं पर 'अपूर्ण सद्भाव' देखकर उन्होने कहा था, अभी तक हम अपनी ही बनाई हुई कृत्रिम सृष्टि मे जी रहे थे। इस वर्ष कच्छ मे और ५ अगस्त १९६५ को दुबारा कश्मीर पर आक्रमण देखकर यदि जवाहरलाल जी जीवित रहते, तो कदाचित यही कहते, अभी तक हम अपनी ही बनाई हुई 'अदूरदर्शिताओ की कमजोर एव नपु सक' नीतियो पर देश को नष्ट करते रहे, ताकि अधिकार सत्ता हाथ मे बनी रहे, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व खण्डित न होने पाए और हारे हुए मन्त्रियो को राजदूत, या गवर्नर बनाने तथा हारे हुए एम० एल० ए० एव एम० पी० को विधान परिषदो एव राज्य-परिषद के सदस्यो के रूप मे नामजद करने का अधिकार मृत्यु पर्यन्त बना रहे यह पर्सनैलिटी कल्ट प्रत्येक भारतीय नेताओ ने फैशन के रूप मे अपनाया और इसके जो परिणाम हुए हैं वे सारे देश के सामने ही नही है, वरन् यह अभागा देश 'समाजवाद' और 'विश्व का सबसे बड़ा एव सफल (!) प्रजातन्त्र' होने के नाम पर सह रहा है। देशद्रोहियो को लाखो रुपए जेल मे रखने मे खर्चा किया जाता है, और रोटी कपड़ा माँगने वालो को गोलियाँ दी जाती हैं यह एक बडी क्रान्ति की भूमिका है एक चिंगारी जो सुलग रही हैं, करोड़ो भारतीय आत्माओ मे फू क उत्पन्न हो रही हैं और फिर एक दिन ऐसा निश्चित आयेगा, जब य अंधेरे बादल हटेगे, तथाकथित जेल गये देश भक्तो, (या कुत्सित प्रवृत्तियो से परिपूर्ण नेताओं।) का बनाया प्रजातान्त्रिक ताशमहल जनता की विद्रोह भरी ज्वाला मे जलकर राख हो जायेगा 'इस आग से नई पीढ़ी ने सृजनशीलता प्रारम्भ की •

युगीन कहानियों का कलात्मक आधार

इस काल की ~~कहानियों~~ मे कथानक का पूर्ण ह्रास लक्षित होता है यह बात समझना भूल होगी कथानक का ह्रास अनेक कहानियो मे लक्षित होता है, पर उन्ही लेखको की ऐसी अनेक कहानिया है, जिनमें ठोस कथानक सगुफित हुए हैं और पुराने ढगो की कहानी शैली पर कहानियो की रचना हुई है। कथानक की दृष्टि से नई कहानी की सबसे बड़ी विशेषता जीवन दृष्टि की है। नई कहानी ने जीवन के बहु-विधिय पक्षो को चित्रण का आधार बनाया और एक व्यापक मानवीय धरातल को उसके यथार्थ आयामो के साथ लेकर कहानी की बनावट की जिससे न केवल अधिक विस्तृत परिप्रेक्ष्य ही कहानी ने अपनाया वरन् उसे उसकी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया। यह एक बहुत बड़ी चीज थी, जिसने नई कहानी को सर्वथा एक नये पथ पर अग्रसर किया। नई कहानी व्यक्ति और सामाजिकता दोनो ही सीमाओ के बीच गतिशील होती है। वह यदि व्यक्ति के अह को चित्रित करती हैं, तो वह सामाजिक क्रूरता के सन्दर्भ मे ही, और जब सामाजिक शोषण, वैषम्य एव अनास्था का चित्रण करती है, तो व्यक्ति के अह के ही सन्दर्भ मे। देखने मे यह एक अन्तर्विरोध की स्थिति लगती है और इसीलिये कभी-कभी प्रागैतिहासिक आलोचक नई कहानी को

अन्तर्विरोधों अथवा भ्रमित विश्वासो की सज्ञा से अभिहित करते है—पर वस्तुत यह सत्य नही है। नई कहानी, जैसाकि ऊपर कहा गया है, व्यक्ति और समाज दोनो को लेकर चलती है। वह इतिहास और समाज सापेक्ष है, पर सापेक्षता की इस क्रिया मे वह व्यक्ति के अस्तित्व को अस्वीकारती नही और जब यह कहा जाता है कि वह व्यक्ति को लेकर चलती है, तो इसका अभिप्राय यही होता है कि वह व्यक्ति के अस्तित्व अथवा उसके आत्मपरक दृष्टिकोण को इतना अधिक महत्व देती है कि वह पलायनवादी बन जाए और जीवन सघर्ष, अपने समय के युग-बोध से सम्बन्धित मूल्य मर्यादा तथा यथार्थ आयामो की उपेक्षा कर एक रहस्यमय बुत बन जाये—जिसमे शरत्चन्द्रीय भावुकता हो, थोडी दिव्यता एव अलौकिकता के साथ विशिष्टता का आभास हो, प्रकृति वर्णन या कल्पना-भरी इमेजो के माध्यम से जिसकी करुणा मे थोड़ा तीखापन हो, जिससे आद्रता और छिछले मनोवृत्ति वाले लोगो मे सवेदनशीलता उत्पन्न करने की समर्थता हो—जैसा कि विगत चरण के पलायनवादी, अनास्थावादी एव अस्वस्थ दृष्टि वाले दिग्भ्रमित कहानीकार करने की चेष्टा कर रहे थे। वास्तव मे नई कहानी व्यक्ति और समाज के सतुलन से विश्वास पाती है और दोनो की चेतना के समन्वय से प्राण ग्रहण करती है—इसे कहना चाहे तो कह सकते हैं, नई कहानी मनुष्य को उससे यथार्थ परिवेश मे देखने की एक दृष्टि है, व्यक्ति को उसके युग एव समाज से असम्पृक्त कर कृत्रिम माया जाल निर्मित करने की तथाकथित सर्चलाइट नही।

नई कहानी पूर्वाग्रहो पर बल नही देती, वह जीवन के यथार्थ बोध का विराटता से अकन करने की एक प्रक्रिया है। वह एक आस्था है, दिव्यता एव आध्यात्मिकता से सम्बद्ध नही, मध्य एव निम्न मध्यवर्ग के उन पीडित, ग्रसित एव समस्त लोगो से सम्पृक्त है, जो स्वतन्त्रता का क्रूर मजाक सहन कर रहे हैं, सारे सामाजिक अन्याय एव शोषण एक मौन भाव से पी रहे हैं—और ऐसे प्रशान्त बने हैं, जैसे कुछ घटित ही नही हुआ हो—वे फिर तैयार हो जाते हैं आने वाली आगामी आघातकारी शक्तियाँ सहने के लिये। इस मध्य एव निम्न वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति मे निराशा है, कुंठा है, अकुलाहट है—उनके माथे पर लज्जा की लकीरे खिची हुई है और आखे झुकी हुई हैं, पर उनके जीवन मे भी जमे हुये अन्धकार के नीचे गरिमा की एक पर्त है, नई कहानी इसे पहचानकर ऊपर लाने और उसकी यथार्थ अभिव्यक्ति की एक सामाजिक प्रयत्नशीलता है। नई कहानी और गहरे जाकर उन कारणो को स्पष्ट करती है, जिन्होने आज के मध्यवर्गीय एव-निम्न-वर्गीय लोगों के अस्तित्व के सामने एक प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया है।

नई कहानी अपने समय के यथार्थ को पूरी तरह वहन करके ऐतिहासिक एव सामाजिक सन्दर्भों से विकसित आधुनिकता को अकित करती है और परिवर्तित

परिस्थितियों नये उभरने वाले मूल्यो एव जीवन पद्धतियो विकसित नवीन आयामो को चित्रित करने के प्रति आग्रहशील होती है। वह निरन्तर परिवर्तनशील सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ मे ही अपने को एडजस्ट करती है, इसीलिये वह आग्रहो की कहानी न बनकर सामयिक सत्यो एव यथार्थ परिवेश का वाहक बन जाती है। जो लोग यह समझते है कि पश्चिम की अनास्था, कुंठा अकेलापन या अजनबीपन के साथ पश्चिमी ढग की ही प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियो का भारतीयकरण करके चित्रित करना ही नई कहानी है, वे डॉ० नामवरसिंह की तरह भूल करते है। भारतीय जीवन पद्धति मे भी यह अलगाव और अजनबीपन आया है, पर वह निर्मल वर्मा की कहानियो की तरह नही, आर्थिक विषमताओ के कारण परस्पर सम्बन्धो के जर्जरित होने एव मान्यताओ के सघर्ष के परिवारो के टूटने पर आया है, जो अपने आन्तरिक एवं वाह्य रूपो मे नितान्त जातीय एव राष्ट्रीय है—नई कहानी की आधुनिकता यही है और वह इसी का अकन करती है। इसीलिये हर वह कहानी नई नही है, जो हमे आधुनिक साज सामानो एव सजीव परिवेश के चित्रण से चकाचौध कर देने के भ्रमित विश्वास से लिखी जाती है, वरन् नई कहानी वह है, जो भारतीय जीवन पद्धति से अनुस्यूत आधुनिकता का चित्रण करती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसी सदर्भ मे उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अनास्था अमूर्तता आरोपित साकेतिकता एव अस्तित्ववादी चरित्र को आधुनिकता मानकर चलने वाले तथाकथित आलोचक सुविज्ञ एव कहानीकार नई कहानी को जब झूठी सलीबो पर लटकाकर एक शहीदाना अन्दाज मे पैंतरेबाजी की जाती है, तो विस्मय नही होता क्योकि अभी तक नई कहानी को एक अजूबा समझाया जाता रहा है और उसकी अपनी-अपनी रचना शैलियो के अनुसार व्याख्या भी की जाती रही है—अर्थात् जब अनास्थावादी एव प्रक्रियावादी कहानी लिखी तो नई कहानी को उस प्रवृत्ति से सम्बद्ध कर दिया जब प्रगतिशील दृष्टिकोण को लेकर कहानी लिखी, तो नई कहानी की मान्यताओ का विस्तार वहा तक कर दिया, और जब सस्कारच्युत नितात अन्तर्मुखी कहानी लिखी तो नई कहानी को खीचकर वहाँ पहुचा दिया—इन तमाशाइयो के लिये नई कहानी एक रबड का छल्ला बन गई थी, जिसे अपने-अपने स्वार्थों के अनुकूल बढाया-घटाया गया—पर यह एक भ्रमपूर्ण स्थिति थी।

आस्थाच्युत, सकलपहीन, अस्तित्ववादी चीख, आरोपित साकेतिकता एवं अमूर्तता को लेकर लिखी जाने वाली कहानियाँ सस्कारहीन तो होती हैं, अपनी जातीय एवं सामाजिक परम्परा से भी असम्पृक्त होती हैं।[1] उनमे उधार ली गई मानसिकता, दर्शन एव संस्कार, यहा तक कि जीवन दृष्टि भी ही प्राप्त होती है और

१ विशेष विवरण के लिये देखिये : इन्ही पक्तियो के लेखक की पुस्तक : नई कहानी की मूल सवेदना, (१९६५) दिल्ली

वे कहानियाँ अन्तर्मुखी होकर जीवन के बहुविविध पक्षो एव यथार्थ परिवेश से अलग होकर एक चमत्कार बन जाती है। ये कहानियाँ नई नही हैं—डॉ० नामवर सिह के कहने के बावजूद वे चमत्कारपूर्ण कहानियाँ हैं—जिनके लिये निर्मल वर्मा बधाई के पात्र है! अस्तु।

नई कहानी मे आधुनिकता के नाम पर प्राय चर्चा-परिचर्या होती रहती है, जिसके फलस्वरूप यह विश्वास जन्मा कि बिना आधुनिकता के नई कहानी हो ही नही सकती। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब दासता समाप्त हुई, तो एक नया उत्साह उत्पन्न हुआ था और लोगो को ऐसा लगा था कि दासता समाप्त हो जाना ही स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ होता है। तब धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव वैचारिक स्तर पर क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने—आधुनिकता को आत्मसात् करने की आग्रहशीलता बढी थी और इस आधुनिकता को साहित्य मे लाने का प्रयत्न भी उसी उत्साह से प्रारम्भ हो गये थे। तत्कालीन परिस्थितियो मे समकालीन प्रवृत्तियो एवं सामयिक आयामो को ही आधुनिकता के अर्थ मे स्वीकार लिया गया पर यह उचित नही था। धीरे-धीरे जब स्वतन्त्रता की यथार्थता सामने आई और यह सत्य प्रकट हुआ कि प्रशासन मे अभी तक कुछ लोग थे, जो चले गये और उनका स्थान कुछ नये जेल गये देश भक्तो ने ले लिया, जो साम्राज्यवादी तो नही है, पर अपने जेल जीवन मे व्यतीत बहुमूल्य दिनो का मूल्य अपनी स्वार्थपूर्ति एव भाई-भतीजवाद को घोषित करके चाहते है, साथ ही यह कि कभी न पूरा किये जाने वाले लम्बे-लम्बे झूठे आश्वासन, लच्छेदार भाषण और हवा मे खोखली हास्यस्पद पेतरेबाजी ही स्वतन्त्रता का अर्थ है, जिसमे निर्धन निरन्तर निर्धन होते जा रहे है और अधिकार प्राप्त लोग नये पूँजीवादी होते जा रहे है—तब वह भूल सामने आई और यह निश्चित हो गया कि कुछ विशेष परिवर्तित नही हुआ है, कुछ नाम-गॉव और सन्दर्भ भर परिवर्तित हुये हैं—अतः सभी समकालीन एव विचार तथा सामयिक सत्य आधुनिकता के अर्थ मे नही लिये जा सकते यह एक उचित स्थिति थी और पुराने भ्रमो का निराकरण था। आधुनिकता कभी कोई अजूबा नही हुआ करता, वह ऐतिहासिक क्रमों एव सामाजिक सन्दर्भों से अनुस्यूत एक मानसिक बौद्धिक स्थिति होती है, जो वर्तमान एवं आगत की सम्भावनाओं मे परस्पर सामंजस्य स्थापित कर एक सर्वथा नये मूल्य एवं विचार का आविर्भाव करता है। आधुनिकता का सम्बन्ध इस प्रकार परम्परा से भी होता है और यथार्थ परिप्रेक्ष्य तथा व्यक्ति एव समाज की मूलभूत समस्याओ से भी और वह समकालीन जीवन को सस्कार देती है आधुनिकता का अर्थ भ्रमितपूर्ण ढग से लिए जाने पर गलत बोध देता है और जातीय परम्परा एव संस्कार से असम्पृक्त प्रवृत्तियों,-विदेशी पार्कों, स्क्वॉयरो, वोदका एव चीयाती आदि विदेशी शराबो या फिर कुछ तथाकथित बड़े २ नगरो के तथाकथित फैशनपरस्तो को ही आधु-

निकता समझा जाने लगता है—नई कहानी का सम्बन्ध इस आधुनिकता से नितांत रूप से भी नही है। आधुनिकता नई कहानी के लिए एक जीवन दृष्टि है, जो समाज मे नये संदर्भों का अन्वेषण करती है और प्रमुख मानव मूल्यो एव नए उभरे आयामो मे सर्वव्यापी एवं सर्वजनीन स्वरूप ग्रहण करती है। इस प्रकार अब हम नई कहानी मे आधुनिकता की चर्चा करते हैं।[1] तो जातीय संस्कारो से च्युत एक- सदर्भ हीन मूल्यो के रूप मे नही, विराट एव व्यापक सामाजिक परिवेश के विभिन्न आयामो को देखने की एक दृष्टि के रूप मे ही।

अत यह भूल जाना चाहिये कि तथाकथित आधुनिकता के कारण ही आज की कहानी नई है। नई कहानी का यह नयापन मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर एक साथ देखा जा सकता है। परिवर्तन हुये है, यह स्वीकारना होगा। इसे डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी स्वीकारते हैं और दूसरे सुविज्ञ भी, पर वे उसे 'नई' की सज्ञा नही देना चाहते। इस सज्ञा के प्रति मेरा भी कोई विशेष आग्रह नही है, पर मैं समझता हू कि जब स्वातत्र्योत्तर हिन्दी कहानी मे विभिन्न आयामो मे परिवर्तन परिलक्षित होते है, तो अध्ययन की सुविधा के लिये नई की सज्ञा से अभिहित किया जाना बहुत आपत्तिजनक नही प्रतीत होता। १९४७ के बाद स्वयं स्वतन्त्रता ने ही नई पीढ़ी को एक अभिनव दृष्टि दी और सोचने-समझने के स्तर पर पूर्ण परिवर्तनशीलता की स्थिति उत्पन्न की। रातो रात जेल गये देश भक्तो ने एक नया ही मुखौटा धारण कर लिया था और देश भूलकर स्वय की महत्ता उनके लिये सर्वोपरि हो गई थी। एक विचित्र सी अराजकता की स्थिति स्पष्ट हो गई थी, जिसमे आगत की तस्वीरें बहुत स्पष्ट नही थी, केवल सपने थे और कल्पनाशीलता थी। मध्यवर्ग टूट ही नही रहा था, विघटित प्राय. हो चुका था, पर वह पुराने तथाकथित आदर्शो एव असत्य जीवन गरिमा मे इस सीमा तक विस्मृत था कि कुछ परिवर्तित भी हुआ है, यह स्वीकारने की बात तो दूर, वह अभी भी बडे २ सपने देखने की सीमा से असम्पृक्तता होकर यथार्थता को भी स्वीकारने को प्रस्तुत नही था, पर नई पीढी अपने युग की सत्यता के साथ परिवर्तित परिप्रेक्ष्य से भी परिचित थी। एक व्यापक सामाजिक दृष्टि, धर्म निरपेक्ष विश्वास, विषमताओं एवं विकृतियो से जूझने की जिजीविषा तथा आस्था एवं सकल्प से सम्पन्न होने के साथ सकीर्णता, भावुकता एव कल्पनाशीलता से मुक्त यह नई पीढी एक सतुलित वैज्ञानिक स्तर मानवीय भावधारा के उत्थान-पतन एव नये मानव-मूल्यो तथा सन्दर्भों को पहचानने वाली गहरी अन्तर्दृष्टि के अन्वेषण मे सलग्न हुई—अत परिणामो मे नवीनता आनी स्वाभाविक ही थी, और वह नवीनता कहानी मे विभिन्न स्तरो पर लक्षित भी हुई। यह पीढ़ी पुराने मूल्यो को अस्वीकारनें के लिए

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये : इन्ही पक्तियो के लेखक की पुस्तक नई-कहानी की मूल सवेदना, (१९६५), दिल्ली

बाध्य थी और सबके सब नये मूल्यो को स्वीकारने के लिये भी बाध्य नही होना चाहती थी। इस द्वि-पक्षीय बाध्यता ने ही एक सतुलित दृष्टि को जन्म दिया, जो सर्वथा नई थी और कहानी मे भी इस नई जीवन दृष्टि ने परम्परागत फार्म को तोडकर कथ्य एवं कथन मे नवीनता, भाषा की अभिनव गरिमा एव विचारो की नूतन अर्थवत्ता को ही जन्म नही दिया, उसे विवधता प्रदान कर पूरे युग और समाज से सम्पृक्त भी किया जो विगत चरण की कुठाजन्य आत्मपरक प्रवृत्ति, प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति, अनास्था एव पलायनवाद के साथ दिग्भ्रमित जीवन दृष्टि तथा शोषण वर्ग-वैषम्य, सामाजिक असमानता एवं पूजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति के विनाश की मधुर कल्पना के नाम पर सिद्धातवादिता की तुलना मे एक सर्वथा नई चीज थी और अपने आप मे एक उपलब्ध है, जिसे अस्वीकारा नही जा सकता।

नई कहानी इस प्रकार सामाजिक बोध और उसकी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। वह यथार्थ और उसकी अनुभति को उसके अपने शिल्प मे अभिव्यक्त करने के प्रति आग्रहशील हैं, अत यह सोचना कि नई कहानी कलावादी है, भूल होगी। उसके लिये कला की कोई समस्या नही है, वह यथार्थ और अनुभूति के आतरिक शिल्प के अन्वेषण की समस्या से सम्बद्ध है। वह जीवन के नये सदर्भों एवं अनुभूतियो की खोज करती है, शिल्प के स्तर पर प्रयोगो की नवीनता की खोज नही। यथार्थ और अनुभूति के आतरिक शिल्प की खोज एवं जीवन के नये सदर्भों तथा सत्यो का अन्वेषण भी अपने मे एक प्रयोग है, इसलिये नही कि कहानी एक प्रयोग है शिल्प से असम्पृक्त एवं जीवन से सम्बद्ध। सश्लिष्ट जीवन के कथासूत्रो एवं मानवीय अनुभूतियो को पूर्ण स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्तत करने का प्रयास ही नई कहानी का लक्ष्य है। इन अनुभूतियो को उनकी समग्रता मे विराट भाव बोध के विभिन्न आयामो से सम्बद्ध कर प्रस्तुत करने की प्रयत्नशीलता मे नई कहानी से मासलता का आ जाना स्वाभाविक ही था, फलत नई कहानी कुछ जटिल एवं बौद्धिक हो गई, पर यह एक अनिवार्यता थी क्योकि सपाट सीधेपन की आकाक्षा मे उसने इकहरी अनुभूतियो के चित्रण पर बल दिया है नई कहानी देखने मे जटिल लगती हो, पर उसने सार्थक बिम्ब विधानो से आधुनिक संश्लिष्ट जीवन सूत्रो का सहज एवं स्वाभाविक समाधान भी प्रस्तुत किया है। नई कहानी मनोरजन नही, दृष्टि है, विचार है, इसलिये उसे ऊपरी सतह से देखना कोई अर्थ नही रखता। अर्थ की गरिमा विशिष्ट होती है, वह कभी देखने मे सहज नही होती, उसके लिये गहराई मे पैठने की आवश्यकता होती है और आज के विषमताओ, जटिलताओ अन्तर्विरोधो एवं दुरूहताओ से भरे जीवन परिवेश का यथार्थ चित्रण करने वाली नई कहानी इस गहराई मे पैठने की माग तो कर ही सकती है, जो सहज भी है, स्वाभाविक भी। नई कहानी उन कथ्यो को ग्रहण करती है, जो किसी एक व्यक्ति का न होकर वास्तविक समय बोध का प्रतिनिधित्व करता है। यह

वास्तविक बोध आकुलता और जटिलता से सम्बन्धित है, जिसे असन्तोष एवं विद्रोह सीमाएं जहा व्यापक विस्तार देती हैं, वही उसे और भी विषम एवं दुर्बोध बनाती हैं और जब नई कहानी इसे सम्पूर्णता के साथ शब्दो मे बाधने का प्रयत्न करती है, तो वह विशिष्ट बन जाती है। जब आरोपित प्रतीको एवं सारहीन बिम्बो को लादकर कहानी की बुनावट कर कृत्रिम बौद्धिकता और जटिलता उत्पन्न करने की सायास चेष्टा की जाती है, तो वह एक मनोरजन डाकुमेट बन जाती है, जो कुछ थोडे से लोगों को मानसिक तुष्टि दे सकती है, निर्णय देने वाले 'गजटेड' आलोचको को 'सामग्री' दे सकती है, पर नई कहानी का प्रतिनिधित्व नही कर सकती।

यह तो हुई नई कहानी के सम्बन्ध मे कुछ आवश्यक बाते[1], जिनके सक्षेप में स्पष्टीकरण आवश्यक था। नई कहानी से इतनी विविधता है कि कला सम्बन्धी कोई निश्चित मानदण्ड नही स्थापित किया जा सकता। प्रत्येक लेखक ने कला को अपनी-अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप किया है और उन कहानियो पर प्रत्येक कहानीकार की अपनी छाप है। अत नई कहानी की कलात्मक प्रवृत्तियो की चर्चा करते समय शास्त्रीय परम्परा कथानक-पात्र एवं चरित्र-चित्रण कथोपकथन तथा भाषा-शैली आदि के सन्दर्भ मे कोई बात नही कही जा सकती। इसकी चर्चा आगे विभिन्न कहानीकारों के सन्दर्भ मे ही की जायेगी।

युगीन कहानियो मे चित्रित प्रवृत्तियां

गत दो अध्यायो मे यथार्थवाद, व्यक्तिवाद, मनोविश्लेषणवाद एवं समाजवाद आदि विभिन्न प्रवृत्तियो की चर्चा की जा चुकी है। वे प्रवृत्तिया इस युग की कहानियो मे भी लक्षित होती हैं। उन्हे आगे यथास्थान की जायेगी। अस्तित्ववाद एवं आँचलिकता दो ऐसी प्रवृत्तिया हैं, जो इस युग की कहानियो मे लक्षित होती हैं। अस्तित्ववाद साहित्य का एक तर्कशास्त्र है, एक मनोविज्ञान है और दर्शन है। वह इसी रूप मे अपना कुछ महत्व रखता है। इस दर्शन ने जीवन पर अपना विशेष प्रभाव डाला और अमूर्त को ठोस रूप से समझने के उद्देश्य से व्यक्ति पर बल दिया। इसने अपने आपको भविष्यवक्ता मानकर भूत और वर्तमान को समझने का प्रयत्न किया है। यह जीवन से टकराता है और उस इच्छा को पूर्ण करता है, जैसाकि अस्तित्ववाद को वास्त-

१ विशेष विवरण के लिये देखिये .

(क) इन पक्तियो के लेखक की पुस्तक—नई कहानी की मूल सवेदना, (१९६५) दिल्ली

(ख) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : नई कहानी का परिपार्श्व, (१९६६) इलाहाबाद

(ग) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : आधुनिक साहित्य बीसवी शताब्दी का परिप्रेक्ष्य, (१९६६), इलाहाबाद

विक प्रवर्त्तक सॉरेन किर्कगार्ड ने प्रकट किया था कि हम जीवन में आगे बढते तो हैं पर सोचते-समझते पीछे हैं जीवन और दर्शन के मध्य इस टकराहट ने साहित्य को प्रभावित किया है। इसने जीवन के ऊपर आरोपित आभूषण बने रहने मे ही अपना सतोष नही प्रकट किया अथवा कल्पना और सगीत का सौन्दर्य बने रहने तक ही वह सीमित नही रहा, वरन इसने आगे बढकर आधुनिक मानव के उत्पीडन और उसके दुर्भाग्य की कालिमा का सामना किया। इसने प्रत्येक बातो के सम्बन्ध मे नये २ प्रश्न किये और जीवन सतही रूप तक ही सीमित रहने से अस्वीकार कर क्रातिकारी बनने के प्रति कृत-सकल्प इस अर्थ मे, जैसाकि मार्क्स ने हीगल के दर्शन की आलोचना करते समय कहा था कि हमे प्रत्येक बातो की जड मे जाना चाहिये और प्रत्येक बातो की जड़ मनुष्य स्वय ही है। कुछ आलोचको ने अस्तित्ववाद को सर्व सामान्य अस्वीकृति दिलाने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि यह एक अस्वस्थ विचारधारा है, जो एक अस्वस्थ महाद्वीप तथा यूरोप की अपनी राजनीतिक एव आर्थिक समस्याओ से पलायन कर दर्शन की छाया मे शरण लेने के फलस्वरूप युद्धोपरात उत्पन्न दर्शन है। यह सत्य है कि युद्धोपरात यूरोप की भावधारा निराशामूलक भी, पर निराशा हतोत्साहित होने की भूमिका नही है। प्रायः यह उसके विपरीत भी होती है। कुछ अस्तित्ववादियो का कथन है कि उन्होने इस निराशा को साहसपूर्ण ढग से रचनात्मक स्तर पर लिया है और उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति मनुष्य की स्वतत्रता मे तथा मनुष्य द्वारा स्वय अपना भाग्य परिवर्तित करने के उत्तरदायित्व मे अन्तर्निहित है।

उनके अनुसार युद्धोपरात यूरोप के लिये यह नितात रूप से स्वाभाविक था कि वह ऐसी विचारधारा को जन्म दे, जिसमे सत्य के अनुभवो, पूर्व-स्थापित व्यवस्था की असफलता, युद्ध की भयंकरता, क्रातियो, हिंसा एव रक्तपात तथा फलस्वरूप उत्पन्न भय एव अरक्षा की भावना का समावेश हो। कामू का कहना था कि अरक्षा की भावना ही मनुष्य को सोचने के लिये विवश करती है। पर यह सब नितात रूप से भ्रातिमूलक धारणाये हैं। अस्तित्ववाद का जन्म द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप नही हुआ है। सॉरेन किर्कगॉर्ड और नीत्शे का प्रभाव, जिससे यह दर्शन अत्यधिक प्रभावित है, बहुत पहले १६३० के लगभग ही प्रसारित हो चुका था, वरन उससे भी पूर्व। और ज्या-पाल सार्त्र का मनोविज्ञान और कामू तथा कैलीगुला की विचारधारा भी १६३६ तक प्रकाश मे आ चकी थी और अस्तित्ववाद का दर्शन १६४१ मे सामान्य रूप से स्पष्ट हो चुका था। यह वह समय था, जब जीवन की सभी सुरक्षित और सामान्य स्थितियाँ अव्यवस्थित हो चुकी थी और जर्मन कैम्पो मे होने वाली मौते तथा विश्व की प्रत्येक दिशाओ मे बम फेकने, गोलिया चलाने और आक्रमण करने की निरतर दी जाने वाली धमकिया स्त्री और पुरुषो को इस बात का आमन्त्रण दे रही थी कि वे आगे आकर जीर्ने और साथ ही साथ करने के नये मार्गों का अन्वेषण करें।

अस्तित्ववाद का काल्पनिक साहित्य सृजन मे विश्वास नही रहता। वह व्यक्ति जीवन के नित्यप्रति के स्वाभाविक सघर्षो को महत्व प्रदान करता है। मानव मुक्ति मे उसकी गहन आस्था है। जूलियन बेन्ट्रा के अनुसार अस्तित्ववाद भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह है। एमानुएल मौनियर के अनुसार अस्तित्ववाद भावो तथा वस्तुओ के अतिवादी दर्शन के विरोध मे मानवीय दर्शन है। ऐलेन के अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है। इस विचार दर्शन मे जीवन की समस्याओ पर विचार मुक्तयोगियो की ओर से होता है। मानव की विशेषता से परिपूर्ण असहाय स्थिति से ही अस्तित्ववाद का आरम्भ होता है। मानव जीवन क्षणभगुर है। कुछ निश्चित नही कि जीवन कब अन्त सीमा पर पहुच जायेगा।

इस अनिश्चतता की स्थिति मे मनुष्य अपने को अनेक बन्धनो मे बँधा हुआ पाता है और देखता है कि उसे स्वतत्रता नही प्राप्त है। वह अपने जीवन को एक निश्चित अर्थ देना चाहता है, भावाभिव्यक्ति की समर्थता से पूर्ण चाहता है और स्वतत्रता का उद्घोष चाहता है—अस्तित्ववाद की सीमा का यही से प्रारम्भ होता है अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रथम सूत्र शून्यता का है। अधिकाश दार्शनिको ने शून्यता को अस्वीकारा है और उस पर सोचने की आवश्यकता भी नही समझी है, पर अस्तित्ववाद इसी पर बल देता है। ईश्वर की सत्ता को अनुपस्थित मानते हुये ही अस्तित्ववाद शून्यता की स्थिति की कल्पना करता है और अनेक प्रश्न उठाता है: जैसे, मैं क्या हू ? अन्य चीजे क्यो अस्तित्व रखती है ? भय और आशका मे इस शून्यता का अनुभव किया जा सकता है। शून्यता का सामना करते हुये व्यक्ति विकृतियो का अनुभव करता है। अत वह जीने की एक सहज गति चाहता है, जबकि उसे समाज मे ऐसा दृष्टिगोचर नही होता। अत. जैसाकि कामू का कहना है, वह अपने आप मे प्रत्येक बातो के स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव करता है, क्योकि वह अपने को भ्रमितावस्था मे तथा चारो ओर से अन्धेरे से घिरा हुआ पाता है। वह जीवन मे सुख चाहता है, पर जीवन की वर्तमान स्थितिया उसकी इस इच्छा की पूर्णता को असभव बना देती है। वह चाहता है कि कोई ऐसी शक्ति हो, जो इसका दिशा-निर्देशन करे और त्रुटियो के प्रति उसे सावधान करे। वह इसके लिए ईश्वर की तरफ देखता है, पर उस को चिर मौन से उसकी स्थिति और भी भयावह हो जाती है। अस्तित्ववाद इस बात पर जोर देता है कि यह विकृतावस्था, जो व्यक्ति के मन और मस्तिष्क को निगल लेती है, उन्हे एक दार्शनिक अथ का अनुगमन करने को प्रेरित करती है, जिसे नोवैलिस ने आत्महत्या कहा है, किन्तु आत्महत्या से केवल नियत्रण हो सकता है उस तत्व का, जो इस अन्धी सृष्टि की विकृतावस्था का तीव्र विरोध करता है। अस्तित्ववाद ईश्वर की सत्ता के प्रति अनास्था प्रकट करता है। वह इस बात की कल्पना करता है कि ईश्वर के न होते हुए भी सभी चीजें घटित

होती हैं। वह नीत्शे के प्रसिद्ध सूत्र 'ईश्वर की मृत्यु' से अपना यह निष्कर्ष प्रतिपादित करता है। उसके मतानुसार ईश्वर इस भ्रमित सत्ता का नाम है, जिस पर हम अपनी जिम्मेदारिया डालकर भाग्यवादी और फलस्वरूप पलायनवादी बन जाते है। इस प्रकार हम अपनी विषमताओ का समाधान स्वय करने से बचना चाहते हैं। हमे इस भ्रम की स्थिति से बचना चाहिए तथा अपने आपको समझने का प्रयत्न करते हुए अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए एव अपनी मानवीय स्थिति को तथा स्वतत्रता की भली भाति समझना चाहिए।

मनुष्य को इस सृष्टि के दायित्व निर्वाह करने की क्षमता को उत्पन्न कर सारी जिम्मेदारियाँ स्वय सँभालनी चाहिए और ईश्वर की अनुपस्थिति अथवा मौन सत्ता के स्थान पर स्वय अपने को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए। उसे स्वय अपना अस्तित्व मे निर्मित करना चाहिए और अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकारनी चाहिए। अस्तित्ववाद मनुष्य के पूर्ण अस्तित्व मे विश्वास रखता है। उसके अनुसार वह प्लेटो की गुफा में कोई छाया नही है जो आदर्श और स्थायी विचारो की कामना करता हो। वह एक ऐसा नमूना भी नही है, जिसे सामान्य अर्थों मे 'मानव-स्वभाव' कहते हैं। वह ससार मे फेके हुए पत्थर के समान भी नही हैं, जिसे जहाँ चाहे, वहाँ फेका या रखा जा सकता है। वह सृष्टि मे इसीलिए आया है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए यह जीवन जीए। यदि ऐसा अवसर सहज रूप मे नही प्राप्त होता तो उसे प्रयत्न कर अपने लिए ऐसी स्थिति निर्मित करनी होगी। इस धरती पर उसका कार्य कुछ पूर्ण स्थापित योजनाओ को पूर्ण करना मात्र नही, वह उन बातो का पूर्ण करने आता है, जो स्वय उसी के लिए विशेष रूप से प्रारम्भ होती है। वह अस्तित्व रखता है—इसके लिए वह स्वय अपने को महत्व देता है तथा दूसरो को भी महत्व देता है। वह अपने लिए अलग मूल्यो का निर्माण करता है, साथ ही अपने अलग मानव स्वभाव का भी। यह सब वह जीवन जी करके विशेषतया अपने को आगे गतिशील करके करता है। वह यह विश्वास करता है कि कोई भी कुछ अन्य नही हैं। यदि कुछ है, तो बस अपना ही अस्तित्व और जीवन है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने स्वत्व के साथ एक विषय है प्राप्त करने के लिए, न कि एक उद्देश्य है, जानने के लिए। अस्तित्ववादी साहित्य मनुष्य की साधारण बाते, प्राकृतिक मनोवेगो और समाज के यथार्थ को महत्वहीन समझता है। यह मनुष्य को उसके अस्तित्व के असाधारण महत्व का यथार्थ समझाने का प्रयत्न करते हुए उसी दिशा मे गतिशील करता है। अस्तित्ववाद मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपना मूलभूत आधार स्वीकारता है। इसके अनुसार मनुष्य को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वह प्रत्येक दृष्टि से स्वतन्त्र हो। वह वही करता है जो उसकी इच्छा होती है। यह स्वतन्त्रता यदि व्यक्ति नही चाहता तो इसीलिए कि उस पर इतने दबाव है, तथा वह इतना भयभीत है कि इस दिशा मे सोच ही

नही पाता, पर वह अपनी स्वतन्त्रता का महत्व समभता है। यह मनुष्य की अकेली सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। अत. इस स्वतन्त्रता के प्रति मनुष्य की चेतना को जाग्रत करने और उसे इस दिशा मे सक्रिय रूप से प्रयत्नशील बनाने के लिए साहित्यिक रचनाओ तथा राजनीतिक एव पत्रकारिता सम्बन्धी कार्यों का दायित्व बढ जाता है।

इस स्वतन्त्रता को प्रत्येक सम्भव प्रयत्नो से प्राप्त करना चाहिए, तो उसके छिन जाने का भय है। अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व का आधार है। इस प्रकार अस्तित्ववाद एक दर्शन है, जो जीने से सम्बन्धित है। साहित्य मे अस्तित्ववाद के प्रणेता मुख्यतया ज्याँ-पाल सार्त्र (१९०५--) ही समझे जाते है। जिन्होने अपने नाटको एव उपन्यासो के माध्यम से इस दर्शन का प्रतिपादन किया। उसके अनुसार मनुष्य का अर्थ है स्वतन्त्रता। इस स्वतन्त्रता का अनुभव मानव मन मे तभी होता है जब अपनी जीवन प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे वह तल्लीनता पूर्वक विचार-चिंतन करता है और उससे जो निष्कर्ष निकालता है। वह स्वय उसी के लिए अत्यन्त व्यापक हैं और इसमे इसमे उसकी लघु सत्ता कोई विशेष महत्व नही रखती। उसके चारो ओर नितान्त शून्य की स्थिति व्याप्त है, जिसमे एक प्रकार से उसका उन्मीलन हो जाता है। इस शून्यता मे अपने अस्तित्व के उन्मीलन के भाव के मानव पूर्णतया सत्रस्त हो उठता है और इस शून्य के वातावरण से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहता है, जिससे उसकी पूर्णता बनी रहे, उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहे और इस सृष्टि की व्यापक सीमाओ के परिवेश मे आच्छादित शून्य की बाहें उसे डस न लें। अस्तित्ववाद का प्रारम्भ मनुष्य की इसी इच्छा से होता है। अभी तक दार्शनिको ने उन दोनो भावनाओ मे अलगाव की स्थिति उत्पन्न की थी जिसमे एक व्यक्ति के अस्तित्व के नियम का कारण था तथा दूसरी यह प्राकृतिक सृष्टि थी, जिसे निश्चय ही शासन करना चाहिए और जिसकी सर्वोच्च सत्ता सर्वोपरि है, उसका उन्मीलन नही हो सकता। अस्तित्ववादियो के लिए यह अलगाव की स्थिति ही अभी तक प्राप्त सभी उपलब्धियो की नीव है और दोनो के मध्य समझौते की स्थिति उत्पन्न करना तथा इस अलगाव की स्थिति का दमन करना स्वय व्यक्तिगत अस्तित्व को ही समाप्त करना है। अस्तित्ववाद हीगल द्वारा प्रतिपादित पूर्णता का सिद्धान्त दो कारणो से अस्वीकृत कर देता है·

१ इतिहास-दूसरो द्वारा किए गए व्यक्तिगत निर्णयो का परिणाम सूचक सत्यता से परिपूर्ण निष्कर्ष है और अस्तित्व रखने वाले व्यक्ति के प्रति उसका कोई अधिकार नही है, जब तक कि वह व्यक्ति स्वय उसे ऐसा अधिकार देना नही पसन्द करता।

२ ज्ञान अतीत काल का केवल आशिक ज्ञान ही हो सकता, भविष्य की सीमाए सदैव खुली रहती हैं। मनुष्य स्वय ही मनुष्य का भविष्य है।

वे कान्ट की अमूर्त पूर्णता को एक समाधान के रूप मे भी नही स्वीकारते, क्योकि मनुष्य मे ऐसा तत्व विद्यमान नही है, जिसका दूसरो पर शासन करने एव नियत्रित करने का अधिकार है। मनुष्य मात्र वही है, जो वह करता है। तब भी वह इससे भी अधिक कुछ और है। वह अपने आप मे कोई तत्व या निष्कर्ष बने। अपने स्वत्व और ऐतिहासिक अस्तित्व का वास्तविक वाह्य जगत मे उन्मीलन कर कर देता है और मानव बन जाता है। इस मानव का स्वरूप वही होता है, जैसा कि वह अपने को बनाता है। व्यक्तित्व की अन्यतम गहराइयो का कोई अधिकृत्त स्वत्व नही है, जो अच्छाइयो की आत्मा का रूप होती है और जिसके साथ व्यक्ति प्राय: या कदाचित कभी भी पूर्ण न्याय नही करता। वह इसीलिए क्योकि वह सदैव ही दृष्टि मे और अपने स्वय से भी कुछ और रहता है। उसे बराबर चिन्ता बनी रहती है कि वह जो कुछ भी है अगर उससे कम हो जाएगा, तो फिर उसका क्या होगा ? इसीलिए अच्छाइयो और बुराइयो मे यह अपने स्वय से भी कुछ और सदैव ही रहा है और यही अलगाव-व्यक्तिगत अस्तित्व का सिद्धान्त है। व्यक्ति सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ अर्थ रखती है, उसका अपहरण नही होना चाहिए, समाज मे मैं भले ही भिखारी हूं, अपाहिज हू, लूला या लगडा हू, तिरस्कृत हू, पर मेरा अस्तित्व अर्थहीन नही है, उसे नष्ट नही किया जाना चाहिए, चाहे कुछ भी हो जाए। वह किन्ही भी परिस्थितियो मे नही चाहता कि उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण हो और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाए। दूसरे शब्दो मे वह बराबर अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष करता चलता है। यह वास्तव मे अस्तित्ववाद है। इसकी सृष्टि से भी अलग कर देता है। इसके दर्शन की अनेक समस्याएँ उठ खडी होती है। जो इस बात की की संगति सिद्धि करने का प्रयत्न कदापि नही करती कि मनुष्य का स्वय अपने से ही और इस सारी सृष्टि से अलग हो जाना उचित और तर्क सगत है। बल्कि वे अलगाव की सीमाएँ बराबर व्यापक बनाने का प्रयत्न करती हैं कि मनुष्य के लिए अलगाव नितान्त रूप से अनिवार्य है, क्योकि केवल इसी के माध्यम से वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व की रक्षा कर सकता है और अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण होने से बचा सकता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद अपने सम्बन्ध मे उठाई गई शकाओ का समाधान करने का प्रयत्न नही करता और न इस प्रकार की प्रयत्नशीलता की आवश्यकता ही अनुभव करता है।

इन शकाओ की ओर अपना ध्यान वह तभी आकृष्ट करता है और उनके समाधान करने का प्रयत्न करता है, जब वे पूर्ण मानव से सम्बन्धित होकर अनिवार्य और अनुपेक्षणीय बन जाती हैं। ये शकाए केवल परम्परागत शंकाएँ नही हो सकती और न ही ये जिज्ञासा की अरुचिपूर्ण शकाएँ ही हो सकती हैं जो ज्ञान की शर्तों या

नैतिक एवं सौन्दर्यवादी निर्णयो से सम्बन्धित होती है, क्योकि मनुष्य का स्वय अपने से और इस वाह्य जगत से अलगाव की प्रवृत्ति से सम्बन्धित जो प्रश्न उठाए जाते है, वे सभी प्रश्न स्वय उसके और इस वस्तुगत विश्व के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ मे अस्तित्ववाद कर इतिहास बहुत प्राचीन है और उसका सम्बन्ध दर्शनशास्त्र के प्रारम्भ से जोडा जा सकता है, जबकि वह इस बात की अपील सभी मानवो से करता है कि उन्हे जागना चाहिए और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके मनुष्य होने का अन्तत. वास्तविक अर्थ क्या है। दूसरे शब्दो मे वह पुनः यह चेतावनी देने का प्रयत्न करता है कि उनकी स्वतन्त्रता खतरे मे हैं, जिसका अपहरण किसी भी क्षण हो सकता है उनका अस्तित्व यहाँ कोई अर्थ नही रखता,जो किसीभी क्षण मिटाया जा सकता है। आश्चर्य है कि ऐसे सकट के समय, जबकि उनकी स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत सत्ता और अस्तित्व को इस सृष्टि के व्यापक परिवेश ने जबर्दस्त चुनौती दी है, वे सो रहे हैं, या इस तरफ से असावधान है; और अपनी स्वतन्त्रता एव अस्तित्व के सम्बन्ध मे किंचित् मात्र भी चिंतित नही हैं। अस्तित्ववाद व्यक्ति के इस सोने से जागने और अपने को समझने की प्रेरणा दने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। यहाँ सार्त्र के अनुनार चेतनशील होने का अर्थ यह है कि हम किसी वस्तु के प्रति चेतनशील हैं। चेतनशीलता किसी वस्तु के सम्बन्धित होती है और उससे अलग होती है। वह स्वयं अपने से न तो सम्बन्ध जोडती है और आत्मनिर्भर है। सृष्टि का सम्बन्ध अवश्य ही चेतना से विच्छिन्न किया जा सकता है, इसलिए नही कि चेतना महत्वपूर्ण स्थान रखती है या स्वतन्त्र है, वरन् इसीलिए कि वह इस सृष्टि मे शून्य के रूप मे आती है, जो विचार करता है, बल्कि सभी तत्वो का अलगाव है। यह अलगाव कभी पूर्ण नही होता। ज्ञान का मूलभूत आदर्श यह है कि किसी भी वस्तु को उसके मूलरूप से देखा और समझा जाए। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब चेतना बस्तु के साथ स्वय अपने आप को पहचानने और तभी कोई चेतनशीलता नही हो सकती और न ज्ञान की सम्भावना हो सकती है। अत. ज्ञान का वह अर्थ नही है, जैसा कि कान्ट के सिद्धान्तो मे प्रतिपादित किया है कि ज्ञान के माध्यम से हम वस्तुओ को स्वय उनके मौलिक रूप मे जानने और समझने मे असमर्थ रहते हैं, वरन् सीधे सीधे तौर पर यह अर्थ है कि यह पूर्णतया मानवीय है और यह कि चेतनशीलता का अलगाव जिससे एक ऐसी सृष्टि का अस्तित्व प्रकाश मे आता है, जिसे जाना जा सकता है।

ज्ञान हमे पूर्णता की स्थिति मे ढकेल देता है। वहाँ वस्तुत क्या है और उसकी आत्मा क्या है—सत्य रूप मे जो जाना जाता है, वह कुछ और नही, वरन् वही पूर्णता है। किन्तु ज्ञान निश्चित रूप से मानवीय है। मानवीय होने के अतिरिक्त वह कुछ और हो ही नही सकता। और चूंकि शरीर और समझ दोनो स्वय ही ज्ञान के प्रथम उद्देश्य है अतः वह बहुत अधिक तर्कसगत नही होगा कि उन्हे ज्ञान के

अर्थ अथवा पृष्ठभूमि के रूप में समझा जाए। हम दूसरो के शरीर को जानते हैं और स्वय हमारा शरीर दूसरो द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार दूसरो का अस्तित्व और हमारा दूसरो से सम्बन्ध शरीर से सम्पृक्त होता है। एक व्यक्ति का दूसरे से सम्बन्ध क्यो है? इसका कोई बौद्धिक कारण बताने मे यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनो ही नितान्त रूप से असमर्थ रहे है। फलस्वरूप वे स्वय के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता को भी अस्वीकृत करने मे असमर्थ रहे हैं, जो विषयगत आदर्शवाद का चरम रूप है। एक व्यक्ति इस बात का अन्वेषण करता है कि उसकी स्वतन्त्रता दूसरो द्वारा नियन्त्रित है और उसका एक वाह्यरूप है, जिसे वह कभी नही देख सकता और जो उसे पूर्णता प्रदान करती है। इस पूर्णता का सम्बन्ध मात्र मानव से होता है, जिसका जीवन समाप्त हो चुका है और जिसकी सम्भावनाएँ भी समाप्त हो चुकी है। दूसरे का ध्यान रखते हुए औपचारिकता मे वह व्यक्ति खो जाता है। वह यह भी नही जानता कि उस ससार मे जो उसका अपना नही हैं, उसका अस्तित्व कहाँ है? यही वह परिस्थिति है, जो घटित होती है जबकि वह दूसरे का उद्देश्य बन जाता है और वही उसका इस संसार मे संगठन करता है। यह सम्बन्ध इस ससार मे मैं शरीरो के मध्य वस्तुगत सम्बन्ध नही है, यह ससार के मध्य कोई सम्बन्ध ही नही है। उस व्यक्ति की उच्चता पीछे छूट जाती है और वह दूसरे की उच्चता के विद्यमान होने के यथेष्ट प्रमाण सामने होने का अनुभव करता है। इस अनुभव मे स्वयं के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता का बहिष्कार ही नही होता, वरन् पूर्णतया खण्डित हो जाता है। यह सब दूसरो का ध्यान रखने की औपचारिकता के ही कारण होता है। उस व्यक्ति का और दूसरे का अलगाव दो शरीरो के अलगाव की भाति नही है, जो इस ससार मे किसी तीसरे के लिए किया जाता है। स्वय अपने को निश्चित करने के लिए वह व्यक्ति स्वय अपने को दूसरे का उद्देश्य स्वीकार लेता है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, चेतनशील होने का अर्थ है कि इस विश्व की पृष्ठभूमि पर किसी वस्तु के प्रति चेतनशील होना। यह चेतनशीलता प्रभावशाली तो है, पर सर्वज्ञ नही है। इसे जाना नही जा सकता। इस प्रकार शरीर तीन दिशाओ मे अपना अस्तित्व बनाए रखता है' वह व्यक्ति अपना शरीर जीता है। उसका शरीर दूसरो द्वारा जाना और प्रयुक्त किया जाता है और जैसे कि वह दूसरा उसके लिए विषय है और वह स्वय अपने लिए ही अपना अस्तित्व रखता है, जिसे दूसरा एक शरीर के रूप मे ही जानता है। प्रेम मे यह दूसरे की स्वतन्त्रता ही होती है, जिसे वह जोडना चाहता है, या स्वतन्त्रता के रूप मे हस्तगत करना चाहता है। क्योकि यह दूसरे की स्वतन्त्रता ही होती है, जो एक को दूसरे से अलग करती है। प्रेम करने मे वह यह चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है, वह उसे अपना उद्देश्य बनाये रखने के लिए ही अपना अस्तित्व

बनाए रखे और इस प्रकार वह उसके अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखने का कारण बने। इसीसे उसे अस्तित्व प्राप्त होता है। वह जिससे प्रेम किया जाता है, तभी प्रेमी बन पाता है, जब उसके अन्दर यह इच्छा दृढ हो जाती है कि कोई उससे प्रेम करे। पर कुछ भी हो, हम दूसरे की स्वतन्त्रता का चाहे जितना भी सम्मान क्यो न करें और इसके निराकरण का कोई उपाय क्यो न करे, स्वयं हमारा अस्तित्व दूसरो की स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसे नियन्त्रित कर देता है। यहा तक कि आत्महत्या भी इस मौलिक स्थिति मे कोई परिवर्तन नही ला सकती।

इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि एक व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता हस्तगत नही कर सकता और जब वह किसी दूसरे के ध्यान का उद्देश्य बन जाता है, तब वह बदले मे स्वय अपना ध्यान उसे दे देता है, गोयाकि दो स्वतन्त्रता सर्वोच्चता के लिए परस्पर सघर्ष कर सकती है। पर ज्योही वह दूसरे को अपना ध्यान दे देता है, दूसरा व्यक्ति तुरन्त ही उसका उद्देश्य बन जाता है। इस अर्थ मे एक दूसरे से घृणा करने की प्रक्रिया मे एक वस्तु किसी विशेष वस्तु से घृणा नहीं करती, वरन् उन तत्वो से घृणा करती है, जिसके माध्यम से वह दूसरा व्यक्ति इसे अपना उद्देश्य बना लेता हैं और इन तत्वों से घृणा करके वह व्यक्ति सबको समूल नष्ट करने की इच्छा को जन्म देता है। यह दूसरो के अस्तित्व का सामान्य नियम हैं। घृणा एक कलकित भावना है, क्योकि इसका उद्देश्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करना होता है। इस घृणा की निन्दा होनी चाहिए, पर यदि किसी प्रकार घृणा की विजय हो भी जाती है, तो भी यह दूसरे की चेतना से कभी छुटकारा नहीं पा सकती और स्वय के अस्तित्व के सिद्धान्त की एकमात्र निश्चिन्तता के खोए हुए तत्वो को पुन प्रतिष्ठापित नही कर सकती। घृणा वस्तुत निराशा का अन्तिम अस्त्र है और ठीक जैसे कि अपने संगठन के रूप मे हम दूसरो के लिए अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे चेतनशील रहते हैं, उसी प्रकार हम यह भी जानते हैं कि मानवता के अस्तित्व के परिवेश मे अधिक मात्रा मे चेतनशीलता की सम्भावना बनी रहती है। यह दूसरो के लिए या तो उद्देश्य या विषय के रूप मे अपना अस्तित्व बनाए रखती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि स्ततन्त्रता मानव स्वभाव की उत्पत्ति नही है, वरन् मानव अस्तित्व है। इस स्वतन्त्रता का मूलोच्छेदन किया जा सकता है, पर इसे पूर्णतया नष्ट नही किया जा सकता। यह सृष्टि मृत्युगत है और अतीतकालीन सृष्टि है। जीवन की स्वतन्त्रता का अर्थ अलगाव है। इस सृष्टि मे मनुष्य की उपस्थिति जीवित रहने का रूप नही, वरन् कार्य करने का एक रूप है, चुनाव करने और अपने आपको बनाने का रूप है। इस प्रकार स्वतन्त्रता-स्वय नही जीती, यह मनुष्य के जीवित रहने की प्रक्रिया है।[1]" रिपब्लिक ऑफ साइलेन्स" मे सार्त्र ने कहा है कि हम कभी भी उतना अधिक स्वतन्त्र नही थे, जितना

१. ज्याँ-पाल सार्त्र : इग्जिस्टेन्यिलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म, (१९४६), पृ० ३२।

जर्मन आधिपत्य के दिनो मे। हम अपना सभी अधिकार यहाँ तक कि बोलने का अधिकार भी खो चुके थे। प्रतिदिन खुली आखो अपना अपमान देखते और इसे मौन रहकर सहना पडता। एक न एक बहाने से श्रमिक, यहूदी, या राजनीतिक बन्दी के रूप मे झुण्ड के झुण्ड लोग देश से बाहर निकाले जाते। सब कही अखबारो मे, सिनेमा मे, सूचना पटो पर हम अपनी वह निराश और निर्जीव शक्ल देखते जो हमारे विजेता दिखाना चाहते। और इसी सब कुछ के चलते हम स्वतन्त्र थे। चू कि नाजी जहर हमारे विचारो मे पूर्णतया भर रहा था, अत प्रत्येक उचित धारणा एक विजय थी, चू कि शक्तिशाली पुलिस हमारी जबाने बन्द करने के प्रयास मे सलग्न थी, अत. प्रत्येक शब्द सिद्धान्त को उद्घोषित करता था। चू कि पुलिस निरन्तर हमारे पीछे पड़ी थी, इसलिए हर मुद्रा एक शान्त सकल्प या प्रतिश्रुति थी। चू कि परिस्थितिया सदैव ही अत्याचारो से परिपूर्ण थी, इसलिए उन्होने हमे एक असम्भव अस्तित्व, जो मनुष्य की नियति थी, जीने के योग्य बनाया। देश-निष्कासन, कारावास और विशेष रूप से मृत्यु (जिन्हे हम प्रसन्नता के दिनो मे भोगने से कतरात हैं) हमारे लिए अभ्यास की चीजे बन गयी। हमने जाना कि वे चीजे न तो अपरिहार्य अघटनाए हैं, न तो स्थिर और शाश्वत खतरे फिर भी यह हमारी नियति हैं, मनुष्य के रूप मे हमारे लिए यथार्थ जीवन के स्रोत। प्रत्येक क्षण हम इस सामान्य कथन के पूर्ण अर्थ के साथ जीते रहे कि मनुष्य नाशवान है।' और हममे से प्रत्येक ने जीवन का जो चुनाव किया, वह एक उचित निर्णय था, क्योकि वह मृत्यु, के आमने-सामने खड़े होकर किया गया। उन्हे मात्र इन्ही शब्दो मे प्रकट किया जा सकता था, चाहे मृत्यु, किंतु '! और मैं यह मात्र उन बुद्धिजीवियो के सम्बन्ध मे नही कह रहा, जो प्रतिरोध आन्दोलन मे सम्मिलित थे, वरन् उन तमाम फ्रान्सिसियो के सम्बन्ध मे भी, जो चार वर्षो तक रात दिन कभी भी, किसी क्षण सिर्फ नही' कहने के लिये प्रस्तुत थे। उस निर्दय व्यवहार ने हमे उस स्थिति में पहुचा दिया, जहां मात्र ऐसे ही प्रश्न पूछे जा सकते थे, जैसा मनुष्य कभी भी शान्ति के दिनो मे नही पूछता। हममे से कभी जो प्रतिरोध आन्दोलन के बारे में थोडा बहुत भी जानते थे, अपने से ही पूछते थे, 'यदि उन्होने सीमा का अतिक्रमण कर हम पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया, तो क्या मैं मौन रहने मे सफल हो सकूँगा?' इस तरह स्वतत्रता का मौलिक प्रश्न उपस्थित हुआ और हम उस वेदी पर खड़े हो गये, जहाँ वह गम्भीर ज्ञान प्राप्त होता है, जो एक मनुष्य स्वय अपने से ही पा सकता है। क्योकि मनुष्य जीवन के रहस्य उसका 'ईडिपस कॉम्पलेक्स' या हीनता ग्रन्थि नही है, वरन् यह उसकी निजी स्वतन्त्रता की तथा मृत्यु और अत्याचारो को सहने की शक्ति की सीमा है। फरार रहकर छिपे तौर से प्रतिरोध आन्दोलन का कार्य करने वालो के लिए यह लडाई सर्वथा भिन्न ढग की थी। वे खुले में सैनिक की तरह नही लड़ते थे, अकेले, उत्साहपूर्ण मित्रता

के एक शब्द के बिना भी, फिर भी हृदय की अन्यतम एकान्तिकता में, वे दूसरे ही थे, जिनकी वे रक्षा कर रहे थे, साथी जो उनके साथ प्रतिरोध आन्दोलन मे कार्य कर रहे थे। पूर्ण एकान्तिकता मे पूर्ण उत्तरदायित्व—क्या यही स्वतन्त्रता की भी परिभाषा नही है ?

सार्त्र के अनुसार वस्तुओ का निर्णय वस्तुओ के द्वारा ही होता है, स्वतन्त्र होने के कारण मानव मस्तिष्क किसी प्रकार के नियत्रण को सहन नही करना चाहता। स्वतन्त्रता क्या है —इसके उत्तर मे नीत्शे ने कहा था कि यह आत्म उत्तरदायित्व की इच्छा के अतिरिक्त और क्या है, सार्त्र के 'कमिटमेण्ट' या प्रतिश्रुति का बीज नीत्शे के इसी मत मे अन्तर्निहित है। 'द रज ऑव रीजन' तथा रिप्राइव' मे सार्त्र ने इसे और भी स्पष्ट किया है। अन्ध प्रतिश्रुति, विशेषतया एक निश्चित लक्ष्य के लिए प्रचारित किसी मत या पद्धति के प्रति प्रतिश्रुति, चेतना के साथ बलात्कार है। मनुष्य समाज या समूहो से असम्पृक्त नही रह सकता और न चाहते हुये भी उसे इनसे सम्बन्ध बनाए रखना पडता है, अत उत्तरदायित्व की भावना के प्रति प्रतिश्रुति अनिवार्य है। प्रतिश्रुति स्वय की स्वतन्त्रता के प्रति होनी चाहिए, साथ ही मानव नियति के परस्परावलम्बन के प्रति। सार्त्र की प्रतिश्रुति की पवित्रता एव गम्भीरता मृत्यु के साक्ष्य से प्रमाणित हुई। वह ईमानदारी के साथ प्रतिश्रुत है या नही, इसका निर्णय कोई अन्य शक्ति स्वय नही कर सकता है। सार्त्र के अनुसार साहित्य और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। साहित्य अपनी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति मात्र नही, एक सामाजिक वस्तु है, अत. लेखक मे पाठक के अस्तित्व का बोध होना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। लेखक का एकमात्र उद्देश्य होता है कि वह सृष्टि का चित्रण पाठको के सामने इस प्रकार करे कि स्वतन्त्रत स्थितियाँ मनुष्य मे और भी अधिक स्वतन्त्रता की भावना का प्रचार एव प्रसार कर सके। या लेखक के लिए आवश्यक होता है क्योंकि वह पाठको से मूल्यो के मानदण्ड, विचार एव और पूर्ण सजगता के स्वतन्त्र सहयोग की अपेक्षा करता है। प्रत्येक ऐतिहासिक स्थिति मे लेखक की सृजनशीलता के साथ-साथ विनाश की क्षमता की परीक्षा होती है और पाठक के सामने इस बात का स्पष्टीकरण करना ही उसका दायित्व होना चाहिये। सार्त्र का विचार है कि साहित्य एक क्रान्तिपूर्ण जाति की सब्जेक्टिविटी है। यहाँ यह स्वीकृत कर लिया गया है कि व्यक्ति की मौलिक रुचि कुछ और नही वह मार्ग है, जिसमे व्यक्ति स्वय अपने को अपने से और इस ससार से असम्पृक्त करता है, 'बीइगं एण्ड नथिगनेस' मे उसने लिखा है कि यह उसके इस ससार मे रहने का ढंग है। इसके आगे कदम बढ़ाना बिल्कुल ही सम्भव नही है। यह विश्लेषण एक अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण की सम्भावना की ओर सकेत करता है, जिसके माध्यम से व्यक्तित्व और व्यवहार को समझा और समझाया जा सकता है। यह फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण के सिद्धान्त

विशेषतया उसके अतीतकालीन घटनाओ, अतृप्त आकाक्षाओ, वासनाओ एव कामनाओ वाले अवचेतन मन के सिद्धान्त से भिन्न है। यह परिस्थितियो एव वातावरण के दबाव पर बल देता है। व्यक्ति स्वय अपने कार्यों से अपने चारो ओर परिवेश को अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, साथ ही उन घटनाओ को भी, जो उसके कार्यो को प्रभावित करती हैं। वह स्वय अपनी परिस्थिति निर्मित करता और स्वय ही उसके प्रति उत्तरदायी है। यही वह स्थिति है, जिसमे व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और जब वह व्यक्ति जो कुछ वहाँ है, उससे अपनी चेतनशीलता मे अलग हो जाता है, तब वह सृष्टि का निर्णय नही करता, वरन् उसग्र अस्तित्व और अपने लिये उसके अर्थ का निर्माण करता है।

सार्त्र के अनुसार मृत्यु आकस्मिक होती है, इसीलिए वह निन्दनीय है। वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति मे असमर्थ रखती है, वह उस अर्थ को सन्देह एव रहस्य की स्थिति मे छोड़ सकती है अत मृत्यु किसी व्यक्ति की विचित्र सम्भावना नही हो सकती। जीवन स्वयं अपने अर्थ का निर्णय करती है, क्योकि वह सदैव रहस्य मय रहता है। मृत्यु जीवन की ही भाँति शुद्ध सत्य है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे उत्तर दायित्व की भावना निहित रहती है। इस उत्तरदायित्व से बच निकलने की किसी सम्भावना के बिना व्यक्ति अपने उद्देश्यो के प्रति स्वय ही उत्तरदायी होता हैं क्योकि वह केवल उसका अपना उद्देश्य होता है और वही उद्देश्य उसकी स्थितियो को निश्चित करता है। वह जीया जाता है, सहा नही जाता और व्यक्ति अपने जीवन की ऊची-नीची राहो अच्छे-बुरे कार्यों के प्रति स्वय उत्तरदायी होना है, क्योकि वह अपने जीवन इतिहास का लेखक होता है। यहाँ तक कि यदि उसके जीवन मे कोई युद्ध होता है,तो वह उस युद्ध के लिए उत्तरदायी है। सार्त्र के इस अस्तित्ववादी सिद्धान्त को यह कह कर कि उसका दर्शन निराशावादी और घुटन से परिपूर्ण है, तिरस्कृत किए जाने का प्रयत्न किया जाता है। उस पर यह भी दोषारोपण लगाया जाता है कि उसका सिद्धान्त मानव जीवन की समस्याओ पर कोई प्रकाश नही डालता और न किसी को इस बात मे सहायता देता है कि वह कैसे और भी अच्छे एव तर्क सगत ढग से अपना जीवन जी सके।

आँचलिक कहानियो मे किसी अचल विशेष, स्थान विशेष या ग्राम विशेष को कथानक का आधार बनाया जाता है। मानव-जीवन का फैलाव अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है और आँचलिक कहानीकार बजाय उस व्यापक फैलाव मे जाने के एक छोटे से अचल को चुन लेता है! वहाँ के रीति-रिवाजो, धर्म-सस्कृति, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभाव एव स्थिति तथा मानवीय प्रवृत्तियो को वह विस्तृत परिवेश मे चित्रित करने का कलात्मक प्रयास करता है, जिससे वह कहानी एक अचल विशेष की होते हुए भी सर्वजनीनता प्राप्त कर लेती है। आँचलिकता परिपार्श्व के स्थान पर

यथार्थ को स्थायी महत्व प्रदान करती है। सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति आँचलिकता में भी उतनी ही गहन होती है, जितनी अन्य कहानियो मे। कथा के एक अचल विशेष तक सीमित होने के कारण उसमे किसी भी रूप मे सीमितता नही आ जाती। कहानीकार की कलात्मकता एव व्यापक जीवन दृष्टि उसे निरन्तर नवीन आयाम प्रदान करती है जिससे वह व्यापक परिवेश प्राप्त कर लेती है। वस्तुत अचल है क्या ? कहा गया है, वह परिवेश है और परिवेश का चित्रण कहानी की सीमा-रेखा से बहिष्कृत है, चाहे वह नगरीय परिवेश हो, या ग्रामीण। फिर नगरीय परिवेश को कु ठाग्रस्त, विकृत एव ग्रामीण परिवेश को 'उदात्त', 'स्थायी' कहने का किसी को कोई अधिकार नही होना चाहिये। पर यह तर्क सगत नही है। पहली बात तो यह है कि ग्रामीण परिवेश आज की परिवर्तित परिस्थितियो मे अब भी नगरीय परिवेश की तुलना मे आदर्श और यथार्थ की दो सीमा रेखाओ मे उदात्त तत्वो पर आधारित है। मानव मूल्य, सहानुभूति, प्रेम और आत्मीयता का बहिष्कार ग्रामीण अचल से अभी उस अश मे नही हो पाया है, जिस मात्रा मे नागरीय परिवेश से तिरोहित होते जा रहे है। दूसरी बात यह है कि चू कि ग्रामीण परिवेश मे 'उदात्त' एव 'स्थायी' तत्व अधिक है, इसीलिये आँचलिक कहानियो की रचना का आधार ग्रामीण अचल को बनाया जाता है। वस्तुत इस आँचलिकता का यह उद्देश्य ही नही होता और जब अचल क्या है—का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता है, तो नगरीय और ग्रामीण अचलो की बात उठाकर उस पर उदात्त एव स्थायी तत्वो की लीपापोती करना बड़ा अर्थहीन प्रतीत होना है। यह अचल ग्रामीण भी हो सकता है, नगरीय भी। यह अचल एक कस्बे का भी हो सकता है, एक मुहल्ले का भी। इस प्रकार अचल का अर्थ ग्राम या नगर ही नही होता। आँचलिक कहानियो मे किसी अचल विशेष को कथा का आधार बनाकर वहाँ की सामान्य प्रवृत्तियो को व्यापक परिवेश मे चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है। फिर प्रश्न उठ सकता है कि सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या है ? सामान्य प्रवृत्तियो से मेरा अभिप्राय उस अचल की सस्कृति मान्यता, मानवीय स्वभाव, छल कपट, ईर्ष्या-द्वेष-प्रेम सहानुभूति, लोकभाषा, लोकव्यवहार तथा सामाजिक-राजनीतिक प्रभाव एव स्थिति से हैं। इस सीमित कथा की पूर्णता भी लेखक के लिए 'अपूर्ण' रहती है, वह इसे समूचे राष्ट्र की सामान्य परिस्थितियो से सम्बद्ध कर 'पूर्ण' और सर्वजनीन बनाने का प्रयत्न करता है।

धर्मवीर भारती

निम्न एवं मध्यवर्ग के यथार्थ को लेकर धर्मवीर भारती ने अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी है। उन्होने कम लिखा है, पर निरन्तर बेहतर लिखना ही उनका लक्ष्य रहा है। वे वस्तुतः सामाजिक परिधि की यथार्थता को अभिव्यक्ति देने वाले कहानीकार हैं, इसलिए उनकी कहानियो मे समष्टि चिंतन का ही प्रकाश हुआ है।

उन्होने समाज के कटु यथार्थ को बहुत निकट से देखा है, स्वय झेला है और स्वानुभूति के स्तर पर लाकर उसका प्रभावशाली चित्रण भी किया है। चूंकि वे सफल कवि भी हैं, इसलिए उनकी कहानियो मे काव्यात्मकता के साथ मधुरता का आ जाना स्वाभाविक ही है, पर यह उन्हे सत्य विमुख या अतिरिक्त रूप से भावुक नही बनाती, वरन् उनकी कहानियो मे अपूर्व सवेदनशीलता उत्पन्न करती है। धर्मवीर भारती का एक कहानी सग्रह 'चाँद और टूटे हुए लोग' वर्षो पूर्व प्रकाशित हुआ था। उसके बाद उनकी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ 'गुल की बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो', 'यह मेरे लिए नहीं' तथा 'बन्द गली का आखिरी मकान' आदि प्रकाशित और चर्चित हुई हैं। इनके अतिरिक्त उनकी दूसरी उल्लेखनीय कहानियाँ 'मुर्दो का गाँव', 'हरिनाकुश का बेटा', 'धुआँ', 'मरीज नम्बर सात', 'अगला अवतार', 'कुलटा' तथा 'चाँद और टूटे हुए लोग' आदि हैं। धर्मवीर भारती की कहानियाँ नगरीय धरातल पर अधिक टिकी है और वहाँ के निम्न मध्यवर्ग के जीवन का उन्होने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एव यथाथता से चित्रण किया है। वे प्रारम्भ मे प्रगतिशील आन्दोलन के साथ रहे हैं और उनकी कहानियो पर इसकी छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। पर भारती की कहानियो मे दूसरे तथाकथित प्रगतिवादियो की भाँति सिद्धान्तवादिता अथवा प्रत्येक वाक्य मे सत्य के चाँद और सूरज उगाने के बजाय आस्था, विश्वास भरे सकल्प और सघर्षशील क्षमता की प्रवृत्ति प्राप्त होती है, जिसके कारण ही उनकी कहानियाँ विशिष्टता प्राप्त कर सकी है। भारती के पास कोई 'सिद्धान्त' नही है, वे सिद्धान्तवादी हैं भी नही—उनके पास एक दृष्टिकोण है, जो युग बोध एवं भाव बोध, यथार्थ जीवन परिवेश, आस्था एव सकल्प तथा प्रगतिशीलता से समन्वित है, जिसके कारण धर्मवीर भारती की कहानियो मे एक सजग कलाकार की वह गहरी स्वस्थ जीवन दृष्टि मिलती है, जिसमे सामाजिक विकृतियो एव असगतियो के निराकरण और नये सामाजिक रूप विधान की स्थापना की अकुलाहट है, साथ ही व्यक्ति की गरिमा एवं उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की भावना भी है।

इसका अभिप्राय यह न लगाना चाहिए कि धर्मवीर भारती जब व्यक्ति की गरिमा एव उसके व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा [यह मेरे लिए नही, सावित्री नम्बर दो, चाँद और टूटे हुए लोग] का प्रयत्न करते हैं, तो वे व्यक्तिवादी हो जाते है। भारती का दृष्टिकोण समाज सापेक्ष है, पर वे व्यक्ति सापेक्षता की भी उपेक्षा नही करते और इन्ही दोनो बिन्दुओ के मध्य उनकी कहानी कला विकसित होती है। न वे समाज की उपेक्षा करना चाहते हैं और न व्यक्ति की ख्याति को उसके यथार्थ परिवेश मे देखकर वे परस्पर सामजस्य की स्थिति उत्पन्न करना चाहते हैं क्योकि एक गहरी जीवन दृष्टि सम्पन्न कलाकार की भाँति वे समझते हैं कि व्यक्ति को यदि उसके यथार्थ जीवन परिवेश से असम्पृक्त कर दिया जाएगा, तो वह निर्जीव हो जाएगा और यदि

समाज सापेक्षता की धुन मे व्यक्ति की उपेक्षा की जाएगी, तो वह दृष्टिकोण एकागी होगा, फलत अवाँछनीय भी। अपनी कहानी मे उन्होने इस समन्वय को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। उनका प्रगतिशील दृष्टिकोण एक ओर उन्हे रूढियो अव्यावहारिक परम्पराओ, अन्याय एवं सामाजिक असमानता से उत्पन्न विसगतियो के प्रति विद्रोह करने के लिए विवश करता है, वही आधुनिकता के फैशन मे बह कर तथाकथित नवीन जीवन परिवेश को यो ही स्वीकारने के लिये भी नही प्रेरित करती। उन्होने भविष्य का एक यथार्थ स्वप्न देखा है, जो प्रत्येक आस्थावादी कलाकार देखता है, जिसमे मानवीय चेतन सत्ता के ऊपर से अन्धेरे दम घुटने वाले बादल हटेगे और आशा एव विश्वास की नवीन ज्योति उजागर होगी। पर भारती ने अपने इस सपने को किसी कहानी पर आरोपित करने की चेष्टा नही की है और न इसे उभारने के लिए कोई लम्बी-चौडी भूमिका ही बाँधी है। उन्होने निम्न मध्यवर्ग के बहु-विधिय जीवन पक्षो, समस्याओ एव स्थितियो का अत्यत यथार्थ चित्रण ही इस प्रकार कुशलता से किया है कि उनका दृष्टिकोण पूरी सशक्तता से सामने उभर कर आता है, चाहे वह दीनू (यह मेरे लिये नही) की पुकार हो, बेबसी हो और परिस्थितियो से ऊपर उठने की छटपटाहट हो, या सावित्री (सावित्री नम्बर दो) की करुणा हो, जो अनेक प्रश्न उपस्थित करती है और मानवीय उत्पीडन एव नियति का एक क्रूर मजाक बन जाती है। वास्तव मे यथार्थ चित्रण की यही सफलता होती है कि लेखक अपनी ओर से आदर्श की कोई बात आरोपित न करे, कोई समाधान न प्रस्तुत करे, कोई सस्था न बनाए, वरन् वह यथार्थ स्थितियो का सयोजन ही इस प्रकार करे कि वे कहानियाँ स्वय अपने आदर्श को स्पष्ट करें और अपनी प्रस्तुतीकरण की ही शैली मे समाधान प्रस्तुत करे—धर्मवीर भारती अपनी कहानियो मे इस दृष्टि से सफल रहे हैं।

धर्मवीर भारती अपने को स्वत मे सम्पूर्ण, नि सग, निरपेक्ष, सत्य नहीं स्वीकारते। उनकी कहानियो पर स्वभावतः उनकी परिस्थितियो, जीवन मे आने और आकर चले जाने वाले लोग, समाज, वर्ग, सघर्ष, समकालीन राजनीतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियो का यथेष्ट प्रभाव पडा है। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि कितना अजीब अकेलापन है—राह है—कदम है, घर है, लेकिन कुछ भी नही। एक विराट अनस्तित्व। अँधेरा, अनिश्चय विराट, अथाह और उसके समक्ष मे—निहत्था—अपने अतीत और भविष्य से भी वंचित। जहाँ पहुँचा था, वहाँ से चला हू, जहाँ से चला था, वहाँ जा रहा हू, पर जहाँ पहुचा था, वह डूब चुका है और जहाँ जाना है, वह पता नही, अन्धेरे के पार है भी या नही। एक विराट अनस्तित्व, शून्य अन्धकार इसीलिए भारती स्वीकारते हैं कि शायद हम यह यात्रा जीवन भर करते रहते हैं और कितनी बार, यह अस्तित्व, यह शून्य हमको जीने लगता है और हम पाते हैं कि हमारा समस्त आसपास उजाला, भीड़भाड़, विज्ञान, दर्शन अकस्मात अनस्तित्व मे

लीन हो गया है, लेकिन नही है। अन्धेरे मे है हम—अकेले, निहत्थे, असहाय ? या शायद हम भी नही सिर्फ प्रगाढ अन्धकार मे निहत्थे हाथो की टटोल खोज, खोज··· लेकिन फिर हम पाते हैं कि हम बच गये हैं ··। होता क्या है, कहना कठिन है। बाहर सिर्फ इतना होता है कि यन्त्रचालित गति से कदम उठते जाते हैं। इस दौरान मे अन्दर क्या घटित होता है इसका अनुमान करना कठिन है··· शायद होता है कि हमारे अतीत और भविष्य का जगत दोनो अकस्मात मिथ्या पड जाते हैं। बीच मे बच जाते है हम; वर्तमान क्षण के वह पत्र पर, और ताकि हम जीते रहें—ससार को पुन उत्पन्न होना पडता है भय मे से, यातना मे से, शून्य मे से। उनकी धारणा है कि शायद ससार यथावत् रहता है। केवल अतीत और भविष्य से पूर्णत विच्छिन्न होकर हम अपने अन्दर कही मृत हो जाते हैं और उस क्षण फिर हम अपने को रचते हैं और फिर सबको नये सिरे से धारण करते है। यहाँ भारती को शका होती है कि शायद न ससार नष्ट होता है न हम। केवल हमारी पुरानी जगत-चेतना अकस्मात् बिल्कुल शून्य पड जाती है—अतीत और भविष्य के प्रति, वाह्य और अन्तर के प्रति, सारे आद्यावधि स्थापित सम्बन्ध अकस्मात् टूट जाते हैं और हम फिर नितान्त शून्य मे से उबरकर उन सम्बन्ध सूत्रो को नये स्तर पर जोडते हैं और अपने नव-रचित सम्बन्धो के वर्तमान आधार पर हम अपने अतीत और भविष्य की नित नूतन उपलब्धि करते है। वे कुछ इस ढग से सोचते हैं कि शायद हम भी रहते हैं और ससार भी। कुछ नष्ट नही होता। जहा से हम चलते हैं वह भी और जहाँ तक हम पहुचते हैं, वह भी। हम दोनो को जी चुके होते हैं, अपने मे धारण किए होते हैं लेकिन अकस्मात् किसी एक क्षण मे हम पाते हैं कि यह सब है तो, पर अकस्मात् हमारे लिए अर्थहीन हो गया है, अनिश्चित हो गया है और हम विराट् शून्य मे अकेले छूटते जा रहे हैं और हम अकेले छूटना नही चाहते। जीना चाहते है और अनस्तित्व मे से अस्तित्व पाने के लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपने को और बिना ससार को हम अपने को अभिव्यक्त कैसे करेगे, अत हम किसी एक स्तर पर मूल्य और अर्थ देते हैं हर चीज को और हर चीज के माध्यम से अपने को। पाए हुए और पाकर खोये हुए ससार को किसी एक स्तर पर 'रचते' हैं। ऐसे स्तर पर जहाँ कुछ भी फिर कभी धुँधला और अर्थ-हीन न पडे। इसी व्यापक पृष्ठभूमि पर धर्मवीर भारती की कहानियो का मूल्याकन होना चाहिए। उनकी कहानियो के निम्नलिखित वर्गीकरण किए जा सकते हैं .

१—एक वर्ग सामाजिक यथार्थ को तटस्थ एव नि सग भाव से लेकर चलने वाली कहानियो का है, जैसे 'चाँद और टूटे हुए लोग', 'मुर्दो का गाँव', आदि कहानियाँ।

२—दूसरा वर्ग चरित्र विश्लेषण करने वाली कहानियो का है, जैसे 'गुल की

बन्नो', 'सावित्री नम्बर दो' तथा 'हरिनाकुश का बेटा' आदि कहानियाँ ।

३—तीसरा वर्ग साकेतिक कहानियो का है, जैसे 'धुआँ' कहानी ।

४—नैतिक, सामाजिक एवं वैयक्तिक आलोचना सम्बन्धी कहानियाँ, जैसे 'यह मेरे लिए नही', 'कुलटा' तथा 'मरीज नम्बर सात' आदि कहानियाँ ।

धर्मवीर भारती ने इन कहानियो मे कथानक का सगुफन दो प्रणालियो के आधार पर किया है—आन्तरिक प्रेरणाओ के आधार पर, दूसरे वाह्य सन्दर्भो के आधार पर । उनकी कहानियो मे कथा सूत्र स्पष्ट रहते है, क्योकि अतिरिक्त रूप से चमत्कृत करने या सायास रूप से बौद्धिकता एव दुर्बोधता उत्पन्न करने की भारती कभी चेष्टा नही करते । पात्रो एव कथासूत्रो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करने मे वे पूर्णतया सफल रहते हैं । इस प्रक्रिया मे यद्यपि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है, पर इनमे सवेदनशीलता उत्पन्न करने और प्रत्येक भाव को स्वानुभूति के स्तर पर लाकर प्रस्तुत करने की प्रयत्नशीलता भी दृष्टिगत होती है, जिससे एक ओर जहाँ कहानियो मे सश्लिष्ट गुणो का समावेश हुआ है, वही उनमें सहजता एव स्वाभाविकता की वृत्ति भी आई है । इन कहानियो मे पूरे से एक को पा लेने और एक इकाई के माध्यम से पूरे परिवेश को खोजने और उसे इकाई से सम्बद्ध करने की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित होती है । इन कहानियो मे जीवन मे जीए हुए अनुभूतियो, सवेदनाओ—सुख-दुख को स्वानुभूति के स्तर पर लाया जाकर चित्रित किया गया है, जिसमे लेखक होते हुए भी पूर्णतया नि सग हैं और यह निर्वैयक्तिकता एव तटस्थता ही इन कहानियो को स्वतत्र अस्तित्व एव गहन सवेदनशीलता प्रदान करती है । इन कहानियो मे जो उल्लेखनीय तथा स्पष्ट होता है, वह यह कि धर्मवीर भारती की अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक ससार, क्षण और निरवधि-काल के मध्य अंधेरी राह पर कही एक भूमि है, जहाँ शून्य को पराजित कर हम 'रचते' हैं स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए । इसका कारण कदाचित् यह है कि धर्मवीर भारती यह स्वीकारते है कि एक महत्वपूर्ण भावस्थिति है, जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी अपने को सामान्य से पृथक् नही मानती; रोजमर्रा की जिन्दगी मे अपने को परदेशिनी नही मानती । ऐसे लोग असाधारणता का बाना नही ओढते, सहज रूप मे जीवन को सम्पूर्ण परिवेश मे जीने के हामी हैं, व्यक्तित्व को हारते नही, जगत् को अस्वीकारते नही और अपने हर अकेलेपन में अभिव्यक्ति के द्वारा अपने को 'सर्व' से 'प्रत्येक' से जोडने की चेष्टा करते हैं । राह उनकी अंधेरी होगी ही, पर इससे क्या, वे रचते भी तो उसी मे से हैं । भारती की कहानियो मे प्रारम्भ, विस्तार एव अन्त बडे ही कलात्मक ढग से होता है । उन्होने अपनी कहानियो का प्रारम्भ प्रायः नाटकीय ढग से किया है, जिसमे औत्सुक्य रहता है :

"हर बार पूछना चाहा है, मगर बार-बार चुप रह गई ?'

आज जब माँ को सजधज कर वट-सावित्री की पूजा के लिए थाल मे सूत और रोली चावल रखकर जाते देखा तभी से बेहद बेचैनी है कि आज तो तुमसे यह सवाल पूछकर रहूगी, सत्यवान ! जाते-जाते माँ की निगाह मेरी इस गन्दी छ साल से यही पडी रोग-शय्या पर पडी और वे ठिठक गई। फिर पूजा की थाली नीचे रख दी। मेरे पास आई। मेरे रूखे मैल-भरे बालो पर हाथ फेरकर बोली, "सबित्तरा बेटी !" और आँसू पोछते हुए चली गई। सबित्तरा मेरे घर का नाम है—प्यार का (जब मैं प्यार के काबिल थी)—असली नाम है सावित्री और नही तो सिर्फ नाम के नाते ही तुमसे पूछती हू सत्यवान कि तुम बताओ कि मै आखिर करू तो क्या करू ? हर ओर भटक-भटककर रोगी जर्जर, बरसो से क्षण-क्षण धीरे-धीरे मरती हुई यह सावित्री नाम की लडकी अब बहुत थक गई। रास्ता क्या है सत्यवान ?[१]

इस कहानी का अन्त इस प्रकार होता है, जो एक प्रश्न चिह्न उपस्थित कर देता है। जैसे एक सीधी-सादी नदी बहती हुई एक बिन्दु पर जाकर समाप्त नहीं होती, वरन् एक विराट् सम्भावनाएँ उत्पन्न कर जाती है : "मैने थाली नही छुई। (क्षमा करना सावित्री बहन !) बहाने से आँख मूँदकर तकिये से टिककर लेट गई, तो ऐसा लगा, मानो मेरे चारो ओर लोग चुपचाप इन्तजार मे खडे है कि मेरी मृत्यु की घडी ढलती क्यो जा रही है। सबके चेहरो पर शोक भी है, इन्तजार भी, अधीरता भी। सब चुप हैं, सिर्फ दीवार पर लगी मेरी शादी की घडी टिक-टिक कर रही है। उस पर बना गुलाब बोलता है ! गुड नाइट, गुड नाइट गुड नाइट ! कमरे भर मे मोगो की तेज महक है, मगर इस सबसे भी मौत की महक दबती नही। मृत्यु की यह दूसरी गाथा है, सावित्री बहन ! तुम्हारी गाथा से बिल्कुल पृथक्।"

सब बिना कहे, बिना बोले इन्तजार कर रहे है। मैं भी इन्तजार कर रही हूं। मेरे लिए किसी का कुछ अर्थ नही रहा। न मैं माँ की बेटी रही, न सित्तो की बहन, न इनकी पत्नी, न राजाराम की ···।

सिर्फ यह खिडकी मेरे लिए एक चौकोर दुनिया है। पार्क मे खिलते गुल-मोहर, अमलतास के रग हैं, सामने की खिडकी मे अठखेलियाँ करती लडकी के आकार हैं, खेलते बच्चो की हँसी की आवाजे हैं। एक दिन एक अदृश्य हाथ आकर इन चौकोर स्लेट पर अकित आकारो को मिटा देगा, आवाजे बन्द हो जायेगी और मैं थककर लेट रहूगी।

"लेकिन कब ?"[२]

---

१ धर्मवीर भारती . सावित्री नम्बर दो, (सारिका : जून १९६२), बम्बई, पृ० १२

२. धर्मवीर भारती . सावित्री नम्बर दो, (सारिका : जून १९६२) ,बम्बई, पृ० ३५

धर्मवीर भारती ने अपने पात्रो को जीवन के यथार्थ से चुना है और उसी यथार्थता से उन्हे प्रस्तुत भी किया है। उनकी कहानियो के पात्रो मे अपूर्व सप्राणता ही नही यथार्थ की गहरी पकड भी लक्षित होती है। मैं समझता हू, धर्मवीर भारती की कहानियो की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह है कि उनके पात्र एव स्थितियां यथार्थ जीवन के लोगो एव स्थितियो सी स्थानापन्न बनकर ही उभरती हैं। यही कारण है कि वे हमारे जीवन के विभिन्न रगो के सजीव एव यथार्थ चित्रण प्रतीत होते है और उद्वेलित करते है। इन चरित्रो की अवतारणा व्यापक सामाजिक उद्देश्यो के आधार पर हुई है, पर इन पात्रो का अथवा स्वत्व भी है, जो खण्डित नही होने पाता। इन पात्रो मे भावात्मकता तो है, पर वह जीवन का अनिवार्य अग बनकर ही उभरती है, ऊपर से आरोपित नही की गई है। चरित्र निर्माण एव व्यक्तित्व प्रतिष्ठा मे धर्मवीर भारती का जीवन चिन्तन, यथार्थ को पहचानने की समर्थता एव अपने समय के युग-बोध-तथा भाव बोध को आत्मसात करने की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है, जिससे इन पात्रो का एक विशिष्टता का बोध तो होता ही है, अपने यथार्थ सामाजिक परिवेश मे वे आगत की विराट सम्भावनाओ को भी अपने मे समेटे रहते है। ये पात्र सर्वथा सर्व साधारण यथार्थ एव मानव सघर्षो को प्रतीक तो हैं ही, उनके व्यक्तित्व मे संघर्ष एव विद्रोह के दो विशिष्ट पक्ष भी उभरते है। ये पात्र प्राय सघर्ष एव विद्रोह के धरातल पर ही निर्मित हुए हैं। चित्रण की दृष्टि से धर्मवीर भारती ने निम्न प्रणालियो का प्रयोग किया है

१—आत्म-विश्लेषणात्मक, जैसे 'सावित्री नम्बर दो'।

२—वर्णनात्मक, जैसे 'गुल की बन्नो', 'कुलटा', 'हरिनाकुश का बेटा' आदि।

३—अभिनयात्मक जैसे, यह मेरे लिए नही'।

४—साँकेतिक जैसे 'धुआँ', 'मरीज नम्बर सात' आदि।

धर्मवीर भारती की कहानियो मे कथोपकथन एक विशिष्ट अग हैं। भारती की अपनी कहानियो की अत्यधिक निर्वैयक्तिवता तथा तटस्थता से उत्पन्न शून्य को ये कथोपकथन ही पूर्ण करते है, जो अभिनयात्मक एव विश्लेषणात्मक दोनो ही कोटियो के है। इनमे साक्षिप्तता, सार्थकता, भाव-प्रवणता, नाटकीयता तथा भावाभिव्यक्ति की समर्थता है, इसीलिए वे अत्यन्त सफलता पूर्वक कथानक को लक्ष्य एव अनुभूति की दिशा मे अग्रसर तो करते ही है, साथ ही पात्रो के कार्य-व्यापारो द्वन्द्वो, मनोभावो एव प्रवृत्तियो का स्पष्टीकरण करते हुए उनके चरित्रो को भी नाटकीय ढग से उभारते है। उनके कथोपकथन इसी दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय बने पडे हैं। धर्मवीर भारती की शैली नाटकीय है। उसमे चित्रात्मकता एवं विश्लेषणात्मकता की प्रवृत्तिया है। कहानियो के निर्माण मे, आरम्भ विस्तार एव अन्त मे केन्द्रैक्य एवं कलात्मक सगुफन प्राप्त होता है। वे कही भी कथानक का अस्वाभाविक विकास नही

करते और न सामाजिक असमानता, विकृतियो आदि पर अपना असतोष एव आक्रोश प्रकट करने के लिए उप-कथाओ या अन्तर्कथाओ को जोडकर कथानक को असतुलित नही करते। इन कहानियो मे कथानक के विकास मे घटनाओ, स्थितियो एव सवेदनाओ की क्रमिक अवतारण और नाटकीय परिस्थितिया उत्पन्न होते जाना, चरित्रो के आंतरिक पक्ष मे भावो का क्रमिक उदय, मन स्थितियो, द्वन्द्वो एवं होने वाले घात प्रतिघातो का स्वाभाविक विश्लेषण और कहानी को लक्ष्य एव अनुभूति की ओर गतिशील करते जाना शिल्प का वह प्रौढ रूप है, जो धर्मवीर भारती की कहानियो मे प्राप्त होता है। यह प्रवृत्ति कहानियो के विकास मे अद्भुत गति एव प्रवाह उत्पन्न करती है और अपूर्व सवेदनशील की सृष्टि करती है। इन कहानियो मे देश काल परिस्थितियो के चित्रण मे प्राय व्यजना का माध्यम लिया गया है और छोटे-छोटे भाव-प्रवण इमेजो के सहारे कहानी मे तीव्रतर गति उत्पन्न होती है। उनके वर्णन और चित्रण मे सूक्ष्मता एवं व्यजना का आधिक्य है। वे उद्देश्यहीन ढग से कलावादी नही हैं और न शिल्प के अभिनव प्रयोगो के प्रति उनका अटूट आग्रह है। उनका शिल्प के नए रूपो का अन्वेषण कथा को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने की अनिवार्यता से उत्पन्न माँग है, निरर्थक पच्चीकारी नही। यही कारण है कि रूप या फॉर्म के परम्परागत के प्रति विद्रोह और नए शिल्प प्रयोग की उनकी सीमाएँ रही हैं, जिनमे सोद्देश्यता का ही आग्रह अधिक रहा है। उनकी भाषा चित्रोपम है। बोलचाल के शब्दो प्रचलित मुहावरो, शब्दो के कुशल चयन एव अभिनव वाक्य विन्यास से उनकी भाषा अत्यन्त प्रभाव शाली हो गई है, जो एक कवि की भाति छोटे-छोटे मधुर काव्यात्मक चित्र उपस्थित करती चलती है और अलग रूप विधानो का निर्माण करती है-जो अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनकर उभरती है। धर्मवीर भारती इस पीढी के सफल कहानीकारो मे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उनकी कहानियो मे भारती की आस्था-विश्वास एव जीवन से जूझने की अपूर्व जिजीविषा का सकेत प्राप्त होता है। इन कहानियो मे नवीन सत्यान्वेषण, अभिनव यथार्थ का उद्घाटन एवं नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण प्रतिफलन प्राप्त होता है। उनमे गहन मानवीय संवेदना और सजग सामाजिक चेतना दृष्टिगत होती है है। सोद्देश्यता एव नवीन मूल्यान्वेषण के आधार पर नव-मानववाद की स्थापना एव आधुनिक जीवन परिवेष मे बनते-बिगडते मानव सम्बन्धो की व्याख्या करना धर्मवीर भारती की कहानियो का मूल स्वर है। आधुनिक सचेतना को वहन् करने मे पूर्णतया सक्षम भारती की कहानियो मे अपूर्व सवेदनशीलता, सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का आग्रह, नवीन सत्यो की खोज एव स्थापना और आज के यथार्थपरक सामाजिक परिवेश के बहुविधिय पक्षो के सूक्ष्म उद्घाटन करने की प्रयत्नशीलता लक्षित होती है, जिसमें धर्मवीर भारती को अपार सफलता प्राप्त हुई है।

मोहन राकेश

मोहन राकेश सामाजिक सचेतना के कहानीकार हैं। उनकी कहानियो का धरातल मुख्यत: वे निर्वैयक्तिक सामाजिक शक्तियाँ है, जिनका मूल केन्द्र व्यक्ति है। उनकी कहानी कला व्यष्टि चिंतन और समष्टि चिंतन की सीमा रेखा मे ही विकसित हुई है और व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश मे देखने की आग्रहशीलता को लेकर निर्मित हुई है। उन्होने व्यक्ति और समाज का कोई विभाजन नही किया है और न यथार्थ विमुख होकर व्यक्ति के स्वत्व की प्रतिष्ठा के लिये सामाजिक सन्दर्भो की ही उपेक्षा की है। उन्होने आधुनिक व्यक्ति के नव विकसित दृष्टिकोण के मूल स्रोत जहाँ आधुनिक जीवन परिवेश, देशी-पश्चिमी जीवन चिंतन एव बाह्य विचारो के सस्पर्श मे खोजे है, वही उसे समाज के साँस्कृतिक, धार्मिक एव सामाजिक परम्पराओ से असम्पृक्त करके भी नही मूल्यॉकित किया है।

मोहन राकेश की कहानियो की प्रमुख विशेषता मनुष्य को उसके परिवेश मे देखने की यथार्थ दृष्टि है। उनके अनुसार मनुष्य पूरे' को एक साथ नही देख पाता। स्वय पूरे के साथ, उसके अन्दर और उनके सन्दभ मे बदलकर भी बदलने के पूरे मन को एक साथ ग्रहण नही कर पाता। इससे 'पूरे' के साथ अपने सम्बन्ध से ही वह अस्वीकारे, तो वह अस्वीकार उसकी सीमा हो सकती है, पर कई बार कोरा हठ, स्वार्थपरता और कायरता भी। वे स्वीकारते है कि इकाई के रूप मे आदमी का अपना एक अलग अस्तित्व है, उस अर्थ मे लेखक और कलाकार का भी, पर दूसरी इकाइयो से स्वतन्त्र और निरपेक्ष वह कही पर नही है। इकाई के रूप मे अपने को जानना भी उसके 'पूरे' के अन्दर जीने का ही परिणाम है। चेतना के स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान पर 'एक' है। अकेला हालॉकि वहा भी नही, पर बोध के स्तर पर वह किसी भी प्रकार 'एक' या 'अकेला' नही है। बोध मे वह प्रभावो को समेटता है और प्रभावो की शुरूआत से ही उसके 'एक' होने की स्थिति समाप्त हो जाती है। यह एक अनिवार्य वैज्ञानिक परिस्थिति है कि इकाई के रूप मे अपना कोई गणित नही है। मोहन राकेश की कहानियो मे जो कथ्य प्रस्तुत किए गये है,वे किसी व्यक्ति विशेष सम्बद्ध न होकर पूरे समय से सम्बद्ध है। वे स्वीकारते है कि यह कथ्य आकुलता है, जिसकी परिणति आस्था,सकल्प और सघर्ष मे हो सकती है। साथ ही अनास्था,दुविधा और समर्पण (रेजिग्नेशन) मे भी परिणति के ये दोनो रूप हम आज अपने मे और आसपास देख सकते हैं। समर्पण पलायन की दृष्टि देता है, साथ ही आडम्बरपूर्ण आत्म निषेध की सिनिसिज्म की सिनिसिज्म की दृष्टि लगातार बनी रहे तो उसके तीखे कोने की धीरे-धीरे झड़ जाते है और उसमे अपनी एक सहजता आ जाती है।

यह सिनिकल सहजता वैचारिक सहजता की भ्राति उत्पन्न कर सकती है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही पर विशेषतया द्वितीय महायुद्ध के बाद से इस भ्राति

ने बहुतो को छला है। आस्था सकल्प और सघर्ष के प्रति उदासीनता ही नही, विरोध और अवरोध की भावना को भी जन्म दिया है निष्क्रियता का अपना एक आकर्षण होता है। क्रिया की जगह निष्क्रियता का दर्शन यदि अपनाया जा सके, तो कम-से-कम वह अधिक सुविधापूर्ण तो है ही। मोहन राकेश की कहानियो मे यह आस्था, सकल्प एव सघर्ष स्वानुभूति के स्तर पर लाकर प्रस्तुत किया गया है,इसीलिये वह आरोपित न प्रतीत होकर कहानी को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है। मोहन राकेश की वे कहानियाँ जो सामाजिक सन्दर्भो मे विकसित हुई है और जिनमे यथार्थपरक सामाजिक दृष्टिकोण उभरा है, ये विशेषताएँ विभिन्न स्तरो पर परिलक्षित होती है। 'मलवे का मालिक' मे भारत-पाकिस्तान के कृत्रिम विभाजन तथा लोगो के उजडे हुये जीवन मे पीडित अनुभूतियो को एक गिरे हुये मलवे से अभिव्यक्त किया गया है। एक कौआ मलवे मे पडे लकडी के एक चौखट पर बैठकर उसके रेशो के बिखेरने लगता है और एक कुत्ता उसे वहाँ से उडाने के लिये भोकने लगता है। उस मलवे पर दोनो अपना अधिकार समझते है, पर उस व्यक्ति का दर्द—जो सीमा के पार से एक दिन के लिये आया था, जिसका वहाँ मकान कभी था, बीवी-बच्चे थे, पर अब वह अब अकेला है ''परमात्मा का कुत्ता' मे भी निष्क्रियता को क्रियाशीलता मे पराजित दिखाया गया है, पाकिस्तान मे विस्थापित एक किसान भोक भोककर अफसरो को अपने प्रति न्याय एव सद्व्यवहार के लिये बाध्य करता है। वह सयम, शिष्टाचार एव शालीनता मे मर गया, पर 'यारो बेहयाई हजार बरकत है' के माध्यम से वह परिस्थितियो की विशेषताओ मे अपने को एडजस्ट करता है और पराजित न होकर आस्था एव सकल्प का परिचय देता है। 'मवाली' मे चौपाटी पर घूमने वाले मैले-कुचैले कपडे पहने मवाली लडके का चित्रण है, जिस पर चोरी करने का झूठा आरोप लगाया जाता है और वह सामाजिक अन्याय के प्रति अपने आक्रोश को सागर की लहरो को पत्थर मारकर प्रकट करता है। 'हक हलाल' मे नारी के शोषण एव सामाजिक अन्याय को एक अखबार बेचने वाले की मन-स्थिति से उजागर करने का प्रयत्न किया गया है। 'मन्दी', 'आखिरी सामान' 'उसकी रोटी' 'काला रोजगार' आदि कहानियो मे भी यही बात परिलक्षित होती है। मोहन राकेश की कहानियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है .

१ एक वर्ग उन आदर्शवादी कहानियो का है, जो परिवर्तित सन्दर्भो मे प्रेमचद परम्परा की कहानियाँ प्रतीत होती है, जैसे 'मलवे का मालिक' 'मन्दी' 'मवाली' जगला' आदि कहानियाँ।

२ दूसरा वर्ग जीवन के कटु यथार्थ को सत्य ढग से प्रस्तुत करने वाली कहानियो का है, जिनमे 'नये बादल' 'उसकी रोटी' 'परमात्मा का कुत्ता' 'हक हलाल' आदि कहानियाँ।

३ तीसरा वर्ग जटिल एवं दुर्बोध प्रतीको को लेकर लिखी गई सांकेतिक कहानियो का है, जैसे 'जानवर और जानवर' 'ग्लास टैंक' 'फौलाद का आकाश, 'जख्म' 'सेफ्टीपिन' आदि कहानियाँ ।

४ चौथा वर्ग ऐसी कहानियो का है,जिनका मूल स्वर सेक्स का है जैसे'गुनाहे बेलज्जत' 'उर्मिल जीवन' वासना की छाया मे' 'आखिरी सामान' 'शिकार' तथा 'पाचवे माले का फ्लैट' आदि कहानियाँ ।

५. चरित्र विश्लेषण सम्बन्धी कहानियाँ, जैसे 'मिस पाल' 'सुहागिने' 'सीमाएँ 'जीनियस' 'आदमी और वारिस' तथा आर्द्रा' आदि कहानिया ।

६ वैयक्तिक अनुभूतियो को लेकर लिखी गई कहानियाँ' जैसे एक और जिन्दगी कहानी ।

प्रथम दो वर्गों की कहानियो मे इनिवृत्तात्मकता के गुणो का अधिक समावेश हुआ है और उनमे सुसगठित कथानक प्राप्त होते हैं। उनमे व्यापक सामाजिक सदर्भों को समेटने की चेष्टा है और कथ्य को विराट बोध देने की प्रयत्नशीलता है। इनका कथानक सगुफन दो पद्धतियो पर हुआ है एक तो इनमे कथानक सीधे सादे ढग से विकसित होता है, पर लक्ष्य एव अनुभूति का स्पष्टीकरण प्रतीको के सहारे हुआ है, जैसे 'मलवे का मालिक' या 'परमात्मा का कुत्ता' । दूसरे यह कि इन विशेषताओ के साथ ही लक्ष्य एव अनुभूति को पात्रो के चरित्र विश्लेषण के साथ भी सम्बद्ध कर मानव सम्बन्धों के उद्घाटन मनोभावो एव मनोवृत्तियो के सूक्ष्म प्रकाशन का भी प्रयत्न किया गया है, जैसे 'मवाली' 'जगला' 'मन्दी' तथा 'हक हलाल' आदि कहानियाँ। तीसरे वर्ग की कहानियो मे कथानक का ह्रास लक्षित होता है और कहानी का सगुफन विगत, वर्तमान एव आगत के कुछ बिखरे हुये अस्पष्ट सूत्रो के माध्यम से किया जाता है, जिन्हे प्रतीको के मध्य से स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। पर चूकि इन कहानियो मे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर जाने, मन स्थितियो के विश्लेषण एवं घात प्रतिघातो, द्वन्द्वो मनोभावो एव व्यक्त विचारो की व्याख्या का प्रयत्न हुआ हैं, इसलिये ये प्रतीक अत्यन्त जटिल एव दुर्बोध हो गये है, जैसे 'ग्लास टैक' 'फौलाद का आकाश' 'जख्म, तथा 'सेफ्टीपिन' आदि कहानिया । ये विशेषताएँ बहुत अंशो मे चौथे वर्ग की कहानियो मे भी लक्षित होती है। 'वासना की छाया' मे एक बालिका के मनोभावो यौवन की ड्योढी पर खडी होकर दृष्टि को 'परिपक्व' बनाने की प्रवृत्ति और उसके बाप के व्यवहारो का विश्लेषण हुआ है । 'उर्मिल जीवन' तथा पाचवे माले का फलैट ' आदि कहानियो मे भी स्त्री पुरुष के आधुनिक सम्बन्धो की व्याख्या हुई है। चरित्र विश्लेषण सम्बन्धी कहानियो मे भी मोहन राकेश ने दो प्रवृत्ति अपनाई एक प्रवृत्ति मे तो अनेक घटनाएँ स्थितियाँ स्मृतियाँ, अनुभूतिया एव भावो का सयोजन किया गया है और उसमे पात्रों को रखकर निर्वैयक्तिक एव नि सग भाव

से चरित्र का विश्लेषण किया गया है, जैसे 'सुहागिने', 'अपरिचित', 'आर्द्रा' तथा 'मिस पाल' आदि कहानिया। दूसरी प्रवृत्ति मे स्थलता की ओर जाने का आग्रह है इसलिये इतिवृत्तात्मकता को छोडकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण घात-प्रतिघातो द्वन्द्वो एव आन्तरिक प्रवृत्तियो की व्याख्या हुई है जैसे सीमाएँ आदमी और दीवार तथा जीनियस आदि कहानियाँ एक और जिन्दगी मे विवाहित जीवन मे अनेक बार धोखा खाकर भी जीने की अदम्य लालसा लिये और प्रत्येक विषमताओ एव संकल्प की भावना लिये जूझना चाहता है। इस कहानी मे प्रकाश नामक एक व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्या को पूरे युग से सम्पृक्त करने मे मोहन राकेश पूर्णतया सफल रहे हैं और वह यथार्थ निर्धारण उस अकेले प्रकाश का बोध न बनकर तथाकथित आधुनिक-युग की विसगतियो की ट्रेजेडी का बोध बन जाता है। मोहन राकेश ने अपनी कहानियो के प्रारम्भ एव अन्त के प्रति विशेष सतर्कता बरती है और नाटकीय ढग से प्रस्तुत करने मे बहुत सफल रहे हैं :

'स्कूल की नई मेट्रन का नाम अनिता मुकर्जी था और उसकी आखे बहुत अच्छी थी। परन्तु क्योकि आँट सैली की जगह पर आई थी, इसलिए पहले दिन बैचलर्स डाइनिंग रूम मे किसी ने उससे खुलकर बात नही की।

उसके जॉन से बात करने की चेष्टा की तो यह, 'हू हाँ' मैं उत्तर देकर टालता रहा। मणि नानावती को वह अपनी चायदानी मे से चाय देने लगी तो उसने हल्का-सा धन्यवाद देकर मना कर दिया। पीटर ने अपना चेहरा ऐसा गम्भीर बनाए रखा जैसे उसे बात करने की आदत ही न हो। किसी तरफ से लिफ्ट न मिलने पर वह भी चुप हो गई और जल्दी से खाना समाप्त करके उठ गई।

'अब मेरी समझ मे आ रहा है कि पादरी ने सैली को क्यो निकाल दिया।' वह चली गई तो जॉन ने अपनी भूखी आँखें पीटर के चेहरे पर स्थिर करके कहा।

पीटर की आखे नानावती से मिली। नानावती दूसरी ओर देखने लगी।

वैसे उन लोगो मे से कोई नही जानता था कि आँट सैली को फादर फिशर ने क्यो निकाल दिया। उसके जाने के दिन से ही जॉन मुँह ही मुँह बडबड़ाकर अपना असन्तोष प्रकट करता रहता था। पीटर भी उसके साथ २ कुढ लेता था।

'चलकर एक दिन सब लोग पादरी से बात क्यो नही करते ?' एक बार हकीम ने तेज स्वर मे कहा।'[1]

नई कहानी चरम उत्कर्ष के प्रति आग्रहशील नही रहती और न चरम सीमा से सम्बन्धित नाटकीयता को बनाने के लिये अतिरिक्त शिल्प-कौशल का ही प्रयोग होता है। कहानिया या तो वहाँ समाप्त होती है, जहाँ से उन्हे प्रारम्भ होना चाहिए

१. मोहन राकेश जानवर और जानवर, (जानवर और जानवर-कहानी), दिल्ली, पृ० १३७।

था, या बिल्कुल सीधे-सहज एव स्वाभाविक ढंग से । मोहन राकेश की कहानिया इनका प्रतीक हैं। उन्होने इस सम्बन्ध मे नए पन की प्रवृत्ति अधिक अपनाई है ·

'खैर !' उसने उठने की तैयारी मे अपना हाथ आगे बढा दिया ।

मैं अब आपसे इजाजत लूगा । मैं भूल गया था कि मुझे एक जगह जाना है।

'मगर···मैं इतना ही कह पाया । मैं तब तक उसी अवाक् भाव से उसे देख रहा था । उसका इस तरह एकदम उठकर चल देना मुझे ठीक नही लग रहा था । अभी तो उसने बात आरम्भ ही की थी ।

'आप शायद सोच रहे हैं कि वह व्यक्ति कौन है, जिसकी मैं बात कर रहा था···' वह उसी तरह हाथ बढाए हुए बोला, 'मुझे खेद है कि मैं आपका या किसी का भी उससे परिचय नही करा सकता । मैंने आपसे कहा था न कि वह एक व्यक्ति नही, एक फिनोमेना है । अपने से बाहर वह मुझे भी दिखाई नही देता । मैं केवल अपने अन्दर उसका रेडिएशन ही महसूस कर सकता हू ।'

और वह हाथ मिलाकर उठ खडा हुआ । चलने से पहले उसकी आँखो मे क्षणभर के लिए एक चमक आ गई और उसने कहा, 'वह मेरा इनरसेल्फ है ।'

और क्षण भर स्थिर दृष्टि से हमे देखकर वह दरवाजे की तरफ चल दिया ।[1]

मोहन राकेश ने अपने पात्रो को जीवन के यथार्थ से चुना है । उन्होने चरित्रो की आवतारणा आधुनिक मध्यवर्गीय एव निम्न वर्गीय सामाजिक जीवन के धरातल से हुई है, किंतु इस दिशा मे उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि उन्होने जीवन के बहु-विधिय पक्षो से अपने पात्रो को चुना है और उनमे जातीय विशेषताओ एव वर्गगत प्रवृत्तियो से परिपूर्ण करके यथार्थ रूप प्रदान किया है । व्यक्तित्व प्रतिष्ठा का आग्रह मोहन राकेश मे अधिक है और वैयक्तिक विशेषताओं की उपेक्षा वे नही करना चाहते इसीलिए कभी-कभी वे पात्र आत्मपरक से दृष्टिगोचर होने लगते हैं पर वस्तुत. वे आत्म-परक होते नही, आभासित होते हैं । मोहन राकेश व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश मे ही देखते हैं और उसी यथार्थता के साथ चित्रित करते हैं । व्यक्ति यथार्थ परिवेश से असम्पृक्त होकर निर्जीव हो जाता है और जातीय विशेषताओ एव सस्कार च्युत होकर अजनबी बन जाता है, इसलिए मोहन राकेश एक व्यापक दृष्टि चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध मे अपनाते हैं और पात्रो की वैयक्तिक विशेषताओ को प्रकाशित करने की लक्ष्य एव अनुभूति के होते हुए भी समष्टिगत आधारो की उपेक्षा नही करते । उनकी कहानियो में चरित्र-चित्रण सम्बन्धी निम्नलिखित प्रणालियाँ प्राप्त होती हैं—

१. आत्म-वर्णनात्मक, जैसे 'मिस पाल' कहानी

---

१. मोहन राकेश : एक और जिंदगी, (जिनियस-कहानी), दिल्ली, पृ० १५६

२. अवचेतन विज्ञप्ति, जैसे, 'सेफ्टीपिन' 'अपरिचित' सीमाएँ' एव 'सुहागने' आदि कहानिया।

३. विश्लेषणात्मक पद्धति, जैसे 'एक और जिन्दगी' मि० भाटिया' 'कई एक अकेले' तथा 'जानवर और जानवर' कहानिया।

४. सांकेतिक प्रणाली, जैसे 'पाचवे माले का फ्लैट' या 'ग्लासटैंक' आदि कहानियाँ।

५. अभिनयात्मक प्रणाली, जैसे 'काला राजगार' या 'जीनियस' आदि कहानिया।

६. कार्य-व्यापारो एव मनोभावो के माध्यम से, जैसे 'आर्द्रा' 'बस स्टैण्ड की रात' आदि कहानियाँ।

७ मानसिक ऊहापोहो के माध्यम से, जैसे, 'वारिस वासना की छाया मे' आदि कहानियाँ।

मोहन राकेश की कहानियो मे कथोपकथनो का दूसरे कहानीकारो की भाति विशेष महत्त्व है। इनमे कहानी मे चरित्र-चित्रण एव कथा-विकास सम्बन्धी अभिनयात्मकता लक्षित होती है। उनमे सक्षिप्तता, सूक्ष्मता एव चुस्ती है। वे सार्थक हैं और लक्ष्य प्राप्ति मे विशेष सफल रहे हैं।

'ये किताबे क्यो बेच रहे थे ?'
'यूँ ही···पैसो की जरूरत थी।
'इन दिनो डास सीखते रहे हो क्या ?
'नही, सिर्फ दो-एक दिन गया था।'
'फिर ?'
'लडकी के साथ नाचना अच्छा नही लगा, छोड दिया।'
'और पब्लिसिटी का क्या चक्कर था ?'
'पब्लिसिटी ब्यूरो मे नौकरी की आशा थी।'
'फिर ?'
'नही मिली।'
'और कुछ ?'
'इंश्योरेन्स की एजेसी ली थी।
'कुछ काम किया ?'
'एक दोस्त का केस मिल रहा था, पाच हजार का, मगर ··'
'मगर····'
'मगर उसकी बीवी नही मानी।'
'तो आजकल क्या कर रहे हो ?'

'आजकल ? ... आजकल आराम कर रहा हू ।'

शैली की दृष्टि से भी मोहन राकेश की कहानियो मे विविधता है। उनकी शैली मे प्रसाद-गुणो का समावेश हो गया है, जिसमे वह विशेष प्रभावशाली बन पडी है। स्थूल रूप से शैलीगत आधारो पर मोहन राकेश की कहानियाँ दो वर्गों मे आयेगी एक वर्ग उन कहानियो का है, जिनमे प्रयासहीन शिल्प के कारण कथ्य सीधे एव सहज ढंग से पाठको तक पहुचता है। दूसरा वर्ग उन कहानियो का है, जिनमे शिल्प प्रयोग अत्यन्त दुरूह एव जटिल ढग से किए गये हैं। इस सम्बन्ध मे मोहन राकेश को कला के शिल्पको या कलाकी वस्तु या कलाकार की अनुभूतिसे अलग करके देखना गलत लगता है क्योकि अनुभूति का अपना ही एक शिल्प होता है, जिसकी अपने माध्यम की सीमाओ मे हर कलाकार खोज करता है प्रत्येक युग की वास्तविक कला अपने युगकी वास्तविक काया अपने युग कथ्य को अपने मे समेटकर चलती है और उसीके अनुसार अपने अन्दर से अपने शिल्प का विकास करती है। इसलिये शिल्प को तराशने या बदलने की बात प्रश्न रूप मे मोहन राकेश के सम्मुख नही आती। वह यथार्थ और उसकी अनुभूति को उसके अपने शिल्प मे व्यक्त करने की प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण स्वीकारते है, जो कि हर एक के लिए हर बार एक नई चुनौती हो सकती है, इसीलिए राकेश की कहानियो मे राजेन्द्र यादव की कहानियो की भाति अनावश्यक पच्चीकारी नही है। उनके पास मूलत. एक नई स्वस्थ सामाजिक दृष्टि है और व्यक्ति, परिवेश एव नवीन सामाजिक संदर्भों को सूक्ष्मता से पहचानकर अभिव्यक्त करने की समर्थता है। सूक्ष्म ढग से शैली के आधार पर उनकी कहानियो मे निम्न वर्ग बनाये जा सकते हैं—

१ वर्णनात्मक शैली, जैसी 'मलवे का मालिक' या 'कई एक अकेले' आदि कहानिया।

२. आत्मकथात्मक शैली 'मिस पाल' कहानी।

३. नाटकीय शैली, जैसे 'काला रोजगार' कहानी।

४ ऐतिहासिक शैली, जैसे 'एक और जिंदगी' कहानी।

५. मिश्रित शैली, जैसे 'सुहागिने' कहानी।

६ सम्वाद शैली, जैसे 'जानवर और जानवर' कहानी।

७. साकेतिक शैली, जैसे 'सेफ्टीपिन' या 'ग्लासटैंक' आदि कहानिया।

मोहन राकेश की भाषा मे यथार्थ तत्वो का समावेश हुआ है, जिसमे प्रवाह प्रभाव एव भावाभिव्यक्ति की समर्थता है। उन्होने बोलचाल की भाषा एव प्रचलित मुहावरो के साथ उर्दू और अग्रेजी के शब्दो का नि सकोच प्रयोग किया है। १९६० के बाद की मोहन राकेश की कहानियो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी कहानी कला का विकास समष्टिगत धरातल की दिशा मे हो रहा है और उनमे भी आत्म चिंतन प्रमुख होता जा रहा है।

कमलेश्वर

कमलेश्वर के अब तक तीन कहानी सग्रह 'राजा निरबसिया' 'कस्बे का आदमी' तथा 'खोई हुई दिशाएँ' प्रकाशित हो चुके है। इन सग्रहो के अतिरिक्त 'ऊपर उठता हुआ मकान' 'दु खो के रास्ते' 'तलाश' 'दिल्ली मे एक और मौत' तथा 'मास का दरिया' आदि कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। कमलेश्वर कलाओ के विकास का आधार ही सामाजिक साम्बन्धिक अस्तित्व स्वीकारते है। यदि यह अस्तित्व उनसे निरपेक्ष होता, तो केवल अन्तर्विरोधी मे जी सकना ही सम्भव होता। जो निरपेक्ष हैं, वे अन्तर्विरोधो से मृतक की तरह जी भी रहे है और अपने सलीब उठाये हुये कब्रिस्तान की ओर उन्मुख हैं। कहानी लिखना वस्तुत कमलेश्वर के लिये एक विश्वास है। अस्तित्व के सकट को वे कहानी लेखन के साथ 'ठेलना' चाहते है और 'झेलना' चाहते हैं—यद्यपि यह सकट उनके लिये सम्पूर्ण प्राप्ति नही है। इस सकट के पीछे छिपे तथ्य और रहस्य भी चेतना का प्राप्य है, इसीलिए क्षण मे जीने की कोई बाध्यता नही होती, पीछे देखकर, वर्तमान को वहन कर आगे देखना कमलेश्वर के लिये सहज प्रक्रिया बन जाती है। मृत्यु कमलेश्वर के व्यक्ति की नियति है, विचारो की नही। विचारो की यह सम्पदा परम्परा से ही मिलती है और उनमे जीते हुते निरन्तर विकसित और नया होते रहने की अनिवार्यता अपने परिवेश मे जीने वाले व्यक्ति की शर्त है। लेखक मृत्यु का नही जीवन का साक्षी होता है । शव की साधना अघोटपथी तान्त्रिक करते है, लेखक नही। कमलेश्वर की कहानी आग्रहो की कहानी नही है, प्रवृत्तियो की है और उसका मूल स्रोत है—जीवन का यथार्थ बोध। और इस यथार्थ को लेकर चलने वाला यह विराट मध्य और निम्न मध्य वर्ग है, जो अपनी जीवनी शक्ति से आज के दुर्दान्त सकट को जाने-अनजाने झेल रहा है। कमलेश्वर की कहानियो का केन्द्रीय पात्र है। (अपने विविध रूपो और परिवेशो मे)—जीवन को वहन करने वाला व्यक्ति। उनकी कहानियो ने इसीलिये उस 'तीसरे उपजीवी' की शरण नही दी, जो अचानक प्रेमचन्द और प्रसाद के बाद यशपाल को समकालीन कहानी मे घुस आया था, जिसने अपने झूठे अभिजात्य को अस्त्र बनाकर उस विराट वर्गकी नैतिकता और मानवीयता को और भी जर्जर किया था—उसके साथ बलात्कार किया था। आर्थिक रूप से विपन्न, परिस्थितियो मे जकड़े, रूढ़ियो मे फँसे उस विराट मानव समुदाय के लिए एक व्यक्तिवादी नैतिक सकट खडा कर दिया था, जिसने हर स्त्री को अपने लिये निर्जन स्थानो या ड्राइ ग रूमो मे अकेला खड़ा कर लेना चाहा था, हर पुरुष को हीन लघु बना देना चाहा था, उसे उसके सार्थक परिवेश के प्रति शकालु और सशयग्रस्त करके अकेला कर देने का प्रयास किया था और क्षणवादी दर्शन की पीड़ावादी व्याख्या से हर क्रूरता, अनैतिकता और अमानुषिकता के प्रति वीतराग कर देना चाहा था। कमलेश्वर ने इस अराजकता की स्थिति को पहचानने का प्रयास किया

और अपनी कहानियो के माध्यम से जीवन को विभिन्न स्तरो पर वहन करने वाले उससे सम्पृक्त केन्द्रीय पात्रो की तलाश की—यथार्थ की तलाश की, जिसकी साक्षी हैं 'मास का दरिया' खोई हुई दिशाए" 'दिल्ली मे एक मौत' 'एक रुकी हुई जिंदगी' 'मुर्दो की दुनिया' धूल-उड जाती है' 'तलाश' तथा 'दु खो के रास्ते' आदि कहानियाँ।

कमलेश्वर के मन मे हमेशा एक अन्तर्द्वन्द्व रहता है, क्योकि कोई भी विचार अन्तिम नही हैं और बदलते परिवेश मे, जहाँ मूल्यो का सकट हो, आस्था को फिर २ टटोलने की आवश्यकता हो, निराशा से ऊब ऊबकर घबराने की स्थिति हो, वहाँ एक लेखक का काम बहुत नाजुक हो जाता है। इस सक्रान्ति को धीरज से देखकर, अनुभव के स्तर पर जीकर सवेदनात्मक स्वर मे कुछ कहना ही कमलेश्वर को अपना दायित्व लगता है—और कहानियो की थीम चुनने की यही उनकी दृष्टि भी है। इसलिये जीवन के प्रति प्रतिबद्ध होना उनकी अनिवार्यता है। इस टूटते हारते और अकुलाते मनुष्य की गरिमा मे कमलेश्वर का विश्वास है। कमलेश्वर की कहानियो मे आधुनिक सचेतना अपने पूण रूप मे अभिव्यक्त हुई है। इन कहानियो मे व्याप्त आधुनिकता वही है, जो अपने ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक सन्दर्भों से प्रस्फुटित हुई,जो प्रभावो को तो ग्रहण करती है, पर अपने आँतरिक और वाह्य पारुपो मे नितात जातीय और राष्ट्रीय है। उनकी किसी भी कहानी को उठा लीजिये, रूढियो के प्रति तिरस्कार एव विद्रोह प्रगतिशीलता एवं नवीन मूल्यो के प्रति आग्रह सशक्त रूप मे प्राप्त होगा। निर्माण की अकुल हट और परिवर्तन की बेबसी से उनकी अधिकाश कहानियो के रेशे संगुफित किये गये हैं। कहानी शिल्प की दृष्टि से भी कमलेश्वर सफल रहे हैं। उनकी कहानियाँ सुनियोजित ढग से प्रारम्भ होती है—

'युद्ध विराम हो गया है। दिल्ली बहुत गम्भीर हो गई है । दिन वैसे ही हैं, जैसे हर साल अक्तूबर के शुरू मे हुआ करते हैं। आसमान साफ है। धूप की तपिश हल्की पड़ गई है। सड़को पर धु ध है, न धूल।

हर मकान सुरक्षात्मक बाना पहने हुये हैं । इमारतो मे अजीब-सी चुस्ती दिखाई देती है। सड़को पर दूर-दूर तक सब कुछ दिखाई पडता है। ऊपर वासवानी के कमरे से रेडियो की आवाज आ रही है। खबरो की कोई बुलेटिन है। युद्ध-विराम के बाद भी पाकिस्तानी फौजे जगह-जगह गोलाबारी कर रही है रेडियो की आवाज बहुत साफ सुनाई नही पडती।

सडक की उस पटरी पर साइकिल वाले ने अपने शीशे की खिडकियो मे युद्ध की तस्वीरे लगा रखी है। दो-तीन लोग खडे देख रहे है। बसे खूब भरी हुई हैं। आज भी उसमे लोग वैसे ही छड पकडे ईसा की तरह सूली पर लटके हुए है।

सामने आगन मे धूप का एक टुकडा दीवार से पीठ टिकाये बैठा हुआ है। सरदार का नौकर अखबारो का एक बण्डल लिए हुए अभी लौटा है। मन मे आया,

पुकार लू , जरा एक नजर अखबारो पर डाल लू । पर वह जीना पार कर गया है। सरदार कुछ चिट्ठियाँ लिखने मे मशगूल है। जब से लडाई शुरू हुई है, सरदार चिट्ठियाँ बहुत लिखने लगा है और गालियाँ कम बकता है। नौकरू के प्रति भी उसका व्यवहार कुछ बदल गया है।

अतुल मवानी के कमरे की खिडकी नजर आ रही। शीशो पर कागज की पट्टियाँ चिपकी है और कार्निस पर जली हुई मोमबत्ती का मोम चिपका हुआ है :[१]

इसी प्रकार रोचक ढग से कमलेश्वर की कहानियो का अन्त भी होता है

'ध्यान रखना, चौथी बारी हुई !' कवरजीत ने कहा और कुण्डी खोलकर कोठरी से बाहर निकल गया था।

साडी खिसका कर वह मवाद पोछने लगी थी। एकाएक मन बहुत घबरा उठा था। उसने धीरे से फत्ते को आवाज दी थी। फत्ते आया था, तो उसने घडे से पानी निकलवाया था और कपडा भिगोकर मवाद पोछते हुए बोली थी, 'देख फत्ते··· उधर विमला के घर एक आदमी गया है · चला न गया हो तो जरा बुला ला। नीली कमीज पहने है, थैला है उसके पास।"

'गाहक आदमी है ?' फत्ते बोला था।

'नही आपसी का आदमी है !' जुगनू ने कहा, 'जरा-सा पानी और दे दे· '

फत्ते घडे से पानी निकालकर लाया, तो फिर सोचते हुए बोली, 'रहने दे··· तू अपना काम कर। वे कह गया है, आ जायेगा कभी····' कहते-कहते उसने फाडे को हलके से दावा, तो कुछ और मवाद निकल पड़ा था, और दर्द से फिर चेहरे पर पसीना छलछला आया था।[२]

कमलेश्वर की कहानियो मे कथोपकथनो का संयोजन अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ है

"चन्दा ने जगपती की कलाई दाबते-दाबते धीरे से कहा, "कम्पाउण्डर साहब कह रहे थे '

"क्या कह रहे थे ?" जगपती अनमने स्वर मे बोला।

"कुछ ताकत की दवाइयाँ तुम्हारे लिये जरूरी है !"

"मैं जानता हूं।"

'पर · "

---

१. कमलेश्वर दिल्ली मे एक और मौत, (सारिका : दिसम्बर १९६५), बम्बई, पृ० ३२

२. कमलेश्वर : माँस का दरिया, (अणिमा जुलाई-सितम्बर १९६५), कलकत्ता, पृ० ३१

"देखो चन्दा, चादर के बराबर ही पैर फैलाये जा सकते हैं। हमारी औकात इन दवाइयो की नही है।"

"औकात आदमी की देखी जाती है कि पैसे की, तुम तो · "

"देखा जायगा।"

"कम्पाउण्डर साहब इन्तजाम कर देगे, उनसे कहूगी मै।"

"नही चन्दा, उधारखाने से मेरा इलाज नही होगा···चाहे एक के चार दिन लगॉ य।"

"इसमे तो ··"

"तुम नही जानती, कर्ज कोढ का रोग होता है, एक बार लगने से तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है।"

"लेकिन .."

इधर नई कहानी मे आरोपित साकेतिकता अमूर्तता एव सायास बौद्धिकता का कमलेश्वर की कहानियो मे तिरस्कार है, क्योकि अमूर्त की अभिव्यक्ति एक खोज है, पर गलत सन्दर्भो मे वही पलायन भी है। अमूर्तता सूक्ष्मता की पर्याय भी नही है, बल्कि वह बौद्धिकता की विरोधी भी हैं। अमूर्त को अभिव्यक्ति देना कला का दायित्व हो सकता है,पर अमूर्तता को प्रश्रय देना पलायन के अलावा कुछ और नही है पिकासो या अन्य निराकारवादी चित्रकारो ने अमूर्त को अभिव्यक्ति दी है, अपनी अभिव्यक्ति को अमूर्त नही बनाया है। वर्ण्य वस्तु की विराटता और सूक्ष्मता की सघन सकोचित प्रस्तुति यथार्थ को धु धली नही प्रखर करती है। कमलेश्वर अपनी कहानियो मे (पीला गुलाब, जॉर्ज पचम की नाक, दु खो के रास्ते तलाश आदि कहानियाँ) इस दिशा मे प्रयत्नशील रहे है और उन्होने जीवन की सश्लिष्टता की अभिव्यक्ति को भी (मात्र जटिलता या कठिनता को नही) अपने प्रयोगो मे शामिल किया है। असफल प्रयोग दुरुह और जटिल भी दिखाई दिए हैं, पर सफल प्रयोग स्पन्दित जीवन खण्डो के रूप मे आज भी धड़क रहे है।

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव (२८ अगस्त १६२६) प्रमुखतः सामाजिक सचेतना के कहानीकार है। यद्यपि शिल्प के आधुनातन प्रयोगो के प्रति वे विशेष आग्रहशील रहे हैं, पर उसके साथ ही नए सत्य के उद्घाटन यथार्थ-अन्वेषण एव मानव-मूल्यो की खोज के प्रति भी उनका झुकाव रहा है। उनके अनुसार अपने को अपने आपसे नोचकर, नये अनजाने, अनसोचे पात्रो, परिस्थितियो, समस्याओ, स्थितियो मे फेंक फैला देना, स्वय अपने आप से अपरिचित से उठना और फिर अपने जैसे उस 'परिचित' व्यक्ति की तलाश मे भटकना और हमेशा यह महसूस करना कि भीड मे वह मुझे छू छूकर निकल जाता है। वे स्वीकारते है कि इसमे कही भी कोई-अध्यात्मिकता या 'आत्मा-

न्वेषण' और 'आत्म-साक्षातकार' जैसी योग-साधना नही है। यह मात्र सामाजिक सम्बन्धो मे व्यक्ति को पाना और व्यक्ति के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व मे सामाजिक सम्बन्ध खोजने की काफी सश्लिष्ट (लेकिन अ-रहस्यवादी) प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के मूल मे पहुचने के लिए ही कहानी राजेन्द्र यादव के लिए एक माध्यम है और इसमे कहानी का रूप क्या शेष रह जाता है, उसकी पर्वाह वे कम करते है। उनके लिए कहानी एक निहायत सचेत क्रिया है और एक अनुशासित, सार्थक अभिव्यक्ति है। वह तटस्थ, लेकिन व्यक्तिगत सस्करण की ही उनके लिए एक विधा है।

राजेन्द्र यादव के मन मे कहानी कहानी की तरह आती ही नही। जीवन का कोई प्रभाव, प्रसग या टुकडा आता है और जब उसे कहानी के गमले मे लगाने के लिए उसकी 'धरती' से वे नोचते है, तो जडो के साथ छोटी छोटी डोरियो और रेशो का उलझा-गुंथा सिलसिला चला आता है। फिर उनका मन नही करता कि जड का सारा हिस्सा तेज चाकू से तराश दे और बाकी पौधे को धो पोछ कर प्लेट मे सजाये हुए कॉउण्टर पर ले आएँ या किसी भी गुलदान मे रख दे। और वहा वह हरा भरा हो जाए। राजेन्द्र यादव का यह उत्तर उन लोगो के लिए है जो उन्हे शिल्प और रूप के क्रॉस पर ही कीले ठोक-ठोककर लटकाते रहे है। उनकी धारणा है कि स्वय उन्होने कभी कहानी के रूप और शिल्प की कभी चिन्ता नही की। कहानी खिचकर उपन्यास हो जाती है या उपन्यास सिमटकर कहानी रह जाता है, वह एण्टी कहानी हो जाती है या कथानकवादी कहानी, उसका प्रारम्भ कही बीच मे ही हो जाता या अन्त शुरू मे ही लटका रह जाता है, उसका प्रतीक बहुत फैल जाता है या एक ही प्रतीक मे अनेक बिम्ब धीगा-मुश्ती करते चले आते है। अनावश्यक डिटेल्स बहुत हो जाते है या डिटेल्स ही बहुत साकेतिक बने रहते हैं, उसकी तराश बहुत साफ होती है या नही, वह शास्त्रीय अर्थो मे बहुत, 'एक्वैक्ट' बन पाती है या पतले आटे की रोटी की तरह जिधर मन होता है उधर चल निकलती है—ये सारी बाते न राजेन्द्र यादव का ध्यान खीचती है और न चिन्ता का विषय बनती हैं। उनके लिए ये सब प्रक्रिया के अग और स्तर हैं।

यो राजेन्द्र यादव के कई कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके है। कदाचित छह या सात पर अनेक दृष्टियो से 'किनारे से किनारे तक' को मै उनका प्रतिनिधि कहानी संकलन मानता हू। इसकी सभी कहानियाँ उनकी दृष्टि, कला और सामर्थ्य का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हैं। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'पास फेल', 'बिरादरी बाहर' 'नए नए आने वाले', 'टूटना', 'लच टाइम', 'भविष्य के आस-पास मडराता अतीत', 'भविष्य वक्ता' आदि उनकी अत्यन्त उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

प्रारम्भ मे राजेन्द्र यादव का दृष्टिकोण प्रगतिशील रहा है। उन्होने आस्था एव संकल्प, मनुष्य की जिजीविषा तथा अन्तःप्रवृत्तियो के साथ वाह्य सघर्षो को

लेकर ही अपनी जीवन दृष्टि का निर्माण किया और उनकी विकासकालीन कहानियाँ इसी भावना प्रतीक है। राजेन्द्र यादव एक प्रतिभा सम्पन्न कलाकार हैं। जहा उन्होने थोडी सतर्कता एव सतुलित दृष्टि से काम लिया है, वहा उनकी कहानियाँ ए-वन, दोष रहित एव श्रेष्ठ सिद्ध हुई हैं। 'बिरादरी बाहर', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' तथा 'टूटना' इस बात का प्रमाण है। कहानियो मे आधुनिक सचेतना को वहन करने की पूर्ण समर्थता है और लेखक की सामाजिक दायित्व निर्वाह की भावना यथार्थ रूप मे अभिव्यक्त हुई है। इस कोटि की कहानियो मे अन्य बातो के अलावा सबसे बडी बात तो यह है कि नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने मे राजेन्द्र यादव को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कहानियो मे नवीनता है, कथ्य और कथन दोनो की—यह स्वीकारने मे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए। राजेन्द्र यादव मे जीवन के प्रति अपूर्व निष्ठा है। उनकी कहानियो मे अटूट आस्था की आवाज है। उनके स्वर की दृढता एव आत्मविश्वास तथा पात्रो की जीवन की विषमताओ से सघर्ष करने की क्षमता एव जीवन से सम्बद्ध रहने की प्रवृत्ति, नवीन मूल्यो एव परिवर्तनशीलता को अपनाने की आकुलता एवं प्रगतिशीलता राजेन्द्र यादव की कहानियो मे यथेष्ट मात्रा मे मिलती है।

राजेन्द्र यादव ने आधुनिकता का चित्रण दोनो स्तरो पर किया है—समष्टिगत स्तर पर व्यष्टिगत स्तर परभी। जहाँ उन्होने व्यक्ति सीमित परिवेश को लिया भी है, वहाँ भी उनका प्रयत्न आत्मपरकताकी ओर न होकर व्यक्ति को उसके यथार्थ परिवेश से सम्बद्ध करके जीवन की विराटता का बोध देना ही होता है इसीलिए जहाँ उनकी कहानियाँ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई हैं, वे संश्लिष्ट तो हो गई हैं, पर उनकी स्थूल सामाजिक सचेतना विनष्ट नही होने पाई है। वास्तव मे राजेन्द्र यादव की धारणा है कि वर्तमान हम हो, लेकिन लेखन इतना तात्कालिक वर्तमान नही होता, वह अपने आप मे पुनर्सृजन है, पुनरावलोकन है—चाहे वह क्षण का हो या निमिष का। नितान्त अकेले क्षणो मे हम अपने जिए हुए को सामने फैला लेते हैं और अपनी कला-अपेक्षा के अनुरूप उसकी कतर ब्योंत करते हैं। कह सकते हैं, केवल उस क्षण हम अकेले होते हैं—चाहे वह कमरा बन्द करके अकेले हो या अपने भीतर। लेकिन इस प्रक्रिया को अपने आस पास की जिन्दगी से कहा, उठा या अलग होना कहना गलत होगा। यह एक ऐसा विश्रान्ति क्षण है 'जब हम जिये हुए का जायजा लेते हैं और आगे की 'तैयारी' करते हैं। इस प्रकार बाहरी और भीतरी दुनिया मे हमारे परिवेश का ही नही (टूटना या नए-नए आने वाले आदि) हमारा अपना आना-जाना भी बना रहता है (भविष्य के आमपास मडराता अतीत या दायरा) : उनके अनुसार परिवेश हमारा कथ्य, विषय या थीम हो, या इन सबका स्रोत, उससे कटे होने की बात बकवास है। राजेन्द्र यादव की विवशता यह है कि वे

अपने परिवेश से जितना ही खिन्न होते हैं, उतना ही अपनी इस व्यक्तिगत दुनिया मे फिर-फिर लौट आने के लिए गहरे चले जाते हैं। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कुछ प्रयोगवादी कहानियो को छोडकर राजेन्द्र यादव ने भारतीय जीवन पद्धतियो से प्रसूत आधुनिकता के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेशो का अकन किया है और इसमे कही कोई आरोपण लक्षित नहीं होता।

उनके पात्रो का सख्या विविध वर्गों मे फैली हुई है। वे निम्न मध्य वर्ग से भी हैं, मध्यवर्ग से और उच्चवर्ग से भी। कही-कही वे जातीय हो गए है, पर उनका वैयक्तिक स्तर बनाए रखने की प्रयत्नशीलता उनमे है। उनकी भाव-भगिमाओ, जातिगत विशेषताओ, सस्कारो, मर्यादा एव प्रवृत्तियो का सूक्ष्म अकन करने मे राजेन्द्र यादव को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। चूंकि वे यथार्थ जीवन से लिए गए है और उन्हे बिना तोडे-मरोडे या कृत्रिम मुखौटे लगाए प्रस्तुत करने की उनमे आग्रहशीलता भी रही है, इसीलिए वे प्रभावशाली ही नही बन गए हैं, पूर्ण स्वाभाविकता के साथ प्रतिष्ठित भी हुए हैं। वे किसी बुद्धिजीवी की टेबुल पर अँधेरे बन्द कमरे मे निर्मित नही हैं, वरन् खुले ससार मे जीवन की कठोरताओ, विषमताओ, एव वास्तविकताओ का सामना करने वाले हमारे आपके बीच के पात्र है और राजेन्द्र यादव उन्हे प्रस्तुत करने वाले एक मध्यस्थ के रूप मे आए हैं, हस्तक्षेप करने वाले अधिकारी की भाँति नही। उनके चरित्र-चित्रण मे पूर्ण नाटकीयता है। वे कही कही विश्लेषणात्मक भी हो गये हैं, पर प्रारम्भिक कहानियो को छोडकर शेष कहानियो और विशेषतया उत्कर्षकालीन कहानियो मे अभिनयात्मक प्रणाली का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है।

राजेन्द्र यादव की कहानियो के प्रारम्भ-मध्य तथा अन्त के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है. उनकी कहानियो का प्रारम्भ वर्णनात्मक ढग से भी हुआ है, सवादो के माध्यम से भी। एक उदाहरण प्रस्तुत है· "आज रविवार था और सुबह के साढे नौ बजे के टिकट थे। लेकिन साढे आठ बजे ही ये लोग आ गये थे—पुष्पा, बिहारीलाल और उनके दोनो बच्चे। आठ साल की रेखा और पाँच साल का अमिताभ। नीचे टैक्सी रुकी और ये लोग धड-धड करके जैसे ही सीढियो से चढे कि हरी के मन मे खटका हुआ। दरवाजा खोला तो खिल उठा, 'अरे तुम पुष्पा फिर अन्दर की ओर मुडकर बोला, 'अरे देखना तो ये पुष्पा आयी है। 'भई वाह, आप दोनो ने तो अपने आने की खबर ही नही दी।"[1] इसी प्रकार अन्त का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"कोई नही, मिस",

१. राजेन्द्र यादव : दायरा (नई धारा), पटना, पृ० १७

वह बेहोश-सा झुण्ड के पीछे पाँच सात कदम खिचता चला गया 'अरे मिस, सुनिये ...' उसके भीतर कोई घुटे-स्वर से चिल्लाता रहा फिर कन्धे ढीले डाले खडा रहा। शराबी की तरह लौटने लगा तो चॉकलेट का सफेद-नीला कागज पैरो से कुचलकर सडक से चिपका हुआ उसे ही ताक रहा था...

नीचे स्टैडियम की तरह काटकर बनाया गया बस स्टैण्ड था और सामने खुले पहाडो का झकोले लेता सिलसिला.. हाथ मे चाँकलेट का कागज मसलता वह देर तक शायद यही समझने की कोशिश करता रहा कि वह कहाँ है और उसे किधर जाना है?...'[1]

राजेन्द्र यादव हमारे उन महत्वपूर्ण कहानीकारो मे है, जिन्होने नई कहानी को बहुत अशो मे अर्थ की सज्ञा दी है और रूपायित किया है। उन्होने कहानियो के माध्यम से यदि व्यक्तित्व की खोज की है, तो नए सामाजिक सत्यो, मानव-मूल्यो एव आधुनिकता के नवीनतम सन्दर्भो को नवीन आयामो मे नयी वाणी दी है। उन्होने एक ओर नव-मानववाद पर बल दिया है, दूसरी ओर युग के यथार्थ बोध को स्वाभाविक अभिव्यक्ति दी है।

इस पीडी मे हरिशकर परसाई, मनू भण्डारी, भीष्म साहनी, रमेश बक्षी, केशवप्रसाद मिश्र, उषा प्रियवदा, शशिप्रभा शास्त्री, शिवानी, लक्ष्मीनारायण लाल, शिवप्रसादसिंह, शैलेश मटियानी, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, रामकुमार, श्रीमती विजय चौहान, कुलभूषण आदि अनेकानेक कहानीकार हैं, जिन्होने एक-से-एक अच्छी कहानियाँ लिखी हैं और हिन्दी कहानी को समृद्ध किया है।

फणीश्वरनाथ रेणु

फणीश्वरनाथ रेणु इस चरण के सफल कहानीकारो मे हैं। यो दूसरे कई कहानीकारो ने भी अपने आँचलिक कहानीकार होने का दावा किया है और करते हैं। उस दावे के अनुरूप वे कहानियाँ लिखते हैं पर दुर्भाग्य से उन कहानियो मे कथाएँ होती हैं, पात्र होते हैं, मात्र अचल ही तिरोहित रहता है। फणीश्वरनाथ रेणु के साथ कोई दावा नही है, पर उनकी कहानियो मे अचल होता है, जिसका वे सफलतापूर्वक अकन भी करते है। आज के बदलते ग्रामो की धडकनो को रेणु ने बहुत निकट से सुना है और पहचाना है। इन धडकनो को उन्होने इतनी सजीवता एव कलागत ईमानदारी से चित्रित किया है कि उनकी कहानियो मे यह धडकनें स्पष्टतया सुनी जा सकती है। 'ठुमरी' कहानी सग्रह के अतिरिक्त 'टेबुल', 'सबदिया', 'अतिथि सत्कार' आदि सभी कहानियो मे एक अचल विशेष की सस्कृति, लोक-

---

१ राजेन्द्र यादव भविष्य के आस-पास मंडराता अतीत, (सारिका जून १९६६,) बम्बई।

जीवन, आचार-व्यवहार, राजनीतिक प्रभाव एव उत्पन्न स्थितियो, सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियो, रूढियो, परम्पराओ के प्रति अगाध विश्वास, पर 'नए' को देखने की जिज्ञासा और अपनाने के प्रति शका आदि का रेणु ने इतनी सूक्ष्मता से चित्राकन यथार्थ पृष्ठभूमि पर किया है कि वह सारा अचल आँखो के सामने घूम जाता है। रेणु की कहानियो की सबसे बडी विशेषता मानवीय संवेदनशीलता, मानव सम्बन्धो का उदघाटन एव नवीन मूल्यो का अन्वेषण है। रेणु का स्वर मानवतावादी है और चित्रण यथार्थवादी। इन दोनो के परस्पर समन्वय से अपनी कहानियो मे उन्होने एक ऐसे आदर्श की स्थापना की है, जो कर्म की प्रेरणा देता है, सघर्ष की क्षमता उत्पन्न करता है और आस्था एव सकल्प के साथ एक अपूर्व जिजीविषा भाव उत्पन्न करता है। रेणु की कहानियो की यह एक विशिष्ट उपलब्धि है।

रेणु का शिल्प एक कैमरामैन की भाँति है। वे छोटे छोटे स्नैप शाट्स उतारते चलते है और व्यक्तियो, स्थानो, उनके मनोभावो, प्रवृत्तियो आदि के बारीक-से-बारीक रेशे उभार कर भाव-प्रवणता से प्रस्तुत कर देते है। इस दृष्टि से उनका शिल्प प्रचलित परम्परागत शिल्प के प्रति एक सायास, पर सफल विद्रोह है और अपने तथ्य को अधिकाधिक प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने मे रेणु का शिल्प पूर्णतया समर्थ है। उनकी कहानियाँ इस प्रकार प्रारम्भ होती है.

धूल मे पडे कीमती पत्थर को देखकर जौहरी की आँखो मे एक नई झलक झिलमिला गई—अपरूप रूप!

चरवाहा मोहना छौडा को देखते ही पँचकौडी मिरदगिया के मुँह से निकल पड़ा—अपरूप-रूप!

···खेतो, मैदानो, बाग-बगीचो और गाय-बैलो के बीच चरवाहा मोहना की सुन्दरता!

मिरदगिया की क्षीण ज्योति आँखे सजल हो गई।

मोहना ने मुस्कुराकर पूछा—तुम्हारी उँगली तो रसपिरिया बजाते टेढी हुई है, है न?

ऐ! बूढे मिरदगिया ने चौकते हुए कहा—रसपिरिया?·· हाँ नही। तुमने कैसे · तुमने कहाँ सुना बे ··?

'बेटा' कहते-कहते वह रुक गया। परमानपुर मे उस बार एक ब्राह्मण के लड़के को उसने प्यार से बेटा' कह दिया था। सारे गाँव के लड़को ने उसे घेरकर मारपीट की तैयारी की थी—बहरदार होकर ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कहेगा? मारो साले बुड्ढे को घेरकर। · मृदग फोड दो।

मिरदगिया ने हँसकर कहा था—अच्छा, इस बार माफ कर दो सरकार! अब से आप लोगो को बाप ही कहूगा!

बच्चे खुश हो गए थे। एक दो-ढाई साल के नगे बालक की ठुड्डी पकड़कर वह बोला था—क्यो ठीक है न बाप जी ?[1]

इसी प्रकार रेणु की कहानियो का अन्त भी बड़े नाटकीय एवं रोचक ढंग से होता है :

"···आज भी तुम्हारा खत कुछ नही बोलता।···अकराम शंख-ध्वनि कर रहा है।· प्यारे मनहर !···अकराम ! प्यारे अकराम ! तुम कितने बड़े गुणी हो ! तुमने कैसे जान लिया सब कुछ।···गध ? महाराज, ये तुम्हारी ही कृपा के फल हैं। अर्चना के बोल सुनते समय मुझे जो धूप की गंध लगी थी। तुम्ही ने यह गंध-परिवेशन किया है प्रथम बार ! तुम्हारी ही चीज, तुम्ही को···! लो, मैं यत्र हू ! तुम्हारी हूं ! मुझे बजाओ, धन्य करो···।"

गीताली ने पास खडे तानपूरे के तारो को छूकर झकृत कर दिया। मूल नाद से नौ गुना ऊंचाई पर सहायक नाद उत्पन्न हुए।

· तुमने सुना होगा अकराम···नानाधन···घुघलू बैंड पार्टी मे हॉर्न बजाता है।···तुम सभी ने सुना ··! गीताली अकराम के गले मे गीतमाला डाल चुकी !··· 'ए' माइनर का तीव्र सुर ···'एफ' मेजर का आनन्दोल्लास !···

गीताली ने परमहस देव को नमस्कार किया। परमहस देव के कथामृत से ध्वनि निकली—मानुषेर मन जेन सटेषर पुटली।···आदमी का मन मानो सरसों की पोटली !

गीताली की आँखों से आँसू झर पडे। कण्ठ से एक अजानी रागिनी फूटकर निकल पड़ी ··।

अलख-मुखर जगत् में अकराम की पगध्वनि सुन रही है गीताली ! ···[2]

रेणु ने पात्रो के भावो, मन स्थितियो के शब्द-चित्र ही अपनी तरफ से रिपोर्ताज शैली मे अधिक प्रस्तुत किए हैं, इसलिए उनकी कहानियो मे कथोपकथन बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं और सारा दायित्व लेखक को ही निभाना पडता है, पर कुछ कथोपकथनो का सयोजन बीच-बीच मे उन्होने किया है, जो सजीव, सार्थक एवं सफल है :

"···अरी, यह कहाँ की गोरी आई है, गुमान-भरी ? इत्ती-सी छोरी की बोली सुनो, कैसी विष भरी है। कोई इस तरह भी राह-बाट पूछती है भला ! अपना नाम धाम कुछ नही बताती···।"

गोकुल की गोपियो ने गोरी को चारों ओर से घेर लिया—ऐसी टेढी-तिरछी

---

१. कमलेश्वर : राजा निरबसिया, (राजा निरबंसिया—कहानी), इलाहाबाद, पृ० १०१-१०२

२. फणीश्वरनाथ रेणु : ठुमरी, (रसप्रिया—कहानी), दिल्ली, पृ० ११-१२

बात क्यो करती है री ? तेरे साथ कोई मर्द-पुरुष नही ?

ना भैया ! देखती हू यहा के लोग तन के ही नहीं, मन के भी काले है। कैसा है यह गोकुल गॉव रे बाबा !

सुनती है इसकी बोली ! बडी बूढियाँ भी आकर जमा हो गई — क्या है ? काहे की भीड लगा रखी है यहाँ ?

अपरिचिता किशोरी भीड से निकलकर बाहर आई—हाँ—ए ! तुम लोगो ने अपनी-अपनी बहू बेटियो को यह कैसी सीख दी है कि भूली-भटकी परदेसिन को राह भी न बताये कोई। नन्दराज की ड्योढी किधर है ?

बूढियाँ भी तिलमिला उठी-—और तू ही किस राजा की बेटी है कि परदेस मे आकर टेढी टेढी बाते करती फिर रही है ? अपना नाम-धाम क्यो नही बतलाती ?

गोरी का चेहरा टेसू के फूल जैसा हो गया — मै मथुरा से आ रही हू। बसुदेव राजा की बेटी और महाराजा कस की भाँजी ।

· भॉजी ? कस की ई-ई ? सभी ग्वालिने एक साथ चीख पडी ?

क्यो ? गोरी मुस्कराई।

एक बूढी ने कहा — यह कस की भेजी कोई डाकिनी है री ! · कस की भॉजी !

कोई बुलइयो यदुराई को ! दौडो मुरारी ई-ई-ई ! एक गोरी चिल्लाई।

गोरी हमी—अकेली क्यो, सभी मिलकर पुकारो। कही सोया ··

·· तू चुप रह !· देखते रहो, भागने न पावे। बडे मौके से गाँव मे घुस आई है।

·· गोरी गठरी रखकर बैठ गई — देखती हू वह छोकरा ठीक ही कह रहा था।

· कौन छोकरा ? सुन री ललिता, अब किसी छोकरे की बात कर रही है।

गोरी अपने बाजूबन्द के ढीले बन्धन करने लगी—वही काला कलूटा, घटवार का बेटा होगा।

···काला कलूटा ? घाट के इस पार या उस पार ?[१]

रेणु शिल्प की दृष्टि से एक सफल कहानीकार है। उनकी भाषा-शैली मे ओज और प्रवाह है। उनकी भाषा मे आँचलिकता के गुणो का समावेश हुआ है, पर उसकी सीमाए है। उन्होने सहजता बनाये रखने का बराबर प्रयास किया है और उसकी सर्वजनीनता का भी ध्यान रखा है। ऊपर दिये गये उद्धरणो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। कुछ मुविज्ञ रेणु की प्रशसा मे यहाँ तक कहते है कि उनके रूप मे हमने प्रेमचन्द पा लिया है, पर यह विचारों की अतिरजना मात्र है। रेणु की कहानियों की तुलना प्रेमचन्द की कहानियो से करना उसी प्रकार भ्रामक है, जैसे

१ फणीश्वरनाथ रेणु ठुमरी, (नित्य लीला-कहानी), दिल्ली पृ० ७६-८०

किसी तालाब को देखकर समुद्र का विश्वास कर लिया जाये।[1] रेणु सफल हैं, इसमे कोई सन्देह नही, पर बास की सीढी लगाकर उन्हे ऊंचा उठाना असगत जान पडता है।

निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा उन कहानीकारो मे हैं, जिनके लिए मानव-सम्बन्धो का उद्घाटन करना, मानवीय सवेदनशीलता का चित्रण करना एव आज के युग-बोध एवं भाव-बोध का अकन करना उतना महत्वपूर्ण नही है, जितना तथाकथित 'आधुनिकता' के तत्वो की रक्षा करना, अनास्था एव निष्क्रियता का स्वर उद्घोषित करना, पलायनवाद का प्रचार करना और प्रतिक्रियावादी तत्वो को प्रश्रय देना है—फिर भी प्रगतिशील आलोचक—सुविज्ञ डॉ० नामवरसिह उन्हे प्रगतिशील कहानीकार स्वीकारते हैं। यदि डॉ० नामवरसिह की मान्यता केवल 'कुत्ते की मौत', 'माया दर्पण' और 'लन्दन की एक रात' कहानियो पर ही आधारित है, तब तो किसी को कुछ नही कहना, पर यदि यह निर्मल वर्मा की सारी कहानियो के आधार पर प्रकट की गई धारणा हो तब कहा ही क्या जा सकता है—सिवाय इसके कि प्रत्येक को अपने-अपने मत को प्रकट करने की स्वतन्त्रता है और होनी चाहिए। जब राजनीति मे (देश मे नही—जन-जीवन मे नही!) तथाकथित प्रजातात्रिक गुणो का आविर्भाव हो गया है, तो देश एव जन-जीवन के यथार्थ परिवेश से असम्पृक्त 'साहित्य' मे ही प्रजातात्रिक गुणो का समावेश क्यो न हो? अस्तु।

निर्मल वर्मा कलावादी हैं। उनके लिए कला मात्र कला है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नही—अत उनकी कहानियो मे किसी जीवन दृष्टि को खोजना व्यर्थ होगा। उनकी कहानियो मे कला सम्बन्धी विविधता प्राप्त होती है और पूर्ण अभिनयात्मक दृष्टिगोचर होती है। वातावरण के बारीक-से बारीक रेशो को उभारने और इमेजो के माध्यम से सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावो द्वन्द्वो एव घात-प्रतिघातो को तीव्रतर रूप मे प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने मे निर्मल वर्मा सिद्धहस्त है। उनकी कहानियों मे वर्णन क्षमता, निर्वाह कुशलता एव सार्थक प्रतीक योजना लक्षित होती है और जिन दो-तीन कहानियो मे उन्होने जीवन सन्दर्भों को विकसित करने की चेष्टा की है उनमें वे पूर्ण सफल रहे हैं। वैसे निर्मल वर्मा का मूल स्वर रोमाटिक है और उन्होंने एक-दो अपवादो को छोड कर प्रेम-कहानियाँ ही लिखी हैं—ट्रेजडी यह है कि इन सारी प्रेम कहानियो मे 'कथा' एक ही है, केवल नाम और सन्दर्भ हर कहानी के साथ परिवर्तित होते गए हैं। 'बैगाटेल', 'दहलीज', 'डायरी के खेल', 'माया का मर्म', 'तीसरा गवाह', 'अन्धेरे मे', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'लवर्स' तथा 'परिन्दे' आदि कहानियाँ इसी सन्दर्भ मे देखी जा सकती हैं। बैगाटेल मे एक रोमाटिक अनुभूति पर

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय नई कहानी का परिपार्श्व, (१९६६), इलाहाबाद

कहानी का संगुफन किया गया है, जिसमें बैगाटेल एक प्रतीक है, जिस पर नायक सुमेर की गोली उस छेद मे जा फसली है, जहाँ हेम का नाम लिखा रहता है। 'दहलीज' मे रूनी, जेली और शम्भी भाई के माध्यम से रोमाटिक वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। इसमे मुख्यतया दो बहनो के रिक्त जीवन से विचित्र सी उदासी और करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा की गई हैं। 'डायरी के खेल' में उसका एक अतीत का पृष्ठ सामने आ जाता है, जिस पर एक दिन उदास शाम को बिट्टी ने टेढे मेढे अक्षरो मे लिखी था और जो अब पीला और पुराना पड़ गया था, इन अक्षरो मे उसे खोजने की चेष्टा कितनी व्यर्थ हैं, तो अब नही। कुछ भी याद करना आत्म-विडम्बना हैं—'माया और नायक के मोह-भग की स्थिति एक रोमाटिक भावुकता एव करुणा उत्पन्न कर कहानी समाप्त हो जाती है। 'माया का मर्म' मे 'बैगाटेल' का सुमेर है और हेम का नाम बदलकर लता माथुर हो जाता है। 'तीसरा गवाह' मे सुमेर रहतोगी साहब हो जाता है और हेम नीरजा बन जाती है। एक दिन सरुर मे आकर रहतोगी साहब अपने विगत के इतिहास को खोलते हैं और उसका एक रोमाटिक पृष्ठ सुनाने लगते हैं। 'अन्धेरे मे, सुमेर रोगग्रस्त होकर शिमला पहुचता है, जहाँ हेम बदलकर बानो हो जाती हैं—और फिर दोनो के रोमास से कहानी का निर्माण हो गया है। यह रोमाँस अधेरे मे विकसित होता है, जो अन्त मे विफल होता है। 'पिक्चर पोस्टकार्ड' मे वातावरण विश्वविद्यालय का है, जहाँ तरुण तरुणियो को मिठाई या पुडिंग प्लेट से अधिक महत्व नही देते और अन्त मे परेश नीलू को पिक्चर पोस्टकार्ड भेज कर कहानी को पूरा करता है। 'परिन्दे' मे सुमेर एक डॉक्टर बन जाता है और हेम मिस लतिका बन जाती है। इसमे डाक्टर छिछली भावुकता पर विजय' पाने की चेष्टा करता है। 'लवर्स' मे भी निन्दी के विफल प्रेम की कहानी है। इन सारी कहानियो मे निर्मलवर्मा का घोर वैयक्तिक स्वर प्रतिध्वनित होता है, जिसमे दृष्टि की सकीर्णता तो है ही, परिवेश का सीमित-पन भी है, जो निर्मल वर्मा की कहानियों को एक धुधले, बिन्दु के ही चारो ओर भटकने की बाध्यता उत्पन्न करता है—इन कहानियो मे विकास करने की न तो प्रवृत्ति हैं और न अपने युग-बोध एव भाव-बोध को आत्मसात् करने की प्रयत्नशीलता। बस इनमे शिल्प सम्बन्धी सफलता लक्षित होती है, जो निर्मल वर्मा का एकमात्र 'विशिष्ट' पक्ष है, जो डॉ० नामवर सिह को 'अगतिशील' प्रतीत होता है। इनकी कहानियो का प्रारम्भ इस प्रकार होता है

"छज्जे पर भूरी, जलती रेत की परते जम गई हैं। हवा चलने पर अलसाए-से धूलि-कण धूप मे झिलमिल से नाचते रहते है। लड़ाई के दिनो मे जो बैरक बनाये गए थे, वे अब उखाड़े जा रहे हैं। रेत और मलवे के ठूह ऐसे खड़े हैं, मानो कच्ची सड़क के माथे पर गोमड़े निकल आए हो।

खिडकी से सब कुछ दीखता है। दिन और शाम के बीच कितने विचित्र रगो की छायाएँ टीलो पर फिसलती रहती हैं !

दूर से निरन्तर सुनाई देता है, पत्थर तोड़ने की मशीन का शोर, दैत्य के घुर्राटों की तरह'''घुर्र-घुर्र-घुर्र'''

दोपहर की नीद के कच्चे कगारों पर ये आवाजे हल्की-सी लहरो हल्की थप-थप टकराती हैं।'''तरन अकबकाकर जाग गई। हाथ माथे पर गया, तो लगा, पसीने की बूँदो पर बाल चिपक गये हैं, बिन्दी की रोली दोनों भौहो के बीच फैल गई है। उसे लगा, मानो वह अब तक जाग रही थी, सचमुच जागने पर पता चला था कि सोते समय भी वह यही बराबर सोच रही थी। दुपहर की नीद जो ठहरी, आधी आँखो मे, आधी बाहर।

आखे धोई, बिन्दी पोछ दी, पम्प के पानी को चुल्लू मे लेकर आँखो मे छिडका। गुसलखाने की खुली खिडकी से मैदान का वह हिस्सा दीखता था, जहाँ बैठको को ढहाया जा रहा था। आधी टूटी इमारते, सूखे भग्न ककालो-सी खड़ी थी। सूखी रेत के कण तितीरी धूप मे मोतियो-से झिलमिला उठते थे। तरन को लगा, मानो उसके दाँतो के भीतर भी रेत चरामरा रही हो।[1]

उनकी कहानियो का अन्त बडे नाटकीय ढग से होता है और वह अन्त अनेक प्रश्न चिह्न उपस्थित करता है, जिनका कोई उत्तर कहानीकार नही देता, स्वयं कहानी मे भी कोई उत्तर नही—पाठको को अनुमान से कहानी मे लिखे अस्पष्ट सूत्रो से कल्पित करना पडता है।

"कुछ देर बाद जब वह बाहर आया, बसन्त की रात झुक आई थी। हवा मे धरती की सोंधी-सी गध का आभास था। उसने निश्चित होकर ठण्डी ताजी हवा मे साँस ली। अस्पताल के उस तग, जरूरत से ज्यादा गर्म क्यूबिकल के बाद उसे बाहर का खुलापन बहुत सुखद प्रतीत हो रहा था। उसने घडी देखी। अभी दस मिनट बाकी थे। उसे हलकी-सी खुशी हुई कि वह प्राय जाने से पहले एक बियर पी सकेगा।

कुछ देर तक वह पलग पर आँखे मूदे लेटी रही। जब उसे निश्चिय हो गया कि वह अस्पताल से दूर जा चुका है तो वह धीरे से उठी। खिड़की खोल दी। बाहर अंधेरे मे उस छोटे-से शहर की बत्तिया जगमगा रही थी। उसे प्राग मे अपने होस्टल का कमरा याद हो आया। वह सिर्फ दो दिन पहले उसे छोडकर आई थी। लेकिन उसे लग रहा था, जैसे तब से एक लम्बी मुद्दत गुजर गई है। वह कुछ देर तक वही निश्चल खडी रही। मैटर्निटी वार्ड से किसी बच्चे के रिरियाने की आवाज सुनाई दी थी, फिर सब खामोश हो गया।

---

१ निर्मल वर्मा : जलती झाड़ी, (माया दर्पण-कहानी), दिल्ली, पृ० २२-२३।

वह चुपचाप बिस्तर के पास चली आई। अपने सूटकेस से एक पुराना तौलिया निकाला। फिर उसमे करने से उन सब चीजो को लपेटा, जो वह उसके लिये छोड गया था। खिड़की के पास आकर उसने उन्हे बाहर अंधेरे मे फेंक दिया।

जब वह वापस अपने बिस्तर के पास आई, तो उसका सिर चकराने लगा। स्टूल पर लीपा का पैकेट अब भी पडा था। उसने एक सिगरेट सुलगाई लेकिन उसे उसका स्वाद फिर अजीब-सा लगा। उसे फर्श पर बुझाकर वह पलग पर लेट गई। एक छोटा सा गरम आँसू उसकी आँखो की कोरो से बहता हुआ उसके बालो मे खो गया, किन्तु पता नही चला। वह आराम से सो रही थी।[१]

उनकी कहानियो मे कथोपकथनो का एक उदाहरण देखिए

"विली हमारे यहाँ काम करता था—उसने गर्व से विली की ओर देखा, मानो उसे हम लोग विली की तुलना में काफी तुच्छ जान पड रहे थे।

"—काफी देर से हो?—उसने पूछा।

—सिर्फ कुछ दिन मैंने कहा।

—इज इट फाइन

—इज इट फाइन—मैंने कहा।

—कोई काम? वह मेरे कमीज के कालर को देख रहा था। न जाने कितने देशो की धूल उस पर जमा थी।

—अभी कुछ नही ··

—विली को काम मिल सकता है, लेकिन यह एक जगह टिकता नही—उसने विली की ओर देखा, कुछ प्यार से, कुछ उलाहने से।

—मैं तुम्हारे यहाँ रह सकता। सिर्फ तुम·· विली ने कहा।

इटालियन का चेहरा अचानक क्षुब्ध सा हो आया—तुम जानते हो · उसने कहा।

—आह-विली ने कहा—तुम सब लोग एक जैसे ही हो।

—बहुत गर्मी है—जार्ज ने कहा।

—तुम जानते हो इटालियन ने बहुत आग्रह से कहा।

—न मैं कुछ भी नही जानता। मैं सिर्फ इतना जानता हू कि मैं अभी डास करूंगा—[२]

निर्मल वर्मा की कहानियो मे शिल्प चातुर्य हैं, कोई जीवन दृष्टि नही। उनकी भाषा शैली सरल है। इसमे अंग्रेजी शब्दो का बेखटके प्रभाव किया गया है, जो खटकता तो है, पर जिस वातावरण या पात्रो को लेकर ये कहानियाँ लिखी गई है, उसे

१ निर्मल वर्मा जलती झाडी, (अन्तर-कहानी), दिल्ली, पृ० १५४-१५५।

२ निर्मल वर्मा जलती झाडी . (लन्दन की एक रात-कहानी) दिल्ली, पृ० ११५

देखते हुए बुरा भी नही प्रतीत होता । एक सुविज्ञ[1] से ठीक ही लिखा है कि अनास्था कुंठा एव घुटन को निर्मल वर्मा ने अपनी कहानियो शिल्प चमत्कार से छिपाने का प्रयत्न किया हैं।

अमरकान्त

अमरकान्त प्रेमचन्द कहानी परम्परा के कहानीकार हैं उनकी कहानियो में आज के निम्न-मध्य वर्ग एव मध्यवर्ग का चित्रण पूर्ण यथार्थता से किया गया है, जिसमे मानवीय सवेदनशीलता एव प्रगतिशील दृष्टिकोण मिलता है । उनकी कहानियो के दो सग्रह प्रकाशित हो चुके है । उन्होने शिल्प प्रयोग नही किए है । उनकी कहानिया प्रयासहीन शिल्प का अन्यतम उदाहरण हैं । उन्होने एक स्वस्थ जीवन-दृष्टि, आस्था एवं सकल्प, सघर्ष भरी जिजीविषा और यथार्थ के स्वाभाविक चित्रण को अपनी कहानियो मे विशेष महत्व दिया है । 'डिप्टी कलक्टरी', दोपहर का भोजन', 'हत्यारे', 'जिन्दगी और जोक', 'असमर्थ हिलता हाथ' तथा 'खलनायक' उनकी अत्यन्त उल्लेखनीय कहानियाँ हैं । इन कहानियो मे उन विषमताओ, विसगतियो एव सामजिक असमानताओ का अत्यन्त सूक्ष्म एव यथार्थ चित्रण किया गया, जो मानव-जीवन के विकास मे अवरोध उपस्थित करती हैं, व्यक्तियो के सूक्ष्म से-सूक्ष्म मनोभावो एव मनोवृत्तियो के कुशल अकन मे यथार्थ परिवेश को उजागर किया गया है और सकेतो से अत्यन्त प्रभावशाली ढग से व्यग्य प्रधान शैली मे मनुष्य जीवन की आधुनिक सन्दर्भों मे कठोर नियति की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है । इधर 'देश के लोग', 'लाट', पडोसी और 'लड़की और आदर्श' आदि कहानियो को देखकर लगता है कि अमरकान्त की कहानी कला समष्टि चिन्तन से व्यक्ति चितन की ओर उन्मुख हो रही है । हो सकता है कि समष्टि चितन अपनी अन्तिम परिणति मे व्यष्टि चितन मे प्रस्फुटित हो गया या समष्टि चितन से मोहभग की स्थिति का प्रतिफल भी हो सकता है, पर इन अमरकान्त के प्रगतिशील दृष्टिकोण, सामाजिक सचेतना एव आस्था सकल्प का खण्डिन होना मैं किसी भी रूप मे नही स्वीकार सकता । मेरी स्मृति मे उनकी ये पक्तियाँ अब भी गूंजती हैं वह मरना नही चाहता था, इसीलिये जोक की तरह जिन्दगी से चिपटा रहा । लेकिन लगता है, जिन्दगी स्वय जोक सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अन्तिम बूंद भी गई ।'—ये भाव अमरकान्त की कहानियो मे आज भी खोजे जा सकते है ।

अमरकान्त की कहानियो मे, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शिल्प-प्रयोगो के प्रति विशेष आग्रहशीलता नही लक्षित होती । उनके लिये कथ्य को ही ईमानदारी एव यथार्थता से प्रस्तुत करना ही महत्वपूर्ण है । वे आज के उन थोडे से इने-गिने कहानीकारो मे है जिनमे प्रयासहीन शिल्प के साथ मानवीय सवेदनशीलता एव सामाजिक

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : नई कहानी का परिपार्श्व, (१९६६), इलाहाबाद

दायित्व निर्वाह की भावना सबसे अधिक है। वे मुख्यतया सामाजिक सचेतना के कहानीकार हैं और समाज, लोग, जीवन और युग-इन्ही की परिधियो मे उनकी कहानीकला का विकास हुआ है। वे चेखव के इस कथन को पूर्ण यथार्थता से रूपायित करते है कि यदि मैं समाज की सीमाओ मे बंधा हुआ लेखक हू, तो यह मेरा दायित्व हो जाता है कि मैं अपने युग, समाज, अपने आस पास के लोगो और उनके जीवन का चित्रण करू। अमरकान्त मे एक स्वस्थ जीवन दृष्टि है, यथार्थ को पहचानने की समर्थता है और नवीन सामाजिक सन्दर्भों के विकसित कर नवीन मूल्यो की स्थापना एव सत्यान्वेषण की सक्षमता है। यहा उनकी तीन कहानियो से प्रारम्भ, अन्त एव कथोपकथन के उद्धरण प्रस्तुत है। उनकी कहानियो का प्रारम्भ प्रमुखतया इस प्रकार होता है।

"झीगुरो के स्वर मे रात की खामोशी झनझना रही थी। मीना की नीद टूट गई। उसने हडबड़ाकर खुले हुए दरवाजे की ओर देखा और कमरे मे नजर दौड़ाई, लेकिन कही कुछ नही था। और जब वह धीरे से कुर्सी खिसकाकर चारपाई पर झुक आई तो लक्ष्मी पर दृष्टि पडते ही अँगूठे से लेकर माथे तक उसके शरीर का रक्त जैसे सूख गया। उसकी माँ का सिर तकिये पर एक ओर लटक आया था। मुँह खुला था, आखे बन्द थी और हाथ-पैर बेजान से पडे थे।

एक असहाय रुलाई और चीख उसके हृदय से उठकर गले मे फँस गई। उसके हाथ-पैर काँपने लगे, इसलिये वह भागकर घर के अन्य लोगो को जगा भी न सकी। अन्त मे मजबूर होकर लक्ष्मी की नब्ज टटोलने लगी। दिल अवश्य धडक रहा था, परन्तु अनियमित रूप से—कभी धीमे धीमे और कभी तेज चलने वाली घड़ी की तरह इतने दिनो की बीमारी मे उसकी माँ को आज ही ऐसी बेहोश नीद आई थी। आश्वासन का आधार पाकर मीना का भय आँसुओ मे बहने लगा।

वह दरवाजे के बाहर देखने लगी। अन्धकार का पर्दा क्षितिज पर फट गया था और पूरबी आकाश का गँदला नीलापन दिखाई दे रहा था। उसको यह सोचकर किंचित आश्चर्य हो रहा था कि मा के लिए वह इतनी क्यो दुखित रहती है, जबकि लक्ष्मी और उसका सम्बन्ध इधर छत्तीस के दोनो अको की तरह रहा है। जब फागुन के आरम्भ में लक्ष्मी की हालत गम्भीर हो गई, तो एक दिन ऐसी ही सुबह नीद खुलने पर मीना के दिमाग मे यह विचार कौंध गया कि मा की मृत्यु के बाद वह चिड़िया की तरह आजाद हो जाएगी।"[१]

उनकी कहानियो का अन्त इस प्रकार होता है :

वह खडा हो गया और खुशी की उत्तेजना मे टहलने लगा। परन्तु चार-पाँच

---

१. अमरकान्त . असमर्थ हिलता हाथ, (नई कहानियाँ। फरवरी १९६४), दिल्ली पृ० १७।

कदम जबरदस्ती चलने से ही वह पसीना-पसीना हो गया। किसी तरह वह कुरसी तक आया और बैठ गया। उसके बीच मे और जोर से दर्द होने लगा था। बायें हाथ का अगूठा जोरो से फडक रहा था। दोनो पैरो की एड़ियो मे टभकन पैदा हो गयी थी। सिर मे भारीपन डोल रहा था और मुंह सूख रहा था। उसने फिर माथा कुरसी पर टिका दिया। बाहर झिम-झिम पानी बरसने लगा था। इस मौसम परिवर्तन से उसको खुशी-सी हुई, उसका वर्तमान कष्ट भी खत्म हो जाएगा। उसने सुशीला के बारे मे फिर सोचना शुरू किया, लेकिन उसको झपकी सी आ रही थी। उसको ऐसा लगा कि वह सपना देख रहा हो वह पाच-छ: वर्ष का बच्चा होकर एक मैदान मे तेजी से दौड़ रहा था। फिर वह पच्चीस वर्ष का नौजवान हो गया और अधाधुध गोलियाँ चलाने लगा[1]।

कुछ ही देर बाद नौकर के साथ सुशीला आयी, लेकिन उसको देखकर उसका चेहरा डर से स्याह हो गया।

"कौन है यह ? क्या नाम बताया ? कहा का रहने वाला है ? तुमने पूछा नही कि कि साहब से कौन-सा काम कराना चाहता था ?" सुशीला आतक से अशक्त वाणी मे नौकर से पूछ रही थी। वह मर चुका था[1] उनकी कहानियो मे कथोपकथन अत्यन्त साधारण, पर सार्थक होते हैं। वे बिल्कुल बोलचाल की शैली मे होते हैं, उनमे कोई पच्चीकारी या सायासपन लक्षित नही होता, इसीलिए उनमे इतनी स्वाभाविकता रहती है :

"मैं आपका पड़ोसी हूं, हमारा आपका परिचय हो जाना चाहिए।"

"मेरा नाम है सुशील।"

"कहाँ काम करते हो ?"

मैं कही काम नही करता," सुशील संकोचपूर्वक मुस्कराया, "मुझे चित्र बनाने का शौक है और चौक की गली मे मेरी छोटी सी दुकान है···।"

"कौन बिरादर हैं ?"

"मेरी कोई जाति नही है।" सुशील जोर से हँसा।

"मैं भी जाति-वाति मे विश्वास नही करता···फिर भी···।"

"देखिये हरिजन नाम मुझे पसन्द नही, जैसे मैं आदमी नही होऊं। मैं वैसे जाति का चमार हू।"

"अच्छा ऽ ऽ।"[2]

---

१. अमरकान्त : जनमार्गी, (सारिका : नवम्बर १९६२), बम्बई, पृ० २३।
२. अमरकान्त : पड़ोसी (परिकथा : अक्टूबर १९६४), इलाहाबाद, पृ० १.१।

अमरकान्त की भाषा-शैली मे यथार्थता है। उन्होने बोलचाल के शब्दो एव प्रचलित मुहावरो का प्रयोग कर अपनी भाषा को जहा प्रभावशाली बनाया है, वही जन तत्वो का और पात्रानुकूल प्रवृत्तियो को ग्रहण को उसे अधिक सामार्थ्य बनाया हैं। एक सुविज्ञ[1] के अनुसार अमरकान्त की कहानिया विशिष्ट है और नई कहानी के विकास मे उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इसके अतिरिक्त इस काल मे राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी, श्रीमती विजय चौहान, कुलभूषण, उषा प्रियवदा, मन्नू भण्डारी, शैलेश मटियानी, भीष्म साहनी, हरिशकर परसाई आदि कहानीकारो ने भी अनेक उल्लेखनीय कहानियाँ लिखी हैं और नई कहानी की परम्परा विकसित करने मे उन सबका अपना-अपना महत्व है।

१६६० के बाद जो नई पीढी सामने आ रही है, उसमे प्रवृत्तियो की दृष्टि से भी नही कलात्मक आधार पर भी अनेक परिवर्तन लक्षित होते है ज्ञान रजन, दूधनाथसिह, रवीन्द्रकालिया, गिरिराज किशोर, ममता कालिया, महेन्द्र भल्ला, सुधा अरोडा, मधुकर सिह अवधनारायण सिह, प्रेम कपूर, पानू खोलिया, गगा प्रसाद विमल, अवधनारायण, से रा यात्री, योगेश गुप्त महीप सिह, बलराज पडित, जगदीश चतुर्वेदी, सुरेन्द्र अरोडा, श्याम परमार, सुदर्शन चौपडा, अनीता औलक, रामनारायण शुक्ल, सुरेन्द्र वर्मा, ज्ञान प्रकाश, वेदराही, धर्मेन्द्रगुप्त, अनन्त, सुनीता, ओमप्रकाश, निर्मल' मनहर चौहान तथा हृदयेश आदि अनेकानेक कहानीकारो ने आज की नई कहानी को उसके अर्थ की वास्तविक सज्ञा देने की दिशा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन सभी कहानीकारो की कहानियो को किसी एक निश्चित मानदण्ड से नही परखा जा सकता स्वय एक-एक रचनाकारो ने ही विभिन्न स्तरो पर कहानियाँ लिखी हैं। जैसे दूधनाथ सिह की रक्त पात और 'इन्तजार' दोनो भिन्न सतहो पर प्रतिष्ठित हैं। इसी प्रकार गिरिराज किशोर की पैरो तले दबी परछाइया' तथा 'नया चश्मा', ज्ञान-रजन की 'फेन्स के इधर-उधर' तथा सीमाएँ', रवीन्द्र कालिया की 'बडे शहर का आदमी' तथा 'नौ साल छोटी पत्नी', गगाप्रसाद विमल की 'झूठ' तथा उसका साथ सुधा अरोडा की 'अविवाहित पृष्ठ' तथा निर्मम', ममता कालिया की 'छिटकी हुई जिन्दगी' तथा 'छुटकारा' जगदीश चतुर्वेदी की 'मानवता का मूल्य' तथा मुर्दा औरतो की झील'. महीप सिह की ठण्ड' तथा 'पानी का पुल', मनहर चौहान की 'घरघुसरा' तथा बीस सुबहो के बाद महेन्द्र भल्ला की 'दिन शुरू हो गया है' तथा 'एक पति के नोट्स', से रा यात्री की 'दर्द भरे आइने तथा 'नीति रक्षा' सुदर्शन चोपडा की पुल' तथा 'जिन्दगी का सर्करामा', सुरेन्द्र अरोडा की 'ममी' तथा 'इन्तजार' अवधनारायण सिह

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय · नई कहानी का परिपार्श्व, (१६६६) इलाहाबाद।

की 'आकाश का दबाव—कहानियाँ इन्ही विभिन्न आयामो मे परिलक्षित की जा सकती है।

नरेश मेहता

नरेश मेहता मूलत. कवि हैं। कहानी के क्षेत्र मे यद्यपि वे बाद मे आए, फिर भी शीघ्र ही उन्होने प्रथम पंक्ति के कहानीकारो मे अपनी जगह बना ली है। उनकी कहानियो का एक संग्रह 'तथापि' प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त एक शीर्षकहीन स्थिति,' 'श्रीमती मास्टन,' 'कर्णफूल,' 'अनबीता व्यतीत' 'एक इतिश्री,' 'एक समर्पित महिला,' 'वर्षा भीगो' आदि कहानियाँ अलग से प्रकाशित हुई है। यो तो नई कहानी की एक विशेषता यह है कि किसी एक सामान्य मापदण्ड बनाकर सभी कहानीकारो का मूल्यांकन नही किया जा सकता पर इसके बावजूद एक ही रंग के कई कहानीकार मिल सकते हैं, जैसे सामाजिक सन्दर्भों को लेकर लिखी जाने वाली मोहन राकेश और कमलेश्वर की कई कहानियाँ एक ही धरातल की है, हालाकि दोनो के व्यक्तित्व की उन पर पूरी-पूरी छाप है। लेकिन नरेश मेहता की कहानियाँ एक विभिन्न दृष्टिकोण से ही देखी जा सकती है। उनके रागात्मक बोध की आधुनिक सचेतना, स्थितियो की कान्शश शालीनता, भाषा की नई अर्थवत्ता, पात्रो के अभिनव परिपार्श्व, कविता जैसी रसानुभूति कराने वाली सवेदनशीलता एव यथार्थ के नए संदर्भो के कारण उनकी कहानिया विशिष्ट उपलब्धियाँ है और कदाचित् यही कारण है कि बहुत कम लिखने के बावजूद वे अग्रणी कहानीकारो की पंक्ति मे चर्चित होते हैं।

उनकी कहानियो के दो वर्ग बनाए जा सकते है। एक वर्ग उन कहानियो का है, जिनमे वे सामाजिक सन्दर्भो एव नवीन यथार्थपरक परिवेश की सीमाओ मे बधे रहे हैं। इनमे 'दुर्गा,' 'जिसका बेटा' 'श्रीमती मास्टन' तथा 'वह मर्द थी' आदि कहानियाँ ली जा सकती है। दूसरा वर्ग उन कहानियो का है, जिनमे व्यष्टि चिंतन, व्यष्टि सत्य एवं 'एक' को पाने की प्रयत्नशीलता है, हालाकि नरेश मेहता का प्रयास रहा है कि यह 'पाना' भी 'पूरे' से असम्पृक्त न हो, इसीलिए वह वैयक्तिक चेतना से प्रभावित होकर भी उन्हीं आत्मपरक स्थितियो को संस्पर्श दे सके हैं, जिनमे विराटता का बोध ही न हो, वरन् व्यापक जीवन मूल्यो की समग्रता का भी समावेश हो सके। वे अपनी रचना प्रक्रिया में निर्मम निस्पृह एव निर्वैयक्तिक रह सके है, क्योकि वे आग्रहो को जीवन का अन्तिम सत्य स्वीकार कर नतशिर हो जाने वाले कहानीकार नही है।

इसके कारणो को स्वय नरेश मेहता ने ही स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लेखन मुझे सबसे बडी प्रतिश्रुति है, जिसे कमिटमेण्ट भी कह सकते हैं। ऐसी प्रतिश्रुति जिसे न केवल व्यक्ति, बल्कि दुराग्रहीन स्वत्व सौपना होता है। ऐसा सौपना एक नैतिक दायित्व है। व्यक्ति और स्वत्व मे अन्तर यह है कि व्यक्ति तो हम होते ही हैं, पर स्वत्व अनेक स्त्रोतो से अर्जित किया जाता है। यही कारण है कि नरेश मेहता की

कहानियाँ एक भिन्न स्तर पर प्रतिष्ठित होती हैं। अपनी कहानियो मे वे अपने कवि की हत्या नही कर पाये हैं। उनका कविपन कहानियो मे भी उभरा है। पर सन्तोष की बात यही है कि उसके फलस्वरूप कहानियो को मधुर काव्यात्मकता और प्रवाह ही प्राप्त हुई है। अमूर्त साकेतिकता एव सूक्ष्म बिन्दु बनकर अस्पष्टता का बौद्धिक आभास तो वे नही ही बन सकी है।

प्रायः आरोप लगाया जाता है कि नई कविता की आत्मपरकता, कुण्ठा, पलायन एवं रोमानी दृष्टिकोण नरेश मेहता अपनी कहानियो मे भी ले आये हैं पर मुझे इसमे पूर्वाग्रहों के अतिरिक्त तथ्य नही दृष्टिगोचर होता। 'एक शीर्षकहीन स्थिति' या 'दूसरे की पत्नी के पत्र' की यथार्थता को क्या कुण्ठापरकता की सँज्ञा दी जाएगी या उन्हे सामाजिक बोध से मुक्ति दी जाएगी ? इस तथ्यहीन बात पर विवाद करने की बजाय मैं यह कहना चाहता हू, नरेश मेहता की कहानियो के पात्र वैयक्तिक से लगते अवश्य हैं, पर वे पर्सनल नही हैं। लेखक उनमे इन्वाल्व न होकर पूर्णतया तटस्थ एव नि.सग हो जाता है और उसे सामाजिक सत्य का रूप देकर तथाकथित आधुनिक जीवन की यथार्थता का स्थानापन्न बना देता है जिससे वे यथार्थ के नये सूत्रो को स्पष्ट करने मे पूर्ण समर्थ रहते हैं। उनकी कई कहानियो मे प्रेम का चित्रण हुआ है पर यह प्रेम भावुकतापूर्ण ढग से कल्पनाशील आधार पर चित्रित न होकर आज के परिवर्तित सन्दर्भों मे प्रेम के नवीन अर्थों को आधुनिक परिवेश के भीतर अभिव्यक्त हुआ है : यह प्रेम चित्रण इसीलिए आत्मपरक आभास देते हुये भी समाज-सापेक्ष्य बन जाता है और व्यापक समष्टि चिंतन की ओर सूक्ष्म संकेत करता है।

नरेश मेहता की कहानियो मे सामाजिकता एव सोद्देश्यता समकालीन परिवर्तनशीलता तथा नए उभरने वाले मूल्यो के सन्दर्भ मे स्पष्टतया लक्षित किये जा सकते हैं। उनमे सजग सामाजिक चेतना, नवीन मूल्यो के अन्वेषण एवं परिवर्तित मानदन्डों को अपनाने (दुर्गा, वह मर्द थी, तथापि आदि कहानिया) की आकुलता सशक्ता से अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी है। उनकी कहानियो की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनकी अनूठी प्रतीक योजना एव भाषा का कलात्मक सौष्ठव है। भाषा अभिव्यक्ति एव विषयवस्तु मे वे आद्यान्त सँस्कारशील कहानीकार हैं, इसीलिये उन कहानियो की प्रथम प्रतिक्रिया किंचित जटिलता का आभास दे सकती हैं, पर कहानियो में व्याप्त सश्लिष्ट गुणो के कारण वे अभिव्यक्ति की नई मर्यादाएँ स्थापित करने मे सफल सिद्ध होती हैं।

: ८ :

सातवाँ दशक: कुछ विचार सूत्र

आधुनिक दशक का स्वरूप अभी पूर्णतया स्पष्ट नही हो पाया है, पर अनेक लेखक बड़ी तेजी से उभर रहे हैं और अपनी गति निश्चित करने मे सजगता से आगे बढ रहे हैं। अपनी पीढी के सम्बन्ध में कुछ कहना या अपने समकालीनो की सृजन प्रक्रिया के सबध मे कोई बात कहना कम खतरनाक नही है और वह पूर्णग्रहो से प्रभावित ही समझा जाएगा, फिर भी मुझे यह-कहने मे कोई सकोच नही है कि पिछले दशक और इस दशक के बीच विभाजक रेखा बड़ी सरलता से खीची जा सकती है, जिसमे मेरी पीढी का स्वरूप निश्चित करने मे बहुत कठिनाई नही होनी चाहिए। इस दशक के सभी समकालीनो ने प्रयासहीन शिल्प का महत्वपूर्ण आदर्श स्थापित किया है। लादी गयी साकेतिकता, अमूर्त प्रतीक विधान, अस्पष्टता एवं दुर्बोधता के स्थान पर अब फॉर्म को सादगी, स्पष्टता और सार्थकता प्रदान करने के प्रति अधिक आग्रह है। पिछले दशक मे जहाँ लेखको के सामने यह समस्या थी कि जीवन से वे क्या ले और क्या न ले, इसीलिए कई कहानीकारो की रचनाओ के अनावश्यक विस्तार एव वस्तु की विशृ खला को जस्टीफाइड किया था, किन्तु इसके ठीक विपरीत अब मेरी पीढ़ी मे जहा तक मैं समझता हू, किसी के सामने यह समस्या नही है कि वह जीवन से क्या ले और क्या न ले। हर किसी की दृष्टि साफ और स्वस्थ ही नही है, वरन् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए उद्देश्य बिन्दु को पहचानने और प्रत्यक्ष हिट करने की क्षमता से भी पूरित है। यही कारण है कि उनमे चयन शक्ति की सूक्ष्मता एव सार्थकता दोनो ही श्रेष्ठ ढग से आई है, जिसके फलस्वरूप कहानी का आकार छोटा हुआ है और उसमे अधिक सहजता एव प्रेषणीयता लाने का कार्य समकालीन मित्रो ने अत्यन्त उल्लेखनीय ढग से सम्पन्न किया है।

व्यक्तिगत स्पष्टीकरण

यदि बातो को अपने से असम्पृक्त करके न कहू, तो यह कहने का साहस कर सकता हू कि अकेलापन हमारे लिए कोई पोज नही है। हमने आरोपित नही किया है, वरन् वह हमे एक विरासत के रूप मे प्राप्त हुआ है। हम नही जानते कि हम कहा जन्मे, कहा पले और कहा हमने आकार की सज्ञा पाई। हमे यह भी नही ज्ञात कि हमारी परम्परा कौन सी है या किन गरिमा-मर्यादा युक्त सस्कारो के धरातल पर हमे

अपने को प्रतिष्ठित करना है। एक दिन हमे जब बोध हुआ, तो हमने पाया कि हम अंधेरे मे ढकेल दिए गए है और चारो तरफ केवल अंधेरे का समुद्र है, जिसमे हमारी स्थिति गतिहीन तैराको की है। एक ओर जहाँ हम सब हिपोक्रेसीज में जीने वाले लोग थे दूसरी ओर हमे अंधेरे मे फुटबाल की तरह किक किया जा रहा था या नए साल के गुब्बारो की भाँति दुनिया मे उछाला जा रहा था।

और हमे विगलित-जड परम्परा का निर्माण करना था, युग को नई अर्थ वत्ता देनी थी, अपने परिवेश को यथार्थ सन्दर्भो मे चित्रित करना था —

स्पष्ट है, एक दुस्तर कार्य था और हमे घूम कर फिर उसी बिन्दु पर वापस पहुँचना था जहा 'कफन पर एक युग समाप्त हुआ था, या 'हरिनाकुश का बेटा', मलवे का मालिक,' 'सुबह का सपना जहां लक्ष्मी कैद है' 'दोपहर का भोजन', 'तीसरी कसम',[1] से नया युग प्रारम्भ हुआ था और उसकी अन्तिम परिणति जख्म, अन्तर, जो लिखा नही जाता, लाट, एक कटी हुई कहानी तथा टेबुल पर हुई थी।[2]

यह एक स्थिति ही नही थी, कठोर यथार्थ था, जिसे स्वय हमे ही नही स्वीकारना था उसकी स्वीकृति का धरातल तैयार करना था, उसके सम्मुख निरुत्तर नही उत्तर देना था नई चुनौतियाँ आई, जिन्हे स्वीकारना बाध्यता थी क्योकि प्रश्न हमारे अस्तित्व का ही नही, हमारे बोध और सचेतना का था। नई सक्रान्ति सकट बोध बन गई, जिसे यथार्थ सज्ञा देना दायित्व ही नही प्रतिबद्धता बन गई और प्रश्न निष्ठा का नही हमारी प्रतिश्रुति से प्रारम्भ होती है। और यह प्रारम्भ किसी युग का प्रारम्भ नही, कोई प्रतिक्रिया नही, एक सर्वथा नव्यतर परम्परा का निर्माण था।

हमने अकेलेपन का चित्रण कुठापरकता के लिए नही किया है, वैयक्तिक स्तर पर घुटन के दबाव को न्यून करने के लिए नही किया है। प्रश्न हमारे सामने विध्वस का नही है, प्रश्न निर्माण का भी नही है, क्योकि हम न मसीहा है न राजनीति के देवता, न धर्म के विवेकानन्द है, हम बस हम है और हम समाज, परिवेश और अपने चारो तरफ के व्यक्तियो की आत्मानुभूतियो एव सघर्षों के मात्र साक्षी रहे है, कहानियो मे बिना किसी हस्तक्षेप के प्रस्तुत करने वाले माध्यम भर रहे है— हम उनके लिए कभी बैसाखी नही बने और न हमने कभी उसका दावा ही किया। इसलिए जब हमारी कहानियो मे अकेलापन या अजनबीपन की घुटन अभिव्यक्ति पाती है, तो वह एक रोमाटिक भगिमा या फैशन नही है और न वह सार्त्र, कामू या काफ्का के शब्दो के माध्यम से आता है,

१ इन कहानियो के लेखक क्रमश धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव-अमरकान्त, रेणु हैं।

२. इन कहानियो के लेखक क्रमश मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकान्त, राजेन्द्र यादव तथा रेणु है।

वरन् स्वय हमारी अपनी जीवन पद्धति के प्रसूत सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रेशो, विघटनकारी प्रवृत्तियो, राजनीतिक अव्यवस्था आर्थिक पराजयो एव स्वार्थपरक भ्रष्टाचारजनित परिस्थितियो तथा हनन करने एव शामन करने की दुर्भावनाओ से उत्पन्न कारणो का परिणाम है।

हमारी पीढी हतभागी है कि हमे सब कुछ भोगना पड रहा है। विरासत शून्य है और आगत अधकार है। पीछे देख नही सकते, आगे अंधेरे को चीरना है। सामर्थ्य उत्पन्न करने की यह प्रक्रिया ही हमारी सृजनशीलता है और हमारी दृष्टि यही कहना चाहे, तो कह सकते हैं, निर्माण से सम्बद्ध होती है। यह निर्माण तथा-कथित आदर्शवाद से असम्पृक्त युग-बोध का परिणाम है। आज जीवन जितना क्रूर हो गया है, व्यक्ति मे जितनी निर्ममताएँ आई हैं हम जितने भाव-विपन्न तथा मोह-शून्य जड हो गये है—उसे झुठला कैसे सकते हैं। यही हमारा सन्दर्भ है, जिसे हमे चित्रित करना पडता है और इन्ही के प्रति हमारी प्रतिबद्धता है।

इसी सन्दर्भ मे हमारे लिये यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हम अपने जीवन से किस प्रकार सम्बद्ध है और मानव-जीवन प्रक्रिया के समक्ष हमारी स्थिति क्या है—जब हम इस पर सोचते है कि हमारा जो विशिष्ट मूल्य है, वह समाज से असम्पृक्त, परिवेश से असम्बद्ध और इतिहास से विच्छिन्न अपने मे निस्सग और निरपेक्ष है या नही, तो सर्वप्रमुख बात यह है कि हम ओढी हुई मानसिकता या तथाकथित बौद्धिक दुराग्रहो का तिरस्कार करते है। हम अपने को जहाँ प्रतिबद्ध पाते हैं, वही इस दिशा मे स्वतन्त्र पाते है और इस प्रकार मानसिक आत्महत्या से मुक्ति मिलती है। हमारी सृजनशीलता का सारा दारोमदार इसी धरातल पर स्थित है।

'एक पति के नोट्स' (महेन्द्र भल्ला), 'रीछ' (दूधनाथ सिंह), 'फेन्स के इधर-उधर' (ज्ञानरजन), 'बडे शहर का आदमी' (रवीन्द्र कालिया), 'धब्बे' (से रा यात्री), 'अविवाहित पृष्ठ' (सुधा अरोडा), 'नए-पुराने जूतो का साथी' (धर्मेन्द्र गुप्त), 'सगत' (गिरिराज किशोर), 'मानवता की ओर' (जगदीश चतुर्वेदी), 'मम्मी' (सुधा अरोडा), छिटकी हुई जिन्दगी' (ममता कालिया), 'सायो की नदी' (योगेश गुप्त), 'उसका साथ' (गगाप्रसाद विमल) 'मेरी तीन मौते' (इन्दु बाली), 'चरागाहो के बाद' (अनीता औलक), 'एक बुनशिकन और' (कैलाश नारद), 'पार्टनर' (अवधनारायण सिंह), 'अभिवावक' (आलोक शर्मा), 'शमा' (मेहरुन्निसा परवेज) तथा सुनीता, प्रेमकपूर, पानू खोलिया विजयमोहन सिंह, हृदयेश, ओमप्रकाश निर्मल, कान्ता सिनहा, अर्चना सिनहा, काशीनाथ सिंह, मधुकर गगाधर, ओम तिवारी 'अरुण', गोपाल उपाध्याय, परेश, सुन्दर लोहिया, अमरेन्द्र अमर, ज्ञान प्रकाश, भीमसेन त्यागी, कामतानाथ, अनन्त, नीलम सिंह, बलराज पडित, प्रयाग शुक्ल, सुरेन्द्रपाल, रामनारायण शुक्ल, निर्मल वर्मा तथा कुकुम जोशी आदि की अनेकानेक

कहानियाँ उपर्युक्त मन्तव्य का स्पष्टीकरण करती है। यही से एक नई यात्रा का आरम्भ होता है।

इन सभी समकालीन मित्रो ने अभी यह यात्रा प्रारम्भ की है; हमारे शिल्प तथा एप्रोच में अपरिपक्वता या टैक्सचर की दुर्बलताए छिद्रान्वेषी दृष्टि से अन्वेषित की जा सकती हैं, पर मूल प्रश्न दृष्टि का, आस्था एवं सकल्प का, गरिमा-मर्यादा का एवं निर्वाह के साथ निष्ठा का है, हमारी ईमानदारी का है। हम उनसे वचित नही हैं, उनके प्रति प्रतिश्रुत हैं।

यह विभाजन पीढियो के सन्दर्भ मे नही देखना चाहिए, वरन् एक चरण के रूप मे ही मूल्याकित करना चाहिये। यहाँ जिन लेखको की चर्चा की गई है, वह केवल सुविधा की दृष्टि से ही है। इसका यह अभिप्राय नही है कि इनके अतिरिक्त दूसरे लेखक महत्व ही नही रखते या उनकी सृजनशीलता उल्लेखनीय आयामो को स्पर्श नही कर सकी है। इनमे से अधिकाश के कहानी सग्रह अभी प्रकाशित नही हुए हैं—उनकी कहानियाँ इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी पड़ी हैं, जिन्हे खोजने की कठिनाई ही यहाँ चर्चा न करने का कारण है।

महेन्द्र भल्ला

महेन्द्र भल्ला की 'बदरग', 'दीक्षा', 'दिन शुरू हो गया' तथा 'एक पति के नोट्स' आदि उल्लेखनीय कहानियो मे आज के आधुनिक जीवन के तथाकथित नवीन स्वीकृत रूप का यथार्थ चित्रण एव उसके खोखलेपन के मुखौटे उघेडने का प्रयास किया गया है। महेन्द्र भल्ला के पास स्वस्थ दृष्टि है एवं चयनशक्ति की सूक्ष्मता है, जिसके कारण उठाई गई स्थितियो को यथार्थ परिवेश मे प्रस्तुत करने एव मार्मिक पक्षो का उद्घाटन करने मे उन्हें बडी सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कहानियो मे व्यष्टि चिंतन वही तक है, जो आज के आधुनिक जीवन का आवश्यक अग बनता जा रहा है। इसके फलस्वरूप वे आत्मपरकता की सीमा तक नही जा पाते और व्यक्ति के अस्तित्व की समस्या का व्यापक सामाजिक सन्दर्भो में देखने का प्रयत्न करते हैं।

महेन्द्र भल्ला का शिल्प दुहरा-तिहरा नही है और न अमूर्त प्रतीक योजना का आश्रय लेकर उन्होने दुर्बोधता का आवरण लादकर अपनी कहानियो को बौद्धिक आधार देने का ही प्रयत्न किया है। शिल्प की सादगी एव टैक्सचर की सहजता के कारण अपनी बात को प्रभावशाली ढग से कहने मे वे अत्यन्त सफल होते हैं। उनकी कहानियो मे मुझे एक बात जो सबसे अच्छी लगती है, वह यह कि उनकी दृष्टि मे एक ऐसा पैनापन है, जो उन्हे व्यग्य कहानीकार तो नही बना पाता, पर वीभत्सता पर तीखे प्रहार करने की समर्थता अवश्य प्रदान करता है।

दूधनाथ सिह

दूधनाथ सिंह (१९३६) एक सफल कवि भी हैं, कहानीकार भी। कहानियाँ

उन्होंने कम लिखी है, पर लिखना उनके लिए पेशा नही, माध्यम की खोज है। वे जिस सत्य को आस्था या विश्वासहीनता के साथ देखते है, उनका अभिप्राय उससे पलायन नही स्वीकारते। ईमानदारी का निर्वाह उनके लिये प्रतिबद्धता है। सारी स्थितियो को विगलित करके नही देखा जा रहा है। परिस्थितियो को देखने और उससे सघर्ष करने की स्थिति मे होना भी एक दुर्भाग्य है। यह भी दूधनाथ की प्रतिबद्धता है। आधुनिक जीवन के परिवर्तन को वे अपने देश, अपनी सामाजिक राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियो से पृथक् करके नही देखते। यह सत्य है कि सारे ससार के निर्णयो का जितना गहरा दबाव आज हम पर है या एक दूसरे पर है, उतना गहरा दबाव पहले की किसी भी शताब्दी मे नहीं था। लेकिन बावजूद इस दबाव के एक रचनाकार का निर्णय उसके अपने भीतरी और गहरे निकटतम सम्बन्धो वाले परिवर्तनो से ही परिचालित होता है। विश्व मानव की बात 'डिकेडेन्ट्स' के लिये बडी आकर्षक लगती है। वास्तव मे यह एक दूसरे प्रकार का पलायन है या अपनी प्रतिभाहीनता, दिलचस्पी और निषेधवाद को छिपाने की प्रवृत्ति और इसीलिये दूधनाथ स्वीकारते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर काल मे हमारे सम्पूर्ण मानस मे एक आमूल परिवर्तन आया है। यही से हमारे सोचने का ढग पृथक् हो जाता है। बुनियादी तौर पर प्रजातात्रिक मूल्यो की सारी परिकल्पनाए वर्तमान परिस्थितियो मे झूठी साबित हो रही है। यह सचमुच परिस्थितियो को उचित सन्दर्भो मे देखने की बात है।

उद्देश्यहीनता इस प्रकार दूधनाथ का लक्ष्य नही है, लेकिन साथ ही उनका कोई आरोपित उद्देश्य नही हो सकता। वे जब भागीदारी की बात करते हैं, तो तत्काल अपनी सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियो, कठोरताओ और असहनीयताओ में अपनी सलग्नता के सन्दर्भ मे ही। उनकी यह सलग्नता ही उन्हे उच्चतर दायित्व देती है और उसी अनुपात मे उनकी कठिनाइयाँ और यत्रणा की शर्ते भी बढ जाती हैं। उनकी धारणा है कि समाज कोई बना-बनाया ढॉचा नही है, जिसका यथार्थ या जिसका दबाव या जिसका खोखलापन एक-सा है। वे उसकी भविष्यवाणी नही करते, केवल रचना के माध्यम से सहगामी बन जाते है। इसीलिए अपनी रचनाओ के माध्यम से वे एक सर्वथा नये ढग की विश्वासहीनता की ओर अग्रसर होते हैं। कुछ लोगो को इसमे निषेधवाद या पलायन की गध मिल सकती है, पर दूधनाथ का मतव्य भिन्न है। जिस प्रकार की धूर्तताए और कृत्रिम आकर्षण—दोनो ही एक साथ उनके सामने है—उनमे विश्वास कर सकने मे उन्हे कठिनाई होती है। वे कोई दिशा दृष्टि खोजकर भी उनमे विश्वास न करने का सकल्प लेते है।

इस प्रकार दूधनाथ की धारणा है कि ये सारी स्थितियाँ रचना और लेखन के लिये और भी गहरे उत्स खोलती है। अन्दर मे हमारे चारो ओर जिस प्रकार की अव्यवस्था अपने क्रूर पजे फैलाती जा रही है, उनमे सृजन की गहरी सम्भावनाओ का

उदय हुआ है। यह भी निश्चित है कि इस सब कुछ को समेटने के लिये नई भाषा, एक नई नीरसता और शिल्पहीनता की दूधनाथ को बार-बार आवश्यकता अनुभव होती है। इसका निरन्तर अन्वेषण ही उनकी सबसे बडी समस्या है। एक ओर वह अपने समस्त पिछडेपन से आक्रान्त है, दूसरी ओर अपने ऊपर लदी हुई शताब्दियो की सास्कृतिक उपलब्धि और परम्पराओ से और साथ ही वे आज की आधुनिकतम नग्नताओ और वैज्ञानिक भयो से भी अपना पीछा नही छुडा पाते। इस प्रकार दूधनाथ स्थितियो को स्वीकारते है, पथ विमुखता को नही।

इस दृष्टि से दूधनाथ की कहानियाँ देखी जाए (रीछ, मम्मी तुम उदास क्यों हो ? बिस्तर, रक्तपात, आइसबर्ग इन्तजार आदि), तो एक बात स्पष्ट होती है कि वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर होती गई हैं। उनमे बौद्धिकता का स्वभावत आग्रह अधिक है और वास्तविकताओ की प्रतीति। वस्तु को अनुभव करने की यही वास्तविकता दूधनाथ की कहानियो को एक अनिवार्य शिल्प देती है। इस शिल्प के कई रूप हो सकते हैं किन्तु उसमे कुछ बाते निश्चय ही नही होती—जैसे चमत्कारिक प्रदर्शन, वस्तु से विच्छिन्नता, अविश्वसनीयता और मनोवैज्ञानिक ऊहापोह। इसके विपरीत दूधनाथ का शिल्प प्रशान्त, तीव्र और अन्तर से नि सृत होता है। आज छोटी-से-छोटी घटना के भीतर एक 'क्लेसिक्ल-टाइप-ट्रेजेडी' (रक्तपात) छिपी है। जीवन जितना ही छोटा हो गया है (इन्तजार)—जितना ही विवश और क्रूर (रीछ)—अपनी गरिमा मे उतना ही प्रशान्त और गहन (बिस्तर)। दूधनाथ की कहानियो या वास्तविक शिल्प इसी 'नई क्लेसिकल ट्रेजेडी' का शिल्प है—'वस्तु' के भीतर से उद्भूत, उसको प्रथम मान्यता देता हुआ और साथ ही उसके अन्धकार को उजागर करने का प्रयत्न करता हुआ।

दूधनाथ की कहानियो मे प्रारम्भ-मध्य-अन्त मे कोई एकरसता नही दिखाई जा सकती। उन्होने भिन्न २ ढग से चीजो को ग्रहण किया है और उनके प्रस्तुतीकरण मे उसी के अनुरूप वैविध्य है। प्रारम्भ इस प्रकार भी होगा . मकान के सामने टैक्सी रुकी। उस वक्त खूब तेज पानी बरस रहा था। सडक से दरवाजे तक जाने के लिये एक खुली सॅकती गैलरी पडती थी। बारिश इतनी तेज थी कि उतनी ही देर मे भीग जाने का डर था। मैंने सोचा, टैक्सी रुकने की आवाज सुनकर नीचे वाले तले मे रहने वाले मिश्रा की नीद जरूर खुल गई होगी और वह अभी खिडकी खोलकर झाँकेगा। राश्ते में मैं यह भी सोचता आ रहा था कि शायद मिश्रा खिडकी खोलकर चुपचाप बैठा होगा और बाहर देख रहा होगा ...'[१] उनकी कहानियो का अन्त किसी चरम बिंदु पर ही जाकर होता है। वह कहानियो का अन्त भी हो सकता है, प्रारम्भ भी। वह समापन न होकर विस्तार का सकेत भी हो सकता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

१. दूधनाथ सिंह इन्तजार, (नई कहानियाँ) दिल्ली, पृ० ८४

'चादर ठीक से बिछी हुई थी—फर्श पर सिगरेट के ढेर सारे टुकडे एक जगह पडे हुये थे और बूटो के कीचड भरे निशान सूखकर निखर आये थे उसने तकियो पर नजर डाली। एक तकिये पर एक काफी लम्बा बाल पडा हुआ था। झुककर उसने ठीक से देखना चाहा, तो उसे गोले के तेल की तीखी गन्ध महसूस हुई। निढाल-सा तकिये मे मुँह छिपाकर वह फफक फफक कर बच्चो की तरह रो पडा। , और न जाने कब तक रोते-रोते उसे नीद आ गई। आधी रात को उसकी आँख खुली, तो उसने बिस्तर उठाकर फर्श पर डाल दिया और खरहरे पलग पर लेट गया।'[१]

इस प्रकार दूधनाथ ने आधुनिकता के नये सन्दर्भो को आत्मसात् करने का ईमानदारी से प्रयत्न किया है। उन्होने नये आयामो का परिदृश्य ही नही अकित किया है, व्यक्ति के अन्तस कर उद्घाटन करने का भी सफल प्रयत्न किया है। भाव भाषा एव शिल्प की दृष्टि से वे एक सफल कहानीकार है।

गगाप्रसाद विमल

गंगाप्रसाद विमल ने हमारी पीढी मे आधुनिक बोध को कदाचित सबसे अधिक ग्रहण किया है और अत्यन्त सफलता के साथ चित्रित भी किया है। चारो ओर का परिवेश उनके लिये उस निर्ममता का प्रमाण है जिसके फलस्वरूप हर व्यक्ति जीने के लिये अभिशप्त है। तब सगत या असगत का प्रश्न नही उठता। उत्साह आनन्द और प्रेरणा जैसे शब्द कुछ सामाजिको के लिये अब तक जीवित हैं विमल अपने को उस समाज (चाहे वह एक व्यक्ति इकाई का हो) से सम्पृक्त पाते है, जहाँ जुडे होने के लिये ऐसे शब्दो की अनिवार्यता नही है। एक रचनाकार के नाते वे अपने आपको विचित्र स्थिति मे पाते हैं और कुछ बातो के लिये ही नही, सभी बातो के लिये वे अपने आपको विवश स्वीकारते हैं। इसलिये नही कि यह कोई स्वभाव है, बल्कि इस लिये कि जो चेतना उन्हे इतिहास का दर्द महसूस कर ती है, वही उन्हे निपट अकेला कर जाती है—यह बोध देकर कि जीवन का दण्ड भोगना ही हमारे लिये यथार्थ है। विमल के अनुसार जब हम यथार्थ के साथ विरासत के रूप मे प्राप्त अभिशापो को देखते हैं, तो आधुनिक जीवन दृष्टि शुरू हो जाती है। जीवन के साहचर्य-विधान मे मिलने वाले शॉक्स-धक्को मे से जब आप स्थिर होकर निर्णय ले पाते है,तब तक दृष्टि बोध आप में आ जाता है। जहाँ दृष्टि जड हो जाती है, वही रहस्यवाद की भाषा को स्वीकारने लगते है। शॉक्स या आघातो के विरुद्ध निर्णय लेने की क्षमता ही विमल के अनुसार जीवन दृष्टि है।

वे स्वीकारते है कि वस्त्रो या फैशन से अन्तर नही आता, मानस जगत् ही निर्णयक होता है। भोग को भोगने वाला व्यक्ति उसकी यन्त्रणा की बात कह सकता है। क्या मस्तिष्क की क्रियाएँ या उसका बोध महत्वपूर्ण है? उनके अनुसार सोचना

१. दूधनाथसिह : बिस्तर, (सारिका), बम्बई पृ० १९

यह है कि क्या सम्बन्ध बदलते हैं या व्यक्ति बदलता है या जीवन दृष्टि का रूप बदलता है ? जीवन का भोग कटु है । जो मनुष्य भोगता है वह पीडित है , और पीडित मनुष्य कहानियो के माध्यम से अपनी बात कहता है । जीवन दृष्टि का बदलाव है तो वह स्वय स्पष्ट हो जाता है । विमल ने अपनी कहानियो के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि कौन सा रूप परिवर्तित होता है और उन रूपो की क्या दिशाएँ हैं । वे मानते हैं कि यदि हमारे दर्द को साधारणीकृत कर ले, तो वह दर्द अपना निजी दर्द प्रतीत होने लगेगा ।

उनकी कहानियाँ नव-यथार्थ की खोज हैं और उनमे भोगने की प्रतीति है । उनमे तीव्र सवेदनशीलता है और मानव-मूल्यो को उचित सन्दर्भो मे सार्थक अभिव्यक्ति देने तथा अन्वेषण करने की अकुलाहट है । विमल की धारणा है कि जहा तक 'पार्टिसियेशन' और 'इन्वाल्वमेंट' की बात है, यह आवश्यक नही है कि आप 'राशन क्यू' मे खडे ही हो बल्कि जरूरत इस बात की है कि आपमे तीव्र सवेदना हो, लाइन में खडे रहने वालो का दर्द आप तीव्रता से महसूस कर सके । लाइन मे खड रहने वालो का दर्द एक व्यापक धरातल पर विमल की कहानियो मे रूपायित हुआ है । वह दर्द का प्रत्यक्षीकरण भी है, मानवीय अनुभूतियो की यथार्थ अभिव्यक्ति भी । उनमे जीवन की विष्टता का बोध भी परिलक्षित होता है, युग की सवेदना भी । उन्होने आधुनिकता की स्वाभाविक गति और परिवर्तनशील आयामो को मानवीय धरातल पर ग्रहण किया है इसीलिये उनमे कही आरोपण नही है, न दुराग्रह । वह कुंठापरकता या घुटन जीवन के माध्यम से आई है और सोद्देश्यता के नाम पर कोई मसीहापन नही । एक चिन्तन की प्रतिक्रिया लक्षित होती है—जीवन को उसकी पूरी वास्तविकताओ कुरुपताओ एव विषमताओ के साथ ग्रहण करने की सगति मे । इस दृष्टि से कहना चाहे, तो कह सकते है कि विमल की प्रतिबद्धता आधुनिक परिवर्तनशीलता के साथ तो है ही, मानव मूल्यो की विराटता और उसे वाणी देने की आकुलता के साथ भी । इसीलिये उनकी कहानियाँ सामान्य जीवन मे 'ली' गई है, 'खोजी' गई है । जिस प्रकार ईश्वर हमारे जीवन से मर चुका है, वैसे ही कहानी का प्लॉट भी—विमल की कहानियो मे यह दृष्टव्य है ।

उनकी कहानियाँ किसी चमत्कार से न तो प्रारम्भ होती है, न समाप्त । वास्तव मे वे जीवन की यथार्थताओ की दस्तावेज हैं और उन्हे उपस्थित भर किया गया है, इसलिए कोई गढन या आरोपण नही प्रयासहीनता लक्षित होती है । शिल्प की यह 'सायास उदासी' ही विमल की कहानियो की सबसे बडी विशेषता है । उनकी कहानियो का प्रारम्भ किसी विचार, घटना या मन-स्थिति से हुआ है । एक उदाहरण प्रस्तुत है : 'आपको वह बात बताना चाहता हू । वह कोई घटना नही है । आप जानते हैं, घटनाओ मे मेरी दिलचस्पी नही है—साधारण घटनाओ मे । जीवन साधारण-

बीत जाये, यह कितनी हास्यास्पद बात है मृत्यु की प्रतीक्षा मे बीतना' आप भी सोचेगे, मै कैसा आदमी हू, न कोई परिचय, न कोई प्रसग, सीधी बात सुनाने लग गया हू। आप शायद यहाँ काफी देर से खड़े है।' इसी प्रकार अन्त का एक उदाहरण प्रस्तुत है—'मेरी माँ तुम्हे बहुत पसन्द करती हैं।' मैंने उसे फुसलाने के लिये कहा—फिर शरारती लहजे मे कहा—'अगर तुम १० वर्ष पहले मेरे परिचित बन जाते, तो मैं तुम्हे अपना पिता बना सकता था। अब तो जानते हो, मेरी मा बूढी हो गई है। वह हसने लगा और मैंने देखा, धीरे-धीरे उसका आवेग और तनाव खत्म हो गया था और वह बिल्कुल साधारण आदमी की तरह खाना खाने लगा था। और मैं सोचने लगा था कि अब मुझे दिन भर अपने साथ उलझाये रखने के लिये उसमें कुछ अनुकूल बाते भी करनी होगी।''[2] विमल मे भाषा की समर्थता विशेष रूप से दृष्टव्य है।

ज्ञानरजन

ज्ञानरजन की कहानियाँ बडी गहराई से मन को छूती है। उन्होने बहुत कम लिखा है, पर जो लिखा है, स्वानुभूति के स्तर पर अत्यन्त स्वाभाविक रूप से लिखा है। उनकी धारणा है कि कहानी-रचना आज बहुत कठिन हो गई है और अपने दयनीय, अभाग्यपूर्ण और व्यग्यात्मक जीवन से असम्पृक्त होकर कहानी निर्मित करना अब हमारे लिये सम्भव नही रहा। साहित्य उनके लिए दर्द की आवृत्ति-पुनरावृत्ति है या निर्माण के लिए दी जाती हुई आहुति। उनके लिये साहित्य की समस्त रचनात्मक प्रक्रिया जीवन का मृत्योन्मुख भोग है और रचना का पुरस्कार हमे महज क्षय मे मिलता है। फिर भी इसका एक आत्मसुख है जीवन के प्रति अपने दाय के निर्वाह का सुख। इस प्रकार नई कहानी उनके लिये एक सामान्य शब्द नही है। उसके रूढ अर्थ को वे वृथा स्वीकारते हैं। उनकी धारणा है कि नई कहानी केवल उस सर्वथा भिन्न जीवन और जीवन दृष्टि की तस्वीर है, जिसे अपूर्व कहा जा सकता है और जो हमारे लम्बे इतिहास मे पहली बार निर्मित हो रही हे। वे कहानी का प्रारम्भ यही से मानते हैं।

ज्ञानरजन की कहानियाँ किसी बिंदु पर नही स्थित है। वे जीवन और कला के अनिवार्य तकाजो और स्वप्नो से सम्बद्ध हे और उनमे ही जीवित है, इसीलिए गतिशील हैं। ये स्वप्न किसी की निजी महत्वाकाक्षा नही हो सकते। उनकी धारणा है कि आगे की अनेकानेक पीढियाँ इन स्वप्नो को पूर्णता की ओर ले जायेंगे। उनकी कहानियो ने पगु जीवन को अपने कधो पर उठाया है। वस्तुत ज्ञानरजन अपने रचना भोग से पलायन करके केवल तटस्थ ही नही रहना चाहते, वरन् उनकी कहानिया

१ गगाप्रसाद विमल दोने से पहले, (सारिका), बम्बई पृ० ८४

२. गगाप्रसाद विमल . उसका साथ, (सारिका), बम्बई, पृ० २८

जीवन चक्र की आदि से अन्त होने वाली मात्रा मे एक स्वस्थ चेतना की तरह उपस्थित है। उनकी कहानियाँ जीवन से आत्मीयता स्थापित करने की ओर प्रवृत्त है।

ज्ञानरजन की धारणानुसार आज हमारी आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियाँ बडी हास्यास्पद हैं। हम कहानी लिखते है और वह स्वयमेव व्यग्यात्मक हो जाती है। हम सम्पूर्णता के साथ प्रेम करते है और वह हास्यास्पद अन्त मे बिखर जाता है। अखबारो मे छपे मन्त्रियो के भाषण को पढते-पढते हमारे ओठो से एक करुण हँसी फूट पडती है—हमारे परिवार के सदस्य हमारे लिए चुनौतियाँ बन गये है। इसीलिए कहानी न तो 'विण्डो ड्रेसिग है और न राजपूतो द्वारा विदेशो मे देश का सम्मान बचाने वाला झूठा वक्तव्य, इसीलिये कहानी से स्वस्थ जिंदगी का ही चित्रण आज की परिस्थितियो मे असम्भव है। चूकि जिंदगी वैसी नही रही है। फिलहाल असख्य व्यग्यों मे हमारा जीवन है। ज्ञानरंजन अपनी निराशा से से ऊपर आकर इमे स्वीकारते हैं। वस्तुत किसी भी प्रतिबद्धता के लिए यह स्वीकारोक्ति आवश्यक है, ऐसा वे मानते हैं। यदि हम सूर्यास्त को नही स्वीकार कर सकते तो सूर्योदय भी लिए बन्द रहेगा। हमे पराजय की परिस्थितियो और समस्त भ्रष्ट मुखाकृतियो को पहचानना होगा, जो बीमार है और जिन पर छदम का गहरा मेकअप है। उनका ख्याल है कि लेखक को प्रतिबद्धता किसी घोषणा पत्र की भाँति नही हो सकती। उसकी रचना ही उसको कमिट' कराती है। प्राय यह भय बना रहता है कि डिकेडेस' या पराजय को स्वीकार लेने मे नव-निर्माण की दिशा अवरुद्ध होती है। यह भय ज्ञानरजन को निर्मूल प्रतीत होता है। पराभव को स्वीकारना 'निर्माण के प्रति रचनाकार की वास्तविक अकुलाहट का चिन्ह है। इस पराभव से सघर्ष करने से बढकर कोई प्रतिबद्धता और समसामाजिकता ज्ञानरजन नही स्वीकारते।

ज्ञानरजन की कहानियो मे 'बुद्धिजीवी', 'अमरूद का पेड', 'याद और याद', 'मनहूस बगाल', दिवास्वप्नी', 'खलनायिका और बारूद का फूल', 'शेष होते हुए', 'फेन्स के इधर-उधर', 'सीमाएँ', 'पिता', तथा 'छलाग', प्रमुख हैं। ये कहानियाँ जीवन के अनेकानेक पक्षो को बडी यथार्थता से प्रस्तुत करती है। ज्ञानरजन के पास सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जो कुछ भी लिखते है, अपनी दृष्टि से और स्वानुभूति के स्तर पर लाकर। अपरिचित सत्यो को कल्पनाशील ढग से लिखकर दायित्वहीनता का परिचय देना उन्हे स्वीकार नही। परिवार मे व्यक्ति आज किस प्रकार अजनबी घन जाता है और अकेलेपन मे घुटा-घुटा जीवन जीता है, इस सत्य को 'शेष होते हुए' मे उन्होने बड़ी सूक्ष्मता और गहन अर्न्तदृष्टि से उभारा है। यह कहानी अधिक तीखी और प्रभावशाली प्रतिक्रिया मन पर इसीलिए छोड जाती हैं क्योकि वह स्वानुभूति के स्तर पर चित्रित किया गया है। उनकी कहानियो मे इसीलिए इतनी स्वाभाविकता और मन को छू लेने की यथार्थता है। उन्हे अपनी

ओर से कहने की कुछ भी आवश्यकता नही होती। उनका सत्य कहानियो के माध्यम से स्वयमेव ही अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से उनका शिल्प बडा ही सफल रहा है उसमे कही कृत्रिमता या आरोपण नही है। वस्तुतः शिल्पगत प्रयोगो के चक्कर और सायास नवीनता तथा आधुनिकता लाने की धुन से हट कर सामाजिक एव सोद्देश्यता का निर्वाह ज्ञानरजन ने इतनी सफलता से किया है कि कथ्य एव कथन की नवीनता उनमे अपने आप आई है। नए यथार्थ को अभिव्यक्त करने मे उनकी कहानिया पूर्णरूप से सफल होती है।

रवीन्द्र कालिया

रवीन्द्र कालिया के लिए सामाजिकता, सचेतना, बोध आदि शब्द कोई अर्थ नही देते। वे समझते हैं कि भाषा इसी तरह मरती रही तो प्रेमिका को बुलाएगे और बिल्ली चली आएगी। भाषा तेजी से अर्थ खो रही है और नए लोग उसे सम्पन्न बना रहे है। यह दशक की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उनके सामने प्रश्न यह है कि सामने कई रास्ते हैं। कौन सा रास्ता ले। वे समझते हैं कि हम अपना पथ अन्वेषित नही कर पाते, उसकी प्रयत्नशीलता भी लक्षित नही होती। जो सत्रास, मृत्यु आदि कहानी मे दृष्टिगोचर होती है वह चुन्नू-मुन्नू या अड़ोसी-पडोसी की कहानी नही है। पहले लेखक का कहानी से, पडोसी या दोस्त का रिश्ता रहता था, लेकिन अब वह जीवन से आगे बढकर अस्तित्व की ओर भी बढ रहा है। मृत्यु पहले केवल धर्म का ही विषय थी, पर कालिया का विचार है कि आज का कथाकार हर स्थिति को तीव्रता से भोगता है। जीवन मे दिलचस्पी सबकी होती है और उनकी तो गहरी है। वे देशकाल के परिवेश का महत्व नही स्वीकारते। वे मन स्थिति को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उसकी झलक से भी तादात्म्य हो जाता है। विश्व-मानव वाली बात फैशनेबल है। लेकिन गलत नही, सारा विश्व उन्हे इन्वाल्व प्रतीत होता है।

रवीन्द्र कालिया कथा रूढियो को विछिन्न करना अनिवार्य मानते हैं। पहले की साकेतिकता पर उनका विश्वास नही है। वह बडी स्त्रैण लगती है। अब तो सहज और सीधे पर की ओर कहानी बढ रही है। उनके अनुसार कहानियो मे अब न नाम महत्वपूण हैं, न घटना, न चरित्र। महत्वपूर्ण है सवेदना। एक इण्टेन्स मोमेण्ट क्लाइमेक्स से अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ आस-पास के घेरो को छोड़ती हुई आगे गतिशील होती है।

उन्होने अपनी रचना को बडी गम्भीरता से लिया है और कम लिखने के बावजूद अच्छी कहानियाँ देने मे सफल एव समर्थ सिद्ध हुए है। उनकी कई कहानियो मे 'नौ साल छोटी पत्नी', सिर्फ एक दिन', 'बडे शहर का आदमी', 'त्रास', 'क ख ग', 'दफ्तर' आदि सफल हैं। 'सिर्फ एक दिन' मे एक शिक्षित, योग्य पर बेकार आदमी

नौकरी पाने की असफलता से उत्पन्न अवसाद, घुटन एव कुण्ठा का रवीन्द्र ने बडी मार्मिकता एव पूर्ण हार्दिक -सवेदनशीलता के साथ फेवरटिज्म, नेपोटिज्म एव जोर-सिफारिश के इस तथाकथित विकासशील युग के व्यापक परिप्रेक्ष्य मे चित्रित किया है, जिसमे इतनी यथार्थता एव स्वाभाविकता है कि प्रतीत होता हैं। लेखक की अपनी आत्मानुभूतियाँ है। रवीन्द्र की कलात्मकता इस कहानी में इस बात से लक्षित होती है कि प्रस्तुत विषय पर अपनी ओर से एक शब्द भी कहने की आवश्यकता नही पडी और उनका सत्य अपने आप पूरी प्रभावशीलता के साथ उभरता है, जो मन को झकझोर जाता है। यह कहानी हमारी पीढी पर लगाए गए कुण्ठा एव निराशा के मिथ्या आरोपो का जबर्दस्त उत्तर है। इसमे आज की पीढी की पराजय एक घुटन तथा अवसाद का चित्रण होने के बावजूद यह कहानी अनास्था एव अविश्वास का स्वर घोषित करती और न 'स्टेटस सिम्बल' बनने की ही कोशिश करती है, जो आज की कहानी पर आरोपित कर दिया जाता है बडे शहर का आदमी भी उसी प्रकार आज के नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने मे सफल होती है, और सामाजिक विकृतियो पर मर्मान्तक व्यग्य प्रहार करती है।

रवीन्द्र कालिया के शिल्प मे बडी आत्मीयता एव सहजता है। उसमे सादगी के साथ इस बात का आभास होता है, जैसे लेखक पूर्ण नि सगता पर पूरे आत्म-विश्वास के साथ हमे किसी बात के प्रति आश्वस्त करने की कोशिश कर रहा है और उसमे वह पूरी तरह सफल भी होता है। अपनी कहानियो मे सतोष का विषय है कि रवीन्द्र कलाबाजी और शिल्प-सौष्ठव के पीछे भागे नही है और अपनी दृष्टि को बराबर सामाजिकता एव सोद्देश्यता पर ही केन्द्रित रखा है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नवीनता की रही है। नए कथ्य एव कथन देने का प्रयास उनकी प्रत्येक कहानी मे परिलक्षित होता है। पर इस नवीनता के लिए तर्क हीन ढंग से जटिल एवं दुर्बोध प्रतीक योजना एव आरोपित सत्यो का आश्रय नही लिया है। यथार्थ की पकड उनकी गहरी है और अपनी सूक्ष्म अन्दृष्टि से उन्होने आज की परिवर्तनशीलता, जटिल यथार्थ एव वर्तमान सँक्रान्ति मे नवीनता के बारीक रेशे खोज निकाले है और अपनी कहानियो का सगुफन उन्ही के अनुरूप किया है। यही कारण है कि ये कहानियाँ कल्पना के पखो पर न उडकर यथार्थ परिवेश मे व्यापक मानवीय चेतना एव विराट युगीन सत्वो को समेटते हुये आगे बढ़ती है।

गिरिराज किशोर

गिरिराज किशोर का ख्याल है कि रचना प्रक्रिया पर विचार करते समय मुख्य प्रश्न अपने चारो ओर की जिन्दगी के साथ वैयक्तिक या साहित्यिक रूप से जुडे या कटे हुए महसूस करने का है। इस जिन्दगी की अच्छी-बुरी सगत या असगत होने की बात तो कोष्ठ के अन्दर है, सम्भवतः प्रश्न को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से।

वर्तमन परिस्थितियो के सन्दर्भ मे जिन्दगी का जो चित्र बनता है, वह अपने को स्वय स्पष्ट करता है। उस सबको देखते हुए परिस्थितियो को सुखकारी या आनन्द-दायक स्वीकारने मे गिरिराज को कोई आपति नही है। वे स्वीकारते है कि हमारे युग का मुख्य स्वर सघर्ष है। चाहे वह सघर्ष करने के स्तर पर ही क्यो न हो। वास्तविक स्थिति है भी यही। आज के सघर्ष की प्रतिक्रिया सहनशीलता ही है। इसी कारण चारो ओर टूटन ही टूटन दिखाई पडती है। इसका कारण गिरिराज के अनुसार यह है कि सघर्ष जितना वाह्य स्तर पर है, उतना ही आन्तरिक स्तर पर बल्कि 'सहनशीलता' के कारण आन्तरिक स्तर पर अधिक गहरा हो गया है। आतरिक कारण व्यक्ति की उलझन को और अधिक बढ़ावा दे रहे हैं। सस्कार और आत्म-निषेध ये सब ऐसे तत्व है जो बाहरी सघष करने की शक्ति को विभाजित करते हैं। विकासोन्मुख समाज को 'बनने' से पूर्व टूटने' की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। यही प्रक्रिया युग सत्य भी होती है। इसी स्थिति को स्वीकारना उसे भोगना और अपने अनुभव की स्वाभाविकता बनाए रखना गिरिराज अपना दायित्व स्वीकारते हैं। जो भी त्रास मूल्यहीनता, आत्मसंघर्ष और उत्पीड़त जन साधारण के रूप मे भोगा जाता है, गिरिराज के लिए वही अनुभवजन्य सत्य होता है।

गिरिराज व्यक्ति के रूप मे भोगकर लेखक के रूप मे अभिव्यक्ति देने की बात ही अनुभवो के साथ वैयक्तिकता और स्वाभाविकता के बीच सामंजस्य करने की स्थिति स्वीकारते हैं। वस्तुत उनकी धारणा है कि समाज से सम्बद्ध रहते हुए उससे प्राप्त अनुभवो को स्वाभाविकता के साथ अभिव्यक्ति देते समय 'लेखकीय तटस्थता' बनाये रखने की बात तो सोची जा सकती है, लेकिन वैयक्तिक रूप से 'अलग कर लेखकीय दायित्व निबाहने की बात करना गिरिराज हास्यास्पद समझते है।

उनके अब तक दो कहानी सग्रह 'नीम के फूल', तथा 'चार मोती बेआब' प्रकाशित हो चुके हैं। इनमे अतिरिक्त 'नया चश्मा', 'पेपरवेट', 'सगत', 'आमन्त्रित', 'जनाने डिब्बे मे मर्द', 'यात्रा', 'चूहे', 'पैरो तले दबी परछाइयाँ' आदि उनकी दूसरी कहानियाँ हैं। उनकी कहानियो के दो वर्ग सरलता से बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उनकी राजनीतिक कहानियो का है, जिनमे भ्रष्टाचारजनित व्यवस्था, पदलोलुपता, स्वार्थी प्रवृत्तियो एवं राजनीतिक विघटन का अत्यन्त सशक्त एव यथार्थ चित्रण मिलता है। इन कहानियो मे विकृत्तियो पर तीखे व्यग्य हैं, पैनी दृष्टि है और चयन शक्ति की सूक्ष्मता है। वे बड़ी गहराई मे ले जाती है और जिस यथार्थ से परिचित कराती हैं, वह हमारी वर्तमान व्यवस्था की दृष्टि से भयावह प्रतीत होता है और तब सोचना ही बाध्यता होती है। दूसरा वर्ग आधुनिक परिवेश को लेकर लिखी गई कहानियो का है, जिनमे नए सामाजिक सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति, आधुनिक सन्दर्भों के उदघाटन की अकुलाहट और यथार्थ परिवेश मे व्यक्ति की पूर्णता को समझने

अभिव्यक्ति करने की प्रयत्नशीलता लक्षित होती है। गिरिराज के पास स्पष्ट एवं स्वस्थ जीवन दृष्टि है और आधुनिक यथार्थ से वे पूर्णतया परिचित है। इन कहानियो मे सूक्ष्म प्रतीक विधान, वातावरण का गहरापन और चरित्र चित्रण की साकेतिकता विशेष रूप से दृष्टव्य है। सामाजिक सोद्देश्यता को उन्होने कभी अस्वीकारा नही है और निरन्तर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म धरातल पर उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है।

सुधा अरोड़ा

सुधा अरोडा (४ अक्टूबर १९४६) उन प्रतिभा सम्पन्न नई लेखिकाओ मे हैं, जिन्होने अपनी कुछ ही कहानियो से बहुत ध्यान आकर्षित किया है। सुधा की कहानियों मे एक ऐसी नारी चित्रित हुई है, जो परम्पराओ के प्रति मोहग्रस्त नही है, विगलित-जड सस्कारो का तिरस्कार करती है, पर वर्तमान जीवन परिस्थितियो मे भी अपना सामजस्य स्थापित नही कर पाती । वह नारी न तो गरिमा-मर्यादा पर आघात करना चाहती है, न स्वीकारना। वह नए के प्रति आकुल भी है, पर 'घर' के प्रति मोहग्रस्त भी—यही द्वन्द्व सुधा ने अपनी 'अविवाहित पृष्ठ', 'बगैर तराशे हुए', 'चरित्रहीन', 'सामर्थ्य', 'निर्मम', तथा 'एक सेटीमेटल डायरी की मौत' आदि कहानियो मे चित्रित किया है। वे यह स्वीकारती हैं कि आज की नारी के सन्दर्भ मे सम्बद्ध आयाम परिवर्तित हुए है, पर वे परिवर्तन भी उतने ही भयावह है, जितने कि रूढ सस्कार, जिन्हे तोडने और विश्रृखलित करने की अकुलाहट मे हम नारियाँ गतिशील हुई थी। उन्हे यह भोगा हुआ जीवन का अश निर्मल बनाता है, तो भावुक भी। यह एक स्थिति है, जिसमे आज की नारी उलझकर रह गई है। सुधा का विचार है, हम जीवन को भोगते हैं, तो नियति सहते भी है। ईश्वर नही होता, मै नही जानती कि वह है या मर चुका है क्योकि मैं दार्शनिक नही हू! पर ईश्वर के आश्रित रहकर गतिशीलता को हम अवरुद्ध कर देते हैं और जीवन वही सपाट-समतल होते-होते रह जाता है। सुधा की प्रतिबद्धता उन सामाजिक सन्दर्भों के प्रति है, जो जीने की बाध्यता नही उपस्थित करती, जीने देने की अनिवार्य शर्त बन जाती है। वे स्वीकारती हैं कि हम प्रतिबद्धता की घोषणा राजनीतिज्ञो की भाँति नही करते, हमारी कहानियाँ हमे प्रतिबद्ध करती हैं। हम अपनी सृजनशीलता के प्रति जितने प्रतिश्रुत होते हैं, उतना ही अपने परिवेश और लोगो के प्रति भी। बिना उन्हे अभिनय अर्थवत्ता प्रदान किए या उनकी अन्तस-प्रसूत भावनाओ को अर्थ की गरिमा दिए हम पलायन ही नही करते, मानसिक आत्महत्या भी कर देते हैं।

सुधा की इस धारणा से यह भ्रान्ति भी उत्पन्न होती है कि क्या अकेलापन ही हमारी नियति है? या घुटन और टूटने की स्थिति ही हमारी विरासत है। उनकी कुछ कहानियो को दो-एक दूसरे समकालीनो के सन्दर्भ मे रखकर मृत्यु और

उदासी की कथालेखिका का सुधा पर दोषारोपण करने वालो की सरलता पर 'मुग्ध' हुए बिना नही रह जाता। सुधा की कहानियो मे अकेलापन एक यत्रणा नही है, आत्मदान है। वह साक्षी है हमारी जीवन विसगतियो का, वह प्रमाण है हमारी यथार्थ मन.स्थितियो का और वह स्वय लेखिका की प्रतिबद्धता को स्पष्ट करता है। सृजनशीलता के आयामो को सुधा ने कभी दुराग्रहो के आधार पर न तो स्वीकारा और न आरोपित मन स्थितियो एव विचार सूत्रो को स्पष्ट करने की धुन मे अपने को नतशिर किया। उनकी कहानियाँ एक चित्र है, माध्यम हैं हमारी नृशसता का, हमारे विश्वासघातो का, हमारे असत्य मुखौटो और घृणित कर्मों का। उनमें आक्रोश नही एक पैनापन है। परिवर्तन की एक अकुलाहट है, विसगतियो पर प्रहार करने की बेबसी है। सामाजिक सोद्देश्यता सुधा मे सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर हुई है।

इस मूल जीवन दृष्टि पर ही उनका शिल्प निर्मित हुआ है। 'निर्मम' या 'बगैर तराशे हुए' जैसी कहानियो मे वह दुर्बोधता या जटिल सश्लिष्टता का परिचायक हो सकता है, पर वह ली गई परिस्थितियो का अनिवार्य परिणाम है, प्रयोग की प्रक्रिया नही। उनका शिल्प बाधता है और प्रवाह की उनमे अद्भुत क्षमता है। सुधा ने अपनी सभी कहानियो मे प्रेम, विवाह, असफलता, निराशा और घुटन तथा अकेलेपन से भरी हुई उदासी के सन्दर्भ मे पुरुष की मनोवृत्ति, अहंकार और दुराग्रहों के साथ छली जाने वाली मृगतृष्णाओ का ही चित्रण किया है और इस क्षेत्र मे उनकी कहानियाँ बहुविधिय जीवन-प्रासगो का स्पष्टीकरण करती है। उनमे वैविध्य है, नये कथ्य एव कथन देने की प्रयत्नशीलता है साथ ही अपने युग एव परिवेश को यथार्थ अभिव्यक्ति देने की आग्रहशीलता भी। इस दृष्टि से देखे, तो सुधा अपने समकालीन नारी लेखिकाओ मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है और शिल्प के जिन अभिनव स्वरूपो को उन्होने 'खलनायक', 'स्टैपलर' 'एक सेटीमेटल डायरी की मौत, तथा 'निर्मम' मे प्रयुक्त किया है, वे अपने मे किसी भी कथा-लेखिका के लिए एक उपलब्धि बन सकते हैं। सुधा ने भाषा की क्षमता पर भी विशेष ध्यान दिया है। उनकी भाषा मे यथार्थ गुणो का बडी कुशलता, पर पूर्ण स्वाभाविकता के साथ समावेश हुआ है और प्रवाह तथा नूतन प्रयोगो के कारण वह अत्यन्त समर्थ ही नही बनी है, प्रभावशीलता मे भी विशेषता प्राप्त कर सकी है। वस्तुत प्रयासहीनता ही सुधा की कहानियो मे शिष्य का महत्वपूर्ण अग बनकर उभरा है और आधुनिक बोध को स्पष्ट करने मे पूर्ण सक्षम सिद्ध हुआ है।

अन्त मे सुधा की कहानियो मे व्याप्त आधुनिकता पर दो शब्द कहना उचित होगा। उन्होने आधुनिकता का अर्थ अपनी भारतीय जीवन पद्धति मे हुए परिवर्तनों के सन्दर्भ मे ही लिया है सार्त्र, कामू या काफ्का के सन्दर्भ मे नही। आधुनिक सचेतना को उन्होने स्वय अपने परिवेश मे भोगा ही नही वहन भी किया है, इसीलिए

वह आरोपित न होकर स्वानुभूति के स्तर पर ही चित्रित हुआ है। यह आधुनिकता मन·स्थितियो के स्तर पर भी स्पष्ट हुई है, पर वह मानसिक दासता का प्रतीक नही नव-यथार्थ का माध्यम बनी है। अतः सुधा अरोडा की कहानियो मे किसी बोल्डनेस या क्रान्ति की बात करना इसलिए भी नितान्त अप्रासगिक एव असगत प्रतीत होती है, क्योकि स्वय सुधा जी ही उन्हे नही स्वीकारती। उनकी धारणा है कि हम परिवेश को विघटित करने वाले विध्वसक नही, उसके दु ख दर्द को अभिव्यक्त करने वाले माध्यम हैं। अत. यह माध्यम ही उनकी कहानियो मे प्रमुख हो जाता है तथा सुधा की सारी कहानियाँ एक आकुल व्यक्तित्व की खोज है—वह आकुल व्यक्तित्व, जो अपने ही दायरे मे छटपटा रहा है, कमजोर है, पर सशक्त बनकर मुक्ति भी पाना चाहता है हालाँकि इस मुक्ति के लिए जिस समर्थता की आवश्यकता होती है, उससे पूरित होते हुए भी वह अपने को पहचानने मे असमर्थ रहता है। इस स्व और पर के द्वन्द्व के बीच सुधा की कहानियाँ इसी मुक्ति पाने की बेबसी की कहानियाँ हैं।

से. रा यात्री

से. रा यात्री जीवन की निर्ममता को स्वीकारते है और उनसे पलायन एक दुर्बलता, जो किसी सृजनशीलता को जन्म नही देता, वरन् स्वय व्यक्ति होने के प्रमाण को शून्य कर देता है। यात्री ने जीवन सघर्ष को झेला है और उनसे जिन सत्यो को प्राप्त किया है, उन्हे यथार्थ परिवेश मे अपनी कहानियो मे अभिव्यक्त करने की प्रयत्नशीलता उनमे स्पष्ट देखी जा सकती है। वे अकेलेपन या मृत्यु को कोई ऐसी संत्रस्त कर देने वाली स्थिति नही मानते, जिससे मुक्ति पाने के लिए ही अपने को विकेन्द्रित कर दिया जाए। इस घुटन का वे तिरस्कार करते हैं और उसे मात्र एक स्थिति मानकर ही स्वीकारना चाहते है। उन्होने आधुनिकता के सन्दर्भों को ग्रहण किया है, पर उन्हे आत्मसात् करने की बदहवासी उनमे नही है, इसीलिए हममे से बहुतो की अपेक्षा कृत्रिमता या आरोपण से वे अपने को अधिक बचा पाए है। उन्होने जिन खण्डो या स्थितियो को लिया है, गहराई से उनकी छानबीन की है और अन्तःप्रसूत सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेशो को अभिव्यक्त करने मे ही अपनी कला का उपयोग किया है, इसीलिए उनकी कहानियो मे मानवीय सवेदनशीलता का हृदयग्राही चित्रण हुआ है।

यात्री की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन की धुरी पर टिकी हैं और नगरीय जीवन की विभिन्न समस्याओ को लेकर उन्होने कई प्रभावशाली कहानियाँ लिखी हैं, जिनमे 'धब्बे', 'बोझ', 'यादो के स्तूप और दर्द के आईने', 'गर्द और गुबार', 'नीति रक्षा' तथा 'नदी प्यासी थी', आदि प्रमुख हैं। इन कहानियो की प्रमुख विशेषता यात्री की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एव यथार्थ की गहरी पकड है। 'यादो के स्तूप और दर्द के आईने' मे आधुनिक प्रेम की असफलता और उत्पन्न प्रतिक्रिया को बिना भावुकता

अथवा इन्वाल्व हुए पूर्ण नि सगता के साथ उन्होने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। आज के व्यक्ति की बदहवासी, दिशाहारा की भाँति भटकने की प्रवृत्ति, आद्यन्त महत्वाकाँक्षाओ से प्रेरित रहना, पर प्रयासहीनता तथा खोखली जिन्दगी का चित्रण अपनी कहानियो मे उन्होने बडी सूक्ष्मता से किया है।

यात्री की कहानियो मे प्रमुख बात शिल्प का नया एप्रोच है। अपनी बात को नये ढंग से कहने की उनमे आकुलता है, जो कही उन्हे सफल भी बनाती है ('यादों के स्तूप और दर्द के आईने', 'गर्द और गुबार' तथा 'बोझ'), तो कही असफल भी बनाती है ('और नदी प्यासी थी', 'नीति रक्षा'), पर उनकी प्रयत्नशीलता एक परिणाम निश्चित रूप से ला रही है, यह इधर की उनकी कुछ कहानियो को पढ़कर लगता है। और जैसा कि मैंने ऊपर कहा, यात्री की प्रतिबद्धता सामाजिक सन्दर्भों के प्रति है, कलाबाजियो के प्रति नही। उनके लिए परिवेश का यथार्थ और व्यक्ति की पूर्णता अधिक महत्वपूर्ण है और सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना उन्होने सादगी मे भी कुशल ढग से पूर्ण की है, यही उनकी कहानियो की सर्वप्रमुख सफलता है।

अनीता औलक

अनीता औलक भी सुधा अरोडा की भाँति नई कथा-लेखिका हैं। 'न जाने क्यो', 'लाल परांदा', 'चरागाहो के बाद', तथा 'कि फिर नही' 'उनकी कुछ उल्लेखनीय कहानियाँ है, जिनमे उनकी लेखकीय क्षमता सफल ढग से अभिव्यक्ति हुई है। अनीता में नया शिल्प एप्रोच है तथा मोहन राकेश की भाँति नये कथ्य-कथन के प्रति अधिक आग्रह है। यद्यपि उनकी कहानियो मे भावुकता अधिक मिलती है, पर आधुनिक जीवन के अभिनव परिपार्श्व एव भावुक नारी मन-स्थितियो को अभिव्यक्त करने मे वे यथेष्ट मात्रा मे सफल रही है।

अनीता की कहानियाँ नारी जीवन के बहुविविध पक्षो का चित्रण करती है; पर उनमे मूलत प्रेम का स्वर है। प्रेम की सफलता का चित्रण 'न जाने क्यो' मे बडे ही प्रभावशाली ढंग से हुआ है, जिनमे दर्जनो लिखी जाने वाली उसी प्रकार की कहानियो के परिचित खटको से बचाकर उन्होने एक नई दृष्टि से कथा का निर्वाह किया है। उनमे दृष्टि की सजगता है, साथ ही नये यथार्थ को पहचानकर नवीन भाव-मूलक स्थितियो की उद्भावना करने की समर्थता है। आधुनिक भाव-बोध को समझने और नवीन मूल्यो को उभारने की प्रवृत्ति के कारण उनकी कहानियो मे ऐसी विशिष्टता आ गई है, जो पिछले दशक की कई महिला कहानीकारो से उन्हे अलग है। उन्होने नारी की आधुनिक सचेतना को उसके यथार्थ परिवेश मे ग्रहण किया है और उसकी भावना तथा समस्या दोनो का समन्वित रूप अत्यन्त सतुलित ढग से उपस्थित किया है। उन्होने नारी की वकालत नही की है, उसे यथार्थ परिप्रेक्ष्य मे

उपस्थित कर कई प्रश्न खडे किए हैं—उनकी कहानियो मे मुझे सबसे प्रमुख विशेषता यही लक्षित होती है। जीवन की असगत परिस्थितियो, परिवार मे अकेलेपन तथा उदासी, मानसिक द्वन्द्वो एव उद्वेगो को उन्होने जिस निर्वैयक्तिक तटस्थता के साथ अपनी कहानियो मे उभारा है वह एक उल्लेखनीय विशेषता है। अनीता की कहानियो में सहजता है प्रभाव है और भावुकता के साथ सजीदगी है जो गहराई मे ले जाती है और मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड जाती है।

मनहर चौहान

मनहर चौहान (१६३६) सफल कहानीकारो मे है। उनकी कहानियो के दो सग्रह 'मत छुओ' तथा 'बीन सुबहो के बाद' प्रकाशित हुए है। 'घरघुसरा,' 'बीस सुबहो के बाद,' 'टोकरी मे बैठी उदासी,' 'युद्वज,' 'न उडने वाली लाशे,' 'विपरीती-करण' तथा 'घो-घो-घोडा। उनकी चर्चित कहानियाँ हैं। मनहर के अनुसार आज के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि मूल्यो मान्यताओ, अपेक्षाओ स्थापनाओ की तुलना दस-बारह वर्ष पहले के मूल्यो इत्यादि से करने पर उनमे आश्चर्यजनक, लेकिन विश्वाशनीय एव सुखद उत्तर दृष्टिगोचर होगा। वे आज के युग-बोध को 'नया' स्वीकारने मे इसलिए आपत्ति करते है क्योकि वह मात्र एक सापेक्षता है। आज के युग बोध को वे सचेतन कहना अधिक उचित समझते है। इनकी धारणा है कि सम-सामयिक जीवन किस मूल स्वर से अनुग्रथित है? क्या यह स्वर कुठाओ की ओर निज दुख को विश्व-दुख मान लेने की ओर झुकाव प्रदर्शित करता है? सामाजिक, आर्थिक, नैतिक इत्यादि मान्यताए नया स्वरूप धारण कर रही है। पुराने स्वरुपो के टूटने और नये आयामो के सामने आने की यह प्रतिक्रिया नई नही है, वह मात्र स्वाभाविक है। यदि वह नही होती तो हमे चौका देती। लेकिन वह स्वाभाविक है और हम उसका स्वागत कर रहे हैं। मनहर के अनुसार वह सचेतन और उद्यम है। सामाजिक चेतना की जो प्रक्रिया नई नही है, उसका प्रतिबिम्ब करने वाली कहानी को वे अस्वीकारते है वे मानते है कि सचेतन एक ऐसा विशेषण है जो कहानी को नवीन आवश्यकताओ को पूर्णतया सन्तुष्ट कर सकता है।

मनहर की कहानिया न आदर्श के प्रति दुराग्रह रखती है न भावुकता के प्रति न किसी भी ऐसे तत्व के प्रति जो जीवनपरक हो। उनकी कहानिया जीवन की उन्मुक्त सचेतना की कहानियाँ है। वे स्वत· ही अपनी जीवनपरकता और सवेदन-शीलता का आभास देती हैं और प्रत्येक प्रकार की कृत्रिमताओ से मुक्त है। मनहर का ख्याल है कि यौन-विषयक हमारी मान्यताए बडी तेजी से बदल रही है। यौन का नैतिकता के साथ बहुत कठोर गठबन्धन भारतीय परम्पराओ ने स्वीकारा है, किन्तु उनकी कहानियोमे समकालीन सचेतन युग-बोध-यह तादात्म्य स्थापित नही कर पाता। वह कोई यान्त्रिकता या आरोपण नही स्वीकारना चाहता बस युग की यथार्थता और

दायित्व की सजगता को स्वीकारना चाहना है - मनहर की कहानियाँ इन्ही दो बिन्दुओ के बीच परखी जा सकती हैं।

मनहर की धारणानुसार जीवन की आस्थाओ के छोटो के अनवरत क्रम है। छोटो की अवरतता मे से जीवन के अनेकाविधि विस्तारो का चुनाव किया जा सकता है। एक विस्तार ऐसा हो सकता है, जो आस्था से प्रारम्भ होकर अनास्था पर रूक जाता हो अनास्था से अनास्था तक, अनास्था से आस्था तक जीवन के ऐसे भी दो विस्तार हो सकते है। उनकी कहानियाँ इस अनास्था का विरोध एव तिरस्कार करती है, क्योकि यात्रा का अन्त सर्वदा अनास्था पर होना अनिवार्य नही है। उतकी कहानियाँ आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कहानिया नही है क्योकि आदर्श के प्रति उन्मुख होना वे सचेतन कहानी की अनिवार्यता नही स्वीकारते। वह ईन्मुख हो भी सकरी है, नही भी। वह यथार्थ की कहानी तो अनिवार्य रूप से है, किन्तु वह आदर्श से परे भी जा सकती है। उनकी कहानियो मे नये मूल्यो की स्वीकृति उनका स्वागत अत्यन्त कलात्मकता के साथ उभरता है। उनकी कलात्मकता सायास नही हैं उन्होने दृष्टि की सचेतना पर बल दिया है और यथार्थ सामाजिक सन्दर्भो का पूर्ण ईमानदारी से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'बीस सुबहो के बाद', 'विपरीतीकरण' तथा 'घो-घो-घोडा' आदि कहानियो मे आज के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ अपनी तमाम कठोरताओ, विकृतियो एव विशेषताओ के साथ उभरा है। उनके वर्णन मे अद्भुद क्षमता है और विराटता का अनन्य बोध, जो हृदय को छूता है।

महीप सिह

महीप सिंह के भी दो कहानी सग्रह 'सुबह के फूल' तथा 'उजाले के उल्लू प्रकाशित हुये है। 'स्वराघात,' पत्नियाँ,' 'टकराव,' 'लकीरो वाला मकान,' पानी और पुल,' 'ठंडक' तथा 'घिरे हुये क्षण' उनकी उल्लेखनीय कहानिया हैं। दृष्टि की सचेतना के प्रति महीप भी आग्रहशील है। वह दृष्टि, जिसमे जीवन जिया भी जाता हैं और जाना भी जाता है। अपने सक्रान्तिकाल मे चाहे हमे जीवन अच्छा लगे या बुरा लगे। चाहे उसे घूँट घूँट पीकर हमे तृप्ति प्राप्त हो। चाहे नीम-रस की भाति हमे आख मूँदकर उसे निगलना ही पडे, परन्तु जीवन से हमारी सम्पृक्ति छूटती नही। कडवे घूँटो से घबराकर जीवन से पलायन की बात वैयाक्तिक रूप से इतिहास मे अनेक बार दुहराई गई है और हरबार किसी-न किसी प्रकार का दार्शनिक बौद्धिक आधार देकर उसके औचित्य की स्थापना का प्रयास किया गया है। परन्तु मनुष्य की प्रकृति जीवन से भागने की नही रही है जीवन की ओर भागना ही उसकी नियति रही है। महीप सिंह का प्रश्न है कि जब जीना ही उसकी नियति है तो वह कैसे जिए? वे इसका उत्तर दृष्टि की सचेतना से देते हैं।

महीप सिंह को यह बात अत्यन्त विचित्र लगती है, जब लोग आज के मानव

जीवन की निरर्थकता और निष्क्रियता की बाते (विशेष रूप से भारतीय सन्दर्भ मे) बडे बौद्धिक अदाज से करने लगते है। निष्क्रियता और सबकी कुछ उपलब्धि के पश्चात् निरर्थकता का बोध उन्हे हो, जो सक्रिय रह चुके है, जिन्होने जीवन को जी भर भोग लिया है। परन्तु हमारे देश की स्थिति उसके सर्वथा विपरीत है। उनके अनुसार यूरोप की अनास्था उन्नीसवीं शती के विज्ञानवाद से उत्पन्न हुई और दो घटित महायुद्धो ने तथा तीसरे के प्रतिक्षण अनुभूत सकर ने उसे निरतर पुष्ट किया। परन्तु हमारी समस्या आस्थाहीनता की नही, आस्था की जडता की है। अन्ध जडता वर्तमान और भविष्य के प्रति निष्क्रियता का और अतीत के प्रति गहरे मोह का प्रदर्शन करती है। और अपने व्यापक परिवेश मे हमे इस अंध जडता के दर्शन कदम-कदम पर आज भी होते हैं। महीप सिह की धारणानुसार यह जडता हमारी गति को इतना अवरुद्ध नही करती, जितना उससे उत्पन्न निष्क्रियता करती है। आस्था की इस जडता के कारण अतीत के सुनहले स्वप्नो मे डूबे रहना और इस जडता की अनुभूति होने पर कुण्ठा, निराशा, अवसाद और विशृंखलता को उसकी सहज प्रतिक्रिया मानकर निरपेक्ष भाव से उसे स्वीकारना एक सी ही बात है। वे स्वीकारते है कि उन दोनो ही स्थितियो का परिणाम निष्क्रियता है और इसीलिये वे उससे अपने को असम्पृक्त करते हैं।

महीप सिह की मूल जीवन दृष्टि के इस स्पष्टीकरण के बाद उनकी कहानिया सरलता से परखी जा सकती हैं। उनकी कहानियो की स्थिति टूटती हुई आस्थाओ से [illegible] होने चौंकने या निर्लिप्त होकर उसे देखने की नही है, वरन् उन्हे साहसपूर्वक स्वीकारने और उनमे सहज होने की है। उनकी कहानिया सक्रिय भाव-बोध की कहानियां हैं। वे जीवन को नकारती नही, स्वीकारती हैं। पश्चिम की भोंडी नकल चित्रण करने से उन्होने अपने को बचाया है। अपनी कहानियो मे उन्होंने आ[illegible]निक की सचेतन दृष्टि का अकन किया है। आधुनिकता नवीन परिस्थितियो के [illegible] मे अपना सस्कार करती चलती है और सस्कारित परिस्थितियो को अनुभू[illegible] सम्पृक्ति से चित्रित करना ही महीप सिह की कहानियो की विशेषता है। [illegible]न्ही आरोपित सत्यो के प्रति अपनी आग्रहशीलता नही प्रकट [illegible] न कृत्रिम मानसिक दासता को ही स्वीकारा है।

महीप सिह की कहानियों मे कला का सौष्ठव विशेष रूप से [illegible] है। वे कलावादी नही हैं, पर कलाहीनता ही उनका शिल्प है। प्रमुख बात [illegible] दृष्टि है, उसका प्रस्तुतीकरण उन्होने अपूर्व सहजता एव आत्मीयता के साथ किया है। उन्होने व्यक्ति को उसकी पूर्णतया के साथ स्वीकारा है और उसके परिवेश से असम्पृक्त कर उसे निर्जीव नही बनाया है। उनमे सस्कार च्युत मर्यादा नही है, पर जड परम्पराओ के प्रतिमानो को खोजने की चेष्टा की है, जो आज किन्ही कारणो से विलुप्त हो चुके हैं और जिन्हें अन्वेषित करने की आज जैसी तीव्र आवश्यकता कभी अनुभव नही

हुई। महीप मे मानव-मूल्यो की सही पहचान है और उन्हे उजागर करने का समर्थता भी है।

अवधनारायण सिह

अवधनारायण सिह जीवन मे यदि अकेलापन अनुभव करते हैं, तो उसकी कुठा से भयभीत नही होते, वरन् उससे सुख प्राप्त करते हैं। इस सुख को वे दूसरों को बताना चाहते है और अपना सहभोक्ता बनाने की कामना करते है। जीवन से अलगाव या लगाव उनकी रुचि और हित पर निर्भर करते हैं। वे जीवन से सम्पृक्त या असम्पृक्त रहने को सीमागत विवशता स्वीकारते हैं। चूकि हमारे चारो तरफ की परिस्थितिया असगत और जटिल है, इसलिये यदि हमे जीवित रहता है, तो उसे स्वीकारने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प ही नही रह जाता । इसीलिए यदि हमे जीवित विसगति को न अस्वाभाविक मानते हैं, न बुराई ही। अच्छी और बुरी को खानो मे बाटना उनके लिए सभव नही है—खासतौर से सामूहिक स्तर पर। अच्छाई और बुराई का निर्णय केवल व्यक्तिगत स्तर पर किया जा सकता है । कभी-कभी जब हम ऊपरी तौर पर जीवन को देखते हैं, तो आभास होता है कि उसमे न कोई असगति है और न कोई जटिलता। किन्तु ज्यो-ज्यो हम उसकी तह मे प्रवेश करते जाते हैं, त्यों-त्यो बहुत सी स्थितिया उभरकर हमारे सामने आती हैं, जो पहले दूर थी अथवा हमारे लिए गोपनीय थी, फिर सहज और सपाट रहने वाली स्थितिया उनकी उलझने और कठिनाइयाँ पैदा कर देती हैं और जीवन बडा घृणित एव कटु प्रतीत होने लगता है। यदि जागरूकता और सजगता के साथ सम्भावनाओ को सामने रखे, तो अवधनारायण सिह का ख्याल है कि छिछली भावुकता के स्थान पर एक गहरी सवेदना प्राप्त होती है और हम विवेकपूर्ण ढग से कटुता और विकृतियो को सामने रखने मे समर्थ होते हैं। इससे हमे हर स्थिति को भोगने का बल मिलता है और आत्महत्या से बच जाते है।

अवधनारायण सिह की प्रकाशित कहानियो मे 'चेहरे', 'निर्णय', रफू और यत्रणा' बीमार', आकाश का दबाव', 'पार्टनर', 'कुत्ते का शव', समानान्तर', एक कमरा और फुटपाथ' 'अनिश्चय' तथा 'आत्मीय' आदि प्रमुख है । उनकी कहानियो मे स्वस्थ जीवन दृष्टि है और अपने युग बोध को पूर्ण स्वाभाविकता के साथ उजागर करने की समर्थता। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यथार्थ चित्रण की ओर रही है और आस्था एव सकल्प तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण उनकी कहानियाँ वैयक्तिक स्तर से ऊपर उठकर सामाजिक सन्दर्भो मे विराट भाव बोध को समेटती है। पर उनमे आत्मानुभूतियो की शून्यता नही है। सत्य तो यह है कि उन्ही के कारण वे अत्यन्त प्रभावशाली एव मर्मस्पर्शी बन पडी है। अवध नारायणसिह की कहानियो में शिल्प का सवरा हुआ रूप प्राप्त होता है और भावाभिव्यक्ति की समर्थता के कारण वे अधिक गहराई मे ले जाने मे सफल हाते हैं।

सुरेन्द्र अरोडा

सुरेन्द्र अरोडा की 'पलकों मे कैद रोशनी', 'चेहरा', 'मम्मी', 'गूज और गूंज' तथा 'छोटी छोटी बाते' विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि अभी से उनके सम्बन्ध मे कुछ कहना कदाचित बहुत उचित नही है वे हमारे सबसे नये कथाकार हैं और अभी उन्हे एक लम्बी यात्रा तय करनी है, पर उनकी अब तक की छपी कहानियो को पढकर उनके भविष्य के सम्बन्ध मे एक आशा बधती है। उनमे दृष्टि की गहनता है और प्रस्तुतीकरण की ईमानदारी भी उनकी तटस्थता तथा सतुलन उन्हे एक ऐसी समर्थता देता है, जिससे उनकी कहानियाँ बडी प्रभावशाली बन जाती है। उन्होने सामयिक यथार्थ को पहचानने का प्रयत्न किया है और नए सत्यान्वेषण एवं आधुनातन प्रवृत्तियो तथा दिशाओ को चित्रित करने मे भी उनकी प्रयत्नशीलता रही है, जिसमे उन्हे पर्याप्त अशो मे सफलता भी प्राप्त हुई है।

सुरेन्द्र अरोडा की कहानिया साफ-सुथरी है और उनमे प्रवाह है। यदि वे कला के नये आयाम प्राप्त कर लेंगे, यथार्थ को पहचानने की गहरी अन्तर्दृष्टि निखार सकेंगे तथा चयनशक्ति की सूक्ष्मता की ओर विशेष ध्यान देंगे, तो वे अधिक सफल होगे, ऐसा मेरा विश्वास है। सत्य को कटे छटे रूप मे प्रस्तुत करने क्या लिया जाए और क्या न लिया जाए यह निश्चय करने की समर्थता उनके लिए अनिवार्य है और 'नई कहानियाँ' के नम्बर १६६६ मे प्रकाशित 'चेहरा' कहानी देखकर यह विश्वास जन्मता है कि उनकी दृष्टि माध्यम के खोज मे निरन्तर आकुल है।

अभी हाल ही मे एक सर्वथा नये कथाकार सन्तोष की कुछ कहानिया मैंने सुनी और वे मुझे अच्छी लगी। सन्तोष मे भी सूक्ष्मता है और अग्रसर होने की क्षमता। आत्मानुभूतियो को अभिव्यक्त करने मे जिस तटस्थता एव निर्ममता की आवश्यकता होती है सन्तोष मे वे बाते है और वे अपने समकालीन जीवन सकर सामायिक यथार्थ को पहचानकर अच्छी कहानिया देंगे, इसकी आशा होती है।

और दूसरे कितने कहानीकार हैं, जिन पर लिखने को मन करता है पर इस समय या तो उनकी कहानियाँ पास नही है, या खोजने की कठिनाई है। पर अपने इन मित्रो के प्रति अवमानना या दुराग्रह का भाव मन मे नही है। आशा करता हू कि अगला अवसर प्राप्त होने पर उनकी कहानियाँ मेरे पास होगी और मै उनका विवेचन कर सकूगा। पर यहाँ इतना निश्चित रूप से कह सकता हू कि हमारी पीडी का स्वरूप निर्धारित करने मे उनका महत्वपूर्ण योगदान है और उनकी कुछ कहानियाँ तो समूची परम्परा की महत्वपूर्ण कडियाँ है। अस्तु।

६ नवम्बर १६६६,
सुमति निवास, दार्जिलिग।

———

: ९ :

सहायक पुस्तक-सची

अल्फ्रेड एडलर . प्रोब्लम ऑव न्यूरोसिस, लन्दन ।

अगस्त फोरेल द सेक्सुअल क्वेश्चन, (१९३१), लन्दन ।

आर्थर कॉम्पटन टिकेट : ए हिस्ट्री ऑव इगलिश लिट्रेचर, (१९४०), लन्दन ।

आर० सी० मजूमदार : एन एडवान्स्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया (१९५२), लन्दन ।

आर० विपफाल्ट : द मदर्स : तीसरी पोथी, (१९२८), न्यूयॉर्क ।

आयरीन क्लीप्पेन : टूवर्ड्स सेक्स फ्रीडम, (१९३५), लन्दन ।

एडलर अण्डरस्टेण्डिग ह्यूमन नेचर, (१९२७), न्यूयॉर्क ।

एलेन वाल्टर · राइटर्स ऑन राइटिंग, (१९४८), लन्दन ।

एनी एर्लास्टासी डिफ्रेन्शल साइकोलॉजी, (१९३७), न्यूयॉर्क ।

ए० यूसुफ अली · द मेकिंग ऑव इण्डिया, (१९२५), लन्दन ।

"   " : ए कल्चूरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया, (१९४०), लन्दन ।

एच० जी० वेल्स ऑउटलाइन्स ऑव हिस्ट्री, (१९२०), लन्दन ।

एल० एफ० रशब्रुक : व्हाट एबाउट इण्डिया ?, (१९३९), लन्दन ।

ए०जे०आर्कबोल्ड : ऑउटलाइन्स ऑव इण्डियन कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री, (१९२६), लन्दन

ओटो वेनिन्जर : सेक्स एण्ड कैरेक्टर, (१९०३), वियना ।

क्लारा रीव प्रोग्रेस ऑव रोमास, (१७८५) ।

क्लैगुई कैजामियाँ · ए हिस्ट्री ऑव इगलिश लिट्रेचर, लन्दन ।

जवाहरलाल नेहरू · हिन्दुस्तान की कहानी, (१९४७), इलाहाबाद ।

ज्योफेरी मे . सोशल कट्रोल ऑव सेक्स एक्सप्रेशन्स, (१९३०), लन्दन ।

ज्योसेफ चिएरी . रियलिस्म एण्ड इमैजिनेशन, (१९६०), लन्दन ।

जे० एन० सरकार . लेटर मुगल्स, (१९५५), लन्दन ।

जे० रेम्जे० म्योर . मेकिंग ऑव ब्रिटिश इण्डिया, (१९०४); मैनचेस्टर ।

लियो टॉल्सटॉय ह्वाट इज आर्ट, (ओ० यू० पी०) ।

डब्ल्यू० एच० हडसन . एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑव लिट्रेचर, (१९४९), लन्दन ।

थॉम्पसन एण्ड बैरेट . राइज एण्ड फुलफिलमेण्ट ऑव ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, (१९३५), लन्दन ।

नॉर्मन कजिन्स · राइटिंग फॉर लव ऑर मनी, (१९४९), कनाडा ।

पट्टाभि सीतारमैया काग्रेस का इतिहास, (१९४६), दिल्ली ।

पोप नो जॉन्सन एप्लाइड ईयोगोनिक्स, लन्दन।
बर्ट्रेन्ड रसेल मैरेज एण्ड मॉरेल्स. (१६२६), लन्दन।
विनयकुमार सरकार क्रिएटिव इण्डिया, (१६३७), लाहौर।
बोसाके लॉजिक, (द्वितीय सस्करण)।
मोहनदास कर्मचन्द गांधी आत्मकथा, (१६०५), दिल्ली।
मेह्य : एजूकेशन ऑव इण्डिया, (१६२६), लन्दन।
रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, (आठवा सस्करण), बनारस।
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, (डॉ०) . नई कहानी का परिपार्श्व, (१६६६), इलाहाबाद।
" " " आधुनिक साहित्य . बीसवी शताब्दी का परिप्रेक्ष्य, (१६६६) इलाहबाद
" " " . " " (१६४८), इलाहाबाद।
" " " . " " की भूमिका, (१६५०), इलाहाबाद।
" " " . उन्नीसवी शताब्दी, (१६६३), इलाहाबाद।
" " " हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ, (१६५४), बम्बई।
" " " . फोर्ट विलियम कॉलेज, इलाहाबाद।
" " " : हिन्दी साहित्य का इतिहास, (छठा सस्करण, १६६४), इलाहबाद
" " " साहित्य चिंतन, (१६४८). बम्बई।
" " " . भारतेन्दु की विचारधारा, इलाहाबाद।
विश्वनाथ . साहित्य दर्पण, (१६४४), कलकत्ता।
सर पी० ग्रिफिथ द ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन इण्डिया, (१६५३), लन्दन।
सर जॉन कमिंग मॉडर्न इण्डिया . ए कोऑपरेटिव सर्वे, (१६३१), लन्दन।
सी० जे० युग साइकोलॉजिकल टाइम्स, (१६३३), लन्दन।
सी० जे० युग : मॉडर्न मैन इन सर्च ऑव सोल, (१६४६), लन्दन।
सी० जोयद : ए गाइड टू मॉडर्न थॉट।
सिगमड फ्रायड : इण्टरप्रेटेशन ऑव ड्रीम्स, (१६३२), न्यूयॉर्क।
" " : इन्ट्रोडक्टरी लेकचर्स ऑन सॉइकोएनालिसिस, (१६२६), लन्दन।
" " : सिविलिजेशन एण्ड इट्स डिसकटेट्स, (१६३०), लन्दन।
सिगमड फ्रायड : हिज ड्रीम एण्ड सेक्स थ्यूरीज, (१६५६), न्यूयॉर्क।
हैवलाक एलिस : स्टडीज इन द साइकोलॉजी ऑव सेक्स, छठी पोथी, (१६२८), लन्दन
" " . सेक्स इन रिलेशन टू सोसायटी, (१६१०) लन्दन।
अन्विन . सेक्स एण्ड कल्चर, (१६३४), लन्दन।
आर्थर मेलविल क्लार्क : स्टडीज इन लिट्रेरी मोड्स, (१६४६), एडिनबर्ग।

आयरीन क्लीफेन टूवर्ड्स सेक्स फ्रीडम, (१६३५), लन्दन ।
एडलर · सोशल इन्ट्रेस्ट ए चैलेन्ज टू मैन-काइण्ड, (१६३८), लन्दन ।
एम० एल० रॉबिन्सन . राइटिंग फॉर यंग पीपुल, (१६५०), न्यूयॉर्क ।
एल० टी० हॉबहॉउस · मॉरल्स इन इवोल्यूशन, (१६०६), लन्दन ।
एच० ए० मरे एक्सप्लोरेशन इन पर्सनैलिटी, (१६३२), न्यूयॉर्क ।
कलिंगवुड : आयडिया ऑव हिस्ट्री ।
कार्ल मार्क्स : कैपिटल (प्रथम पोथी) ।
" " : क्रिटिक ऑव पोलिटिकल इकोनॉमी ।
क्रिस्टॉफेन कॉडवेल इल्यूजन एण्ड रियल्टी, (१६५६), दिल्ली ।
" " फर्दर स्टडीज इन ए डाइंग कल्चर, (१६५०), लन्दन ।
कैडी एडविन : द रोड टू रियलिज्म एण्ड रियलिस्ट एट वार, (१६५६), न्यूयार्क ।
गोर्की . ऑन लिट्रेचर, (१६५८), मॉस्को ।
गोर्की . लिट्रेचर एण्ड लाइफ, मॉस्को ।
चार्ल्स फीडेल्सन : सिम्बॉलिज्म एण्ड अमेरिकन लिट्रेचर, (१६५३), शिकॉगो ।
चार्ल्स वाल्कॉट : अमेरिकन लिट्रेरी नैचुरेलिज्म, (१६५६), न्यूयार्क ।
जॉर्ज ल्यूकाच : स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म, (१६५०), लन्दन ।
" " : हिस्टॉटिकल नॉवेल, (१६५४) लन्दन ।
जॉर्ज मूर . ए समर्स वाइफ, (१८८५) ।
ज्याँ-पाल सार्त्र . बीइंग एण्ड नथिंगनेस, (१६५७), लन्दन ।
" " : द एज ऑव रीजन (सातवा सस्करण), लन्दन ।
" " . द रिप्राइव, (सातवा संस्करण), लन्दन ।
" " : आयरन इन दी सोल, (पाँचवा सस्करण), लन्दन ।
" " : वर्ड्स, (दूसरा सस्करण), लन्दन ।
" " एक्जिस्टेशियलिज्म एण्ड ह्यूमैनिज्म, (१६४६), लन्दन ।
" " : ह्वाट इज लिट्रेचर, (१६४८), लन्दन ।
ज्या-पाल सार्त्र रिपब्लिक ऑव साइलेस, (१६४७), लन्दन ।
" " सिचुएशन्स, (दूसरा सस्करण), लन्दन ।
" " . डर्टी हैडस, (१६४८), लन्दन ।
" " : इन्टिमेसी, (१६४६), लन्दन ।
दॉस्तोवस्की : नोट्स ऑव अण्डरगॉउण्ड, (१८६४) ।
फ्रैंज काफ्का : द ट्रायल, (१६२५) ।
" " द कैसल, (१६२६) ।
" " : अमरीका, (१६२७) ।

मैक्स-ब्राण्ड : फ्रैंज काफ्का, (१९३६)।
निकोलाई बर्दिएफ : द स्पिरिचुएल क्राइसिस ऑव द इण्टैलिजेशिया, (१९१०)।
" " · फिलोसफी ऑव फ्रीडम, (१९११)।
" " : न्यू मिडिल ऐजेज, (१९२४)।
" " : द डेस्टिनी ऑव मैन, (१९३१)।
" " : द फेट ऑव मैन इन मॉडर्न वर्ल्ड, (१९३४)।
" " : द एक्जिस्टैंशियलिज्म डायलेक्टिस ऑव डिवाइन एण्ड ह्यूमन (१९४७)
" " : ड्रीम एण्ड रियलिटी।
सोरोकिन · सोशल फिलोसफीज ऑव एने एज ऑव क्राइसिस।
नगेन्द्र, (डॉ०) . विचार और अनुभूति, दिल्ली।
" " · सियारामशरण गुप्त, दिल्ली।
" " : विचार और विवेचन, दिल्ली।
जे० फ्रेडेरिक हाफमैन : फ्रायडनिज्म एण्ड लिट्रेरी माइण्ड, (१९४५), न्यूयॉर्क।
ट्राट्श . सोशल टीचिंग।
डब्ल्यू० ली . डेनियल डेफो, (१८६९), लन्दन।
डेविड ह्यूम ट्रीटाइज ऑव ह्यूमन नेचर, (१९३९)।
डेनिपल डेफो रॉबिन्सन क्रूसो।
डेल्लिज . साइकोएनालिटिकल मेथड एण्ड द डॉक्टरीन ऑव फ्रायड, (१९४१), लन्दन।
डेविस डैशेज लिट्रेचर एण्ड सोसायटी, (१९३८), मॉस्को।
तमारा आयलेग : सोवियट लिट्रेचर एण्ड वर्ल्ड कल्चर, (१९४८), मास्को।
प्लेखनोव आर्ट एण्ड सोशल लाइफ।
पाल बोसफील्ड . सेक्स एण्ड सिविलिजेशन, (१९२५), लन्दन।
बाबू रामकृष्ण वर्मा भाषा कथा सरित्सागर, (१९०५), काशी।
बेबर एसेज इन सोशियोलॉजी, (१९४६), न्यूयॉर्क।
मॉओ-त्सी तुंग ऑन लिट्रेचर, (चाइना)।
" " . प्रॉब्लम्स ऑव आर्ट एण्ड लिट्रेचर, (१९५०), चाइना।
मार्क्स कनलिक . द लिट्रेचर ऑव द यूनाइटेड स्टेट्स, (१९६१), लन्दन।
लुडविग स्टीन . लेकचर्स ऑन मॉडर्न आयडियलिज्म।
विलियम जेम्स . प्रिंसिपुल्स ऑव साइकोलॉजी, (१८९०)।
शेली : स्पेकुलेशन्स ऑन मेटाफिजिक्स।
स्टीफेन स्पेन्सर . न्यू रियलिज्म, (प्रथम संस्करण), लन्दन।
स्टीफेन्सन स्मिथ . द क्रैफ्ट ऑव द क्रिटिक, (द्वितीय संस्करण), न्यूयार्क।
हॉवर्ड फास्ट लिट्रेचर एण्ड रियलिटी, (१९५२), दिल्ली।

ए० सी० वार्ड . फॉउन्डेशन ऑव इंगलिश प्राज ।
बेरी पेन : द शॉर्ट स्टोरी ।
अलब्राइट : द शॉर्ट स्टोरी, (१९२०), लन्दन ।
ग्राहम बैल्फौर . लाइफ ऑव स्टीवेन्सन ।
फ्रान्सिस विवियन . क्रिएटिव टेकनीक इन फिक्शन, (१९४६), लन्दन ।
बी० पिटकिंग द आर्ट एण्ड द बिजनेस ऑव स्टोरी राइटिंग ।
चार्ल्स बैरेट . शॉर्ट स्टोरी राइटिंग ।
डी० मैकनोशे : दा क्राफ्ट ऑव द शॉर्ट स्टोरी, (१९३६), लन्दन ।
क्लेन क्लार्क : ए मैनुएल ऑव शॉर्ट स्टोरी आर्ट, (१९२६), लन्दन ।
डी० एस० मॉस्की हिस्ट्री ऑव रशन लिट्रेचर ।
विश्वनाथ मिश्र : इंगलिश इन्फ्लुएन्स ऑव हिन्दी लैंगुएज एण्ड लिट्रेचर
एच० ई० बेट्स : द मॉडर्न शॉर्ट स्टोरीज ।
जॉन हैडफील्ड . मॉडर्न शॉर्ट स्टोरीज ।
सीऑन ओ' फॉओलिन : द शॉर्ट स्टोरी ।
ब्रेन्डर मैथ्यूज : फिलॉसफी ऑव दा शॉर्ट स्टोरी ।
जेम्स डब्ल्यू० लीन : द शॉर्ट स्टोरी ।
आर० के० लागू इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न स्टोरीज फ्रॉम ईस्ट एण्ड वेस्ट ।
एडगर एलेन पो द शॉर्ट स्टोरी ।
पहाडी बया का घोसला, इलाहाबाद ।
" : छाया मे, इलाहाबाद ।
" : नया रास्ता, इलाहाबाद ।
पहाडी : शेषनाग की छाती, इलाहाबाद ।
" : हिरण की आँखे, इलाहाबाद ।
" : तूफान के बाद, इलाहाबाद ।
" : मौली, इलाहाबाद ।
" : सफर, इलाहाबाद ।
" : अधूरा चित्र, इलाहाबाद ।
" : सडक पर, इलाहाबाद ।
" . बरगद की जडे, इलाहाबाद ।
" : कैदी और बुलबुल, इलाहाबाद ।
" : मालापती, इलाहाबाद ।
" : बीज और पौधा, इलाहाबाद ।

देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' . हवा का रस, (१९५८), इलाहाबाद।
प्रेमचन्द . सप्त- सरोज, बनारस।
" : नव-निधि, बनारस।
" . प्रेम-पचीसी, बनारस।
" : प्रम-पूर्णिमा, बनारस।
" : प्रेम-तीर्थ, बनारस।
" । प्रेम-पीयूष, बनारस।
" : प्रेम कु ज, बनारस।
" : प्रेम-चतुर्थी, बनारस।
" : पच-प्रसून, बनारस।
" : प्रेम-प्रतिमा, बनारस।
" : प्रेरणा, बनारस।
" : प्रेम-प्रमोद, बनारस।
" : प्रेम-सरोवर, बनारस।
" : प्रेम-पचमी, बनारस।
" : प्रेम-गगा, बनारस।
" : अग्नि-समाधि, बनारस।
" : कफन तथा शेष रचनाए, बनारस।
" : कुत्ते की कहानी, बनारस।
" : जगल की कहानी, बनारस।
प्रेमचन्द : सप्त-सुमन, बनारस।
" : पंच-प्रसून बनारस।
" : कुछ विचार, बनारस।
" : मानसरोवर, (आठ भाग), इलाहाबाद।
" : गोदान, बनारस।
जयशकर प्रसाद ' छाया, इलाहाबाद।
" " : आकाशदीप, (१९४३), इलाहाबाद।
" " : इन्द्रजाल, (१९३८), इलाहाबाद।
" " : आँधी, (१९५०), इलाहाबाद।
" " : प्रतिध्वनि, (१९४८), इलाहाबाद।
" " : काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, (१९४३), इलाहाबाद।
सुदर्शन : नगीने, (१९५७), बम्बई।
" : पनघट. (१९५७), बम्बई।

सुदर्शन : पुष्पलता, (१९५७), बम्बई ।
" : सुप्रभात, (१९५७), बम्बई ।
" : दीपाली, (१९५७), बम्बई ।
" : सुदर्शन सुधा, (१९५७), बम्बई ।
" : तीर्थ-यात्रा, बम्बई ।
" : प्रमोद, बम्बई ।
" : नवनिधि, बम्बई ।
" . चार कहानियाँ, बम्बई ।
विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : चित्रशाला, तीन भाग ।
" " " : गल्प मन्दिर, आगरा ।
" " " : प्रेम-प्रतिमा, आगरा ।
" " " : मणिमाला, आगरा ।
" " " . कल्लोल, आगरा ।
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' . चिनगारियाँ, आगरा ।
" " " : इन्द्रधनुष ।
" " " : निर्लज्ज ।
" " " . रेशमी ।
" " " : दोजख की आग ।
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' : ऐसी होली खेलो लाल ।
" " " . काल कोठरी ।
" " " : सनकी अमीर ।
" " " . बलात्कार ।
" " " : जब सारा आलम सोता है, आगरा ।
चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' : उसने कहा था ।
" " : सुखमय जीवन ।
" " : बुद्धू का काँटा ।
चतुरसेन शास्त्री : रज-कण, दिल्ली ।
" " : अक्षत, दिल्ली ।
" " : बाहर भीतर, (१९६०), दिल्ली ।
" " : दुखवा मैं कासे कहू, (१९६०), दिल्ली ।
" " . सोया हुआ शहर, (१९६०), दिल्ली ।
" " : धरती और आसमान, (१९६०), दिल्ली ।
" " : कहानी खत्म हो गई, (१९६०), दिल्ली ।

राय कृष्णदास . सुधांशु, (१९४७), इलाहाबाद ।
" " अनाख्या, (१९४८), इलाहाबाद
" " . आँखों की थाह, इलाहाबाद ।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह . कानों मे कंगना ।
" " " " . बिजली ।
" " " " : पद का मद ।

विनोदशंकर व्यास · तूलिका ।
" " : उसकी कहानी ।
" " : मधुकरी, (२ भाग) ।
" " . नव-पल्लव ।
" " : भूली बात ।
" " : नक्षत्र लोक, (१९५०), बन रस
" " : मणिदीप ।

ज्वालादत्त शर्मा . विधवा ।
" " : तस्कर ।
" " : अनाथ बालिका ।

ज्वालादत्त शर्मा भाग्यचक्र ।
" " . कहानी लेखक ।

जी० पी० श्रीवास्तव : लम्बी पाठा ।

चण्डीप्रसाद हृदयेश : नदन निकुंज ।
" " : वनमाला ।

वाचस्पति पाठक : कागज की टोपी, इलाहाबाद ।
" " : यात्रा, इलाहाबाद ।
" " : सूरदास, इलाहाबाद ।

गोविन्दवल्लभ पन्त प्रियदर्शी ।
" " : जूठा आम ।
" " : मिलन-मुहूर्त ।
" " . फटा-पत्र, (१९५०), दिल्ली ।

वृन्दावनलाल वर्मा युद्ध के मोर्चे से, झांसी ।
" " . शरणागत, झासी ।
" " : कलाकार का दण्ड, झासी ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी : आदान-प्रदान, दिल्ली ।
" " हिलोर ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी पुष्करिणी ।
" " खाली बोतल ।
" " : खिलते फूल, इलाहाबाद ।
" " इन्स्टालमेंट, (१९५७), इलाहाबाद ।
" " : दो बाके, (१९५९), इलाहाबाद ।

चन्द्रगुप्त विद्यालकार भय का राज्य ।
" " : चन्द्रकला ।
" " :अमावस ।
" " : तीन दिन, (१९५७), दिल्ली ।

जैनेन्द्रकुमार : बातायन, दिल्ली ।
" : स्पर्द्धा, दिल्ली ।
" : फाँसी, " ।
" : पाजेब, " ।
" . जय सधि, (१९४८), दिल्ली ।

जैनेन्द्रकुमार दो चिड़ियाँ, दिल्ली ।
" : जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, दिल्ली ।
" . जैनेन्द्र की कहानियाँ, (९ भाग), दिल्ली ।
" . अ–विज्ञान, (सारिका · अक्तूबर १९६३), बम्बई ।

सियारामशरण गुप्त : मानुषी ।

अज्ञेय : विपथगा ।
" : कोठरी की बात ।
" परम्परा ।
" : जयदोल ।
" : अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ ।

इलाचन्द्र जोशी : डायरी के नीरस पृष्ठ, इलाहाबाद।
" " : कटीले फूल लजीले काँटे, (१९५७), दिल्ली ।
" " : रोमाटिक और छाया ।
" " : आहुति ।
" " : दीवाली और होली ।

यशपाल : अभिशप्त, लखनऊ ।
" : वो दुनियाँ, लखनऊ ।
" : ज्ञानदान, लखनऊ ।

यशपाल : पिंजरे की उडान, लखनऊ।
" : तर्क का तूफान, लखनऊ।
" : चित्र का शीर्षक, लखनऊ।
" : भस्मावृत्त चिंगारी, लखनऊ।
" : धर्मयुद्ध, लखनऊ।
" : फूलों का कुर्ता, लखनऊ।
" : उत्तराधिकारी, लखनऊ।
" : आदमी का बच्चा, दिल्ली।
" : बीबी जी कहती है मेरा चेहरा रोबीला है, लखनऊ।
" : तुमने क्यो कहा था, मैं सुन्दर हू, लखनऊ।
" : फलित ज्योतिष, (सारिका . अगस्त १९६२), बम्बई।
" : खुदा और खुदा की लडाई, (नई कहानियाँ, नवम्बर १९६१), दिल्ली।
यशपाल : चोरी और चोरी, (नई कहानियाँ : फरवरी १९६३), दिल्ली।
" : खच्चर और इसान, (सारिका . अप्रैल १९६४), बम्बई।
" : सत्य का द्वन्द्व, (सारिका : दिसम्बर १९६४), बम्बई।
" : नारद-परशुराम-सवाद, (नई कहानियाँ · अगस्त १९६६), दिल्ली।
" : कलाकार की आत्महत्या, (सारिका : जून १९६३), बम्बई।
" : श्लील-अश्लील, (सारिका · अगस्त १९६३), बम्बई।
रागेय राघव : एक छोड एक, (१९६३), दिल्ली।
" : पाच गधे, (१९६०), दिल्ली।
" : गदल।
" : अधूरी मूरत, (१९५९), इन्दौर।
" : जीवन के दाने, (१९५९), इन्दौर।
अमृतलाल नागर : जुएँ (नई कहानियाँ), दिल्ली।
" " : लगूरा (नई कहानियाँ), दिल्ली।
" " . पाप मेरा बरदान, (सारिका : अक्तूबर १९६३), बम्बई।
" " . पढ़े-लिखे बराती, (सारिका), बम्बई।
विष्णु प्रभाकर : द्वन्द्व।
" " . धरती अब भी घूम रही है, दिल्ली।
" " : आघात और मुक्ति, (सारिका . सितम्बर १९६५), बम्बई।
विष्णु प्रभाकर एक और दुराचारिणी, (सारिका : मार्च १९६५), बम्बई।
अमृतराय : एक सावली लड़की, (सारिका . मार्च १९६५), बम्बई।

अमृतराय एक नीली तस्वीर, (सारिका सितम्बर १९६३), बम्बई।
" भटियाली, (नई कहानियाँ : सितम्बर १९६३), दिल्ली।
" . मिट्टी, (नई कहानियाँ : फरवरी १९६३), दिल्ली।
" चित्र फलक, इलाहाबाद।
" इतिहास, इलाहाबाद।
" : कस्बे का एक दिन, इलाहाबाद।
" . भोर से पहले, इलाहाबाद।
" · कठघरे, इलाहाबाद।
" : जीवन के पहलू, इलाहाबाद।
" : लाल धरती, इलाहाबाद।
अमृतराय : गीली मिट्टी, इलाहाबाद।
बलबत सिह : मैं जरूर रोऊँगी, (१९६३), इलाहाबाद।
बलबत सिह : पजाब की कहानियाँ, इलाहाबाद।
उपेन्द्रनाथ अश्क : कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल, इलाहाबाद।
" " जुदाई की शाम का गीत, इलाहाबाद।
" " : काले साहब, इलाहाबाद।
" " बैंगन का पौधा, इलाहावाद।
" " · दो धारा, इलाहाबाद।
" " : पिंजरा, इलाहाबाद।
" " . पलंग, इलाहाबाद।
" " : सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, इलाहाबाद।
धर्मवीर भारती · चाँद और टूटे हुए लोग, इलाहाबाद।
" " · गुल की बन्नो, (निकष), इलाहाबाद।
" " सावित्री नम्बर दो, (सारिका . जून १९६२), बम्बई।
" " यह मेरे लिये नही, (नई कहानियाँ विशेषाक), दिल्ली।
" " . बन्द गली का आखिरी मकान (नई कहानियाँ), दिल्ली।
नरेश मेहता · तथापि, (दिसम्बर १९६१), बम्बई।
" " : एक समर्पित महिला, (१९६६), कलकत्ता।
" " : एक शीर्षकहीन स्थिति, (धर्मयुग . एक कथा दशक), बम्बई।
" " : वर्षा भीगी, (नई कहानिया), दिल्ली।
" " : एक इतिश्री, (माध्यम : १९६४), इलाहाबाद।
" " : श्रीमती मास्टन, (कादम्बिनी), इलाहाबाद।

मोहन राकेश : इंसान और खण्डहर।
" " : नए बादल, बनारस।
" " : जानवर और जानवर, (१९५८), दिल्ली।
" " : एक और जिन्दगी, (दिसम्बर १९६१), दिल्ली।
" " : जगला, (नई कहानियाँ विशेषांक), दिल्ली।
" " : सेफ्टी-पिन, (ज्ञानोदय . कहानी विशेषांक), कलकत्ता।
" " : पांचवें माले का फ्लैट, (नई कहानियाँ), दिल्ली।
" " : जख्म, धर्मयुग : एक कथा-दशक), बम्बई।
मोहन राकेश : कई एक अकेले, (सारिका), बम्बई।
कमलेश्वर : राजा निरबंसिया, (१९५७), इलाहाबाद।
" : कस्बे का आदमी, इलाहाबाद।
" : खोयी हुई दिशाएं, बनारस।
" . दुखो के रास्ते, (कल्पना), हैदराबाद।
" : ऊपर उठता हुआ मकान, (धर्मयुग एक कथा-दशक), बम्बई।
" : दिल्ली में एक और मौत, (सारिका . दिसम्बर १९६५), बम्बई।
" : मांस का दरिया, (अणिमा . सितम्बर १९६५), कलकत्ता।
निर्मल वर्मा : परिंदे।
निर्मल वर्मा : जलती झाडी, (१९६४), दिल्ली।
फणीश्वरनाथ रेणु : ठुमरी, (१९५८), दिल्ली।
अमरकान्त ' जिन्दगी और जोंक, इलाहाबाद।
" एक असमर्थ हिलता हाथ, (नई कहानिया), दिल्ली।
" : देश के लोग, (नई कहानियाँ), दिल्ली।
" : खलनायक, (धर्मयुग : एक कथा-दशक), बम्बई।
" : लाट, (नई कहानिया) दिल्ली।
" : पडोसी, (परिकथा), इलाहाबाद।
सुरेश सिनहा : हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास, (१९६५), दिल्ली।
" " : नई कहानी की मूल सवेदना, (१९६५), दिल्ली।
" " : नया जन्म, (कल्पना . अप्रैल १९६५), हैदराबाद।
" " धरती साझ, (सारिका : मार्च १९६२), बम्बई।
" " : सुबह होने तक, (माध्यम : नवम्बर १९६४), इलाहाबाद।
" " : टकराता हुआ आकाश, (साप्ताहिक हिन्दुस्तान अक्टूबर १९६४), दिल्ली।
" " : सोलहवें साल की बधाई, (रेखा : नवम्बर १९६४), नागपुर।